सस्ता साहित्य मण्डल

चौहत्तरवां ग्रन्थ

[पहला खण्ड]

विश्व-इतिहास की झलक

[पहला खण्ड]

लेखक

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

प्रकाशक की ओर से

हम बडे हर्ष और साथ ही बड़ी विनय के साथ पण्डित जवाहलाल नेहरू की दूसरी महान् रचना 'विश्व-इतिहास की झलक' हिन्दी-जनता के सामने रख रहे हैं। अंग्रेज़ी में यह ग्रथ सन् १९३४ मे ही प्रकाशित होगया था। उसी समय हम इसे अपने यहांसे प्रकाशित करना चाहते थे। लेकिन उन दिनो एक तो पण्डितजी जेल में थे, दूसरे लखनऊ से इसके हिन्दी में प्रकाशन का आयोजन पण्डित वेकटेश नारायण तिवारी की देख-रेख मे शुरू भी होगया था, इसलिए हमारा विचार अमल में न आसका। मगर इसके बाद मण्डल अजमेर से दिल्ली आया और लखनऊ से 'झलक' का प्रकाशन अनियमित होकर सन् १९३५ के अन्त मे लगभग बद ही होगया।

सन् १९३६ में जब पण्डितजी विलायत से लौटे और काग्रेस-कार्य-समिति के सिलसिले मे दिल्ली आये, तो उस समय उनकी 'आत्म-कहानी' के अंग्रेज़ी मे प्रकाशित होने की धूम थी। हमने पण्डितजी से 'आत्म-कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' दोनो को मण्डल से प्रकाशित करने की इजाज़त माँगी, और पण्डितजी ने कृपापूर्वक हमें इजाज़त देदी। फलत आज, लगभग १। वर्ष बाद, 'मेरी कहानी' के दो सस्करण प्रकाशित करके 'झलक' को हम हिन्दी-जनता के सामने रख रहे हैं।

'झलक' में पण्डितजी के भिन्न-भिन्न जेलो से अपनी प्यारी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रो का सग्रह है। इन पत्रो में पण्डितजी ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यो के उत्थान-पतन की कहानी बड़ी खूबी के साथ लिखी है। असल में पण्डितजी ने बहुत दिन हुए कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए थे। उसमें पण्डितजी ने सृष्टि के आरम्भ से प्राणि की उत्पत्ति और इतिहास-काल के शुरू तक का हाल बताया है। 'झलक' की कथा उसके बाद से शुरू होती है। लेकिन फिर भी दोनो पुस्तके ऐसी जगह खत्म और शुरू होती है कि दोनो अलग-अलग ही मालूम पड़ती हैं।

अभीतक हम पण्डित जवाहरलाल को देश के एक महान् नेता और आन्दोलनकारी के रूप मे देखते आये हैं। लेकिन 'मेरी कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' ने दुनिया को बता दिया है कि पण्डितजी केवल एक सफल नेता ही नही बल्कि एक अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऊँचे विद्वान भी हैं। उनकी 'मेरी कहानी' जहाँ साहित्यिक प्रतिभा का नमूना है, वहाँ 'झलक' उनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का सागर है।

अंग्रेज़ी में मूल पुस्तक दो खण्डो में है और हम भी उसे दो खण्डो में प्रकाशित

कर रहे है। अंग्रेज़ी में पहला खण्ड एक काल (Period) के समाप्त होने पर खत्म किया गया है और दूसरे काल के शुरू होने पर दूसरा खण्ड शुरू हुआ है। इससे पहला भाग छोटा और दूसरा बहुत बड़ा होगया है। लेकिन हिन्दी में हमने पहला खण्ड समाप्त करने और दूसरा शुरू करने में समय का खयाल नही किया है। यह खासकर इस खयाल से भी कि हमारा इरादा दोनो खण्डो को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था। इसके अलावा, अंग्रेज़ी मे जो १० चार्ट अलग दिये है, उन्हे हमने पुस्तक मे ही लगा दिया है। मूल पुस्तक सन् १९३३ के मध्य मे खतम हुई और सन् १९३४ में प्रकाशित हुई। इसलिए इसमें सन् १९३३ के मध्य तक की घटनाओं का ही ज़िक्र है। हमनें पण्डितजी से निवेदन किया था कि वह एक-दो अध्याय और लिखकर पुस्तक को अप-टू-डेट बनादेने की कृपा करे। लेकिन राष्ट्रपति के नाते हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के सचालन का जो गुरुतर भार उनके कन्धो पर है उसके कारण वह हमारी इस प्रार्थना को, उनकी इच्छा होते हुए भी, पूरा न कर सके। फिर भी, उनकी सूचना के अनुसार, पुस्तक के अन्त में, परिशिष्ट-रूप में, सन् १९३३ के मध्य से अबतक की घटनाओ का देशवार और तारीखवार विवरण हम दे रहे है। इसको खुद पण्डितजी ने भी देख लिया है। आशा है, इससे पुस्तक की उपयोगिता कुछ बढ ही जायगी।

इतनें महत्वपूर्ण और भारी ग्रन्थ का अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन कोई सरल काम नही है। फिर इसके सपादन और अनुवाद की व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी इस बार हमीपर आपडी। 'कांग्रेस-इतिहास' और 'मेरी कहानी' के अनुवाद व सम्पादन के लिए पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय की सेवायें हमें आसानी से मिल गई थी। लेकिन 'झलक' के समय में श्री हरिभाऊजी के दूसरे महत्पूर्ण कामो में लगे रहने और अस्वास्थ्य के कारण हम उनकी सेवाओ को प्राप्त नही कर सके। मगर सर्वश्री सीतलासहाय (बी० ए०), शकरलाल वर्मा, रामनाथ 'सुमन,' गोपीकृष्ण विजयवर्गीय, चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय (बी-एस० सी०), मुकुटविहारी वर्मा आदि माननीय मित्रो, साथियो और मण्डल के हितैषियो का पूरा और हार्दिक सहयोग व सहायता न होती तो यह ग्रन्थ इतने कम समय में और इतनी अच्छी तरह प्रकाशित हो पाता इसमें पूरा सन्देह है। अत हम मण्डल की तरफ से इन सब महानुभावो का हृदय से आभार मानते है।

पुस्तक की भाषा के बारे में दो शब्द कहना जरूरी मालूम होता है। 'मेरी कहानी' की भाषा को लेकर पिछले दिनो पत्रो में और हिन्दी-साहित्यिको में भाषा-सम्बन्धी एक विवाद ही उठ खडा हुआ। 'मेरी कहानी' में उर्दू शब्दो का बहुतायत से प्रयोग हुआ देखकर कुछ साहित्यिक लोग बहुत ही नाराज़ हुए। 'मेरी कहानी' के कुछ अशो का हवाला देकर उन्होने कुछ लोगो का और हिन्दी-हिन्दुस्तानी का मज़ाक़

भी उडाया। हम मानते हैं कि 'मेरी कहानी' की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नही माना जासकता, न आज ही उसका कोई अन्तिम रूप निश्चित किया जा सकता है। वह तो उस दिशा मे एक प्रयत्न-मात्र है। उसकी कमियाँ हमारी निगाह में है। हिन्दी मे इस प्रकार की भापा के, जिसमे न हिन्दी के कठिन शब्द हो और न उर्दू के, हिमायती और लेखक दोनो कम है। हमे 'मेरी कहानी' और 'झलक' के अनुवाद और सम्पादन के प्रवन्ध में इसका कदम-कदम पर अनुभव हुआ। हमने अनुवादको को अपना आशय वताया और उनको इस प्रकार की भाषा मे लिखने और अनुवाद करने के लिए राज़ी तो किया, लेकिन कही-कही तो वे उर्दू-फारसी के प्रवाह में बह गये और कही सस्कृत के। शुरू-शुरू में यह स्वाभाविक भी है। इसमें गलतियाँ भी होगी, और वह भाषा आँखो व कानो को खटकेगी भी। लेकिन धीरे-धीरे जब रफ्त पड जायगा और हमारे कानो को ऐसी भाषा सुनने की आदत पड जायगी, तब यही हमे स्वाभाविक मालूम होने लगेगी। मगर कमियो के होते हुए भी, हमारा ऐसा विश्वास है कि, 'मेरी कहानी' की अपेक्षा हम 'झलक' में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने में ज्यादा सफल हुए है।

फिर भी आलोचक वन्धुओ से हमारा नम्र निवेदन है कि यह अभी प्रयोग मात्र है। हम इसे भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नही कहेगे। यह तो उस सरल भाषा की ओर पहुँचने का प्रयत्न भर है जिसमे न उर्दू-फारसी के कठिन शब्द हो और न सस्कृत के। वह तो आम जनता की भाषा होगी। लेकिन किसी दिशा की ओर जाने के प्रयत्न को 'पूर्णता' या 'सफलता' मानकर उसपर टीका-टिप्पणी करना और उसका मज़ाक उडाना हमारी नम्र राय में न्याय्य नही है और न वह समालोचना ही है। अस्तु।

हमने अपनी ओर से अनुवाद को शुद्ध और सही कराने का भरपूर प्रयत्न किया है। लेकिन मूल अग्रेज़ी के प्रवाह को हिन्दी मे उतारना, और फिर भाषा सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, एक बहुत कठिन बात है। इसमें भूले और मतभेद रहजाना स्वाभाविक है। अत पाठको से प्रार्थना है कि अगर कोई भूल उनकी निगाह में आवे तो उसपर हमारा ध्यान दिलाने की कृपा करे।

—मत्री

सस्ता साहित्य मण्डल
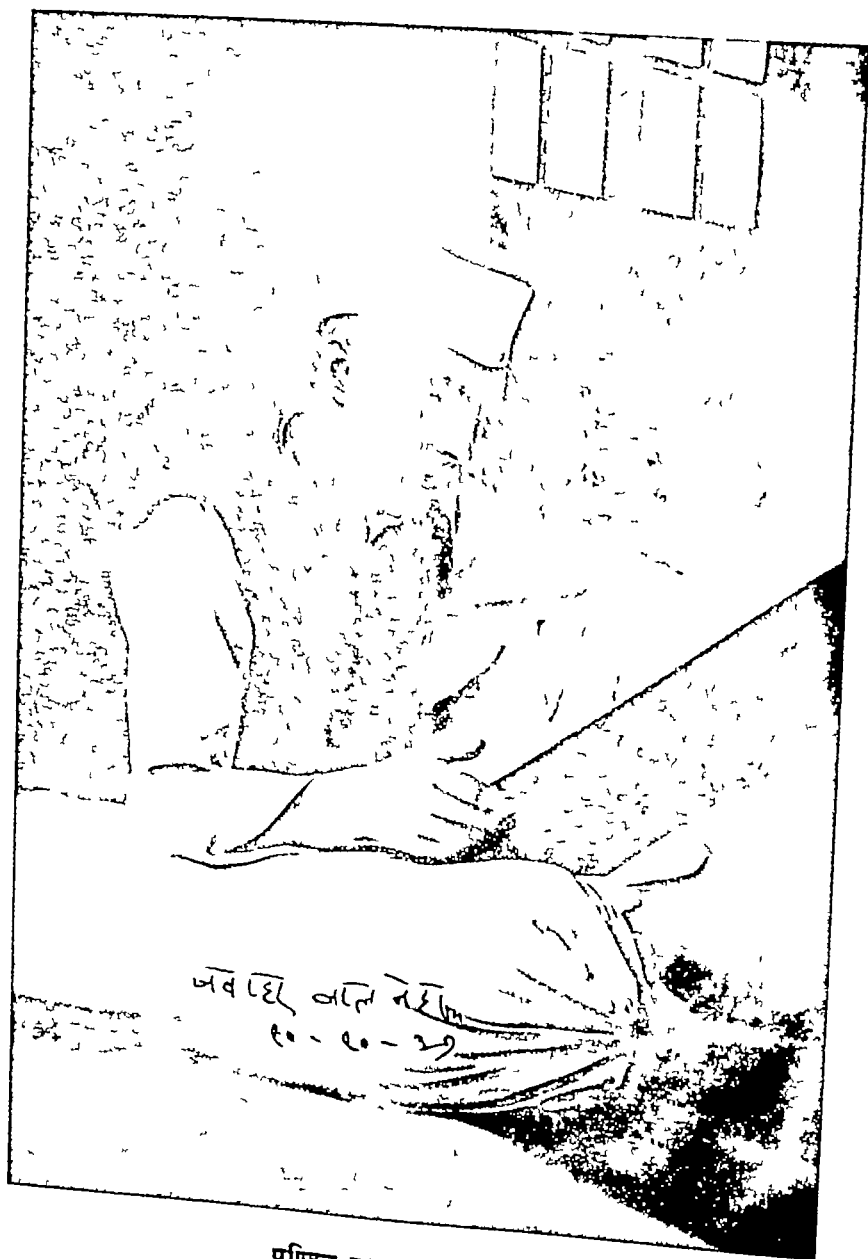
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

श्री गुलाबचद जैन के सौजन्य से]

भूमिका

चार बरस हुए मैंने, इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में ख़त्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेज़ी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय काम-याबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम हमारे देश की पोशाक में निकल रहे हैं। क़ुसूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेज़ी में लिखने में, क्योंकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था जिसमें ज्यादातर किताबें योरप की भाषाओ में है और उन्हींको मैंनें पढा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बडी पुस्तक लिखने का तो मेरा ख़याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनो में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आज-कल की दुनिया और उसके कठिन सवालो से भटककर पुरानें जमाने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई मानें रखता है, या एक यह बेमाने खेल है जिसमें कोई कायदा-क़ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें योही इत्तिफाक से होती है? ये ख़याल मेरे दिमाग को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारो को पकड़कर काग़ज पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते है। इसलिए मैंनें लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद नें मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने में उसके नाम पत्रो का रूप धारण किया।

महीने गुजरे—कुछ दिनो के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम ख़त्म हुआ, बसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, बसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखनें का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रो का एक पहाड़-सा होगया। उसको देखकर मैं भी हैरान होगया। इस तरह से, करीब-क़रीब इत्तिफाक से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हजार ऐब है, हजार कमियाँ, लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि इससे कुछ फायदा भी हो

सक्ता है। जो अंग्रेजो नें या यूरप के लोगो ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं उनमें यूरपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज्यादा दूं। दोनो को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर चाहे कितनी ही नामुकम्मिल हो और उसमें ऐब और खराबियां हों, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते, जबतक कि और देशो का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल जाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खडे रहते हैं या गिरते हैं।

यूरप की भाषाओ में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओ में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं खासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और खराबियां हैं, और ये बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब जमाने में पैदा हुए जबकि दुनिया की रफ्तार तेज है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह कहाँ पहुँचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्किलाब कितने देशो में होगये। अबिसिनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढती हुई आजादी को एक भयानक मुकाबिला करना पडा और अभीतक यह एक जिन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़लस्तीन में हमारे अरब भाइयो का गला घोंटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहां लाखो लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर होगये और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लडके और लडकियां और बच्चे दबे पडे है। साम्राज्यवाद और फेसिस्टवाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमगों को कुचलने की कोशिश कर रहे है। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते है और वह इस मुक़ाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आख़िर में मैंने लडाई के साये का जिक्र किया है। इन चार बरसो में यह साया सारे में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है। दिन और रात इस लडाई की तैयारी सब देश कर रहे है और एक सवाल हरेक की जबान पर और चेहरे पर है। यह तूफान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लावेगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसो का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूं। लेकिन और कामो में इतना फंसा हूँ कि समय नहीं मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं होसकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनु-वाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को मान्य करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफी दिक्कतो का सामना करना पडता है और दोनो तरफ के साहित्यकार नाराज होजाते हैं। ऐतराज होता है कि यह क्या दोगली चीज है—न हिन्दी न उर्दू। साहित्य के प्रेमियो से मैं माफी माँगता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मजबूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में गलतियां होगी और कभी-कभी आंखो को और कानो को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ देखे, शक्ति पहचानेगे और उसके बढाने में लगेंगे।

रेल में —
२१-११-३७

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

जिला जेल देहरादून से—

— पहला खण्ड समाप्त —

विश्व-इतिहास की झलक

इन्दिरा प्रियदर्शिनी

सालगिरह की चिट्ठी

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवे जन्मदिन पर—

सेण्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनायें पाती रही हो। शुभ-कामनायें तो तुम्हे अब भी बहुत-सी मिलेगी। लेकिन नैनी-जेल से मै तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ? फिर मेरे उपहार बहुत स्थूल नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—जैसा उपहार नेक परियाँ दिया करती है और जिन्हे जेल की ऊँची दीवारे भी नहीं रोक सकती।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि लोगो को उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी ललचाता है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अकलमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए, एक मशहूर यात्री ज्ञान और इल्म की खोज में चीन से हिन्दुस्तान आया था। उसका नाम ह्यूएनत्साग[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक ख़तरो का सामना करता, अनेक मुसीबतो और बाधाओ को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानो और पहाडों को पार करके इस देश में आया था।

१ इन्दिरा का जन्मदिन ईसाई पचाग के हिसाब से १९ नवम्बर को पडता है, लेकिन विक्रमी सवत के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

२ ह्यूएनत्साग—यह एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ के लगभग माना जाता है। ६२९ मे यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनो चीन मे शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा मना थी, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ्तारी की बडी कोशिश की गई, लेकिन बडी कठिनाइयो से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबते झेली, यहाँतक कि चार-पाँच दिन पानी तक को तरसता रहा। मगर यह घबराया नही और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसनें यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बडा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

यहाँ नालन्द[१] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र (जो अब पटना कहलाता है) के नज़दीक था, इसनें खुद पढने और दूसरो को पढ़ानें में कई वरस विताये। ह्यूएनत्साग पढ-लिखकर बहुत वडा विद्वान् हो गया और उसे आचार्य (Master of the Law) की उपाधि दी गई। यह शख़्स सारे हिन्दुस्तान में फिरा और इस महान् देश के उस जमाने के लोगो का और उनके रस्म-रिवाजो का अध्ययन करता रहा। वाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक किताब लिखी। इसी किताव में यह 'वहुत अकलमन्द आदमी' वाली कहानी है। कहानी यो है कि दक्षिण हिन्दुस्तान का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह कर्णसुवर्ण शहर उस जमाने में विहार के आजकल के भागलपुर शहर के आस-पास कहीं वसा हुआ था। इस किताब में लिखा है कि यह आदमी अपने पेट और कमर के चारो ओर ताँवे का पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल वाँधकर चलता था। इस विचित्र भेष और इस अजीब पोशाक में, हाथ में डडा लिये, अकड के साथ लम्वे-लम्वे डग रखता हुआ यह शख़्स इधर-उधर घूमा करता था। जव कोई उससे पूछता कि तुमने यह स्वाग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाव देता कि "मुझमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारो तरफ यह ताम्र-पत्र न वांधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योकि मुझे अज्ञान आदमियो पर, जो अधेरे में भटकते रहते हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल वाँधकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है, इसलिए मुझे इस वात की कोई जरूरत नहीं कि मैं ताँवे के पतरे या ज़िरह-वख्तर पहनूं। और वहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक्ल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा के लिए अव भी काफी जगह वाकी है, और इस वात का कोई अन्देशा नहीं कि अधिक के लिए वहां जगह ही न वचे। फिर जव मेरी अक्ल इतनी परिमित और महदूद है तो मैं दूसरो के सामनें अक्लमन्द होनें की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सवको नेक सलाहें कैसे वांट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि इस

१ नालन्द—यह मगव, आजकल के विहार, के अन्तर्गत एक पुराना वौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज्यादा याजक और शिष्य यहां पर रहा करते थे। इसके जोड का विश्व-विद्यालय उस वक्त दुनिया मे दूसरा कोई न था।

बात को जानने के लिए, कि क्या सही है और क्या नही, क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीका यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बात-चीत और बहस-मुबाहिसा किया जाय और अक्सर ऐसी चर्चाओ में से थोडी-सी सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमनें आपस में बहुत-सी बातो पर बहसे की भी है। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौडी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण या अजीबोगरीब दुनिया पाई जाती है। इसलिए हममें से किसीको भी ह्यूएनत्साग की कहानी में बताये हुए बेवकूफ और घमण्डी आदमी की तरह इस बात से उकताना नहीं चाहिए और न यह ख़याल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक़ था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गये। और शायद इसी बात में अपनी भलाई भी है कि हम बहुत अक़्लमन्द नहीं बन जाते, क्योकि 'बहुत ही अक़्लमन्द लोग' (अगर इस किस्म के लोग कही भी पाये जाते हो) जरूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होगे कि अब सीखने को कुछ भी बाकी नहीं रहा। नई चीजो के सीखने और नई बातो के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहस-पूर्ण कार्य के आनन्द से जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—महरूम हो जाने के कारण उनका दिल दुखी रहता होगा।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मै करूँ क्या ? चिट्ठी से बात-चीत का काम तो मुश्किल से ही निकल सकता है। चिट्ठी के ज़रिये ज्यादा-से-ज्यादा एक तरफ की बात प्रकट की जासकती है। इसलिए अगर मै कोई ऐसी बात कहूँ जो तुम्हे उपदेश-सी जान पडे, तो तुम उसे कड़वा घूँट न समझना। तुम यही समझना कि मानो हम दोनो सचमुच बातचीत ही कर रहे है और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे ध्यान देने को तुम्हारे सामने सिर्फ एक तजवीज रक्खी है।

इतिहास की अपनी किताबो में तुमने राष्ट्रो के जीवन में बीतनेवाले बडे-बडे जमानो का हाल पढा होगा। हम उनके बडे-बडे महान् पुरुषो और वीर महिलाओ का हाल और उनके शानदार कारनामो की कहानियाँ पढ़ते ही रहते है। कभी-कभी हम उसी पुराने ज़माने में पहुँच जाते है और अपनी ख़याली दुनिया में उसी वक़्त का सपना देखने लगते है, और यह ख़याल करने लगते है कि मानो पुराने जमाने के वीर पुरुषो और वीर स्त्रियो के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे है। क्या तुम्हे याद है कि जब तुमनें पहले पहल 'जीन द आर्क'[१] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम किस

१ जीन द आर्क—इसका जन्म सन १४१२ ई० में फ्रास देश के एक किसान-ज़मीदार के घर में हुआ था। कहते है कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी सदेश' आया करते

तरह मुग्ध हो गई थी और किस तरह तुम्हारे दिल में यह हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्द और औरते आमतौर पर साहसी भावना के नहीं होते। ये लोग अपनी रोज़ाना की दाल-रोटी की चिन्ता में, अपने बाल-बच्चो की फिक्र में, घर-गिरिस्ती की झझटो में और इसी तरह की चीज़ो के ख़याल में फसे रहते है। लेकिन एक समय आता है जब किसी बडे उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक्त मामूली मर्द और औरते शूरवीर हो जाते है, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और इन्किलाब पैदा करनेवाला बन जाता है। बडे नेताओ में कुछ ऐसी बाते होती है जिनसे वे सारी जाति में जान पैदा कर देते है और उससे बडे-बडे काम करवा लेते है।

वह वर्ष, जिसमें तुम पैदा हुई हो, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास में बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में ग़रीबो और दुखियो के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी कौम के हाथो से ऐसा उच्च और महान् काम करवा लिया जो इतिहास में अमर रहेगा। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को, उस बडे इन्किलाब को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज हिन्दुस्तान में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगो के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारी कौम में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारी क़ौम फिर आज़ाद हो जाय, और भूखे, ग़रीब और पीडित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायें। बापू जी,[1] जेल में पडे है, लेकिन हिन्दुस्तान की करोडो जनता के दिलों में उनके सदेश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोट-छोटे

थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रास का उद्धार इसीके हाथो होगा। उस वक्त फ्रास अग्रेज़ो के आधीन था। एक बार जीन फ्रास के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके ४-५ हज़ार सेना के साथ मर्दाने लिबास में अग्रेजो से लडने चल पडी। आर्लियस की लडाई मे इसने अग्रेज़ो को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रास की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के डचूक ने इसे युद्ध मे पकडकर अग्रेज़ो के हाथ बेच दिया। अग्रेज़ो ने इसे इन्क्वीज़िशन (देखो फुटनोट अध्याय ३५) के हवाले कर दिया और इन्क्विज़िशन ने इसे काफिर और जादूगरनी करार देकर रून नगर मे ज़िन्दा जलवा डाला। उस वक्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेकसूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी करार दी गई।

[1] महात्मा गाँधी

बच्चे भी अपने-अपने छोटे-छोटे और तग दायरो से निकलकर हिन्दुस्तान की आजादी के सिपाही बन रहे हैं। हिन्दुस्तान में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बडे खुशकिस्मत हैं कि ये सब बाते हमारी आँखो के सामने हो रही है, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

इस महान् आन्दोलन में हमारा रुख क्या रहेगा? इसमें हम क्या भाग लेगे? हम नहीं जानते कि हम लोगो के जिम्मे कौन-सा काम आयगा। लेकिन हमारे जिम्मे चाहे जो काम आ पडे, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात नही करेगे जिससे हमारे उद्देश्यो पर कलक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें हिन्दुस्तान का सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का, उसकी इज्जत का रक्षक और निगहवान बनना होगा। उसका यह गौरव, यह इज्जत, हमारे पास पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है, कि इस समय हमें क्या करना चाहिए? सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हे शक हो तो ऐसे समय काम में लाने के लिए मै एक छोटी-सी कसौटी तुम्हे बताता हूँ। शायद इससे तुम्हे मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफिया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हे दूसरो से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और डरना बुरी बात है। तुम्हारे अयोग्य है और शान के खिलाफ है। तुम बहादुर बनो और बाकी चीजें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरो के सामनें तुम्हे शर्म मालूम हो। तुम्हे मालूम है कि हमारी आजादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई और नेतृत्त्व में चल रहा है, गुप्त तरीको या लुक-छिपकर काम करने की बात को कोई स्थान नहीं है। हमें तो कोई चीज छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते हैं या करते हैं उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाडे काम करते हैं। इसी तरह अपनी निजी जिन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी और उजाले में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर न करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है। लेकिन एकान्त और चीज है और गुप्तता या पोशीदगी दूसरी चीज है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो एक प्रकाशमान् बालिका बनोगी और चाहे जो वाकयात तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हे यह एक वडी लम्बी चिट्ठी लिख डाली और फिर भी बहुत-सी बाते रह गई, जो मैं तुम्हे लिखना चाहता हूँ। एक ख़त में इतनी सब बातें कहाँ समा सकती है ?

मैंने तुम्हे बताया है कि तुम बडी खुशकिस्मत हो कि आज़ादी की बडी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक्त हो रही है, तुम्हारी आँखो के सामने हो रही है। तुम्हारी एक वडी खुशकिस्मती यह भी है कि एक बहुत वहादुर और दिलेर स्त्री 'ममी'[१] के रूप में तुम्हे मिली है। जब कभी तुम्हे कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामनें आये, तो उनसे बेहतर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे बिदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम वडी होकर हिन्दुस्तान की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हे पहुँचे।

: १ :

नये साल की सौग़ात

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हें उन ख़तो की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंनें तुम्हें लिखे थे ? तब तुम मसूरी में थी और मैं इलाहाबाद में। उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे ख़त तुम्हे पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि ख़तो के इस सिलसिले को मैं क्यो न जारी रक्खूं और अपनी इस दुनिया के बारे में कुछ और बाते क्यो न बताऊँ ? लेकिन मैं हिचकता रहा। ससार के अतीत और वीते हुए जमाने की कहानी और उसके महापुरुषो और वीरागनाओ और उनके महान् कार्यो का मनन करना बहुत दिलचस्प चीज है। इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली चीज इतिहास के निर्माण में मदद देना है। और तुम जानती ही हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। हिन्दुस्तान का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है। इसमें अनेक दु खद और अप्रिय युग भी पाये जाते हैं, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है, लेकिन सभी बातो का लिहाज़ करते हुए हमारा पिछला जमाना बहुत उज्ज्वल है, जिसपर हम सही गर्व कर सकते हैं।

१. इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरु

इस प्राचीन युग की याद करके हम आनन्द अनुभव कर सकते हैं। लेकिन आज हमें इतनी फुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग़ में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय लग रहा है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफी समय मिल गया है कि मैं जो कुछ चाहूँ लिख-पढ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा है। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता? वर्त्तमान और भविष्य के विचारो में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि अतीत या बीते हुए जमाने पर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ ही साथ, मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामो में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो मैं उसकी फिक्र क्यो करूँ?

लेकिन असल वजह तो, जिससे मैं तुम्हे ख़त लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से मैं तुम्हारे कान में बता दूँ? तो लो सुनो। मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हे पढा सकूँ। तुम इतनी तेजी से बढ़ रही हो और इतनी अक्लमन्द लड़की साबित हो रही हो, कि जो कुछ मैंने स्कूल या कालेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, मुमकिन है वह तुम्हारे लिए काफी न हो और तुम्हे नीरस जँचे। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन के बाद तुम शिक्षक का स्थान लेलो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे पिछले जन्मदिन वाले खत में तुम्हे लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने पेट के चारो तरफ़ ताँबे के पत्तर बाधे फिरता रहता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय।

जब तुम मसूरी में थीं, दुनिया की शुरुआत के दिनो के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस जमाने के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है वह अनिश्चित और धुंधला-सा है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने जमानें से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास का धीरे-धीरे पता लगने लगता है और दुनिया के अनेक हिस्सो के मनुष्य-समाज के विचित्र कारनामो का परिचय मिलनें लगता है। लेकिन मनुष्य-समाज के इन कारनामो का, जो कभी-कभी तो अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवकूफी से भरे होते थे, सिलसिलेवार परिचय दे सकना आसान काम नहीं है। किताबो की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए, मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे

अन्देशा है कि मै तुम्हे शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लडकियाँ सिर्फ एक देश का हाल पढें और उसमें भी सिर्फ कुछ तारीखें और चन्द घटनायें रटले। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज है, और जबतक तुम्हे यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ तुम किसी देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं। मुझे उम्मीद है कि इस सकीर्णता और तग-ख़याली के साथ तुम इतिहास को एक या दो देशो में ही परिमित करके न पढोगी, बल्कि सारी दुनिया का निरीक्षण करोगी और उसपर व्यापक तौर पर नजर डालोगी। हमेशा याद रक्खो कि भिन्न-भिन्न जातियो या मुख्तलिफ कौमो में इतना ज्यादा अन्तर नहीं होता जितना लोग समझते है। नकशो और एटलसो में मुल्क अलग-अलग रंगो से रगकर दिखाये जाते है। इसमें शक नहीं कि मुख्तलिफ देश के रहनेवालो में कुछ अन्तर जरूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए अच्छा हो अगर हम ऊपर कही हुई बात याद रक्खें और नकशो के रग या मुल्को की सरहदी रेखा देखकर बहक न जायँ।

मै तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हे दूसरी किताबें पढनी पडेंगी। लेकिन मै तुम्हें बीते हुए जमाने के बारे में, उस जमाने के लोगो के तथा उन लोगो के सम्बन्ध में कि जिन्होने दुनिया के रग-मच पर बडे-बडे काम किये है, समय-समय पर थोडा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नहीं कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए मनोरजक होगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेगी या नहीं। सच तो यह है कि मै यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हे कभी मिलेगी भी या नहीं। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नजदीक होते हुए भी इतनी दूर है! जब तुम मसूरी में थीं, मुझसे कई सौ मील के फासले पर थीं, लेकिन तब मै जितनी दफा चाहता था तुम्हे खत लिख सकता था, और जब कभी तुम्हे देखने को बहुत तबीयत चाहती थी तब जाकर मिल लेता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उसपार हो, और मै इसपार हूँ, एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारो ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है। पन्द्रह दिन में मै एक खत लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ, और १५ दिन में २० मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मै इन बन्दिशो को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज हमें सस्ती मिल जाती है हम अक्सर उसकी कदर नहीं करते, और मै यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत

मुनासिब और ज़रूरी हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसो हजार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे है।

मै नहीं जानता कि जब तुम्हे मेरे ये खत मिलेगे तुम इन्हे पसन्द करोगी या नहीं। लेकिन मैने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन खतो से हम-तुम बहुत नजदीक आजाते है, और मै तो यहाँतक महसूस करने लगता हूँ कि मानो मेरी-तुम्हारी बाते हो गई। वैसे तो मै तुम्हे अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित से हटी होगी। आज साल का पहला दिन है। आज बडे सवेरे जब मै बिस्तर पर लेटे-लेटे तारो को देख रहा था, तो मेरे दिल में इस बीते हुए पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का खयाल हो आया। मुझे वे सब आशायें, आनन्द और क्लेश याद आगये और वे सारे बडे-बडे बहादुरी के काम आँखो के सामने घूम गये जो इस साल में हुए। मुझे बापू-जी का भी खयाल आया, जिन्होने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादू से हमारे बूढे देश को जवान और ताकतवर बना दिया। और मुझे दादू[१] की भी याद आई, और दूसरो की भी। मुझे खास तौर से तुम्हारी ममी का साथ ही तुम्हारा खयाल तो आया ही, और इसके बाद सुबह होने पर खबर आई कि तुम्हारी ममी गिरफ्तार करली गई और जेल पहुँचा दी गई। मेरे लिए यह नये साल की एक बेशकीमत सौगात थी। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे पूरा यकीन है कि ममी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होगी।

लेकिन तुम अकेली रह गई होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफा मुझसे और एक दफा अपनी ममी से मिल सकोगी और हम दोनो के सदेसे एक-दूसरे को पहुँचाया करोगी। लेकिन मै तो क़लम और कागज लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा खयाल करूँगा। तब तुम चुपके से मेरे पास आ बैठेगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी बातो के बारे में बातचीत करेगे। हम गुजरे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए जमाने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीब सोचेगे। इसलिए आओ, आज नये साल के पहले दिन को हम लोग इस बात का पक्का इरादा करे, कि इसके पहले कि यह वर्ष भी बूढा होकर चल बसे, हम भविष्य के सम्बन्ध के अपने ज्वलन्त स्वप्न को वर्तमान के नजदीक ले आयँगे, और हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास में एक और शानदार सफा बढा लेगे।

१ इन्दिरा के बाबा प० मोतीलाल नेहरू

: २ :

इतिहास की शिक्षा

५ जनवरी,' १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूं और किस जगह से शुरू करूं ? जब मैं पुरानें जमानें का ख़याल करता हूँ तो मेरी आँखो के सामनें बहुत-सी तस्वीरें तेजी के साथ घूम जाती है। कुछ तस्वीरें ज्यादा देर तक ठहरती है, तो कुछ थोडी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीजें है, और उनके बारे में विचार करते-करते मै उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मै पिछली घटनाओ से आजकल की घटनाओ का मुकाबिला करने लगता हूँ, और उनसे अपनी शिक्षा के लिए सबक लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचडी है, जिसमें ऐसे ख़यालात भरे रहते है जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ऐसी तस्वीरें मौजूद रहती है जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती--जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तस्वीरो की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन इसमें हमीं लोगो का सारा दोष नहीं है। हममें बहुतसे आदमी अपने दिमाग़ में घटनाओ के क्रम को बेहतर तरीक़े से तरतीब दे सकते हैं। लेकिन कभी-कभी ख़ुद घटनायें इतनी अजीब होती है कि उन्हे किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे ख़याल पडता है कि मैंने तुम्हें एक दफा लिखा था कि इतिहास के पढने से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवो की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आगये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवो का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के जोर पर उसनें कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता और जगलीपन से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल बताना इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ ख़तो में तुम्हे यह बतानें की कोशिश की है कि सहयोग का यानी मिल-जुलकर काम करनें का ख़याल कैसे बढा और सबकी भलाई अर्थात् सार्वजनिक हित के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यो होना चाहिए ? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास की व्यापकता पर ग़ौर करते है, तो हमें यह बात बहुत साफ नहीं दिखाई देती कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक़्क़ी की हो, और यह कि हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत होगये हो। मनुष्यो में सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफी पाया जाता है। एक मुल्क या

एक कौम दूसरे मुल्क और दूसरी कौम पर स्वार्थ और खुदगरजी से आक्रमण करते हैं और उसे सताते हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इसी तरह का व्यवहार करता है। अगर लाखों बरस की तरक्की के बाद भी हम इतने पिछडे और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार आदमी की तरह व्यवहार कर सकने के लिए हमें और कितने दिन लग जायँगे! जब कभी हम इतिहास के उन पुराने जमानों के बारे में पढ़ते हैं, जो आजकल के जमाने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक सभ्य और सस्कृत भी जान पडते हैं, तो हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है? खुद हमारे अपने देश के पुराने युग वर्तमान युग की बनिस्बत यकीनन हर हालत में कहीं ज्यादा बेहतर और शानदार थे।

यह सच है कि हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान जैसे अनेक देशों, के पुराने इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन मुल्कों में से बहुत से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन इसकी वजह से हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बडी जगह है, और थोडे वक़्त के लिए किसी मुल्क के ऊपर उठ जाने या नीचे गिर जाने से सारी दुनिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कार की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और जो बडे-बडे वैज्ञानिक हुए हैं वे हर तरह से इज्जत के काबिल हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं वे मुश्किल से ही बडे हुआ करते हैं। दूसरे, हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत बहुत ज्यादा उन्नति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ जीव ऐसे भी हैं जो कुछ बातों में आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। सुनने में यह बात बेवकूफी की मालूम पड़ सकती है, और जो लोग नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की बनाई हुई 'Life of the Bee, the White Ant and the Ant' (शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की जिन्दगी) नाम की किताब पढ़ी ही है। इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढकर तुम्हे जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे हलके दरजे का जीव समझकर हिक़ारत की नजर से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग की कला और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान का सबक आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खा है। जबसे मैंने दीमक का वर्णन देखा और अपने साथी के लिए उसके बलिदान का हाल पढ़ा, मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गई है। अगर आपस के सहयोग को और समाज की भलाई के लिए बलिदान को सभ्यता के परखने की कसौटी माने,

तो इस लिहाज से चीटियाँ और दीमक आदमी से ऊँचे दरजे की साबित होती है।

सस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[१] है, जिसका अर्थ है कि, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को छोड देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज है इसे हममें से कोई नही समझता, और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने ख़याल के मुताबिक अलग-अलग किया करता है। लेकिन सस्कृत का यह श्लोक जो सबक हमें सिखाता है, वह सबक़ है सहयोग का और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान करने का। हिन्दुस्तान के हम लोग असल महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनो तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी हलकी-सी झलक दिखाई देने लगी है और सारे मुल्क में एक तहलका-सा मचा हुआ है। कितनी अद्‌भुत बात है कि मर्द और औरते, लडके और लडकियाँ हँसते-हँसते हिन्दुस्तान के हित के लिए आगे बढ रहे है और तकलीफ या कष्ट की ज़रा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योकि एक महान् उद्देश के लिए सेवा करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुशकिस्मत है उन्हे बलिदान करने का भी आनन्द प्राप्त हुआ है। आज हम हिन्दुस्तान को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे है। यह एक बडी बात है। लेकिन मनुष्य मात्र के हित का प्रश्न इससे भी ऊँचा है। और क्योकि हम यह महसूस करते है कि हमारा सग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफो और मुसीबतो को मिटाने के महान् सग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते है कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके थोडा-बहुत अपना फर्ज़ अदा कर रहे है।

तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, ममी मलाका-जेल में पडी है, और मैं नैनी-जेल में हूँ। यहाँ हमें कभी-कभी एक-दूसरे का ख़याल आता है और बहुत ज़ोर के साथ। लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनो फिर मिलेगे। मैं उस दिन का उत्सुकता से इन्तज़ार करूँगा और उसका खयाल मेरे दिल के बोझ को हलका और हृदय को प्रसन्न कर देगा।

१ त्यजेदेक कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ॥—पञ्चतन्त्र

: २ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३७

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखो से ओझल हो तो और भी प्यारी ! आज, जब मैं यहाँ तुम्हे ख़त लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज का-सा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है। लेकिन इसकी गूंज से मेरे कान परिचित थे और इसके स्वागत के लिए मेरे दिल में प्रतिध्वनि उठती थी। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई मालूम हुई और ज़ोर से सुनाई देने लगी। फिर तो कोई शक बाक़ी नही रह गया। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !' 'इंक़िलाब ज़िन्दाबाद !' इस जोश से भरी हुई ललकार से सारा क़ैदख़ाना गूंज उठा; और इसे सुनकर हम सब लोगो के दिल प्रसन्न हो गये। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे, जो हमारे इस जगी नारे को हमसे इतनी नज़दीक जेल के बाहर से बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरते थीं या गाँव के किसान लोग ? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौक़ा था ? लेकिन ये लोग चाहे जहाँ के रहे हो, इन्होने हमारे दिलो को खुश कर दिया और इनके अभिवादन का हम लोगो ने ख़ामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी बहुत-बहुत शुभकामनायें भी थी।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' की आवाज़ क्यो लगाते हैं ? क्रान्ति और परिवर्तन या तब्दीली हम क्यो चाहते है ? इसमें शक नही कि हिन्दुस्तान में आज बहुत परिवर्तन होने की ज़रूरत है। लेकिन वे सारी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ, जो हम चाहते हैं, हो भी जायँ, और हिन्दुस्तान को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम चुपचाप नही बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जो ज़िन्दा है, बिना परिवर्तन के नहीं रहती। सारी प्रकृति रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल मुर्दों की ही बढ़ती और तरक्की रुकी रहती है, और वे शान्त और स्थिर हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह स्थिर होकर गन्दला हो जाता है। आदमी की और क़ौम की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहे या न चाहे, हम बूढ़े होते जाते है। नन्ही-नन्ही बच्चियाँ छोटी-छोटी लड़कियाँ हो जाती है, छोटी-छोटी लड़कियाँ बडी लड़कियाँ हो जाती है, वही बाद में स्त्रियाँ और फिर बुढ़िया हो जाती है। हमें इन सब तब्दीलियो को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन हममें से बहुतसे आदमी इस

बात को मानने के लिए तैयार नही कि दुनिया बदलती रहती है। वे लोग अपने दिमाग़ को बन्द रखते हैं और उसपर ताला लगा देते हैं और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने की इजाज़त नहीं देते। सोच-विचार करनें में उन्हे जितना डर लगता है, उतना शायद किसी दूसरी चीज में नहीं लगता। नतीजा क्या होता है ? दुनिया तो इतने पर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूंकि वे और उन्हींके क़िस्म के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियो के मुताबिक अपनेंको नहीं ढालते, इस-लिए समय-समय पर बडे-बडे विस्फोट या भडाके होते है, बडी-बडी क्रान्तियां हो जाती हैं—जैसे कि १४० बरस पहले फ्रान्स में और आज से तेरह बरस पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपनें देश में भी आज हम एक क्रान्ति के बीच में से गुज़र रहे हैं। बेशक हम आज़ादी चाहते हैं, लेकिन हम इससे कुछ और भी ज्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढो और नालियो को साफ कर डालना चाहते हैं और हरेक जगह पर ताज़ा और साफ पानी की लहर पहुँचा देना चाहते हैं। हमारा फर्ज है कि हम अपने देश की गन्दगी, ग़रीबी और मुसीबतो को निकाल फेंके और जहाँतक हो सके बहुतसे आदमियो के दिमाग़ो में भरे हुए कूडे को भी साफ कर दें, जिसकी वजह से कि वे लोग सोच-समझ नहीं पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं करते। हमारे सामने जो काम है वह महान् है और मुमकिन है कि उसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! 'इन्किलाब ज़िन्दाबाद!'

हम क्रान्ति के दरवाज़े तक पहुँच गये हैं और यह नही जानते कि आगे भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफी मात्रा में वर्तमान नें भी हमारे सामने ला रक्खा है। हिन्दुस्तान की स्त्रियो को देखो कि किस तरह अभि-मान के साथ वे लडाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही है! नम्र लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली अपनी प्रगति से कैसे दूसरो को आगे बढने का रास्ता दिखा रही हैं? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसनें हमारी बहादुर और ख़ूबसूरत स्त्रियो को अपने में छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनपर देश पर एक लानत—एक अभिशाप था? वह अब तेज़ी के साथ मिट रहा है और अजायबघरो की आलमारियो में, जिनमें पुराने ज़माने की चीज़ो के नमूनें रक्खे रहते है, जाकर अपने लिए जगह ढूँढ रहा है।

बच्चो को, लड़के और लड़कियो को, बानर-सेना और बाल-बालिका-सभाओ को देखो। इनमें बहुतसे बच्चे ऐसे होगे, जिनके माता-पिता सम्भव है पहले डरपोक रहे हो और गुलामो की तरह आचरण करते रहे हो। लेकिन अब किसको

शक हो सकता है कि हमारी पीढी के बच्चे गुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे ?

और इस तरह क्रांति का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे है और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे है। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आगया था। लेकिन इसके पहिये को इस दफा हम लोगो ने ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

"इन्किलाब जिन्दाबाद !"

: ४ :

एशिया और योरप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले ख़त में बताया था कि हरेक चीज बराबर तब्दील होती रहती है। इन तब्दीलियो की कहानी के सिवा दरअसल इतिहास और है भी क्या ? अगर पुराने जमाने में बहुत कम तब्दीलियाँ हुई होतीं, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूल और कॉलेजो में जो इतिहास पढाया जाता है वह साधारणत· बहुत सन्तोषजनक और मतलब का नहीं होता। दूसरो की बाबत तो मैं जानता नही, अपने बारे में यह जरूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मैं बहुत कम इतिहास सीख पाया था। हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में थोडा-बहुत पढा था, और कुछ इंग्लैण्ड का इतिहास पढ़ा था। हिन्दुस्तान का इतिहास जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर ग़लत या तोडा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगो का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफरत की नजर से देखते थे। और देशो के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही अनिश्चित और धुँधला था। कॉलेज छोडने के बाद मैंने कुछ वास्तविक इतिहास पढ़ा। ख़ुशक़िस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढाने का ख़ासा मौका दे दिया।

मैंने तुम्हे अपनी कुछ पुरानी चिट्ठियो में हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता के बारे में, द्रविडो के बारे में, और आर्यों के आगमन के सम्बन्ध में लिखा था। मैंने आर्यों के आने के पहले के जमाने का कोई हाल इन ख़तो में नही लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे में ज्यादा मालूम नहीं है। लेकिन तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि हिन्दुस्तान में इन पिछले बरसो में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिन्ह मिले है। ये चिन्ह उत्तर-पश्चिम भारत में मोहेन जे दारो नाम की जगह के आस-पास

पाये गये है। क़रीब पाँच हज़ार बरस पुराने इन खण्डहरो को लोगो ने खोदा और उसमें प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई--मसाला लगाकर रक्षित रक्खे गये मुर्दे--मिली है। जरा ख़याल तो करो। ये सब बाते हज़ारो बरस पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की है। योरप उस समय वीरान रहा होगा।

आज योरप मजबूत और ताकतवर है और वहांके रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज्यादा सभ्य और तहज़ीबदार समझते है। वे एशिया और उसके निवासियो को तिरस्कार की नजर से देखते है, और एशिया के मुल्को में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते है। ज़माना कैसा बदल गया है! आओ, हम एशिया और योरप पर ज़रा ग़ौर से नजर डाले। एटलस खोलो, देखो, छोटासा योरप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपक रहा है। मालूम होता है मानो यह एशिया का ही छोटासा हिस्सा हो। अगर तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हे मालूम होगा कि कई युगो तक एशिया उसपर हावी रह चुका है। एशियाई लोगो की बाढ-की-बाढ योरप जाती रही है और उसे फतह करती रही है। इन लोगो ने योरप को उजाडा भी और उसे सभ्यता या तहज़ीब भी सिखाई। आर्य, शक, हूण, अरब, मगोल और तुर्क ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये थे, और योरप और एशिया के चारो ओर फैल गये थे। वे एशिया में टिड्डी-दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा होते रहे। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनो तक एशिया का उपनिवेश रहा है और उसकी बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए हमला करनेवालो की सन्तानें है।

एशिया एक बेडौल दानव की तरह नक्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। योरप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलव नहीं कि एशिया इसलिए वड़ा है कि उसकी लम्वाई-चौडाई बहुत है, या यह कि अपनी छुटाई के कारण योरप किसी ध्यान दिये जाने के काबिल नहीं है। किसी आदमी या देश की वडाई उसकी लम्वाई-चौड़ाई से नहीं परखी जाती। हम सव अच्छी तरह जानते है कि योरप हालाकि महाद्वीपो में सवसे छोटा है, मगर आज वह महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते है कि योरप के अनेक देशो के इतिहास में शानदार युग हुए है। इन देशो ने विज्ञान के वडे-वडे पण्डित पैदा किये, जिन्होने अपनी खोज और आविष्कारो से मानवी सभ्यता को वहुत ज्यादा तरक़्क़ी दे दी और लाखो आदमियो और औरतो के लिए जिन्दगी आसान वना दी। इन देशो में वडे-वडे लेखक, विचारक, कला-कुशल, सगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए है। योरप की महानता को स्वीकार न करना वेवकूफी होगी।

लेकिन एशिया की महानता को स्वीकार न करना भी उसी तरह की बेवकूफी होगी। कभी-कभी हम योरप की तड़क-भड़क से धोखे में आ जाते है और अपने पुराने जमाने को भूल जाते है। हमें यह याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बडे-बडे विचारक पैदा किये है, जिन्होने दुनियाभर में इतना प्रभाव डाला कि शायद ही कोई दूसरे आदमी या कोई दूसरी चीज इतना असर डाल पाये हो। ख़ास-ख़ास धर्मो के प्रवर्त्तक भी यही हुए। हिन्दू धर्म जो मौजूदा बडे-से-बडे मजहवो में सबसे पुराना है, हिन्दुस्तान की उपज है। इसी तरह उसका भाई बौद्ध धर्म भी एशिया का ही है, जो आज तमाम चीन, जापान, वरमा, तिब्बत और लका में फैला हुआ है। यहूदियो और ईसाइयो का धर्म भी एशियाई ही है, क्योकि यह एशिया के पश्चिम किनारे पर फिलस्तीन[1] मे पैदा हुआ था। जोरास्ट्रियन धर्म, जो पारसियो का मजहब है, ईरान[2] में उत्पन्न हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद अरव के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

१ **फिलस्तीन**—इसे पेलस्टाइन भी कहते है। एशिया का एक प्राचीन देश है। पश्चिम देश के आधीन रहने के बाद ईसा से पहले सन् ११०० मे फिलस्तीन जाति के अधिकार मे आया। ईसा से पहले की नवी सदी से छठी सदी तक असीरिया और वेविलोनिया के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक ज़माने मे यहूदियो ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया था और कभी यह मुसलमानो के तावे मे रहा। सन् १९१७–१८ से यह अग्रेज़ो के अधिकार मे है और अव वहाँ अरव और यहूदियो मे झगडा चल रहा है। यह ईसाइयो और मुसलमानो दोनो की पवित्र भूमि है।

२ **ईरान**—एशिया का एक देश है, जो फारस भी कहलाता है। ईसा से पूर्व सन् ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा मे थी और सम्राट् डेरियस या दारा के ज़माने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली होगया था कि यूनानियो को इसके डर के मारे नीद नही आती थी और योरप, अफ्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से काँपते थे। लेकिन बाद मे धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

३ **जरथुस्त**—यह प्राचीन ईरानी मज़हब के प्रवर्त्तक या पैगम्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नही लगता, लेकिन कुछ लोगो के खयाल मे इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहशाह सीरियस के ज़माने मे इनका धर्म ईरान का खास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। हिन्दुस्तान के पारसी अब भी इसी मज़हब को मानते है। इनके सिवा इस मज़हव का माननेवाला दुनिया मे अव कोई नही है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

कनफ्यूशस[१], लाओ-त्ज़े[२] वगैरा, जो चीन के महान् दार्शनिक थे, एशिया के बडे-बडे विचारको के नाम से तुम सफे-के सफे भर सकती हो। इसी तरह एशिया के कर्म-वीरो के नामो से भी पन्ने-के-पन्ने रगे जा सकते है, । यही नही कई और वातो में भी मै तुम्हे दिखा सकता हूँ कि हमारा यह बूढा महाद्वीप प्राचीनकाल में कितना महान् और सजीव रहा है।

लेकिन देखो, जमाना कैसा वदल गया है, और एक वार फिर हमारी आँखो के सामने भी वह बदलता जारहा है। इतिहास आम तौर पर धीरे-धीरे सदियो में अपना प्रभाव दिखाता है, हालाकि उसमें तूफानी और धडाके के भी युग होते है। आज तो एशिया में जमाना बहुत तेजी से आगे बढ रहा है और यह बूढा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इसपर लगी है, क्योकि सभी जानते है कि भविष्य के विकास में यह बहुत बडा हिस्सा लेने जारहा है।

: ५ :

पुरानी सभ्यतायें और हमारा उत्तराधिकार

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अख़बार 'भारत' में, जो हमें हफ्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ ख़बरें पहुँचा देता है, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी ममी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ जेल भेजी जानेवाली है। यह पढकर मै कुछ परेशान-सा होगया और चिन्ता करने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफवाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी बनाये रखना ठीक नहीं। अपनी परेशानियों और मुसीबतो को सहना काफी आसान है। इससे हरेक को फायदा होता है, नहीं तो बिना इसके हम लोग बहुत नाज़ुक बन जा सकते है। लेकिन जो हमें प्रिय है, उनकी मुसीबतो का ख़याल, खासकर उस वक्त जबकि हम उनकी कोई

१ कनफ्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैगम्बर थे। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था और इन्होने अपना सारा जीवन अपने मुल्क को प्राचीन या पुरानी किताबो के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में विताया। ईसा से ४५८ वरस पहले इनकी मृत्यु हुई। चीन मे अव भी इनका मज़हब माननेवाले वहुत पाये जाते है।

२ लाओ-त्ज़े—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैगम्वर था। यह कनफ्यूशस के ज़माने में ही हुआ, और उसका विरोधी था।

मदद नहीं कर सकते, कोई आसान या तसल्ली देनेवाली चीज नहीं है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं ममी के वारे में चिन्ता करने लगा। वह वहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमजोर है, और मैं नहीं चाहता कि वह और कमजोर होजाय। हम दिल के चाहे कितने ही मजबूत क्यों न हों, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे वैठें तो हम क्या कर सकते हैं? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो तन्दुरुस्ती, ताकत और मजबूत शरीर होना जरूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि ममी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है वह वहां ज्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ सगी-साथी भी मिल जावेंगे। मलाका में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहां इतना इतमीनान जरूर था कि वह दूर नहीं है, हमारी जेल से सिर्फ चार-पांच मील पर ही है। लेकिन यह सोचना वेवकूफी ही तो है। जव दो जेलों की ऊंची-ऊंची दीवारें एक-दूसरे को जुदा कर रही हैं, तव क्या पांच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों वरावर हैं।

आज यह जानकर खुशी हुई कि दादू इलाहावाद वापस आ गये हैं और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी खुशी हुई कि वह ममी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है तकदीर से कल तुम सव लोगों से मुलाकात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाकात का दिन' है और जेल में मुलाकात का दिन वड़ा दिन माना जाता है। करीव दो महीने से मैंने दादू को नहीं देखा है। उम्मीद है कल मुलाकात हो जायगी और मैं इतमीनान कर सकूंगा कि दरअसल वह अव पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक वड़े लम्वे पखवाड़े के वाद मिलूंगा, जव कि तुम मुझे अपना और अपनी ममी का हाल सुनाओगी।

क्या खूव! लिखने तो वैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूं वेवकूफी की वातें। अच्छा, अव थोड़ी देर के लिए हम वर्त्तमान को भूल जायं और दो-तीन हजार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र के और क्रीट[1] के पुराने नोसास[2] के वारे में मैंने तुम्हें अपनी पहली चिट्ठियों में लिखा था, और तुम्हें वताया था कि पुरानी सभ्यता ने इन दोनों

१. क्रीट—यह भूमध्यसागर के सवसे वड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान वहुत ऊंचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सवसे पहला यूरोपीय देश है। यहांका राजा माइनास वड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सवसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी

२. नोसास—राजा माइनास के वक्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू

देशो में और उस मुल्क में, जो आज इराक[१] या मैसोपोटामिया कहलाता है तथा चीन, हिन्दुस्तान और यूनान में पहले-पहल जड पकडी, यूनान औरो से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज से हिन्दुस्तान की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक की सभ्यताओ की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुकाबिले कम उम्र की कही जा सकती है। इन पुरानी सभ्यताओ का क्या हाल हुआ ? नोसास[१] खतम होगया। सच तो यह है कि करीब तीन हजार बरस से उसका कोई अस्तित्व नहीं रहा है। यूनान के नई सभ्यता के लोग आये और उन्होने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हजार बरस के शानदार इतिहास के बाद समाप्त होगई, और पिरेमिड[२], स्फिक्स[३], बडे-बडे मन्दिरो के खडहरो, मोमियाइयो और इसी तरह की दूसरी चीजो के अलावा वह अपना कोई निशान नही छोड गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अव भी वहाँ बहती है, और दूसरे देशो की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष, रहते है, लेकिन इन नये आदमियो का इनके देश की पुरानी सभ्यता से कोई ताल्लुक नहीं है।

इराक और ईरान ! इन देशो में कितने साम्राज्य फूले-फले, एक-दूसरे के बाद अस्त होते गये और उनका कोई नाम लेनेवाला नहीं रह गया। इन साम्राज्यो में से अगर

की राजधानी था। यह वडा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी वहुत अच्छा होता था। यहांके हथियार भी वहुत मशहूर थे।

१ इराक—यूफ्रेटीज और टाइगस नदियो के वीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक है। यह देश प्राचीन सभ्यताओ में से कईयो का क्रीडा-क्षेत्र रहा है।

२ पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार, जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटो की कब्रे है। सवसे वडा पिरेमिड गिजेह नामक स्थान पर है। इसमे पत्थर की तेईस लाख चट्टाने लगी है, और एक-एक चट्टान का वजन ढाई-ढाई टन है। जिस जमाने मे मगीनो का नाम तक न था, उस जमाने में लोगो ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इम वात के समझने मे वुद्धि चकरा जाती है।

३ स्फिक्स—यूनान की कहानियो के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड पर लगे हुए शेर का-सा है। गिजेह नामक जगह पर पिरेमिडो के पास इसकी एक वडी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्वाई १८७ फीट और ऊँचाई ६६ फीट है। उसका केवल सिर ही ३० फीट लम्वा है, और मुँह की चौडाई १४ फीट है।

सबसे पुराने साम्राज्यो के ही कुछ नाम ले तो वे है—बेबीलोनियन,[१] असीरियन[२] और कैल्डियन[३]। बेबीलन[४] और निनीवे[५] इनके विशाल नगर थे। वाइबिल का पुराना अहदनामा (Old Testament) इन नगरो के लोगो के जिक्र से भरा पडा है। इसके वाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफलैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। साम्राज्य पैदा होते हैं और खतम हो जाते हैं; बडे-से-बडे और अभिमानी-से-अभिमानी बादशाह दुनिया के रंग-मच पर सिर्फ थोडे ही अरसे के लिए ऐंठ और अंकडकर चल पाते हैं और फिर चल बसते है।

१ बैबीलोनियन—इराक के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बैबोलियन राजवश की स्थापना ईसा से करीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से करीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार नाम के केल्डिया के सम्राट होने पर यह फिर आगे वढने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूचड्नेजर ने ईसा से पूर्व करीब ६०४ और ५६५ साल के वीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके वाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा।

२ असीरियन—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यो मे से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र से ईरान तक फैला हुआ था।

३ केल्डिया—एक अर्थ मे यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाडी के ऊपर की तरफ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ यूफ्रेटीज़ नदी के निचले हिस्से के किनारो पर आवाद था। यहाँका निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट हुआ और उसीके उत्तराधिकारियो के ज़माने में बैबीलोनियन सम्राट अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना केल्डियन-बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

४ बेबीलन—एशिया का वहुत पुराना शहर था। आजकल के वगदाद से करीव ६० मील दक्षिण की तरफ, यूफ्रेटीज़ नदी के दोनो किनारो पर यह आवाद था। यही पर बैबीलोनियन, असीरियन और ईरानी साम्राज्यो की राजधानियाँ के थी। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' ससार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

५ निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिव के ज़माने मे इस शहर ने बडी तरक्की की थी और करीब दो सौ साल तक वहुत बडा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँका पुस्तकालय अपने ज़माने मे दुनियाभर में मशहूर था। ईसा से पहले सन् ६१२ में मीडो और बैबीलोनियनो ने मिलकर हमला किया और इस फलते-फूलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

पर सभ्यतायें कायम रह जाती है। लेकिन इराक और ईरान की पुरानी सभ्यतायें मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ख़त्म होगई।

यूनान पुराने जमाने में सचमुच महान् था और आज भी लोग उसके वैभव, उसकी शान-शौकत का हाल पढकर अचरज करते है। आज भी हम उसकी सगमर-मर की मूर्तियो की खूबसूरती देखकर चकित हो जाते है, और उसके पुराने साहित्य के उस अश को, जो बच गया है श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढते है। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है। योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीको का गहरा असर पड़ा है; लेकिन वह वैभव और शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है ? इस पुरानी सभ्यता को गायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह पर दूसरी तरह के आचार-विचार या तौर-तरीके प्रचलित होगये और यूनान आज योरप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्कभर रह गया है।

मिस्र नोसास, इराक और यूनान ये सब खत्म होगये। इनकी सभ्यता का भी बैबीलन और निनीवे की तरह अस्तित्व मिट गया। ऐसी हालत में इन पुरानी सभ्यताओ की साथी बाक़ी दो, चीन और हिन्दुस्तान की, सभ्यताओ का क्या हुआ ? और देशो या मुल्को की तरह इन दोनो देशो में भी साम्राज्य के वाद साम्राज्य कायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहो के ख़ानदान सैकडो बरसो तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आगये। हिन्दुस्तान और चीन में ये सब बाते वैसे ही हुई, जैसे दूसरे देशो में। लेकिन सिवाय चीन और हिन्दुस्तान के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला कायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयो और हमलो के बावजूद इन देशो में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट वहती आई है। यह सच है कि ये दोनो अपनी पुरानी हालत से बहुत नीचे गिर गये है और इनकी प्राचीन सभ्यता के ऊपर गर्द व गुबार का ढेर जमा होगया है। कहीं-कहीं इसे गन्दगी ने ढक लिया है, जो लम्बे अरसे से जमा होती चली आई है। लेकिन यह सभ्यता अभीतक कायम है और आज भी हिन्दुस्तानी जिन्दगी की वुनियाद वनी हुई है। अव दुनिया में नई सभ्यता का दौरदौरा है। भाफ से चलने-वाले जहाज, रेलवे और वडे-वडे कारखानो के बन जाने से दुनिया की सूरत ही बदल गई है। ऐसा हो सकता है, वल्कि यह बहुत सम्भव है, कि वे हिन्दुस्तान की भी काया-पलट करदें, जैसा कि वे कर भी रही है, लेकिन भारतीय सभ्यता और सस्कृति को, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगो को पार करती हुई वर्त्तमान

युग तक चली आई है, इस विस्तृत विस्तार और सिलसिले का खयाल तक दिलचस्प और आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में हम लोग हिन्दुस्तान के इन हजारो बरसो के उत्तराधिकारी है। यह हो सकता है कि हम लोग पुराने जमाने के उन लोगो के ठेठ वंशज हो, जो उत्तर-पश्चिम के पुराने देशो से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये थे, जो ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, भारतवर्ष और बाद में हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम्हे अपनी कल्पना में ये लोग पहाडी दर्रो से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं दिखाई देते ? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामो की परवा न करते हुए, आगे बढते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते उसे गले लगाया। लेकिन उन्हे जीवन से प्रेम था और वे यह जानते थे कि जिन्दगी का सुख भोगने का एकमात्र तरीका यह है कि आदमी निडर हो जाय। हार और मुसीबतो की फिक्र न करे। क्योकि हार और मुसीबत में एक बात यह होती है कि वह निडर लोगो के पास नही फटकती। अपने उन प्राचीन पूर्वजो का खयाल तो करो, जो आगे बढते-बढते एकदम से शान के साथ समुद्र की ओर बहनेवाली गगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित होगया होगा ! और इसमें आश्चर्य और ताज्जुब की क्या बात है कि इन लोगो ने इसके सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी मीठी और रसीली भाषा में उसकी स्तुति की हो ?

और यह सोचकर सचमुच ताज्जुब होता है कि हम इन सब युगो के उत्तराधिकारी है। लेकिन इससे हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। अगर हम युग-युगान्तरो के उत्तराधिकारी है तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनो के है, और हिन्दुस्तान को अपनी मौजूदा विरासत में हमें जो कुछ मिला, उसका बहुत-कुछ हिस्सा बुरा है, बहुत-कुछ ऐसा है जिसने हमें दुनिया में दबाये रक्खा और हमारे महान् देश को सख्त गरीबी के गड्ढे में गिराकर उसे दूसरो के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन हमने यह निश्चय कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे।

: ६ :

यूनानी या हेलन्स

१० जनवरी, १९३१

तुम लोगो में से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाकात का दिन' कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाकात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी चिन्ताजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नहीं है।

बस इतने से ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। ख़ैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाकात न होगी, तो मैं अपना चरखा कातने लगा। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ के बुनने में मजा भी आता है और दिल को तस्कीन और शान्ति मिलती है। इसलिए तुम जब कभी किसी असमजस में हो, या कोई शक-शुबह हो, तो कातने लगो।

अपने पिछले पत्र में मैंने योरप और एशिया का मुकाबिला किया था और यह देखा था, कि इन दोनो में कितनी बाते एक-दूसरे के ख़िलाफ है और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती है। आओ, अब हम प्राचीन योरप की उस समय की हालत पर थोडी सीनजर डालें। बहुत दिनो तक भूमध्यसागर के चारो तरफ के देश ही योरप समझे जाते थे। हमें उस जमाने के योरप के उत्तरीय देशो का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के आस-पास के रहनेवाले लोगो का खयाल था कि जर्मनी, इग्लैण्ड और फ्रान्स में वहशी और जगली जातियाँ रहा करती है। यहाँतक कि लोगो का ख़याल है कि शुरू जमाने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वीय हिस्से तक ही महदूद थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, योरप में नहीं) और नोसास, ही पहले देश थे, जो आगे बढे। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढने लगे और यूनान तथा आसपास के मुल्को पर हमला किया। यह आर्य वही यूनानी है जिन्हे हम प्राचीन यूनानी कहते है और जिनकी तारीफ करते हैं। पहली बात तो यह है, और मेरा ख़याल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे जो शायद इसके पहले हिन्दुस्तान में उतर चुके थे। लेकिन बाद में तब्दीलिया आगई होगी और धीरे-धीरे आर्य-जाति की इन दोनो शाखाओ में दिन-ब-दिन ज्यादा फर्क होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी यानी द्रविड-सभ्यता का और उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पडा, जिसके चिन्ह आज हमें मोहेनजेदारो में मिलते है। आर्यों और द्रविडो ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिलजुल कर हिन्दुस्तान की एक सयुक्त सस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पडा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय ख़ूब जोरो से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पडा, लेकिन इन्होने नोसास को और उसकी सभ्यता के वाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी चिता पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनो उस पुराने जमाने में बडे जवामर्द और अनगढ़ योद्धा थे। ये बडे जीवट

के लोग थे, और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगो से इनका सामना हुआ उन्हे या तो इन्होंने हजम कर लिया या नष्ट कर डाला ।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हजार बरस पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियो ने यूनान में और आसपास के टापुओ में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते से एशिया माइनर के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रास तक भी जा पहुचे । फ्रास में मारसाई या मारसेलीज नाम के शहर को इन्होने ही बसाया था । लेकिन शायद इनके जाने के पहले ही वहां फ्यूनीशियन लोगो की आबादी थी । तुम्हे याद होगा कि फ्यूनीशियन एशिया माइनर की मशहूर समुद्र-यात्री कौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावा मारा करते थे । उस पुराने जमाने में भी ये लोग इंग्लैण्ड तक पहुँच गये थे, जब कि वह बिलकुल वहशी था और जब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य का जहाजी सफर जरूर खतरनाक रहा होगा ।

यूनान के मुख्य प्रदेशो में एथेन्स, स्पारटा, थीव्स और कारिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये । यूनानियो के या, अगर तुम उन्हे उनके उस वक्त के नाम से पुकारना चाहती हो तो, हेलेन लोगो के, पुराने जमाने का हाल 'ईलियड' और 'ओडेसी' नाम के दो महाकाव्यो में बयान किया गया है । तुम्हें इन दोनो प्रसिद्ध महाकाव्यो का कुछ हाल मालूम ही है । ये दोनो महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ है । कहते है कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे है । 'ईलियड' में यह किस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय में भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओ और सरदारो ने उसे छुडाने के लिए ट्राय के चारो तरफ घेरा डाला । और 'ओडेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त ओडेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है । एशिया माइनर में, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा था । अब यह नहीं पाया जाता और बहुत जमाने से इसका पता नहीं चलता । लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर कर दिया है ।

इधर हेलन्स या यूनानी कौम तेजी के साथ, चन्द रोज के लिए लेकिन शानदार ढग से, जवान हो रही थी । उधर एक दूसरी ताक़त चुपके से पैदा हो रही थी, जो यूनान को जीतकर खुद उसकी जगह कायम-मुकाम हो जानेवाली थी । कहा जाता है कि इसी जमाने में रोम की बुनियाद पडी । कईसौ बरसो तक इसने दुनिया के रगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया । लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियो तक यूरोपीय संसार

पर हावी रहा हो और जिसे 'ससार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' की पदवी मिली हो। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब क़िस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[१] को, जिन्होने इस शहर की बुनियाद डाली थी, एक मादा भेडिया उठा ले गई थी। उसीनें उन्हे पाला था। शायद तुम्हे यह क़िस्सा मालूम है।

जिस जमाने में रोम की बुनियाद पडी, उसी जमाने में या कुछ अरसे पहले पुरानी दुनिया का एक दूसरा बडा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और यह अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर बसा था। फ्यूनीशियन लोगो ने इसे बसाया था। यह शहर बढते-बढते जहाजी ताक़तवाला एक बहुत ताक़तवर शहर बन गया। रोम के साथ इसकी गहरी लाग-डाँट चली और बहुतसी लडाइयाँ हुई। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज को बिलकुल मिटा दिया।

आज की कहानी ख़त्म करने के पहले पैलस्टाइन या फिलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नजर डाल लें तो अच्छा होगा। फिलस्तीन योरप में नहीं है और न इसका कोई ऐतिहासिक महत्व ही इतना ज्यादा है। लेकिन बहुतसे लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते है, क्योकि इसका जिक्र बाइबिल के पुराने अहदनामो में पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियो की कुछ जातियो से है, जो इस छोटेसे देश में रहती थीं, और इसमें बताया गया है कि यहूदियो को अपने दोनो तरफ बसे हुए शक्तिशाली पडौसियो, बेबीलोनिया, असीरिया और मिस्रवालो से क्या-क्या मुसीबतें झेलनी पडीं। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई लोगो के मजहब का हिस्सा न बन गई होती,तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

१ रोमुलस—रोम का सस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुडवा भाई थे। इन दोनो को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोगी मे रखकर टाइबर नदी मे बहा दिया। डोगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँसे एक मादा भेडिया इनको उठाकर ले गई और इन्हे अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गडरिये की स्त्री ने परवरिश की। बडे होकर ये पेलेस्टाइन के युद्धप्रिय गडरियो के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा ने इन्हे पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को कत्ल कर अल्बस के तख़्त पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होने अब इस भूमिपर, जहाँकि इनका पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगडा हो गया, जिसमे रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढाकर और अपने शत्रुओ को हरा कर एक छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफान में गायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, पेलस्टाइन के इसराइल प्रदेश पर साल[1] या सालूस नाम के बादशाह का राज्य था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर सुलेमान[3] हुआ जो अपनी बुद्धिमत्ता और अक्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामो का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियो या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नजर डाले और इस बात के समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगो को या जिन चीजो को हमने कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा खयाल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत के, रहन-सहन और रग-ढंग के, इतने आदी हो गये हैं कि एक बिलकुल दूसरी किस्म की दुनिया की कल्पना भी हमारे लिए मुश्किल है। लेकिन पुरानी दुनिया, चाहे वह हिन्दुस्तान की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम जो कुछ-कर

१. साल—यहूदियो के देश इसराइल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से करीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फिलस्तीनो से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या करली।

२ दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इसराइल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह साल ने खुदकशी करली और फिलस्तीनो ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराना अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

३ सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते है। इसराइल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था इसलिए पुराने इतिहास मे इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर हैं। इसके गीत और कवितायें भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बडा बुद्धिमान और इन्साफ-पसन्द बादशाह था।

सकते है वह यही कि उनकी किताबो, इमारतो और बचे हुए निशानो की मदद से अन्दाजा लगायें कि उस जमाने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बडी दिलचस्प है। वह यह कि जैसा ऊपरी तौर से देखने से मालूम होता है, यूनानी लोग बडी-बडी सल्तनते या बडे-बडे साम्राज्य पसन्द नही करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे। इसका मतलब यह हुआ कि उनका हरेक शहर एक स्वतत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे प्रजातन्त्र होते थे। बीच में शहर होता था और चारो तरफ खेत होते थे, जिनसे शहर के लोगो के लिए खाने की सामग्री पहुँचा करती थी। प्रजातत्र में, तुम जानती ही हो, कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, और धनी नागरिक इनपर राज्य करते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलो में बोलने का कोई हक़ नहीं था। बहुत से गुलाम थे, जिन्हें राजकाज में कोई अधिकार नही होता था, और औरतो को भी इस प्रकार का कोई हक नही था। इस तरह आबादी के सिर्फ एक हिस्से को इन शहरी राज्यो में नागरिकता का हक़ मिला हुआ था। और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलो पर राय दे सकता था। इन नागरिको के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पेर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह बात सिर्फ इसलिए मुमकिन थी, क्योंकि ये राज्य छोटेसे शहर में ही परिमित होते थे, किसी एक राज्य की मातहती में किसी बडे भारी प्रदेश का इन्तजाम नहीं करना पडता था। हिन्दुस्तानभर के, या बगाल या युक्तप्रान्त जैसे सिर्फ एक प्रान्त के ही वोटरो के एकसाथ एक जगह इकट्ठा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा हो सकना बिलकुल ही नामुमकिन है। बाद को दूसरे देशो को भी इस कठिनाई का सामना करना पडा। तब इसको हल करने के लिए प्रतिनिधि सरकार बनाई गई। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरो को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने प्रतिनिधि या नुमाइन्दे चुन देते है, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलो पर विचार करते है और देश के लिए क़ानून बनाते है। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह से अपने देश की हुकूमत चलाने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन यूनान में इस क़िस्म की कोई बात नही हुई। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बडी कोई राजनैतिक सस्था बनाई ही नहीं। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ, यूनानभर में, और दक्षिण-इटली, सिसिली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारो तक

फैल गये थे। लेकिन इन लोगो ने इन सवका अपनी अधीनता में एक साम्राज्य या सबके लिए एक शासन-तत्र बनाने की कोशिश कभी नहीं की। जहाँ कहीं भी ये गये, वहीं इन्होने अपना स्वतत्र नगर-राज्य ही कायम किया।

हिन्दुस्तान में भी, तुम देखोगी कि पुराने जमाने में, यूनान के नगर-राज्यो की तरह छोटे-छोटे प्रजातत्र और छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन वे बहुत दिनो तक कायम नहीं रहे और बडे राज्यो में समा गये। इसपर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवो की पचायतो के हाथो में बहुत वडी ताकत वनी रही। शायद पुराने आर्यो की पहली प्रेरणा यह होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायँ वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने और भौगोलिक परिस्थिति ने, इन्हे अपने इन विचारो को, उन देशो में, जहाँ जाकर ये वसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में खासतौर से हम देखते है कि वडी-वडी सल्तनतें और साम्राज्य कायम हुए। हिन्दुस्तान में भी वडे-वडे राज्यो की ओर झुकाव रहा है। लेकिन यूनान में नगर-राज्य वहुत दिनो तक कायम रहे, और उस वक्त तक बने रहे, जब तक कि इतिहास में प्रसिद्ध एक यूनानी ने, जिसके वारे में हम जानते हैं, दुनिया को जीतने की पहली कोशिश नही की। इसका नाम था महान् सिकन्दर। इसके बारे में वाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगो ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यो को मिलाकर एक वड़ा राज्य या प्रजातंत्र बनाना पसन्द नही किया। यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग या स्वतंत्र रहे हो, वल्कि ये लोग करीव-करीव हमेशा एक-दूसरे से लड़ते रहे। इन लोगो में आपस में वडी-वडी लाग-डाँट रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर यह होता था कि इनमें लड़ाई छिड जाया करती थी।

फिर भी इन नगर-राज्यो को आपस में वाँधे रखने के लिए वहुत-सी समान-कडियाँ थी। इनकी भाषा एक थी, सस्कृति एक थी और मजहव एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक कथायें हिन्दुओ की पुरानी पौराणिक कथाओ की तरह वडी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई सगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती है, जो वडी सुन्दर है। शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दगलो की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान में ओलिम्पस पहाड़ पर समय-समय पर इस तरह के खेल बडे पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि ओलिम्पिक खेल आजकल भी होते

हैं। यह नाम औलम्पस पहाड पर होनेवाले पुराने यूनानी खेलो से लिया हुआ है, और अब उन खेलो के लिए इस्तैमाल किया जाता है जो मुख़्तलिफ मुल्को के दर्मियान होते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य एक-दूसरे से अलग रहे। खेलो में या किसी दूसरी जगह यूनानी एक-दूसरे से मिलते थे और अक्सर आपस में लडते थे। लेकिन जब बाहर से एक बडा ख़तरा आता दिखाई दिया तो उसका मुक़ाबिला करने के लिए वे सब एक हो गये। यह ख़तरा ईरानियो का हमला था, जिसके बारे में आगे चलकर लिखूँगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगो से मुलाकात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे धक्का लगा। वह बहुत कमजोर और बीमार मालूम पडते थे। उनकी देखरेख अच्छी तरह करना और उन्हे मजबूत और तन्दुरुस्त बना देना। कल तुमसे तो मै बात ही न कर सका। थोडी देर की मुलाक़ात में कोई क्या कर सकता है? मुलाक़ात और बातचीत की इस कमी को मै इन ख़तो को लिखकर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये खत मुलाक़ात और बातचीत की बराबरी नहीं कर सकते और दिल को इस तरह बहलाने से बहुत दिन तक काम नहीं चल सकता। फिर भी कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी अच्छा ही होता है।

अच्छा, तो अब पुराने जमाने के लोगो की चर्चा शुरू की जाय। हाल में हम पुराने यूनानियो का जिक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे मुल्को की क्या हालत थी? हमें योरप के दूसरे देशो के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशो के बारे में कोई दिलचस्प बात नहीं मालूम। उस समय उत्तरी योरप की आबोहवा सम्भवत बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति जरूर पैदा होगई होगी। शायद तुम्हे याद हो, मैंने बताया था कि बहुत समय बीता, उत्तरी योरप और उत्तरी एशिया में बहुत सख़्त सरदी पडती थी। उस जमाने को 'हिम-युग'[1] या बरफ का युग कहते थे, और उस जमाने में बडे-बडे ग्लेशियर यानी

१ हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ है, इसलिए इसे बर्फ-युग भी कह सकते है। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुतसे हिस्से बर्फ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए है, और चौथा काल ईसा से पचास हज़ार साल पहले का है।

बर्फीली चट्टाने मध्य-योरप तक फैली हुई थी। ग़ालिबन उस वक्त वहाँ आदमी नहीं रहते थे, और अगर थे भी तो वे आदमी की बनिस्बत जानवर ही अधिक रहे होगे। तुम्हे अचरज होगा कि आख़िर हम यह कैसे कह सकते है कि उस ज़माने में वहाँ बरफ की चट्टानें हुआ करती थीं। किताबो में तो उनका कोई जिक्र हो नहीं सकता, क्योकि उस जमाने में न तो किताबें थी और न किताबो के लिखने वाले। लेकिन मै उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी अपनी एक किताब होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीक़े से पत्थरो और टीलो में लिखा करती है। जो चाहे, इसे वहाँ पढ़ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी अपनी कहानी कहना चाहिए। ग्लेशियरो में एक ख़ास बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के ख़ास निशान छोड़ जाते है। अगर एक दफा तुम इन निशानो को पहचान लो, तो फिर इनके पहचानने में तुमसे कभी भी गलती नहीं हो सकती। अगर तुम इन निशानो का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ इतना जरूरी है कि तुम आजकल के किसी ग्लेशियर को देख आओ, जो हिमालय में, आल्प्स पर और दूसरी जगहो पर भी पाये जाते है। आल्प्स पर तुमने "माऊन्ट ब्लैंक" के आसपास बहुत से ग्लेशियर देखे होगे। लेकिन उस समय तुम्हे शायद किसीने इनके खास निशान नही पहचनवाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सो में भी अनेक अच्छे-अच्छे ग्लेशियर पाये जाते है। हम लोगो के लिए सबसे नजदीक पिडारी ग्लेशियर है, जो अलमोडे से हफ्ते भर की मजिल पर है। छुटपन में, जितनी उम्र तुम्हारी आज कल है इससे भी कम उम्र में, मै इस ग्लेशियर को एक दफा देखने गया था और आज भी मुझे उसकी अच्छी तरह से याद बनी है।

इतिहास और भूतकाल को छोडकर मै ग्लेशियर और पिन्डारी में बह गया। मन के लड्डू खाने का यही नतीजा होता है। मै यह चाहता हूँ कि अगर होसके तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानो तुम यहीं हो। और जब मै इस ढंग से बातचीत करूँगा तो कभी ग्लेशियर की, और कभी इसी किस्म की दूसरी चीजो की चर्चा बीच में आ ही जायगी।

मैने ग्लेशियर के सम्बन्ध में इतनी चर्चा इसलिए करदी कि बीच में 'हिम-युग' अर्थात् 'बरफीले युग' का जिक्र आगया था। इसलिए हम यह कह सकते है कि मध्य योरप और इंग्लैण्ड तक ग्लेशियर आगये थे, क्योकि इन देशो में अभी तक इनके ख़ास निशान पाये जाते है। पुराने टीलो में ये निशान हमें आज भी दिखाई देते है और इस बिना पर हम कहते है कि उस वक्त मध्य और ऊपरी योरप में

बहुत सरदी रही होगी। बाद को कुछ गरमी बढ़ी और ग्लेशियर धीरे-धीरे कम पड गये। धरातल के इतिहास का अध्ययन करनेवाले अर्थात् भूगर्भ-शास्त्री हमें बताते हैं कि सरदी की इस लहर के बाद गरमी की लहर आई और तब योरप आज से भी ज्यादा गरम हो गया था। इस गरमी की वजह से योरप में घने जगल उग आये। आर्य लोग घूमते-घूमते मध्य योरप भी जा पहुँचे। उस वक्त उन्होने कोई खास उल्लेखनीय काम नहीं किया। इसलिए हम थोडी देर के लिए उन्हे भुला सकते है। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग उत्तर और मध्य योरप के इन लोगो को बर्बर यानी वहशी और जगली ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने गाँवो में और जगलो में स्वस्थ और योद्धाओ की जिन्दगी गुजारते थे, और अनजान में अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हे दक्षिण की अधिक सभ्य जातियो पर टूट पडना था और उनकी गवर्नमेन्ट को ढहा देना था। लेकिन यह बात इसके बहुत अरसे बाद हुई और हमें उसका जिक्र वक्त से पहले न करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी-योरप के बारे में ज्यादा नहीं मालूम है, तो विशाल महाद्वीपो और विस्तृत भू-भागो या ज़मीन के लम्बे-चौडे प्रदेशो के बारे में तो हम बिलकुल ही नहीं जानते। कहते है कि कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नहीं। कुछ भी हो, जिस जमाने की इस समय हम बात कर रहे है, उस समय के अमरीका के महाद्वीप के बारे में हम कुछ नहीं जानते, और न अफ्रीका के बारे में ही। हाँ, मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारो का भी इसमें अपवाद करना होगा। इस जमाने में शायद मिस्र की प्राचीन और महान् सभ्यता पतन की तरफ झुक रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने का बहुत आगे वढा हुआ मुल्क था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, मेसोपोटामिया, हिन्दुस्तान और चीन।

मेसोपोटामिया, ईरान और एशिया माइनर[1] में, उन प्राचीन युगो में, भी एक

१ एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के अखीर पश्चिम पर तुर्क साम्राज्य का एक प्रायद्वीप, जिसके उत्तर में कालासागर, पश्चिम मे ईजियन समुद्र और दक्षिण मे भूमध्यसागर है। उत्तर-पश्चिम की अन्तिम सीमा पर बॉस्फरस और दर्रेदानियाल के मुहाने इसे योरप से जुदा करते हैं।

साम्राज्य के बाद दूसरा साम्राज्य बनता और बिगड़ता रहा। पहले असीरियन साम्राज्य हुआ, फिर मीडियन[1], फिर बैबीलोनियन और बाद को ईरानी। हमें इस बात की तफसील में जाने की जरूरत नहीं कि यह साम्राज्य आपस में कैसे लड़े या कुछ दिनों के लिये वह शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहे, या एक दूसरे का इन्होंने नाश कैसे किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों और यूनान के नगर-राज्यों का अन्तर तुमने देखा होगा। इन लोगों में बहुत शुरू के जमाने से ही बड़ी-सल्तनत या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त ख्वाहिश पाई जाती थी। शायद इसकी वजह यह थी कि इनकी सभ्यता ज्यादा पुरानी थी, या शायद दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम में तुम्हे जरूर दिलचस्पी होगी; वह कारूँ या क्रीसस का नाम है। तुमने यह नाम सुना होगा। अंग्रेजी में मशहूर कहावत है—'इतना अमीर होना जैसे कि कारूँ।' तुमने इस कारूँ के किस्से भी सुने होंगे कि यह कितना अभिमानी था और आखिरकार किस तरह जलील किया गया। कारूँ लिडिया देश का राजा था, जोकि एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया माइनर है। सम्भवतः समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ व्यापार खूब बढ़ा हुआ था। कहते हैं, कारूँ बहुत अमीर था। उसके ज़माने में साइरस[2] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक़्की कर रहा था और ताकतवर होता जाता था। साइरस और कारूँ में मुठभेड़ होगई और साइरस ने कारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हेरोडोटस[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने और हार होने पर अभिमानी कारूँ को अक़्ल और समझ आई।

साइरस के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था जो गालिबन पूर्व में हिन्दुस्तान तक

१ मीडियन—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ मे सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। बाद में यूनानी लोगों के पतन के अनन्तर ईरानी साम्राज्य मे मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

२ साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर करीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

३. हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से करीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमे उस ज़माने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

फैला हुआ था। लेकिन इससे भी बडा साम्राज्य उसके एक उत्तराधिकारी डेरियस (दारा) के पास था जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का हिन्दुस्तान का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि इस हिन्दुस्तानी प्रान्त से बहुत भारी तादाद में सोने के रवे उसके पास ख़िराज की तौर पर भेजे जाते थे। उस जमाने में सिन्ध नदी के आसपास सोने के रवे मिलते रहे होंगे। अब तो वहाँ यह चीज जरा भी नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि यह प्रान्त इस वक़्त ज्यादातर उजडा हुआ है। इससे जाहिर होता है कि इसकी आबो-हवा में जरूर फर्क आया है।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने जमाने की हालत का आजकल की हालत से मुक़ाबिला करोगी, तो एक बात जो तुम्हे सबसे ज्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाले परिवर्त्तन। यह वही प्रदेश है जहाँसे बेशुमार जातियाँ—स्त्री और पुरुषो के झुड-के-झुड बाहर निकले और दूर-दूर महा-द्वीपो में जाकर बस गये। यही जगह है जहाँ पुराने जमानें में बडे-बडे शक्तिशाली शहर थे—खूब आबाद, घने बसे हुए और मालामाल, जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियो से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बडे थे। इन शहरो में हर जगह हरियाली थी, बग़ीचे थे, और आबोहवा सदा आनन्दजनक और सम अर्थात् न बहुत गर्म न बहुत सर्द होती थी। ये सब बाते यहाँ थीं। लेकिन अब हजारो बरसो से वही मुल्क वीरान, रेगिस्तान की तरह बिलकुल उजाड और सुनसान होगया है। उस जमानें के विशाल नगरो में से कुछ नगर—जैसे समरक़न्द[१] और बुख़ारा—अब भी अपने दिन गिन रहे है, जिनके नाम लेने से ही हजारो स्मृतियाँ जग उठती है। लेकिन अब तो ये शहर अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये है।

लेकिन मै फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने जमाने में, जिसकी चरचा हम कर रहे हैं, न समरकन्द था और न बुख़ारा। ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं। भविष्य ने अपने परदे के पीछे इन्हे छिपा रक्खा था और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी भविष्य में होनेवाली चीज थी।

१ समरकन्द—मध्यएशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम माराकण्डा है। चौदहवी सदी मे यह मुस्लिम-एशिया का सास्कृतिक केन्द्र था।

: ६ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब-अजीब आदते पैदा करली है। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गरमियो से शुरू की। मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि सवेरा कैसे होता है और सितारे कैसे धीरे-धीरे ग़ायब हो जाते है। क्या तुमने कभी तडके के पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन में कैसे बदल जाता है। मैंने चाँदनी और सुबह के इस सग्राम को अक्सर देखा है, जिसमें सुबह की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र मन्द-रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल होजाता है कि यह चांदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोडी ही देर के बाद कोई सन्देह बाकी नहीं रह जाता; दिन हो जाता है और पीला चन्द्रमा लड़ाई में हारकर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के मुताबिक मै आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और उस अजीब कैफियत को देखकर जो, तड़के के पहले हवा में रहती है, कोई भी अन्दाजा लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योही मै पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाजो ने, जो बढ़ती ही जाती थी, प्रात काल की शान्ति को भग कर दिया। मुझे याद आगया कि आज संक्रान्ति यानी माघ मेले का पहला दिन है, और यात्री लोग हजारो की तादाद में सगम में—जहाँ गंगा जमना और अदृश्य सरस्वती मिलती है—अपनी सुबह की डुबकी लगाने जा रहे है। ये चलते-चलते कभी गाते थे, और कभी गगा-माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय !' इनकी यह आवाज नैनी-जेल की दीवारो के ऊपर होकर मेरे पास तक पहुँचती थी। इनकी इस जय-ध्वनि को सुनते-सुनते मुझे यह खयाल आगया कि देखो श्रद्धा और भक्ति में कितनी ताक़त है, जिसने इन बेशुमार लोगो को नदी के किनारे खींच बुलाया है और जिसकी वजह से ये लोग थोडी देर के लिए अपनी गरीबी और मुसीबतो को भूल गये है ! और मै यह सोचने लगा कि देखो कितने सौ और हजार बरसो से हरसाल यात्री लोग त्रिवेणी के किनारे आते है। आदमी पैदा हो और मर जायँ, गवर्नमेण्ट और साम्राज्य कुछ दिनो के लिए शान जमालें और फिर अतीत में गायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और एक पुश्त

के बाद दूसरी पुश्त, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत भलाई छिपी होती है; लेकिन बाज वक़्त वही परम्परा भयकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हम लोगो का हिलना-डुलना मुश्किल हो जाता है। जो क्रमबद्ध शृखला धुधले और अति प्राचीन भविष्य से हमारा सम्बन्ध जोडती है, उसका विचार करना और तेरहसौ बरस पहले के लिखे हुए इन मेलो के, जो उस समय भी पुराने जमाने से चले आ रहे थे, वृत्तान्त पढना बडा रोचक मालूम होता है। लेकिन इन शृखलाओ में एक बात यह भी है कि जब हम आगे बढना चाहते है तो ये हमारे पैरो में लिपट जाती है और हमें परम्परा के शिकजे में कसकर बिलकुल कैदी बना देती है। यह सच है कि हमें अपने अतीत की बहुतसी लडियो को क़ायम रखना पडेगा। लेकिन जब ये परम्परायें हमें आगे बढ़ने से रोकने लगें तो हमें उनके क़ैदखाने को तोडकर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन ख़तो में हम इस कोशिश में थे कि तीन हज़ार और ढाई हज़ार बरस के बीच की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तस्वीर हमारे सामने खिच जाय। मैने तारीख़ो का जिक्र नहीं किया है। मुझे यह पसन्द नहीं है और न मैं यह चाहता हूँ कि तुम तारीख़ो के लिए परेशान हो। अलावा इसके इस पुराने जमानें की घटनाओ की सही तारीख़ जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह जरूरी हो सकता है कि कुछ तारीखें भी देदी जायें और उन्हे याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओ को सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन ससार की रूप-रेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया माइनर और ईरान की एक झलक हम देख चुके है। अब हम अपने देश की तरफ आते है। हिन्दुस्तान का प्रारम्भिक इतिहास पढने में हमारे सामने एक बडी कठिनाई आजाती है। आदि-आर्य लोगो ने, जिन्हे अग्रेजी में इण्डो-एरियन कहते है, इतिहास लिखने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पहले खतो में देख चुके है कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगो ने जो ग्रन्थ बनाये—जैसे वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत—वे ऐसे है जिन्हे महान पुरुषों के सिवा साधारण आदमी लिख ही नहीं सकते। इन ग्रन्थो से तथा दूसरी सामग्रियो की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में मदद मिल सकती है। इनसे हमें अपने पूर्वजो के आचार-विचार, रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने की शैली का पता लग जाता है। लेकिन ये ग्रन्थ दरअसल इति-

हास नहीं है। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की किताब कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन यह बहुत बाद के जमाने की है। उसका नाम है राजतरंगिणी। उसमें कश्मीर के राजाओं का हाल है और कल्हण ने उसे लिखा था। तुम्हे यह जानकर खुशी होगी कि जिस प्रकार मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, तुम्हारे रंजीत फूफा[1] कश्मीर के इस बड़े इतिहास का संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं। क़रीब आधी किताब ख़तम कर चुके हैं। यह किताब बहुत बड़ी है। जब पूरा अनुवाद तैयार हो जायगा और यह किताब छप जायगी तब हम सब बहुत चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि बदक़िस्मती से हममें से बहुतसे लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि राजतरंगिणी को मूल में पढ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ इसलिए नही पढ़ेंगे कि यह बहुत अच्छी किताब है, बल्कि इसलिए भी कि इससे हमें पुराने जमाने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—ख़ासकर कश्मीर का, जो जैसा तुम्हे मालूम है, हम लोगो का पुराना वतन है।

जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान सभ्य हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में मोहेनजेदारो के भग्नावशेषो को देखकर अब तो यह निश्चय-पूर्वक मालूम पडता है कि आर्यो के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन उसकी बात अभीतक हमें बहुत ज्यादा मालूम नहीं हो सकी है। सम्भवतः कुछ बरसो के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्ववेत्ता वहाँ और जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालेंगे, तब, हमें उसका कुछ अधिक ज्ञान हो जायगा।

लेकिन इसके अलावा भी यह स्पष्ट है कि उस समय दक्षिण-हिन्दुस्तान में, और शायद उत्तरी हिन्दुस्तान में भी, द्रविडो की सभ्यता खूब उन्नत थी। इनकी भाषायें, जो आर्यो की संस्कृत से पैदा नहीं हुई हैं, बहुत पुरानी है और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओ के नाम है तमिल, तेलगू, कन्नड और मलयालम। ये भाषायें अभीतक दक्षिण-भारत में अंग्रेज सरकार के बनाये हुए मद्रास और बम्बई के प्रान्तो में बोली जाती है। शायद तुम्हे मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने ज्यादा अकलमन्दी की है और हिन्दुस्तान के प्रान्त भाषाओ के आधार पर बनाये है। यही ढग ठीक है; क्योंकि इससे एक किस्म के लोग जो एक ही भाषा बोलते है, और जिनके रस्म-रिवाज आम तौर से एक ही प्रकार के है, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आजाते है। दक्षिण में कांग्रेस के बनाये हुए सूबे ये है—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश जहाँ तेलगू बोली जाती है, दक्षिणी-मद्रास में तमिलनाड़ जहाँ तमिल

१. श्री रणजीत एस. पण्डित

भाषा बोली जाती है, बम्बई के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड भाषा बोली जाती है, और केरल, जो करीब-करीब मलाबार है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान में आगे चलकर प्रान्तो की जो सीमा कायम की जायगी, उसमें प्रदेश की भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँपर मैं हिन्दुस्तान की भाषाओ के बारे में जरा कुछ और कहदूं। योरप के और दूसरे स्थानो के कुछ लोग समझते है कि हिन्दुस्तान में सैकडो भाषायें बोली जाती है। यह बिलकुल गलत ख़याल है। जो लोग ऐसा कहते है वे महज अपना अज्ञान जाहिर करते है। यह सच है कि हिन्दुस्तान जैसे बडे मुल्क में बहुतसी बोलियो अर्थात् एक ही भाषा में बहुतसे स्थानिक और मुल्की भेदो का होना जरूरी है। यहाँके पहाडी और दूसरे हिस्सो में भी कई छोटी-मोटी जातियाँ है जिनकी अपनी-अपनी ख़ास जबाने है। लेकिन जब तुम सारे हिन्दुस्तान की बात कर रही हो तो इन सब बातो का महत्व नहीं रह जाता। मर्दुमशुमारी के ख़याल से ही यह बात महत्वपूर्ण हो सकती है। जैसा कि मेरा ख़याल है, मैंने अपने पहले पत्रो में लिखा है कि हिन्दुस्तान की असली भाषायें दो श्रेणियो में बाँटी जा सकती है—एक द्रविड जिसका ऊपर जिक्र आ चुका है, और दूसरी आर्य यानी भारतीय आर्य-जाति की खास भाषा सस्कृत। हिन्दुस्तान में जितनी आर्य भाषायें पाई जाती है—जैसे हिन्दी, बगला, गुजराती, मराठी आदि—वे सब संस्कृत से निकली है। कछ और भी भेद है। आसाम में आसामी है, उडीसा या उत्कल में उडिया बोली जाती है। उर्दू हिन्दी का रूपान्तर है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनो से है। इस तरह हिन्दुस्तान की ख़ास-ख़ास भाषायें दस है—हिन्दुस्तानी, बगला, गुजराती, मराठी, तमिल तेलगू, कन्नड, मलयालम, उडिया और आसामी। इनमें से हिन्दुस्तानी जो हमारी मातृ-भाषा है, सारे उत्तर-भारत में—पजाब, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, राजपूताना, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बडा हिस्सा है, जिसमें १२ करोड आदमी बसते है। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी १२ करोड आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तन के साथ हिन्दुस्तानी बोलते है। और तुम यह जानती ही हो कि हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सो के लोग हिन्दुस्तानी समझते है। इसीके हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा होने की सम्भावना है। लेकिन इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि दूसरी ख़ास-खास भाषाओ को, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, गायब होजाना चाहिए। निस्सन्देह ये भाषायें प्रान्तीय भाषा की हैसियत से कायम रहेगी। क्योकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति से उसकी तरक्की पर पहुँची हुई भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी

कौम के विकास और उसके बच्चो की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। हिन्दुस्तान में आज हरेक चीज गडबडी की हालत में है और हम आपस में भी अग्रेजी का ही बहुत ज्यादा इस्तेमाल करते है। मेरा तुम्हे अग्रेजी में खत लिखना भी एक हँसी की बात है—फिर भी मै वही कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पाजायेंगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-प्रजातंत्र

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढावे? मै हमेशा राजमार्ग छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडडियो पर भटक जाता हूँ। पिछले खत में मै अपने विषय तक पहुँच ही रहा था कि मैने हिन्दुस्तान की भाषाओ का मसला छेड़ दिया।

अच्छा, प्राचीन भारत पर अब हम फिर आजायें। तुम जानती हो कि जो देश आज अफगानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी, बहुत दिनो तक हिन्दुस्तान का एक हिस्सा था। हिन्दुस्तान का यह उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गगा के मैदानो में, आर्यों की बडी-बडी बस्तियाँ थीं। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग गृह-निर्माण-कला—इमारत बनाने के हुनर—को सम्भवतः अच्छी तरह जानते थे। क्योकि इनमें से बहुतसे इरान और ईराक़ की आर्यों की बस्तियो से आये हुए होगे, जहाँ उस समय भी बडे-बडे शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियो के दर्मियान बहुतसे जगल थे। ख़ासकर उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा जगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगो की कोई बडी तादाद इन जगलो को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुतसे लोग खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और सस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-सस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय हिन्दुस्तान और विदेशो के बीच काफी व्यापार पाया जाता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की मिर्च, मोतियो और सोनें के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। चावल भी बाहर जाता था। बेबीलोनिया के पुराने राजमहलो में मलाबार की सागवान की लकडी पाई गई है।

आर्यो ने हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली की उन्नति की। इस

प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य विचारो का मेल-जोल पाया जाता था।

ये गाँव करीब-करीब आज़ाद होते थे और चुनी हुई पचायत इनपर शासन करती थी। कई गाँवो या छोटे कस्बो को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवो के अनेक गिरोह एक-दूसरे से सहयोग करके सडके, धर्मशालायें, सिंचाई के लिए नहरे या इस प्रकार की पचायती चीजें, जिनसे सार्वजनिक फायदा हो सकता था, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यो के कानून और प्रथा यानी रस्म-रिवाज के मुताबिक चलना पडता था। उसकी रिआया उसपर जुरमाना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैने पहले पत्रो में ज़िक्र किया है, यहाँ नहीं माना जाता था। इस तरह आर्य बस्तियो में एक किस्म का लोकतत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रखती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से जरा मुक़ाबिला करो। इन दोनो में बहुतसे अन्तर मिलेगे। लेकिन कितनी ही बातो में समानता भी बहुत पाई जाती है। दोनों देशो में किसी-न-किसी रूप में लोकतत्र पाया जाता है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतत्र सिर्फ आर्य-वश के लोगों के ही हाथों में था। इनके दासो या उन लोगो के लिए जिन्हे इन्होने नीच जाति का ठहरा दिया था न लोकतत्र था, न आजादी। जाति-पाँति की प्रणाली और उसके आजकल जैसे बेशुमार भेद उस जमाने में नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, जो विद्वान्, पढ़े-लिखे, पुरोहित और ऋषि-मुनि होते थे, क्षत्रिय जो राज्य करते थे, वैश्य, जो व्यापार करते थे, और शूद्र, जो मेहनत-मजदूरी करते थे और श्रमजीवी थे। इस तरह यह जाति-भेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जाति-पाँति की प्रणाली एक हद तक इसलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग हारी हुई क़ौम से अपनेको अलग रखना चाहते हो। आर्य लोग काफी अभिमानी और घमण्डी थे और दूसरो को वे नीची निगाह से देखते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के आदमी दूसरी जाति से मिल-जुल जायें। जाति के लिए सस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रग है। इससे यह भी जाहिर होता है कि बाहर से आनेवाले आर्यों का रंग हिन्दुस्तान के असली बाशिन्दो से कुछ उजला यानी गोरा था।

इस प्रकार हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक तरफ तो आर्य लोगो ने मेहनत-मजदूरी करनेवाली श्रेणी को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतंत्र में कोई हिस्सा नहीं दिया था; दूसरी तरफ आर्यों ने अपने लिए बहुत ज्यादा आजादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल गवारा नहीं करते थे कि उनके राजे-महाराजे बेजा हरकते करे। अगर कोई शासक बेजा हरकत करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लडाई के जमाने में या सकट के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर उसमें इतनी योग्यता होती, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगो का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली कठोर और पेचीदा हो गई। आपस में बहुतसे विभाग हो जाने की वजह से मुल्क कमजोर पड गया और नीचे गिर गया। ये लोग आजादी का अपना पुराना सिद्धान्त भी भूल गये, क्योकि पुराने जमाने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलकित करने की बजाय आर्य के लिए मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, उनके क़स्बे और गाँव बेतुके ढग से नहीं बसाये जाते थे। वे नक्शो के मुताबिक या तरतीब से बसाये जाते थे, और तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक्शो के तैयार करनें में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओ में रेखागणित की शक्ले भी काम में आती थीं। आज भी कई हिन्दू घरो में बहुतसी पूजाओ में ये शक्ले बनती है, और तुम जानती हो कि मकान और शहरो के बनाने की कला से रेखागणित का बहुत ज्यादा सम्बन्ध है।

गालिबन शुरू में पुराने आर्यो के गाँव एक किसान के किलाबन्दी किये हुए कैम्प या सुरक्षित गढ के समान हुआ करते थे। उस जमाने में दुश्मन के हमले का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मन के हमले का डर नही रहा तब भी वही ढर्रा जारी रहा। यह नक़्शा इस तरह का होता था कि चारो तरफ चतुर्भुज आकार की एक दीवार बनाई जाती थी, जिसमें चार बडे और चार छोटे फाटक रक्खे जाते थे। इन दीवारो के अन्दर एक ख़ास तरतीब में सड़के होती थीं और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पचायत-घर होता था जहाँपर गाँव के बडे-बूढे या बुजुर्ग लोग इकट्ठे होते थे। छोटे गाँव में पचायत-घर के बजाय कोई एक बडा पेड़ हुआ करता था। हर साल गाँव के सब स्वाधीन आदमी इकट्ठे होकर अपनी पचायत चुनते थे।

बहुतसे विद्वान् आदमी सादा जीवन विताने और एकान्त में अध्ययन या

शान्तिपूर्वक नित्यकर्म करने के लिए कस्वो या शहर के आस-पास के जगलो में चले जाते थे। इनके पास विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरु और विद्यार्थियो की एक नई बस्ती बस जाती थी। हम इन वस्तियो को आजकल की यूनिवर्सिटी कह सकते है। इन जगहो पर कोई सुन्दर इमारते नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बडी-वडी दूर से ज्ञान के इन केन्द्रो में आ पहुँचते थे।

आनन्द-भवन के सामने भारद्वाज-आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह से जानती हो। शायद तुम्हे यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने जमाने के वहुत विद्वान् ऋषि माने गये है। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के साथ हजारो शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यह हो सकता है कि यहाँ एक विश्वविद्यालय रहा हो, जिसके आचार्य भारद्वाज हो। उस जमाने में इनका आश्रम गगा के किनारे था यह वात ठीक हो सकती है, हालाँकि अब गगा यहाँ से करीव एक मील की दूरी पर चली गई है। हमारे बग़ीचे की जमीन कहीं-कहीं वहुत रेतीली है और मुमकिन है कि उस जमाने में यहाँ गगा बहती रही हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन हिन्दुस्तान में आर्यों के महान् दिन थे। वदकिस्मती से इस जमाने का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता। और उस समय की जो वाते हमें मालूम हैं उनके हालात जानने के लिए हमें ग़ैर-ऐतिहासिक किताबो पर ही भरोसा करना पडता है। उस जमाने के राज्य और प्रजातन्त्र ये है—दक्षिण-बिहार में मगध; उत्तर-बिहार में विदेह, काशी; कोशल (जिसकी राजधानी अयोध्या थी); पाचाल (जो गगा और जमना के बीच में था)। पाचालो के इस देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो खास शहर थे। बाद के इतिहास में भी ये शहर मशहूर रहे है और आज भी ये दोनो शहर मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के नजदीक है। उज्जैन भी प्राचीन शहरो में से है। हालाकि अब शहर छोटा होगया है। आजकल यह ग्वालियर रियासत में है। पाटलिपुत्र या पटना के नजदीक वैशाली नाम का शहर था। यह लिच्छवी वश के लोगो की राजधानी थी, जो हिन्दुस्तान के शुरू-शुरू के इतिहास में बडा वश होगया है। यह राज्य प्रजातन्त्र था, इसमें प्रमुख आदमियो की एक सभा शासन करती थी। इनका एक चुना हुआ सभापति हुआ करता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यों-ज्यो जमाना गुजरा, बडे-बडे क़स्बे और शहर बनते गये। व्यापार वढा और कारीगरो की कला और हुनर ने भी उन्नति की। शहर वड़े-वड़े व्यापारिक केन्द्र

होगये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यो के साथ रहा करते थे, बढ़कर बडे-बडे विश्व-विद्यालय वन गये, और विद्या के इन केन्द्रो में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान हो सका था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखलाते थे। तुम्हे याद होगा कि महाभारत में पाण्डवो के गुरु द्रोणाचार्य थे। वह ब्राह्मण थे और अन्य विषयो के अलावा युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार बरस

१६ जनवरी, १९३१

वाहरी दुनिया से एक ऐसी ख़बर मिली है जिससे तबियत में परेशानी और दु ख होता है; लेकिन साथ ही उसे सुनकर हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगो ने शोलापुरवालो की किस्मत का फैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम होगया। जवकि हमारे नौजवान अपनी जान पर खेल रहे है और हजारो मर्द और औरते निर्दय लाठी का मुकाविला कर रहे है, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल होगया। लेकिन इससे भी हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा ख़याल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपनी कठिन-से-कठिन परीक्षा करने के बहुत मौके मिलेगे। इस समय तो यह जानकर दिल को ख़ुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफो और मुसीबतो का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे वढ रहे है और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर और मुकाविला करने के लिए अधिक-से-अधिक दृढ़ बना रहा है।

जब किसीका दिमाग रोजमर्रा की ख़बरो से भरा हो, तो उसके लिए दूसरी बातो का ख़याल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई ख़ास फायदा नहीं होता, इसलिए, और अगर कोई ठोस काम करना हो तो, हमें अपने मन पर काबू करना ही चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने जमाने को लौट चले और अपनी मौजूदा परेशानियो से दूर हटकर डेरा डाले।

चलो, अब हम प्राचीन इतिहास में हिन्दुस्तान के भाई चीन के पास चले। चीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, इण्डोचाइना, स्याम, बरमा जैसे और मुल्को में हमारा आर्य जाति से कोई सरोकार नहीं। यहाँ तो मंगोल जातियो से परिचय करना पड़ेगा।

पाँच हज़ार या कुछ ज्यादा बरस गुजरे होंगे, जब कि एकबार पश्चिम से चीन पर हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-ख़ासी आग बढ़ी हुई थीं। वे लोग खेती करना जानते थे और झुण्ड-के-झुण्ड मवेशियाँ पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बना सकते थे और इनका समाज खूब तरक्की पर पहुँचा हुआ था। ये लोग ह्वांगहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये। यहाँपर इन्होंने अपने राज्य का सगठन किया। कईसौ बरसो तक ये चीनभर में फैलते रहे और अपना कला-कौशल और कारीगरी बढाते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार लोग असल में उसी तरह के नायक या कुलपति (Patriarch) थे, जिनका मैं अपने पुराने खतों में ज़िक्र कर चुका हूँ। छ या सात सौ बरस बाद, यानी आजकल से चार हजार से भी अधिक बरस पहले, याओ नाम का एक आदमी हुआ, जिसने अपनेको सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के होने पर भी उसकी स्थिति अधिकतर नायक या कुलपति की-सी ही थी, इराक़ या मिस्र के सम्राटो की-सी नहीं। चीनी लोग किसानो की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई खास केन्द्रीय शासन नही पाया जाता था।

मैंने तुम्हे बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने नायक या सरदार चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह ये नायक उसे अपना पैतृक या मौरूसी अधिकार बना बैठे। चीन से हम इसकी शुरुआत होती देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका लडका नहीं हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे आदमी को नामजद कर दिया, जो उस समय मुल्क में सबसे ज्यादा काबिल आदमी समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी होगया और कहा जाता है कि चारसौ बरस से ज्यादा तक 'हसिया' नाम के राजवश ने चीन पर हुकूमत की। हसिया वश का आख़िरी राजा बहुत जालिम था। नतीजा यह हुआ कि उसके खिलाफ एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड फेंका। इसके बाद शंग या इसन नामका दूसरा राजवश शासन करने लगा। इसका राज्य क़रीब ६५० बरस तक चला।

एक छोटेसे पैराग्राफ में, दो या तीन छोटे-छोटे जुमलो में, मैंने चीन का एक हजार बरस से ज्यादा इतिहास खतम कर लिया। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है ? इतिहास के इतने विस्तृत युगो के बारे में आखिर कोई करे तो क्या करे ? लेकिन तुमको यह न भूलना चाहिए कि मेरे छोटेसे पैराग्राफ की वजह से इन हजार या ग्यारहसौ बरसो की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिन और महीने और सालो के पैमाने पर सोचने के आदी होगये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी

स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है । तुम्हे तो अपने तेरह बरस ही बहुत मालूम होते होगे । है न यह बात सच ? और हरसाल तुम और भी बडी होती जाओगी । तब फिर तुम अपने दिमाग में इतिहास के एक हजार बरसो की कल्पना किस तरह कर सकती हो ? यह एक बहुत लम्बा जमाना है । एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढी आती है और चली जाती है । कस्बे बढकर बडे-बडे शहर हो जाते है और फिर उजड़कर मिट्टी में मिल जाते है और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते है ।

इतिहास के पिछले एक हजार बरसों का खयाल करो, तब शायद तुम्हे इस अरसे का कुछ बोध हो सके । पिछले एक हजार बरस में इस दुनिया में कितनी आश्चर्यजनक तब्दीलिया होगई है !

चीन का इतिहास, उसकी परम्परागत प्राचीन संस्कृति और उसके एक-एक राजवंश, जो पाँचसौ से लेकर आठ-आठसौ वर्ष तक राज्य करते रहे, कितनी अद्भुत चीजें है !

इन ग्यारहसौ बरसो की, जिन्हे मैंने एक पैराग्राफ में ही ख़तम कर दिया है, आहिस्ता-आहिस्ता होनेवाली तरक्की पर ज़रा गौर तो करो । धीरे-धीरे कुलपति या नायक की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय शासन क़ायम होता गया तथा एक अच्छा-ख़ासा सगठित राज्य सामनें आगया । उस पुराने जमाने में भी चीन के लोग लिखना जानते थे । लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी या अग्रेज़ी या फ्रेञ्च लिपि से बिलकुल भिन्न है । लिपि में अक्षर नहीं है, सकेत या चित्रो द्वारा वह लिखी जाती है ।

शँग का राज्यवश ६४० बरस राज्य करने के बाद एक क्रान्ति द्वारा ख़त्म हो गया और चाऊ नामक एक नया राज्यवंश राज करने लगा । इसने शँगो से ज्यादा दिनो तक राज्य किया । इसकी हुकूमत ८३७ बरस तक क़ायम रही । चाऊ वश के जमाने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से सगठित हुआ, और इसी जमाने में चीन में दो बडे-बडे फिलासफर कनफ्यूशस और लाओ-जे पैदा हुए । इनके बारे में हम बाद में कुछ लिखेंगे ।

जब शँग राज्यवंश का अन्त हो रहा था, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाल चली । उसने चाऊ लोगो की नौकरी करने से देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा, इसलिए वह अपनें पाँच हजार अनुयायियो को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया । उसने इस मुल्क का नाम चौसन अर्थात् 'प्रात.-कालीन शान्ति का देश' रक्खा । कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है । इसलिए कि-त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया । शायद उसने यह समझा

हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम देश में पहुँच गया है और इसीलिए उसने इस देश को यह नाम दिया है। ईसा से पूर्व ग्यारहसौ वर्ष हुए, इसी कि-त्से के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्से के साथ ही इस नये मुल्क में चीनी कला-कौशल, शिल्प, कृषि और रेशम की कारीगरी आई और यहाँ के निवासियो को इन सबकी शिक्षा मिली। कि-त्से के पीछे-पीछे और भी बहुतसे चीनी यहाँ आगये और उसके वशजो ने चोसन पर नौसौ बरस तक राज्य किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आख़िरी देश नहीं था। जहाँ कि-त्से गया था, उसके पूर्व में, जैसाकि हम जानते है, एक और भी मुल्क—जापान—है। लेकिन हमें इस बात का कोई पता नही कि जब कि-त्से चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नही है जितना चीन, कोरिया अथवा चोसन का। जापानी लोगो का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूटिन्नू था और उसका राज्यकाल ईसा से छ-सातसौ बरस पहले का है। इन लोगो का यह विश्वास था कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था। सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा सम्राट् जिम्मूटिन्नू के असली वशज माने जाते है। इसीलिए बहुतसे जापानी इन्हे भी सूर्यवशी मानते है।

तुम जानती हो कि हमारे देश में भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोडते है। उनके सूर्यवशी और चन्द्रवशी दो प्रधान राजघराने प्रसिद्ध है। उदयपुर के महाराना सूर्य्यवशियो के प्रमुख है और वह अपनी वशावली बहुत पुराने जमाने से शुरू करते है। हमारे राजपूत लोग भी क्या ही अद्भुत और अपूर्व है! इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियो का कोई अन्त नहीं।

: १२ :

पुरातन की पुकार

१९ जनवरी, १९३१

करीब ढाई हजार बरस पहले की पुरानी दुनिया पर हम एक सरसरी नजर डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत सक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ ऐसे ही मुल्को की चर्चा की, जो ख़ासी तरक़्क़ी कर चुके थे या जिनका थोडा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी जिक्र कर चुके है, जिसने पिरेमिड और स्फिक्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीज़ें बनाई

जिनकी चर्चा का यहाँ मौका नही है। मालूम होता है कि, जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे है, उसमें भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आखिरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगो का चित्र भी हम खींच चुके है, जिनमें कि वह बढ़ते-बढते एक विशाल साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओ का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देखली। हिन्दुस्तान में हमने उसकी उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी सकेत किया ही है, जिसके चिन्ह सिन्ध-नदी की तलहटी के मोहेनजेदारो वाले खण्डहरो में मिलते है। द्रविडो की सभ्यता की चर्चा करते हुए विदेशों के साथ के इनके व्यापार की चर्चा भी हम कर चुके है और सबके बाद आर्यों का हाल बता आये है। उस ज़माने के आर्यों के बनाये हुए वेद, उपनिषद आदि कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ और रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यो का उल्लेख भी हम कर चुके है। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर-भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविडो के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होने एक नई सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया, जिसका कुछ अंश तो द्रविडो से लिया गया था और बाक़ी का अधिकतर उनकी अपनी देन थी। ख़ास तौर से हमने इनके ग्राम-संघो को लोकतंत्र की प्रणाली पर विकसित होते और गाँवो को कस्बो और शहरो के रूप में बढते देखा। हमने यह भी देखा कि किस तरह जंगलो में स्थापित आश्रम विश्वविद्यालय बन गये। इराक और ईरान में हमने संक्षेप में केवल यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इन साम्राज्यो में से एक, सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य हिन्दुस्तान में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फिलस्तीन में हमें यहूदियो की एक झलक दिखाई दी। ये लोग यद्यपि तादाद में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटेसे कोने में आबाद थे, फिर भी इन्होंने दुनिया का बहुत काफी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशो के बडे-बडे राजा-महाराजाओ का नाम मिट गया, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुलेमान का नाम आजतक लिया जाता है, क्योकि बाइबिल में उनका जिक्र आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की चिता पर बनी हुई आर्यों की नई सभ्यता को पनपते और फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारो पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कारथेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इसी समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी-योरप और दक्षिण पूर्व-एशिया के मुल्को का भी थोडा-बहुत हाल मै तुमसे कह सकता था, लेकिन मै उन्हे छोड गया हूँ। उस बहुत पुराने---शुरू के---जमाने मे भी दक्षिण-हिन्दुस्तान के मल्लाह बगाल की खाडी के उसपार मलाया द्वीप और उसके दक्षिण के टापुओ तक जाया-आया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा निश्चित कर लेनी चाहिए, नहीं तो हमारा आगे बढना मुश्किल होजायगा।

जिन देशो की हमने चर्चा की है, पुरानी दुनिया उतनी ही समझी जाती है। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि उन दिनो दूर-दूर के मुल्को में आपस में आमदरफ्त ज्यादा नहीं थी। व्यापार करने या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के जरिये तथा दूसरे लोग जमीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफर किया करते थे। लेकिन ये बाते कभी-कभी ही हुआ करती थीं और थोडे ही लोग ऐसा करते थे, क्योकि उस समय की यात्राओ में खतरा बहुत रहता था। उस समय लोगो को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। उन दिनो जमीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि अपने देश से नजदीक के मुल्को के सिवा दूसरे मुल्को के बारे में कोई कुछ नहीं जानता था। यूनान के रहनेवाले चीन और हिन्दुस्तान से करीब-करीब बिलकुल नावाकिफ थे, और चीन और हिन्दुस्तानवालो को भूमध्यसागर के देशो का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हे पुरानी दुनिया का नकशा मिल सके तो उसे एक नजर देखो। पुराने जमाने के लेखको ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नकशे बनाये उनमें के कुछ तो बडे मजे के हैं। उन नक़शो में कई मुल्को की अजीब शक्ले कर दी गई हैं। उस समय के जो नक्शे आजकल बनाये गये है वे कहीं ज्यादा कामके हैं, और इसलिए तुम उनके बारे में पढ़ते वक्त अक्सर उनको देख लिया करना। नकशे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारे ख़याल में नहीं आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसीको इतिहास पढना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नक़शे या पुरानी इमारते, खण्डहर और उस जमाने की बची-बचाई और भी दूसरी चीजें हैं, उन सबके जितने भी अधिक-से-अधिक चित्र मिल सके, अपने पास रखने चाहिएँ। इन चित्रो से इतिहास की सूखी ठठरी पर माँस और चमडा चढ जाता है, और इस तरह वे हमारे लिए एक जिन्दा चीज बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते है तो यह जरूरी है कि उस वक्त के चित्रो का सिलसिला साफ-साफ हमारी नजरो के सामने रहे, जिससे कि जब हम उसे पढने बैठें तो यह जान पड़ने लगे कि उस वक्त की वे घटनायें मानो बिलकुल हमारी

आखो के सामने हो हो रही है। इतिहास को तो एक दिलचस्प नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मुट्ठी में कर लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दु खान्त रहा है। दुनिया जिसका रगमच और भूतकालीन महान् पुरुष और वीरागनायें जिसके पात्र है।

तसवीरो और नकशो की मदद से इस इतिहास-नाटक की झलक हमारी आखो के सामने आजाती है इसलिए ऐसा इन्तिजाम होना चाहिए कि हरेक लडके और लडकी को ये आसानी से मिल सके। लेकिन तसवीरो और नकशो से भी ज्यादा अच्छी चीज यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्डहरो और चिन्हो को खुद जाकर देखा जाय। परन्तु इन सबको जाकर देख सकना मुमकिन नहीं क्योकि ये सारी दुनिया में फैले हुए है। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिन्ह या खण्डहर ऐसे जरूर पा सकेगे, जहाँ हम आसानी से पहुँच सके। बडे-बडे अजायबघरो में पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशानियाँ और यादगारे सग्रह करके रक्खी जाती है। हिन्दुस्तान में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफी निशानियाँ पाई जाती है, और बहुत प्राचीन समय की निशानियाँ तो बहुत ही कम है। मोहनजेदारो और हरप्पा[1] ही शायद ऐसे दो पुराने जमाने के निशानो के उदाहरण है, जो अभी तक मिले है। सम्भव है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारते मौसम की गरमी की वजह से धीरे-धीरे मिट्टी में मिल गई हो। लेकिन यह और भी ज्यादा मुमकिन है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारते अब भी जमीन के नीचे दबी पडी हो, और उनके खोदे जाने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हे खोदते जायँगे, और पुराने चिन्ह और शिलालेख हमें मिलते जायँगे, वैसे वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पन्ने धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायगे और पुराने—अत्यन्त पुराने जमाने में हमारे पूर्वजो ने जो कुछ किया है, उसका हाल पत्थर ईट और चूने के इन पन्नो में पढ सकेगे।

तुम दिल्ली गई हो और उसके मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारते और खण्डहर तुमने देखे है। जब कभी फिर तुम्हे इन इमारतो और खण्डहरो के देखने का मौका मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना और ये तुम्हे उस

१ हरप्पा—माटगोमरी ज़िला (पजाब) का एक अति प्राचीन गाँव है जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण पूर्व मे है। अभी हाल मे यहाँ मे बहुत पुराने जमाने के खण्डहर खोदकर निकाले गये है, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने जमाने मे भी हिन्दुस्तान की सभ्यता कितनी बढी-चढी थी।

तक पहुँचा देगी और तुम्हे इतना ज्यादा इतिहास बता देगी जितना कोई किताब नहीं बता सकती। महाभारत के जमाने से लेकर आजतक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये है। उन्होने इसके बहुत से नाम रक्खे, जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम याद भी नहीं। पुराने जमाने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात जुदी-जुदी जगहो पर आबाद हुआ। और जमना नदी की धारा की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के वर्त्तमान शासको के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामका उसका आठवाँ शहर आबाद होते देख रहे है। दिल्ली में एक के बाद एक, यो अनेक साम्राज्य पैदा हुए और ख़त्म हो गये।

या फिर तुम सबसे पुराने शहर बनारस अथवा काशी चली जाओ, और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हे अपने प्राचीनतम अतीत की कथा सुनायगा और बतायगा कि किस तरह साम्राज्यो के बाद साम्राज्यो के पतन होने पर भी वह अभी तक कायम चला आ रहा है, किस तरह गौतमबुद्ध अपना नया सन्देश लेकर वहाँ आये, और किस तरह युगो से लाखो और करोडो स्त्री-पुरुष शान्ति और तसल्ली पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे! अति प्राचीन, बूढा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी अत्यन्त सजीव और युगो की शक्ति से यह बनारस भरपूर है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योकि इसकी आँखो में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो, इसकी जलधारा की कलकल में तुम्हे सुदूर युगो की ध्वनि सुनाई देगी।

या, इससे भी नजदीक हम अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के प्राचीन अशोक-स्तम्भ को देखने चले। अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए लेख को देखो, तो दो हजार बरसो की दूरी को पार करती हुई उसकी आवाज इसमें तुम्हे सुनाई देगी।

: १२ :

दौलत कहाँ जाती है?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हे मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ या वर्ग बनते गये। शुरू में मनुष्यो को भोजन सामग्री तक बडी मुश्किल से मिलती थी। वे हररोज शिकार करते, कन्द-मूल जमा करते और खाने-पीने चीजो की तलाश में एक

जगह से दूसरी जगह दूर-दूर तक भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनकी जातियां बनने लगीं। असल में ये बडे-बडे कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बडा परिवर्तन हुआ,—खेती के उद्योग का आविष्कार हुआ। इसके कारण मनुष्य-समाज में बडा जबर्दस्त अन्तर होगया। लोगो को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत जमीन पर खेती करके खाने का समान पैदा कर लेना कही ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फसल काटने के लिए उसी जगह पर बने रहना जरूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भाग नहीं सकते थे, उन्हे अपने खेतो के पास बसने को मजबूर होना पडता था। इस तरह गाँव और कस्बो की बुनियाद पडी।

खेती की वजह से और भी तब्दीलिया आ गई। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह उस समय की जरूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने जमाने की शिकारी जिन्दगी की बनिस्बत लोगो की जिन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतो पर तथा दूसरी जगह खेतीबाडी और मेहनत-मजदूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और सगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और सगठन-कर्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली होगये और मुखिया, शासक, राजा और सरदार बन बैठे और क्योकि अपने पास शक्ति होने के कारण बाकी बचे हुए अधिक अनाज में से ये अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग ज्यादा अमीर होगये और खेतो में काम करनेवाले सिर्फ गुजारे भर के लिए पाने लगे। एक ऐसा भी वक्त आया, जब प्रबन्धक और सगठनकर्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि सगठन का भी काम नहीं कर सके। ये लोग कुछ भी काम नही करते थे लेकिन इस बात की पूरी निगरानी रखते थे, कि काम करनेवालो ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफी हिस्सा अपने लिए लेले। और इन्होने यह अपनी धारणा बना ली, कि बिना खुद काम काज किये इस तरीक़े से दूसरो की मेहनत पर रहने का इन्हे पूरा-पूरा हक है। इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती का हुनर मिल जाने से आदमियो के जीवन में बहुत बडा फरक आ गया। भोजन उपजाने के साधनो में तरक्की करके, और इसकी प्राप्ति को आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद बदल दी। लोगो को इसकी वजह से फुरसत मिलने लगी, अनेक श्रेणियाँ और वर्ग पैदा होगये, पर सभी भोजन उपजाने की कोशिश में नहीं लगे रहते थे। कई किस्म की कारीगरिया पैदा हो गई और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति और अधिकार सगठन करनेवाले वर्ग के हाथो में ही रहा।

इस जमाने के बाद का इतिहास पढने से भी तुम्हे पता चलेगा, कि खाद्यपदार्थ और दूसरी चीजो के पैदा करने के ढंग में नवीनता हो जाने की वजह से मनुष्य समाज में बडी-बडी तब्दीलिया हो गई है। आदमियो को बहुत-सी और चीजो की उतनी ही जरूरत पडने लगी जितनी खाने की चीजो की होती थी। इसलिए जब-जब किसी चीज के पैदा करने के ढंग में तब्दीली आई, समाज में भी उसीके साथ-साथ तब्दीली पैदा हुई। सिर्फ एक उदाहरण मै तुम्हे देता हूँ। जब कारखानो में, रेलवे में और जहाजो में भाफ का इस्तेमाल होने लगा, सम्पत्ति की उत्पत्ति और वितरण में भी बहुत फरक आ गया। भाफ के कारखाने चीजो को इतनी अधिक तेजी से बना लेते थे कि कारीगर या मिस्त्री लोग अपने हाथो से या अपने छोटे-छोटे औजारो से, इतनी तेजी से बना ही नहीं सकते थे। बडी मशीन को असल में बडा-सा औजार समझना चाहिए। रेल और भाफ के जहाज अनाज को और कारखानो में बनी हुई चीजो को दूर-दूर देशो तक पहुँचाने में मदद देते थे। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा।

समय-समय पर इतिहास में खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीजो को पैदा करने के लिए नये और तेज तरीको के आविष्कार होते रहे है और इस बात से तुम जरूर यह खयाल करोगी कि अगर उत्पत्ति के लिए उन्नत साधनो को काम में लाया जाता है तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होगा। दुनिया ज्यादा मालदार होगी और हरेक आदमी के हिस्से में भी पहले से ज्यादा रकम आती होगी। तुम्हारा ऐसा ख़याल करना एक हद तक तो ठीक होगा। लेकिन एक हद तक ग़लत भी। उत्पत्ति के उन्नत साधनो ने ससार को जरूर ज्यादा सम्पत्तिशाली या दौलतमन्द बना दिया है। लेकिन सवाल यह है कि यह सम्पत्ति दुनिया के किस हिस्से में आई है? यह तो बिलकुल जाहिर है कि हमारे देश में अभी तक काफी ग़रीबी और मुसीबत पाई जाती है। इतना ही नहीं, इग्लैण्ड जैसे सम्पत्तिशाली देश में भी ग़रीबी है। इसकी क्या वजह है? दौलत आखिर कहाँ चली जाती है? यह अजीब-सी बात है कि दौलत दिन-ब-दिन ज्यादा पैदा की जा रही है, लेकिन ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहते है। बहुत से देशो में इन ग़रीब लोगो ने कुछ थोडी-सी तरक्की की है। लेकिन जो नई सम्पत्ति पैदा हुई उसके लिहाज से यह तरक्की न कुछ के बराबर है। हम आसानी से इस बात का पता चला सकते है कि यह दौलत ज्यादातर कहाँ जाती है। यह उन लोगो के पास जाती है, जो ज्यादातर प्रबन्धक और सगठनकर्त्ता होने के कारण इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते है कि हरेक अच्छी चीज का ज्यादातर हिस्सा इन्हे मिलता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा

हो गये हैं जो दिखावे भर तक के लिए कोई काम नही करते। और फिर भी दूसरे आदमियो की मेहनत के फल का बडे-से-बडा हिस्सा हजम कर जाते हैं! और क्या तुम इस पर विश्वास करोगी कि ऐसा होने पर भी इज्जत इन्ही वर्गों की होती है, और कुछ बेवकूफ लोग समझते हैं कि अपनी जीविका या रोजी के लिए काम करना जलालत है! ऐसी उलटी-सीधी दशा है कि हमारी दुनिया की। कितने आश्चर्य की बात है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान, और कारखाने में मजदूरी करने वाला मजदूर गरीब हो, जब कि दुनिया भर के खाद्य-पदार्थ और दौलत के पैदा करनेवाले यही लोग हैं! हम अपने देश की आजादी की बाते करते हैं, लेकिन जबतक इस गडबडी का अन्त नही होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आजादी की क्या कीमत हो सकती है ? राजनीति पर, शासन-कला पर, अर्थशास्त्र पर और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण के विषय पर बडी-बडी मोटी किताबें लिखी गई हैं। आलिम-फाजिल प्रोफेसर लोग इन विषयो पर लेक्चर देते हैं। लेकिन ये लोग तो जबानी बात-चीत और बहस-मुबाहिसो में लगे रहते हैं और उधर मेहनत करनेवाले मुसीबत झेलते रहते हैं। दो सौ बरस हुए वालटेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी ने राजनीतिज्ञों और इन्हीके से दूसरे लोगो के बारे में कहा था कि "इन राजनीतिज्ञो ने अपनी सुन्दर राजनीति को, उन लोगो को भूखो मरवा डालने का एक साधन बना लिया है, जो जमीन को जोतकर दूसरो को जिन्दा रखने की सामग्री पहुँचाते हैं।"

इसके होते हुए भी प्राचीन काल का मनुष्य उन्नति करता गया और अनियन्त्रित प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और जमीन जोती। यह समझा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। यह अस्पष्ट बात है, और बिलकुल सही नही कही जा सकती। अगर हम यह कहे तो ज्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है उतना ही वह उससे सहयोग करने के काबिल बन गया है और उसे अपने मतलब के लिए काम में ला सका है। पुराने जमाने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्रताओ से डरता था। इनको समझने के बजाय यह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए उन पर चढावा चढाता था, मानो प्रकृति कोई जगली जानवर है जिसे खुश करने और फुसलाने की जरूरत हो। इस लिए उन लोगो को बादल की गरज, बिजली की कडकडाहट और महामारियाँ भयभीत कर देती थीं। और ये लोग समझते थे कि सिर्फ चढावे से ही इन उत्पातो को शान्त किया जा सकेगा। बहुत से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्र या सूर्य-ग्रहण कोई

भयकर आफत है। बजाय इसके कि वे यह समझते कि यह एक सीधी-साधी प्राकृतिक घटना है, व्यर्थ में अपनेको उत्तेजित कर लेते हैं, उपवास करते हैं और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए स्नान-जप वगैरा करते हैं। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफी समर्थ है। उनके बारे में हमें चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं।

हमने सभ्यता और सस्कृति की उन्नति की भी कुछ चरचा की है और हमने देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवो और क़स्बो में रहने के लिए बस गये, खाने का काफी सामान पा जाने की वजह से लोगो को कुछ फुरसत मिल गई और खाने और शिकार करने के अलावा और भी बातो पर ध्यान देने का इन्हें अवकाश मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और सस्कृति की भी उन्नति होने लगी। आबादी बढने के कारण लोग एक दूसरे से नजदीक भी रहने लगे और जब लोग पास-पास रहने लगे, तो उन्हे एक दूसरे का लिहाज भी रखना जरूरी होगया। ये एक दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार व्यवहार चलने लगा। जब लोग एक-दूसरे से नज़दीक रहते हैं तो उन्हे एक दूसरे का ध्यान रखना भी जरूरी हो जाता है। इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करे जो इनके साथियो या पडोसियो को बुरी लगे। इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव ही नहीं हो सकता। किसी कुटुम्ब का उदाहरण लेलो। कुटुम्ब एक छोटा सा समाज है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्ब के प्राणी एक-दूसरे का लिहाज रक्खें। साधारणत यह कोई मुश्किल बात नहीं होती, क्योकि कुटुम्ब के लोगो में प्रेम का सम्बन्ध होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक दूसरे का लिहाज करना भूल जाते हैं और यह बता देते है कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सभ्य या सुसस्कृत नहीं हो पाये है। कुटुम्ब से आगे बढकर बडे समुदाय में भी यही हाल होता है। चाहे हम अपने पडोसियो की बात ले, या अपने शहर के रहनेवालो की, या दूसरे मुल्क के लोगो की। इस तरह आबादी के बढ जाने की वजह से सामाजिक जीवन बढा, और दूसरो का ध्यान और अपने पर सयम रखने का खयाल तरक्की कर गया। सभ्यता और सस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मै इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नहीं। लेकिन सस्कृति के अन्दर पाई जानेवाली अनेक बातो में से निस्सन्देह एक चीज यह भी है—अपने ऊपर सयम, और दूसरो की सुविधा का लिहाज। अगर किसी आदमी में अपने पर सयम नहीं पाया जाता और वह दूसरो की सुविधा का कोई खयाल नहीं करता, तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छटी सदी और मत-मतान्तर

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सडक पर आगे बढें। हम एक मंजिल तक तो आपहुँचे हैं---आज से ढाई हजार बरस पहले यानी ईसा से करीब छ सौ बरस पहले तक। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख है। मैं तो तुम्हे उस जमाने का एक मोटा अन्दाज दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशो में अनेक महापुरुष, बडे-बडे विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नही हुए। लेकिन अपने जन्म-काल के लिहाज से वे एक-दूसरे के इतने नजदीक थे कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह जमाना एक बडा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है, उस समय सारी दुनिया में विचारो की एक लहर उठ रही थी---लोगो के दिलो में मौजूदा परिस्थिति से असन्तोष और उससे बेहतर किसी चीज़ की प्राप्ति की ख्वाहिश थी। याद रखो कि मजहबो के चलानेवाले हमेशा बेहतर चीज की खोज करने, अपने भाइयो को सुधारने और ऊँचा उठानें, उनकी मुसीबतो को दूर करने की चिन्ता में लीन रहे हैं। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और समाज में फैली हुई बुराइयो पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे है। जहाँ कहीं पुरानी परम्परा गलत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति को रुकते हुए देखा, कि उन्होंने निडर होकर उसपर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बडी बात उन्होने यह की कि अपने आचरणो से उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असख्य लोगो के लिए अनेक पीढियो तक एक आदर्श और प्रेरणा बना रहा। हिन्दुस्तान में ईसा से पहले की उस छठी सदी में बुद्ध और महावीर पैदा हुए, चीन में कनफ्यूशस और लाओ-त्जे, ईरान में जरथुस्त या जोरेस्टर और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोरस पैदा हुए। तुमने पहले भी इनका नाम तो सुना होगा, लेकिन शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लडके-लडकी पाइथागोरस को एक महज निठल्ला आदमी समझते हैं, जिसनें रेखागणित का एक प्रमेय (Theorem) सिद्ध कर दिया, जो अब इन बेचारो को सीखना पड़ता है। इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज (Right-angled triangle) की भुजाओ पर के समकोण चतुर्भुज (Squares) से है। रेखागणित (ज्यामेट्री) की किसी भी किताब में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित सम्बन्धी खोज करने के अलावा वह एक

बड़ा विचारक भी माना गया है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगो को तो इसमें भी शक है कि इस नाम का कोई आदमी हुआ भी था या नहीं ?

ईरान का जरथुस्त पारसी-धर्म चलानेवाला कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे उस धर्म का चलानेवाला कहना कहांतक ठीक होगा ? शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने मजहब और विचारो को नई दिशा की ओर झुकाया और उनमें नई जान डाल दी। बहुत अर्से से यह धर्म ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत अरसे पहले ईरान से हिन्दुस्तान चले आये, वे अपने साथ इस धर्म को भी लेते आये और तबसे बराबर उसीको मानते चले आते हैं।

चीन में इसी जमाने में दो महापुरुष हुए—कनफ्यूशस और लाओ-जे। धर्म के साधारण अर्थ को ध्यान में रखते हुए, इन दोनो में से किसीको धर्म-प्रवर्तक नहीं कह सकते। इन्होने तो सामाजिक व्यवहार और नीति के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत से मन्दिर बने और इनके लिखे ग्रन्थो का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं जैसा हिन्दू वेदो का और ईसाई बाइबिल का। कनफ्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियो को ज्यादा सुशील, शिष्ट और सभ्य बना दिया।

हिन्दुस्तान में बुद्ध और महावीर हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन-धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी हिन्दुस्तान और काठियावाड में रहते हैं। काठियावाड और राजपूताना में आबू पहाड पर, इनके बडे सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। जैन लोग आजकल आमतौर पर हिन्दू समझे जाते हैं। अहिंसा में इनकी बडी श्रद्धा है, और ऐसा काम करने के ये बिलकुल खिलाफ है जिसमें किसी भी जीव को तकलीफ पहुँचे। हां, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पाइथागोरस मास नहीं खाता था। उसने अपने शिष्यो और अनुयायियो के लिए यह नियम बना दिया था कि कोई भी मास न खाय।

अब गौतम बुद्ध के हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक शाही खानदान के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। इनके बारे में प्राचीन ग्रन्थो में लिखा है कि नये चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के जैसा पवित्र हृदय रखनेवाली थी वह महारानी माया।

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम में रक्खा, और यहाँ तक कोशिश की कि दु.ख-दर्द और रोग-शोक के किसी भी दृश्य पर उनकी नजर न जाय। लेकिन यह सभव नहीं हो सका—और, कहा जाता है कि, एक कगाल, एक रोगी और एक मुर्दा उन्हे दिखाई दिये। इन दृश्यो का उनपर बहुत असर हुआ, और राजमहल में उन्हे जरा भी शान्ति नहीं मिलने लगी। ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारो ओर घिरे रहते थे, और उनकी सुन्दर पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, कोई भी मुसीबत में फँसी हुई दुनिया की चिन्ता से उनका चित्त न हटा सके। उलटे उनकी यह चिन्ता दिन-पर-दिन बढती ही गई, और इन बुराइयो को दूर करने के उपाय खोजने की उनकी इच्छा ज्यादा-से-ज्यादा तीव्र होने लगी। यहाँतक कि वह इस हालत को बर्दाश्त न कर सके और अन्त में एक शान्त और नीरव रात में अपने राजमहल और प्यारे सगे-सम्बन्धियो को सोता हुआ छोडकर, जगल में निकल गये। इसके बाद जिन प्रश्नो ने उन्हे परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौडी दुनिया में भटकने लगे। समाधान की खोज में उन्हे बहुत वक्त लगा और बहुत तकलीफें उठानी पडीं। आखिर, बहुत बरसो के बाद, गया में एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हे 'सम्यक्-ज्ञान' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड के नीचे वह उस दिन बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया तले बसे हुए सारनाथ के, जो उस जमाने में इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'डीयर पार्क' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार शुरू किया। उन्होने 'सद्जीवन' का रास्ता बताया। देवताओ के नाम पर की जानेवाली हिंसा और पशु-बलि की उन्होने निन्दा की और उन्हे निषिद्ध ठहराया। उनका कहना था कि इन बलिदानो के बजाय अपना गुस्सा, द्वेष, घृणा और बुरे विचारो का बलि-दान करना चाहिए। जब बुद्ध का जन्म हुआ था, हिन्दुस्तान में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचेपन से बहुत नीचे गिर चुका था। ब्राह्मणो और पुरोहितो ने तरह-तरह के पूजा-पाठ, अन्ध विश्वास और पाखण्ड चला दिये थे। क्योकि पूजायें जितनी ज्यादा बढती पुरोहित लोगो को पैसा उतना ही ज्यादा मिलता। जाति का बन्धन बहुत ज्यादा कडा हो रहा था और आम लोग मंत्र-तत्र और जादू-टोने से डरते रहते थे। इन बातो से पुरोहितो ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर लिया था और क्षत्रिय राजाओ की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रिय और ब्राह्मणो में सघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बडे सुधारक के रूप में दुनिया के सामने आये और उन्होंने ब्राह्मणो के इन अत्याचारो पर और पुराने वैदिक धर्म में जो खराबियाँ आगई थीं उन पर जोरो से

हमला किया। उन्होने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर जोर दिया। और बुद्ध-धर्म को माननेवाले भिक्षु और भिक्षुणियो की सस्था 'बौद्ध-सघ' का भी सगठन किया।

कुछ दिनो तक धर्म के रूप में बुद्ध-धर्म का फैलाव हिन्दुस्तान में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला ? और बाद को खुद इसकी हस्ती यहाँ से कैसे मिट गई। लका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्को में यह धर्म खूब फैला। लेकिन अपनी जन्मभूमि हिन्दुस्तान में यह ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बडा असर हुआ। इसकी वजह से हिन्दू-धर्म में से बहुत से बुरे रीति-रिवाज और अन्ध-विश्वास निकल गये।

इस वक़्त दुनिया में बुद्ध-धर्म के माननेवालो की तादाद सबसे ज्यादा है। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्म भी ऐसे धर्म है जिनके माननेवाले दुनिया में बहुत ज्यादा है। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी वगैरा बहुत से दूसरे धर्म भी है। इन सारे धर्मों और इनके प्रवर्त्तको ने दुनिया के इतिहास को बनाने में बहुत हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा हर्गिज नहीं की जा सकती। लेकिन धर्म के बारे में अपनी राय जाहिर करते हुए मुझे कुछ सकोच होता है। इसमें शक नहीं कि बडे-बडे धर्मों के चलानेवाले दुनिया के बडे-से-बडे और अच्छे-से-अच्छे पुरुष हुए है। लेकिन उनके शिष्य और अनुयायी न तो बडे ही निकले और न भले ही। इतिहास में हम अक्सर देखते है जिस धर्म का मकसद हमें ऊँचा उठाना और सात्त्विक तथा भला और बेहतर बनाना था उसीने हमसे जानवर जैसा व्यवहार कराया। लोगो में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय इसने लोगो को अधेरे में रक्खा, उदारचित्त बनाने के बजाय उन्हे सकुचित हृदय बना दिया, दूसरो के प्रति सहिष्णु बनाने के बजाय असहिष्णु बना दिया। धर्म के नाम पर बहुत बढे-चढे और बढिया काम हुए है, लेकिन धर्मके ही नाम पर लाखो हत्यायें और सब तरह के अनर्थ भी हुए है।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है, कि धर्म के मामले में हमारा व्यवहार क्या हो ? कुछ लोगो के लिए धर्म का मतलब है परलोक। फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कहलो। स्वर्ग में जाने की लालसा में लोग धार्मिक आचरण करते है, यह देखकर मुझे ऐसे बालको का ख़याल आता है जो जलेबी पाने के लालच से कोई अच्छा काम करते है। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी या मिठाई की ही बात सोचा करे, तो तुम यह हर्गिज न समझोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढग से हुई है। और उस लडके या लडकी को तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो अपने सारे काम जलेबी या मिठाई के लालच में ही करे।

तब फिर हम ऐसे बडे-बूढो के लिए क्या राय कायम करे, जो इन बच्चो की तरह काम करते है ? क्योकि जलेबी के लालच और स्वर्ग के लालच के ख़याल में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। यह माना कि हम सब लोगो में थोडी-बहुत ख़ुदगर्जी रहती है, लेकिन फिर भी हम कोशिश इसी बात की करते है कि हमारे बच्चे इस तरह से शिक्षा पावे कि वे जहाँतक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-रहित होने चाहिएँ कि जिनकी वजह से हम अपने जीवन में उन तक पहुँचने की कोशिश करते रहे। हम सब अपने मकसद तक पहुँचने और अपने कर्मो के फल को देखने की ख़्वाहिश रखते है। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है ? क्या हमें सिर्फ अपनी ही फिक्र करनी चाहिए, या समाज, देश और मनुष्य-जाति की भलाई की चिन्ता करनी चाहिए ? कुछ भी हो, इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई छिपी हुई है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में सस्कृत के एक श्लोक का जिक्र किया था, जिसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए छोड़ देना चाहिए। यहाँ मै सस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत् में आया है। उसका अर्थ यह है —

"मुझे न तो अष्टसिद्धियो[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुखी जनो के दिलो मे पैठ जाऊँ और उनका दुख-दर्द अपने ऊपर लेलूँ, जिससे वे पीडा से मुक्त हो जायँ।"[2]

एक धर्मवाला एक बात कहता है, दूसरे धर्मवाला दूसरी। और ज्यादातर ये लोग एक-दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझते हैं। इनमें से सच्चा कौन है ? चूकि ये लोग एक ऐसे विषय के बारे में बात-चीत करते है, जो न आँख से देखा जा सकता

१ सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती है—अणिमा, महिमा, गरिमा, [illegible], प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

२ इस सम्बन्ध मे भागवत के ये दो श्लोक ध्यान मे रखने योग्य है —

कोनु सस्यादुपायोऽत्र येनाहम् दुखितात्मनाम् ।
अन्त प्रविश्य भूतानाम् भवेय दुखभाक् सदा ।।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुख यदुपजायते ।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कला नार्हति [illegible] ।। —[illegible]

× × ×

नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग [illegible] ।
प्राणिनाम् दुखतप्तानाम् [illegible] ।। —[illegible]

है और न बहस-मुबाहिसे से साबित ही किया जा सकता है, इसलिए दलीलो से ऐसे मामलो को तय करना बहुत मुश्किल हो जाता है। भला दोनो पक्षवालो के लिए क्या यह हिमाकत की बात नहीं है जो ऐसे मामलो पर इतने यकीन के साथ अपनी राय जाहिर करते है और आपस में एक-दूसरे का सिर फोडने को तैयार रहते है ? हममें से ज्यादातर सकीर्ण विचारो के होते है और बुद्धि के एकदम शून्य रहते है। तब हम यह कैसे मान ले कि जितनी भी सचाई है वह सब हमींको मालूम है। और इस सचाई को अपने पडौसी के गले के नीचे जबरदस्ती उतारने की कोशिश भी कैसे करे ? यह मुमकिन हो सकता है कि हम सचाई पर हो, और यह भी मुमकिन है कि हमारा पडौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड नहीं कहोगी न ? उसी तरह एक आदमी ने उस पेड की पत्तियां ही देखीं और दूसरे ने सिर्फ उसका तना ही देखा, तो निस्सन्देह हरेक ने उस पेड का एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उन हरेक आदमी के लिए यह कैसी बेवकूफी की बात होगी, कि वे इस बात का दावा करने लगें कि सिर्फ फूल, पत्ती या अकेला तना ही पेड है और अपनी इस बात को मनवाने के लिए एक-दूसरे से लड पडें ?

मुझे परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग तो इन बातो से भरा हुआ है कि इस लोक में--इस दुनिया में--मैं क्या करूँ। और अगर इसमें अपना रास्ता साफ-साफ दिखाई दे गया तो मैं सन्तुष्ट हूँ। अगर इस लोक में मेरा फर्ज साफ-साफ दीख जाता है, तो मुझे दूसरे लोक की बिलकुल फिकर नहीं है।

ज्यो-ज्यो तुम बडी होती जाओगी, हर तरह के लोगो से तुम्हारा सम्पर्क बढता जायगा। तुम्हे धार्मिक लोग भी मिलेगे और धर्म को न माननेवाले भी मिलेगे। ऐसे भी लोग तुम्हे मिलेगे जिन्हे न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। तुम देखोगी कि बहुत से बडे-बडे गिरजे, धर्म-मठ और मन्दिर ऐसे है जिनके पास बेहद धन और ताकत है। वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते है और कभी बुरा। तुम्हे बहुतसे धार्मिक आदमी ऐसे मिलेगे जो बहुत शरीफ और भले है, और ऐसे भी मिलेगे जो धर्म की आड में दूसरो को लूटते और धोखा देते है। तुम्हे इन सब बातो पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही फैसला करना होगा। आदमी दूसरो से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बाते ऐसी होती है जिनको आदमी अपनी खोज और अपने अनुभव से ही प्राप्त कर सकता है। कुछ सवाल ऐसे है जिनपर हरेक स्त्री-पुरुष को खुद अपनी ही राय क़ायम करनी पडती है।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर अपनी राय देने से पहले तुम्हे उसके लिए अपने को उसके योग्य बनाना

होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और हर सवाल का जवाब भी देना चाहिए, लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता की भी जरूरत है। तुम किसी दुध-मुंहे बच्चे से यो हरेक बात का निर्णय करने की उम्मीद कैसे रख सकती हो ? इसी तरह बहुत से आदमी ऐसे है जो उम्र में तो बडे हो गये है लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे दुध-मुँहे बच्चे से कम नहीं होते।

मेरा पत्र, आज, साधारण से कुछ बढ गया। मुमकिन है तुम्हे यह नीरस भी लगे। लेकिन इस बारे में मै तुम्हे कुछ बताना चाहता था, इसलिए इतना लिख मारा। अगर तुम्हे इसमें से कोई बात समझ में न आये तो कोई बात नही। आगे जाकर जल्दी ही तुम सब बाते समझने लगोगी।

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा ख़त आया और यह जानकर खुशी हुई कि ममी और तुम अच्छी तरह से हो। मेरी कामना है कि दादू का बुख़ार भी उतर जाय और उनकी परेशानियाँ दूर हो जायें। उन्होने सारी जिन्दगी बहुत सख्त मेहनत की है और आज भी उन्हे आराम और शान्ति नहीं मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई किताबें पढ डाली है। और चाहती हो कि मै दो-चार नाम और सुझा दू। लेकिन तुमने यह नही बताया कि तुमने कौन-कौन सी किताब पढी है। लेकिन जो लोग बहुतसी किताबें जल्द-जल्द पढ डालते है उन्हे मै जरा सन्देह की नजर से देखता हूँ। उनपर यह शक होने लगता है कि ये लोग ठीक तौर से किताबें नहीं पढते। सिर्फ उनपर सरसरी नज़र डाल जाते है और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते है। अगर कोई किताब पढने के काबिल है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुतसी किताबें ऐसी भी है जो पढने के काबिल ही नही है। अच्छी किताबो का चुनना कोई आसान काम नही है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब अपनी लाइब्रेरी से किताबें चुनी है तो वे जरूर अच्छी होगी। नही तो हम उन्हे मगाते ही क्यो ? ख़ैर, अभी तो पढती रहो। नैनी जेल से जो कुछ मदद मै कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मै यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेज़ी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी प्रबल इच्छा है कि मै तुम्हारे पास होता! शायद

जब तक ये चिट्ठियाँ तुम्हारे पास तक पहुँचेगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हे इनकी ज़रूरत ही न रहे। मै समझता हूँ कि उस वक्त तक चॉद[1] इनको पढने के काबिल हो जायगी और इस तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी कद्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौटे चले और थोडी देर के लिए उनकी आपस की लडाइयो पर विचार करे। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यो और ईरान के उस बडे साम्राज्य का जिक्र किया था जिसके सम्राट को यूनानी लोग डेरियस या दारा कहते है। दारा का यह साम्राज्य बहुत बडा था--खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि सगठन में भी। ठेठ एशिया-माइनर से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया माइनर के कुछ यूनानी शहर भी इसके अन्तर्गत थे। इस विस्तृत साम्राज्य मे एक ओर से दूसरी ओर तक अच्छी-अच्छी सडके बनी हुई थीं, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी न किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यो को जीतने का निश्चय किया। इन लडाइयो मे कई इतिहास मे प्रसिद्ध है। इन लडाइयो का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है वह यूनान के इतिहास-लेखक हेरोडोटस का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओ के थोडे ही दिन बाद पैदा हुआ था। जरूर ही अपने वर्णन में उसने यूनानियो के साथ पक्षपात किया है। लेकिन उसका विवरण बहुत दिल-चस्प है और इन पत्रो में मै तुम्हारे लिए उसके इतिहास के कुछ हिस्से जरूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियो का पहला हमला नाकामयाब रहा। क्योकि ईरानियो की फौज, कूच के समय, रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत मुसीबत में फँस गई थी। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पडा। ईसा से ४९० बरस पहले ईरानियो का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोडकर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नजदीक ही उसने अपना लगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबडा गये, क्योकि ईरानी साम्राज्य की ताकत की प्रसिद्धि उन दिनो बहुत ज्यादा थी। उन्होने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्टावालो से सुलह करनी चाही और दोनो ही के एक से दुश्मन के खिलाफ उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्टावालो के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालो ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मेरेथान की प्रसिद्ध लडाई है जोकि ईसा से ४९० बरस पहले हुई थी।

१ इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित

यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि एक छोटा सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन दरअसल यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के नजदीक अपने देश के लिए लड़ रहे थे; तहाँ ईरानी सेना अपने देश से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य भर के दूर-दूर के हिस्सो के सैनिको से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते जरूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हे तनख्वाहे मिलती थी। यूनान को जीतने में उनको कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ एथेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हे अपनी आजादी खो देनें से मरजाना कहीं ज्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश के लिए मरनें को तैयार रहते है वे शायद ही कभी हराये जा सकते है।

इस तरह दारा मैरेथान में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह जैरैक्सीज तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी। इसके लिए उसने सेना का सगठन करना शुरू किया। यहाँ मै तुम्हे हेरोडोटस की लिखी एक दिलचस्प कहानी सुनाऊँगा।

आरटाबानस जैरैक्सीज् का चाचा था। उसका खयाल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने में खतरा है, इसलिए उसने अपनें भतीजे जैरैक्सीज को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लडाई न छेडे। हैरोडोटस का कहना है कि जैरैक्सीज् ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया--

"जो कुछ आप कहते है उसमे कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह खतरे का डर न करना चाहिए, और न हरेक जोखिम का खयाल ही करना ठीक है। अगर आप हरेक घटना को एक ही तराजू से तौलेगे तो कुछ भी न कर पावेगे। भावी आशकाओ से अपने दिल को व्यथित रखकर किसी खतरे का मुकाबिला न करने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओ को सहलेना कही अच्छा है। अगर आप हर तजवीज़ पर एतराज़ तो करेगे, लेकिन यह न बतलावेगे कि कौन-सा रास्ता इख्तियार करना चाहिए, तो आपको उतनी ही ज्यादा मुसीबत सहनी होगी, जितनी कि उन लोगो को, जिनका आप विरोध कर रहे है। तराजू के दोनो पलडे बराबर है। कोई आदमी निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलडा किधर झुकेगा। मनुष्य तो इसे नही जान सकता। लेकिन कामयाबी आमतौर पर उन्ही लोगो के साथ रहती है जो अपने निश्चयो पर अमल करते है, उनके साथ नही जो बुजदिल होते है और फूंक-फूंक कर कदम रखते है। ईरान की सल्तनत कितनी बडी और ताकतवर हो गई है यह आप देखते है। अगर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की सी राय के होते या आप जैसे उनके सलाहकार होते। तो आज हमारी सल्तनत जो इतनी बढी-चढी है, वैसी आप कभी न देख पाते, खतरे उठाकर ही उन लोगो ने हम लोगो की आज यह शान बना दी है। जितनी

बडी चीज़ होगी उतने ही बडे खतरो का सामना करने से ही वह हासिल होती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है, कि इससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नहीं। आरटाबानस की सलाह अखीर में सच निकली और ईरानी सेना यूनान में हार गई। जैरेक्सीज हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दो में जो सचाई थी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बडी-बडी चीजो के लिए कोशिश कर रहे है, हमें यह याद रखना चाहिए कि हमें बडे-बडे ख़तरो के बीच से भी गुजरना पडेगा। तभी हम अपने उद्देश तक पहुँच सकेंगे।

बादशाह जैरेक्सीज अपनी बडी सेना लेकर एशिया माइनर पार कर गया और दर्रेदानियाल या डार्डेनल्स से उतरकर (जो उस वक्त हैलैस्पोण्ड कहलाता था) योरप पहुँचा। कहते है, रास्ते में जैरैक्सीज ट्राय नगर के खडहरो को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरो ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लडाई लडी थी। फौज को दर्रेदानियाल के उस पार भेजने के लिए दर्रेदानियाल के ऊपर पुल बनाया गया। और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाडी की चोटी पर से सगमरमर के तख्त पर बैठकर, जैरैक्सीज ने उसपर नजर डाली।

"और," हैरोडोटस ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाज़ो से भरा हुआ देखकर और एबीडोस के मैदान की ओर समुद्र के किनारे को, आदमियो से खचाखच भरा पाकर पहले तो ज़ैरैक्सीज ने खुशी ज़ाहिर की और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा आरटाबानस ने, जिसने कि पहले यूनानियो पर चढाई करने का विरोध किया था, जब ज़ैरैक्सीज को रोता हुआ देखा, तो उससे पूछा, 'बादशाह तू जो कुछ अभी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनो मे कितना फर्क है ? अभी तू ने खुशी जाहिर की थी और अब तू आँसू गिरा रहा है।' जैरैक्सीज़ ने जवाव दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन मै क्या करूँ ? जब मै गिनती कर चुका तो, यह देखकर कि जिन झुण्ड-के-झुण्ड आदमियो को हम यहाँ देख रहे है सौ साल के वाद उनमें से एक भी जिन्दा न रहेगा, मेरे हृदय में करुणा का समुद्र उमड आया और मन मे यह विचार उठा कि इन्सान की जिन्दगी कितनी छोटी सी है ?"

इस तरह यह बडी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियो का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया, जिससे ईरानियो के बहुत से जहाज नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बडी फौज देखकर डर गये थे, इसलिए उन्होने फौरन अपने-

आपसी झगडो को भुला दिया, और हमला करनेवालो के खिलाफ एक हो गये। नतीजा यह हुआ कि यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली में उन्होने ईरानियो को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तग रास्ता था, । उसके एक तरफ पहाड़ था और दूसरी तरफ समुद्र, जिससे थोडे से आदमी भी दुश्मन से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियो के साथ इस दर्रे की हिफाज़त के लिए मुकर्रर किया गया। दूसरे ग्यारह सौ यूनानी भी उसके साथ थे। मैरेथॉन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरो ने अपने मुल्क की बखूबी सेवा की। इन्होने ईरानियो की फौज को रोक दिया और यूनान की बाक़ी सेना पीछे हटती गई। इस तग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नही बढ सकी। लियोनीडस और उसके चौदह सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आचुके तब कही ईरानी सेना आगे बढ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है। यानी आज से २४१० बरस हुए। मगर आज भी इन लोगो की अजेय वीरता याद करके हृदय काँप उठता है। आज भी थर्मापली जानेवाले मुसाफिर डबडबाती हुई आँखो से लियोनीडस और उसके साथियो के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ सकते है। सन्देसा यह है—

> "ओ राहगीर! स्पार्टा को जाकर बताना कि उसका हुक्म माननेवाले हम लोग यहाँ पडे हुए है।"[१]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है। लियोनीडस और थर्मापली अमर हो गये, और सुदूर हिन्दुस्तान में भी जब हम लोग इनकी याद करते है तो रोमाञ्च हो आता है। तब भला हमारे दिल और हमारी भावना का क्या कहना, जब हम अपने देशवासियो के बारे में सोचते है और अपने पूर्वजो का स्मरण करते है, जिन्होंने कि हमारे लम्बे इतिहास के एक सिरे से दूसरे सिरे तक मौत को हिकारत की नजर से देखा है और मुस्कराते हुए उसे गले लगाया है, जिन्होने अपमान और गुलामी को मौत से बेहतर समझा है, पर जुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाना ज्यादा अच्छा माना है। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत स्त्री और पुरुषो की बहादुरी के क़िस्सो का जरा खयाल तो करो, और आजकल के जमाने पर भी नजर डालो। हमारे उन साथियो का भी खयाल करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गरम है, और जिन्होंने हिन्दुस्तान की आजादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है।

१. "Go tell to sparta, thou that passest by'
That here obedient to their words we lie"

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोडी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन वह रुकावट बहुत देर के लिए क़ायम नहीं रही। यूनानी लोग ईरानी सेना के सामने से हट गये और कुछ यूनानी शहरो ने हार भी मानली। लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियो ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोडकर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता ज्यादातर जहाजो के जरिये शहर से बाहर निकल गई। ईरानी लोग जब शहर में घुसे तो उसे निर्जन पाया और उन्होने उसे जला दिया। मगर यूनानी जल-सेना अभीतक हारी नहीं थी। इसलिए सैलेमिस[1] टापू के पास बहुत बडी लडाई हुई। ईरानी जाहाज नष्ट कर दिये गये और इस आफत से बिलकुल निराश होकर जैरेक्सीज ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनो तक एक बडा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथान और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। बाद में यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस जमाने में जो लोग रहे होगे, उन्हे इस बडे साम्राज्य को डगमगाते देखकर जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हैरोडोटस ने इस पर विचार करके बताया है कि उससे हमें क्या नसीहत मिलती है। उसका कहना है कि --

"किसी भी राष्ट्र को तीन मजिलो मे से होकर गुजरना पडता है। पहले उसको सफलता मिलती है,फिर उस सफलता के अभिमान मे अन्याय और उद्दण्डता शुरू होती है और तब इन बुराइयो के फलस्वरूप उसका पतन हो जाता है।"

: १६ :

यूनानियो का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियो पर यूनानियो की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और ज्यादा से ज्यादा कमजोर होता गया। दूसरी तरफ यूनानी लोगो ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रक्खा। राष्ट्र के जीवन की यह शान कुछ दिनो तक ही रही। कुल मिलाकर उसका यह दबदबा २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरा। उस का यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यो के वैभव के जैसा नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ। और

१. सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व मे इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लडाई हुई थी।

उसने कुछ दिनो के लिए अपनी विजयो से दुनिया को हैरत में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नही कर रहे है। हम तो ईरान की लडाइयो और सिकन्दर के आगमन के बीच के जमाने का जिक्र कर रहे है--उस जमाने का, जो थर्मापली और सैलेमिस से १५० बरस तक रहा।

ईरान से जो खतरा था उसकी वजह से तमाम यूनानी एक हो गये थे। लेकिन जब यह खतरा जाता रहा तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे थोडे ही दिनो बाद आपस में झगडने लगे। खासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगडो की चर्चा की झझट में न पडेंगे। उनका कोई महत्व नहीं है। हमें सिर्फ इसलिए उनकी याद आती है कि उन दिनो दूसरी बातो में यूनान की महानता बहुत बढी हुई थी। उस जमाने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ थोडी सी किताबें, कुछ मूर्तियां और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते है। लेकिन ये थोडी-सी चीजें भी ऐसी है कि उन्हे देखकर हमारा दिल खुशी से भर जाता है, और यूनानी लोगो की अनेकागी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते है। इन सुन्दर मूर्तियो और इमारतो के बनाने में इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होगे। फीडियास उस जमाने का मशहूर मूर्त्ति बनानेवाला था। उसके अलावा और भी कई मशहूर लोग थे। इनके दु खान्त और सुखान्त दोनो ही तरह के नाटक, अभी भी अपने जमाने के सब से उत्तम नाटक माने जाते है। इस वक्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्लीज[१], ऐस्किलस[२], यूरिपिडीज[३] एरिस्टोफेनीज[४],

१ साफोक्लीज--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० मे इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किलस को हराकर इनाम पाया। तबसे ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि सम्राट् रहा।

२ एस्किलस--एक प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार। इसका जन्म ईसा से पहले ५२५ साल में हुआ था। मैरेथान, सेलेमिस और लिटिपो की लडाइयो मे इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपनी दो नाटको पर, सर्वोत्तिम दु खान्त नाटक पर दिया जानेवाला पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुखान्त नाटक लिखे, जिनमे ७ अब भी मौजूद है। करीब ७० वरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

३ यूरीपिडीज--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटको मे आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर जोर देता था। इसे अपने नाटको पर इनाम मिला था इसकी कविता बडी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मजाक उडाया करता था।

४ एरिस्टोफेनीज--यह एथेन्स का प्रसिद्ध हसोड कवि और नाटककार था। इसका समय करीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटको

मैंनेण्डर[1], पिण्डार[2], सैफो[3], और कुछ दूसरो के सिर्फ नाम ही दिये जा सकते है। लेकिन बडी होने पर तुम उन्हे पढोगी और मुझे आशा है, कि तब यूनान के उस वैभव का कुछ अन्दाज लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह जमाना हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हम किस तरह से पढें। अगर हम यूनानी राज्यो में होनेवाली टुच्ची लडाइयो और ओछेपन की दूसरी बातो पर ही ध्यान देते रहे तो हमें यूनानियो के बारे में क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते है, तो हमें उनके विचारो की तहतक पहुँचना पडेगा और समझना होगा कि वे क्या सोचा-विचारा करते थे और उन्होने क्या-क्या किया है? असल में जो चीज महत्व की है, वह तो है, किसी जाति के मानसिक विकास का इतिहास। और यही वह चीज है, जिसने मौजूदा योरप को बहुत-सी बातो में पुरानी यूनानी सभ्यता का बच्चा बना दिया है।

यह बात भी अजीब और बडी दिलचस्प मालूम होती है कि किस तरह कौमो की जिन्दगी में ऐसे शानदार युग आते है और चले जाते है। थोडी देर के लिए वे हरेक चीज को चमका देते है और उस जमाने और उस देश के पुरुषो और स्त्रियो में सौन्दर्य और कलापूर्ण वस्तुयें बनाने की योग्यता पैदा कर देते है। सारी जाति में एक नई जिन्दगी पैदा हो जाती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए है। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, जो हम जानते है, वह था, जब उपनिषद् और दूसरे ग्रन्थ लिखे गये। दुर्भाग्य से हमारे पास उस जमाने का कोई लिखित इतिहास नहीं है। मुमकिन है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनायें नष्ट हो गई हो या कहीं छिपी पडी हो और खोज करके निकाले जाने की राह देख रही हो। लेकिन फिर भी हमारे पास इतना मसाला जरूर है, जिससे यह बात साफ हो जाती है कि

से उस जमाने की बहुत-सी बातो का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यग चित्रो से उस समय के प्रधान व्यक्तियो का व्यक्तित्व आँखो के सामने खिच जाता है।

१ मैंनेण्डर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटको का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ मे इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० मे पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र मे तैरता हुआ डूब गया।

२ पिण्डार—यूनान का लिरिक कविता का सर्वोत्तम कवि। करीब ५५२ ई० पू० मे इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रो और राजाओ में इसकी कविता की बडी माग रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाकी बची है, जो चार जिल्दो मे है।

३ सैफो—यूनान की प्रसिद्ध कवियत्री। यह ५८० ई० पू० मे हुई। कविता, फैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

उस पुराने जमाने के भारतीय बुद्धि और विचार में कितने बढे-चढे थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी इस तरह के शानदार युग पाये जाते है और सम्भव है, अपने युग-युगान्तरो में घूमते-घामते शायद हमारी किसी शानदार युग से फिर भेंट हो जाय।

एथेन्स उस जमाने में ख़ास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक बड़ा भारी राजनीतिज्ञ था, जिसका नाम पैरिक्लीज था। ३० बरस तक वह एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस जमाने में एथेन्स बहुत ऊँचे दरजे का शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतो से वह भरपूर था और बडे-बडे कलाकार और विचारक वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्लीज का एथेन्स कहा जाता है और पैरिक्लीज के जमाने की हम चर्चा किया करते है।

हमारे इतिहास-लेखक मित्र हेरोडोटस ने, जो करीब-क़रीब इन्हीं दिनो एथेन्स में रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर विचार किया था और हरेक बात का नैतिक परिणाम निकालने की उसे ख्वाहिश रहा करती थी। इसलिए उसनें एक नैतिक परिणाम निकाला था। अपने इतिहास में वह लिखता है :—

> "एथेन्स की ताकत बढी यह इस बात का प्रमाण है—और ये प्रमाण आपको सब जगह मिल सकते है—कि आजादी एक अच्छी चीज है। जबतक एथेन्सवासियो पर निरकुश शासन होता था, वे अपने किसी भी पडोसियो से लडाई में या और किसी बात मे नही बढ पाते थे। लेकिन जबसे उन्होने अपने यहाँ के निरकुश शासको को खत्म कर डाला, तबसे वे अपने पडोसियो से बहुत आगे बढ गये। इससे यह जाहिर होता है कि गुलामी में वे अपनी इच्छा से कोशिश नही करते थे, बल्कि अपने मालिक के स्वार्थ का काम समझकर मजदूरी-सी करते थे। लेकिन जब वे आजाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपनी इच्छा से, बडी लगन से, ज्यादा-से-ज्यादा काम करने लगा।"

मैंने इस खत के शुरू में उस जमाने के कुछ बडे-बडे आदमियो के नाम बताये है। लेकिन मैंने अभी तक एक ऐसे बडे आदमी का नाम नहीं बताया, जो उस वक्त का ही नही, उस सारे युग का सबसे बडा आदमी हुआ है। उसका नाम है सुकरात[1]

१ सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते है। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ४७९ ई० पू० मे हुआ था। ३९९ ई० पू० मे उस पर नौजवानो को बिगाडने और दूसरे देवताओ मे विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था। असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सजा दी गई, और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह खुशी से पी गया। आख़िरी दम तक वह अफलातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बडा विद्वान् था।

या सॉक्रेटीज । यह फिलासफर था और हमेशा सत्य की तलाश में रहता था । उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था । वह अपने मित्रो और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओ पर विचार और चर्चा करता रहता था, जिससे बहस-मुबाहिसे में शायद कोई सचाई निकल आये । उसके कई शिष्य थे, उनमें सबसे बडा प्लेटो[1] या अफलातून था । अफलातून ने कई किताबें लिखी है, जो आज भी मिलती है । इन्हीं किताबो से हमें उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मिलता है । यह तो साफ है कि सरकारे ऐसे आदमियो को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोज में लगे रहते हो--वह सचाई की तलाश पसन्द नहीं करती । एथेन्स की सरकार को, जो कि पैरिल्कीज के जमानें के थोडे दिन बाद ही हुई थी, सुकरात का रग-ढग पसन्द नहीं आया । उस पर मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सज़ा दी गई । सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से बहस-मुबाहिसा करना छोड दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड दिया जा सकता है । लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार दिया और जिस बात को अपना फर्ज समझता था, उसे छोडने के बजाय जहर के प्याले को अच्छा समझा-- जिसे पीकर वह मर गया । मरते वक्त उसने अपने पर इलजाम लगानेंवालो, जजो और एथेंन्सवासियो को सम्बोधित करते हुए उसने कहा —

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हो कि मै सत्य की अपनी खोज को छोड़ दू, तो मै यह कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियो ! मै आप लोगो को धन्यवाद देता हूँ । पर मै आपकी वात मानने के वजाय ईश्वर का हुक्म मानूँगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौपा है और जवतक मेरे दम-मे-दम है, मै अपने इस काम से वाज न आऊँगा । मै अपना यह तरीका वरावर जारी रक्खूगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उससे प्रणाम करके मै यही पूछूगा— 'क्या तुम्हे इस वात मे शर्म नही लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्जत के पीछे लगा रक्खा है और सचाई या ज्ञान की ओर अपनी आत्मा को उन्च वनाने की कोई फिक्र नही कर रहे हो ?' मैं नही जानता कि मौत क्या चीज है । मुमकिन है, वह अच्छी चीज हो—मैं उससे नहीं डरता । लेकिन मै यह जानता हूँ कि अपनी जगह और जिम्मेदारी को छोडकर भाग जाना वुरा काम है । और इसलिए मै जिस चीज को निश्चयपूर्वक वुरा समझता हूँ, उससे, उस चीज को, जो मुमकिन है, अच्छी हो ज्यादा अच्छी समझता हूँ ।"

१, प्लेटो—सुकरात का भक्त और शिष्य था । वह ४२७ ईस्वी पूर्व मे पैदा हुआ था और ३४७ ई० पूर्व में मर गया था । उसने एथेन्स में एक स्कूल (Academy) स्थापित किया था जहाँ फिलास्फी और मेटा फिजिक्स की शिक्षा दी जाती थी । उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखि है जिनमे "प्लेटो का प्रजातन्त्र" अधिक प्रसिद्ध है ।

अपनी जिन्दगी में सुकरात ने सत्य और ज्ञान की बहुत सेवा की । लेकिन इससे भी ज्यादा उनकी सेवा उसने अपनी मौत से की है ।

आजकल तुम अक्सर साम्यवाद और पूजीवाद या अनेक दूसरी समस्याओ के बारे में होनेवाली चर्चाओ को पढा या सुना करती होगी । दुनिया में बहुत-सी मुसीबते और अन्याय पाये जाते हैं । बहुत-से लोग इस दशा से बहुत असन्तुष्ट है और इसे बदलना चाहते हैं । अफलातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओ पर विचार किया था । और इस विषय पर उसने लिखा भी है । इस प्रकार उस जमाने में भी लोग इस बात का विचार करते थे कि किसी देश के समाज या सरकार की शक्ति कैसे बदली जा सकती है, जिससे चारो ओर ज्यादा सुख और शान्ति हो ।

जब अफलातून बूढा होने लगा, एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत मशहूर हो गया, सामने आरहा था । उसका नाम था अरस्तू[1] या एरिस्टाट्ल । महान् सिकन्दर या 'एलेक्जेण्डर दि ग्रेट' का वह शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी । अरस्तू सुकरात और अफलातून की तरह फिलासफी—तत्वज्ञान—की समस्याओ में नहीं उलझता था । वह ज्यादातर कुदरत की चीजो और उसके तौर-तरीको के निरीक्षण में लगा रहता था । इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं । इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का वैज्ञानिक कह सकते है ।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर की तरफ आजाना चाहिए और उसकी तेज जीवन-यात्रा पर नजर डालनी चाहिए । लेकिन यह कल होगा । आज मैंने बहुत काफी लिख डाला है ।

आज वसन्त पचमी है—वसन्त की शुरूआत है । सरदी का छोटा-सा मौसम बीत चुका और हवा का तीखापन जाता रहा । चिड़ियाँ अब ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगी है और अपने गानो से सारे दिन को गुलजार रखती है । और आज से ठीक पन्द्रह बरस पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी ममी के साथ मेरी शादी हुई थी ।

१ अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है । यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता (फिलासफर) था । इसका जन्म ईसा से पहले ३८४ साल मे हुआ था । यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था । इसमे असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाजमी तौर पर पढने पडते है । उसका 'राजनीति' नामक ग्रन्थ वडा प्रसिद्ध है ।

: १७ :

एक मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले ख़त में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हे महान् सिकन्दर के बारे में कुछ लिखा था। मेरा ख़याल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मकदूनिया या मेसीडोनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मकदूनियावाले कई बातो में यूनानियो की तरह थे। उन्हे तुम यूनानियों के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मकदूनिया का बादशाह था।। वह बहुत काबिल था। उसने अपने छोटे से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत प्रभावशाली और चुस्त सेना सगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी वजह तो यह थी कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए जमीन तैयार कर रक्खी थी। सिकन्दर बडा आदमी था या नहीं, यह कह सकना मुश्किल काम है। कम-से-कम मैं अपने अनुकरण करने के लिए उसे वीर नहीं मानता। लेकिन थोडी ही जिन्दगी में उसने दो महाद्वीपो पर अपना नाम अकित कर दिया और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। मध्यएशिया के भीतर के देशो में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास के पन्नो में वह बडा तेजस्वी और शानदार माना गया है। बीसियो शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद है। इनमें सबसे बडा शहर मिस्र का अलेक्ज़ेण्ड्रिया या सिकन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले और जोश से उसका दिल भरा हुआ था। अपने पिता द्वारा सुसगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए वह बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को। लेकिन उनकी ताकत को देखकर वे लोग कुछ दब से गये थे। इसलिए एक-एक करके उन सब यूनानियो ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति सिकन्दर को मान लिया था। इसतरह उन्होनें इस नई ताकत के सामने सिर झुका दिया जो उस समय पैदा हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नहीं माना और बलवा कर दिया। इस पर सिकन्दर ने, उस पर बडी क्रूरता और निर्दयता के

साथ आक्रमण करके, उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत से नगर-निवासियो को कत्ल कर डाला और हजारो को गुलाम बनाकर बेच दिया। अपने इस जंगलीपन के बर्ताव से यूनान को उसने और भयभीत कर दिया। बर्बरता और जंगलीपन की यह और इसी तरह की दूसरी घटनायें ऐसी थी, जो सिकन्दर के हाथो हुई थीं और जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नजरो में तारीफ के काबिल नही रह जाता। हमें नफरत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो जैरैक्सीज का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। दूसरी बार उसने फिर ईरान पर हमला किया और दारा को दूसरी बार फिर हराया। शाहंशाह दारा के विशाल महल को यह कहकर तहस-नहस कर दिया और जला डाला कि जैरैक्सीज ने एथैन्स को जो जलाया था, उसीका यह नतीजा है।

फारसी जबान में एक पुरानी किताब पाई जाती है जो फिरदौसी नामक कवि ने एक हजार वर्ष हुए लिखी थी। उसे शाहनामा कहते है। वह ईरान के बादशाहो की एक तवारीख-सी है। उसमें दारा और सिकन्दर की लडाइयो का भी बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने हिन्दुस्तान से मदद मांगी। 'हवा की तरह तेज़ रफ्तार से चलनेवाला ऊँट-सवार' पुरु या पोरस के पास भेजा, जो उस वक्त हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी जरा भी मदद न कर सका। थोडे दिनो बाद उसे खुद ही सिकन्दर के हमले का मुकाबिला करना पडा। इस किताब में—फिरदौसी के शाहनामे में—एक बडी दिलचस्प बात यह है कि उसमें हिन्दुस्तान की तलवार और कटार का, ईरानी राजाओ और सरदारो द्वारा इस्तेमाल किये जाने का, बहुत काफी जिक्र पाया जाता है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के जमाने में भी हिन्दुस्तान में बढिया फौलाद की तलवारे बनती थी, जिनकी विदेशी मुल्को में बडी कदर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढता गया। उस इलाक़े को, जहा आज हेरात, काबुल और समरकन्द है, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुँच गया। वहीं पर उसकी उस हिन्दुस्तानी राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुकाबिला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में पोरस बताते है। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम

नहीं जानते कि वह क्या था। कहते हैं कि पोरस ने बड़ी बहादुरी से मुकाबिला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसके द्वारा अपने को हरा दिये जाने पर भी उसने उसे उसकी गद्दी पर कायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियो का माण्डलिक यानी गवर्नर हो गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के ख़ैबर के दर्रे को पारकर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[1] के रास्ते हिन्दुस्तान में आया। आज भी तुम्हे इस पुराने शहर के खडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गगा की तरफ बढने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं किया, और सिन्ध नदी की घाटी में से होकर वह वापस चला गया। यह एक शकास्पद बात है कि अगर सिकन्दर हिन्दुस्तान के अन्दर के हिस्से की तरफ बढा होता तो क्या उस की विजय जारी रहती? या हिन्दुस्तानी सेनाओ ने उसे शिकस्त दे दी होती? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि बीच के हिन्दुस्तान के बडे-बडे राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफी मजबूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर क्या चाहता था और क्या नहीं, यह दूसरी बात है पर उसकी सेना ने अपना रास्ता निश्चित कर लिया। कई बरसो से घूमते-घूमते वह बहुत थक गई थी। शायद हिन्दुस्तानी सिपाहियों के रण-कौशल का भी उसपर असर पडा, इसलिए हारने की जोखिम में वह अपने को नहीं डालना चाहती थी। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की ज़िद की और सिकन्दर को राज़ी होना पडा। लेकिन वापसी का सफर बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फौज को बहुत नुकसान पहुँचा। इसके बाद ही ईसा से ३२३ साल पहले सिकन्दर बेबीलन पहुँचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृ-भूमि मक़दूनिया को कभी नहीं देख पाया।

१ तक्षशिला—जिला रावलपिण्डी (पजाब) का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के ज़माने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्द्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छ वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्यएशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे।

इस तरह सिकन्दर ३३ बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान्' आदमी ने अपनी छोटी-सी जिन्दगी में क्या किया ? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। बिला शक वह बहुत बडा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उद्दण्ड हो जाता था। अपने को वह बिलकुल देवता समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसनें अपनें कई सच्चे दोस्तो को क़त्ल कर दिया और बडे-बडे शहरो, को उसके रहनेवालो समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में, अपने बाद वह कुछ भी ठोस चीज़—यहां तक कि अच्छी सडके भी—नहीं छोड गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह यह एकदम चमका और गायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके घर के लोगो ने एक-दूसरे को क़त्ल कर दिया। उसका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। सिकन्दर को ससार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में अब कुछ बाकी नही बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोडकर हिन्दुस्तान को ही वह बिलकुल नहीं जीत पाया था। चीन की उस वक़्त भी बहुत बडी सल्तनत थी लेकिन सिकन्दर उसके नज़दीक तो पहुँच भी नहीं पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियो ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र टालमी[१] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मजबूत राज्य की नीव डाली और एक राज-वश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपनें विज्ञान, दर्शन (फिलासफी) और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक और एशिया माइनर का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूकस के हिस्से में आया। हिन्दुस्तान का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह हिदुस्तान के हिस्से पर अपना अधिकार कायम नही रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

१ **टालमी**—प्रथम सोटर ग्रीक साम्राट्, सिकन्दर, का एक सेनापति था जो उसकी मृत्यु के पश्चात् ३०५ ई० पू० मे मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने टालमी राजवश चलाया, जो ३० ई० पू० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ३८३ ई० पू० से ३६७ ई० पू० तक है। इसने उत्तरी मिस्र मे टालेमाय-नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

सिकन्दर हिन्दुस्तान में ईसा से पहले ३२६ वे साल में आया था। इसका आना नया था, एक तरह का धावा था। हिन्दुस्तान में इसकी वजह से कोई फर्क नहीं आया। कुछ लोगो का खयाल है कि इस धावे से हिन्दुस्तानियो और यूनानियो के आपसी सम्पर्क में मदद मिली। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर के पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशो में आपस में आमदरफ्त थी और हिन्दुस्तान का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढा जरूर होगा और दोनो हिन्दुस्तानी और यूनानी सभ्यतायें बहुत हद तक एक-दूसरे से मिल जुल गई होगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति इण्डस अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से हिन्दुस्तान में एक बहुत बडे साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नीव पडी। हिन्दुस्तान के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके अध्ययन में हमें कुछ समय लगाना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र

२५ जनवरी १९३१

अपने एक खत में मैंने मगध का जिक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस प्रान्त में बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम जिक्र कर रहे हैं, उस वक्त मगध-देश पर नन्दवंश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था, पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नन्दवंश का एक राजा राज्य करता था। चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक, जो सम्भवत इस राज का कोई रिश्तेदार था, वहाँ रहता था। वह बडा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी आदमी मालूम पड़ता था। इसलिए नन्द राजा ने उसे जरूरत से ज्यादा चालाक समझकर और उसके किसी काम से नाराज होकर उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियो की कहानियो से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् और अनुभवी ब्राह्मण भी था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग में बडी-बडी और हौसले से भरी योजनायें थीं, और वे

आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। शायद सिकन्दर के वैभव से चन्द्रगुप्त चकित और उसकी ओर आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। अपने उद्देश्य का पूर्ति के लिए चाणक्य उसे एक आदर्श मित्र, और योग्य सलाहकार मिल गया था। ये दोनो ही सजग रहते थे और गौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने मौक़े की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको मौका मिल गया। ज्योही सिकन्दर के मरने की ख़बर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आगया। उसने आसपास के लोगो को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियो की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया ओर उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायको ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व अर्थात् सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ ५ बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवश का राज्य शुरू होता है। यह साफ-साफ पता नही चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यो कहलाया। कुछ लोगो का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरो की निगहबानी किया करता था और मोर को सस्कृत में मयूर कहते है, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। इस शब्द की पैदायश चाहे जो हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही मशहूर है, ताकि एक दूसरे महान् चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा बादशाह हुआ है, उसके व्यक्तित्व को अलग कर सके।

महाभारत में और दूसरी पुरानी किताबो और कथाओ में हमें चक्रवर्ती राजाओ का जिक्र मिलता है, जो सारे हिन्दुस्तान पर राज्य करते थे। लेकिन हमें उस जमानें का हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते है कि भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक़्त के जो किस्से चले आते है, उनमें पुरानें राजाओ की शक्ति को बढ़ा चढ़ाकर बताया गया हो। ख़ैर, जो कुछ भी हो। चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में हिन्दुस्तान के मजबूत और विस्तृत भारतीय साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ है कि ऐसे शासन और राज्य एकदम से पैदा नहीं हो जाते। बहुत दिनो से कई प्रवृत्तियाँ होती चली आई होगी, छोटे-छोटे राज्य आपस में मिलते रहे होगे और शासन-कला में उन्नति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस ने, जिसे विरासत

मे एशिया माइनर से लेकर हिन्दुस्तान तक के देशो का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पारकर हिन्दुस्तान पर हमला किया । पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पडा । चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुंह लेकर लौट जाना पडा । बल्कि यहाँ से कुछ प्राप्त करने के बजाय काबुल और हिरात तक गाधार या अफगानिस्तान का एक बहुत बडा हिस्सा उलटा उसे चन्द्रगुप्त को दे देना पडा । चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस की लडकी से शादी भी करली । उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफगानिस्तान के एक हिस्से में, कबुल से बगाल तक और अरब सागर से बगाल की खाडी तक फैल गया । सिर्फ दक्षिण हिन्दुस्तान उसके मातहत नहीं था । इस बडे साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी ।

सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज को अपना दूत बनाकर भेजा था । मेगस्थनीज ने उस ज़माने का एक बडा दिलचस्प वर्णन लिखा है, जो अभी तक पाया जाता है । लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफसीलवार हाल मिलता है । इस किताब का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' । यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है सम्पत्ति का शास्त्र या विज्ञान ।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातो पर इसमें चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में विस्तार से बता सकना मेरे लिए मुमकिन नहीं है । उसमें राजाओ के धर्म का, उसके मंत्रियो और सलाहकारो के कर्त्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभाग का, गवर्नमेन्ट का, व्यापार और तिजारत का, गाँव और क़स्बो के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाज का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगो के पालन का, शादी और तलाक़ का, टैक्स का, खुश्की सेना और जलसेना का, लडाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती का, कातने और बुनने का, कारीगरो का, पासपोर्ट और जेलो तक का ज़िक्र है । मै इस फहरिस्त को और भी बढ़ा सकता हूँ लेकिन मै इस खत का हैंडिग 'कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्याय' नहीं देना चाहता ।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय जनता के हाथो से शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पडती थी और प्रतिज्ञा करनी पडती थी कि "अगर मै तुम्हे सताऊँ तो मै स्वर्ग न पाऊँ, मेरे जीवन का अन्त हो जाय और मै सन्तान से वञ्चित रहूँ ।" इस पुस्तक में राजा की दिनचर्या दी हुई है । उसके मुताबिक़ राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए । क्योकि

जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी चुस्त होगी।

'प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है। जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छा न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छा समझे।'

इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द गायब हो जायेंगे। लेकिन यह एक ध्यान देने लायक बात है कि प्राचीन भारत में राजा बनने का मतलब जनता की सेवा करना था। उस समय राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके पास कोई निरकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता को हक था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुकर्रर कर दे। उन दिनो यही सिद्धान्त और आदर्श था। फिर भी उस समय बहुत से राजा ऐसे हुए हैं जो इस आदर्श से नीचे गिरे हुए थे और जिन्होंने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतो में फँसाया था।

अर्थशास्त्र में इस पुराने सिद्धान्त पर भी बहुत ज्यादा जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा।'[1] इससे जाहिर होता है कि उस जमाने में किसी न किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहने वाले होंगे।[2] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायें।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बडा शानदार शहर था और गगा के किनारे नौ मील तक आगे बढ़ा हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौसठ मुख्य फाटक थे और सैकडो छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकडी के बने हुए थे और चूंकि आग लगने का डर रहता था इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तिजाम था। खास-खास सडको पर पानी से भरे हजारो घडे हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घडे, सीढी, काँटा और दूसरी जरूरी चीजें रखनी पडती थीं जिसमे कि आग लगने पर बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरो के बारे में एक ऐसे नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हे बहुत दिलचस्प मालूम होगा। वह यह कि अगर कोई आदमी सड़क पर कूडा फेंकता था

१ 'न त्वेवाऽर्य्यस्य दास भाव'—कौटिल्य

२ 'म्लेच्छानामदोष प्रजा विक्रेतुमाधातुवा'—कौटिल्य

तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सडक पर कीचड या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन कायदो पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर, सुथरे और साफ रहे होगे। मै चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियो में भी इसी तरह के कुछ नियम बना दिये जायँ।

पाटलिपुत्र में इन्तज़ाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौंसिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस मेम्बर होते थे और पाँच-पाँच मेम्बरो की छ कमिटिया बनाई जाती थी। व्यवसाय और शहर की हाथ की कारीगरी का इतजाम इन्हीं कमिटियो के हाथ में रहता था। पूरी कौंसिल सफाई, आमद-खर्च, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचे और सार्वजनिक इमारतो का इन्तजाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पचायते और अपील सुनने के लिए अदालते थीं। अकाल-पीडितो की मदद का खास प्रबध होता था। राज्य के सारे भण्डारो का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा रिजर्व (सुरक्षित) रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थनीज की बयान की हुई कुछ बातो का जिक्र यहाँ किया है। इनसे भी तुम्हे मोटे तौर पर यह पता चल जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत से बडे-बडे शहरो और हजारो कस्बो और गाँवो तक सारे देश में जीवन गूज रहा था। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बडी-बडी सड़के थी। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरे थीं और उनकी देख-भाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहो, घाटो, पुलो और एक जगह से दूसरी जगह तक आते-जाते रहनेवाले बहुत से जहाजो और नौकाओ की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र पार चीन और बर्मा तक जाते थे। इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक राज किया। ईसा से पहले २९६ वे वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

: १६ :

तीन महीने

क्रेकोविया जहाज से—
२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हे ख़त लिखे बहुत दिन हो गये। करीब तीन महीने—दु ख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुजर गये। हिन्दुस्तान के और सबसे बढकर हमारे कुटुम्ब के, परिवर्तन के ये तीन महीने! हिन्दुस्तान ने थोडे दिनो के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नहीं हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुजुर्ग खो दिया जिसने हमें बल और स्फूर्ति दी थी, जिसकी आश्रयदायिनी देख-रेख में हम सब बडे हुए और अपनी जन्मभूमि भारतमाता के प्रति शक्तिभर अपना फर्ज अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है। वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातो के बारे में तुम्हे ख़त लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हे चन्द्रगुप्त और उसके बनाये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे में लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगो का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवताओ के प्रिय महान् अशोक' का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गायब हो गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा। हम लोगो के लिए यह एक बहुत बडा दिन था, क्योकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे हिन्दुस्तान में, शहरो और गांवो में, आजादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और लाखो की तादाद में हमने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की थी। तब से एक साल बीत गया—सघर्ष का, मुसीबतो का और विजय का एक साल और एक बार फिर हिन्दुस्तान उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनीजेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली सभाओ, जलूसो, लाठी-प्रहारो और गिरफ्तारियो का ख़याल हो आया। गर्व, प्रसन्नता और क्लेश के साथ मैं इन सब बातो का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एक दम रुक गई। बाहर से ख़बर मिली कि दादू बहुत बीमार है और उनके पास जाने के लिए मैं फौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। मेरी कल्पना ख़तम हो गई। चिन्ता से भरकर मैं सारा सोचना-विचारना भूल गया। तुम्हे जो ख़त लिखना

शुरू किया था वह एक ओर रख दिया और नैनी-जेल से आनन्द भवन के लिए रवाना हो गया।

दस दिन तक मै दादू के साथ रहा उसके बाद वह हमें छोडकर चल दिये। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातनाओ को और यमदूतो से उनके वीरतापूर्ण सग्राम को देखते रहे। अपनी जिन्दगी में उन्होंने बहुत-सी लडाइयाँ लडीं और बहुत बार वह विजयी हुए। हार मानना तो वह जानते ही न थे और मौत को अपने सामने खडा हुआ देखकर भी वह पीछे हटने को तैयार नहीं हुए। जब मै उनके इस आखिरी सग्राम को देख रहा था, और जिन्हे मै इतना प्यार करता था उन्हे मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था तो मुझे कुछ पक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी में पढी थीं, याद आ गईं, जिसका अर्थ यह है—

> "मनुष्य देवदूतो के सामने हार नही मानता और न वह मौत के सामने ही सिर झुकाता है, जब कभी वह हार मानता है, अपनी क्षीण इच्छाशक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फरवरी को सुबह वह हमें छोडकर चल दिये। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसीमें उनका शरीर लपेटकर उन्हे हम लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोडी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गगा ने इस अनमोल विभूति को बहाकर समुद्र में पहुँचा दिया।

लाखो आदमियो ने उनके लिए शोक मनाया लेकिन हम सब उनके बच्चो पर, जो उनके मास और उनकी हड्डियो से बने हैं, क्या बीती ? और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगो के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान निकल गई। और हम उसके बरामदो में, उन्हीं का बराबर ख़याल करते हुए, जिन्होने इसे बनाया था, सशक भाव से दबे पाँव चलते है कि कही उनकी शाति भग न हो जाय।

उनके लिए हम शोक करते है और कदम-कदम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते है, लेकिन न तो दु ख कम होता और न उनके बिछोह की असह्यता ही कम होती दीखती है। लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि जो कुछ हम इस समय कर रहे है, वह उन्हे कभी पसन्द न आयेगा। उन्हे यह हरगिज पसन्द न होगा कि हम दु ख से पस्त हो जायें। वह तो यही चाहेगे कि जिस तरह उन्होंने अपनी तकलीफो का मुकाबिला किया वैसा ही हम अपने रज का मुकाबिला करे और उस पर विजय पायें। वह चाहेगे कि जो काम उन्होने अधूरा छोड़ा है, उसे हम आगे

रक्खें। तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं और कैसे हम शोक के सामने सिर झुका सकते हैं? हिन्दुस्तान की आजादी का मसला हमारी सेवाओ की माँग कर रहा है। इसी उद्देश्य के लिए ही तो उन्होने जान दी। इसीके लिए हम जिन्दा रहेगे, कोशिश करेगे, और अगर जरूरत हुई तो जान भी देंगे। कुछ भी हो हम उनकी सन्तान हैं और हममें उनकी लगन, ताक्त, दृढता और जोश का कुछ-न-कुछ अश मौजूद है।

इस समय जब मैं ये सतरे लिख रहा हूँ नीले रग का अथाह अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ बहुत दूर के फासले पर हिन्दुस्तान का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस सीमा-रहित और अपार विस्तार का खयाल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की छोटी-छोटी बैरको और उसकी ऊँची दीवारो से करता हूँ, जहाँ से मैंने तुम्हे पिछले खत लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा साफ-साफ मेरे सामने नजर आ रही है। लेकिन जेल में कैदी का क्षितिज तो दीवारो की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत से, जो जेलो में थे, आज बाहर है और बाहर की आजाद आबोहवा में रह रहे हैं। लेकिन हमारे बहुत से साथी अभी तक अपनी तग कोठरियो में बन्द हैं और समुद्र, जमीन या क्षितिज के दर्शन से वचित है। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आजादी मिलनी बाकी है। और हमारी आजादी किस काम की, अगर भारत आजाद न हुआ?

: २० :

अरब सागर

क्रेकोविया जहाज
२२ अप्रैल, १९३१

यह एक आश्चर्य की बात है कि हम इस क्रेकोविया जहाज पर बम्बई से लका जा रहे हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि करीब चार बरस पहले मैं किस तरह वेनिस में इसके आने का इन्तजार कर रहा था। उस समय दादू इसी जहाज से वेनिस आ रहे थे और मैं स्वीजरलैण्ड के वेक्स स्कूल में तुम्हे छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रेकोविया जहाज से दादू योरप से हिन्दुस्तान वापस लौटे और मैं उनसे बम्बई में मिला था। उस सफर के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत से अनुभव सुनाते रहते है।

मैंने तुम्हे कल के खत में पिछले तीन महीनो में क्या से क्या होगया, इसका हाल

लिखा था। इन पिछले कुछ हफ्तो में एक बात ऐसी हुई है जो मै चाहता हूँ कि तुम याद रक्खो, जिस तरह कि हिन्दुस्तान उसे बहुत बरसो तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में हिन्दुस्तान का एक बहादुर सिपाही चल बसा। गणेशशकर विद्यार्थी उस समय मारे गये, जब वह दूसरो को बचाने के लिए कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्रिय दोस्त थे, एक बहुत भले तथा नि स्वार्थ साथी-कार्यकर्त्ता (कामरेड) थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगो के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक हिन्दुस्तानी ने दूसरे हिन्दुस्तानी को कत्ल करना शुरू कर दिया, तो गणेश जी आग में कूद पडे—अपने किसी देश-भाई से लडने के लिए नहीं—बल्कि उन्हे बचाने के लिए। उन्होने सैकडो को बचाया, सिर्फ अपने को वह नहीं बचा सके, इसकी उन्होनें परवाह भी नहीं की और उन्हीं आदमियो के हाथो से, जिन्हे कि वह बचा रहे थे, उनकी मौत हुई। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्रिय और बुद्धिमान मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होने शान्ति और गम्भीर भाव से, निर्भीकता के साथ गुण्डों के पागलपन का मुक़ाबिला किया और खतरे और मौत के बीच भी उन्हे खयाल था सिर्फ दूसरों को बचानें का।

तब्दीलियो के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूद के समान और कौम की जिन्दगी में एक पल के समान। सिर्फ तीन हफ्ते पहले मै मोहेनजोदारो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी की घाटी में है। उस समय तुम मेरे साथ नहीं थी। मैंने वहाँ एक बहुत बडा शहर जमीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमें मजबूत ईंटो के मकान और लम्बी-चौडी सडकें थीं और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हजार बरस हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर में मिले हुए सुन्दर-सुन्दर जेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भडकीले कपडे पहने हुए मर्द और औरतें इसकी सडको और गली-कूचो में आ-जा रहे है, बच्चे-बच्चो के-से खेल खेल रहे है, माल से भरा बाजार गुलजार हो रहा है, लोग सौदा ले-दे रहे है और मन्दिरो की घटियां बज रही है।

इन पाच हजार वर्षों तक हिन्दुस्तान जिंदा रहा और उसने बहुत-से परिवर्तन देखे। मै बाज वक्त यह सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी सुन्दर और नौजवान है, अपने बच्चो की बेसबरी पर, उनकी छोटी-मोटी चिन्ताओ पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते है और फिर खत्म हो जाते है, मुसकराती न होगी ?

: २१ :

अवकाश और स्वप्नयात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हुए, जब मैने तुम्हे नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में ख़त लिखा था। इसके तीन महीने वाद पत्र-माला के उसी सिलसिले में मैने अरब सागर से तुम्हे दो ख़त और लिखे थे। उस समय मै कैकोविया जहाज से लका जा रहा था। जैसा कि उस वक्त मैने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक बिछा हुआ था, मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लका पहुँचे और महीने भर तक बडे आनन्द से छुट्टियाँ मनाई और अपनी चितायें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता या इफरात देखकर आश्चर्य-चकित होगये। कैंडी, नुवाराइलिया, और प्राचीन वैभव के चिन्हो और खण्डहरो से भरपूर अनुरुद्धपुर आदि जहाँ-जहाँ हम गये, उन जगहो की याद करके कितना आनन्द आता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है उन ठण्डे और हरे-भरे जंगलो की याद करके, जिनमें अगाध जीवन निखरा पडता है और जो हज़ार-हज़ार आँखो से हमें देखा करते है; अथवा पतले-सीधे और सच्चे, सुन्दर सुपारी के वृक्षो की याद से, नारियल के असंख्य पेडो की सुध से, और ताल-वृक्षो से सुसज्जित समुद्र तट के ध्यान से, जहाँ इस द्वीप की पन्नामणि के समान हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओ को मिलाती है, जहाँ सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरो से अठखेलियाँ करता है और वायु तालवृक्षो से होकर मर्मर ध्वनि करती और सनसनाती हुई निकल जाती है।

भूमध्य-रेखा के पासवाले किसी गरम प्रदेश में यह तुम्हारी पहली यात्रा थी, और सिवाय इसके कि बहुत दिन हुए मै थोडे दिनो के लिए आया था, जिसकी याद करीब-करीब जाती रही है—मेरे लिए भी यह एक नया अनुभव था। इस तरफ मै आकर्षित नहीं था। मुझे गर्मी का डर था। मुझे तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा ऊँचे बरफिस्तान और ग्लैशियर अच्छे मालूम होते है। लेकिन लका के थोडे ही दिनो के निवास से मुझे गरम प्रदेश की मनोहरता और मोहकता का भी कुछ पता लगा। और मै जब वापस आया तो यह लालसा लिये हुए कि मौक़ा मिला तो इस प्रदेश में फिर कभी आऊँगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते ख़त्म हो गया। हम

समुद्र का तंग रास्ता पार करके हिन्दुस्तान के दक्षिणी नाके पर पहुँचे। क्या तुम्हें अपने कन्याकुमारी चलने की याद है। यहाँ, कहते हैं कि कुमारी देवी निवास करती और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड-मरोड कर भद्दे करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कामोरिन' कहते हैं। उस वक्त वहाँ हम सच-मुच भारतमाता के चरणों में ही बैठे थे, और वहीं हमने अरब सागर और बंगाल की खाडी का संगम देखा था। उस समय हमें यह सोचकर कितना अच्छा लगता था कि ये दोनों भारत के चरण-कमलों की पूजा कर रहे हैं! उस स्थान पर अद्भुत शान्ति थी। यहाँ बैठे-बैठे मेरा मन हिन्दुस्तान के दूसरी छोर पर कई हजार मील दूर दौड गया, जहाँ हिमालय की चोटी पर अनन्तकाल से बरफ जमा हुआ है और जहाँपर असीम शान्ति का साम्राज्य है। लेकिन इन दोनों के बीच में तो काफी अशान्ति है, गरीबी है और मुसीबतें हैं!

हम कन्याकुमारी से विदा हुए और उत्तर की तरफ चले। त्रावणकोर और कोचीन होते हुए और मलाबार की झीलों को पार करते हुए हम आगे बढे। ये सब स्थान कितने सुन्दर थे! हमारी नाव पेडों से घिरे दोनों किनारों के बीच से, चाँदनी रात में कितनी शान्ति से बहती जाती थी, मानो यह सब बिलकुल एक तरह का स्वप्न हो। इसके बाद हम लोग मैसूर, हैदराबाद और बम्बई गये और आखीर में इलाहाबाद पहुँचे। यह नौ महीने पहले अर्थात् जून महीने की बात है।

लेकिन आजकल तो हिन्दुस्तान में जितने रास्ते हैं, वे सब हमें, जल्द या देर में, एक ही जगह पहुँचाते हैं। सारी यात्रायें चाहे वह स्वप्न की हो या असली, जेलखाने में ही जाकर समाप्त होती हैं। और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारों के अन्दर पहुँच गया, जहाँ मुझे सोचने के लिए और तुम्हें खत लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचे या न पहुँचे—बहुत काफी वक्त मिलता है। लडाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी स्त्री और पुरुष, लडके और लडकियाँ आगे बढ रही हैं और इस मुल्क को गरीबी की लानत से—दरिद्रता के शाप से—पीछा छुडाने के लिए, स्वतन्त्रता की लडाई में हिस्सा ले रही हैं। लेकिन स्वतन्त्रता एक ऐसी देवी है जिसको खुश करना मुश्किल होता है। पुराने जमाने की तरह आज भी यह अपने भक्तों से, आदमियों की कुर्बानी चाहती है—नर-बलि चाहती है।

आज मेरे तीन महीने पूरे हुए। तीन महीने पहले, आज ही के दिन—२६ दिसम्बर को—मैं छठी बार गिरफ्तार किया गया था। चिट्ठियों के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैंने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग वर्तमान की चिन्ताओं से भरा हुआ हो तो सुदूर पुरातन के बारे में सोचना कितना

मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर होनेवाली घटनाओ की चिन्ता से पीछा छुडाने में कुछ वक्त लग जाता है। अब मैं तुम्हे बराबर खत लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मै एक दूसरी जेल में हूँ और यह तबदीली मेरी पसन्द की नही है। इससे मेरे काम में थोडा विघ्न पडता है। मेरा क्षितिज इस स्थान पर पहले के सब स्थानो से ज्यादा ऊँचा हो गया है। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है—कम-से-कम ऊँचाई में तो जरूर—उसका सम्बन्ध चीन की दीवार से है। यह करीव २५ फीट ऊँची है और हर रोज सुबह सूरज को इसपर चढकर हमारे पास तक पहुँचने में डेढ घटे से ज्यादा लग जाता है। हमारा क्षितिज थोडी देर के लिए परिमित है, तो होने दो, लेकिन विशाल नीले समुद्र के और पहाडो और रेगिस्तानो के बारे में सोचना और दस महीने पहले, तुमने, तुम्हारी ममी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की थी—जो अब शायद ही सच जान पडती हो—उसका खयाल करना बहुत भला मालूम होता है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँसे हमने उसे छोडा था, फिर शुरू करे और पुराने जमाने की कुछ झलक देखने की कोशिश करे। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है। फिर इसके सारे हिस्सो पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। हमारी यह आदत-सी हो गई है कि हम उसके किसी खास हिस्से में ही उलझ जाते है और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते है। हममें से करीब-क़रीब सभी यह समझते है कि हमारे अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशो के इतिहास से ज्यादा गौरवपूर्ण और अध्ययन के अधिक योग्य है। इस प्रवृत्ति के खिलाफ मै एक बार पहले भी तुम्हे चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर चेता देना चाहता हूँ। इस जाल में फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हे इन खतो का लिखना शुरू किया था। लेकिन फिर भी कभी-कभी मै महसूस करता हूँ कि मैं खुद वही गलती कर बैठता हूँ। लेकिन जब मुझे शिक्षा ही दूषित मिली हो या इतिहास जो मुझे पढाया गया, वही ऊँट-पटाग था तो मेरा इसमें क्या कसूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में विशेष अध्ययन करने की कोशिश

की और उसमें मुझे शायद कुछ हदतक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओ और व्यक्तियो की जिन तसबीरो को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनो में लटकाया था उन्हे वहाँसे उतार नहीं सकता। और इतिहास सम्बन्धी मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफी परिमित है, इन तसबीरो का भी असर पडता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूँगा उसमें मुझसे गलतियां होगी। बहुत-सी बेमतलब बाते लिख जाऊँगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातो का जिक्र तक करना भूल जाऊँगा। दरअसल ये खत इसलिए लिखे भी नहीं गये है कि वे इतिहास की पुस्तको की जगह लेले। ये तो उस आपसी छोटी-सी बात-चीत के स्थान पर है——कम-से-कम मैं तो उन्हे ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ——जो हम दोनो में होतीं, अगर एक हजार मील का फासला और कई ठोस दीवारे हम दोनो को जुदा न करती होतीं।

मैं उन बहुत-से मशहूर आदमियो के बारे में तुम्हे लिखे बिना रह नहीं सकता जिनके शानदार कामो से इतिहास के पन्ने भरे हुए है। वे अपने ढग के खुद बहुत मजेदार आदमी हुए है और उनसे हमें यह पता चलता है कि जिस जमाने में वे हुए थे, वह कैसा था। लेकिन इतिहास सिर्फ बडे-बडे आदमियो, बादशाहो, सम्राटो या उन्हींकी तरह के दूसरे आदमियो के कारनामो का रजिस्टर भर नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खतम हो जाना चाहिए था। क्योंकि बादशाह और शाहंशाह दुनिया के रंगमच पर अब अकडकर चलते हुए दिखाई नहीं देते। लेकिन जो स्त्री या पुरुष वास्तव में महान् है उन्हें अपनी विशेषता प्रकट करने के लिए किसी ताज या तख्त, अथवा हीरे-जवाहरात या खिताबो की जरूरत नहीं पडती। इनकी जरूरत तो सिर्फ राजाओ और नवाबो को ही होती है जिनके अन्दर कोई तत्व नहीं होता और जिन्हे अपनी नग्नता छिपानें के लिए इस तरह की वर्दियाँ और राज-पोशाके पहननी पडती है। इस जाहिरा दिखावे की वजह से हममें से बहुत से आदमी बदकिस्मती से धोखे में फँस जाते है और "सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा समझने की ग़लती करने लगते है।"

इधर-उधर के कुछ इने-गिनें व्यक्तियो का वर्णन वास्तविक इतिहास का विषय नहीं है। उसका विषय तो वे सब लोग है, जो मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते है, जो मेहनत करते और अपने परिश्रम से जीवन की जरूरतो और ऐशो-आराम की चीजो को पैदा करते है, और जो हजारो तरीको से एक दूसरे को प्रभावित करते है। मनुष्य का इस तरह का इतिहास अगर लिखा जाय तो सचमुच बडा मनोरजक होगा। उसमें इस बात का विवरण होगा कि बहुत प्राचीन काल में

मनुष्य प्रकृति और उसके तत्वो के विरुद्ध, जगलो और जगली जानवरो के खिलाफ कैसे सघर्ष करता रहा। फिर अन्त में विवरण होगा उस कठिन सघर्ष का, जो अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगो के खिलाफ उसे करना पडा, जो अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश करते थे। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के सघर्ष की कहानी है। लेकिन चूंकि जिन्दा रहने के लिए चन्द चीजो, जैसे अनाज, घर और ठडे मुल्को में कपडे वगैरा का होना जरूरी है, इसलिए जिन लोगो का इन आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो पर अधिकार था, उन्होने आदमियो पर अपनी हुकूमत जमा ली। हाकिमो और राजाओ के हाथ में प्रभुता रही है, क्योकि जीविका के कुछ आवश्यक साधनो पर उनका नियन्त्रण था। इस नियन्त्रण से उन्हे जनता को भूखो मारकर अपने वश में कर लेने की शक्ति मिल गई, और इसी वजह से हमें यह आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बडे जन-समुदाय को चूसते है, बहुत से आदमी बिना कुछ मेहनत किये ही रुपया कमाते है और बहुत ज्यादा सख्या ऐसे लोगो की है जो मिहनत तो बहुत करते है, लेकिन पाते बहुत कम है।

अकेले शिकार करनेवाला जगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है। फिर सारा परिवार मिलकर एक दूसरे के फायदे के लिए मेहनत करता है। इसके बाद बहुत से कुटुम्ब मिल जाते है और एक गाँव बन जाता है, और बाद में कई गाँवो के मजदूर, व्यापारी और कारीगर लोग मिलकर एक सघ बना लेते है। इस प्रकर धीरे-धीरे सामाजिक इकाई—यूनिट[१], बढने लगती है। शुरु में व्यक्ति एक जगली आदमी था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नही था। उसके बाद कुटुब के रूप में दूसरी बडी यूनिट सामने आती है। उसके बाद गाँव और फिर उन गाँवो का एक सघ बनता है। इस सामाजिक सघ की वृद्धि क्यो हुई ? इसलिए कि जीविका के सग्राम ने मनुष्य को वृद्धि और सहयोग के लिए मजबूर कर दिया था। समान शत्रु से अपना बचाव करने या उसपर हमला करने में अगर सहयोग के साथ काम किया जाय तो अकेले की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रभावशाली होता है। सहयोग से काम करने में फायदा भी रहता है। अकेले काम करने की तुलना में मिल-जुलकर काम करने से खाने की चीजे और दूसरी आवश्यकताओ की चीजें कहीं ज्यादा पैदा की जा सकती है। काम के इस सहयोग के परिणाम स्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा—जहाँ पहले एक जगली पुरुष अकेला अपनी रोजी की तलाश में जगलो में शिकार करता भटकता था, वहा अब उनके बडे-बडे समूह बन गये और

१ यूनिट—या इकाई का अर्थ है छोटी-से-छोटी, किन्तु पूर्ण एक वस्तु या मात्रा।

रोजी के लिए सम्मिलित प्रयत्न होने लगे। यह बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाइयो में जो प्रगति होती गई उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो।

इतिहास के लम्बे विस्तार में हम देखते चले आरहे हैं कि हमेशा के संघर्ष, बेशुमार मुसीबतो और कभी-कभी अध पतन के बीच तक में यह उन्नति बराबर जारी रही है। लेकिन इससे तुम यह न समझ बैठना कि इस उन्नति का मतलब यह है कि दुनिया बहुत आगे बढ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। संभव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो। लेकिन उसमें अभी तक पूर्णता नहीं आई है, उसमें अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफी मुसीबतें पाई जाती हैं।

जैसे-जैसे ये आर्थिक और सामाजिक इकाइयां बढ़ती गई, जिन्दगी ज्यादा-से-ज्यादा पेचीदा होती गई। व्यापार और तिजारत ने तरक्की की। दान की जगह पर अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्का पैदा हुआ, जिसने हर किस्म के व्यवहार में बडा भारी अन्तर पैदा कर दिया। सिक्के के पैदा होते ही व्यापार एकदम आगे बढ गया, क्योंकि सोने और चादी के सिक्के के रूप में दाम दिये जाने की वजह से व्यापारिक माल की अदला-बदली आसान हो गई। इसके बाद अब सिक्को का भी इस्तेमाल हमेशा जरूरी नहीं रहा। लोगो ने उनके बदले उनके प्रतीक का इस्तैमाल करना शुरू कर दिया। कागज का टुकडा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, सिक्के की बराबरी का समझा जाने लगा। इस प्रकार बैंक नोट और चेको का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब हुआ कि उधार या साख पर व्यापार चलने लगा। साख या उधार की प्रणाली के कारण व्यापार और तिजारत में बहुत मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आज-कल चेक और बैंक-नोटो का काफी इस्तेमाल होता है। समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये इधर-उधर नहीं फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यो ज्यो धुधले अतीत में से इतिहास आगे बढता है, लोग उत्पत्ति ज्यादा से ज्यादा बढ़ाते जाते हैं और जुदे-जुदे व्यापारो में विशेष दक्षता प्राप्त करते जाते हैं। हम उन्हे आपस में माल की अदला-बदली करते और इस तरह व्यापार की उन्नति करते देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि माल के मॅगाने और भेजने के लिए नये और अच्छे-से-अच्छे साधन पैदा हुए, खासकर पिछले सौ बरसो में जब भाप का इजन बना, इसमें और भी ज्यादा तरक्की हुई। ज्यो-ज्यो पैदावार बढी, दुनिया की सम्पति बढी और कम-से-कम कुछ आदमियो को ज्यादा फुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते है उसका विकास हुआ।

ये सब बातें हुई। लोग आजकल के उन्नति-शील युग, आधुनिक सभ्यता,

महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारो पर गर्व करते और उसकी डीगें मारते हैं। लेकिन गरीब लोग अभी भी गरीब और दुखी बने हुए हैं। बडे-बडे राष्ट्र एक दूसरे से लडाई करते हैं और लाखो आदमियो का कत्ल कर डालते हैं, हमारे देश जैसे बडे-बडे देशो पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर मे आजादी नसीब नही है। लेकिन हम जाग चुके हैं, और आगे बढने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आजकल के ऐसे हलचल के जमाने में रह रहे हैं, जबकि हर-एक आदमी इस महान् साहस पूर्ण कार्य में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ हिन्दुस्तान को ही नही बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है। तुम बडी खुशकिस्मत लडकी हो, कि तुम उस महान् इन्किलाब के शुरू होने के साल और महीने में पैदा हुई, जिसने कि रूस में नया युग पैदा कर दिया और आज तुम अपने ही देश में एक क्रांति देख रही हो और बहुत मुमकिन है कि इस क्रांति में तुम भी कुछ कर दिखाओ। सारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और तब्दीली हो रही है। सुदूर पूर्व में जापान चीन का गला पकडे बैठा है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लडखड़ा रही है और धडाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बाते तो करते हैं नि:शस्त्रीकरण की, लेकिन एक-दूसरे को सन्देह की नजर देखते हैं और सभीने अपनेको एडी से चोटी तक हथियारबन्द कर रक्खा है। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, यह आख़िरी टिम-टिमाहट है। जिस दिन यह ख़त्म होगा, और ख़त्म तो उसे ज़रूर होना ही पडेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयो को भी लेता जायगा।

: २२ :

सिंहावलोकन

२१ मार्च, १९३२

प्राचीन जमाने की अपनी सफर मे हम कहाँ तक पहुँचे हैं? हमने मिस्र, हिन्दुस्तान, चीन और नोसास के पुराने जमाने की कुछ चर्चा की है। हमने देखा कि मिस्र की पुरानी और अद्भुत सभ्यता जिसने पिरेमिड पैदा किये, धीरे-धीरे कैसे जर्जर और दुर्बल हो गई और किस प्रकार वह एक खोखली सी चीज रह गई, जिसमें सिवाय दिखावे की निर्जीव चीजो के असली जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि खास यूनान की एक कौम ने नोसास को किस तरह नष्ट

कर डाला। हिन्दुस्तान और चीन के धुंधले और प्राचीन समय की भी हमने झलक देखी, यद्यपि काफी सामग्री न होने की वजह से हम उस विषय में ज्यादा नहीं जान सके लेकिन इतना हमने जरूर देखा कि उस जमाने में भी इन स्थानो की सभ्यता कितनी ऊँची उठी हुई थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनो देश किस तरह, सस्कृति के सबध में, अपने हजारो वर्ष पुराने वक़्त की अटूट लडियो से जुडे हुए है। इराक में हमें उन साम्राज्यो की झलक मिली, जो एक के बाद एक थोडे दिनो के लिए फूले-फले और फिर उसी रास्ते पर पहुँच गये, जिस पर चलकर सारे साम्राज्य नष्ट हो जाते है।

हमने जुदा-जुदा देशो के कई बडे-बडे विचारको का भी कुछ जिक्र किया है जो ईसा से पाच-छ सौ बरस पहले पैदा हुए थे—हिन्दुस्तान में बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ्यूशियस और लाओ-जे, ईरान में जरथुस्त और यूनान में पाइथागोरस। हमने देखा कि बुद्ध ने हिन्दुस्तान के पुराने वैदिक धर्म के उस समय के रूप पर और ब्राह्मणो की पुरोहिताई पर किस तरह हमला किया था, क्योकि उन्हे पता लग गया था कि कई प्रकार के अन्धविश्वास, और पूजा-पाठ के जरिये साधारण जनता को ठगा और मूडा जा रहा है। उन्होने जाति-प्रथा के खिलाफ आवाज उठाई और समानता का प्रचार किया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गये जहा एशिया और योरप एक-दूसरे से मिलते है। ईरान और यूनान की किस्मत पर नजर डालते हुए हमने देखा कि ईरान में कितना बडा साम्राज्य क़ायम हुआ और किस तरह दारा ने, जो बादशाहो का बादशाह कहलाता था, उसे हिन्दुस्तान में सिन्ध तक फैला दिया। किस तरह इस साम्राज्य ने छोटे से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन उसे यह देखकर हैरान हो जाना पडा कि किस तरह छोटी सी चीज भी उलट कर ठोकर मार सकती है और डटकर अपनी हिफाजत कर सकती है। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह छोटा-सा लेकिन शानदार जमाना आया, जिसके बारे में मै तुम्हें कुछ बता चुका हूँ। उस युग में वहाँ अनेक प्रतिभाशाली और महान् पुरुष पैदा हुए जिन्होंने अत्यन्त सुन्दर साहित्य और कला का निर्माण किया।

यूनान का यह सुवर्ण युग बहुत दिनो तक कायम नहीं रहा। मक़दूनिया के सिकन्दर ने अपनी विजयों से यूनान का नाम बहुत दूर चारो ओर मशहूर कर दिया, लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊँची सस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर इसमें शक नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनापति था। पुराने साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता की हैसियत से हिन्दुस्तान को पार किया।

जमाने से उसके बारे में जो किस्से चले आते है उनमें उसके सम्बन्ध में बेशुमार अजीब-अजीब बातें जोड दी गई है और इस तरह उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितने का कि वह शायद हकदार नही था। कुछ अच्छे पढे-लिखे लोग ही सुकरात अफलातून, फीडियस[१] और साफोक्लीज या यूनान के दूसरे महापुरुषो के बारे में जानते है। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नही सुना ? मध्य एशिया के दूर से दूर के कोने तक में उसका नाम अभी तक बाकी है। आज भी बहुत से शहर उसके नाम से मशहूर है।

सिकन्दर ने जो कुछ किया वह दूसरो के मुकाबिले में तो थोडा ही है। ईरानी साम्राज्य पुराना था और डगमगा रहा था। उसके बहुत दिनो तक टिके रहने की कोई सम्भावना नही थी। हिन्दुस्तान में सिकन्दर का आगमन एक तरह का धावा था, जिसका कोई महत्व नही था। अगर सिकन्दर ज्यादा दिन जिन्दा रहता तो मुमकिन है कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। उसका साम्राज्य क़ायम नहीं रहा, लेकिन उसका नाम अभी तक कायम है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बडा नतीजा यह हुआ कि पूरब और पश्चिम के बीच नया सम्पर्क कायम हो गया। यूनानी लोग बहुत बडी तादाद में पूरब की तरफ बढे और पुराने शहरो में या अपने बनाये हुए नये उपनिवेशो में जा बसे। सिकन्दर के पहले भी पूरब और पश्चिम के आपस में सम्पर्क कायम था और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी बहुत ज्यादा बढ गया।

सिकन्दर के हमले का दूसरा सम्भावित परिणाम, अगर वह ठीक हो तो यूनानियो के लिए बडी बदक़िस्मती का हुआ। कुछ लोगो का ख़याल है कि उस के सैनिक अपने साथ इराक़ के दलदलो से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तो में लेगये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी क़ौम को कमजोर कर दिया। यूनानियो के पतन के कारणो में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ एक ख़याल है और कोई नहीं कह सकता है कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का चन्दरोजा साम्राज्य ख़तम हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो टालमी

१ फीडियस— यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। उसका समय ईसा मे ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलपिया के स्थान पर उसने जूज़ (Zeus) की एक मूर्ति बनाई है। मूर्ति सोना और हाथी दाँत की बनी है और बडी सुन्दर है। उनकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ो मे की जाती है।

के अधिकार में था, और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेल्यूकस की मातहती में था। टालमी और सेल्यूकस दोनो सिकन्दर के सेनापति थे। सेल्यूकस ने हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा करना चाहा। लेकिन यह जानकर उसे हैरत हुई कि हिन्दुस्तान भी थप्पड का जवाब करारे घूंसे से दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मत्री चाणक्य और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में मै अपने पिछले पत्रो में तुम्हे कुछ हाल बता चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि इस किताब से हमें आज से ढाई हजार बरस पहले के हिन्दुस्तान का हाल मालूम हो जाता है।

पिछले जमाने का हमारा सिहावलोकन खतम होगया और अब हम अगले पत्र में मौर्य्य साम्राज्य और अशोक का हाल लिखते हुए आगे बढ़ेंगे। चौदह महीने से ज्यादा गुज़रे २५ जनवरी सन् १९३१ को नैनी जेल से मैंने ऐसा करने का वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाक़ी है।

: २४ :

'देवानाम् प्रिय अशोक'

३० मार्च, १९३२

मुझे डर है कि शायद मै राजा-महाराजाओ के खिलाफ कहने का कुछ, जरूरत से ज्यादा, आदी हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा गुण नहीं दिखाई देता जिससे मैं उनकी तारीफ करूँ या उनके लिए मेरे दिल में इज्जत हो। लेकिन हम इस समय एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र करनेवाले है जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् और इज्जत के योग्य था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेलस ने, जिनकी कुछ कहानियाँ तुमने पढी होंगी, अपनी इतिहास की रूप-रेखा (Outline of History) नामक पुस्तक में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पन्ने रगने वाले ससार के हजारो-लाखो सम्राटो, राज-राजेश्वरो, महाराजाधिराजो और श्रीमानो आदि के नामो में केवल अशोक का नाम ही चमकता है और ऐसा कि उसकी कोई बराबरी नहीं कर पाता। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसके नाम का आदर होता है। चीन, तिब्बत और हिन्दुस्तान ने भी—हालांकि उसनें उसके सिद्धान्त को छोड दिया है—उसकी महानता की परम्परा को क़ायम रक्खा। कान्स्टेन्टाईन या शार्लमैन[1]

[1] शार्लमैन—पवित्र रोमन-सम्राट और फ्रैंक जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ मे हुआ था। इसके साम्राज्य मे करीब सारा पश्चिमी योरप था। सन् ८१४ में इसकी मृत्यु हुई।

के नाम जाननेवालो से उसके नाम को आदर के साथ याद करनेवालो की तादाद आज भी कही ज्यादा है ।"

यह वास्तव में बहुत उच्चकोटि की प्रशसा है । लेकिन अशोक इसके योग्य था, और हरेक हिन्दुस्तानी के लिए, हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग पर विचार करना बहुत खुशी की बात है ।

चन्द्रगुप्त ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० बरस पहले मर गया । उसके बाद उसका लडका बिन्दुसार गद्दी पर बैठा । उसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया । यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा । उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लडके एण्टीओकस और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे । बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपडे हिन्दुस्तान के नील में रगा करते थे । ये लोग अपनी सोमयाई--मृतको के शव--हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटते थे । बिहार में कुछ पुराने जमाने के भग्नावशेष मिले है, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का शीशा--काँच--बनाया जाता था ।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगेस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि हिन्दुस्तानी लोग सौदर्य और सुघड़ता बहुत पसन्द करते थे । उसने इस बात का खास तौर से जिक्र किया है कि लोग अपनी लम्बाई बढ़ाने के लिए जूते पहनते थे । इससे मालूम होता है कि ऊँची एडी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है ।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था । हिन्दुस्तान के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से शायद उसने अपने राज्य के नवे बरस में कलिंग देश पर चढाई की । कलिंग हिन्दुस्तान के दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी और कृष्णा नदी के बीच का देश था । कलिंगवाले बडी बहादुरी से लडे, लेकिन आखिर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे दबा दिये गये । इस लड़ाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर बहुत गहरा असर किया । उसे लडाई और उस से सम्बन्ध रखनेवाली सारी चीजो से नफरत हो गई । उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लडाई न लडेगा । दक्षिण के एक छोटे से टुकडे को छोडकर करीब-करीब सारा हिन्दुस्तान उसके कब्जे में था । इस छोटे से टुकडे को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने

ऐसा नही किया। एच० जी० वेल्स के कहे मुताबिक इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है जिसने विजय के बाद लडाई को छोड दिया हो।

सौभाग्य से अशोक का अपना विवरण हमें प्राप्त है जिसमें उसके अपने भावो और कामो का वर्णन किया गया है। बहुतसी राजविज्ञप्तियाँ या शाही फर्मानो में, जिन्हे अशोक 'धर्मलिपि' कहता था और जो पत्थरो या धातु-पत्रो पर खुदाई गई थीं, प्रजा और भावी सन्तति के लिए उसके सन्देश आज भी हमें मिलते हैं। तुम जानती हो कि इलाहाबाद के क़िले में अशोक की एक ऐसी ही लाट है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन राज-विज्ञप्तियो में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होने वाली हत्याओ से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजयी होना ही सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन राजाज्ञाओ में से दो-एक यहाँ नोट करता हूँ। उन्हे पढते-पढते हम मुग्ध हो जाते हैं। वे अशोक को तुम्हारे बहुत नजदीक ले आवेगी—जिससे तुम अशोक को अच्छी तरह समझ सकोगी।

एक राज-विज्ञप्ति में लिखा है—

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवे वरस कलिंग को जीता। डेढ लाख आदमी वहाँ से कैद करके लाये गये। एक लाख वहाँ कत्ल हुए और इससे कई गुना मर गये।

"कलिंग-विजय के वाद से ही धर्मराज वडे उत्साह से धर्माचरण, और धर्मनिष्ठा एव धर्म की रक्षा तथा उसके प्रचार मे जुट गये। उनके हृदय मे कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ क्योकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगो की हत्या, मृत्यु और उन्हे कैदी वना करके ले जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस वात पर वहुत ज्यादा दुःख और पश्चात्ताप होता है।"

आगे चलकर इस राज-विज्ञप्ति में लिखा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे गये, या कैद हुए उस का सौवाँ या हजारवाँ हिस्सा भी अगर आज मारे जायँ या क़ैद हो तो अशोक उसे सहन न कर सकेगे।

"इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ वुराई करेगा तो वह उसे जहाँतक सहा जा सकेगा सहेगे। अपने साम्राज्य की जगली जातियो पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते हैं और चाहते हैं कि वे लोग शुद्र भावना रखे, क्योकि अगर वह ऐसा न करे तो उन्हे पश्चाताप होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त प्राणियो की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक सयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहे।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यो का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नही बल्कि दूर-दूर के राज्यो में भी प्राप्त हुई है।

जिस धर्म का इन राजाज्ञाओ में बार-बार जिक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार में अपनी शक्ति भर खूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की जबरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगो के दिलो को जीतकर ही उन्हे अपने धर्म में शामिल करता था। बहुत ही कम धार्मिक पुरुष अशोक के समान सहिष्णु और दूसरो की धार्मिक भावनाओ का ख़याल रखने वाले हुए है। लोगो को अपने धर्म में मिलाने के लिए जबरदस्ती दबाव और धोखेबाजी को काम में लाना धार्मिक पुरुषो के लिए मामूली सी बात रही है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारो और मजहबी लड़ाइयो से भरा पडा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना ख़ून बहा है शायद ही उतना किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद रखना अच्छा होगा कि भारत का एक महान् सपूत, जो बडा धार्मिक और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए किस प्रकार का व्यवहार करता था। यह एक अजीब सी बात मालूम होती है, कि कुछ ऐसे लोग है जो यह सोचने की बेवकूफी करते है कि धर्म और विश्वास तलवार और सगीन के जोर पर लोगो के गले के नीचे उतारे जासकते है।

इस प्रकार देवताओ के प्रिय, या राज-विज्ञप्तियो के शब्दो में 'देवानाम् प्रिय', अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफरीका और योरप के राज्यो में अपने दूत और एलची भेजे। तुम्हे याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन सघमित्रा के लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हे याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में हम लोगो ने एक बड़ का पेड़ देखा था और लोगो ने बताया था कि यह वही पेड़ है जो उस पुरानी टहनी से उपजा था।

हिन्दुस्तान में बौद्धधर्म बहुत तेजी से फैल गया। लेकिन अशोक की दृष्टि में केवल मन्त्रो का जाप और पूजा-पाठ या सस्कारो का नाम धर्म न था, बल्कि उसके ख़याल में धर्म का अर्थ था उत्तम काम करना और समाज को ऊँचा उठाना। इसलिए सारे देश में बाग़-बगीचे, अस्पताल, कुएँ, और सडके बढने लगीं। स्त्रियो की शिक्षा के लिए खास इन्तजाम किया गया था। इस समय चार बडे-बडे विश्वविद्यालय थे, एक एकदम उत्तर में पेशावर के पास, तक्षशिला या तक्षिला; दूसरा मथुरा, जिसे अब अंग्रेज

भद्दे ढग से मुटरा लिखते है, तीसरा मध्यभारत में उज्जैन और चौथा पटना के पास नालन्द। इन विश्व-विद्यालयो में सिर्फ हिन्दुस्तान के ही नहीं बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशो से विद्यार्थी पढने के लिए आते थे। और अपने साथ अपने देश को बुद्ध के उपदेशो का सन्देश ले जाते थे। सारे देश में बडे-बडे मठ बनगये थे, जो विहार कहलाते थ। पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा मठ या विहार, थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल कहा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अकसर होता है इन विहारो में से शिक्षा और साधना का उत्साह थोडे ही दिनो में जाता रहा, और ये ऐसे स्थान बन गये जहां लोग एक स्थिर कार्यक्रम और पूजा-पाठ की लकीर पीटा करते थे।

जीव-रक्षा का अशोक का उत्साह बढकर, जानवरो तक के लिए हो गया था। जानवरो के लिए खास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशुओ का बलिदान रोक दिया गया था। इन दोनो बातो में अशोक हमारे जमाने से भी कुछ आगे बढ गया था। अफसोस की बात है कि जानवरो का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है; यह धर्म का एक जरूरी हिस्सा माना जाता है, और जानवरो के इलाज का कोई इन्तजाम नहीं है। अशोक के अपने उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगो में माँस न खाने का प्रचार होने लगा। उसके पहले हिन्दुस्तान के ब्राह्मण और क्षत्रिय साधारणतया माँस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के जमाने में माँस खाना और शराब पीना दोनो ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ बरस तक राज्य किया और शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने में वह पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था।

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मै खाना खा रहा होऊँ या रनिवास मे होऊँ, अपने सोने के कमरे मे रहूँ, मन्त्रिगृह मे होऊँ, अपनी गाडी मे बैठा कही जाता होऊँ या बाग मे होऊँ, सरकारी सवाददाताओ को चाहिए कि वे जनता के काम की मुझे बराबर खबर देते रहे।" अगर कोई कठिनाई उठ खडी होती तो उसके शब्दो मे "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी खबर तुरत उसको देनी पडती थी। क्योकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे काम करना ही चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम प्राचीन चिन्ह हमें मिलते है। जो मिलते है वे ही, अभी तक की खोज के मुताबिक़, हिन्दुस्तान में आर्य-सभ्यता के पुराने से पुराने चिन्ह है, इस

वक़्त हम मोहेनजोदारो के खण्डहरो पर विचार करना छोड देते है। बनारस के पास सारनाथ में तुम आज भी अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो जिसके सिरे पर शेर बना हुआ है।

पाटलिपुत्र के विशाल नगर का, जो अशोक की राजधानी थी, अब कुछ भी नही बचा। पन्द्रह सौ बरस पहले यानी अशोक के मरने के छ. सौ बरस बाद, फाहियान[1] नाम का एक चीनी मुसाफिर पाटलिपुत्र गया था। उस समय यह नगर खूब उन्नत, खुशहाल और मालदार था लेकिन उस वक्त भी अशोक का पत्थरवाला राजमहल खडहर हो रहा था। फिर भी इन खडहरो से ही फाहियान बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी सफर के विवरण में लिखा है कि राजमहल मनुष्यो का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बडे-बडे पत्थरो से बना हुआ राजमहल चला गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड गया, लेकिन अशोक की यादगार एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है। और उसकी राजाज्ञायें ऐसी भाषा में लिखी पाई जाती है कि हम उन्हे समझ सकते है, उनका आदर करते है और अब भी हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते है। यह खत बहुत लम्बा हो गया। और मुमकिन है तुम इससे ऊब जाओ। अशोक की एक राजाज्ञा से एक उद्धरण देकर अब मै इसे खत्म करता हूँ।

> "हरेक मत किसी-न-किसी कारण से आदरणीय है। दूसरे मत का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही दूसरे लोगो के धर्म की सेवा भी कर लेता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके है कि अशोक ने दूर-दूर के देशो में राजदूत और प्रचारक भेजे थे और इन देशो से हिन्दुस्तान का सम्पर्क और व्यापार बरावर जारी था। हाँ, जब मै उस जमाने के सम्पर्क या व्यापार का जिक्र करता हूँ तो तुम्हे यह वात जरूर खयाल में रखनी चाहिए कि वह आजकल का-सा विलकुल नहीं था। अव तो रेल और

१ फाहियान—एक चीनी वौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चद्रगुप्त द्वितीय के समय मे हिन्दुस्तान मे आया था और ६ वरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस जमाने के भारतवर्ष का वहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० पूर्व है।

जहाज और हवाई जहाज से माल और मुसाफिरो का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन उस बहुत पुराने जमाने में हरेक सफर में बहुत दिन लग जाते थे और ख़तरे भी बहुत होते थे। इसलिए मजबूत और साहसी लोग ही सफर किया करते थे। इस वजह से उस वक़्त के और आज के व्यापार का किसी भी तरह मुक़ाबिला नहीं हो सकता।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया ? उसके समय की दुनिया कैसी थी ? भूमध्य सागर के किनारे के देशो को और मिस्र को छोडकर हम उस वक्त के अफरीका के बारे में कुछ भी नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी योरप या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमरीका के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत से लोग ऐसा समझते है कि अमरीका के महाद्वीप में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। कहते है, बहुत दिनो बाद ईसा की १५ वीं सदी में कोलम्बस ने अमरीका को खोज निकाला। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमरीका में, पेरू में और आस-पास के देशो में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि ईसा के तीन सौ बरस पहले, जब हिन्दुस्तान में अशोक हुआ अमरीका में सभ्य लोग रहते हो और उन्होने अपने सुसगठित समाज बनाये हो। लेकिन इस बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं मिलती, और केवल अदाज लगाने में कोई ख़ास फायदा नही। लेकिन मैं उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते है। कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्ही हिस्सो में रहते थे जिनके बारे में हम पढ चुके है या कुछ सुन चुके है। बहुत दिनों तक योरपवालो का यह खयाल रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है यूनान, रोम और यहूदियो का इतिहास। इनके मतानुसार बाक़ी दुनिया उस वक्त वीरान और जगली थी। बाद को उन्हें पता चला कि उनका ज्ञान कितना परिमित था, जबकि उन्हीं देश के विद्वानो और पुरातत्त्ववेत्ता लोगो ने चीन, हिन्दुस्तान और दूसरे देशो का हाल बताया। इसलिए हमें सचेत रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है वह सब कुछ हमारे परिमित ज्ञान के अन्दर है और हम अल्पज्ञो को उस सबका पता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते है कि अशोक के जमाने के अर्थात् ईसा से पहले तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य ससार में भूमध्यसागर के किनारों पर बसे हुए योरप और अफ्रीका के देश, पश्चिमी एशिया, चीन और हिन्दुस्तान की मुख्य-तया गिनती होती थी। सम्भवत पश्चिमी देशो और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नहीं था और चीन या कैथे के बारे में ऊल

जलूल खयालात फैले हुए थे। चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कडी का काम हिन्दुस्तान करता था।

हम देख चुके है कि सिकन्दर की मौत के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियो ने आपस में बांट लिया था। उसके तीन खास हिस्से हुए (१) सेल्यूकस के कब्जे में पश्चिमी एशिया, ईरान, इराक (२) टालमी के अधीन मिस्र और (३) एण्टीगोनस के अधिकार में मकदूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनो तक कायम रहे। तुम जानती हो कि सेल्यूकस हिन्दुस्तान का पडोसी था और उसने लालच में पड़कर हिन्दुस्तान का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त से पड़ा, जिसने सेर का बदला सवा सेर से देकर उसे पीछे हटा दिया और उससे उसके मुल्क का वह हिस्सा छीन लिया जो आजकल अफगानिस्तान कहलाता है।

इन दो राज्यो की अपेक्षा मकदूनिया कुछ कम भाग्यशाली था। गाल और दूसरी कौमो ने उस पर उत्तर से बारबार हमला किया। उसका सिर्फ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गाल लोगो का मुकाबिला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया माइनर में था जहां आज टर्की है। और पैरगैमस कहलाता था। यह यूनानियों की एक छोटी सी रियासत थी; लेकिन सौ बरस से ज्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओ का केन्द्र बनी रही। वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनीं, और पुस्तकालय और अजायबघर खुले। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार सिकन्दरिया का प्रतिद्वन्द्वी-सा बन गया था।

सिकन्दरिया मिस्र में टालमी वंश के लोगो की राजधानी थी। यह एक बड़ा शहर हो गया था और पुरानी दुनिया में बहुत मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत कुछ घट चुका था और उसकी जगह सिकन्दरिया, धीरे-धीरे, यूनानी संस्कृति का केन्द्र बन गया। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर-दूर देशो से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और तत्त्वज्ञान, गणित धर्म, और बहुतसी दूसरी समस्याओ का, जिनमें उस जमाने के विद्वानो की बहुत रुचि थी, अध्ययन करते थे। युक्लिड, जिसका नाम तुमने और स्कूल में रेखागणित पढ़नेवाले हरेक लडके लड़की ने जरूर सुना होगा, सिकन्दरिया का रहनेवाला और अशोक का समकालीन था।

टालमी लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजो को अपना लिया था, यहाँ तक कि मिस्र के कुछ पुराने देवी-देवताओ तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियो के ज्यूपीटर, अपोलो और

दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर के महाकाव्यो में जगह-जगह पर उसी तरह से उल्लेख है जैसे महाभारत में वैदिक देवी-देवताओ का, इस समय या तो गायब हो गये थे या नाम बदलकर दूसरी सूरत में सामने आये। आइसिस, ओसिरिस, और होरस आदि प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओ और प्राचीन यूनान के देवी-देवताओ में घाल-मेल करदी गई और जनता के सामने नये देवी-देवता पूजा के लिए पेश किये गये। जब तक जनता को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से किसी को क्या मतलब था कि वे किसके सामने सर झुकाते है, किसकी पूजा करते है और जिसकी पूजा करते है उन का नाम क्या है। उनके इन नये देवताओ में सबसे मशहूर देवता सेरेपिस था।

सिकन्दरिया तिजारत का भी बहुत बडा केन्द्र था और सभ्य ससार के दूसरे देशो के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। हमें बताया गया है कि सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानी व्यापारियो की भी एक बस्ती बसी हुई थी। हम यह भी जानते है कि सिकन्दरिया के व्यापारियो की एक बस्ती दक्षिण हिन्दुस्तान में मलाबार के किनारे भी थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से बहुत दूर नहीं,—रोम था, जो इस समय तक बहुत विशाल हो चुका था और जो भविष्य में इससे भी अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली होने वाला था। उसके बिलकुल सामने अफरीका के किनारे पर कारथेज का शहर था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम पुरानी दुनिया के बारे में कुछ भी समझना चाहते है तो हमें इनकी कहानी तफसीलवार सुननी पडेगी।

पूरब में चीन उसी तरह उन्नत हो रहा था, जैसे पश्चिम में रोम। अशोक के जमाने की दुनिया की सही तस्वीर अपने सामने ला सकने के लिए हमें इस पर भी विचार करना होगा।

: २६ :

चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैने नैनी जेल से जो खत तुम्हे लिखे थे, उनमें मैने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वागहो नदी के किनारे वाली बस्तियो का और हिस्या, शंग या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवशों का थोडा-बहुत हाल लिखा था। उनमें मैने यह भी बताया था कि इस विशाल युग में चीन की धीरे-धीरे कैसे उन्नति हुई और

कैसे वहां एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा जमाना आया जबकि वहा अधिकार तो फिर भी नाममात्र के लिए चाऊ राजवंश का था, लेकिन शासन के केन्द्रीकरण की यह गति रुक गई थी और बद-इन्तजामी फैल गई थी। आस-पास के क्षेत्रो के छोटे-छोटे राजा लोग एक तरह से बिलकुल स्वतत्र बन बैठे और आपस में एक-दूसरे से लड़ने लगे। यह बद-किस्मती की हालत कई सौ बरस तक जारी रही। ऐसा मालूम होता है कि चीन में जो भी बात होती है वह सैकडो या हजारो बरसो तक जारी रहती है। इतने में स्थानीय राजाओ में से एक—चिन् के सरदार ने पुराने और जीर्ण शीर्ण चाऊ राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् के इसी सरदार की सन्तान चिन्-राजवश कहलाया और तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इस चिन् शब्द से ही इस देश का नाम चीन हुआ है।

इस प्रकार चीन में चिन् लोगो की जीवन-यात्रा, ईसा से पहले सन् २५५ में शुरू हुई। इससे १३ बरस पहले अशोक का राज्य हिन्दुस्तान में शुरू हो चुका था। इस प्रकार इस समय हम चीन के अशोक के समकालीन लोगों का जिक्र कर रहे है। चिन् राजवश के पहले तीन सम्राटो की हुकूमत बहुत कम दिन तक रही। इसके बाद ईसा से पहले २४६ में एक चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढंग का बहुत महत्वपूर्ण आदमी था। उसका नाम 'वैंग चेग' था, लेकिन बाद में इसने अपना दूसरा नाम 'शीह ह्वाग टी' रख लिया और इसी दूसरे नाम से वह मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला बादशाह'। उसकी अपनेऔर अपने जमाने के बारे में साफ तौर पर ऊँची राय थी और उसके दिल में पुराने जमाने की जरा भी कदर न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराना जमाना भूल जायें और यह समझने लगें कि उसी—महान् प्रथम समराट के—जमाने से ही इतिहास शुरू होता है। उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि दो हजार बरस से ज्यादा जमाने से चीन में बराबर सम्राट के बाद सम्राट होते चले आये है। वह तो देश से इन लोगो की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ पुराने सम्राटो की ही नहीं बल्कि पुरानें जमाने के सभी दूसरे प्रसिद्ध पुरुषों तक की भी याद भुलादेना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी किताबें, जिनमें पुराने जमाने का हाल हो, खासकर इतिहास की और कनफ्यूशियस मत की सब पुस्तके जला दी जायें और एकदम नष्ट कर दी जायें। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ किताबो पर यह हुक्म लागू नहीं था। अपनी राजाज्ञा में उसने लिखा था—

> "जो लोग पुराने जमाने का हवाला देकर वर्तमान काल को नीचे दरजे का दिखाने की कोशिश करेगे वे अपने रिश्तेदारो समेत कत्ल कर दिये जायँगे।"

उसने अपनी इस बात पर पूरी तरह से अमल भी किया। सैकडो विद्वान्,

जिन्होंने अपनी प्यारी किताबों के छिपाने की कोशिश की, जिन्दा दफन कर दिये गये। यह 'प्रथम सम्राट' कितना नेक, दयालु और भला आदमी रहा होगा! मैं हमेशा उसकी याद किया करता हूँ, और जब मैं हिन्दुस्तान के लोगों को प्राचीन जमाने की बहुत ज्यादा तारीफ करते सुनता हूँ तो उस सम्राट के लिए मेरे दिल में कुछ हमदर्दी भी पैदा हो जाती है। हम लोगों में से बहुत-से ऐसे हैं, जो हमेशा गुजरे हुए जमाने पर ही नजर लगाये रहते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते हैं और उसीसे उत्साह और प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते हैं। अगर पुराना जमाना हमें बड़े-बड़े कामों के लिए उत्साह और उत्तेजना देता है, तो हम जरूर उससे उत्साह और उत्तेजना लें। लेकिन मुझे किसी भी व्यक्ति या क़ौम के लिए हमेशा पीछे ही की ओर देखते रहना कुछ भला नहीं मालूम देता। किसीने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे चलने या पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके सर के पीछे होतीं। हम अपने अतीत को जरूर देखें, और उसमें जो कुछ तारीफ के क़ाबिल है, उसकी तारीफ भी करें, लेकिन हमारी आँखों को हमेशा आगे देखना और हमारे पैरों को हमेशा आगे की ओर ही बढ़ना चाहिए।

इसमें जरा भी शक नहीं कि 'शीह ह्वांग टी' ने, पुरानी पुस्तकों को जलवाकर और उनके पढ़नेवालों को जिन्दा दफन कराके, एक वहशियाना काम किया। उसी का यह नतीजा हुआ कि उसका सारा काम उसीके साथ ख़त्म होगया। उसका इरादा यह था कि वह सबसे 'पहला सम्राट' माना जाय। उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इसी तरह अख़ीर तक उसके वंश का यह सिलसिला बना रहे। लेकिन चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन कायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इन राजवंशों में से बहुतों ने सैकड़ों बरसों तक राज्य किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ है, ८६७ साल तक क़ायम रहा। लेकिन चिन् का महान राजवंश पैदा हुआ, विजयी हुआ, शक्तिशाली साम्राज्य का शासक रहा, फिर कमजोर पड़ा और नष्ट होगया—और यह सब केवल पचास बरस के अन्दर-ही-अन्दर होगया। शीह ह्वांग टी शक्तिशाली सम्राटों की श्रेणी में सबसे पहला सम्राट होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पहले उसकी मृत्यु के तीन बरस बाद ही उसके वंश का ख़ातमा होगया और तुरन्त ही कनफ्यूशियश के ग्रन्थ जहाँ-जहाँ छिपा रक्खे गये थे वहाँसे खोदकर निकाल लिये गये और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासक की हैसियत से शीह ह्वांग टी चीन का एक सबसे ताक़तवर शासक हुआ। बहुत से छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं को इसने कुचल दिया, सामन्तशाही का अन्त

कर डाला, और एक मजबूत केन्द्रीय शासन का संगठन किया। उसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया था। उसीने चीन की मशहूर दीवार का बनाना शुरू किया था। यह एक बहुत बडा खर्चीला काम था। लेकिन चीनियो ने अपनी हिफाजत के लिए एक बडी सेना बराबर कायम रखने के बजाय, इस बडी दीवार पर, जो विदेशी हमलो से उनकी हिफाजत करने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बडे आक्रमण को मुश्किल से रोक सकती थी, ज्यादा-से-ज्यादा जो हुआ वह सिर्फ इतना ही कि उससे छोटे-छोटे हमले रुक गये। इससे यह पता चलता है कि चीनी लोग शान्ति पसन्द करते थे, और इतनी शक्ति के होते हुए भी सैनिक कीर्त्ति के लोलुप नहीं थे।

पहला सम्राट शीह ह्वाग टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह को लेता। लेकिन उसके जमानें से सारा चीन एक सूत्र में बध गया।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश--हन्-वश सामने आया। यह वंश चार सौ वरस से ज्यादा रहा। इस वश के प्रथम शासको में एक साम्राज्ञी भी हुई है। इसी वश का छठा सम्राट वू-ती था, जोकि चीन के बडे शक्तिशाली और मशहूर शासको में एक हुआ है। उसने पचास बरस से ज्यादा राज्य किया। उसने तातारियो को हराया, जो उत्तर में वरावर हमला करते रहते थे। पूरब में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था। मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना प्रमुख शासक मानती थीं। एशिया का नक़शा देखो, तो तुम उसके व्यापक प्रभाव और ईसा के पूर्व पहली और दूसरी सदी में, चीन की विशाल शक्ति का कुछ अन्दाज लगा सकोगी। हम उस जमाने के रोम की महानता के बारे में वहुत कुछ पढते-सुनते हैं, और यह समझ बैठते हैं कि उस जमाने के रोम ने तरक्की में दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'ससार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालाकि रोम बडा था और ज्यादा महान होता जा रहा था, फिर भी चीन उससे कहीं ज्यादा विस्तृत और ज्यादा ताकतवर साम्राज्य था।

सम्भवतः वू-ती के ज़माने में ही रोम और चीन में सम्पर्क हुआ। पार्थियन लोगों के जरिये इन दोनो देशो में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थियनो में लडाई छिडी, यह व्यापार रुक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे तिजारत करनी चाही और एक रोमन जहाज चीन आया भी। लेकिन यह ईसा के वाद दूसरी सदी की बात है और हम तो अभी ईसा से पहले के ही जमाने की बात कर रहे हैं।

हन् वंश के जमाने में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् के पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला उस समय के बाद है, जब तात्कालिक चीनी सम्राट ने, कहते हैं, एक आश्चर्यजनक स्वप्न में एक सोलह फीट लम्बा आदमी देखा, जिसके सर के चारो ओर तोजोवलय था। चूंकि उसने स्वप्न में इस महापुरुष को पश्चिम दिशा में खडा देखा था, इसलिए उसने उसी ओर दूत भेजे। ये दूत वहांसे बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ हिन्दुस्तानी कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहांसे वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-वश के जमाने में दो महत्व पूर्ण बाते ऐसी हुई जिनका जिक्र जरूरी है। वह है लकडी के ठप्पो से छपाई की कला का आविष्कार होना। लेकिन करीब एक हजार बरस तक उसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। लेकिन इतने पर भी चीन योरप से पांचसौ बरस आगे था।

दूसरी बात, जो जिक्र करने के काबिल है, यह है कि इसी जमाने में चीन में सरकारी नौकरियो के लिए परीक्षा की प्रथा शुरू हुई। लडके और लडकियां इम्तिहान पसन्द नहीं करते और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस जमाने में इम्तहान के ज़रिये से सरकारी अफसरो की नियुक्ति का होना नोट करने लायक बात है। दूसरे मुल्को में अभी हाल तक यह तरीका रहा है कि सरकारी अफसर आमतौर पर सिफारिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी खास वर्ग या कौम के लोग हुआ करते थे। चीन में कोई ऐसी कौम नहीं थी। जो कोई इम्तिहान पास करता उसी की नियुक्ति हो सकती थी। यह आदर्श प्रणाली नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह मुमकिन है कि कोई कनफ्यूशियन शास्त्रो का इम्तिहान देकर पास भले ही हो जाय लेकिन फिर भी उसमें सरकारी अफसर बननें की योग्यता न हो। लेकिन रिआयत और सिफारिश की नियुक्ति के तरीक़े से यह तरीका कहीं बेहतर था और चीन में दो हजार बरस तक जारी रहा। अभी हाल ही में इसका खातमा हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चले और यह देखें कि रोम की तरक्की कैसे हुई। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा के पहले आठवीं सदी में पडी थी। शुरू जमाने के रोमन लोग, जो गालिबन आर्यो के वशज थे, टाईबर नदी के

पास की सात पहाड़ियो पर वसे हुए थे। इनकी ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढकर शहर बन गई और यह शहरी राज्य वढते-बढते इटली भर में फैल गया। यहाँ तक कि यह दक्षिणी कोने में सिसली के वराबर मेसेना तक पहुँच गया।

तुम्हे शायद यूनान के शहरी राज्यो का ख़याल हो। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहा वे अपना शहरी राज्य का ख़याल भी अपने साथ लेते गये और उन्होने भूमध्यसागर के किनारे को चारो तरफ से यूनानी उपनिवेशो और शहरी-राज्यो से भर दिया। लेकिन इस वक्त हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे है। बिलकुल शुरू में शायद रोम भी यूनान के शहरी राज्य की तरह का ही रहा हो, लेकिन बहुत जल्द वह अपनी पडोसी जातियो को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य की हद वढने लगी और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आगया। इतना बड़ा रकबा एक नगर-राज्य की तरह नहीं रह सकता था। इतने बडे क्षेत्र का राज-काज रोम से सचालित होता था और खुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बडा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह का लोकतत्र ही था। फिर भी वहाँ का शासन एक तरह से लोक-तत्रात्मक ही था, जिसपर ज़मीदार-वर्ग के चन्द अमीर कुटुम्बो का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था, और इस सिनेट को नामज़द करते थे दो चुने हुए आदमी, जो 'कौन्सलस' कहलाते थे। बहुत दिनो तक तो सिर्फ ऊँचे वर्ग के आदमी सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी, एक तो 'पैट्रीशियन्स', अर्थात् अमीर रईस, जो आम तौर पर ज़मीदार हुआ करते थे, दूसरे 'प्लीबियन्स' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या लोकतन्त्र के कई सौ बरसो का इतिहास इन दो वर्गों के आपस के सघर्ष का इतिहास है। पैट्रीशियन लोगो के हाथ में सारी ताकत थी, और जहाँ ताक़त रहती है वही रुपया भी जाता है। प्लीबियन्स या प्लेब्स दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। प्लीबियन लोग ताक़त हासिल करने के लिए लडते और सघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे अधिकार के कुछ टुकडे उन्हे मिले भी। यह एक दिलचस्प बात है कि इस लम्बे सग्राम में प्लेब लोगो ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। समूह के रूप में वे लोग रोम शहर को छोडकर निकल आये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे पैट्रीशियन डर गये, क्योकि बग़ैर प्लेबो के उनका काम चल नहीं सकता था। इसलिए उन्होनें उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हे कुछ छोटी-मोटी रिआयते दे दी। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदो के भी हक़दार समझे जाने लगे और सिनेट तक के मेम्बर होने लगे।

हम पैट्रीशियन और प्लीबियन लोगो के आपस के सघर्ष की चरचा करते है और यह समझते है कि इनके अलावा रोम में कोई दूसरा वर्ग गिनती के लायक़ नहीं था। लेकिन असल में इन दोनो वर्गो के अलावा वहाँ गुलामो की भी एक वहुत बडी तादाद पाई जाती थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं मिले हुए थे। इन लोगो की नागरिको में गिनती नही थी और न इनको वोट देने का ही हक था। ये लोग तो गाय और कुत्ते की तरह अपने मालिको की व्यक्तिगत और निजी जायदाद समझे जाते थे। मालिक अपनी मरज़ी से इनको बेच सकता था और सज़ा दे सकता था। कुछ हालतो में इन्हे आज़ादी भी मिल सकती थी। इस तरह आज़ाद हुए लोगो ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो 'स्वतन्त्रता-प्राप्त' लोगो का वर्ग कहलाता था। पुराने जमाने में, पश्चिम में, गुलामो की हमेशा बहुत ज्यादा माँग रहती थी और माँग को पूरा करने के लिए गुलामों के बडे-बडे बाज़ार लगा करते थे। मर्द, औरत और बच्चो को पकडने और उन्हे गुलाम बनाकर बेंचने के लिए दूर-दूर के देशो तक धावे हुआ करते थे। पुराने यूनान और रोम के वैभव एव महानता की बुनियाद, प्राचीन मिस्र की तरह गुलामी की चारो ओर फैली हुई प्रणाली पर क़ायम थी।

क्या गुलामी की यह प्रथा उस समय हिन्दुस्तान में भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नही। चीन में भी यह प्रणाली नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं कि प्राचीन चीन और हिन्दुस्तान में गुलामी थी ही नहीं। यहाँ जो कुछ गुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू किस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। हिन्दुस्तान और चीन में श्रमजीवी--मजदूर लोग--गुलाम नहीं हुआ करते थे और न खेत में या किसी दूसरी जगह काम करने के लिए ही गुलामो के बडे-बडे झुण्ड पाये जाते थे। इस तरह दोनो मुल्क गुलामी के सबसे गिरे हुए पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढा। पैट्रीशियन लोगो ने उससे फायदा उठाया और अधिकाधिक अमीर और मालामाल होते गये। इस अरसे में प्लीबियन लोग ग़रीब बनें रहे और पैट्रीशियन लोग उनको दबाये रहे; और ये दोनो पैट्रीशियन और प्लीबियन, मिलकर ग़रीब गुलामो को दबाते रहे।

जब रोम की तरक्क़ी हुई उस समय उसके शासन का ढग कैसा था? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामजद किया करते थे। कौन्सलो को कौन चुनता था? उन्हे नागरिक वोटर चुनते थे। पहली बात तो यह थी कि जब रोम एक छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या रोम के आस-पास रहते थे, उस वक्त लोगो का इकट्ठा हो जाना और

वोट देना कोई मुश्किल बात नही थी। लेकिन रोम के बढने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे, और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नही था। उस वक्त आजकल के-से 'प्रतिनिधि शासन' का विकास नहीं हुआ था और न वैसा अमल ही होता था। आजकल, तुम जानती हो हरेक हल्के या 'निर्वाचन-क्षेत्र' राष्ट्रीय असेम्बली, पार्लमेण्ट या कॉंग्रेस के लिए अपना नुमाइन्दा या प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के जरिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगो को नही सूझी थी, इसलिए रोमन लोग उस अवस्था में भी रोम में ही अपना चुनाव चलाते रहे जबकि दूर के वोटरो के लिए वहाँ आकर वोट दे सकना बिलकुल असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरो को मुश्किल से पता चलता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस जमाने में न अखबार थे, न पैम्फलेट, और न छपी हुई किताबें थी और बहुत कम लोग पढ-लिख सकते थे। इस प्रकार जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार बिलकुल बेकार था। उनको राय देने का हक़ जरूर था, लेकिन फासले ने उनके इस हक को बेकार बना दिया था।

इस तरह तुम देखोगी कि चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातो का फैसला करने का असली अधिकार रोम के ही वोटरो के हाथ में था। वे लोग खुले मैदान में जाकर वोट देते थे। इन वोट देनेवालो में से बहुत-से गरीब प्लीबियन हुआ करते थे। अमीर पैट्रीशियन, जो ऊँचा ओहदा या अधिकार चाहता था, ग़रीब आदमियो को रिश्वत देकर अपने लिए वोट दिला लेता था। इस तरह रोमन चुनाव में उतनी ही रिश्वत और धोखेबाज़ी चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावो में चलती है।

इधर रोम इटली में बढ रहा था, उधर उत्तरी अफ्रीका में कार्थेज शक्तिमान हो रहा था। कार्थेज-निवासी फोनीशियन लोगो के वंशज थे, और उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की विशेष योग्यता पाई जाती थी। उनके यहाँ भी लोकतन्त्र था, लेकिन वह रोम से भी अधिक अमीरो का लोकतन्त्र था। यह शहरी लोकतंत्र था, जिसमें गुलामो की तादाद बहुत अधिक थी।

शुरू दिनो में, रोम और कार्थेज के दरमियान दक्षिण-इटली और मेसिना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज ने मिलकर यूनानियो को निकाल दिया, और इसमें कामयाबी होने के बाद कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज बहुत दिनो तक एक-दूसरे के मित्र और सहायक न बने रह सके। जल्दी ही इन दोनो में झगड़ा

हो गया और गहरी प्रतिद्वन्द्विता बढने लगी। दो मजबूत ताक़तो के लिए, जो सकीर्ण समुद्र के दो किनारो से एक-दूसरे को ललकार रही थीं, भूमध्य-सागर काफी बडा न था। दोनो ही ताकते महत्वाकाक्षी थीं। इधर रोम बढ रहा था, और उसमें नौजवानी का जोश और आत्मविश्वास था, उधर कार्थेज नये उठे हुए रोम को हिक़ारत की नजर से देखता और अपनी समुद्री ताकत पर पूरा-पूरा भरोसा करता था। सौ बरस से ज्यादा तक ये दोनो ताकतें एक-दूसरे से लडती रहीं, बीच-बीच में कभी सुलह भी हो जाती थी। दोनो ही जगली जानवरो की तरह लडी जिससे जनता बुरी तरह तबाह हो गई। इनमें तीन लडाईयाँ हुई जिन्हे 'प्यूनिक युद्ध' कहते है। पहला प्यूनिक युद्ध २३ बरस तक अर्थात् ई० पूर्व २६४ से २४१ ई० पूर्व तक चला। इस लडाई में रोम की जीत हुई। बाईस बरस बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ। इसमें कार्थेज ने एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है। इसका नाम हैनिबाल था। पन्द्रह बरस तक हैनिबाल ने रोम को परेशान रक्खा और रोमन लोगो को भयभीत करता रहा। उसने रोमन सेनाओ को बडी मारकाट के साथ बुरी तरह हराया—खासकर कैनी की लडाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद के बिना ही कर दिखाया, क्योकि समुद्र पर रोमन लोगो का क़ब्जा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्पर्क टूट-सा गया था। लेकिन हार और मुसीबतो को सहते हुए, और हैनिबाल का खतरा सिर पर बराबर रहते हुए भी, रोमन लोगो ने हिम्मत नहीं छोडी और अपने दुश्मन का बराबर मुकाबिला करते रहे। हैनिबाल से खुले मैदान में लडने की हिम्मत तो उनमें थी नहीं, इसलिए वे उससे बचते थे, और सिर्फ उसे परेशान करते और कार्थेज से उसके पास सहायता नहीं पहुँचने देते थे। रोमन सेनापति फैबियस खास तौर से खुली लडाइयो से बचना पसन्द करता था। दस बरस तक वह खुली लडाइयो को टालता रहा। मैने उसका जिक्र इसलिए नही किया है कि वह कोई बडा आदमी था और इसलिए याद रखने के काबिल है, बल्कि इसलिए किया है कि अग्रेजी जबान में उसके नाम पर एक शब्द 'फैबियन' बन गया है। 'फैबियन' तरीका वह तरीका है, जिस में किसी मामले को इस हद तक आगे नही बढ़ने दिया जाता, जिससे कि जल्दी, ही उसका दो टूक फैसला कर देना लाजमी हो जाय। इस नीति पर चलनेवाले लोग लडाई या ऐसी हालत पैदा नहीं करते, जिसमें मामला इधर या उधर हो जाय, बल्कि विरोधी के विरोध को धीरे-धीरे रगड कर मिटाने से अपने उद्देश्य के पूरा होने की उम्मीद करते रहते हैं। इग्लैण्ड में एक फैबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है लेकिन जल्दबाजी और आकस्मिक परिवर्तन में

विश्वास नही रखती । मेरा ख़याल है कि मैं किसी भी बात में फैबियन तरीके का क़ायल नही हूँ ।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बडे हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की लगातार कोशिश और दृढता ने अन्त में विजय पाई । २०२ ई० पू० ज़ामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया । वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया वहीं रोमनो की कभी भी तृप्त न होनेवाली हिक़ारत ने उसका पीछा किया। अंत में वह जहर खाकर मर गया ।

रोम और कार्थेज में पचास बरस तक सुलह रही। कार्थेज काफी पस्त कर दिया गया था, रोम को ललकारने की उसमे बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी । फिर भी रोम को सन्तोष नही था और उसने एक तीसरी लडाई उन पर लाद दी, जो तीसरा प्यूनिक युद्ध कहलाता है । इस लडाई में कार्थेज बिलकुल नष्ट हो गया और बहुत भारी तादाद में लोग मारे गये । सचमुच, जिस जमीन पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—का आसन था, उस पर रोम ने हल चलवाये ।

: २८ :

रोमन 'लोकतंत्र' का 'साम्राज्य' में बदल जाना

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और तबाही के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सबसे ज्यादा ताक़तवर हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यो को फतह कर ही चुका था, अब कार्थेज के प्रदेशो पर भी उसनें कब्ज़ा कर लिया । इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की मातहती में आगया । फिर भी रोमन साम्राज्य में अभी तक सिर्फ भूमध्य सागर के ही देश शामिल थे । सारा उत्तरी और मध्य-योरप रोम के अधिकार के बाहर था ।

दूसरे मुल्को को जीतने का और लड़ाइयों में विजय पाने का असर रोम शहर पर यह हुआ कि वहाँ धन और उसके साथ विलासिता भी बहुत बढ़ गई । जीते हुए मुल्कों से सोने और गुलामो के ढेर-के-ढेर आने लगे । लेकिन ये सब चीजें जाती कहाँ थी । मै तुम्हे बतला चुका हूँ कि रोम के शासन की बागडोर सिनेट के हाथ में थी और उसमें ऊँचे वर्ग के अमीर कुटुम्ब हुआ करते थे । अमीरो का यह गिरोह रोमन लोकतत्र और उसके जीवन का नियन्त्रण करता था । रोम के विस्तार और

शक्ति के बढने के साथ-साथ इन लोगो की दौलत भी बढ गई। इस तरह जो अमीर थे, वे और भी ज्यादा अमीर होते गये और गरीब लोग गरीब बने रहे या और ज्यादा ग़रीब हो गये। ग़ुलामो की आबादी बढ गई और साथ-साथ ऐशोआराम और मुसीबत भी बढ गई। जब कभी ऐसा होता है, तभी अक्सर गडबड हो जाया करती है। आश्चर्य की बात है कि आदमी कितना सहता है, लेकिन आदमी के बरदाश्त करने की भी एक हद है, और जब यह हद पूरी हो जाती है, तब अशाति फूट निकलती है।

अमीर लोगो ने ग़रीब आदमियो को खेल-तमाशो से और सरकस के दगलो से फुसलाने की कोशिश की। इन दगलो में ग्लेडियेटर[1] लोग, केवल दर्शको के मनोरञ्जन के लिए, एक-दूसरे के साथ लडने और एक-दूसरे को मारडालने के लिए मजबूर किये जाते थे। इन दगलो में, जिन्हे लोग खेल कहते थे, गुलामो की और लड़ाई के क़ैदियो की बहुत बडी तादाद, इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी।

धीरे-धीरे रोम राज्य में उपद्रव बढने लगे। बलवे होते थे, ख़ून होते थे और चुनाव के समय रिश्वत और बेईमानी का बोलबाला रहता था। गरीब और पद-दलित गुलामो तक ने स्पार्टेकस नाम के एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में बलवा कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गये। कहा जाता है कि इस अवसर पर रोम में ऐपियनवे नाम की जगह पर छ हजार गुलाम सूली पर चढ़ा दिये गये।

धीरे-धीरे सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली और साहसी होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। रह-रह कर घरेलू लडाई छिडने और चारो तरफ तबाही होने लगी। प्रतिद्वन्द्वी सेनापति एक-दूसरे से लडने लगे। पूरब में, पार्थिया में (इराक में) ५३ ई० पू० में कैरे की लडाई में, रोमन फौज की बहुत बुरी हार हुई। पार्थिया वालो से लडने के लिए जो रोमन फौज भेजी गई थी, उसे उन्होंने जड से नाश कर दिया।

झुड के झुड रोमन सेनापतियो में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीजर, बहुत मशहूर है। तुम जानती हो, कि सीजर ने फ्रान्स को, जो उस समय 'गाल' कहलाता था, और ब्रिटेन को जीता था, पाम्पी पूरब की तरफ गया था और वहाँ उसे थोडी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनो की आपस में बडी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनो ही महत्वाकाक्षी थे, और किसी प्रतिद्वन्द्वी को बरदाश्त नहीं करते थे। बेचारा

१ ग्लेडियेटर—प्राचीन रोम के उन द्वन्द्व युद्ध करनेवालो का नाम, जो दूसरे योद्धाओ या जगली जानवरो से अखाडो में लडते थे, और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरो का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम निवासियो को ये खेल बडे प्रिय थे, और जिस द्वन्द्व-युद्ध करनेवाले से प्रसन्न हो जाते थे, उसे वे उसके जीतने वाले के द्वारा मरवा डालते थे।

सिनेट पिछड़ गया, हालाँकि ये दोनो जबान से उसकी हुकूमत मानते थे। सीजर ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन ससार का प्रमुख आदमी बन गया। लेकिन रोम में लोकतंत्र था, इसलिए हरेक मामले मे कानूनी तौर से सीजर की प्रधानता मालूम नही हो पाती थी। इसलिए इस बात की कोशिश की गई कि उस को ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीजर इसके लिए बहुत कुछ राजी था। लेकिन रोम में बहुत दिनो से लोकतत्र की परम्परा चली आती थी इसलिए उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, लोकतन्त्र-सम्बन्धी यह परम्परा इतनी मजबूत थी कि जिस फारेम नामक स्थान में सिनेट की बैठक हुआ करती थी, उसीकी सीढ़ियो पर ब्रूटस और दूसरे लोगो ने जूलियस सीज़र को तलवार से कत्ल कर दिया। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाम का नाटक पढ़ा होगा, उसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ४४ ई० पू० में क़त्ल किया गया, लेकिन उसकी मौत लोकतंत्र को न बचा सकी। सीज़र के गोद लिये हुए लडके आक्टेवियन ने, जो उसका पोता था, और उसके मित्र 'मार्क एण्टनी' ने सीजर की हत्या का बदला लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्टेवियन राज्य का प्रमुख शासक अर्थात् 'प्रिंसेप्' बना और लोकतंत्र ख़तम हो गया। सिनेट कायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताकत नहीं रह गई।

आक्टेवियन जब प्रिन्सेप् या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद 'आगस्टस सीज़र' रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीजर कहलाते रहे हैं। सीजर शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट हो गया है। क़ैसर शब्द इसी सीज़र शब्द से निकला है। बहुत दिनो से हिन्दुस्तानी भाषा में भी कैसर शब्द इसी अर्थ में चालू होगया है, जैसे 'कैसरे-रूम', 'कैसरे-हिन्द'। अब इंग्लैण्ड के किंग जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' के लकब पर फख्र है। जर्मन-कैसर ख़तम हो गये, इसी तरह आस्ट्रियन कैसर, तुर्की क़ैसर और रूसी क़ैसर भी जाते रहे। लेकिन अजीब और दिलचस्प बात तो यह है कि अकेले इग्लैण्ड का बादशाह ही उस जूलियस सीज़र का नाम या उपाधि कायम रखने के लिए इस समय बचा है, जिसने ब्रिटेन को रोम के लिए जीता था।

इस तरह से आजकल जूलियस सीज़र का शब्द बादशाही शान और दबदबे का सूचक हो गया है। अगर पाम्पी ने सीजर को यूनान में फारसैल्स की लड़ाई में हरा दिया होता तो क्या हालत हुई होती? ग़ालिबन पाम्पी प्रिन्सेप् या सम्राट् बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो जाता। उस समय विलियम द्वितीय अपने को जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज पाम्पिए-हिन्द कहलाते होते।

रोमन राज्य के इस परिवर्त्तन काल में जब लोकतत्र साम्राज्य की शकल में बदल रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री थी जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होने वाली थी। उसका नाम क्लियोपेट्रा था। वह बहुत नेकनाम नहीं थी, लेकिन वह उन इनीगिनी स्त्रियो में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख ही बदल दिया। जब 'जूलियस सीजर' मिस्र गया था, तब यह लडकी ही थी। बाद को मार्क एण्टनी से उसकी गहरी दोस्ती हो गई और उसकी कुछ थोडी-सी भलाई भी की। लेकिन वास्तव में क्लियोपेट्रा ने उसके साथ दगा किया और एक सामुद्रिक महायुद्ध के बीचोबीच, अपने जहाज लेकर, उसका साथ छोडकर खिसक गई। पैस्कल नाम के एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक ने, बहुत दिन हुए लिखा था—

"अगर क्लियोपेट्रा की नाक थोडी छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में जरा अतिशयोक्ति है। क्लियोपेट्रा, की नाक दूसरी किस्म की भी बनी होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत अधिक अन्तर न आया होता। लेकिन यह मुमकिन है कि मिस्र जाने के बाद से सीजर अपनें को एक तरह का ईश्वरीय शासक-सा बादशाह या सम्राट समझने लगा हो। मिस्र में लोकतन्त्र नहीं था। वहा राजा का एकाधिपत्य शासन था और राजा केवल सर्वोपरि—सबसे ऊँचा—ही नहीं समझा जाता था, बल्कि बिलकुल ईश्वर की तरह माना जाता था। पुरानें मिस्रियो की यही धारणा थी, और यूनान के टालमी लोगो ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए थे, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारो को अपना लिया था। क्लियोपेट्रा इसी टालमी वश की थी और इसलिए यूनानी, या यो कहिए कि मकदूनिया की, राजकुमारी थी। कहा जाता है कि सांप के काटनें से उसकी मौत हुई।

इसमें क्लियोपेट्रा की सहायता रही हो या न रही हो, लेकिन मिस्रियो का यह भाव कि राजा परमेश्वर है, रोम तक पहुँच गया, और वहाँ उसे आश्रय मिल गया। जूलियस सीजर की जिन्दगी में ही, जबकि लोकतन्त्र अपनी तरक्की पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने लगी थी और उसकी पूजा होने लगी थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी तरह कैसे रोमन सम्राट की पूजा का एक पक्का रिवाज-सा बन गया था।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड पर, लोकतन्त्र के अन्त के निकट पहुँच गये है। ईस्वी सन् २७ में आक्टेवियन 'आगस्टस सीजर' की पदवी धारण कर प्रिन्सेप् बना। रोम और उसके सम्राटो की इस कहानी की अगली चर्चा हम फिर करेगे। इस बीच आओ हम इस बात पर नजर डाले कि लोकतन्त्र के आखिरी दिनो में रोम द्वारा शासित देशो की क्या हालत थी।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गाल (फ्रान्स) पर भी उसका कब्जा था। पूरब में यूनान और एशिया माइनर, जहाँ तुम्हे याद होगा परगैमम नाम की यूनानी रियासत थी, उसके पास था। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र रोम का मित्र और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्यसागर के देशो के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के मातहत थे। इस तरह से उत्तर में राइन नदी रोमन साम्राज्य की सरहद थी। जर्मनी और रूस की सारी जनता और उत्तरीय और मध्य योरप के सारे देश, रोमन साम्राज्य से बाहर थे। इराक के पूरब के सब देशो पर भी उसका अधिकार नही था।

उस जमाने में रोम बहुत बडा देश था। योरप के बहुत से लोग, जो दूसरे देशो का इतिहास नहीं जानते, यह समझते हैं कि सारी दुनिया पर रोम हावी था। लेकिन यह बात असलियत से बहुत दूर है। तुम्हे याद होगा कि इसी जमाने में चीन में महान् 'हन्' वंश राज्य करता था और एशिया के तट से लेकर कैस्पियन सागर तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। कारे (इराक) की लडाई में, जहाँ रोमन लोगो की बुरी तरह हार हुई थी, मुमकिन है पार्थियन लोगो को चीन के मगोलियनो ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, खासकर रोमन प्रजातन्त्र का इतिहास, योरपवालो को बहुत प्यारा है क्योंकि वे उसीको योरप के आधुनिक राष्ट्रो का पूर्वज या पुरखा मानते है, और यह बात किसी हदतक सही भी है। इसीलिए अँग्रेजी स्कूलो के विद्यार्थियो को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जाने या न जाने, यूनान और रोम का इतिहास जरूर पढाया जाता है। मालूम नहीं वे लोग अब इसपर कितना समय लगाते है।

इतिहास के सिवा भी, मुझे अच्छी तरह से याद है कि, जूलियस सीजर का लिखा हुआ, उसके गाल युद्ध का हाल मूल लैटिन भाषा में मुझे पढाया गया था। सीजर सिर्फ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक प्रभावशाली और सुन्दर लेखक भी था और उसकी लिखा हुआ 'गालिक युद्ध' (De Bello Gallico) अभी तक योरप के हजारो स्कूलो में पढ़ाया जाता है।

थोडे दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर सरसरी नजर डालनी शुरू की थी। हम उस सिंहावलोकन को सिर्फ खतम ही नहीं कर चुके, बल्कि उससे आगे बढ़कर चीन और योरप भी हो आये। अब हम करीब-करीब ईसाई सन् की शुरूआत तक पहुँच गये है। इसलिए हिन्दुस्तानियो की उस समय तक की जानकारी को पूरा करने के लिए अब हमें फिर हिन्दुस्तान को वापस लौटना पडेगा; क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बडी-बडी तब्दीलियाँ हुई है और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हुए हैं।

मैंने इस बात की कोशिश की थी कि तुम दुनिया के इतिहास को एक सिलसिले-वार और मुकम्मिल चीज समझो। लेकिन, मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह भी याद होगा कि शुरू के पुराने जमाने में दूर-दूर के देशों का आपसी सम्पर्क बहुत परिमित था। रोम, जो कि कई बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था, भूगोल और नकशों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसनें कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूल के लड़के और लड़कियां जितना भूगोल जानती हैं, उतना रोम के बड़े-बड़े सेनापति और सिनेट के बुद्धिमान आदमी भी नहीं जानते थे, हालांकि ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे, उसी तरह उनसे कई हजार मील दूर एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को संसार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत को मात कर देना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर हिन्दुस्तान को वापस आते हैं। अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। थोड़े ही बरसों में वह मुरझा गया। उत्तर के सूबे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र वालों की एक नई ताकत पैदा हुई। अशोक के वंशज करीब पचास बरस तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर राज्य करते रहे। अन्त में पुष्यमित्र नाम के उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने उन्हें जबरदस्ती तख्त से उतार दिया और खुद सम्राट् बन बैठा। कहते हैं, उसके जमाने में ब्राह्मण धर्म[1] की फिर से जागृति हुई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म पर बड़ी चतुराई से आक्रमण किया है। उसने उन्हें सताने के लिए किसी भोंडी नीति से काम नहीं लिया। बौद्धों पर कुछ अत्याचार जरूर हुए; लेकिन इसका कारण सम्भवतः राजनैतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध-संघ शक्तिशाली संस्थायें थीं और बहुत से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमजोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि में से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर में

१ ब्राह्मण धर्म से मतलब हिन्दूधर्म से है।

कामयाब रहा। उसने कई बातें बौद्ध धर्म से लेलीं और हजम करली, और उसे अपने घर में स्थान देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, सिर्फ़ पुरानी बातों को ही फिर से लाने की कोशिश नहीं की, न जो कुछ बौद्ध धर्म ने किया था उसको बुरी तरह मटियामेट करने का ही कोई प्रयत्न किया। ब्राह्मण धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने जमाने से उनका यह तरीका चला आया है कि वे दूसरे धर्म के आचार-विचारों को अपने में मिला लेते और उन्हे हजम कर जाते हैं। आर्य लोग जब पहले-पहल हिन्दुस्तान में आये, तब उन्होंने द्रविडों की संस्कृति और रस्म-रिवाज को बहुत अंशों में अपना लिया, अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आए हैं। बौद्धधर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार बना दिया, बहुत से हिन्दू अवतारों में उन्हे भी एक स्थान मिल गया। इस तरह बुद्ध तो कायम रहे, लोग उनकी पूजा करते और उनका नाम जपते रहे; लेकिन हिन्दुओं ने उनके विशेष सन्देश को जनता के सामने से चुप-चाप हटा दिया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तबदीलियों के बाद अपने सुगम रास्ते पर फिर चलने लगा। बौद्धधर्म को हिन्दू धर्म का जामा पहनाने का काम बहुत दिनों तक चलता रहा। परन्तु इस अवसर पर इस बात की चर्चा करना समय से पहले के सवाल को उठाना है। अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ बरस तक बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान में कायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नहीं कि मगध में एक दूसरे के बाद कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के बाद दो सौ बरस बाद तो मगध हिन्दुस्तान के प्रमुख राष्ट्र पद को भी खो बैठा। लेकिन उस समय भी वह बौद्ध संस्कृति का बहुत बडा केन्द्र समझा जाता था।

इस बीच में उत्तर और दक्षिण दोनों जगहों पर महत्वपूर्ण घटनायें हो रही थीं। उत्तर में मध्य एशिया की कई जातियाँ, जैसे बैक्ट्रियन, शक, सीदियन, तुर्क और कुशान लोग बराबर हमले कर रहे थे। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हे एक बार लिखा था कि कैसे मध्य एशिया में जुदी-जुदी जातियों के झुण्ड के झुण्ड पैदा होते गये और कैसे वे लोग इतिहास में बार-बार अपना स्थान बदलते हुए सारे एशिया में और योरप तक में फैल गये। ईसा के २०० बरस पहले हिन्दुस्तान पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए, कि ये हमले महज़ लूट या विजय के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए जमीन की तलाश में हुआ करते थे। मध्य एशिया की इन जातियों में से बहुत-सी बिना घर-बारवाली थीं और जब

उनकी तादाद बढ जाती थी, तो जिस जमीन में वे बसी होती थीं वह उनके गुजारे के लिए नाकाफी हो जाती थी। इसलिए उन्हे नई जमीन की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से हटने का इससे भी ज्यादा जबर्दस्त एक दूसरा कारण था। वह था पीछे से उनपर दवाव डाला जाना। एक बडी जाति या गिरोह दूसरी जाति या गिरोह पर हमला कर वहाँ से निकाल बाहर करता था और इसलिए इन निकाली हुई जातियो को दूसरी जातियो पर हमला करना जरूरी हो जाता था, इस तरह हिन्दुस्तान में जो लोग आक्रमणकारी के रूप में आये, वे अक्सर अपनी निर्वाह-भूमि से भगाई हुई जातिया थीं। जब कभी चीनी साम्राज्य में ऐसा करने की ताकत होती थी, जैसा कि हन्-वंश के जमाने में उसने किया था, तब वह भी इन खानावदोश जातियो को निकाल बाहर कर उन्हे दूसरे देशो की तलाश के लिए मजबूर कर देता था।

तुम्हे यह भी याद रखना चाहिए, कि मध्य एशिया की ये खानाबदोश जातियाँ हिन्दुस्तान को अपना शत्रु देश नहीं समझती थी। उन्हे म्लेच्छ अर्थात् जंगली जरूर कहा गया है, और सचमुच उस वक्त के हिन्दुस्तान के मुकाबिले में वे लोग उतने सभ्य थे भी नहीं, लेकिन उनमें ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो हिन्दुस्तान को इज्जत की नजर से देखते थे, क्योंकि यहीं उनके धर्म का जन्म हुआ था।

पुष्यमित्र के जमाने में भी उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान पर एक हमला हुआ था। यह हमला करनेवाला बैक्ट्रिया का मेनाण्डर था। हिन्दुस्तान की सरहद के उस पार बैक्ट्रिया प्रदेश था। यह प्रान्त सेल्यूकस के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद को वह स्वतत्र हो गया था। मेनाण्डर का हमला नाकामयाब कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्जा कर ही लिया। मेनाण्डर भी एक धर्मपरायण बौद्ध था।

इसके बाद शक लोगो का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बडी तादाद में आये और उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान में फैल गये। यह तुर्की खानाबदोशो का एक बडा कबीला था। कुशन नाम की एक दूसरी बडी जाति के लोगो ने उन्हे अपनी निर्वाह-भूमि से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बैक्ट्रिया और पार्थिया को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, खासकर पजाब, राजपूताना और काठियावाड में जम गये। हिन्दुस्तान ने उन्हें तहजीब सिखाई—सभ्य बनाया, और उन लोगों ने अपनी जगली आदते छोड दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इन बैक्ट्रियन और तुर्की शासको का भारतीय आर्य-वर्ग के जीवन पर कुछ खास असर नहीं हुआ। खुद बौद्ध होने के कारण इन

शासको ने बौद्ध धर्म संस्थाओ का अनुकरण किया जो पुराने आर्यग्राम-संघ की तरह लोकतन्त्रात्मक थीं। इस तरह इन शासको की हुकूमत में भी हिंदुस्तान केन्द्रीय-शासन के मातहत ग्रामीण लोकतंत्रों का एक सुशासित समूह बना रहा। इस जमाने में भी तक्षशिला और मथुरा, बौद्ध विद्या के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार आक्रमण होते रहने और मौर्य राज्य का सगठन धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर जरूर हुआ। दक्षिण भारतीय राज्य पुरानी भारतीय आर्य प्रणाली के ज्यादा सच्चे नमूने वन गये। इस प्रकार भारतीय आर्य शक्ति का केन्द्र हटक रदक्षिण पहुँच गया। इन हमलो के कारण वहुत से विद्वान लोग दक्षिण में जा वसे। आगे चलकर तुम यह भी देखोगी कि एक हजार बरस बाद जब मुसलमानो ने हिन्दुस्तान पर हमला किया उस समय फिर यही बात दुहराई गई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमले और सम्पर्क का उत्तर भारत के मुकाबिले कम असर पडा है। हम लोगो में जोकि उत्तर में ज्यादातर एक मिश्र संस्कृति में पले है, हिन्दू और मुस्लिम सस्कृति का मेल है और पश्चिम की भी कुछ पुट लग गई है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी चाहे जो कहो, एक मिली हुई भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है दक्षिण आज भी ज्यादातर कट्टर हिन्दू है।

सैंकडो बरसो से वह प्राचीन आर्य-संस्कृति को बचाने और कायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपने समाज को इतना कट्टर बना दिया है कि उसकी असहिष्णुता आज भी आश्चर्यजनक है। दीवारें वडी खतरनाक साथी होती है, कभी-कभी वे बाहरी बुराइयो से भले ही बचाले और बाहर के उत्पाती लोगों को आने से रोक दें लेकिन उनकी वजह से आदमी कैदी और गुलाम वन जाता है और नाममात्र की जो पवित्रता और निर्भयता तुमको मिलती है, वह आजादी खो कर मिलती है। सबसे भयंकर दीवार वह है जो आदमी के दिमाग में पैदा हो जाती है, जिसकी वजह से किसी बुरे रस्म-रिवाज को छोडने में हम सिर्फ इसलिए झिझकते रहते है कि वह पुराना रिवाज है, और किसी नये खयाल को कवूल नहीं करते, क्योकि वह नया है।

लेकिन दक्षिणी हिन्दुस्तान ने एक खास सेवा यह की कि सिर्फ धर्म के मामले में ही नहीं, वल्कि राजनीति और कला में भी उसने एक हजार वर्ष और उससे ज्यादा समय तक भारतीय आर्य-परम्परा को जिन्दा रक्खा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला का नमूना देखना है, तो इसके लिए तुम्हे दक्षिण भारत में जाना

होगा। यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ से हमें मालूम होता है कि राजनीति में, दक्षिण में, राजाओ पर लोक-सघो का अकुश रहता था।

जब मगध का पतन हुआ, तो सिर्फ विद्वान लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, कारीगर और शिल्पी लोग भी दक्षिण को चले गये। योरप और दक्षिण हिन्दुस्तान के बीच काफी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदात, सोना, चावल, मिर्च, मोर और बन्दर तक बैबिलन, मिस्र और यूनान और बाद को रोम को भेजे जाया करते थे।

इसके भी बहुत पहले सागवान की लकडी मलाबार के किनारे से कैल्डिया और बैबिलोनिया को जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, हिन्दुस्तानी जहाजो के जरिये, जिन्हे द्रविड लोग चलाते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हे पता चल सकता है कि पुरानी दुनिया में दक्षिण भारत कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्को की काफी तादाद मिली है, और, जैसा कि मैं तुम्हे पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्री किनारे पर सिकन्दरिया निवासियो की बस्तियाँ थीं, और सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानियो की।

अशोक के मरने के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र देश स्वतत्र हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो,आन्ध्र आज कल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है। तेलगू आन्ध्र देश की भाषा है। आन्ध्र की ताकत अशोक के बाद तेजी से बढ गई और दक्खिन में एक समुद्र तट से दूसरे समुद्र तट तक फैल गई।

दक्षिण में उपनिवेश बनाने के बहुत बडे-बडे प्रयत्न हुए। लेकिन इनके बारे में फिर लिखेंगे।

मैं ऊपर शक और सीदियन और दूसरी जातियो का जिक्र कर आया हूँ, जिन्होने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और उत्तर में बस गये। वे लोग हिन्दुस्तान के एक अग हो गये, और हम लोग, जो उत्तरी हिन्दुस्तान में रहते है, उनके उतने ही वशज है, जितने आर्यो के, खासकर बहादुर और गठीले बदनवाले राजपूत और काठियावाड के मेहनती लोग तो उन्हींके वशज है।

: ३० :

कुशानों का सरहदी साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैने पिछले खत में हिन्दुस्तान पर शक और तुर्की लोगो के लगातार हमलो का जिक्र किया है। मैने तुम्हें दक्षिण में आन्ध्रो के शक्तिशाली राज्य की तरक्की का भी

हाल बताया है, जो बंगाल की खाडी से अरब-सागर तक फैला हुआ था। शक लोगो को कुशानो ने आगे ढकेल दिया था। थोडे दिनो के बाद कुशान खुद ही रंगमञ्च पर आगये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगो ने हिन्दुस्तानी सरहद पर एक राज्य कायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढते एक बड़ा साम्राज्य होगया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारक़द और खुतन तक और पश्चिम में पार्थिया और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह युक्तप्रान्त, पंजाब और कश्मीर समेत सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य एशिया के एक काफी बडे हिस्से पर कुशानो का शासन था। करीब तीन सौ बरस तक,—ठीक उन्हीं दिनो जबकि आन्ध्रराज्य दक्षिण हिन्दुस्तान में फल-फूल रहा था, यह साम्राज्य कायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुशानो की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद को बदल कर पेशावर होगई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहाता था, और अखीर तक वही कायम रही।

इस कुशान साम्राज्य की कई बाते बडी दिलचस्प है। यह बौद्धो का साम्राज्य था और उसके मशहूर शासको में से एक शासक——सम्राट कनिष्क——बहुत बड़ा धार्मिक था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत दिनो से बौद्ध सस्कृति का केन्द्र हो रही थी। मेरा ख़याल है, मै तुम्हें बता चुका हूँ कि कुशान मगोलियन या उन्हींसे सम्बन्धित जाति के थे। कुशान राजधानी से मगोलिया की सरजमीन को लोगो का आना-जाना बराबर होता रहा होगा, और यहीं से बौद्ध विद्या और बौद्ध सस्कृति चीन और मगोलिया को गई होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारो से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियो की हुकूमत में था और बहुत से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यूनानियो की यह एशियाई सस्कृति अब हिन्दुस्तान की बौद्ध सस्कृति से मिल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर हिन्दुस्तान का असर पडा। लेकिन उसी तरह हिन्दुस्तान पर भी इन देशो का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी रोमन जगत्, पूरब में चीनी दुनिया और दक्षिण में हिन्दुस्तानी ससार पर कुशान साम्राज्य एक देव की तरह, एशिया की पीठ पर, सवारी गांठे बैठा था। हिन्दुस्तान और रोम तथा हिन्दुस्तान और चीन के बीच यह बीच की मजिल की तरह था।

अपनी इस बीच की स्थिति के कारण इस साम्राज्य ने हिन्दुस्तान और रोम के बीच घनिष्ठता पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। रोमन साम्राज्य के शुरू के दोसौ बरस और रोमन प्रजातन्त्र के आखिरी दिनो से, जबकि जूलियस सीज़र जिन्दा

था, कुशान लोगो का साम्राज्य-काल मिलता-जुलता है। कहा जाता है कि कुशान सम्राट ने अगस्टस सीजर के पास अपने एलची भेजे थे। इन दोनो देशो में खुश्की से और समुद्र के रास्ते खूब व्यापार हुआ करता था। हिन्दुस्तान से रोम को इत्र, मसाला, रेशम, मलमल, जरी के कपड़े और जवाहरात जाते थे। प्लीनी नाम के एक रोमन लेखक ने इस बात की सख्त शिकायत की है कि रोम से हिन्दुस्तान को बहुत बडी तादाद में सोना चला जाता था। उसका कहना है कि इन व्यसन की चीजो पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड़ सेस्टरसेज--रोमन सिक्का--खर्च हो जाते है। यह रकम करीब डेढ करोड रुपये के बराबर होगी।

इस जमाने में बौद्ध विहारो में और बौद्ध सघो की सभाओ में बडे-बडे बहस-मुबाहिसे और चर्चायें हुआ करती थी। दक्षिण और पश्चिम से नये विचारो या पुरानें विचारो को नई-नई पोशाके पहनाकर वहाँ प्रचार किया जा रहा था। और बौद्ध सिद्धान्तो की सादगी के ऊपर धीरे-धीरे असर पड रहा था। परिवर्त्तन का यह चक्र यहा तक घूमा कि बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायो--'महायान' और 'हीनयान'--में बॅट गया। नई-नई व्याख्याओ और टीकाओ की वजह से जीवन और धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विचारो में तब्दीली हुई, उससे फिर कला और शिल्प में भी तब्दीली आगई। यह कहना आसान नहीं है कि ये तब्दीलियाँ कैसे आई। शायद दो खास प्रभाव--ब्राह्मण या हिन्दू धर्म और यूनानी--ऐसे थे, जिन्होने बौद्ध विचार-धारा को एक ही समान दिशा की तरफ मोड दिया।

जैसाकि मैंने कई बार तुम्हे बताया है, बौद्ध धर्म जात-पात, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के खिलाफ बगावत करता था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा पसन्द नहीं करते थे, उनका यह भी दावा नहीं था कि वह ईश्वर है और उनकी पूजा की जाय। वह तो बुद्ध--आप्त-पुरुष--थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस जमाने में बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं, और उस समय के मन्दिरो में मूर्तियाँ नहीं रक्खी जाती थीं। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध सिद्धान्तो में हिन्दू विचार और हिन्दुओ के चिह्न दाखिल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। यूनान और रोम के कारीगर भी देवताओ की मूर्तियो के बनाने के आदी थे। इस तरह धीरे-धीरे बौद्ध मदिरो में मूर्तियों का दखल हो गया। शुरू में जो मूर्तियाँ बनीं, वह बुद्ध की नहीं, बल्कि बोधि-सत्व की थीं, जो बौद्धकथा के मुताबिक़ बुद्ध के पहले के अवतार हुए है। यह तरीक़ा जारी रहा, यहाँ तक कि अखीर में बुद्ध की मूर्ति भी बनाली गई और उसकी पूजा होने लगी।

बौद्ध धर्म के 'महायान' सम्प्रदाय ने इन परिवर्त्तनो का स्वागत किया। ब्राह्मण

विचारधारा से वह बहुत कुछ मिलता-जुलता था। कुशान सम्राट 'महायान' मत के अनुयायी हो गए और उन्होने उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हे 'हीनयान' मत और दूसरे धर्मों से कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने पारसी धर्म को भी प्रोत्साहन दिया था।

'महायान' और 'हीनयान' सिद्धान्तो की श्रेष्ठता के बारे में बडे-बडे विद्वानो में जो बहस-मुबाहसे हुआ करते थे, उनके पढ़ने से बडा मनोरजन होता है। इसके लिए संघ के बडे-बडे जलसे हुआ करते थे। कनिष्क ने काश्मीर में सघ की एक बहुत बडी परिषद की थी। कई सौ बरसो तक इस सवाल पर बहस-मुबाहिसा जारी रहा। 'महायान' उत्तर हिन्दुस्तान में कामयाब रहा और 'हीनयान' दक्षिण भारत में। अन्त में इन दोनो ही को हिन्दू धर्म ने हज़म कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में 'महायान' मत पाया जाता है, और लका और बर्मा में 'हीनयान'।

किसी जाति की कला वह शीशा है, जिसमें हमें उसके मन का सच्चा चित्र दिखाई देता है। इसलिए जब शुरू के बुद्ध सिद्धान्तो में सादगी के बजाय जटिल और अलकारपूर्ण प्रतीकवाद आगया तब भारतीय कला भी ज्यादा-से ज्यादा पेचीदा और अलकारपूर्ण होती गई। ख़ासतौर से उत्तर-पश्चिमी गधार की महायानी मूर्तियाँ बहुत अलंकारपूर्ण और पेचीदा थीं। 'हीनयान' मत के शिल्पी भी अपनेको इस नई हवा से न बचा सके। धीरे-धीरे वे भी अपनी शुरू की सादगी और सयम छोड़ बैठे और बहुत पेचीदा और गहरी खुदाई के काम की ओर झुक गये।

उस ज़माने की कुछ यादगारे आज भी मिलती है। अजन्ता की सुन्दर मूर्तियाँ उनमें सबसे अधिक दिलचस्प है। तुम पारसाल उन्हें देखते-देखते रह गई। अगर वहाँ जाने का तुम्हे फिर मौका मिले तो ज़रूर जाना।

अब हम कुशान लोगो से विदा लेंगे। लेकिन एक बात याद रक्खो, कि शक और तुर्की जातियों की तरह कुशान लोग हिन्दुस्तान में इस तरह नही आये और न इस तरह राज्य ही किया जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए मुल्क पर करता है। ये लोग हिन्दुस्तान से और हिन्दुस्तान की जनता से धर्म के बन्धन में बधे हुए थे। इसके अलावा उन्होने हिन्दुस्तान के आर्यो की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि उन लोगो ने अपनेको बहुत हद तक आर्य प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, वे तीन सौ बरस तक कामयाबी के साथ उत्तर हिन्दुस्तान पर हुकूमत करते रहे।

: ३१ :

ईसा और ईसाई धर्म

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान के कुशान साम्राज्य और चीन के 'हन्' वंश का बयान करते-करते हम इतिहास की एक मशहूर घटना के आगे बढ आये, इसलिए यह जरूरी है कि हम उसके पास वापस लौट चलें। अभीतक हम जो कुछ तारीखें देते थे, वे ई० पू० (B C.=Before Christ) यानी ईसा के पूर्व की थीं। अब हम ईसवी सन् में पहुँच गये हैं। यह सन् जैसाकि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से शुरू होता है। सच तो यह है कि गालिबन ईसा का जन्म इससे चार बरस पहले ही हो गया था। लेकिन उससे कोई ज्यादा फरक नहीं पडता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओ की तारीखो के आगे, ई० स० (A D=Anno Domini)—ईश्वर के वर्ष में—लिखने का रिवाज हो गया है। इस बहु-प्रचलित रिवाज के मुताबिक चलने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन मुझे ई० स० के बजाय ई० प० (A C.=After Christ)—ईसा के पश्चात्—लिखना ज्यादा वैज्ञानिक मालूम होता है, जैसाकि हम ईसा के जन्म के पहले की तारीखो के लिए ई० पू० लिखते रहे हैं। मैं इस पुस्तक में ई० प० ही लिखूगा।

ईसा, या जैसाकि अंग्रेजी में उसका नाम है जीसस, की कहानी बाईबिल के नये अहदनामे (New Testament) में दी गई है और तुम्हे उसके बारे में कुछ मालूम भी है। बाईबिल के इन भागो में, जो गोस्पेल कहलाते हैं, जो विवरण है उनसे उनकी जवानी का बहुत कम हाल मिलता है। वह नैजरथ में पैदा हुए, गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस बरस से ज्यादा उम्र होने पर जेरूसलेम आये। इसके थोडे ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुकद्दमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशो में अभी तक लोगो का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशो में घूमे थे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वह हिन्दुस्तान आये थे। निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानो ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे इस बात पर भरोसा नहीं करते कि ईसा हिन्दुस्तान या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हो तो यह कोई नामुमकिन बात भी नहीं कही जा सकती। उस जमाने में हिन्दुस्तान के बडे-बडे विश्व-

विद्यालय खासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय ऐसा था कि दूर दूर देशों के उत्साही विद्यार्थी खिंचकर यहाँ आते थे, और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों से पूरी-पूरी वाकफियत थी। लेकिन बुद्ध-धर्म दूसरे मुल्कों में काफी प्रचलित था, और इसलिए ईसा हिन्दुस्तान आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

जैसा कि स्कूल का हरेक लड़का या लड़की जानती है, धर्म के कारण बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ और घातक युद्ध हुए हैं। लेकिन संसार के मजहबों की शुरूआत पर ग़ौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प अध्ययन है। इन मजहबों के सिद्धान्तों और आदर्शों में इतनी समानता है, कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग इतने बेवकूफ क्यों बन जाते हैं कि तफसीलों और ग़ैर-जरूरी बातों के बारे में झगड़ा करने लगते हैं। पुराने सिद्धान्तों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। असली गुरु की जगह पर कट्टर, तंगदिल और असहिष्णु हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मजहब ने साम्राज्यवाद और राजनीति के गुलाम का-सा काम किया है। पुराने रोमन लोगों की तो यह नीति रही है कि जनता की भलाई के लिए, या यों कहो कि उसके शोषण के लिए, उसमें अन्ध विश्वास पैदा किया जाय। अन्धविश्वासी होने पर उसे दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। उच्च वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बड़ी ऊँची-ऊँची फिलासफी बघारते या ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक विचार रखते थे लेकिन अमल में, जिस चीज को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, जनता के लिए वह न तो हितकर होती थी न खतरे से खाली। पिछले जमाने के एक मशहूर इटालियन लेखक मैकियावेली ने राजनीति पर एक किताब लिखी है। उसका कहना है कि मजहब सरकार के लिए जरूरी चीज है और ऐसे मजहब तक की मदद करना शासक का फर्ज है जिसे वह बिलकुल गलत समझता हो। इस जमाने में भी हमारे सामने इस बात की बहुत सी मिसालें हैं कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना आश्चर्यजनक नहीं है कि "मजहब जनता की अफीम है।"

ईसा यहूदी थे। यहूदी लोग बड़े अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी अथवा व्यवसायी होते थे और हैं। दाऊद और सुलेमान के जमाने के थोड़े से दिनों के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आए। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में,

लेकिन अपनी कल्पना में उन्होने उसे यहाँ तक बढा-चढा दिया कि अखीर में उनके लिए वह अतीत का सुवर्णयुग बन गया, और उनका विश्वास था कि वह एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी लोग फिर महान और ताकतवर होजायँगे । वे रोमन साम्राज्य-भर में और दूसरे मुल्को में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में एक दूसरे से मजबूती से बधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले है, और एक मसीहा उन्हे वह दिन दिखावेगा । इतिहास की यह एक अद्भुत बात है कि किस तरह बे-घरबार के और आश्रयहीन, अत्यन्त अत्याचार-पीड़ित और मुसीबतजदा और अकसर मौत तक का शिकार बनाये जानेवाले यहूदियो ने दो हजार बरस से ज्यादा तक अपने व्यक्तित्व को बचाये रक्खा, और आज भी उनमें आपस में एकता है और वे धनवान और शक्ति-सम्पन्न है ।

यहूदी एक मसीहा का इन्तजार कर रहे थे, और शायद ईसा से उन्हे इसी तरह की उम्मीदें थीं । लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदो पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा एक अजीब भाषा में चालू तरीको और सामाजिक सगठन के खिलाफ बगावत की बाते कहा करते थे । खास तौर से वे अमीरो और उन ढोगियो के खिलाफ थे, जिन्होंनें खास तरह की पूजा-पाठ और रस्म-रिवाज को ही धर्म बना रक्खा था । धन-दौलत और ऐश्वर्य बढाने की आशा दिलाने के बजाय, वह, उल्टे, स्वर्ग का अव्यक्त और काल्पनिक राज्य प्राप्त करनें के लिए, लोगो को, उनके पास जो कुछ था उसे भी त्याग देने को कहते थे । वह अपनी बात रूपक और कहानियो के रूप में कहा करते थे, और यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही ऐसे विद्रोही थे, जो मौजूदा हालत को सह नही सकते थे, और उसे बदलने के लिए तुले बैठे थे । लेकिन यह तो वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे, इसलिए उनमें से ज्यादातर लोग उनके खिलाफ हो गये और उनको पकडकर रोमन अधिकारियो के सुपुर्द करदिया ।

मजहबी मामलो में रोमन लोग असहनशील नहीं थे । साम्राज्य में हर मजहब को बर्दाश्त किया जाता था और अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा-भला भी कह जाता था, तो उसे सजा नहीं दी जाती थी । टाईबेरियस नाम के एक रोमन सम्राट नें कहा था कि "अगर देवताओ का अपमान होता है तो उन्हे खुद को ही इसका इन्तजाम करना चाहिए ।" इसलिए जब रोमन गवर्नर पान्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गये, तो इस मुकदमे के मजहबी पहलू की उसे जरा भी चिन्ता न हुई होगी । ईसा एक राजनैतिक बागी, और, यहूदियो की दृष्टि में, सामाजिक विद्रोही समझे जाते थे और इसी जुर्म में गेथसीमेन नामक जगह पर उनपर मुकदमा चलाया गया, और सजा दी गई, और गोलगोथा नामक जगह पर उन्हे सूली पर

लटकाया गया। उनकी मुसीबत की घडी में, उनके चुने हुए शिष्य तक उन्हे छोड़कर भाग खडे हुए, और यहाँ तक कह बैठे कि वह उनको जानते तक नही। अपने इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को बहुत असह्य बना दिया, जिससे मरते समय वह विचित्र रूप से दिल को हिला डालने वाले इन शब्दो में चिल्ला उठे:—

"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तू ने मुझे क्यो छोड दिया है?"

ईसा जब मरे, तब वह जवान ही थे। उस वक्त उनकी उमर तीस बरस से कुछ ही ज्यादा थी। हम बाईबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की दुखान्त करुण-कहानी पढते हैं और हमारा दिल हिल जाता है। अगली सदियो में ईसाई-धर्म की जो तरक्की हुई, उसने लाखो आदमियो के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा करदी है, लेकिन उन लोगो ने उनके उपदेशो पर अमल करने की तरफ बहुत कम ध्यान दिया है। हमें याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गये थे, तब उनका नाम फिलस्तीन से बाहर बहुत ज्यादा मशहूर नहीं था। रोम के लोग उनके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, और पाण्टियस पाइलेट ने इस वाक़ये को बहुत थोडा ही महत्त्व दिया होगा।

ईसा के नजदीकी शिष्य और अनुयायी इतने डर गये थे कि वे उनके साथ अपने सम्बन्ध तक से इन्कार करने लगे थे। लेकिन जल्द ही पॉल नामके एक नये अनुयायी पैदा हुए, जिन्होने ईसा को तो खुद नही देखा था, लेकिन उन्होंने अपनी समझ के मुताबिक ईसाई-धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगो का ख़याल है कि जिस ईसाई धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के सिद्धान्तो से बहुत कुछ अलग चीज है। पॉल एक काबिल और विद्वान पुरुष थे, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं थे। पॉल कामयाब हुए और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगो ने शुरू में इस बात को कोई महत्व नही दिया। उन्होंने ख़याल किया कि ईसाई मत भी यहूदियो का ही एक सम्प्रदाय है। लेकिन ईसाई लोग उग्र थे, वे दूसरे सारे धर्मों के ख़िलाफ थे और उन्होंने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति और जैसी कि उनको मालूम हुई, इस तंग ख़याली—को समझ नही सके, इसलिए वे ईसाइयो को सनकी, झगड़ालू, बदतमीज और इन्सानी तरक्की—मानव प्रगति का विरोधी समझते थे। मजहबी निगाह से वे लोग उनको बरदाश्त कर सकते थे, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से, उसका आदर करने से, उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सजा मौत क़रार दी गई। ईसाई ग्लेडियेटरवाले दंगलो की भी मुख़ालिफत करते थे। इन बातो का नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर ईसाई सताये

जानें लगे। उनकी जायदादें जब्त की जाने लगीं, और उन लोगो को शेरो के आगे फेंका जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदो के क़िस्से पढे होगे और शायद तुमने इनका सिनेमा-फिल्म भी देखा होगा। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और इससे भी ज्यादा ऐसी मौत में गौरव महसूस करने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबा देना नामुमकिन हो जाता है। वही हुआ। रोमन साम्राज्य ईसाई मत को दबानें में बिलकुल नाकामयाब रहा। सचमुच इस लडाई में ईसाई मत विजयी हुआ और ईसा के बाद की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट खुद ईसाई होगया और ईसाई मत साम्राज्य का सरकारी मजहब बन गया। इस सम्राट का नाम कास्टेण्टाइन था, जिसने कास्टेण्टिनोपुल यानी कुस्तुन्तुनिया बसाया है।

ज्यो-ज्यो ईसाई मत बढता गया, त्यो-त्यो ईसा के देवत्व के सम्बन्ध में बडे जबर्दस्त झगडे होने लगे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे कहा था कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह अवतार समझे जाने लगे और देवता की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी खुदा होने का कोई दावा नही किया था। उनके बार-बार इस बात को दुहराने का कि वह ईश्वर के और मनुष्य के बेटे है, जरूरी तौर पर यह अर्थ नहीं है कि उन्होने अपने मनुष्यो से ऊँचा होने का दावा किया था। लेकिन लोग अपने बडे आदमियो को देवता बनाना पसन्द करते है, और देवता बनाने के बाद उनकी बातो पर चलना छोड देते है। छ सौ साल बाद पैग़म्बर मुहम्मद ने एक दूसरा बडा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणो से फायदा उठाते हुए ही उन्होने साफ-साफ शब्दो में बार-बार यह कहा कि वह आदमी है, खुदा नहीं।

इस तरह ईसा के सिद्धान्तो और उसूलो को समझने और उनपर अमल करने के बजाय, ईसाई लोग, ईसा के देवत्व और त्रिमूर्त्ति (ट्रिनिटी) के सम्बन्ध में आपस में बहस-मुबाहिसा करने लगे और झगडने लगे। वे एक दूसरे को काफिर—नास्तिक कहते, एक दूसरे पर अत्याचार करते और एक दूसरे का गला काटने लगे। एक वक्त ईसाइयो के मुख्तलिफ सम्प्रदायो में एक सयुक्त शब्द के ऊपर बहुत जोरदार और जबर्दस्त झगडा शुरू हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो आउजन (Homo-Ousion) शब्द इस्तेमाल किया जाय, दूसरा होमोइ आउजन (Homoi-Ousion) कहलाना चाहता था। इस मत-भेद का ईसा के देवत्व से सम्बन्ध था। इस सयुक्त शब्द के पीछे बहुत भयकर लडाई हुई और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यो-ज्यो ईसाई-सघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यो-त्यो ये घरेलू झगडे बढ़ते गये।

और पश्चिमी देशो में, जुदे-जुदे ईसाई सम्प्रदायो में अभी हाल तक चलते रहे है।

तुम्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि इग्लैण्ड में, या पश्चिमी योरप में पहुँचने के बहुत पहले और उस वक्त जब कि खुद रोम तक में वह तुच्छ और 'वर्जित सम्प्रदाय' समझा जाता था, यह धर्म हिन्दुस्तान में पहुँच गया था। ईसा के मरने के करीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण हिन्दुस्तान आये थे। उनका बहुत शिष्टाचार के साथ स्वागत किया गया और उन्हे अपने नये मजहब के प्रचार करने की इजाजत दे दी गई। उन्होने बहुत बडी तादाद में लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाया और, ये लोग तब से आज तक दक्षिण भारत में कभी आनद में और कभी मुसीबत में रहते आये है। उनमें से बहुत से उन प्राचीन सम्प्रदायो के अनुयायी है, जिनकी अब योरप में हस्ती तक नहीं है। आजतक इनमें से कुछ के केन्द्र एशिया माइनर में है।

ईसाई मत, राजनैतिक दृष्टि से, सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म है, क्योकि उसीके अनुयायी योरप में प्रभावशाली है। लेकिन जब हम एक तरफ अहिसा का और सामाजिक प्रणाली के खिलाफ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा का खयाल करते है, और दूसरी तरफ ऊँची-ऊँची आवाज में चिल्लानेवाले आजकल के अनुयायियो से और उनके साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रो, युद्धो और धन की पूजा से उनकी तुलना करते है, तो हमें हैरत में रह जाना पडता है। ईसा का पहाडी पर दिया हुआ उपदेश (Sermon on the Mount) और आजकल का योरप तथा अमरीका का ईसाई मत इन दोनो में कितनी जबर्दस्त असमानता पाई जाती है। इसलिए कोई ताज्जुब की बात नही अगर बहुत से लोग यह सोचने लगें, कि ईसा के, आजकल के पश्चिम के ज्यादातर अनुयायियो के मुकाबिले में बापू—महात्मा गान्धी ईसा की शिक्षा के कहीं नजदीक है।

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

मैंने बहुत दिनो से तुम्हे खत नही लिखा। इलाहाबाद की खबर ने मुझे परेशान कर दिया था और मेरे दिल को थर्रा दिया था। खासतौर से तुम्हारी बूढी दादी, डोल अम्मा की खबर ने। जब मैं सुनता हूँ कि कमजोर और दुबली मा को पुलिस की लाठियो का सामना करना पड़ा और लाठियाँ सहनी पडी तो मुझे जेल की अपनी यह

आराम-आसाइश खटकती है। लेकिन मैं अपने ख़याली को अपने साथ बहने नहीं दे सकता, न उन्हे इस कहानी के सिलसिले में किसी तरह की बाधा ही डालनें दे सकता हूँ।

अब हमें फिर रोम, या प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो के रोमक देश, को लौटना चाहिए। तुम्हे याद होगा कि हम रोमन प्रजातन्त्र के विनाश की कहानी जान चुके थे, और रोमन साम्राज्य के कायम होने की बात कर रहे थे। जूलियस सीजर का गोद लिया हुआ लडका आक्टेवियन, आगस्टस सीजर के नाम से बादशाह बन चुका था। वह अपने को राजा नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि राजा की उपाधि उसको अपने लिए काफी शानदार नहीं मालूम होती थी, और दूसरे यह कि वह प्रजातन्त्र की रूपरेखा कायम रखना चाहता था। इसलिए वह अपने को 'इम्परेटर' यानी हुक्म देनेवाला कहता था,। इस तरह से 'इम्परेटर' सबसे ऊँचा ख़िताब समझा जाने लगा। और तुम जानती हो कि अंग्रेज़ी का 'इम्परर' (सम्राट) शब्द इसीसे निकला हैं। इस तरह से रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे पैदा किये, जिनकी आकाक्षा और उपयोग करीब-करीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनो तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'इम्परर' (सम्राट) और 'सीज़र' या 'कैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक्त में एक ही सम्राट हो सकता है, जोकि सारी दुनिया का एक तरह से मालिक हो। रोम दुनिया का स्वामी समझा जाता था, और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया पर रोम हावी है। यह बात निस्सन्देह ग़लत थी और सिर्फ भूगोल और इतिहास के प्रति लोगो का अज्ञान ज़ाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य तो ख़ासतौर से भूमध्यसागर के किनारे पर बसा हुआ एक साम्राज्य था और इसकी सीमा पूरब की तरफ मेसोपोटेमिया से आगे कभी नहीं बढी। समय-समय पर चीन और हिन्दुस्तान में इससे कहीं ज्यादा ताकतवर, बडे और सुसस्कृत राज्य हुए हैं। फिर भी जहाँ तक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक़ था, रोम का साम्राज्य उसके लिए एक मात्र साम्राज्य था, और इसी ख़याल से पुराने ज़माने के लोगो की नज़रो में वह सार्वभौम साम्राज्य समझा जाता था। उस समय उसका रोब ख़ूब बढ़ा हुआ था।

रोम के बारे में सबसे ताज्जुब की बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर क़ब्ज़ा करने और दुनिया की रहनुमाई करने का भाव छिपा था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे ताक़त दी। और यह भाव तब भी कायम रहा जब रोम से उसका ताल्लुक छिन्न-भिन्न हो चुका था। यहाँ तक कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन होगया और उसकी छाया भर रह गई, किन्तु यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियो के बारे में लिखते हुए कुछ दिक्कत मालूम होती है। तुम्हे बताने के लिए कुछ बातो का चुनाव करना आसान काम नही है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी किताबें मैंने पढी है, उनसे तरह-तरह की बेतरतीब तसवीरो की उलझी हुई शकले मेरे दिमाग़ में आगई है। फिर जो कुछ मैंने पढा, ज्यादातर जेल में पढा है। सच तो यह है कि यदि मै जेल न आया होता तो रोमन इतिहास की एक मशहूर किताब शायद कभी न पढ़ पाता। यह किताब इतनी बडी है कि दूसरे कामो के होते हुए इसे पूरी पढ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना मुश्किल है। इस किताब का नाम है 'रोमन साम्राज्य का पतन'—(Decline and Fall of the Roman Empire)। इसका लेखक गिबन नामक एक अग्रेज है। यह किताब, करीब डेढसौ बरस हुए, स्वीजरलैण्ड में लौक लेमन झील के किनारे लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढने में रस आता है और मुझे तो इसके अन्दर बयान की हुई कहानिया, जो बडी लच्छेदार पर मीठी भाषा में लिखी गई है, किसी भी उपन्यास से अधिक मनोरजक मालूम हुई। करीब १० वरस हुए मैंने इसे लखनऊ जिला जेल में पढा था। क़रीब एक महीना तक गिबन का मेरा साथ रहा, और उसकी भाषा नें पुराने जमाने की जो तसवीरे मेरे सामनें खींची, उनमें मै लीन हो गया था। लेकिन ख़तम होने के थोडे पहले ही मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए १०० पन्नों को पढने और प्राचीन रोम और कुस्तुनतुनिया को लौट जाने की मनोवृत्ति अपने अन्दर लाने में मुझे कुछ दिक़्कत हुई।

लेकिन यह बात १० वर्ष पुरानी है, और मैंने जो कुछ पढा था उसका बहुत कुछ हिस्सा भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और उसे घपले में डालनें के लिए बहुत-कुछ मौजूद है। और मं यह नहीं चाहता कि यह घपला मेरे दिमाग़ से तुम्हारे दिमाग़ में चला जाय।

पहले हम रोमन साम्राज्य या जुदा-जुदा युगो में बननेवाले साम्राज्यों पर एक नजर डाल ले। बाद में शायद कोई इन तस्वीरो में कुछ और रंग भरने की कोशिश करेगा।

ईसाई सन् के शुरू में आगस्टस सीजर के साथ साम्राज्य की शुरूआत होती है। कुछ दिनो तक सम्राट लोग सिनेट की इज्जत करते रहे, लेकिन बहुत जल्द प्रजातन्त्र के आखिरी निशानात भी मिट गये। सम्राट सर्वशक्तिमान्, पूरी तरह निरकुश और देवतुल्य हो गया। उसकी जिन्दगी में ही देव-तुल्य समझकर लोग उसकी पूजा करते थे, और अपनी मौत के बाद वह पूरा देवता हो जाता था। उस

जमाने के सभी लेखको ने शुरू के सम्राटो, खासकर आगस्टस, को सब गुणो से संपूर्ण बताया है। ये लोग उस जमाने को सतयुग या आगस्टस का युग कहते हैं, जबकि सारी अच्छाइया मौजूद थीं, और भलो को इनाम तथा बुरों को सजा मिलती थी। निरकुश राजाओ के मुल्को में लेखको का यही ढग रहा है, क्योकि जाहिर है कि शासक की तारीफ करने में फायदा रहता है। वर्जिल, ओविड, होरेस जैसे मशहूर लैटिन लेखक, जिनकी किताबें हमें स्कूल में पढनी पडी थीं, इसी जमाने में हुए थे। यह मुमकिन है कि गृहयुद्धो और उन फिसादो के बाद, जो कि प्रजातन्त्र के आखिरी दिनो में बराबर होते रहे, शान्ति और इत्मीनान का ऐसा जमाना आने से लोगो को तसल्ली मिली हो, जब व्यापार बढ सकता था और सभ्यता के भी कुछ चिन्ह प्रकट होने लगे थे।

लेकिन यह सभ्यता क्या थी ? यह अमीर आदमियो की सभ्यता थी और ये अमीर लोग प्राचीन यूनान के अमीरो की तरह कुशाग्रबुद्धि और कलाप्रिय भी नहीं थे, यह मामूली मदबुद्धि लोगो का एक गिरोह था, जिनका खास काम मजे से जिंदगी गुजारना हुआ करता था। सारी दुनिया से ऐश-आराम और खाने-पीने की चीजें इनके लिए आती थीं, और चारो तरफ बडी शान-शौकत और तड़क-भडक दिखाई देती थी। इस किस्म के आदमियो का गिरोह आज भी मिटा नहीं है। वहाँ शान-शौकत और आडम्बर की अधिकता थी और चटक-मटक वाले जुलूस निकलते थे। सरकसो में तरह-तरह के खेल होते थे और ग्लेडियेटर लोग मारे जाते थे। लेकिन इस ऐश्वर्य के पीछे जनता की मुसीबत छिपी थी। टैक्स बहुत बढा हुआ था, जिसका बोझ खास तौर से मामूली आदमियों पर पडता था और काम का बोझ बेशुमार गुलामो पर था। रोम के इन बडे आदमियो ने चिकित्सा, दार्शनिक गुत्थियो के सुलझाने और चिन्तन के काम भी ज्यादातर यूनानी गुलामो पर छोड रक्खे थे। ये लोग अपने को जिस दुनिया के मालिक बताते थे उसके बारे में ठीक बाते जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे जरा भी कोशिश नहीं करते थे।

सम्राट के बाद सम्राट गद्दी पर बैठते गये। इनमें कोई बुरा था, तो कोई बहुत ही बुरा था। धीरे-धीरे सारी ताक़त फौज के हाथ में आगई और वह अपनी मरजी के मुताबिक सम्राटो को बनाने-बिगाडने लगी। हालत यहाँ तक बिगडी कि फौज का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए बोली बोली जाने लगी और फौज को रिश्वत देने के लिए जनता या हराये हुए देशो का शोषण किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बडा वसीला गुलामों का व्यापार था और रोम की फौजें पूरब में बाकायदा गुलामो को पकड़ने जाया करती थीं। फौज के साथ गुलामो के व्यापारी भी होते थे। ताकि

मौके पर गुलामो को खरीद सके। डेलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी लोग बड़ा पाक समझते थे, गुलामो की एक वडी मडी वन गई थी—यहा तक कि कभी-कभी दस-दस हजार गुलाम एक दिन में विक जाते थे। रोम के विशाल कोलोजियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारहसौ ग्लेडियेटरो को एक साथ जनता के सामने हाजिर करता था। इन अभागे गुलामो को सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरजन के लिए मरना पड़ता था।

साम्राज्य के दिनो में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिवन ने लिखा है––"अगर किसी आदमी से यह पूछा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह युग वताओ जव मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और खुशहाल रहा हो, तो विना सकोच के वह उस युग का नाम लेगा जिसका समय डोमीशियन की मृत्यु से कामोडस के गद्दी पर वैठने तक था––यानी ई० सन् ९६ से १८० तक के दरमियान ८४ वर्ष का जमाना।" मुझे डर है कि, गिवन चाहे कितना ही वडा विद्वान रहा हो, पर जो कुछ उसने कहा है, उससे वहुत से आदमी सहमत होने में सकोच करेगे। गिवन जव मनुष्य जाति की वात करता है, तव उसका मतलब भूमध्यसागर के आस-पास वसी दुनिया से ही है। उसे हिन्दुस्तान, चीन या प्राचीन मिस्र का हाल कुछ भी मालूम न रहा होगा, या रहा होगा तो वहुत ही कम।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोमन राज्यो में थोडा-वहुत अमन-चैन होने की वजह से जरूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदो पर अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनो में साम्राज्य के अन्दर 'रोमन शान्ति' (पैक्स रोमाना) विराजती थी। जान-माल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक्की हुई। रोमन-नागरिकता के अधिकार सम्पूर्ण रोमन दुनिया को दे दिये गये थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे गुलामो को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है कि सम्राट सर्वशक्तिमान था और नागरिको को वहुत कम अधिकार थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा करना सम्राट के प्रति वगावत करना समझा जाता था। ऊँचे वर्ग के लोगो के लिए किसी हद तक एक किस्म की सरकार और एक कानून था। यह एक बहुत बडे फायदे की बात उन लोगो के लिए रही होगी, जो इससे निरकुशता के शिकार रह चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि अपनी फौज में

१ कोलोजियम—रोम का वहुत बड़ा अखाडा जो उस समय दुनिया मे सबसे वड़ा अखाड़ा माना जाता था।

भरती होकर लडने की ताकत भी उनमें न रही। गाँव के किसान, अपने पर लदे हुए बोझ की वजह से ज्यादा गरीब होते गये। यही हाल शहर के लोगो का भी हुआ। लेकिन सम्राट शहर के लोगो को खुश रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगडा-बखेडा खडा न करे। इसके लिए रोम के लोगो को मुफ्त रोटिया दी जाती थीं, और उनके मनोरजन के लिए सरकसो में खेल-तमाशे भी मुफ्त में दिखाये जाते थे। इस तरह वे खुश रक्खे जाते थे। लेकिन ये मुफ्त की रोटियाँ सिर्फ चन्द जगहो में ही बाटी जा सकती थीं, और उसके लिए मिस्र जैसे मुल्को की गुलाम प्रजा को बेहद तकलीफ और मुसीबत उठानी पडती थी क्योकि उनसे मुफ्त का आटा लिया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हे रोमन 'बर्बर' कहते थे, सेना में लिये जाते थे। इस तरह रोम की सेनायें ज्यादातर उन लोगो की हो गईं जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनो के दोस्त या रिश्तेदार थे। सरहदो पर ये 'बर्बर' जातियां बराबर रोमनो को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यो-ज्यो रोम कमजोर होता गया, बर्बर लोग ज्यादा मजबूत और उद्दण्ड होने लगे। पूरब में खास तौर से खतरा था। और चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसकी रक्षा करना सरल नहीं था। आगस्टस सीजर के तीन सौ बरस बाद, कास्टेण्टाइन नाम के एक सम्राट ने एक ऐसा महत्वपूर्ण काम किया, जिसका आगे चलकर बहुत ही व्यापक नतीजा निकला। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर पूरब को लेगया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, बास्फरस के किनारे पर बसे हुए बिजैंटियम नामके पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कास्टेण्टिनोपुल--कुस्तुन्तुनिया--रक्खा। कुस्तुन-तुनिया या नया रोम रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सो में कुस्तुन्तुनिया को रोम या रूम कहते है।

: ३३ :

रोमन साम्राज्य का उच्छेद

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी सन् की चौथी सदी के शुरू--यानी सन् ३२६ में कास्टेण्टाइन नें पुराने बिजैण्टियम के नजदीक कुस्तुन्तुनिया शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से बास्फोरस के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम को ले आया। नकशे पर एक नज़र

डालो। तुम्हे मालूम होगा कि कुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर योरप के किनारे खडा महान शक्तिशाली एशिया की ओर देख रहा है। यह दो महाद्वीपो के बीच एक कडी के समान है। बहुतेरे बडे-बडे तिजारती रास्ते, खुश्की के भी और समुद्र के भी, इसीसे होकर गुजरते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौके की जगह है। कास्टेन्टाइन ने चुनाव अच्छा किया। लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे और उसके वारिसो को काफी कीमत चुकानी पडी। जिस तरह से पुराना रोम एशिया माइनर और पूर्वी हिस्सों से बहुत दूर पडता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गाल-जैसे पश्चिमी देशो से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो सयुक्त सम्राट हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा कुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनो तक इस धक्के को बरदाश्त न कर सका। जिन लोगो को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गाथ नाम का एक जर्मन फिरका आया और उसनें रोम को लूट लिया। इसके बाद वाडाल और हूण आये। और पश्चिमी साम्राज्य बैठ गया। तुम ने हूण शब्द सुना होगा। इस बात को साबित करने के लिए कि जर्मन लोग बहुत ज़ालिम और जगली हैं, पिछले महायुद्ध में अग्रेज जर्मनो के लिए इस शब्द का इस्तैमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लडाई के जमाने में हर आदमी का दिमाग़ फिर जाता है, सभ्यता या शराफत के बारे में जो कुछ वह सीखा होता है, वह सब भूल जाता है, और निर्दय एव जगली-सा व्यवहार करने लगता है। जर्मन लोग भी इसी तरह व्यवहार करते थे और अग्रेज़ तथा फ्रासीसी भी। दोनो में कोई फरक नहीं था।

इस तरह से हूण शब्द क्रूरता को जाहिर करनेवाला एक भयंकर निंदात्मक शब्द बन गया है। यही हाल वाडाल शब्द का भी है। गालिबन ये हूण और वांडाल की कौमें बहुत कठोर और निर्दयी थीं, और इन्होने बहुत नुकसान पहुँचाया। लेकिन एक बात यहाँ न भूलनी चाहिए कि इनके बारे में हमें जो कुछ हाल मालूम होते हैं, इनके दुश्मन रोमन लोगो के लिखे हुए हैं, और कोई उनसे निष्पक्ष होकर लिखने की उम्मीद नहीं कर सकता। कुछ हो, गाथ, वाडाल और हूण लोगो ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह गिरा दिया। इन लोगो के इतनी आसानी से कामयाब हो जानें की एक वजह शायद यह है कि रोमन किसान साम्राज्य की मातहती में बहुत मुसीबत में थे। उन पर इतना टैक्स था, और वे इतने ज्यादा क़र्ज़

में डूबे हुए थे, कि उनका किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था, जैसे आज गरीब हिन्दुस्तानी किसान अपनी भयकर गरीबी और मुसीबत से बचने के लिए किसी भी तकलीफ का स्वागत करने को तैयार होगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य नष्ट हो गया। कुछ सदियो के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा, पूर्वी साम्राज्य ज्यो का त्यो कायम रहा, हालाकि हूण और दूसरी कौमो के हमलो का मुकाबिला करने में इसको बहुत तकलीफें उठानी पडीं। यही नहीं कि यह साम्राज्य इन हमलो से अपनी रक्षा कर सका हो, बल्कि अरबो, और बाद को तुर्कों, से बराबर लडाई चालू रहते हुए भी यह सदियो तक चलता रहा। ग्यारहसौ वर्षों के आश्चर्यजनक अर्से तक यह कायम रहा। आख़िरकार ई० सन् १४५३ में, इसका पतन हो गया और कुस्तुन्तुनिया पर ओटोमन या उस्मानली तुर्कों ने कब्ज़ा कर लिया। उस वक्त से आज तक करीब पाच सौ वर्षों से कुस्तुन्तुनिया या इस्ताम्बुल तुर्कों के कब्ज़े में है। उस जगह से तुर्क लोगो ने बराबर योरप पर हमला किया है और वियेना की दीवारो तक पहुँचे है। पिछली सदियो में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गये, और बारह वर्ष गुजरे, महायुद्ध में हारने के बाद-कुस्तुन्तुनिया का शहर भी करीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। शहर पर अग्रेजो का कब्ज़ा था और तुर्की सुलतान अग्रेजो के हाथ की कठपुतली हो रहा था। लेकिन एक बहुत बडा नेता, जिसका नाम मुस्तफा कमाल पाशा है, अपनी कौम को बचाने के लिए सामने आया और एक बहादुराना लडाई के बाद वह सफल हुआ। आज टर्की प्रजातत्र है और सुल्तान हमेशा के लिए ख़तम हो गये है। कमाल पाशा इस प्रजातत्र के प्रमुख है। कुस्तुन्तुनिया जो पन्द्रहसौ बरस तक पूर्वीय रोमन साम्राज्य और फिर तुर्कों की राजधानी रह चुकी है, अब तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, उसकी राजधानी नहीं। तुर्कों ने इस शहर की राजसी स्मृतियो से अपने को दूर रखना ही मुनासिब समझा और अपनी प्रजातत्र की राजाधानी एशिया माइनर के अन्दर अकारा या अगोरा को बनाया।

हम लोग करीब दो हजार वर्ष के जमाने से तेजी के साथ गुजर गये और कुस्तुन्तुनिया के बसने के बाद, और रोजन साम्राज्य की राजधानी इस नये शहर में आने के बाद जो तब्दीलियां एक-एक करके होती रहीं उनको तेजी के साथ देख गये, लेकिन कान्स्टेन्टाइन ने एक और अद्भुत बात की। वह ईसाई हो गया, और चूकि यह सम्राट था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाई धर्म की हैसियत में इस तब्दीली का एकबारगी आजाना और उसका एक पीड़ित मजहब से राजधर्म बन जाना, एक बडी अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस

तब्दीली की वजह से ईसाई धर्म को बहुत ज्यादा फायदा नही पहुँचा। ईसाइयों के मुख्तलिफ सम्प्रदायो ने आपस में झगडा शुरू कर दिया। आखिर में दो हिस्सो—लैटिन और यूनान—में फूट हो गई। लैटिन हिस्से का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका अध्यक्ष समझा जाता था। बाद को यही रोम का पोप हो गया। यूनानी विभाग का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। लैटिन चर्च उत्तर और पश्चिम योरप में फैल गया और उसे रोमन कैथोलिक चर्च कहने लगे। यूनानी चर्च का नाम कट्टर (आर्थोडाक्स) चर्च पड गया। पूरब के रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही एक खास मुल्क बचा जिसमें आर्थोडाक्स चर्च का बोलबाला था। अब रूस में बोलशेविज्म की स्थापना होने के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई भी सरकारी हैसियत नहीं रही।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का जिक्र किया है, लेकिन इस साम्राज्य का रोम से कोई सम्बन्ध नही था। इस साम्राज्य की भाषा लैटिन नहीं बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ में इसे सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला कह सकते है। इस साम्राज्य का पश्चिमी योरप से भी कोई सम्पर्क नहीं था, हालाकि बहुत दिनो तक इस साम्राज्य ने पश्चिमी देशो के इस हक को मजूर नहीं किया कि वे इससे आजाद रहे। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन लफ्ज नही छोडा, और यहा के लोग रोमन कहलाते रहे, गोया इस लफ्ज में कोई जादू रहा हो। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नही खोया, यहातक कि बर्बर लोग भी, जो इसे विजय करने के लिए आये थे, हिचकते थे और इसके प्रति सम्मान का व्यवहार करते थे। ठीक है, बडे नाम में और खयाल में, ऐसी ही शक्ति होती है।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नये किस्म का साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरे किस्म की चीज थी। कहा जाता था कि ईसा के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए थे, इसकी वजह से बहुत से ईसाइयो की नजरो में इस शहर को खास पवित्रता मिल गई और रोम का बिशप पद बडे महत्व का हो गया। रोम का बिशप दूसरे बिशपो की तरह ही होता था लेकिन जब सम्राट कुस्तुन्तुनिया चले गये, तब इनका महत्व बढ गया। इनके ऊपर हावी होनेवाला कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से ये सब बिशपों के प्रधान समझे जाने लगे। बाद को ये पोप कहलाये, और तुम जानती हो कि पोप आज तक बने हुए है और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते है।

यह एक ताज्जुब की बात है कि रोम चर्च और यूनानी आर्थडाक्स चर्च में

फूट पड़ने की एक वजह मूर्तिपूजा का प्रश्न था। रोमन चर्च खास तौर से ई
माता मेरी और ईसाई धर्म के सन्त-महात्माओं की मूर्तियों की पूजा को प्रो
देता था। आर्थोडाक्स चर्च इसका कट्टर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी क़ौमों के सरदारों का कई पुश्तों तक कब्ज़ा और शासन
लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट की मातहती कबूल करते रहे
दरमियान रोम के बिशप की ताकत, धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहाँ त
उसने यह महसूस किया कि कुस्तुन्तुनिया का मुक़ाबिला करने के लिए हम
मजबूत हैं। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को
बिलकुल अलग कर लिया। इस दरमियान बहुत सी ऐसी बातें हो गई थी, जि
हम बाद को जिक्र करेंगे। एक नया मज़हब इस्लाम अरब में पैदा हो गया था
अरब लोग सारे उत्तरी अफरीका और स्पेन को रौंद चुके थे और योरप के मर्म
पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी योरप में नये राज्य कायम हो रहे थे
अरबों का भयंकर आक्रमण पूर्वी रोमन साम्राज्य पर जारी था।

पोप ने फ्रैंक लोगों के एक बड़े नेता से मदद मांगी। ये फ्रैंक उत्तर की
जर्मन जाति के लोग थे। बाद को फ्रैंकों का सरदार कार्ल या चार्ल्स रोम का स
बनाया गया। यह बिलकुल एक नया साम्राज्य था, लेकिन उन लोगों ने इसे रो
साम्राज्य ही के नाम से पुकारा, बाद को इसका नाम 'पवित्र रोमन साम्रा
(Holy Roman Empire) हो गया। ये सिवाय रोमन के किसी साम्राज्य
कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और यद्यपि शार्लमैन या महान् चार्ल्स का रोम से व
सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्परेटर, सीजर और अगस्टस बन गया। इस
साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन एक शब्द इस
और जुड़ गया और अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए था कि यह विश
तौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह पर तुम्हें फिर विचारों की विचित्र ताकत का पता चलता है। ए
फ्रैंक या जर्मन, जो मध्य योरप में रहता है, रोमन सम्राट बनता है। इस 'पवि
साम्राज्य का आगे आनेवाला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की सूर
में यह एक मामूली चीज़ थी। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिय
थी, राज्य की हैसियत से जारी रहा, पर पश्चिमी साम्राज्य परिवर्तित होता, गायब
होता और समय-समय पर फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य भूत की
तरह था, जिसका सिर्फ ईसाई-चर्च और रोमन नाम के ज़ोर से सैद्धान्तिक अस्तित्व
था। यह साम्राज्य कल्पना की चीज़ थी, जिससे वास्तविकता का कोई ताल्लुक

नही था । किसीने, मेरा ख़याल है शायद वाल्टेयर ने, पवित्र रोमन साम्राज्य की परिभाषा करते हुए कहा था कि, यह कुछ ऐसी चीज़ है, जो न तो पवित्र है, न रोमन है, न साम्राज्य है। जैसे किसीने एक दफा 'इण्डियन सिविल सर्विस' के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में बद-किस्मती से अभी तक परेशान है, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है।

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह धोखा करीब एक हज़ार वर्ष तक केवल अपने नाम के बल पर कायम रहा, और आज से करीब सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए ख़ातमा हो गया । फिर भी इसका ख़ातमा बहुत गैर-मामूली और दिलचस्प नहीं हुआ । किसीने भी इसको ख़तम होते नहीं देखा, क्योंकि असल में बहुत दिनो से इसकी हस्ती ही नही थी । अन्त में इस भूत को दफन कर दिया गया । लेकिन हमेशा के लिए नहीं क्योंकि यह अनेक रूप में कैसर और ज़ार और इसी तरह के नामो से बार-बार प्रकट होता रहा । ये सब चौदह बरस हुए पिछले महायुद्ध में दफना दिये गये ।

: ३४ :

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे डर है कि इन चिट्ठियो को भेजकर अक्सर मैं तुम्हे परेशान कर रहा हूँ और थका रहा हूँ । ख़ासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो खतो से तुम जरूर परेशान हो गई होगी । हज़ारो वर्षो और हजारो मीलो को पार करते हुए कभी मैं आगे बढ गया हूँ और कभी मुझे पीछे हटना पड़ा है । इसकी वजह से अगर तुम्हारे दिमाग़ में कुछ उलझन पैदा हो गई तो कसूर मेरा ही है । पर हिम्मत मत हारो और बढती चलो । अगर किसी जगह पर कोई बात जो मैं कहूँ और तुम्हारी समझ में न आवे तो तुम चिन्ता न करना, और आगे बढ़ती चलना । ये ख़त तुम्हे इतिहास पढाने के लिए नहीं लिखे जा रहे है बल्कि इसलिए लिखे जा रहे है कि तुम्हे एक झलक मिल जाय और तुममें कुतूहल पैदा हो ।

रोमन साम्राज्यो की बात सुनते-सुनते तुम जरूर थक गई होगी । मैं तो मानता हूँ कि मैं थक गया हूँ, लेकिन मैं चाहता हूँ कि आज और हम थोडी देर के लिए इनका साथ दें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी लेलें ।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती

है। हिन्दुस्तान में आजकल हममें से करीब-करीब सभी आदमी कट्टर राष्ट्रवादी होते है। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज है और इन खतो के दौरान में हम राष्ट्रीयता की शुरूआत और उसकी तरक्की का अध्ययन कर सकते है। रोमन साम्राज्यों के जमाने में इस किस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी, यह समझा जाता था कि साम्राज्य एक बहुत बडा राज्य है, जो सारी दुनिया पर हुकूमत कर रहा है। आजतक कोई साम्राज्य या सल्तनत ऐसी नहीं हुई जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और आमदरफ्त के साधनो की कमी और लम्बे सफर की कठिनाई की वजह से लोग पुराने जमाने में अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा साम्राज्य भी होता है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही योरप में और भूमध्यसागर के आसपास के देशो में लोग उसे एक ऐसा महा-राष्ट्र (Super State) समझते थे, जिसके, बाकी सब राज्य मातहत थे। इसका रौब इतना ज्यादा था कि एशिया माइनर के परगैमम प्रदेश तथा मिस्र को इन दोनो देशो के शासको ने रोमन लोगो को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सर्वशक्तिमान है और उसका कोई मुक़ाबिला नहीं कर सकता। लेकिन जैसा हमने बताया है कि प्रजातन्त्र होने की हालत में, और साम्राज्य की हालत में भी रोम ने भूमध्यसागर के मुल्को के अलावा किसी और देश पर राज्य नही किया। उत्तर योरप के 'बर्बर' लोग इसकी जरा भी परवाह नहीं करते थे, और रोम भी इनकी परवाह नही करता था, लेकिन रोम के अधिकार की हद जो भी रही हो इसके पीछे विश्व-राज्य की भावना थी और इस भावना को पश्चिम के उस जमाने के अधिकाश आदमियो ने मजूर कर लिया था। इसी खयाल की बुनियाद पर रोमन साम्राज्य इतने दिनो तक जिन्दा रहा। उस समय भी, जब उसमें कोई सार न रह गया था, उसका नाम और प्रताप बहुत बढा हुआ था।

एक बडे राज्य का पूरी दुनिया पर हुकूमत करने का खयाल रोम तक ही सीमित नहीं था। यह खयाल चीन और हिन्दुस्तान में भी पुराने जमाने में मौजूद था। जैसा कि तुम्हे मालूम हैं चीनी राज्य अकसर रोमन साम्राज्य से ज्यादा विस्तृत रहा है। यह कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ था। चीन के सम्राट् 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाते थे, और चीनी लोग इनको विश्व-सम्राट् यानी सारी दुनिया का राजा समझते थे। यह सच है कि कुछ कौमें और कुछ लोग ऐसे थे जो झगडे पैदा करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नही मानते थे, लेकिन वे जगली समझे जाते थे, जैसे रोमन लोग उत्तर योरप के रहनेवाले को 'बर्बर' समझते थे।

इसी तरह से हिन्दुस्तान में भी तुम्हे बहुत पुराने जमाने से ही 'चक्रवर्ती'

राजाओ का जिक्र मिलता है। दुनिया के बारे में उनका खयाल बिलाशक बहुत महदूद था क्योंकि हिन्दुस्तान ही इतना बड़ा मुल्क था कि उन्हे यही दुनिया मालूम होती थी, और हिन्दुस्तान की हुकूमत ही उनके लिए सारी दुनिया की हुकूमत थी। जो बाहर के थे वे जगली या म्लेच्छ थे। पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश 'भारतवर्ष' कहलाता है, इसी किस्म का चक्रवर्ती राजा कहा गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उनके भाइयो ने इसी चक्रवर्ती पद के लिए युद्ध किया था। अश्वमेध यज्ञ एक किस्म की चुनौती थी, और वह इसका सूचक था कि यज्ञ करनेवाला सारी दुनिया का राजा है। अशोक का मकसद भी शायद चक्रवर्ती राज्य था। लेकिन पश्चात्ताप से धुलकर उसने सब युद्ध बन्द कर दिये। इसके बाद भी तुम्हे हिन्दुस्तान में कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे—जैसे गुप्त-वश के, जिनका उद्देश्य चक्रवर्ती राज्य कायम करना था। इसलिए हम यह देखते है कि पुराने जमाने में अकसर लोग सारी दुनिया का एक राज्य कायम करने का खयाल करते थे। इसके बहुत दिनो बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये क़िस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ। इन दोनो ने मिलकर दुनिया में काफी तबाही पैदा कर दी। आजकल भी विश्व-राज्य कायम करने की चर्चा होती रहती है, पर इसमें चक्रवर्ती साम्राज्य या महान् साम्राज्य की भावना नहीं है। अब न तो साम्राज्यो की जरूरत है, न सम्राटो की। अब तो एक विश्व-प्रजातन्त्र के किस्म की चीज चाहिए, जो दूसरी कौम, जाति, या वर्ग द्वारा होनेवाले एक कौम या राष्ट्र या वर्ग का शोषण रोके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज होगी या नही, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है। और इसकी बुराइयो को मिटाने का कोई दूसरा तरीका भी नहीं दिखाई देता।

मैंने उत्तर योरप के बर्बरो का बराबर जिक्र किया है। मैंने 'बर्बर' लफ्ज इस्ते-माल किया है क्योंकि रोमन लोगो ने इन्हे इसी शब्द (Barbarian) से याद किया है। यह जाति मध्य एशिया के खानाबदोशो और दूसरे कबीलो की तरह रोम और हिन्दुस्तान के अपने पडोसियो से, निश्चय ही कम सभ्य थी। लेकिन इन लोगो में ताकत ज्यादा थी, क्योंकि इनकी जिन्दगी खुली हवा में गुजरती थी। बाद को ये लोग ईसाई हो गये और जब इन्होंने रोम को फतह कर लिया तब भी उसके निवासियो के साथ बेरहम दुश्मनो की तरह व्यवहार नही किया। उत्तर योरप की आजकल की कौमें गाथ, फ्रैंक वगैरा इन्हीं जंगली जातियो की सन्तान है।

मैंने तुम्हे रोमन सम्राटो के नाम नहीं बताये। वहा बहुत से सम्राट हुए; पर कुछ को छोड़कर बाकी बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का

नाम जरूर सुना होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी ज्यादा खराब हुए है। आइरीन नाम की एक स्त्री ने साम्राज्ञी बनने के लिए अपने लडके को, जोकि सम्राट था, क़तल कर दिया था। यह कुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम में एक ऐसा सम्राट भी हुआ है, जो दूसरो के मुकाबिले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्क्स ओरेलियस एन्टोनिनस था। ऐसा समझा जाता है कि यह दार्शनिक या फिलासफर था और उसकी एक किताब, जिसमें उसके विचार और मनोभाव लिखे हुए है, पढने के काबिल है। पर मार्क्स आरेलियस के लडके ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, यह कमी पूरी करदी। वह रोम के अत्यत घूर्त्त और बदमाश आदमियो में से एक हुआ है।

रोमन साम्राज्य के पहले तीन सौ बरस तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र था। तब जरूर ही यह बहुत बडा शहर रहा होगा, जिसमें आलीशान इमारते रहीं होगी और लोग साम्राज्य के कोने-कोने से, और साम्राज्य के बाहर से भी, वहाँ आते रहे होगे।

बहुत से जहाज दूर-दूर के मुल्को से नफीस चीजें, खाने की दुर्लभ वस्तुयें और कीमती चीजें लाते थे। कहते है, हर साल एक सौ बीस जहाजो का बेडा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से हिन्दुस्तान जाता था। ये लोग ठीक उसी वक्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवा चलती थी, इससे इनको बहुत मदद मिलती थी। ये ज्यादातर दक्षिण हिन्दुस्तान को जाते थे और क़ीमती माल लादकर मौसमी हवा की मदद से मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते से रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सब व्यापार अमीरो के फायदे के लिए ही था। चन्द आदमियो के ऐश के पीछे अनेक आदमियो की मुसीबते छिपी हुई थीं। तीन सौ बरस से ज्यादा समय तक रोम पश्चिम में सबसे शक्तिमान शहर बना रहा, और बाद को जब कुस्तुन्तुनिया बसा, तो उसने इसके साथ महानता में साझा कर लिया। आश्चर्य की बात यह है कि इस लम्बे जमाने में भी, विचार-जगत् में इसने कोई ऐंसी महान् चीज पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम अर्से में ही कर दिखाई थी। बहुत-सी बातो में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक धुधली छाया मालूम होती है। हाँ, एक चीज ऐसी थी, जिसके बारे में, लोगो का विचार है कि रोमनो ने रास्ता दिखाया, और वह है कानून। आज भी हममें से कुछ ऐसे है, जिनको रोमन कानून पढ़ने की मुसीबत बर्दाश्त करनी पडती है, क्योकि कहा जाता है कि योरप में कानून का बहुत सा हिस्सा रोमन क़ानून की ही बुनियाद पर बना है। मुझे याद है कि बहुत दिन हुए मुझे भी यह क़ानून पढना पड़ा था।

अक्सर ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से तुलना की जाती है। खासतौर से अंग्रेज लोग ऐसा करते हैं, क्योंकि उनको इसमें बहुत सतोष होता है। सारे साम्राज्य कम या ज्यादा एक तरह के होते हैं। बहुतो को चूसकर ये मोटे होते हैं। लेकिन रोमनो और अंग्रेजो में एक बात में बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है और वह यह कि दोनो में कल्पना शक्ति की बिल्कुल कमी है। खूब बन-ठनकर, और अपने मुह मियामिट्ठू बनकर, और इस बात पर पूरा विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्हींके फायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग बिना किसी परेशानी या शक के अपनी जीवन-यात्रा निश्चित होकर पूरी करते है। लेकिन अंग्रेज एक भली क़ौम है और यद्यपि हम उनसे लड़ते है और लडते रहेगे, लेकिन हमें उनके अच्छे गुण न भूलना चाहिए, खासतौर से आज, जबकि उनकी कमजोरियाँ हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा प्रकट हो चुकी हैं।

: ३५ :

पार्थिया और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और योरप को छोड़ कर दुनिया के दूसरे हिस्सो में चलना चाहिए। हमें अभी यह देखना है इस दर्मियान एशिया में क्या होता है और हिन्दुस्तान और चीन की कहानी भी जारी रखना है। दूसरे देश भी अब इतिहास के क्षितिज पर दिखलाई देने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ जानना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे अनेक जगहो के बारे में इतना ज्यादा कहना जरूरी होगा कि शायद मै कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ दूँ।

मैंने अपने एक खत में यह कहा था कि रोमन प्रजातंत्र सेनाओ की पार्थिया में कैरी की लड़ाई में गहरी हार हुई थी। उस वक्त मैंने ठहर कर यह नही बताया था कि पार्थियन लोग कौन थे और उन्होने उस मुल्क में, जहाँ आज ईरान और इराक़ बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हे यह तो याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो पश्चिम में हिन्दुस्तान से एशिया माइनर तक फैला हुआ था। क़रीब तीन सौ बरस तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य एशिया के एक कबीले ने, जो पार्थियन कहलाता था, इन्हे निकाल भगाया। फारस या पार्थिया, जैसा कि वह उन दिनो पुकारा जाता था, के इन्हीं पार्थियनो ने प्रजातंत्र के आखिरी

विनो में रोमन सेना को हराया था और प्रजातन्त्र के बाद कायम हुआ रोमन साम्राज्य कभी इन पार्थियन लोगो को पूरी तरह से हरा नही सका। ये लोग ढाई सदी तक पार्थिया पर हुकूमत करते रहे, जिसके बाद उस देश में आन्तरिक विप्लव पैदा हुआ और ये लोग भगा दिये गये। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासको के खिलाफ बगावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और अपने मजहब का एक बादशाह बनाया। इस बादशाह का नाम 'आर्देशेर प्रथम' था। इसके वश को सासानी वश कहते हैं। आर्देशेर जरथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था, और तुम्हे याद होगा कि यही पारसियो का मजहब है। आर्देशेर और मजहबो के प्रति सहनशील नहीं था। रोमन साम्राज्य और सासानियो में बराबर लडाई होती रही। सासानियो ने एक रोमन सम्राट को भी गिरफ्तार कर लिया था। कई मौक़ो पर ईरानी फौजें करीब-करीब कुस्तुन्तुनिया के नजदीक पहुँच गई थी, और एक दफा उन्होनें मिस्र पर भी कब्ज़ा कर लिया। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के प्रचार के उत्साह के लिए ही खास तौर से मशहूर है। जब इस्लाम सातवीं सदी में आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म को खतम कर दिया। जरथुस्त धर्म को माननेवाले बहुत से लोग, इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना मुल्क छोड कर हिन्दुस्तान आये। हिन्दुस्तान ने इनका स्वागत किया, जैसा वह उन सब का, जो इसके पास आश्रय लेने आये, हमेशा करता रहा है। हिन्दुस्तान के पारसी इन्ही जरथुस्तियो के खानदान के है।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ व्यवहार करने के मामले में अगर हम हिन्दुस्तान की दूसरे मुल्को से तुलना करते है तो एक अजीब और आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। बहुत सी जगहो पर, और खास कर योरप में, तुम यह देखोगी कि पुराने जमाने में जो लोग राजधर्म (सरकारी मजहब) नहीं मानते थे, उनको सताया जाता था। क़रीब-करीब हर जगह इस सम्बन्ध में जोर-जबरदस्ती हुआ करती थी। तुम योरप में 'इनक्विज़िशन'[१] और जादू-टोना करनेवाली औरतो के जलाये जाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन हिन्दुस्तान में पुराने जमाने में हर एक मजहब को पूरी

१. इनक्विज़िशन—ईसाईधर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के सरक्षण मे स्थापित धार्मिक न्यायालय। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध मे नये विचार फैलानेवालो को दण्ड देना था। पहले यह फ्रास मे स्थापित हुआ और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि मे भी फैल गया। मामूली-मामूली स्वतत्र विचारो के लिए इसमें लोगो को जिन्दा जला दिया जाता था। इसकी रोमाचकारी कथा 'सस्ता साहित्य मडल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक मे पढ़िए। उन्नीसवी सदी मे इसका खातमा हुआ।

आजादी थी। हिन्दू और बौद्ध धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशो के धार्मिक मत-मतान्तरो के भयकर झगडो के मुकाबिले में कुछ भी नही है। यह बात याद रखने लायक़ है, क्योकि बदकि़स्मती से हाल ही में हमारे यहाँ मजहबी और साम्प्रदायिक फ़िसाद हो चुके है, और कुछ लोग, जिन्हे इतिहास का ठीक ज्ञान नही है, समझते है कि हिन्दुस्तान की यही दशा पिछले कई युगो से चली आ रही ह। यह बिल्कुल ग़लत बात है। ये दगे-फसाद तो हाल के जमाने में पैदा हुए हैं। तुम्हे मालूम होगा कि इस्लाम की पैदायश के बाद कई सौ वरसो तक मुसलमान लोग हिन्दुस्तान के लगभग सभी हिस्सो में बसे थे और अपने पडोसियो के साथ बिल्कुल शातिपूर्वक मिलजुल कर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहीं बस जाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह हिन्दुस्तान ने जरथुस्तो का स्वागत किया। कई सौ बरस पहले हिन्दुस्तान ने बहुत से यहूदियो का भी स्वागत किया था, जो रोम से ईसाई सन् की पहली सदी में, अत्याचार से त्रस्त होकर यहा भाग आये थे।

ईरान में सासानी शासन के जमाने में, सीरिया के पामीर नाम की जगह में एक रेगिस्तानी राज्य भी मौजूद था और कुछ दिन इसकी शान भी रही है। सीरियन रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मडी थी। इसके विशाल खडहर, जो आज भी दिखाई देते है, अपनी आलीशान इमारतो की कहानी कहते है। जिनोबिया नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई है। लेकिन रोमन लोगों ने इसे हरा दिया। उसके साथ असभ्यता का सलूक किया और जजीरो में बाँध कर उसे रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में सीरिया एक सुन्दर देश था। नये अहदनामे से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती है कुशासन और बद-इन्तजामी के होते हुए भी इस मुल्क में बडे-बडे शहर और बहुत घनी आबादी थी; उसमें बडी-बडी नहरें थीं और व्यापार भी ख़ूब फैला हुआ था। लेकिन बराबर लड़ाइयो में फँसे रहने और कुशासन के कारण छ सौ बरसो के अन्दर यह क़रीब-क़रीब वीरान हो गया। बडे शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खडहर हो गई।

अगर तुम हिन्दुस्तान से योरप हवाई जहाज पर उड़ कर जाओ तो पामीर और बालबक के खंडहर तुम्हे रास्ते में पडेंगे। तुम्हे वह जगह भी दिखाई देगी, जहा बैबिलन बसा हुआ था और बहुत सी दूसरी जगहे भी मिलेंगी, जो इतिहास में मशहूर हैं, लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नही पाया जाता।

: ३९ :

दक्षिण भारत की बस्तियाँ

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर चले गये। हमें अब फिर हिन्दुस्तान की तरफ लौट चलना चाहिए और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुशानो के सरहदी साम्राज्य के बारे में पिछले खतो में जो मैं कह गया हूँ, उसे तुम भूली न होगी। यह एक बहुत-बडा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी हिन्दुस्तान और मध्य एशिया का एक बहुत बडा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर थी, जिसे आजकल पेशावर कहते है। तुम्हे शायद यह भी याद होगा कि उस समय हिन्दुस्तान के दक्षिण में एक बहुत बडी रियासत और थी, जो एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक फैली थी। इसको आन्ध्रराज्य कहते थे। करीब तीन सौ साल तक कुशान और आन्ध्र लोग खूब फूले-फले, लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में वे दोनो साम्राज्य खतम हो गये थे। कुछ समय के लिए हिन्दुस्तान में छोटे-छोटे राज्यो का जाल बिछ गय लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के युग की बुनियाद डाली। लेकिन इन गुप्त लोगो तक जाने के पहले यह मुनासिब मालूम होता है कि हम पहले दक्षिणी हिन्दुस्तान के उन साहसिक कार्यों के आरम्भ की ओर अपनी नजर डाले, जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओ में भारत की कला और सभ्यता का प्रचार हुआ।

हिमालय और दो समुद्रो के बीच में हिन्दुस्तान की जो शक्ल है, वह तुम्हे अच्छी तरह याद होगी। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने जमाने में इस उत्तरी हिस्से का खास काम यह रहा है कि यह हिन्दुस्तान का खुश्की सरहद बना रहा, जिसपर से होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन हिन्दुस्तान के पूरब, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र के बहुत बडे-बडे किनारे है। दक्षिण की ओर हिन्दुस्तान तग होता जाता है, यहाँ तक कि आखिर में कन्याकुमारी में जाकर पूरब और पश्चिम दोनो दिशायें मिल जाती है। समुद्र के पास रहनेवाले ये हिन्दुस्तानी स्वभावत समुद्र मे दिलचस्पी रखते थे और यह भी उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र में एक जगह से दूसरी जगह को जानेवाले रहे होगे। मैं तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही पुराने समय से दक्षिणी हिन्दुस्तान

का पश्चिमी दुनिया से व्यापारी सम्बन्ध चला आता था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि हिन्दुस्तान में आज से बहुत पहले जहाज बनते थे और यहां के रहनेवाले तिजारत और दूसरे साहस-पूर्ण कार्यों के लिए समुद्र-यात्रा किया करते थे। लोगो का ख़याल है कि गौतम बुद्ध के ज़माने में विजय हिन्दुस्तान से सीलोन (लंका) गया था और उसे जीत लिया। अजन्ता की गुफाओ में एक तस्वीर है जिसमें विजय समुद्र पारकर सीलोन जा रहा है और घोडे और हाथी जहाजो में उस पार पहुँचाये जा रहे है। विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है जिसका अर्थ शेर होता है, और लंका में शेर की एक पुरानी कहानी भी मशहूर है, लेकिन मै उसे भूल गया हूँ। मै ख़याल करता हूँ कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है। दक्षिणी हिन्दुस्तान से लंका जाने में समुद्र का जो थोड़ा-सा टुकड़ा पडता है, उसका पार करना कोई मार्के का काम नही था। लेकिन हमें इस बात के बहुत काफी सबूत मिलते है कि हिन्दुस्तान में जहाज बनते थे, और हिन्दुस्तानी बंगाल से गुजरात तक के छिटके हुए बंदरगाहो से विदेशो के लिए, समुद्रपार करके, जाते थे। नैनी जेल से मैने चन्द्रगुप्त मौर्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे में तुम्हे लिखा था। उसने इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना के बारे में भी कुछ लिखा है। चन्द्रगुप्त के दरबार के यूनानी दूत मेगस्थनीज़ ने भी इसका जिक्र किया है। इस तरह यह पता चलता है कि मौर्य-काल के शुरू में हिन्दुस्तान में जहाज बनाने काम बहुत बढ़ा-चढ़ा था। और जाहिर है कि जहाज इस्तैमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते है। इसलिए बहुत-से लोगो ने उन पर बैठकर समुद्रो को पार किया होगा। इन बातो को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क में कुछ लोग ऐसे भी है जो समुद्र पार करने से डरते है और उसे धर्म के ख़िलाफ समझते है, आश्चर्य होता है। हम लोग ऐसे आदमियो को प्राचीन युग के अवशेष भी नहीं कह सकते, क्योकि, जैसा कि तुम जानती हो, हमारा पुराना जमाना कहीं ज्यादा समझदार था। ख़ुशक़िस्मती से अब ऐसी असाधारण धारणायें बहुत-कुछ दूर हो गई है और इने-गिने लोगो ही पर अब उनका असर है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के बजाय दक्षिणी हिन्दुस्तान स्वभावत. समुद्र की तरफ ज्यादा ध्यान देता था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था। और तामिल भाषा की कवितायें यवन, सुरा, कलश और दीपको के जिक्र से भरी हुई है। 'यवन' शब्द मुख्यत. ग्रीस (यूनान) के रहनेवालो के लिए इस्तैमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर यह सब विदेशियो के लिए था। दूसरी और तीसरी सदियो के आन्ध्रदेश के सिक्को पर दो मस्तूलवाले बडे जहाज की तस्वीर बनी है। इससे यह

पता चलता है कि पुराने जमाने के आन्ध्र के रहने वाले जहाज बनाने और समुद्र के व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे ।

यह दक्षिण हिन्दुस्तान ही था जो उन साहस-पूर्ण कार्यों में आगे बढ़ा, जिनकी वजह से पूर्व के तमाम टापुओ में हिन्दुस्तानी बस्तिया या उपनिवेश बसाये जासके । इन औपनिवेशिक यात्राओ की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ वरसो तक उनका सिलसिला जारी रहा । मलाया, जावा, सुमात्रा कम्बोडिया और बोर्नियो सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और सभ्यता ले गये । बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन में भी हिन्दुस्तानियो की बडी-बडी बस्तियाँ थीं । इन नई बस्तियो और नगरो के बहुत से नाम भी भारत से ही लिये गये थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गन्धार वग़ैरा। यह अजीब बात है कि इतिहास किस तरह अपनेको दुहराता है । अमेरिका में जाकर बसनेवाले ऐंग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के शहर आज भी पुराने अंग्रेजी शहरो के नाम से प्रसिद्ध है। अमेरिका के सबसे बडे शहर न्यूयार्क का नाम भी उत्तरी इग्लैण्ड के प्राचीन नगर 'यार्क' के नाम पर पडा ।

इसमें शक नहीं कि नये उपनिवेश बसानेवाले ये भारतीय जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने बाशिन्दों से बुरी तरह पेश आये, जैसा कि सभी नई बस्तियाँ बसानेवाले किया करते हैं । उन्होने इन टापुओ के रहनेवालो को जरूर लूटा होगा और उनपर अधिकार जमाया होगा । लेकिन कुछ दिनों बाद ये लोग पुराने बाशिन्दो से बहुत-कुछ मिल जुल गये होगे । हिन्दुस्तान के साथ नियमित रूप से ताल्लुक बनाये रखना मुश्किल था । पूर्व के इन टापुओ में हिन्दू राज्य और हिन्दू साम्राज्य कायम हुए । बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे और हिन्दुओ और बौद्धो में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है। बडे-बडे खण्डहर अभी तक मिलते हैं। वे उन आलीशान इमारतों और मन्दिरो के सबूत है, जिनसे ये भारतीय उपनिवेश शोभित हुए थे। कम्बोज, श्री विजय, अगकोर और मज्जापहित जैसे बडे-बडे नगर भारतीय निर्माताओ और कारीगरो ने वहाँ बनाये। हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओ में क़रीब चौदह सौ वर्ष तक कायम रहे । कभी ये प्रभुता के लिए आपस में लडते, कभी इनपर एकका अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का । और कभी वे एक-दूसरे को नष्ट भी कर देते थे । पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानो ने इनपर अपना क़ब्जा जमा लिया । उनके बाद जल्द ही पुर्तगालवाले, स्पेनवाले, डच लोग और अंग्रेज आये । सबके अख़ीर में अमेरिकन पहुँचे । चीनवाले तो हमेशा से ही करीब के पडोसी रहे हैं। ये कभी-कभी दख़ल देते और इन राज्यों को

जीत लेने पर अक्सर उनके साथ दोस्तो की तरह रहते और आपस में एक-दूसरे को भेंट और तोहफे भी दिया करते थे। इसके साथ ही वे इन भारतीयो पर अपनी महान् सभ्यता और संस्कृति का असर भी बराबर डालते रहे।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशो में हमारे लिए दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि इन आबादियो और उपनिवेशो को बसाने की संगठित कोशिश उस जमाने की दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक प्रमुख सरकार ने की थी। पहले बहुत-से अन्वेषण और खोज करनेवाले वहाँ जाती तौर से गये होंगे; फिर व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के कुटुम्ब और लोगो के गिरोह अपनी मर्जी से वहाँ गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग वहा जाकर बसे वे कलिंग (उडीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से वहा गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे, और एक ख़याल यह भी है कि कुछ गुजराती अपने देश से निकाल दिये जानें पर इन टापुओ में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ ही अन्दाज़ है। बसने वालो का मुख्य प्रवाह तामिल देश के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहा एक बडे पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओ में पहुचा। मालूम होता है कि इसी पल्लव सरकार ने मलाया में हिन्दुस्तानी बस्तियाँ बसानें का संगठित प्रयत्न किया होगा। शायद उत्तरी हिन्दुस्तान से बहुत से लोग दक्षिणी हिन्दुस्तान में बसने के लिए पहुंच रहे होंगे, और इसकी वजह से दक्षिण की जमीन पर आबादी का बहुत बड़ा बोझ होगया होगा। पर वजह कुछ भी हो, हिन्दुस्तान से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए इन टापुओ में उपनिवेश बसाने की योजना समझ-बूझ कर बनाई गई थी, और इन सब जगहो में एक ही साथ बस्तियाँ बसाने की शुरूआत हुई थी। ये उपनिवेश हिन्दी-चीन, मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा और दूसरी जगहो में थे। ये सब हिन्दुस्तानी नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्दी-चीन में जो आबादी थी, उसका नाम कम्बोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम गन्धार के, काबुल की घाटी में बसे हुए, कम्बोज से चल कर इतनी दूर पहुचा था।

चार या पाच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू धर्म को अपनाये रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत पीछे इस्लाम पहुंचा और मलाया के एक हिस्से में फैल गया; बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलाया देश में साम्राज्य और राष्ट्र बनते-बिगडते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के नये उपनिवेश बसाने की इन कोशिशो का असली नतीजा यह निकला कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य सभ्यता की नींव पड गई। कुछ हद तक मलाया के लोग आज भी हम लोगो की तरह इसी सभ्यता के बच्चे हैं। उन लोगो पर

दूसरे असर भी पड़े है। चीन का असर ख़ासतौर पर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदे-जुदे हिस्सो पर हिन्दुस्तानी और चीनी दो शक्तिशाली सभ्यताओ के असर की मिलावट देखने में बडी दिलचस्प है। कुछ तो ज्यादातर हिन्दुस्तानी होगये और कुछ में चीनी असर ज्यादा साफ दिखाई देता है। बरमा, स्याम, हिन्दी-चीन के मुख्य हिस्सो पर चीनी असर बहुत ज्यादा है, लेकिन मलाया में ऐसा नहीं है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओ में हिन्दुस्तानी असर ज्यादा साफ दिखाई देता है। हा, इन पर इस्लाम की हाल की क़लई भी चढी हुई है। लेकिन चीनी और हिन्दुस्तानी सस्कारो में कोई सघर्ष न था। वे एक दूसरे से बिलकुल जुदे थे, फिर भी दोनो ही बिना किसी दिक्क़त के साथ-साथ अपना काम करते रहे। क्या हिन्दू और क्या बौद्ध, दोनो ही धर्मों का जन्म हिन्दुस्तान में हुआ था। धर्म के मामले में चीन भी हिन्दुस्तान का कर्ज़दार था। मलेशिया की कला में भी हिन्दुस्तान का असर सबसे ज्यादा था, हिन्दी-चीन में भी, जहा चीनी असर बहुत ज्यादा था, इमारत बनाने की कला बिलकुल हिन्दुस्तानी ही थी। चीन ने महाद्वीप के इन देशो को शासन और जिन्दगी की सामान्य फिलासफी के बारे में ज्यादा प्रभावित किया है। इसीलिए हिन्दी-चीन, बरमा और स्याम के लोग आज दिन हिन्दुस्तानियो से कम और चीनवालो से ज्यादा मिलते-जुलते दिखाई देते हैं। इसमें शक नहीं कि जाति-भेद के हिसाब से इनमें मगोल ख़ून ज्यादा है और इसी वजह से, कुछ हदतक वे, चीनवालो से अधिक मिलते हैं।

जावा के 'बोरोबुदर' में आज हिन्दुस्तानी कारीगरो के बनाये हुए बडे-बडे बौद्ध-मदिरो के खण्डहर देखे जा सकते हैं। इन मन्दिरो की दीवारो पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है। और ये सिर्फ बुद्ध के ही नहीं, बल्कि उस ज़माने की हिन्दुस्तानी कला की अनोखी यादगारें हैं। भारतीय प्रभाव और भी आगे बढा। वह फिलीपाइन और फारमूसा तक जा पहुँचा। यह दोनों देश कुछ समय तक, सुमात्रा के हिन्दू श्रीविजय राज्य के भाग थे। उसके बहुत समय बाद फिलीपाइन पर स्पेन वालो की हुकूमत क़ायम हुई, और अब वह अमेरिका के कब्ज़े में है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने बार-बार फिलीपाइन वालो को आज़ादी देने का वादा किया, लेकिन जो चीज़ कोई पा जाता है, उसे छोडना मुश्किल होता है। फिलीपाइन की राजधानी मनिला है। कुछ दिन हुए वहा व्यवस्थापक सभा की एक नई इमारत बनी थी। इसके सामने वाले दरवाज़े पर चार तस्वीरें बनी हैं, जो

१ मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप समूह जिसे ईस्टइडीज़ या मलाया आर्चिपेलेगो कहते हैं।

फिलीपाइन की सभ्यता की चार ख़ास धाराओ को बताती है। ये मूर्तिया प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फिलासफर लाओ-त्ज़े की है और दो मूर्तियाँ ऐंग्लो-सैक्सन कानून और न्याय और स्पेन की प्रतिनिधि है।

: ३७ :

गुप्त वंश के अन्तर्गत हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर दक्षिण हिन्दुस्तान के लोग विशाल समुद्रो को पार करके दूर-दूर जगहो पर बस्तियां और शहर बसा रहे थे, उधर उत्तर हिन्दुस्तान में अजीब हलचल मची हुई थी। कुशान साम्राज्य की ताकत और महानता ख़तम हो चुकी थी; वह दिन-दिन छोटा होता और मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य हो गये थे, जिनपर ज्यादातर शक और सीदियन या तुर्की वंश के लोग राज्य करते थे। ये लोग हिन्दुस्तान में उत्तर-पश्चिमी सरहद से आये थे। मैंने तुम्हे बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और हिन्दुस्तान में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य एशिया के दूसरे कबीले, जिनको चीनी राज्य आगे बढ़ने को दबा रहा था, पीछे से इनको धकेल रहे थे। हिन्दुस्तान में इन लोगो ने ज्यादातर भारतीय आर्यो के आचार-विचार और रंग-ढंग को अपना लिया। ये लोग हिन्दुस्तान को अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुशान लोगो ने भी बहुत दूर तक भारतीय आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनो तक हिन्दुस्तान में ठहर सके और उसके बडे-बडे हिस्सो पर राज्य कर सके। वे भारतीय आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि इस देश के लोग यह भूल जायँ कि वे विदेशी है। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरी नहीं। क्षत्रियो के दिल में यह बात ख़ास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर राज्य कर रहे है। इस विदेशी राज्य की मातहती में रहकर वे तिलमिला उठे थे। इस तरह हलचल बढ़ी और लोगो में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन लोगो को एक काबिल नेता मिल गया और उसके झण्डे के नीचे इन्होनें आर्यावर्त्त को आजाद करनें का एक जिहाद—धर्मयुद्ध आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह दूसरा चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस आदमी का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक नहीं था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। उस समय तक अशोक के वंशज रंगमच

से गायब हो चुके थे। तुम्हे याद रखना चाहिए कि इस समय हम ईसवी सन् की चौथी सदी की शुरूआत में, यानी ई० सन् ३०८ में, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वरस बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त महत्वाकाक्षी और समर्थ राजा था। वह उत्तर के दूसरे आर्य्य राजाओ को अपनी तरफ मिलाने में और उनकी सहायता से एक सघ शासन कायम करने में लग गया। मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी जाति की कुमारी देवी से उसने अपना विवाह किया, और इस प्रकार उसने इस जाति की सहायता प्राप्त करली। इस प्रकार होशियारी के साथ जमीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने हिन्दुस्तान के सारे विदेशी शासको के खिलाफ जिहाद की घोषणा करदी। क्षत्रिय और आर्य जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनसे विदेशियो ने अधिकार और ऊँचे पद छीन लिये थे, इस लडाई के पीछे थे। बारह बरस की लडाई के बाद चन्द्रगुप्त ने उत्तरी हिन्दुस्तान के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जिसे आजकल युक्तप्रान्त कहते हैं। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी के साथ तख़्त पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवश की शुरूआत हुई। यह दो सौ वर्ष तक कायम रहा। इसके बाद हूणो ने आकर इनको परेशान करना शुरू किया। यह जमाना कट्टर हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। विदेशी शासक तुर्की, पार्थियन और दूसरे अनार्य जड से उखाड दिये गये थे और निकाल बाहर किये गये थे। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को फैलता हुआ देखते हैं। उच्चवर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और 'बर्बरों' और 'म्लेच्छों' को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तो ने जिन भारतीय आर्य राज्यो को जीता, उनके साथ रिआयत की, लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नही की गई।

चन्द्रगुप्त का लडका समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा लडवैया था। वह बहुत बडा सेनापति था, और जब वह सम्राट हुआ तो उसनें सारे देश में, यहा तक कि दक्षिण में भी, सबको जीत कर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढाया कि वह हिन्दुस्तान के बहुत बडे हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड दिया था।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि उस वक्त एक कवि ने समुद्रगुप्त की विजय को सस्कृत श्लोको में बयान किया है और ये श्लोक अशोक के स्तम्भ पर, जो इलाहाबाद में है, खोदे गये थे।

समुद्रगुप्त का लड़का चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक बहादुर राजा था और उसने
काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनो से एक शक या तुर्की
राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी
नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत से राजाओ के
लिए उपाधि हो गया, इसलिए भ्रम पैदा करता है।

क्या तुम्हे दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक बहुत वडी लोहे की लाट
(खभे) की याद है ? कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ
के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढिया नमूना है। इसकी
चोटी पर एक कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिन्ह था।

गुप्त-युग हिन्दुस्तान में हिन्दू चक्रवर्ती राज्य का युग है। इस ज़माने में पुरानी
आर्य-सभ्यता और संस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और
मगोलियन सस्कारो को, जो हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी और सस्कृति में यूनानियो, कुशान
और दूसरी जातियो के ज़रिये आगये थे, ज़रा भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था,
बल्कि, असलियत तो यह है कि, भारतीय आर्य सिद्धान्तो पर ज़ोर दिया जाता और
विदेशी संस्कारो को दबाया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनो
सस्कृत जनता की आम ज़बान नहीं रह गई थी। बोलने की ज़बान एक तरह से
प्राकृत थी, जो सस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। हालाँकि सस्कृत उस ज़माने की
लोक-भाषा नहीं थी, फिर भी काफी प्रचलित थी। उसी समय में सस्कृत कविता, नाटक
और भारतीय आर्य कलाओ का खूब विकास हुआ। उस महान् युग के बाद, जिसमें
वेद और रामायण-महाभारत लिखे गये, सस्कृत साहित्य के इतिहास में शायद यही
ज़माना है, जिसे सबसे ज्यादा सम्पन्न कह सकते है। महान् कवि कालिदास इसी
ज़माने में हुए। बदकिस्मती से हममें से बहुत से लोग (और मैं भी उनमें से एक
हूँ) ज्यादा सस्कृत नहीं जानते और इसलिए अपनी इस अनमोल विरासत से
महरूम हैं। मुझे उम्मीद है कि तुम इससे फायदा उठाओगी।

विक्रमादित्य का दरबार बहुत शानदार था, और इसमें उस युग के बडे-बडे
लेखक और कलाकार इकट्ठा होते थे। क्या तुमने उसके दरबार के नव-रत्नो के बारे
में नहीं सुना है ? कालिदास उन नव-रत्नों में से एक थे।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद
उसका यह ख़याल था कि उसके ऐसे कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण रखनेवाले राजा
के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में अपनी अमर राम-
कथा के साथ मिला दिया है, एक ज्यादा मुनासिब जगह होगी। गुप्तो द्वारा किया

जानेवाला आर्य-सभ्यता एव हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान बौद्ध धर्म के प्रति स्वभावत उदार न था । इसकी एक वजह यह थी कि यह आन्दोलन, एक हद तक, ऊँचे वर्ग का था । क्षत्रिय सरदार इसके पीछे थे, और बौद्ध-धर्म में लोक-तन्त्र की भावना अधिक थी । दूसरा कारण यह था कि बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय के कुशान और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी शासको से घनिष्ट सम्बन्ध था । लेकिन बौद्ध धर्म पर कोई जुल्म नहीं किया गया । बौद्ध विहार कायम रहे, और ये ही उस जमाने की बडी-बडी शिक्षा संस्थायें थीं । गुप्तो का सीलोन के राजाओ के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और सीलोन में बौद्ध धर्म ख़ूब फैला हुआ था । सीलोन के राजा मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के पास कीमती उपहार भेजे और उसने सिंहाली छात्रो के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था ।

लेकिन भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा । यह ह्रास, जैसा मैंने तुमको पहले बताया है, इसलिए नहीं हुआ था कि ब्राह्मणो ने, या उस जमाने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू धर्म में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताकत थी ।

इसी जमाने में चीन का एक मशहूर यात्री हिन्दुस्तान में आया । ह्यूएनत्साग नहीं, जिसके बारे में मैं तुमको लिख चुका हूँ । इसका नाम फाहियान था । यह हिन्दुस्तान में, बौद्ध की हैसियत से, बौद्ध धर्म की पुस्तको की तलाश में आया था । उसने लिखा है कि मगध के लोग ख़ुशहाल और सुखी थे, न्याय में उदारता थी और मौत की सजा नहीं दी जाती थी । गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग अमीर, ख़ुशहाल और सदाचारी थे । कई बडे-बडे समृद्धिशाली बौद्ध विहार थे । खास-ख़ास सड़को पर धर्मशालायें थीं, जहाँ मुसाफिर ठहर सकते थे और जहां सरकारी ख़र्च से खाना दिया जाता था । बडे नगरो में ख़ैराती दवाख़ाने थे ।

हिन्दुस्तान में भ्रमण करने के बाद फाहियान सीलोन गया और वहा उसने दो बरस विताये । लेकिन उसके एक साथी पर, जिसका नाम ताओ-चिंग था, बौद्ध भिक्षुको की शुद्धता का इतना असर पडा और हिन्दुस्तान उसे इतना पसन्द आया कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया । फाहियान तो जहाज़ से सीलोन से चीन चला गया, और कई साल की ग़ैरहाज़िरी के बाद, और बहुत सी घटनाओ का मुकाबिला करके, अपने घर पहुँचा ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस बरस राज्य किया । उसके बाद ४५३ ईसवी में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा । इसे एक नई आफ़त का सामना करना

पड़ा, जिसने अन्त में, महान् गुप्त साम्राज्य की कमर तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मैं अपने अगले खत में लिखूँगा।

अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए कई बढ़िया चित्र (Frescoes) और बडे-बडे कमरे तथा मंदिर गुप्त कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हे देखोगी तो तुम्हे पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदक़िस्मती से ये चित्र धीरे-धीरे मिट रहे है, क्योकि बहुत दिनो तक ये धूप, बारिश वग़ैरा में खुले रहतेहुए कायम नहीं रह सकते।

तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि गुप्त सम्राटो की पत्नियो की उपाधि 'महादेवी' थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की रानी महादेवी कुमारीदेवी कहलाती थी।

अब यह सवाल उठता है कि जब गुप्त लोग हिन्दुस्तान में राज्य करते थे, तो दुनिया के दूसरे हिस्सो में क्या हो रहा था? चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन का समकालीन था। उत्तरकाल के गुप्त राजाओ के ज़माने में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी हिस्सो में बंट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को उत्तर के बर्बरो ने नष्ट कर दिया था। इस प्रकार हम देखते है कि जिस वक्त रोमन साम्राज्य कमज़ोर पड रहा था, भारत में एक बहुत ताक़तवर राज्य मौजूद था, जिसके बडे-बडे सेनापति थे और जिसकी फौजें बडी शक्तिशाली थी। समुद्रगुप्त को प्रायः हिन्दुस्तान का 'नेपोलियन कहते हैं। लेकिन महत्वाकाक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओ के बाहर जाकर विजय प्राप्त करने की कोशिश नहीं की।

गुप्त युग ज़ोरदार चक्रवर्तित्व और विजय का ज़माना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्य युग अनेक बार आते हैं। और समय की लम्बी दौड में इनका कुछ ज्यादा महत्व नही रह जाता। गुप्त युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसम कला और साहित्य का विस्मयकारी पुनरुत्थान हुआ।

: ३८ :

हूणों का हिन्दुस्तान में आना

४ मई, १९३२

नई आफत जो उत्तर-पश्चिम के पहाडों के उस पार से भारत पर आई वह हूणो की आफत थी। मैंने अपने पिछले ख़त में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणो के बारे में लिखा था। योरप में उनका सबसे बड़ा नेता एटिला था, जो कई

सालो तक रोम और कुस्तुन्तुनिया में दहशत पैदा करता रहा। इन्हीं कबीलो के सजातीय हूण, जो सफेद हूण के नाम से मशहूर थे, करीब-क़रीब उसी समय हिन्दुस्तान में आये थे। ये लोग भी मध्य एशिया के खानाबदोश थे। बहुत दिनो से वे हिन्दुस्तान की सरहदो पर मँडरा रहे थे और लोगो को सता रहे थे। जैसे जैसे उनकी तादाद बढती गई, और शायद पीछे से और कबीले भी उन्हे खदेड रहे थे, उन्होने नियमित रूप मे हमले करने शुरु कर दिये।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्तवश का पाँचवाँ राजा था, हूणो के हमले का सामना करना पडा। उसने उन्हे हराकर पीछे ढकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद फिर वे आ पहुँचे। धीरे-धीरे वे गन्धार और उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल गये। उन्होंने बौद्धो को तरह-तरह की तकलीफें दीं और उनपर कई तरह के अत्याचार किये।

बरसो तक उनके खिलाफ लड़ाई होती रही होगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हे देश से निकाल न सके। हूणो की नई जमाते हिन्दुस्तान में बढती चली आई और मध्यभारत तक में फैल गई। उनका मुखिया तोरमान राजा बन बैठा। वह बहुत बुरा था, लेकिन उसके बाद उसका लडका मिहिरगुल आया। वह तो बिलकुल जगली और राक्षस की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक खास दिल बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारो से हाथियो को खड्ड में ढकेलवा दिया करता था। अन्त में उसकी ज्यादतियो से आर्यावर्त्त उत्तेजित हो उठा। गुप्त-वश के बालादित्य और मध्य हिन्दुस्तान के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणो को हराया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणो की तरह निर्दयी नही था। वह बहादुर था। उसने मिहिरगुल के साथ उदारता का व्यवहार किया। उसकी जान बख्श दी और उसे देश के बाहर चले जाने को कह दिया। मिहिरगुल जाकर काश्मीर में छिपा रहा और बाद को उसने बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतना अच्छा सलूक किया था, धोखे से हमला कर दिया।

लेकिन हिन्दुस्तान में हूणो की ताक़त बहुत जल्द नष्ट हो गई। फिर भी हूणो की बहुत-सी सन्तति हिन्दुस्तान में रह गई और धीरे-धीरे आर्यो की आबादी में मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्यभारत और राजपूताने की कुछ राजपूत जातियो में इन सफेद हूणो के खून का कुछ अश हो।

हूणो ने उत्तरी हिन्दुस्तान में बहुत थोडे वक़्त तक—५० साल से भी कम राज्य किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूणो की लडाई और उनकी भयकरता का हिंदुस्तान के आर्यों पर बहुत असर पडा। हूणो की जीवनचर्या

और राज्य करने के तरीके आर्यो से बिल्कुल जुदे थे। आर्य जाति उस समय तक भी आज़ादी की प्रेमी थी। उनके राजाओ तक को रिआया की मर्जी के सामने झुकना पड़ता था। उनकी देहाती पचायतो के हाथ में बडी ताकत थी। लेकिन हूणो के आने से, और हिंदुस्तानियो के साथ मिल जाने से, आर्यो के रहन-सहन में फरक आगया और वे कुछ नीचे गिर गये।

बालादित्य महान गुप्तवश का अन्तिम राजा था। ई० सन् ५३० में उसकी मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प और गौर करने लायक बात है कि शुद्ध हिंदू वश का एक सम्राट बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ। उसका गुरु एक बौद्ध भिक्षु था। गुप्त काल कृष्ण की पूजा के फिर से प्रचलित होने के लिए मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध धर्म के साथ हिन्दुओ का कोई ख़ास झगड़ा न था।

हम फिर देखते है कि गुप्त राज्य के २०० साल बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई रियासते बन गई, जो किसी एक केन्द्रीय राज्य के मातहत न थी। हाँ, दक्षिणी भारत में एक बहुत बडे राज्य का विकास होने लगा। पुलकेशिन नाम के एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वशज होने का दावा करता था, दक्षिण मे एक साम्राज्य कायम किया, जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। पूर्वी द्वीप-समूहो के हिन्दुस्तानी बाशिदो के साथ इन दक्षिणवालो का जरूर ही घनिष्ट सबंध रहा होगा और हिंदुस्तान तथा इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन और तिजारत भी होती रही होगी। हमें यह भी पता चलता है कि हिन्दुस्तानी जहाज़ अक्सर ईरान को माल भरकर ले जाया करते थे। चालुक्य और ईरान के सासानी राजा एक-दूसरे के यहाँ दूत भी भेजा करते थे। ईरान के महान् सम्राट ख़ुसरो द्वितीय के जमाने में यह दूत-प्रथा अच्छी तरह चली।

: ३९ :

विदेशी बाज़ारों पर हिन्दुस्तान का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास के इस प्राचीन युग में, जिस पर हम गौर कर रहे हैं, शुरू से अन्त तक, एक हजार वर्षों से भी ज्यादा समय तक, पश्चिम में योरप और पश्चिमी एशिया और पूर्व में ठेठ चीन तक हिन्दुस्तान का व्यापार ख़ूब फैला हुआ था। ऐसा क्यो था ? सिर्फ इसलिए नहीं कि उस जमाने में हिन्दुस्तानी बडे अच्छे नाविक या कारीगर थे, हालाकि इन बातो में उनके श्रेष्ठ होने

में कोई शक नही था। इसकी वजह यह भी नही थी कि वे बडे होशियार कारीगर थे हालाकि उनकी कारीगरी वहुत बढी-चढी थी। इन सब बातो ने मदद जरूर दी, लेकिन हिन्दुस्तान ने दूर-दूर के बाजारो पर जो कब्जा जमाया था, उसकी ख़ास वजह यह थी कि उसने रसायन शास्त्र (केमेस्ट्री), ख़ासकर रगसाजी, में बडी तरक्की कर ली थी। उस जमाने के हिन्दुस्तानियो ने कपडे रगने के पक्के रंग तैयार करने के ख़ास तरीक़े ढूढ निकाले थे। उन्हे नील (इडिगो) के पौधे से भी रग बनाने का ख़ास तरीक़ा मालूम था। तुम देखोगी कि इडिगो (नील) नाम ही इडिया (हिन्दुस्तान) से निकला है। यह भी मुमकिन है कि लोहे को अच्छी तरह तपाने और उसके अच्छे औजार बनाने की विद्या भी पुराने हिन्दुस्तानियो को मालूम थी। तुम्हे याद होगा, कि मैंने तुम्हे बताया था, कि सिकन्दर के हमलो की पुरानी ईरानी कहानियो में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का जिक्र आया है, वहाँ यह भी कह दिया गया है कि वह हिन्दुस्तान से आई थी।

चूंकि हिन्दुस्तान दूसरे देशो के मुक़ाबिले में इन रगो और दूसरी चीजो को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह एक स्वाभाविक बात थी कि वह दुनिया के बाजारो पर कब्जा करले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क़ की बनिस्वत बढ़िया औजार या किसी चीज को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीक़ा मालूम है, वह आख़िर में दूसरे मुल्क़ को, जिसके पास न उतने अच्छे औजार हैं, और न जिसे किसी चीज को बनानें का उतना अच्छा तरीक़ा ही मालूम है, बाजार से निकाल देगा। और यही वजह है कि पिछले दो सौ बरसो में योरप एशिया के मुकाबिले में इतना आगे बढ गया है। नई खोजो और आविष्कारो ने योरप को नये-नये और शक्तिमान अस्त्र दिये है और चीजो के बनाने के नये तरीको की जानकारी करादी है। इनकी मदद से उसनें दुनिया के बाजारो पर क़ब्जा कर लिया और धनी तथा ताक़तवर हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन इस वक़्त तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम ग़ौर करो कि औजार कितनी जरूरी और क़द्र की चीज है। एक बार एक बडे आदमी ने कहा था कि आदमी एक औजार बनानेवाला प्राणी है। और पुरानें जमाने से आज तक का मनुष्य जाति का इतिहास ज्यादा से ज्यादा कारगर औजार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर युग के पत्थर के तीर और हथौडो से लेकर आज की रेलो, भाप के इजनो और भारी मशीनो को देखो। सच तो यह है कि जो कुछ भी हम करते हैं उसमें औजारो की जरूरत पडती है। औजारो के बिना हमारी हालत क्या होगी ?

औजार एक अच्छी चीज है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन औजार

का बुरा इस्तैमाल भी किया जा सकता है। रेती या आरी एक अच्छी और काम की चीज़ है, लेकिन एक नादान बच्चा उससे अपनेको नुक़सान पहुँचा सकता है। चाक़ू एक बहुत जरूरी और काम की चीज है। हर स्काउट को चाकू रखना चाहिए। फिर भी एक बेवकूफ आदमी इसी चाकू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमें बेचारे चाक़ू का क्या दोष है ? कसूर तो उस आदमी का है, जिसने चाक़ू का गलत इस्तैमाल किया।

इसी तरह, ख़ुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिक मशीनो का दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगो के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनो ने अक्सर उनकी जिन्दगी को पहले से भी ज्यादा बुरा बना दिया है। लाखो आदमियो को आराम और सुख पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल में करना चाहिए था, उसने बहुतो को उलटे मुसीबत में डाल दिया है। सरकारो के हाथ में उसने इतनी ज्यादा ताकत देदी है कि वे अपने युद्धों में लाखो का क़त्ल कर सकती है।

लेकिन इसमें मशीन का कसूर नही, बल्कि उसके बुरे इस्तैमाल का दोष है। अगर बडी-बडी मशीनों का नियत्रण ग़ैर-जिम्मेदार लोगो के हाथो में न रहे, जो उससे सिर्फ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते है, बल्कि जनता के द्वारा और उनकी भलाई के लिए उनको काम में लाया जाय तो बहुत बडा फर्क पड़ जायगा।

इस तरह उन दिनो, आजकल की दशा के विपरीत, हिन्दुस्तान माल तैयार करने के तरीको में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए हिन्दुस्तानी कपडे, हिन्दुस्तानी रग और दूसरी चीजें दूर के मुल्को में जाती थीं और वहाँ उनकी बडी मांग थी। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओ से भी आते थे और हिन्दुस्तान से होकर पश्चिम को जाते थे। रोम और पश्चिम में मिर्च की बडी कद्र और माग थी। कहा जाता है कि एलैरिक, जो गोथ जाति का सरदार था, और जिसने ई० सन् ४१० में रोम पर अधिकार कर लिया था, ३०००पौंड मिर्च वहाँ से ले गया। यह सब मिर्च या तो हिन्दुस्तान से या हिन्दुस्तान से होकर रोम में गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं का उत्थान-पतन

६ मई, १९३२

चीन से अलग हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, हम फिर वहाँ लौट चले, और अपने किस्से को आगे बढ़ावे और यह देखें कि, जब पश्चिम में रोम गिर

रहा था, और हिन्दुस्तान में, गुप्त राजाओ के शासन में, राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक्त चीन में क्या घटनायें घट रही थीं। रोम के उठने या गिरने का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत दूरी पर थे। लेकिन मै तुमको पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राष्ट्र द्वारा मध्य एशिया के कबीलो को पीछे ढकेलने की नीति का नतीजा कभी-कभी योरप और हिंदुस्तान के लिए बहुत बुरा हुआ करता था। ये कबीले और दूसरे भी, जिन्हे वे निकाल देते थे, पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ जाते थे, सल्तनतो और राज्यो को उलट-पलट देते थे और वहाँ गडबडी फैला देते थे। इनमें से बहुत से कबीले पूर्वी योरप और हिन्दुस्तान में जाकर बस गये।

लेकिन रोम और चीन में सीधा सबध भी था। दोनो एक-दूसरे के पास अपने राजदूत भेजते थे। इन राजदूतो के बारे में चीनी किताबो में जो जिक्र है, उससे पता चलता है कि पहले-पहल ई० सन् १६६ में रोम के सम्राट आन-टून ने चीन में राजदूत भेजा था। यह आन-टून उस मार्कस आरेलियस एण्टोनियस के अलावा और कोई नही है, जिसका जिक्र मै अपने एक ख़त में पहले कर चुका हूँ।

योरप में रोम का पतन एक मार्के की बात थी। यह सिर्फ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया में बाद में भी बहुत दिनो तक बना रहा और इस साम्राज्य का भूत योरप के सिर पर करीब-क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे ग्रीस (यूनान) और रोम की पुरानी दुनिया का खातमा हो गया। पश्चिम में रोम के खण्डहरो पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई सस्कृति जन्म ले रही थी। शब्दो और वाक्यो में फँसकर हम ग़लत नतीजे पर चले जाते है, और चूँकि हम उन्हीं शब्दो का प्रयोग दूसरी जगह देखते है, इसलिए हम यह भी समझने लगते है कि उनके माने भी वही होगे। रोम के पतन के बाद भी योरप रोम की ही भाषा में बात करता था, लेकिन उस भाषा के पीछे जो भाव थे, वे पहले के भावो से जुदे थे, और उनके माने में भी फ़र्क़ था। लोग कहते है कि आज के योरप के मुल्क ग्रीस और रोम के बच्चे है, और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। क्योकि जिस बात को यूनान और रोम जाहिर करते थे, उससे बिल्कुल जुदे भाव योरप के मुल्क जाहिर करते है। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिल्कुल ही मिट गई। जो सभ्यता हजार या उससे भी ज्यादा बरसो में बनी थी, वह पक कर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी योरप के अर्द्ध-सभ्य, अर्द्ध-बर्बर देश इतिहास के पन्ने पर दिखाई पड़ते है और धीरे-

धीरे एक नई सभ्यता और एक नई सस्कृति को जन्म देते है। उन्होने रोम से बहुत कुछ सीखा, बहुत-सी बाते उन्होने पुरानी दुनिया से ली। लेकिन सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकडो बरसो तक मालूम होता था कि योरप में सभ्यता और संस्कृति कहीं सोने चली गई है। अज्ञान और कट्टरता का अन्धकार छा गया था। इसीलिए इन सदियो को 'अंधकार का युग' भी कहते है।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की ओर क्यो लौटे, और सदियो की कडी मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यो ग़ायब हो जाय या भूल जाय? ये बडे-बडे सवाल है, जो हममें से बडे-बडे बुद्धिमानो को भी चक्कर में डाल देते है। मै उनका जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि हिन्दुस्तान का, जो कभी ज्ञान और कार्य में इतना ऊँचा उठा हुआ था, इतनी बुरी तरह पतन हो जाय, और वह लम्बे युगो तक गुलाम बना रहे? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी ख़त्म न होने वाले लडाई-झगडो का शिकार हो जाय? शायद युगो का ज्ञान, जिसे आदमी थोड़ा-थोड़ा करके इकट्ठा करता है, एक साथ ग़ायब नहीं हो सकता। लेकिन कभी-कभी हमारी आँखें बन्द हो जाती है, और हम कुछ भी नहीं देख सकते। खिड़की बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और हमारे चारो तरफ रोशनी तब भी रहती है। और अगर हम अपनी आँखो को या खिड़कियो को बन्द करले तो इसका मतलब यह नही कि रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि योरप में जो अन्धकार का युग आया था उसका कारण ईसाई धर्म था—ईसा का धर्म नही, बल्कि वह राजकीय ईसाई मत जो योरप में रोमन सम्राट कांस्टेण्टाइन के ईसाई होजाने पर फैल गया था। इन लोगो का कहना है कि चौथी सदी में कांस्टेण्टाइन के ईसाई मत इख़्तियार कर लेने से एक सहस्रवार्षिक नया ज़माना शुरू हुआ, "जिसमें विवेक जंजीरो से जकड़ा रहा; विचार गुलाम बन गया और विद्या ने कोई तरक्की नहीं की।" इसकी वजह से न सिर्फ ज़ुल्म, कट्टरता और असहिष्णुता ने ही ज़ोर पकड़ा, बल्कि इसने लोगो के लिए विज्ञान या जिन्दगी के और रास्तो में आगे बढ़ना मुश्किल कर दिया। धार्मिक किताबें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट डालती है। वे हमें बताती है कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थीं, उसमें दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के भाव और रस्म रिवाजो के बारे में बताती है। कोई हिम्मत नहीं कर सकता कि वह उन भावो और रस्म-रिवाजो के ख़िलाफ आवाज़ उठाये, क्योंकि वे एक पाक किताब में लिखी है। हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है, लेकिन हमें उन भावो और उन रस्म-रिवाजो

को बदली हुई हालत के मुताबिक़ बनाने का हक़ नहीं। इसका नतीजा यह होता है कि हम जमाने के लिए बेकार हो जाते हैं, और तभी मुसीबतें भी पैदा होने लगती हैं।

इसलिए कुछ लोग योरप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाई मत को जिम्मेदार ठहराते हैं। दूसरे लोग हमसे यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग में ईसाई मत और ईसाई पादरी और मुल्ले ही थे, जिन्होंने इल्म की रोशनी को जलाये रखा। उन्होंने कला और चित्रकारी का काम जारी रखा, बेशक़ीमती किताबों की रक्षा की और उनकी नक़लें कराईं।

इस तरह से लोग तर्क करते हैं। शायद दोनों की बातें ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद जितनी मुसीबतें आईं उन सबकी वजह ईसाई मत है, एक हँसी की बात होगी। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह से गिर गया।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं जो बात तुम्हें बताना चाहता था, वह यह है, कि जहाँ योरप में अचानक सामाजिक पतन हो गया, और जहाँ अचानक इतना फ़र्क़ पड़ गया, वहाँ चीन या हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई अचानक फ़र्क़ नहीं आया। योरप में हम एक सभ्यता का अन्त और दूसरी सभ्यता की शुरूआत देखते हैं, जो धीरे-धीरे बढ़कर आज की सभ्यता की शक्ल को पहुँच गई है। चीन में भी हम इसी तरह ऊँचे क़िस्म की सभ्यता और संस्कृति को बिना बीच में टूटे जारी रहते पाते हैं। अच्छे और बुरे जमाने तो आया-जाया करते ही हैं। अच्छे जमाने और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं; राजवंश बदला करता है, लेकिन जो संस्कृति पहले से चली आती है, वह नहीं टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न होगया और आपस में लड़ता-भिड़ता रहा, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते-फलते रहे। उस समय भी अच्छी और सुन्दर तस्वीरों का चित्रण होता रहा; सुन्दर कलश और अच्छी इमारतें बनती रहीं। छपाई का इस्तैमाल होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ और कविता में उसका वर्णन किया गया। इस प्रकार चीन में हमें एक अटूट शालीनता और कारीगरी दिखाई देती है, जो एक ऊँची सभ्यता में ही मिल सकती है।

यही हालत हिन्दुस्तान में थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई अचानक फ़र्क़ नहीं आया। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये, ऊँचे क़िस्म के साहित्य और कला की रचना के जमाने आये और साथ ही साथ विनाश और बरबादी के जमाने भी आये, लेकिन यहाँ की सभ्यता एक रफ़्तार से जारी रही और हिन्दुस्तान

से पूर्व के दूसरे देशो में भी फैल गई। उसने उन जंगलियो को भी सबक़ सिखाया और अपने में मिला लिया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न सोचो कि मैं हिन्दुस्तान या चीन की बडाई पश्चिम को नीचा दिखा-दिखाकर कर रहा हूँ। आज दिन हिन्दुस्तान या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। यह अन्धे भी देख सकते है कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज वे दुनिया की जातियो के मुक़ाबिले में बहुत नीचे डूब गये है। अगर उनकी पुरानी सभ्यता की धारा एकाएक टूट नही गई है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि इसमें कोई बुरे परिवर्त्तन भी नही हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे है, तो यह साफ है, कि हम दुनिया की नीची सतह पर उतर आये है। हम अपनी सभ्यता की धारा अटूट रहने पर खुश हो सकते है, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर ख़त्म होगई, तो इससे हमें अब क्या सन्तोष हो सकता है? इससे तो यही अच्छा हुआ होता कि प्राचीनता से एकाएक हमारा सम्बन्ध टूट जाता। इससे हम जड़ से हिल जाते, और हममें नई जिन्दगी और नई ताक़त आजाती। आज दिन हिन्दुस्तान और दुनिया में जो घटनायें घट रही है, वे हमारे पुराने देश को हिला रही है, और उसे फिर जवानी और नई जिन्दगी से भर रही है।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान में जो ताकत और सहन-शक्ति थी, उसकी वजह ग्राम-प्रजातंत्र या स्वतंत्र पंचायतें थीं। आजकल की तरह उन दिनो बडे-बडे ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार नहीं होते थे। ज़मीन या तो देहाती पंचायतों की या उसपर काम करनेवाले किसानो की हुआ करती थी, और इन पचायतो के हाथ में बडी ताक़ते और अधिकार होते थे। इन पचायतो को गाँव के लोग चुनते रहे होगे और इस तरह प्रजातंत्र-प्रणाली पर उनकी नींव उठी हुई थी। राजा आते थे और चले जाते थे, वे एक-दूसरे से लड़ते भी थे, लेकिन उन्होने इन ग्राम-संस्थाओ पर कभी हाथ नहीं डाला, और न उनके काम या अधिकार में कभी दख़ल ही दिया। उन्होंने इन पंचायतों की आज़ादी छीनने की कभी कोशिश नहीं की, और इस तरह जब साम्राज्यो का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खडी हुई समाज-व्यवस्था बिना रद्दोबदल के जारी रही। सम्भव है, लड़ाइयो और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमको भ्रम में डालदें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओ का असर तमाम जनता पर पड़ा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, ख़ासकर उत्तरी हिंदुस्तान पर, कभी-कभी इनका असर पडता था, लेकिन आमतौर से यह कहा जा सकता है कि वे इससे बहुत-कम परेशान होते थे, और राज-दरबार में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने काम में लगे रहते थे।

हिन्दुस्तान के समाज-सगठन को बहुत दिन तक मजबूत बनाये रखने की दूसरी वजह वह वर्ण-व्यवस्था थी जो शुरू-शुरू में चली थी। उन दिनो जाति के नियम इतने सख्त नहीं थे, जितने कि वह बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ पैदाइश पर निर्भर करती थी। हजारो साल तक उसने हिन्दुस्तानी जिन्दगी को अविच्छिन्न रक्खा, और वह सिर्फ इसलिए ऐसा कर सकी, कि उसने परिवर्त्तन और तरक्की की गति को रोकने की जगह उसमें मदद पहुँचाई। धर्म और जिन्दगी के मामले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा सहिष्णुता, प्रयोग और तब्दीली का स्वागत करता था। इससे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलो और दूसरे झगडो ने जात-पात के सवाल को धीरे-धीरे सख्त बना दिया, और इसके साथ-साथ हिन्दुस्तान के सारे दृष्टिकोण में सख्ती और अनुदारता आगई, और उसका लोच जाता रहा। यह सिलसिला उस वक्त तक जारी रहा जब तक हिन्दुस्तानी आजकल की दुःखदायी हालत को नहीं पहुँच गये। जाति-प्रथा हर तरह की तरक्की की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढाचे को एक में बांध रखने के बजाय, वह उसे सैकडो टुकडो में तोड़-फोड देती है; हमें कमजोर बनाती और भाई को भाई के खिलाफ खडा करती है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने जमाने में, हिन्दुस्तान के समाज-सगठन को मजबूत बनाने के काम में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें मृत्यु के बीज मौजूद थे। वह असमानता और अन्याय को स्थायी बनानें की बुनियाद पर बनी थी। और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में असफल हो जाना निश्चित था। असमानता और अन्याय के आधार पर कोई भी अच्छा या मजबूत समाज नहीं बनाया जा सकता और न एक दरज या जमात द्वारा दूसरे दरजे या जमात को चूसने की नीति पर ही कोई अच्छा या मजबूत समाज बन सकता है। चूंकि आज दिन भी यह अनुचित लूट-खसोट मौजूद है, इसलिए हम तमाम दुनिया में इतना ज्यादा कष्ट और दुःख देखते हैं। लेकिन सब जगह लोग अब इसको महसूस कर रहे हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

हिन्दुस्तान की तरह चीन में भी समाज-प्रणाली की शक्ति गांवो और मेहनत-मजदूरी करनेवाले लाखो मौरूसी किसानो में केन्द्रित थी, जिनका जमीन पर कब्जा था और जो उसे जोतते थे। वहा भी बडे-बडे जमींदार नहीं थे और धर्म को भी कभी कट्टर और असहिष्णु बनने का मौक़ा नहीं दिया जाता था। दुनिया की तमाम जातियो में से चीन वाले धर्म के मामले में शायद सबसे कम कट्टर होते थे और अब भी होते हैं।

फिर तुम्हे यह भी याद होगा कि हिन्दुस्तान और चीन दोनो ही में ग़ुलाम

मजूरो की वैसी कोई प्रथा नही थी, जैसी यूनान या रोम या उससे भी पहले मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जो गुलाम थे, लेकिन समाज की प्रणाली में उनकी वजह से कोई फर्क नहीं पडता था। जात-पात की यह प्रणाली बगैर उनके भी वैसी ही बनी रहती। पुराने यूनान और रोम में ऐसा नहीं था। वहा तो ज्यादा से ज्यादा तादाद में गुलामो का होना सामाजिक प्रणाली का एक जरूरी अग था और सब काम का असली भार इन्हीके कधो पर पडता था। और तुम सोच सकती हो कि मिस्र में बिना इन गुलामो के ये बडे-बडे पिरेमिड कैसे बन सकते थे ?

मैंने इस खत को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं, लेकिन मैं दूसरे विषयो की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई गैर मामूली बात नही है। शायद दूसरी बार हम चीन को न छोडें।

: ४१ :

तंग वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैंने चीन के हन्-वश के बारे में तुम्हे बताया है, और यह भी बताया है कि चीन में बौद्ध धर्म कैसे आया, छपाई की कला कैसे निकली, सरकारी अफसरो को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का रिवाज कैसे शुरू हुआ ? ईसा के बाद की तीसरी सदी में हन् राजवंश खत्म हो गया, और साम्राज्य तीन हिस्सो में बँट गया। तीन सल्तनतो में बँटने का यह युग कई सौ बरसो तक कायम रहा। इसके बाद चीन फिर मिलकर एक हो गया और एक नया राजवश, जिसे तग वश कहते हैं, पैदा हुआ, और इस तरह चीन फिर एक शक्तिशाली और सयुक्त राज्य बन जाता है। यह सातवीं सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस युग में भी चीनी सस्कृति और कला उत्तर के तातारियो के हमलो के बावजूद भी कायम रही। बडे-बडे पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रो का वर्णन हमें मिलता है। हिन्दुस्तान सिर्फ अपने सुन्दर कपडे और दूसरे माल ही नहीं, बल्कि अपने ख़याल, अपना मजहब और अपनी कला भी वहां भेजता रहा। हिन्दुस्तान से बहुत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ हिन्दुस्तानी कला और रस्मरिवाज लेते गये। यह भी हो सकता है कि हिन्दुस्तानी कलाकार और चतुर कारीगर वहां गये हो। बौद्ध धर्म के आगमन और हिन्दुस्तान से आनेवाले नये विचारो का चीन पर बहुत असर पड़ा। चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश

था। यह बात नहीं थी कि हिन्दुस्तान की कला, विचार और धर्म किसी पिछडे या असभ्य देश में पहुँचे हो, और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया हो। चीन में पहुँच कर इनको चीन की पुरानी कला और विचार-पद्धति का मुक़ाबिला करना पडा था। दोनो के मेल का यह नतीजा हुआ कि एक बिलकुल नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनो से का बिलकुल अलग थी। इसमें बहुत कुछ हिन्दुस्तान का था, लेकिन चीनी नमूने बना हुआ था। इस तरह से हिन्दुस्तान से इन विचारो की धारा के आने की वजह से चीन के मानसिक और कला सम्बन्धी जीवन में नई स्फूर्ति और नया उत्साह आ गया।

इसी तरह बौद्ध धर्म और हिन्दुस्तानी कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक, यानी कोरिया और जापान तक, कैसे पहुँचा, और इन देशो पर इसका क्या असर हुआ, इसका अध्ययन बहुत दिलचस्प है। हरेक मुल्क ने इसको अपनी प्रकृति और प्रतिभा के अनुकूल बनाकर ग्रहण किया। इस तरह हालांकि बौद्ध धर्म चीन और जापान दोनों में बढा, लेकिन हर मुल्क में इसका पहलू जुदा रहा और इन देशो का बौद्ध धर्म उस बौद्ध धर्म से बिल्कुल अलग चीज है, जो हिन्दुस्तान से गया था। कला भी देश, काल और वातावरण के मुताबिक बदलती रहती है। हिन्दुस्तान में हम लोग क़ौमी हैसियत से कला और सौंदर्य दोनो भूल गये है। यही नहीं, बहुत दिनो से हमने कोई अद्‌भुत सौन्दर्य की चीज पैदा नहीं की, बल्कि हममें से बहुत से आदमी सुदरता की क़द्र करना भी भूल गये है। किसी ग़ुलाम देश में कला या सौंदर्य पनप ही कैसे सकता है? ग़ुलामी और बन्धन के अन्धेरे में ये मुरझा जाते है। लेकिन आज़ादी की झलक अब हमारी आँखो के सामने है, इसलिए सुन्दरता की भावना धीरे-धीरे हम लोगो में जगने लगी है। जब आज़ादी आजावेगी, तुम देखोगी कि इस मुल्क में कला और सौन्दर्य का पुनरुत्थान किस ज़ोर के साथ होता है। और मुझे उम्मीद है कि यह हमारे घरों, नगरों और हमारे जीवन की कुरूपता को दूर करदेगी।

चीन और जापान की किस्मत हिन्दुस्तान से अच्छी रही ह, और इन्होंने अब तक कला और सौंदर्य की भावना को सुरक्षित रक्खा है।

ज्यो-ज्यो चीन में बौद्ध धर्म फैला, हिन्दुस्तानी बौद्ध और भिक्षु वहाँ अधिक-से-अधिक तादाद में जाने लगे, और चीनी भिक्षु हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में जाने लगे। मैंने तुम से फाहियान का जिक्र किया है, और तुम ह्यूएनत्साग को भी जानती हो। ये दोनो हिन्दुस्तान आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम 'हुई शेंग' था, पूर्वी समुद्र में सफर किया था और उसने अपनी यात्रा का बहुत दिलचस्प वर्णन लिखा है। यह ईसवी सन् ४९९ में चीन की राजधानी में पहुँचा और बताया कि मैं 'फू सग'

नाम के एक ऐसे मुल्क में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हजार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुईशेंग इस महासागर को पार करके मैक्सिको गया हो क्योंकि मैक्सिको में भी उस वक्त एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर हिन्दुस्तान के बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्माध्यक्ष दक्षिण हिन्दुस्तान से चीन में कैण्टन के लिए रवाना हुए। उनका नाम और उपाधि 'बोधिधर्म' थी। शायद हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म के धीरे-धीरे कमजोर होजाने की वजह से उन्हे चीन जानें का विचार हुआ हो। ई० सन् ५२६ में, जब उन्होने यह यात्रा की, वह वूढे हो चुके थे। इनके साथ, और इनके वाद बहुत से दूसरे भिक्षु भी चीन गये। कहते हैं कि उस समय चीन के सिर्फ एक सूबे 'लो-यग' में तीन हजार से भी ज्यादा हिन्दुस्तानी भिक्षु और दस हजार हिन्दुस्तान कुटुम्ब रहते थे।

इसके बाद ही बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण, तथा इस कारण भी कि यहा उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, भारत धार्मिक बौद्धो का ध्यान अपनी तरफ खींचता रहा। लेकिन जान पडता है कि हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था। काओ-त्सू सम्राट् ने ई० सन् ६१८ में तंग राजवश की शुरुआत की थी। इसने न सिर्फ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना राज्य दक्षिण में अनाम और कम्बोडिया तक, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नाम का शहर था। यह शहर पूर्वी एशिया में अपनी सभ्यता और शान के लिए मशहूर था। जापान और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आजाद था, राजदूत और प्रतिनिधि-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता सीखने के लिए आया करते थे।

तग सम्राट विदेशी व्यापार और यात्रियो को उत्साहित करते थे। चीन आने वाले या वहा आकर बसनेवाले विदेशियो के लिए ख़ास क़ानून बनते थे ताकि वे जहां तक सम्भव हो, अपनें ही मुल्क के रस्म-रिवाज के अनुसार न्याय पावें। हमें पता चलता है कि ई० सन् ३०० के करीब दक्षिण चीन में कैण्टन के पास अरब लोग ख़ासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम के जन्म यानी पैगम्बर हजरत मुहम्मद की पैदायश के पहले की बात है।

इन अरबों की मदद से समुद्र पार देशो के साथ की तिजारत ने तरक्की की, जो अरब और चीनी जहाजो के जरिये हुआ करती थी।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के

लिए किसी मुल्क के आदमियो का गिनना, चीन की बहुत पुरानी प्रणाली है। कहते है कि ई० सन् १५६ में चीन में मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन् वश के जमाने में हुई होगी। एक-एक आदमी की नहीं, कुटुम्बो की गिनती की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच आदमी होगे। इस गिनती के मुताबिक ई० सन् १५६ में चीन में ५ करोड आदमी बसते थे। मैं मानता हूँ कि मनुष्य-गणना का यह कोई बहुत ठीक तरीका नहीं है लेकिन ख़याल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह एक नई चीज है। मेरा ख़याल है कि करीब १५० वर्ष हुए, जब अमरीका के सयुक्त राष्ट्र में पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

तग वश के शुरू जमाने में चीन में दो और मजहब आये—एक ईसाई धर्म और दूसरा इस्लाम। ईसाई मत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया था, जिसे काफिर या नास्तिक करार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। इस सम्प्रदाय का नाम नेस्टोरियन था। मैने तुम्हे कुछ दिन हुए ईसाई मत-मतान्तरो के आपसी झगडे और लड़ाई की कुछ बात लिखी थी। इन्हीं लडाई-झगडो का नतीजा था कि नेस्टोरियन लोग रोम द्वारा भगा दिये गये थे। लेकिन ये चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सो में फैल गये। ये लोग हिन्दुस्तान भी आये थे और इनको कुछ कामयाबी भी मिली थी, लेकिन बाद को, ईसाई धर्म की दूसरी शाखाओ ने और मुसलमानो ने उनको हजम कर लिया, और उनका नामनिशान मिट-सा गया। लेकिन पारसाल हम दक्षिण हिदुस्तान में गये तो वहाँ एक जगह इन लोगो की थोडी-सी आबादी देखकर बहुत ताज्जुब हुआ था, तुम्हे याद है न? इनके बिशप ने हम लोगो को चाय पिलाई थी। वह बहुत ही हँसमुख वृद्ध आदमी था।

ईसाई धर्म को चीन में पहुँचते-पहुँचते कुछ दिन लग गये। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेजी से आया। इस्लाम नेस्टोरियन लोगों के आने के कुछ साल पहले और पैग़म्बर की जिन्दगी में ही आया था। चीन के सम्राट ने मुसलमान और नेस्टोरियन दोनो के दूतो का बडी इज्जत के साथ स्वागत किया था, और जो कुछ उन्होंने कहा उसे ध्यान से सुना था। उसने उन सब बातो की क़द्र की और निष्पक्ष होकर दोनों पर मिहरबानी की। अरब लोगो को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाजत दी गई। यह मस्जिद अभीतक मौजूद है, हालाँकि इसे बने तेरह सौ बरस हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदो में से एक है।

इसी तरह तग सम्राट ने ईसाई गिरजाघर और मठ बनाने की भी इजाजत दी। उस जमाने में चीन में दूसरे मजहबों के साथ कैसी सहनशीलता का व्यवहार किया जाता था, जब कि योरप में असहिष्णुता का राज्य था।

कहते हैं कि अरबो ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियो से सीखा और फिर योरप को सिखाया। ई० सन् ७५१ में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियो और मुसलमान अरबों के दर्मियान लड़ाई हुई। अरबो ने कुछ चीनियो को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियो ने अरबो को कागज बनाना सिखाया।

तंग वंश तीन सौ वरस यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगो का ख़याल है कि यह तीन सौ वर्ष चीन के लिए सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे पैमाने पर नहीं थी बल्कि जनता भी बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनो बाद मालूम हुई, चीनियो को उस ज़माने में मालूम थी। कागज का जिक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज बारूद थी। चीनी बडे अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम तौर से, और करीब-करीब हरेक तफसील में, ये लोग योरप से बहुत कुछ आगे बढ़े हुए थे। अगर उस वक्त ये लोग आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये आगे क्यो नहीं बने रहे, और विज्ञान तथा नये-नये आविष्कारो की दुनिया में उन्होने योरप का नेतृत्व क्यो नहीं किया? योरप धीरे-धीरे रेंगते हुए इनके पास पहुँचा—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे तक पहुँचता है—और कम-से-कम कुछ बातो में उनसे आगे हो गया। कौमो के इतिहास में इस तरह की बातें क्यो हो जाती हैं, यह तत्वज्ञानियो के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम फिलासफर नहीं बनी हो, इसलिए इस सवाल के बारे में फिक्र करने की तुम्हे जरूरत नहीं; और इसलिए मुझे भी चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है।

इस युग में चीन की महानता का स्वभावत एशिया के दूसरे हिस्सो पर बहुत असर पडा, जो चीन की तरफ सभ्यता और कला के मामले में रहनुमाई के लिए देखा करते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद हिन्दुस्तान का सितारा बहुत तेजी से नहीं चमक रहा था। और जैसा हमेशा होता है, चीन में भी सभ्यता और उन्नति के कारण जिन्दगी बहुत ज्यादा ऐशआराम से भर गई। शासन-कार्य में बेईमानी होने लगी और इसकी वजह से बहुत ज्यादा कर लगाना जरूरी हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग तंग वंश से ऊब गये और उसका खात्मा कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निपन

८ मई, १९३२

ज्यो-ज्यो हमारी दुनिया की कहानी आगे बढती जायगी, नये-नये मुल्क हमारी नज़र के सामनें आते जायँगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए, जो चीन के पडौसी और कई बातो में चीनी सभ्यता की सन्तान है। ये देश एशिया के बिल्कुल किनारे पर, सुदूरपूर्व में है, और इनके बाद प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनो पहले अमरीका के महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नहीं था; इनका ताल्लुक़ सिर्फ महान् चीनी राष्ट्र से ही था। उन्होने चीन से अथवा चीन के द्वारा ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान पर चीन का बहुत ऋण है, और थोडा-बहुत वे हिन्दुस्तान के भी ऋणी है। लेकिन हिन्दुस्तान से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के ज़रिये से ही पाया। इसलिए वह चीन की भावनाओ में रगा हुआ था।

कोरिया और जापान दोनो की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और दूसरी जगहो पर जो बडी-बडी घटनायें हुई, उनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओ के केन्द्र से ये दूर थे और एक सीमा तक दोनो—ख़ासकर जापान खुशक़िस्मत थे। इसलिए मौजूदा ज़माने के अलावा, बग़ैर किसी कठिनाई के इनके इतिहास की हम उपेक्षा कर सकते है। ऐसा करने से एशिया के काफी हिस्सों की घटनाओं को समझने में कोई ज्यादा फरक न आयेगा। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि हम इनकी उपेक्षा करें। हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओ के पुराने इतिहास की उपेक्षा की है। वह छोटा मुल्क बेचारा कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान इसको निगल गया है और उसने इसको अपनें साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अभी तक आजादी के सपने देखता है और स्वतन्त्र होने के लिए कोशिश कर रहा है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है, चीन पर उसके हमलो के समाचार से अख़बार भरे रहते है। इस वक़्त भी, जब तुम्हे यह ख़त लिख रहा हूँ, मचूरिया में एक तरह की लडाई छिडी हुई है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान के पिछले ज़माने के बारे में कुछ जान ले तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनो देश एक लम्बे ज़माने तक दुनिया से अलग रहे है। जापान के इतिहास में, सब से महत्व की बात

यह है कि वह सबसे अलग और विदेशी हमलो से सुरक्षित रहा। इसके सारे इतिहास में इसपर हमला करने की बहुत कम कोशिशें हुई। और इन कोशिशो में एक भी कामयाब नही हुई। हाल के जमाने तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी ही रही है। कुछ दिनो के लिए जापान ने अपने आपको सारी दुनिया से बिल्कुल अलग कर लिया था। किसी जापानी का अपने देश से बाहर जाना, या किसी विदेशी, यहां तक कि चीनी का जापान में आसकना बहुत मुश्किल बात थी। यह बात इसलिए की गई थी कि जापानी लोग अपने को योरप से आने वाले विदेशियो से और ईसाई-प्रचारको से बचाना चाहते थे। यह एक खतरनाक और मूर्खतापूर्ण काम था, क्योकि इस प्रकार सारी कौम कैदखाने में बन्द हो जाती है, और बाहर के अच्छे और बुरे दोनो तरह के प्रभाव से वंचित हो जाती है। पर बाद में एकदम से जापान नें अपने दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दीं, और योरप जो कुछ सिखा सकता था, उसे सीखने के लिए बेताबी से बाहर निकल पडा। योरप से जो कुछ सीखना था, उसे इसने इतनी नेकनीयती के साथ सीखा कि एक या दो पुश्त में ही जापान ऊपर से यूरोपियन देश के समान हो गया और उसने उनकी अच्छी बातों के साथ बुरी आदतो की भी नक़ल कर ली। ये सब बातें पिछले सत्तर वर्ष में हुई है।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत दिनो बाद शुरू होता है। जापानियों का इतिहास तो कोरियन लोगो के भी पीछे आरम्भ हुआ। मैंने तुम्हे पार साल अपने एक ख़त में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राजवंश के बदल जाने से असन्तोष था, अपने पाच हज़ार साथियो के साथ पूर्व की तरफ कूच कर दिया था। वह कोरिया में बस गया और उसका नाम 'चोसेन' यानी 'प्रभात की शान्ति का देश' रख दिया। यह ईसा के जन्म से ११२२ बरस पहले की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती करने की कला और रेशम बनाने का हुनर वहा ले गया। ९०० बरस से भी अधिक समय तक की-त्से के वशंज चोसेन पर राज करते रहे। चीनी लोग समय-ससय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-ख़ासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वाग-ती चीन के सम्राट थे, तब चीनियो का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हे इस चीनी सम्राट का नाम याद होगा। यह वही शख़्स है, जिसने 'प्रथम सम्राट' की उपाधि ग्रहण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। यह अशोक का समकालीन था। शी-ह्वाग-ती के कठोर शासन से परेशान होकर बहुत से चीनियो ने कोरिया में आश्रय लिया था। इन चीनियो ने की-त्से के कमज़ोर वंशजो को निकाल भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यो में बँट गया, और

आठ सौ वरस से ज्यादा तक यही हालत वनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लडा करते थे। एक दफा इन राज्यो में से एक ने चीन की मदद मागी, और तुम जानती हो कि इस तरह की मदद माँगना खतरनाक हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन वापस नहीं गई। ताकतवर मुल्को का यही ढँग होता है। चीन डट गया और चोसेन के कुछ हिस्सो को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का वाकी हिस्सा भी कई सौ वरसो तक चीन के तग सम्राटो की भी मातहती कबूल करता रहा।

ई० सन् ९३५ में चोसेन एक स्वतन्त्र सयुक्त राज्य वना। वाग कोन नाम के एक शख्स ने इस काम में सफलता प्राप्त की और ४५० वरस तक उसके वशजो ने इस राज्य पर हुकूमत की।

मैने दो या तीन पैरो में तुम्हे कोरिया के इतिहास के दोहजार वरस का हाल वता दिया। याद रखने की वात है कि कोरिया पर चीन का वहुत वडा ऋण है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हजार वरस तक कोरियावालो ने चीन की लिपि का इस्तैमाल किया। और तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नही, वल्कि खयालात है, शब्द है और जुमले है। इसके वाद कोरियावालो ने इस लिपि से एक खास लिपि वनाई, जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर आया। कनफ्यूशियस का तत्वज्ञान भी चीन से ही आया। हिन्दुस्तान के कला सम्बन्धी सस्कार चीन होकर कोरिया और जापान गये। कोरिया ने कला के, खासकर मूर्ति-वनाने की कला के, बहुत सुन्दर नमूने दुनिया के सामने रखे है। इनकी मकान वनाने की कला चीनियो से मिलती-जुलती थी। जहाज वनाने में भी वडी तरक्की हुई। यहा तक कि एक समय कोरिया निवासियो के पास इतनी ताक़तवर जलसेना हो गई थी कि उन्होने उससे जापान पर हमला किया था।

ग़ालिवन मौजूदा जापानियो के पूर्वज कोरिया या चोसेन से आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण यानी मलेशिया से भी आये हो। तुम जानती हो कि जापानी लोग मगोलियन जाति के है। जापान में अव भी कुछ लोग ऐसे है, जिन्हे 'आइनस' कहते है, और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते है। ये लोग गोरे है, और इनके वदन पर वाल कुछ ज्यादा होते है। मतलव यह कि ये औसत जापानियो से विलकुल जुदे है। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में भगा दिये गये है।

ई० सन् २०० के करीव जिगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की मुखिया थी। यामातो जापान या उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर वसे थे। इस रानी का जिगो नाम याद रखने की चीज है। यह एक अनोखी बात है

कि जापान के एक प्राचीन शासक का नाम जिगो रहा हो, क्योकि अंग्रेजी जबान में जिगो शब्द के एक खास मानी हो गये हैं। इसके मानी हैं ऐसा साम्राज्यवादी, जो डीग मारने और शेखी बघारनेवाला हो। इसके मानी सिर्फ साम्राज्यवादी के भी हो सकते हैं। क्योकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत घमडी और शेखीबाज़ होता ही है जैसा कि बहुत से अग्रेज आज हैं। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिगोवाद के इस रोग में फँसा हुआ है। और हाल ही में इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत वुरा व्यवहार किया। इसलिए यह मजेदार बात है कि जिगो जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम रहा हो।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के द्वारा ही यामातो ने चीनी सभ्यता इख्तियार की। चीन की लिखित भाषा भी ई० सन् ४०० के करीब कोरिया होकर वहाँ पहुँचती थी, और इसी तरह से बौद्ध धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। ई० सन् ५५२ में पकचे (कोरिया के तीन राज्यो में से एक राज्य) के शासक ने यामातो के शासक के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ बौद्ध-धर्म प्रचारक पवित्र धर्म ग्रन्थो के साथ भेजे थे।

जापान का पुराना धर्म शिंटो था। शिंटो चीनी शब्द है। इसके मानी हैं, 'देवताओ का मार्ग'। इस मज़हब के सिद्धान्त में प्रकृति और पूर्वजो की पूजा का मेल-जोल था। इस धर्म ने परलोक या समस्याओ एव गुत्थियो से अपने दिमाग़ को तकलीफ नहीं दी। यह एक सैनिक जाति का धर्म था। जापानी लोग, जो चीनियो के इतने नजदीक है, और जो अपनी सभ्यता के लिए चीन के ऋणी हैं, चीनियो से बिलकुल जुदे हैं। चीनी लोग असल में शान्त स्वभाव के रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता और जीवन की फिलासफी शान्ति से पूर्ण है। इसके खिलाफ जापानी एक लडनेवाली क़ौम रही है, और आज भी है। सिपाही का असली गुण यह होता है कि वह अपने साथियो और अपने अफ़सर के प्रति वफादार हो। जापानी लोगो में यह गुण बराबर रहा है, और उनकी शक्ति का एक मुख्य कारण यही है। शिंटो धर्म इसी गुण पर ज़ोर देता था—"देवताओ का सम्मान करो, और उनके वशजो के प्रति वफ़ादार रहो"—और इसीलिए वह आज तक जापान में ज़िन्दा है, और बौद्ध धर्म के साथ-साथ पाया जाता है।

लेकिन क्या यह सद्गुण है ? अपने या अपने सिद्धान्त के प्रति वफ़ादार होना जरूर एक अच्छा गुण है। लेकिन शिंटो या दूसरे धर्मों ने अक्सर हमारी वफ़ादारी से बेजा फायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे एक ऐसे गिरोह को फायदा पहुँचा है, जो हमारे ऊपर शासन करता है। जापान, रोम और दूसरी जगहो पर भी यही

सिखाया जाता था कि अधिकार एव प्रभुत्व की पूजा करो, और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे हम लोगो को कितना नुकसान पहुँचा।

नया बौद्ध धर्म जब जापान में आया, तो पुराने शिटो धर्म से उसका कुछ झगडा चला। लेकिन जल्दी ही दोनो साथ-साथ रहने लग गये, और आज तक रह रहे है। शिटो धर्म बौद्ध धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक वर्ग इसको प्रोत्साहन भी देता है, क्योकि यह वफदारी और फरमावरदारी सिखाता है। बौद्ध धर्म इससे ज़रा खतरनाक मजहब है, क्योकि उसको चलानेवाला ख़ुद बागी था।

जापान का कला-इतिहास बौद्ध धर्म के साथ शुरू होता है। जापान या यामातो ने भी तब चीन के साथ सीधा सम्बन्ध शुरू किया। चीन को, खासकर तग युग में, जब राजधानी 'सी-आन-फू' सारे पूर्वी एशिया भर में मशहूर हो रही थी, जापान से बराबर राजदूत जाते थे। जापानी यानी यामातो वालो ने ख़ुद एक नई राजधानी कायम की थी, जिसका नाम नारा था, और उसे 'सी-आन-फू' की एक हू-ब-हू नक़ल बनाना चाहते थे। जापानियो में दूसरो की नकल या अनुकरण करने की आश्चर्यजनक योग्यता रही है।

हम देखते है कि सारे जापानी इतिहास भर में बडे-बडे वश एक-दूसरे का विरोध करते है और अधिकार पाने के लिए सग्राम करते है। दूसरी जगहो पर भी पुराने ज़माने में तुम्हे ऐसी ही बातें मिलेगी। इन कुटुम्बो में पुराने कुल या फिरक़ो का ख़याल जमा हुआ था, इसलिए जापान का इतिहास एक तरह से कुटुम्बो के आपसी लाग-डॉट की कहानी है। इनका सम्राट मिकाडो सर्वशक्तिमान, निरकुश, अर्ध-दैवी और सूर्य का वशज समझा जाता है। शिटो धर्म ने और पूर्वजो की पूजा की प्रथा ने सम्राट की निरकुशता क़बूल करने में बहुत मदद दी और उन्हे देश के उच्चवर्ग का आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन अक्सर सम्राट ख़ुद जापान में कठपुतली रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताक़त नही रही है। सारा अधिकार और सारी ताक़त किसी बडे कुटुम्ब या किसी कुल के हाथ में रही है, जो राजाओ के विधाता थे और जो अपनी मरजी के मुताबिक़ राजा या सम्राट बनाया करते थे।

जापान में जिस बडे कुटुम्ब ने सबसे पहले राज्य का नियन्त्रण किया वह 'सोगा' कुटुम्ब था। जब इन लोगो ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, तभी वह राज-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। शोतुकू तैशी इस कुटुम्ब का एक बडा नेता था, और जापानी इतिहास का यह एक महान् पुरुष हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और श्रेष्ठ कलाकार था। चीन के कन्फ्यूशियन महाग्रन्थो से इसने अपने ख़याल लिये थे और एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की, जिसकी बुनियाद हिंसा-बल पर नहीं,

वरन् नीति पर रक्खी गई थी। जापान उन दिनो ऐसे परिवारो से भरा हुआ था, जिनके सरदार बिल्कुल स्वतत्र थे। ये लोग आपस में लड़ते थे और किसीकी हुकूमत नही मानते थे। सम्राट अपनी लम्बी-चौडी उपाधि के होते हुए भी एक बडे खानदान का सरदार था। शोतुकूतैशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मजबूत करने के लिए कोशिश शुरू करदी। इसने बहुत से कुलों के सरदारो और अमीरो को सम्राट का मातहत बना दिया। यह लगभग ई० सन् ६०० की बात है।

लेकिन शोतुकूनैशी की मृत्यु के बाद सोगा कुटुम्ब निकाल दिया गया। थोडे दिनो के बाद एक दूसरा आदमी, जो जापानी इतिहास में मशहूर है, सामनें आता है। इसका नाम 'काकातोमी नो कामातोरी' था। इसने सरकार के सगठन में सब तरह के परिवर्त्तन किये और चीनी शासन-पद्धति की बहुत सी बातो का अनुसरण किया। लेकिन उसने चीन की खास विशेषता—सरकारी अफसरो को मुक़र्रर करनें की परीक्षा-विधि की नकल नही की। सम्राट अब एक कुल के सरदार की हैसियत से बहुत बडी चीज बन गया और केन्द्रीय सरकार बहुत मजबूत होगई।

इसी जमाने में नारा राजधानी बना। लेकिन थोडे दिनो तक ही उसको यह गौरव रहा। ई० सन् ७९४ में क्योटो राजधानी बनाया गया और करीब ग्यारह सौ बरस तक राजधानी रहा। थोडे ही समय पहले टोकियो ने उसकी जगह लेली है। टोकियो एक बहुत बडा अर्वाचीन शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है जो जापान की आत्मा के बारे में हमें कुछ बताता है, क्योकि उसके साथ हजारो बरसो की यादगार लगी हुई है।

काकातोमी नो कामातोरी फूजीवारा वंश का जन्मदाता हुआ। इस वंश ने जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया है। दो सौ बरस तक इसनें हुकूमत की, और सम्राटो को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहा, और अपने कुल की लड़कियो से शादी करने के लिए उन्हे बाध्य करता रहा। अन्य कुटुम्बो में जो योग्य आदमी होते थे, उनसे ये डरते थे, अतः उन्हे इस बात के लिए मजबूर करते थे कि वे भिक्षु बन जायँ।

जब राजधानी नारा में थी, चीन के सम्राट नें जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा और उसे 'ताई-नी-पुग-कोक के राजा' कहकर सम्बोधित किया। जिसका मतलब होता है 'महान सूर्योदय का राजा'। जापानी लोगो को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुक़ाबिले यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए इन लोगो ने अपने देश का नाम 'दाई निपन' रक्खा, यानी 'सूर्योदय का देश'। अभीतक जापानियो का अपना नाम अपनें देश के लिए यही है। जापान शब्द 'निपन' शब्द से एक अजीब

तरीके पर बिगडकर बना है। छ सौ बरस बाद एक बहुत बडा इटैलियन मुसाफिर चीन गया। उसका नाम मार्को पोलो था। यह जापान कभी भी नहीं गया, लेकिन इसने अपने यात्रा-विवरण में जापान के बारे में कुछ लिखा है। इसने चीन में 'नी-पुग-कोक' नाम सुना था। उसने अपनी किताब में इसे 'चीपगो' लिखा। इसी शब्द से जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हे बताया है, या तुम्हे मालूम है, कि हमारा देश इडिया या हिन्दुस्तान क्यो कहलाने लगा? ये दोनो नाम इण्डस या सिन्धु से निकले है, जो इस तरह से 'हिन्दुस्तान की नदी' कही जाने लगी। सिन्धु से यूनानी लोगो ने हमारे देश को इण्डोस कहा और इण्डोस से इण्डिया शब्द निकला। सिन्धु से ही ईरानियो ने हिन्दू लफ्ज बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

११ मई, १९३२

अब हम फिर हिन्दुस्तान को वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गये थे। लेकिन बहुत से हूण इधर-उधर कोने में बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान गुप्त राज्य-वंश खतम होगया था, और उत्तर भारत में बहुत से राज्य और सल्तनते कायम हो गई थीं। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य-साम्राज्य कायम कर लिया था।

कन्नौज नाम का छोटा नगर है। वह कानपुर से ज्यादा दूर नहीं है। कानपुर आज कल एक बडा शहर समझा जाता है। लेकिन वह अपने कारखानो और चिमनियो की वजह से बदसूरत होगया है। कन्नौज आज एक मामूली जगह है और मामूली गाव से कुछ ही बडा होगा। लेकिन जिस जमाने का जिक्र मैं कर रहा हूँ, उस जमाने में कन्नौज एक बडी राजधानी थी, और अपने कवियो, कलाकारो और तत्ववेत्ताओ के लिए मशहूर थी। कानपुर उस समय पैदा नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होने वाला था। कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम 'कान्यकुब्ज' अर्थात् 'कुबडी लडकी' है। कथा है कि किसी पुराने ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियो को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबडी होगई थीं, और उस समय से यह शहर, जहां ये लडकियां रहती थीं, 'कुबडी लड़कियो का शहर' यानी 'कान्यकुब्ज' नगर कहलाने लगा था।

लेकिन सक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेगे। हूणो ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणो से लड़ने आया। उसने हूणो को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से ख़ुद मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाडो में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने अपनी आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया था। कहते है कि वह सती होने जा ही रही थी, कि हर्ष ने उसको पा लिया और उसकी जिन्दगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तरी हिन्दुतान को बंगाल की खाडी से अरब के समुद्र तक, और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष इसकी वजह से आगे न बढ सका।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह ख़ुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार इकट्ठा हो गये, और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, हिन्दुस्तान में बहुत कमजोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हज़म करते जाते थे। हर्ष भारत का आखिरी महान् बौद्ध सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्साग[1] हिन्दुस्तान आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने हिन्दुस्तान से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य एशिया के उन मुल्को का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत कुछ हाल पाया जाता है। ह्यूएनत्साग एक सच्चा बौद्ध था और वह बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानो की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए हिन्दुस्तान आया था। वह गोबी के रेगिस्तान से होकर गुज़रा था, और रास्ते में उसने ताशक़न्द, समरकन्द, बलख़, ख़ुतन, यारक़न्द आदि कई मशहूर स्थानो की यात्रा की थी। वह सारे हिन्दुस्तान में फिरा था और शायद लंका भी गया था। उसकी किताब बहुत आश्चर्य-जनक और मनोरजक बातो से भरी है। इस किताब में उन देशो का सच्चा हाल पाया जाता है, जहा-जहा ह्यूएनत्साग गया था। इसमें हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सो के आदमियो के चरित्र का आश्चर्य-जनक खाक़ा

१ ह्यूएनत्साग—को बहुतेरे लोग युयेन-चेग, युआन-च्वाग या ह्वान-त्साग के नाम से भी पुकारते है।

मिलता है, जो आज तक सही मालूम होता है। इसमें अजीव-अजीव कहानिया है जो ह्यूएनत्साग ने यहा आकर सुनी थीं। और कुछ वोद्धिसत्वो (वुद्ध के पहले के अवतारो) के अनेक चमत्कारो का जिक्र भी इस किताव में है। मैंने तुम्हे ह्यूएनत्साग की लिखी, उस एक वडे अकलमन्द आदमी की दिलचस्प कहानी, जो अपने पेट के चारो तरफ तावे के पत्तर वाँधे फिरता था, शुरू में ही वताई है।

ह्यूएनत्साग ने कई वरस हिन्दुस्तान में विताये। खासकर नालन्द के विश्व-विद्यालय में, जो कि पाटलिपुत्र से दूर नहीं था। कहते है कि इसमें १० हजार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह वौद्ध विद्या का वडा केन्द्र और वनारस का, जो ब्राह्मण विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

मैंने तुम्हे एक वार वताया है कि हिन्दुस्तान एक जमाने में 'इन्दु-देश' यानी चन्द्र-लोक कहलाता था। ह्यूएनत्साग भी इस वात का जिक्र करता है और इस नाम को वहुत ठीक वताता है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते है। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो। ह्यूएनत्साग हिन्दुस्तान में ई० सन् ६२९ में आया। चीन से जव इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्साग सुन्दर और लम्बा था। "उसका रग नाजुक और आँखें चमकदार थीं, चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी, उसके रूप से तेज और मनोहरता टपकती थी। ' उसमें पृथ्वी को घेरे हुए विशाल समुद्र की गम्भीरता पाई जाती थी, और जल में पैदा होने वाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी।"

वौद्ध-भिक्षु का केसरिया वाना पहनकर यह अकेला अपनी लम्वी सफर पर चल पडा, हालाँकि चीनी सम्राट ने इसे इजाजत नहीं दी थी। इसने गोवी के रेगिस्तान को पार किया और जव यह तुरफान के राज्य में पहुचा, जो कि इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ इसकी जान ही बाक़ी थी। तुरफ़ान इस रेगिस्तानी राज्य में सभ्यता और सस्कृति से पूरी हरी-भरी एक छोटी-सी जगह थी। आज यह मुर्दा है, और पुरातत्ववेत्ता पुराने खण्डहरो की तलाश में इसकी जमीन खोदते फिरते है। लेकिन सातवीं सदी में जव ह्यूएनत्साग यहाँ से गुजरा था, तुरफान एक उच्च सस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी सस्कृति में हिन्दुस्तान, चीन, ईरान और कुछ अशो में योरप की सस्कृतियो का उल्लेखनीय मेल पाया जाता था। यहा बौद्ध धर्म का प्रचार था और संस्कृत जवान के कारण यहाँ भारतीयता का प्रभाव भी प्रकट था, फिर भी इस देश

१ इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान का था। यहां के रहनेवालो की भाषा मंगोलियन, जैसा कि खयाल किया जा सकता है, नही थी बल्कि भारतीय-यूरपियन थी, और योरप की केल्टिक[1] भाषाओ से बहुत-सी बातो में मिलती जुलती थी। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि वहाँ जो मूर्तिया बनाई गई है, वे यूरोपियन साँचे की हैं। पत्थर पर खुदे हुए चित्र, जिनमें बुद्ध और बोधि-सत्व, देवी और देवता बने हुए है, बडे ही सुन्दर हैं। देवियो की मूर्तियो को या तो हिन्दुस्तानी पोशाक पहनाई गई है, या फिर उनके सिर के कपडे और पोशाक यूनानी हैं। फ्रेंच समालोचक एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रो में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी भावव्यजंकता और चीनी कमनीयता का बहुत सुन्दर मेल पाया जाता हैं।"

तुरफान अब भी कायम है और तुम इसे नकशे में देख सकती हो। लेकिन अब इसकी कोई ख़ासियत नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की अनेक धारायें दूर-दूर के देशो से बहीं, इस जगह पर आकर मिलीं, और मिलकर इन्होने एक सम्पूर्ण एक सामंजस्य पैदा कर दिया।

तुरफान से ह्यूऐनत्साग कूचा गया। यह उस वक्त मध्य एशिया का एक दूसरा केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार और वैभवपूर्ण थी और यह अपने संगीत और स्त्रियो की सुन्दरता के लिए मशहूर था। इस देश का धर्म और कला हिन्दुस्तान की थी। ईरान अपनी संस्कृति और अपना माल यहा भेजता था। इसकी भाषा, सस्कृत, पुरानी फारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती जुलती थी। इसे भी हम एक बढिया मेल कह सकते है।

इसके बाद वह तुर्कों के मुल्क से होकर गुजरा। जहां का राजा, 'महान् ख़ान' जो बौद्ध था, मध्य एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना जाता था और सिकन्दर की यादगार से भरा था, क्योंकि करीब एक हजार वर्ष पहले सिकन्दर यहा से हो कर गुजरा था। फिर वह बलख़ गया और वहाँ से काबुल नदी की घाटी पार कर काश्मीर और हिन्दुस्तान में आया।

यह चीन में तग राज-वंश के शुरू का जमाना था, और उसकी राजधानी

१ केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओ का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानत ब्रिटेनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लैण्ड तथा स्काटलेण्ड के ऊँचे इलाको मे बोली जाती है। सिमरिक और गेथेलिक नामक इसकी दो शाखाये है, हरेक मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावो मे आरभिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र हो रही थी। उस समय चीन दुनिया की सभ्यता का नेता था। तुम्हे याद रखना चाहिए कि ह्यूएनत्साग एक बहुत ऊची सभ्यता के देश से आया था, और किसी बात पर राय कायम करने में उसका आदर्श काफी ऊचा रहा होगा। इसलिए हिन्दुस्तान की हालत के बारे में उसकी राय बहुत महत्वपूर्ण और कीमती है। उसने हिन्दुस्तानियो की और उनके राज्य की बहुत तारीफ की है। वह कहता है—

"हालाकि मामूली आदमी स्वभाव से हलकी तबीयत के होते है, फिर भी हिन्दुस्तान के साधारण लोग ईमानदार और इज्जतवाले है। रुपये पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नही पाई जाती और इन्साफ करने मे ये बडे दयाशील होते है। व्यापार में न उनमें धोखेबाजी है, न चालाकी। ये लोग अपनी बात और वादे के पक्के है। इनके शासन के नियमो मे विशेष सचाई पाई जाती है, और इनके व्यवहार में बहुत मिठास और सज्जनता है। अपराधियो और बागियो की तादाद बहुत कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पडती है।

वह फिर लिखता है—"चूंकि राज्य का इन्तिजाम उदार सिद्धान्तो पर किया जाता है, इसलिए सरकारी अफसर सीधे-सादे है। लोगो से जबरदस्ती काम नही लिया जाता, लोगो पर बहुत हलका कर लगा हुआ है और उनसे जो काम लिया जाता है, वह भी ज्यादा नही है। हरेक आदमी अपनी सम्पत्ति शान्तिपूर्वक रखता है, और सभी लोग अपनी रोजी के लिए जमीन जोतते है। जो लोग सरकारी जमीन जोतते है, उन्हे उपज का छठा हिस्सा लगान मे देना पडता है। व्यापारी अपने काम के लिए आजादी मे इधर-उधर आ-जा सकते है।"

शिक्षा बहुत जल्द शुरू कर दी जाती थी, और इसके लिए सगठन भी अच्छा था। पहली किताब खतम करने के बाद लडके या लडकी को ७ वर्ष की उम्र से पाचो शास्त्र पढाये जाते थे। आजकल शास्त्र का मतलब धर्म-पुस्तक से समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पाँच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण (२) कला-कौशल (३) आयुर्वेद (४) न्याय और (५) दर्शन। इन विषयों की शिक्षा विश्वविद्यालयो में होती थी, और तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत से आदमी इस उम्र तक न पढ सकते रहे होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक शिक्षा काफी फैली हुई थी और शायद सारे पुरोहित और साधु शिक्षक हुआ करते थे, और इनकी कोई कमी नहीं थी। ह्यएनत्साग पर हिन्दुस्तानियो के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब में वह इस बात का जिक्र करता है।

उसने प्रयाग के उस बडे कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो, तेरह सौ बरस पहले की ह्यूएनत्सांग की इस यात्रा का ख़याल करना। उस समय भी यह मेला पुराना मेला समझा जाता था और वैदिक युग से चला आरहा था। इस प्राचीन जमाने के मेले के मुकाबिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर मालूम पड़ता है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है जो हजारो वर्षों से लाखो यात्रियो को गगा और जमना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यूएनत्सांग लिखता है कि हर्ष हालांकि बौद्ध था, पर इस हिन्दू मेले में भी गया था। उसकी तरफ से एक शाही आज्ञा-पत्र निकला था, जिसमें उसने 'पच हिन्द' के सब गरीबो और मुहताजो को बुलाया था, और उन्हे अपने यहाँ मेहमान होने के लिए निमंत्रित किया था। किसी सम्राट के लिए भी यह निमंत्रण बडी बहादुरी का निमत्रण है। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत से आदमी आये और करीब एक लाख आदमी हर्ष के यहाँ रोज भोजन करते थे। इस मेले में हर पाचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत, सोना, जेवर, रेशम जो कुछ उसके पास होता था, बाट देता था। एकबार उसने अपना राज-मुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खानें के लिए जानवरो का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणो ने इस पर ज्यादा ऐतराज नहीं किया था, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिषभोजी हो गये थे।

ह्यूएनत्सांग की किताब में एक बडी मजेदार बात है, जो शायद तुम्हे दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि हिन्दुस्तान में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह सात दिन का लघन कर डालता था। बहुत से आदमी लघन के बीच में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी कायम रहती थी तो दवा लेते थे। उस जमाने में रोग बहुत फैले न रहे होंगे, और न डाक्टर लोगो की ही ज्यादा मांग रही होगी।

उस ज़माने में हिन्दुस्तान में एक नोट करने लायक़ बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानों और सभ्य आदमियो की बहुत इज्जत करते थे। हिन्दुस्तान में और चीन में इस बात की ख़ूब कोशिश की गई, और इसमें सफलता भी हुई, कि विद्या और सस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

हिन्दुस्तान में कई वर्ष बिताने के बाद ह्यूएनत्सांग उत्तरी पहाडो को पार करता हुआ अपने देश वापस गया। सिन्ध नदी में यह क़रीब-क़रीब डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी किताबें वह गईं। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपनें साथ ले गया था और कई साल तक वह इन किताबो का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा। वहा सम्राट ने सी-आन-फू में उसका स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिनसे इसकी मुलाक़ात मध्य एशिया में हुई थी। यह वह नई जाति थी, जो बाद को पश्चिम की तरफ बढ़ी और बहुत-सी सल्तनतों को उलट-पुलट दिया। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते है। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, खुरासान, मोसल और सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियो के बारे में ह्यूएनत्सांग लिखता है—"ईरानी लोग पढने-लिखने की परवाह नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक्त कला में लगाते है, और जो कुछ ये बनाते है, आस-पास के मुल्क उसकी बडी कद्र करते है।"

उस जमानें के मुसाफिर अद्भुत होते थे। आजकल की अफरीका के अन्दर के मुल्को की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्रा, पुराने जमाने की इन महान यात्राओ के मुक़ाबिले में तुच्छ-सी चीज़ है। ये लोग बरसो सफर करते थे और आगे बढते जाते थे। पहाडों और रेगिस्तानो को पार करते थे और अपने सारे मित्रो से और सगे-सबधियो से जुदा रहते थे। कभी-कभी इन्हे अपने घर की याद आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को जबान पर नहीं लाते थे। एक मुसाफिर ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। वह एक दूर देश में खडा है, उसे अपने घर की याद आई, और वह उसके लिए व्याकुल हो गया। उस यात्री का नाम सुगयुन था और वह हिन्दुस्तान में ह्यूएनत्साग से १०० वर्ष पहले आया था। वह गन्धार के पहाडी देश में था, जो हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में है। वह कहता है—"शीतल मन्द समीर, चिडियो के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड, तितलियो का अनेक फूलो के ऊपर मँडराना— एक दूर देश में, इस मनोहर दृश्य को देखकर सुगयुन कल्पना में अपने देश के अन्दर पहुँच गया और उस समय उसके हृदय में इतनी उदासी पैदा हो गई कि वह बुरी तरह बीमार पड गया।"

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा, शूरवीर और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट हर्ष की ई० सन् ६४८ में मृत्यु हुई; लेकिन उसके मरने के पहले ही हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफ़ान का पूर्व चिन्ह था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफरीका और दक्षिणी योरप में पैदा हो रहा था। अरब में एक नया पैग़म्बर पैदा हो गया था; उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये धर्म का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये धर्म के उत्साह से उत्तेजित और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा करते हुए, अरब निवासी महाद्वीपों के एक कोनेसे दूसरे कोनेतक टूट पडे, और जहा वे पहुचे वहीं उन्होंने विजय पाई। यह एक आश्चर्य-जनक करामात थी। हमें इस नई शक्ति के बारे में जानना चाहिए, जिसने इस दुनिया में आकर ससार की दशा में इतना अन्तर पैदा कर दिया। लेकिन इस शक्ति के बारे में गौर करने के पहले हमें दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक यात्रा कर आनी चाहिए, और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनों दक्षिण की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुचे, और उन्होने थोडे दिन बाद सिन्ध पर कब्जा कर लिया। लेकिन वे वहीं ठहर गये और अगले ३०० वर्ष तक हिन्दुस्तान पर मुसलमानो का कोई नया हमला नहीं हुआ, और ३०० बरस बाद जो हमला हुआ, वह अरबो का किया हुआ नहीं था, बल्कि यह मध्य एशिया के कुछ कबीलो का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिणी हिन्दुस्तान की ओर चलते है। हिन्दुस्तान के पश्चिम और मध्य में चालुक्य साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र प्रदेश थे। इसकी राजधानी 'बदामी' थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियो की, और उनकी दिलेरी की, तारीफ करता है। वह कहता है—"महाराष्ट्रीय लोग सैनिक और स्वाभिमानी होते है। उपकार के लिए कृतज्ञ, और अपकार का बदला लेनेवाले होते है। चालुक्यो को, उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवो की, और पूरब में कलिंगो की रोक-थाम रखनी पडती थी। पर चालुक्यो की शक्ति बढती गई और वे एक सागर से दूसरे सागर तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हे पीछे ढकेल दिया।

इस प्रकार दक्षिण भारत में बडे-बडे साम्राज्य और राज्य फलते-फूलते रहे।

कभी एक दूसरे की शक्ति का पलडा बराबर रखते, और कभी उनमें से एक बढ़कर दूसरे को दबा देता। पाड्य-राज-वश के समय में मदुरा संस्कृति का एक वडा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा होगये थे। तमिल भाषा की कई और प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवो के भी कभी शान के दिन थे। मलेशिया की नई आबादी बहुत कुछ उन्हींके कारण बसी थी। उनकी राजधानी कांचीपुर थी। जिसे आजकल काँजीवरम् कहते हैं।

बाद को चोल साम्राज्य शक्तिशाली होगया और नवीं सदी के बीच में उसने दक्षिण भारत को दबा लिया। वह एक समुद्री राष्ट्र था, और उसके पास बहुत वडी जल सेना थी, जिससे उसने बगाल की खाडी और अरब-सागर पर कब्जा कर रक्खा था। उसका मुख्य बन्दरगाह 'कावेरीपड्डिनम्' कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल साम्राज्य का पहला महान राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये, पर अन्त में राष्ट्रकूटो ने उन्हे एकाएक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज वश को फिर से ताक़तवर बना दिया। और उसकी खोई हुई शान लौट आई। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तरी हिन्दुस्तान में मुसलमानो के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनायें हो रहीं थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पडा, और वह अपने साम्राज्य को वढाने की कोशिश में वरावर लगा रहा। उसने लका को जीता, और चोलो ने वहा ७० वर्ष तक राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसीकी तरह जबर्दस्त और लडाकू था। उसने दक्षिण वरमा को जीता, अपने साथ लडाई के हाथियो को जहाजो में भर कर ले गया था। वह उत्तरी हिन्दुस्तान में भी आया और बगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। गुप्त साम्राज्य के बाद सबसे वडा साम्राज्य यही था। लेकिन बहुत दिन तक नहीं ठहर सका। राजेन्द्र बडा दिलेर और बहादुर था, लेकिन मालूम होता है कि वह बडा जालिम था, और जिन राज्यो को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने सन् १०१३ से १०४४ तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और बहुत से मातहत राजाओ ने बगावत कर दी।

अपनी इन सैनिक विजयों के अलावा चोल बहुत दिनो तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपडों की बडी माँग थी। उनका वन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बडे चहल-पहल का स्थान था। वहा दूर दूर देशो से माल लेकर जहाज आते थे और वहासे माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनो मानी यूनानियो की बस्ती भी थी। महाभारत में भी चोलो का जिक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ बरसो का हाल सक्षेप में तुम से कहने की कोशिश की है। शायद मेरे सक्षेप की इस कोशिश से तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हम अपनेको अनेक राष्ट्रो और राजवशो की भूल-भुलैया में फँसा नहीं सकते। हमें सारे ससार पर विचार करना है और अगर इस दुनिया के एक छोटे हिस्से में फँस कर रह जायँ, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यो न हो जहाँ हम रहते है, तो हम बाकी हिस्सो पर गौर नहीं कर सकेगे ।

लेकिन राजाओ और उनकी विजयो से तो उस समय की सभ्यता और कला सम्बन्धी विवरण ज्यादा महत्वपूर्ण है। उत्तरी हिन्दुस्तान की बनिस्बत दक्षिण में कला के बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते है। उत्तर के बहुत से स्मारक, इमारते और पत्थर की मूर्तियाँ लड़ाइयो में और मुसलमानी हमलो के समय नष्ट हो गई हैं। दक्षिण हिन्दुस्तान में ये चीजें उस समय भी बच गई थीं, जब मुसलमान वहाँ पहुचे। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि उत्तरी हिन्दुस्तान की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गई। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये,---और यहाँ यह याद रक्खो कि वे मध्य-एशिया के निवासी थे न कि अरब के---उनमें अपने मजहब के लिए जोश भरा था, और वे मूर्तियो को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियो के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरो से क़िले और गढो का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत से मन्दिर अब भी किलो की तरह बने हुए है, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत से कामो में आते थे। मन्दिरो में ही देहाती मदरसे होते थे। यहीं देहात के लोगों के मिलने-जुलने की जगह होती थी। यहीं पचायत घर (या पार्लमेण्ट) होता था, और अन्त में अगर जरूरत होती तो दुश्मनो से रक्षा करने के लिए भी यही मन्दिर गाव के निवासियो के लिए किले का काम करते थे। इस तरह इन्हीं मन्दिरो के चारो तरफ देहात की सारी जिन्दगी चक्कर लगाया करती थी। स्वाभाविक ही है कि ऐसी हालत में इन मन्दिरो के पुजारी और ब्राह्मण ही सबो पर प्रभाव रखते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरो से कभी-कभी किलो का काम लिया जाता था, हम समझ सकते है, कि मुसलमान हमला करनें पर मन्दिरो को क्यो नष्ट कर देते थे।

इसी जमानें का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तँजौर में है, जिसे राजराजा चोल ने बनवाया था। बदामी में भी खूबसूरत मन्दिर है, और काजीवरम् में भी। लेकिन उस जमाने की सबसे अद्भुत इमारत एलोरा का कैलाश मन्दिर है। यह अद्भुत मन्दिर एक ठोस पहाडी पर टीले को काटकर बनाया गया है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था।

तांबे की मूर्तियो के भी वहुत से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें 'नटराज' यानी शिव का जीवन-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोला-सम्राट राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुरम् में सिंचाई के लिए नहरें वनवाई थीं, उनमें से एक बांध ठोस और पक्का था और १६ मील लम्बा था। इन बांधो के वनने के सौ वर्ष बाद एक अरव यात्री अलबेरूनी यहां गया, और इन्हे देखकर वह चकित हो गया था। उन बांधो के बारे में वह लिखता है—"हमारे देशवासी अगर उन्हें देखते तो ताज्जुब करते। वैसी कोई चीज बनाना तो दूर रहा, वे उनका वर्णन भी नहीं कर सकते।"

मैंने इस पत्र में कई राजाओ और राजवशो का जिक्र किया है, जिन्होंने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर गायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिणी हिन्दुस्तान में एक बडे अद्भुत आदमी ने जन्म लिया, जिसने हिन्दुस्तान की जिन्दगी के नाटक में सभी राजा-महाराजाओ से ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। यह नौ जवान आदमी शकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशाली का आदमी था। वह हिन्दू धर्म के या हिन्दू धर्म के एक बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते है, पुनरुद्धार में लग गया। उसने अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध धर्म के विरुद्ध लडाई की और बौद्ध-सघ की तरह सन्यासियो का सघ बनाया, जिसमें सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने सन्यासियो के चार केन्द्र क़ायम किये, जो हिन्दुस्तान के चारो कोनो पर उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूरव में थे। उसने सारे हिन्दुस्तान का सफर किया, और जहां-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस आया। वह मुल्क जीतनेवाला नहीं था, बल्कि तर्क से मन को जीतनेवाला था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहां हमेशा जमी रहनेवाली वर्फ की शुरूआत होती है, और वहीं उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा उसकी उम्र केवल ३२ वर्ष, या इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शकराचार्य के कामो की कहानी अद्भुत् है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तरी भारत से दक्षिण को भगा दिया गया था, अब हिन्दुस्तान से क़रीब-क़रीब गायब हो गया। हिन्दू धर्म और उसका एक विशेष रूप, जो शैव मत के नाम से प्रसिद्ध है, सारे देश में फैल गया है। शकर के ग्रन्थो, भाष्यो और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शकर सिर्फ ब्राह्मणो ही का बडा नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के दिलो पर भी कब्जा कर लिया था। यह एक असाधारण बात मालूम होती है, कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बुद्धि के बल पर एक बड़ा नेता

हो जाय, और लाखो आदमियो पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बडे योद्धा और विजेता इतिहास में विशेष स्थान पा जाते है, वे लोकप्रिय हो जाते है, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी अपना प्रभाव डालते है। बडे-बडे धार्मिक नेताओ ने लाखो के दिलो को हिला दिया है और उसमें जोश की आग जला दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। भावनाओ पर प्रभाव डाला गया है और हृदय को स्पर्श किया गया है।

बुद्धि पर प्रभाव डालने का असर ज्यादा दिन तक नही रहता। बदक़िस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते, वे अपनी भावनाओ के वश में होकर सोचत है, और काम करने है। लेकिन शंकर की अपील दिमाग, बुद्धि और विवेक के ऊपर होती थी। वह किसी पुरानी किताब में लिखे सिद्धान्त या मत को नहीं दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय बेकार है। जो बात दिलचस्प है, वह तो यह कि उसने धार्मिक विषयो पर बुद्धि द्वारा विवेचन किया था, और इस तरीके को इख़्तियार करने पर भी सफलता पाई थी। इससे हम उस समय के शासक वर्गों की मनोदशा की एक झलक देख सकते है।

शायद तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम हो, कि हिन्दू दार्शनिको में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, और जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत से ऐसे आदमी है, खासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहाँ पर हमें इस प्रश्न की गहराई में जाने जरूरत नहीं है।

मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में विचार और प्रचार की कितनी आजादी थी। हिन्दुस्तान में लोगो को अन्त करण की स्वतंत्रता मिली हुई थी। यह अधिकार योरप में अभी हाल के जमाने तक लोगो को नही मिला था, और आज भी इस सम्बन्ध में अनेक बन्दिशें पाई जाती है।

शंकर की छोटी किन्तु परिश्रम से भरी जिन्दगी से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे हिन्दुस्तान में सास्कृतिक एकता थी। प्राचीन इतिहास भर में इस बात को सभीने स्वीकार किया है। भूगोल की दृष्टि से, तुम जानती हो, हिन्दुस्तान करीब-क़रीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से अकसर हिन्दुस्तान में विभेद रहा है, हालाकि कभी-कभी सारा देश एक केन्द्रीय शासन में था, लेकिन सस्कृति के ख़याल से यह देश हमेशा एक रहा, क्योकि इसका पार्श्वचित्र, इसके संस्कार, इसका धर्म, इसके नायक और इसकी वीरांगनायें, इसकी पौराणिक गाथायें, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान,

इसकी ग्राम पचायते, विचार-पद्धति, रीतनीत और सामाजिक सगठन हमेशा एक ही रहे है। साधारण हिन्दुस्तानी की नजर में सारा हिन्दुस्तान 'पुण्यभूमि' था और वाकी दुनिया म्लेच्छो का निवास-स्थान थी। इस प्रकार हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी होने की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने राजनैतिक विभेद की परवाह नहीं की, वल्कि उसपर विजय हासिल की। यह वात खास तौर से इसलिए हो सकी कि गावो का पचायती शासन कायम रहा, चोटी पर चाहे जो तब्दीलियां क्यो न होती रही हो।

शकर का हिन्दुस्तान के चारो कोनो को अपने सन्यासियो के मठ के लिए चुनना, इस वात का सवूत है कि वह हिन्दुस्तान को सस्कृति की दृष्टि से एक चीज समझता था। और उसके इस आन्दोलन में थोडे ही समय में सफलता का मिलना भी यह जाहिर करता है कि मानसिक और वौद्धिक प्रवाह कितनी तेजी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाते थे।

शंकर ने शैवधर्म का प्रचार किया। यह धर्म दक्षिण में खास तौर से फैला जहा ज्यादा पुराने मन्दिर शिव के मन्दिर है। उत्तर में गुप्तो के जमाने में वैष्णवधर्म का और कृष्ण की पूजा का वहुत प्रचार हुआ था। हिन्दू धर्म के इन दोनो सम्प्रदायों के मन्दिर एक दूसरे से विलकुल अलग है।

यह खत वहुत वडा हो गया और मुझे अव भी मध्यकालीन भारत के सम्वन्ध में वहुत कुछ कहना वाकी है। इसलिए यह काम दूसरे खत के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्ययुग का भारत

१८ मई, १९३२

तुम्हे याद होगा, कि मैंने तुमसे, अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मत्री चाणक्य या कौटिल्य के वनाये हुए आर्थशास्त्र का कुछ जिक्र किया था। इस किताव में उस जमाने की शासन-प्रणाली और उस वक्त के लोगो के वारे में तरह-तरह की वातें लिखी है, जैसे एक ऐसी खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा के पूर्व की चौथी सदी के हिन्दुस्तान की एक झलक देख सकते है। ऐसी कितावें, जिनमें शासन की वातो का व्योरेवार वर्णन होता है, वादशाहो और उनकी विजयो के अत्युक्तिपूर्ण वयानों से कहीं ज्यादा काम की होती है।

एक दूसरी भी किताब है, जिससे मध्ययुग के हिन्दुस्तान के बारे में हम कुछ जान सकते हैं। यह शुक्राचार्य का बनाया हुआ 'नीतिसार' है। लेकिन यह किताब इतनी उत्तम और सहायक नहीं, जितना अर्थशास्त्र। लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ दूसरे शिलालेखो और बयानो की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं सदी की एक झलक देखने की कोशिश करेगे।

'नीतिसार' में लिखा है कि "न तो रंग से, और न ब्राह्मण कुल में पैदा होने से ब्राह्मण होने योग्य भावना पैदा होती है।" इसलिए इस किताब के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि काम करने की योग्यता से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"सरकारी नियुक्ति करते समय जाति या कुल का ख़याल न करना चाहिए, बल्कि कार्यदक्षता, चरित्र और काबलियत देखनी चाहिए।" राजा का फर्ज था कि वह अपनी राय पर नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली चीज है, जैसे कई रेशो की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीट सकती है।"

ये सब बड़े उत्तम उपदेश है, और सिद्धान्तरूप से आज भी अच्छे है, लेकिन सच बात यह है, कि व्यवहार में इनसे हम बहुत ज्यादा फायदा नही उठा सकते। यह मैंने माना कि अपनी लियाकत और काबिलयत से आदमी ऊंचा उठ सकता है। लेकिन आदमी लियाकत और काबलियत हासिल कैसे करे? कोई लडकी या लड़का चुस्त हो सकता है, और अगर उसे उचित शिक्षा मिले तो होशियार और कुशल भी बन सकता है। लेकिन जब पढने-लिखने और सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न हो तो बेचारा लड़का या लड़की क्या कर सकती है?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोक-मत समझा जाय? शायद 'नीतसार' का लेखक शूद्रो की बडी सख्या को मत देनें का अधिकारी नहीं समझता था। इन लोगो की कोई कद्र नही थी। शायद उन्हीं लोगो का मत लोकमत समझा जाता था, जो ऊँचे और शासक वर्ग के थे।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि मध्ययुग के, और उसके पहले के भी हिन्दुस्तानी राज-संगठन में राजाओ की निरंकुशता या उनके दैवी अधिकार का सिद्धान्त बिलकुल नहीं माना जाता था।

इसी किताब में लिखा है कि उस समय एक राजपरिषद् होती थी। सार्वजनिक कामो के लिए और पार्क और जंगलो के लिए एक बड़ा अफसर जिम्मेदार होता था। क़स्बो और गावो का सगठन था। पुल, घाट, धर्मशालाओ, सड़को और सबसे महत्वपूर्ण चीज़ शहर और गांव की नालियो की देख-रेख का इन्तज़ाम था।

गाँवो के मामलो में गाव की पचायतो को पूरा-पूरा इख्तियार था और सरकारी अफसर पचो की बडी इज्जत करते थे। पचायत ही खेत देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। एक बहुत बडी पचायत थी, जिसे महासभा कहते थे। यह महासभा इन छोटी पचायतो की निगरानी करती थी। इन पंचायतो को अदालती इख्तियार भी हासिल थे। ये लोग जज की हैसियत से भी काम कर सकते थे, और लोगो के मुक़दमो का फैसला भी कर सकते थे।

दक्षिण हिन्दुस्तान के कुछ पुराने शिलालेखो में बताया गया है कि पचो का चुनाव कैसे होता है, किस योग्यता की इनसे आशा की जाती है, और इनके लिए कौन-कौन सी बातें वर्जित थीं। अगर कोई पच सार्वजनिक पैसे का हिसाब नहीं देता था, तो वह पच होने का हक़ खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा यह था कि पचो के नजदीकी रिश्तेदार नौकरियाँ नहीं पा सकते थे। अगर यही क़ायदा अब भी हमारी कौंसिल, असेम्बली और म्युनिसिपैलिटियो में भी लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो। कमिटी के मेम्बरो में एक स्त्री का भी नाम आया है। इससे यह जाहिर होता है कि औरतें भी पचायतो और उसकी कमिटियो की मेम्बर बन सकती थीं।

पचायत के मेम्बरो में से कमिटिया बनाई जाती थीं, और हरेक कमिटी साल भर तक के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा काम करता था, तो वह फौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से इसमें इतनी ताक़त थी। गाँव की ये सभायें, अपनी आज़ादी की इतनी परवाह करती थीं, कि यह क़ायदा था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाव में घुस नही सकता था। 'नीतिसार' में लिखा हुआ है, कि जब प्रजा में से कोई राजा से किसी सरकारी अफसर की शिकायत करे, तो राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष करे, न कि अपने अफसर का। अगर बहुत से आदमी किसी अफसर की शिकायत करें, तो उस अफसर को बरख़ास्त कर देना चाहिए क्यो कि 'नीतिसार' में लिखा है "अधिकार की शराब पी कर किसको नशा नही होता"। ये शब्द बुद्धिमानी के मालूम होते हैं। और ख़ासकर आजकल के हमारे देश के उन अफसरो के गिरोह पर लागू होते है, जो हमारे साथ बुरा सलूक करते और बुरी तरह हकूमत करते है।

बडे शहरो में, जहा बहुत से कारीगर और व्यापारी रहते थे, व्यापारी और कारीगरों की भी पचायते होती थीं। इस तरह से कारीगरो के सघ थे, बैंकिग

कारपोरेशन थे, धनी महाजनो और साहूकारो की सभायें थीं और व्यापारियो के भी सघ थे। धार्मिक संस्थायें तो थी ही। ये संस्थायें अपने अन्दरूनी इन्तजाम पर अपना बहुत काबू रखती थी।

राजा को यह हुक्म था कि लोगो पर हलका कर लगावे, जिससे उनको नुक़सान न पहुचे और उन पर भारी बोझ न पड जाय। राजा को लोगो पर उसी तरह से टैक्स लगाना चाहिए जैसे माला बनानेवाला माली बगीचे के पौधो और वृक्षो से फूल और पत्तिया चुनता है, कोयला जलानेवाले की तरह नही।

यह मुख़्तसर-सी और टूटी फूटी सूचना हमें हिन्दुस्तान के मध्य युग के बारे में मिलती है। यह पता चलाना मुश्किल है कि किताबो में जो नीति लिखी हुई है, उस पर किस हद तक अमल होता था। किताबो में लम्बे-चौडे आदर्श और सिद्धान्त की बाते लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन जिन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल है। पर इन किताबो से हम उस जमाने के लोगो की धारणा और विचार-प्रणाली समझ सकते है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न कर सकते रहे हो। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरकुश नही थे, चुनी हुई पंचायते इन पर नियंत्रण या दबाव रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गांव और शहरो में स्वशासन की प्रणाली काफी तरक्की कर चुकी थी, और केन्द्रीय सरकार उसमें कोई हस्तक्षेप नही करती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचार-धारा की या स्वशासन की बात करता हूँ, तब मेरा क्या मतलब होता है? हिन्दुस्तान का सारा सामाजिक ढाँचा जाति-भेद पर बना हुआ था। सिद्धान्त रूप से सम्भव है, जाति-पाति के मामले में सख़्ती न रही हो, मुमकिन है, जैसा 'नीतिसार' में लिखा है, लियाक़त और योग्यता के सामने जाति-पाति का बन्धन ढीला हो जाता रहा हो। लेकिन वास्तव में इसका अर्थ कुछ नहीं होता। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही दरअसल शासक थे। कभी-कभी इनमें आपस में प्रभुत्व के लिए लड़ाई होती थी। लेकिन ज्यादातर ये लोग मिल-जुल-कर राज्य करते थे, और एक दूसरे का लिहाज़ रखते थे। दूसरी जातियो को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-धधे बढ़े व्यापारी वर्ग अमीर और महत्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसको कुछ अधिकार भी मिले और इन्हे अपनी पंचायत के अन्दरूनी मामलो को तै करने की आजादी मिल गई। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य की शक्ति में कोई असली हिस्सा नही मिला था। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीचे रहे। इनके नीचे और भी दूसरे थे।

कभी-कभी नीची जाति के आदमी भी ऊपर उठते थे। शूद्र भी राजा हुए हैं।

लेकिन इसे अपवाद समझना चाहिए। सामाजिक हैसियत में ऊचा उठने का तरीका ज्यादातर यह था कि सारी उपजाति की अपजाति एक जीना ऊचे उठ जाती थी। हिन्दू-धर्म अकसर नीची हालत के फिरक़ो को हज़म कर लेता था, धीरे-धीरे ये लोग ऊपर उठते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि, हिन्दुस्तान में हालाकि पश्चिम के जैसे मजदूर गुलाम नहीं होते थे, फिर भी हमारा सारा सामाजिक ढाचा श्रेणियो में बधा हुआ था, यानी एक वर्ग दूसरे वर्ग पर खडा था। लाखो आदमी जो नीचे की तह पर थे, चूसे जाते थे, और जो लोग ऊपर थे, उनका बोझ उन्हें सहना पडता था, और जो लोग चोटी पर थे, वे इस बात की पूरी-पूरी कोशिश करते थे, कि यह प्रणाली हमेशा क़ायम रहे, और सारे अधिकार इनके हाथ में रहे। इसलिए ये लोग बेचारे उन आदमियो को, जो बिलकुल सतह पर थे, शिक्षा का मौका ही नहीं देते थे। गाँव की पचायतो में शायद किसानो का कुछ हक़ था, वहा कोई इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था, लेकिन यह बहुत मुमकिन है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पचायतो पर भी हावी रहे हो।

यह पुरानी राज्य-प्रणाली तब से चली आती थी, जब आर्यों ने हिन्दुस्तान में क़दम रक्खा और द्रविडो के सम्पर्क में आये। यह प्रणाली उस मध्यकाल तक जारी रही, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि कमजोरी बराबर बढ़ती, गई और पतन होता रहा। शायद यह प्रणाली पुरानी हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलो ने धीरे-धीरे इसे नष्ट कर डाला।

तुम्हे यह जानने में दिलचस्पी हो सकती है कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान गणित के लिए बहुत प्रसिद्ध था, और इस सम्बन्ध में एक स्त्री लीलावती का नाम बहुत मशहूर है। कहते हैं कि लीलावती, और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे आदमी ब्रह्मगुप्त ने, पहले पहल दशमलव की प्रणाली निकाली थी। एलजबरा (बीजगणित) भी हिन्दुस्तान में ही पैदा हुआ। हिन्दुस्तान से यह अरब में गया, और अरब से योरप तक पहुँचा। एलजबरा अरबी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंगकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब हम बृहत्तर भारत की तरफ जायँगें। बृहत्तर भारत उन उपनिवेशो या बस्तियो के समूह का नाम था, जहा लोग दक्षिण हिन्दुस्तान से आकर मलेशिया और हिन्दी-चीन या इण्डो-चाइना में बसे थे। मैंने पहले तुम्हे बता दिया है कि ये बस्तियाँ किसतरह समझ-बूझकर सगठितरूप से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नही बन गई थी। समुद्र के पार अकसर सफर होते रहे होगे, और समुद्र के ऊपर काफी अधिकार मिल गया होगा। नहीं तो एक ही वक्त में, कई जगहो पर, सगठितरूप से नई बस्तियो का बसाना कैसे मुमकिन हो सकता है? मैंने तुम्हे बताया है कि ये नई बस्तियाँ ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुई। ये सब हिन्दू बस्तियाँ थी, और इनका दक्षिण भारतीय नाम रखा गया था। कई सदियो के बाद यहाँ बौद्ध धर्म धीरे-धीरे फैला, और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

अब हम पहले हिन्दी-चीन को चले। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम प्रदेश में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् नाम का शहर बढ रहा था, और यहीं दो सौ बरस बाद कम्बोज नाम के बडे शहर ने भी उन्नति की थी। इसमें बडी इमारते और पत्थर के मन्दिर थे। इन हिन्दुस्तानी नई बस्तियो में सब जगहो पर बडी-बडी इमारतें बन रही थीं। मशहूर इमारतें बनानेवाले और राजगीर हिन्दुस्तान से समुद्र पार ले जाये गये होगे, और ये लोग, इमारतो के बनाने का हिन्दुस्तानी ढँग अपने साथ ले गये होगे। मुख़्तलिफ राज्यो और टापुओ में इमारते बनाने के मामले में बडी लाग-डाँट थी और इस लाग-डॉट की वजह से एक ऊँची तरह की कला-सम्बन्धी उन्नति हो गई थी।

इन उपनिवेशो के रहनेवाले लोग स्वभावत. समुद्र-यात्री थे। इन लोगो नें, या इन-के पूर्वजो, ने इस जगह तक पहुँचने के लिए समुद्र पार तो किया ही था और वहा पहुँचने पर फिर इनके चारो ओर समुद्र ही समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये भी व्यापारी हो गये। व्यापार का माल जुदे-जुदे टापुओ को, पश्चिम में हिन्दुस्तान को और पूरब में चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुतसे राज्य व्यापारी वर्ग के हाथ में थे। इन राज्यो मे आपस में अक्सर मुख़ालिफत रहती थी। बडी-बडी लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं, और बडे-बडे क़त्लेआम भी हो जाते थे। कभी एक हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध राज्य के ख़िलाफ

लडाई ठान देता था, तो कोई बौद्ध-राज्य किसी हिन्दू-राज्य से लडाई ठान लेता था। लेकिन उस जमाने में मेरा ख़याल है कि इन लडाइयो में से बहुत-सी लडाई की वजह व्यापारिक होड रही होगी। जैसे आज-कल बडी-बडी शक्तियो में लड़ाई इसलिए होती है, कि उनको अपने यहाँ के बने हुए माल के लिए बाजार की जरूरत रहती है।

लगभग तीन सौ बरस तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्दी-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बडा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन् था। इसने इन राज्यो को एक में मिला दिया, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अगकोर को बनाना शुरू किया, और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह कम्बोजी साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक कायम रहा, और जैसा सब साम्राज्यो के बारे में कहा जाता है, यह भी बडा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अगकोर थाम' का राजनगर सारे पूरब में 'शानदार अगकोर' के नाम से मशहूर था। इसके पास ही 'अगकोरवाट' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में कम्बोडिया पर कई दिशाओ से हमला हुआ। अनामी लोगो ने पूरब की ओर से आक्रमण किया, और पश्चिम की ओर से वहा की स्थानीय जातियो ने। उत्तर में शान लोगो को मगोलो ने दक्षिण की ओर भगा दिया था। इनके सामने भागने का कोई दूसरा रास्ता नहीं था, इसलिए इन्होने कम्बोडिया पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बरावर लडाई करते-करते और अपनी हिफाजत करते-करते बिल्कुल पस्त हो गया। फिर भी अगकोर पूरब का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। ई० सन् १२९७ में, एक चीनी दूत ने, जो कम्बोजी राजा के दरबार में भेजा गया था, अगकोर की अद्भुत इमारतो का बडा सुन्दर वर्णन लिखा है।

लेकिन एकाएक अगकोर पर एक भयकर आफत आगई। सन् १३०० के क़रीब कीचड जमा हो जाने से मीकाग नदी का मुहाना बन्द हो गया और नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारो तरफ़ की जमीन में भर गया। सारे उपजाऊ खेत निकम्मे, तराई और कछार के रूप में बदल गये। शहर की बडी आबादी भूखो मरने लगी और शहर छोडकर दूसरी जगहो पर जाने के लिए मजबूर होगई। इस तरह शानदार अगकोर उजाड़ हो गया और जगलो ने उसे छिपा लिया। उसकी अद्भुत इमारतो में कुछ दिनो के लिए जगली जानवर आकर रहने लगे। यहाँतक कि जगलो ने उसके महलो को ख़ाक में मिला दिया और यहाँ अपना निष्कण्टक राज्य क़ायम कर लिया।

कम्बोडिया राज्य इस आफत से बहुत दिनो तक अपने आपको नहीं बचा

सका, धीरे-धीरे बिखर गया और एक ऐसा प्रदेश बन गया, जिस पर कभी तो अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंगकोरवाट के विशाल मदिर के खण्डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक शानदार और बाँका शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर-दूर देशो के व्यापारी अपना माल लेकर आते थे, और जहाँसे इस शहर के कलाकारो और कारीगरो का बनाया हुआ नफीस माल दूसरे देशो को जाया करता था।

समुद्र के पार, हिन्दी-चीन से थोडी ही दूर, सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवो ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये बस्तिया धीरे-धीरे तरक्की कर गईं। मलाया का प्रायद्वीप शुरू से सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था, और उसके बाद वहुत दिनो तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप का इतिहास मिला-जुला रहा। श्रीविजय नाम का बड़ा शहर, जो सुमात्रा के पहाडो में दसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी थी। पालेमबांग नदी के मुहाने पर इसका एक वन्दरगाह था। पाँचवी या छठीं सदी में बौद्ध धर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। सुमात्रा तो बौद्ध धर्म के प्रचार में वहुत उत्साही और अग्रसर, रहा और आख़िर में हिन्दू मलेशिया के अधिकांश भाग को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा के साम्राज्य का नाम 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' है।

श्रीविजय दिन-ब-दिन बढ़ता गया, यहाँ तक कि उसके कब्ज़े में सुमात्रा और मलाया ही नहीं, बल्कि फिलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज, आधा जवा, फ़ारमूसा के टापू का आधा हिस्सा (जो अब जापान के क़ब्ज़े में है) लंका और कैण्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य के अन्दर हिंदुस्तान के दक्षिणी कोने पर और लका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लंबा चौड़ा साम्राज्य था जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन हिन्दुस्तानी बस्तियो का ख़ास पेशा दूकानदारी, व्यापार और जहाज बनाना था। चीनी और अरब लेखको ने उन बन्दरगाहो और उपनिवेशो की एक फेहरिस्त दी है, जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। यह फेहरिस्त बढ़ती ही गई है।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह और अनेक कोयला लेने के स्टेशन हैं। जैसे जिब्राल्टर, स्वेज नहर (जो अँग्रेजो के अधिकार में ज्यादा है) अदन, कोलम्बो, सिगापुर, हागकाग वग़ैर-वग़ैरा। अंग्रेज़ो की कौम पिछले तीन सौ बरसो से एक व्यापारिक कौम रही है। इनका व्यापार तथा इनकी ताक़त सामुद्रिक प्रभुत्व पर निर्भर है। इसलिए इन लोगो को इस बात की जरूरत थी कि सारी दुनिया भर में सुविधाजनक फ़ासले पर बन्दरगाह और कोयला

लेने के स्टेशन हों। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर बनी हुई एक सामुद्रिक शक्ति थी। इसलिए जहां उन्हें कदम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई, उन्होंने बन्दरगाह बना लिया। सुमात्रा-राज्य की बस्तियों का एक विचित्र पहलू यह भी था कि वे युद्ध-कला की दृष्टि से भी महत्व रखती थीं। वे ऐसी जगह बसाई गई थी जहां आस-पास के समुद्रों पर अपना क़ाबू रख सकें। यहां-वहां से बस्तियां इतनी पास-पास बसाई गई थीं कि इस अधिकार को बनाये रखने में एक दूसरे की मदद करें।

इस प्रकार सिंगापुर, जो बहुत बड़ा शहर है, सुमात्रा में जाकर बसनेवालों की एक बस्ती थी। यह नाम बिलकुल हिन्दुस्तानी है 'सिंहपुर'। सिंगापुर के सामने, जलडमरूमध्य के उस पार सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती भी थी कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के किनारे तक लोहे की एक जंजीर डालकर दूसरे जहाजों का आना-जाना रोक देते थे, और बहुत काफी महसूल वसूल कर लेने पर ही उन्हे आने-जाने देते थे।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत जुदा नहीं था। हां, छोटा जरूर था, लेकिन जितने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के कायम रहने की सम्भावना है, उससे कहीं ज्यादा दिनों तक वह कायम रहा। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। यह क़रीब-क़रीब वही जमाना है जब दक्षिण भारत में चोल साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल साम्राज्य के बाद भी जिन्दा रहा। श्रीविजय और चोल के आपस के सम्बन्ध का पता लगाना बहुत दिलचस्प बात होगी। दोनों ही समुद्र-यात्री कौमें थी, दोनो ही साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में आगे बढ़ी रहती थीं, दोनो ही बड़ी-बड़ी सेनायें रखती थीं, और दोनो ही व्यापारी थी। इनके आपस में बहुत सम्पर्क रहा होगा, लेकिन यह सम्पर्क मित्रता का था या दूसरे किस्म का यह मै नहीं बता सकता शायद पुरानी किताबों में इस सम्बन्ध में कुछ लिखा हो।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट ने सुमात्रा के राजा के लिए कई तांबे के घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदांत और संस्कृत की किताबें भेजी थीं। एक ख़त भी भेजा गया था, जो कहते हैं सोने के पत्र पर हिन्दुस्तानी लिपि में लिखा था। मै नहीं बता सकता कि इस ख़त की लिपि देवनागरी थी या दक्षिण की द्रविड भाषाओं की कोई लिपि थी। ग़ालिबन् भाषा संस्कृत या पाली रही होगी।

श्रीविजय बहुत दिनों तक हरा-भरा रहा। दूसरी सदी के शुरू से पांचवीं या

छठी सदी तक, जब यह बौद्ध हो गया, और उसके बाद भी यह धीरे-धीरे ग्यारहवीं सदी तक बराबर तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ बरस तक यह एक विशाल साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-धधो पर उसका क़ब्ज़ा बना रहा। अन्त में ई० सन् १३७७ में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसे हरा दिया।

मैं तुमको बता चुका हूँ कि श्रीविजय साम्राज्य सीलोन से चीन के कैंटन तक फैला हुआ था और सीलोन और कैंटन के बीच के टापू ज्यादातर इस साम्राज्य की मातहती में थे। लेकिन यह एक छोटे से टुकडे को कभी हरा न सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वतन्त्र राज्य की सूरत में क़ायम रहा। हिन्दू भी बना रहा और बौद्ध होने से बराबर इनकार करता रहा। इस तरह पश्चिमी जावा तो श्रीविजय की मातहती में और पूर्वी जावा स्वतन्त्र था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार-धधे पर आश्रित था। यह सिंगापुर को बडी लालच की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि सिंगापुर बडे मौके से बसा है, और एक बहुत बड़ा व्यापारी केन्द्र होगया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डाट रहती थी, और यह लाग-डांट बढ़कर कट्टर दुश्मनी के रूप में बदल गई थी। बारहवी सदी से आगे जावा साम्राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ा, यहांतक कि, जैसा मैंने तुमको बताया है, चौदहवीं सदी में, यानी ई० सन् १३७७ में, इसने श्रीविजय को बिलकुल हरा दिया। यह लड़ाई बडी बेरहमी से लडी गई, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर दोनो तहस-नहस हो गये, और इस प्रकार मलेशिया के दूसरे महान साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खण्डहरो पर तीसरा मज्जापहित का साम्राज्य उठ खडा हुआ।

पूर्वी जावा के निवासियो ने यद्यपि श्रीविजय के साथ अपनी लडाइयो में बहुत निर्दयता और क्रूरता दिखाई, फिर भी मालूम होता है कि यह हिन्दू राज्य सभ्यता के बहुत ऊँचे पैमाने तक पहुँच चुका था। उस जमाने की बहुत-सी किताबें जावा में मिलती हैं। लेकिन जिस बात में यह श्रेष्ठ था वह इमारत बनने की, खासकर मन्दिर बनाने की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि, इन मन्दिरो में कुछ ऐसे थे जिनमें पत्थर के काम के दुनिया भर से ज्यादा सुन्दर, बारीक और कलापूर्ण नमूने पाये जाते थे। इन बडे-बडे मन्दिरो में से बहुत-से सातवीं सदी से दसवीं सदी यानी सन् ६५० से ९५० के बीच तक के बने हुए थे। इन विशाल मन्दिरो को बनाने के लिए जावा के लोगो ने हिन्दुस्तान और आस-पास के मुल्को से अपनी सहायता के लिए बहुत काफी तादाद में होशियार राजगीर और कारीगर बुलायें होगे। हम जावा और मज्जापहित का हाल अगले ख़त में देखेंगे।

इस जगह पर मै यह भी बता दूं कि बोर्नियो और फिलीपाइन दोनो ने लिखने की कला पल्लव उपनिवेशियो के मार्फत हिन्दुस्तान से सीखी थी। बद-क़िस्मती से फिलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित किताबें स्पेनवालो ने नष्ट कर डालीं।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओ में बहुत पुराने जमाने से, इस्लाम के पैदा होने के बहुत पहले से, अरबो की बस्तियां थीं। ये लोग बडे व्यापारी होते थे, और जहां व्यापार होता, वहां पहुंच जाते थे।

: ४७ :

रोम का अन्धकार में पतन

१९ मई, १९३२

मै अक्सर यह महसूस करता हूं कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैयां में मै तुम्हे अच्छी तरह से रास्ता नही दिखा सकता हूं मै ख़ुद भूल जाता हूं, फिर तुम्हे ठीक रास्ता कैसे दिखा सकता हूं? लेकिन, फिर मै यह सोचता हूं कि शायद मै तुम्हारी थोडी बहुत मदद कर सकूं, इसलिए इन ख़तों को जारी रखता हूं। ये ख़त मुझे निस्सन्देह बहुत मदद देते है। जब मै इन्हे लिखने बैठता हूं, और तुम्हारा ख़याल करता हूं, तो मै भूल जाता हूं कि जहां मै बैठा हूं, वहां साया में भी टेम्परेचर यानी तापमान ११२ डिग्री है और गरम लू चल रही है। और कभी-कभी तो मै यह भी भूल जाता हूं कि मै बरेली के ज़िला जेल में कैद हूं।

मेरे आख़िरी ख़त ने मलेशिया में चौदहवीं सदी के ठीक अन्त तक तुम्हें पहुंचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत के मामले में अभी हम राजा हर्ष के जमाने, यानी सातवीं सदी के आगे नहीं बढ सके है। योरप में भी हमें अभी कुछ दिनो की कमी पूरी करनी है। सब जगहो पर वक्त का एक ही पैमाना रखना मुश्किल है। मै ऐसा करने की कोशिश तो करता हूं। कभी-कभी, जैसे अंगकोर और श्रीविजय के मामले में हुआ, कई सौ बरस आगे बढ गया, ताकि मै उनकी कहानी को पूरा कर सकूं। लेकिन याद रक्खो कि जब कम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूरब में फल-फूल रहे थे, हिन्दुस्तान, चीन और योरप में हर तरह की तब्दीलियां हो रही थीं। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले ख़त में, कुछ ही सफो में, हिन्दी-चीन और मलेशिया का एक हजार बरस का इतिहास है। एशिया और योरप के इतिहास की मुख्य धाराओ से ये मुल्क दूर पड़ जाते है, इसलिए इन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया

जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और सम्पन्न है, नई खोजो और सफलताओ में, व्यापार में, कला में, और खासकर मकान बनाने की कला में और दूसरे मार्के के कामो में ये सम्पन्न रहे है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने और ध्यान देने के काबिल है। हिन्दुस्तानियो के लिए तो इनकी कहानी ख़ास तौर पर दिलचस्प है; क्योंकि उस जमाने में वे करीब-करीब हिन्दुस्तान के ही हिस्से बन गये थे। हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष पूर्वी समुद्र पार करके अपने साथ हिन्दुस्तानी सस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म ले गये थे।

इस तरह गोकि हम मलेशिया में आगे बढ गये, पर असल में हम अभी तक सातवीं सदी में ही है। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर गौर करना है, जिसकी वजह से योरप और एशिया में बडी-बडी तब्दीलियाँ हो गई। इसके अलावा योरप की घटनाओ पर भी हमें नजर डालना है।

अब हमें जरा पीछे हटकर योरप पर फिर एक नजर डाल लेनी चाहिए। तुम्हे याद होगा कि रोम-सम्राट् कांस्टेण्टाइन ने कुस्तुन्तुनिया का शहर बास्फोरस के किनारे उस जगह पर बसाया था, जहाँ बिजैण्टियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से उठाकर वह इस शहर को यानी नये रोम को, ले आया था। इसके बाद ही रोम-साम्राज्य दो हिस्सो में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बडी परेशानी उठानी पडी, और इसके बहुत से दुश्मन हो गये थे। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियो, यानी ११०० बरसो तक, कायम रहा, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ातमा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी इस किस्म की नही रही। बहुत दिनो से पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले रोम के राजनगर का, और रोम नाम का इतना ज्यादा रोब होते हुए भी यह साम्राज्य अद्भुत तेजी के साथ बिखर गया। यह किसी भी उत्तरी फिरके के हमले का मुक़ाबिला नहीं कर सका। एलरिक, जो गाथ जाति का था, इटली में घुस गया, और ४१० ई० में रोम पर कब्जा कर लिया। इसके बाद वंडाल आये। उन्होने रोम को लूटा। वे लोग उस जर्मन जाति के थे, जो फ्रास और स्पेन पार करके अफरीका में जा पहुँची थी, और वहाँ, कार्थेज के खण्डहरो पर, उसने अपना राज्य बनाया था। पुराने कार्थेज से ये लोग समुद्र पार करके योरप आये, और रोम पर कब्जा कर लिया। रोम पर कार्थेज की यह विजय ऐसी मालूम होती है, मानो प्यूनिक लडाइयो में रोम विजय का देर से बदला लिया गया हो।

इसी जमाने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया से

आये थे, बड़े ताकतवर हो गये थे। ये लोग खानाबदोश थे, और डेन्यूब नदी के पूरब की तरफ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। अपने नेता एटिला की मातहती में इन्होंने बड़ा जोर बांधा और कुस्तुन्तुनिया की सरकार और सम्राट् बराबर इनसे डरते रहते थे। एटिला इनको धमकियां देता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में वसूल करता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी जलील करने के बाद एटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज उससे सामना करने के लायक न थी। लेकिन ये जर्मन फ़िरक़े, जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गये, इसलिए फ्रैंक और गाथ लोगों ने रोम की शाही फ़ौजों का साथ दिया। इन सबने मिलकर ट्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जो एटिला के सेनापतित्व में लड़ने आये, मुक़ाबिला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। एटिला हार गया और मंगोलियन हूण पीछे हटा दिये गये। यह ई० सन् ४५१ की बात है। लेकिन एटिला हार जाने पर भी युद्ध के लिए बड़ा उत्सुक था। वह इटली गया और उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया। लेकिन अपने नाम के साथ वह बेरहमी और कठोरता की एक हमेशा क़ायम रहनेवाली बदनामी छोड़ गया। एटिला आज भी निर्दयतापूर्ण विनाश की मूर्ति समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठंडे पड़ गये। वे बस गये, और दूसरी जातियों के लोगों में मिल-जुल गये। तुम्हें खयाल होगा कि यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना है, जब सफ़ेद हूण हिन्दुस्तान में आये थे।

इसके ४० बरस बाद थियोडोरिक, जो गाथ जाति का था, रोम का बादशाह हुआ और यही रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वीय रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्टीनियन था इस बात की कोशिश की कि इटली को अपने साम्राज्य में मिला ले। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन थोड़े दिनों बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले पड़ गये।

क्या यह ताज्जुब की बात नहीं, कि शाही रोम और उसका साम्राज्य इतनी जल्दी, और इतनी आसानी से हरेक आक्रमण करनेवाले फ़िरक़े के सामने पस्त हो जायँ? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, और वह बिलकुल खोखला हो गया था। ग़ालिबन यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास को देखकर

लोग यह समझने लगे थे कि वही दुनिया में सबसे आगे है; इसलिए लोग उसकी इज्जत करते थे, और रोम का डर लोगो के दिलो में करीब-करीब अन्ध-विश्वास की हद तक पहुँच गया था। इस तरह रोम जाहिरा तौर पर एक महान् शक्तिशाली साम्राज्य की रानी बना रहा; लेकिन असलियत में उसके पीछे कोई ताक़त नहीं रह गई थी। बाहर से शाति थी और थियेटरो में, बाजारो और दगलो में आदमियो की भीड़ लगी रहती थी; लेकिन असल में वह निश्चित रूप में विनाश की तरफ जा रहा था। इसकी वजह सिर्फ यही नही थी कि वह कमजोर था; बल्कि इसका कारण यह भी था कि उसने जनता की गुलामी और मुसीबतो की बुनियाद पर अमीरो की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने तुम्हे अपने एक ख़त में रोम के गरीबो के बलवे और दगे तथा गुलामो के ग़दर का हाल, जो बडी बेरहमी से दबा दिया गया था, बताया है। इन बलवो से जाहिर होता है कि रोम का सामाजिक ढाचा कितना सडा हुआ था। वह आप-ही-आप छिन्न-भिन्न हो रहा था। उत्तर के फिरको, अर्थात् गाथ और दूसरी जातियो के आने के कारण, विनाश के इस सिलसिले में कुछ तेजी आ गई। इसीलिए हमला करनेवालो का ज्यादा विरोध नहीं हुआ। रोम देश के किसान अपनी मुसीबतो से बेजार हो उठे थे। वे हर क़िस्म की तब्दीली का स्वागत करने के लिए तैयार थे। गरीब मजदूर और गुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन-साम्राज्य के ख़त्म होते ही, पश्चिम की कई जातियां आगे आईं, जैसे गाथ, फ्रंच तथा कुछ और, जिनका नाम गिनाकर मैं तुम्हे परेशान न करूँगा। ये आज कल के पश्चिमी यूरोपियन लोगो, यानी जर्मन, फ्रैंच इत्यादि के पूर्वज थे। हम इन देशो को योरप में धीरे-धीरे बनता हुआ देखते हैं। साथ-ही-साथ हम यह भी देखते है कि इस समय वहाँ एक बहुत नीची किस्म की सभ्यता थी। शाही रोम के ख़ातमे के साथ-साथ रोम की शान और विलासिता का भी ख़ातमा हो गया। और रोम में जो छिछली सभ्यता अभी तक चली जाती थी, एक दिन में गायब हो गई। इसकी जड तो पहले ही सड चुकी थी। इस तरह हम अपनी आँखों से मनुष्य जाति के पीछे हटनें का एक विचित्र नजारा देखते है। यही बात हमें हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान, रोम और दूसरी जगहो पर भी देखने को मिलती है। ये जातियाँ परिश्रम के साथ ज्ञान और अनुभव का सग्रह करती है। एक किस्म की अपनी सस्कृति और सभ्यता बनाती है और फिर एक दम से एक जगह पर पहुँचकर ठहर जाती है। यही नहीं, कि ठहर जाती हो, बल्कि पीछे हट जाती है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है। हालाँकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना इनके लिए जरूरी हो जाता

है। शायद हर मर्तबा हम जरा ऊँचा उठते है, और अगले जीने पर चढना आसान हो जाता है, ठीक वैसे जिस प्रकार गौरीशकर यानी माउण्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढने के लिए टोलियो के बाद टोलियाँ आती है, और एक के बाद दूसरी टोली चोटी के ज्यादा नज़दीक पहुँचने में सफल होती है, और हो सकता है कि बहुत जल्द सबसे ऊँची चोटी पर विजय का झडा गड जाय।

इस प्रकार हम योरप में अन्धकार देखते है। 'अँधेरा जमाना' शुरू होता है। आदमी की जिन्दगी भोडी और क्रूर बन जाती है। शिक्षा का करीब-करीब बिलकुल अभाव हो जाता है। पेशे या मनोरजन के नाम पर सिर्फ लडाई रह जाती है। सुकरात और अफलातून का जमाना बहुत दूर छूट जाता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य की ओर नजर दौडायें। तुम्हे याद होगा कि कास्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाई धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओ की पूजा के मार्ग पर वापस जाना चाहता था, लेकिन सफल न हो सका। पुराने देवी-देवताओ का जमाना ख़तम हो चुका था, और ईसाई-धर्म उनके मुक़ाबिले में ज्यादा ताकतवर था। जूलियन को ईसाई लोग 'काफिर जूनियन' कहने लगे और इसी नाम से इतिहास में वह मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी तरह का था। उसका नाम थियोडोसियस था और उसे 'महान्' कहा गया है। शायद उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओ की पुरानी मूर्तियों और मन्दिरो के तोडने में महान् था। वह सिर्फ ग़ैर-ईसाइयो के ही ख़िलाफ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयो का भी विरोधी था, जो इसके मतानुसार काफी कट्टर नहीं होते थे। कोई विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे वह नहीं सह सकता था। थियोडोसियस ने थोडे दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को मिला दिया था, और वह दोनो का सम्राट् रहा था। यह ई० सन् ३९२ की बात है, जब रोम पर बर्बरो का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई धर्म फैलता गया। इसको ग़ैर-ईसाइयो से परेशानी नहीं थी। जो कुछ लडाई-झगडा होता था, वह सब ईसाई सम्प्रदाय के लोग आपस में किया करते थे। असहिष्णुता आश्चर्यजनक थी। सारे उत्तर अफरीका, पश्चिम एशिया, और योरप में भी, बहुत सी जगहो पर लडाइयाँ हुईं, जिनमें ईसाइयों ने, अपने दूसरे ईसाई भाइयो को डडे, घूंसो और इसी प्रकार के दूसरे समझाने के 'नरम' साधनो का इस्तैमाल करके, सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की।

ई० सन् ५२७ से ५६५ तक जस्टीनियन कुस्तुन्तुनिया में सम्राट् रहा। मैंने तुमको पहले ही बता दिया है कि उसने गाथ लोगो को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनो के लिए इटली और सिसली पूर्वी सम्राज्य में शामिल कर लिये गये थे। बाद को गाथ लोगो नें इटली को छीन लिया।

जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में सैक्टा सोफिया का ख़ूबसूरत गिरजा बनाया जो आजतक बिजैण्टाईन गिरजो में एक बड़ा ही खूबसूरत गिरजा समझा जाता है। इसने उस वक्त जितनें कानून मौजूद थे, सबको इकट्ठा कराया और योग्य वकीलो से उनको तरतीबवार करा दिया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटो के बारे में और वाते जानने के बहुत पहले मुझे इस कानूनी किताब से जस्टीनियन का नाम मालूम था। क्योकि इस किताब का नाम 'इन्स्टीट्यूट आफ जस्टीनियन' है। मुझे यह पढनी पडी थी। लेकिन हालाँकि जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक युनिवर्सिटी खोली थी, उसने एथेन्स के फिलासफी के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे। ये स्कूल अफलातून ने खोले थे, और करीब एक हजार वर्ष से चले आरहे थे। किसी भी कट्टर और अंधविश्वासी मजहब के लिए फिलासफी एक ख़तरनाक चीज होती है, क्योंकि इसकी वजह से आदमी सोचने-विचारने लगता है।

इस तरह से हम छठी सदी तक पहुँचते है। हम देखते है कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया एक दूसरे से दूर होते जाते है। रोम पर तो उत्तर के जर्मन फिरक़े कब्जा कर लेते हैं, और कुस्तुन्तुनिया रोमन कहलाते हुए भी, यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम छिन्न-भिन्न होकर अपने उन विजेताओ की सभ्यता के निचले पैमाने तक पहुँच जाता है, जिन्हे अपने शान के जमाने में वह बर्बर कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी मर्यादा क़ायम रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के पैमाने में नीचे चला गया है। ईसाई सम्प्रदाय प्रभुत्व के लिए एक दूसरे से लड़ते है, और पूर्वी ईसाई-धर्म, जो तुर्किस्तान, चीन और एबीसीनिया तक फैल गया था, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनो से जुदा होजाता है। 'अंधेरा जमाना' शुरु होता है। इस समय अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओ की, यानी पुरानी लैटिन, जिसको यूनानी से स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। लेकिन इन पुरानी यूनानी किताबो में फिलासफी थी, और देवी-देवताओ का वर्णन था। उस प्रारम्भिक जमाने के दीन-दार, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयो के लिए ये किताबें उचित साहित्य नही थी। इसलिए इनके पढ़ने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। इस तरह से विद्या की हानि हुई और कला के कई रूप नष्ट होगये।

लेकिन ईसाई धर्म नें विद्या और कला को बनाये रखने में भी कुछ सहायता

की है। बौद्ध सघो की तरह ईसाई मठ भी बने और तेजी से फैल गये। इन मठो में कभी-कभी प्राचीन विद्या को आश्रय मिलता था और इन्ही मठो में उस नई कला का भी बीज बोया गया जो कई सदियो के बाद अपने पूर्ण सौन्दर्य से पल्लवति और प्रफुल्लित हुई। इन मठो के फकीरो ने विद्या और कला के चिराग़ की टिमटिमाहट को क़ायम रक्खा। इस चिराग़ को बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन विद्या की यह रोशनी एक छोटे हल्के में ही परिमित थी, बाहर तो बिल्कुल अंधेरा ही था।

ईसाई धर्म के इस शुरू के जमाने में एक दूसरी आश्चर्य-जनक प्रवृत्ति हमें दिखाई देती है। बहुत से आदमी मजहबी जोश में आकर रेगिस्तानो में या एकान्त जगहो में चले जाते थे, जहा आदमियो की बस्ती नहीं होती थी और वहा जगली तरीक़े से रहते थे। ये लोग अपने को पीडा पहुँचाते थे, नहाते-धोते नही थे और जहा तक हो सकता था पीडा सहन करने की कोशिश करते थे। ख़ास तौर से यह बात मिस्र में पाई जाती थी, जहा इस किस्म के बहुत से फकीर रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका यह ख़याल था कि जितनी ही ज्यादा पीडा वे सहेगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही अधिक पवित्र हो जायेंगे। एक फक़ीर ऐसा हुआ, जो कई वर्षों तक एक खम्भे की चोटी पर बैठा रहा। धीरे-धीरे इस तरह के फकीरो का ख़ातमा हो गया, लेकिन बहुत दिनो तक अनेक श्रद्धालु ईसाइयो का विश्वास बना रहा कि किसी प्रकार के सुख का उपभोग करना पाप है। कष्ट-सहन के सिद्धान्त ने ईसाई धर्म की विचार धारा पर अपना रग जमा लिया था। योरप में आज इस तरह की कोई बात नही दिखाई देती। आज तो वहा का यह हाल है कि हरेक आदमी इस बात पर उतारू है कि पागल की तरह इधर-उधर घूमे और मौज करें। अक्सर इस दौड-धूप की वजह से जी में उदासी और उचाट पैदा हो जाती है और मौज का मजा नहीं मिलता।

पर हिन्दुस्तान में आज भी हम कभी-कभी देखते है कि कुछ लोग वैसी ही बाते करते है, जैसी मिस्र के ये फकीर किया करते थे। ये लोग अपना हाथ ऊपर उठाये रहते है, यहातक कि यह सूखकर बेकार हो जाता है, या लोहे की नुकीली कीलो पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के अनेक फिजूल और बेवकूफी के काम करते है। मेरा ख़याल यह है कि, बहुत से तो, यह इसलिए करते हैं कि बेसमझ आदमियो के ऊपर रौब गाठकर और धोखा देकर उनसे पैसे वसूल करें और कुछ लोग यह समझकर करते है कि ऐसा करने से पवित्र हो जायेंगे। गोया अपने शरीर को किसी अच्छे काम के लिए अयोग्य बना लेना भी जरूरी हो सकता है!

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कहानी याद आती है, जिसका जिक्र अपने पुराने मित्र ह्यूएनत्साँग ने किया है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उस से पूछा—"प्रिय युवक! जब तुम गृहस्थ थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा—"जी हाँ!" तब बुद्ध ने कहा—

"अच्छा मैं इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते है, उसकी आवाज ठीक नही होती। जब इसके तार ढीले होते है तो उसकी आवाज़ मे न मिठास होती है, न सगीत। लेकिन जब वीणा के तार न ज्यादा कसे होते है, न ज्यादा ढीले, तब इसके तारो से मधुर सगीत निकलता है। यही हाल शरीर का भी है। जब तुम इसके साथ कठोरता का व्यवहार करोगे, यह थक जायगा और मन लापरवाह रहेगा। जब तुम इसके साथ बहुत ज्यादा मुलामियत का व्यवहार करोगे, तो तुम्हारी भावनाये मन्द पड जायँगी और तुम्हारी इच्छाशक्ति कमज़ोर हो जायगी।"

: ४८ :

इस्लाम का आगमन

२१ मई, १९३२

हमने कई देशो के इतिहास पर विचार किया और अनेक साम्राज्यो और सल्तनतो के उत्थान व पतन का भी हाल देखा। लेकिन अरबस्तान का क़िस्सा अभी तक हमारे सामने नहीं आया। हाँ, हमने उसके बारे में यह ज़रूर कहा है कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर के मुल्को में जाया करते थे। नक्शे को देखो। अरबस्तान के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया और इराक़ है, और थोडी दूर पश्चिम में एशिया माइनर और कुस्तुन्तुनिया है। यहाँ से यूनान भी दूर नहीं है और हिन्दुस्तान भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ है। चीन और सुदूर पूरब के मुल्को का अगर हम ख़याल न करें, तो अरबस्तान, पुरानी सभ्यताओ के लिहाज से बिलकुल बीचो-बीच में बसा हुआ था। इराक में दजला (टाइग्रिस) और फुरात (यूफेटीज़) नदियो के किनारे बडे-बडे शहर बस गये। इसी प्रकार मिस्र में सिकन्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया माइनर मे एण्टिआक जैसे बडे-बडे शहरो का जन्म हुआ। अरब लोग व्यापारी थे और सफर करने के आदी थे, इसलिए इन शहरो को अक्सर आया-जाया करते होगे। फिर भी अरबस्तान ने इतिहास में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया था। यह भी नहीं मालूम होता कि इस देश में सभ्यता का पैमाना उतना ऊँचा रहा हो, जैसा आस-पास के देशो में था। अरबस्तान ने न तो दूसरे देशो

को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगस्तान और पहाड ऐसे मजबूत आदमियो को जन्म दिया करते हैं जिन्हें अपनी आजादी प्यारी होती है और जो आसानी से हराये नहीं जा सकते। फिर अरब कोई धनी देश नही था, और इसमें कोई ऐसी चीज भी नहीं थी जिसकी लालच से विदेशी विजेता या साम्राज्यवादी इसपर हमला करते। इसमें सिर्फ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब। ये समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाकी हिस्से में रेगिस्तान के अन्दर आबादियां थीं, और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू, यानी 'रेगिस्तान के रहनेवाले' थे। तेज ऊँट और खूबसूरत घोडे इनके आठ पहर के साथी थे। अपनी आश्चर्यजनक सहनशीलता के कारण गधा भी एक क़ीमती और वफादार दोस्त समझा जाता था। खच्चर या गधे से जब किसी की बराबरी की जाती तो, वह उसे तारीफ की बात समझता था। यह दूसरे मुल्को की तरह कोई बुराई की बात नही समझी जाती थी, क्योंकि एक रेगिस्तानी मुल्क में जिन्दगी बडी कठिन होती है और दूसरी जगहो के मुक़ाबिले वहां ताकत और सहन-शीलता कहीं ज्यादा कीमती गुण समझे जाते हैं।

ये रेगिस्तान के रहनेवाले, आत्माभिमानी, भावुक और झगडालू होते थे। ये कबीले और खानदान बनाकर रहते थे, और दूसरे कबीलो तथा खानदानो से झगडा किया करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और मक्का की तीर्थ-यात्रा के लिए जाया करते थे, जहां इनके देवताओ की बहुत-सी मूर्तियां रक्खी थीं। सबसे ज्यादा वे एक काले पत्थर (सगअसवद) की पूजा करते थे,जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगो की जिन्दगी खानाबदोशो की जिन्दगी थी, और कुलपति या खानदान का सबसे बूढा आदमी इनपर शासन करता था। इनकी जिन्दगी उसी क़िस्म की थी, जैसी नागरिक जीवन और सभ्यता इख्तियार करने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहों की आदिम जातियो की हुआ करती थी। अरब के चारो तरफ जितने बडे-बडे साम्राज्य खडे हुए, उन सबके उपनिवेशो में अक्सर अरबस्तान शामिल होता था। लेकिन यह मातहती नाम मात्र को थी। इसमें कोई असलियत नही हुआ करती थी, क्योंकि खानाबदोश रेगिस्तानी कबीलो पर हुकूमत करना या उनको फतह करना कोई आसान काम नहीं था।

तुम्हें शायद याद होगा कि एक दफा सीरिया में पालमीरा में एक छोटी-सी अरब सल्तनत क़ायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोडे दिनो के लिए, इस सल्तनत ने एक शानदार जमाना देखा था। लेकिन यह भी खास अरब के बाहर

थी। इस तरह बद्दू लोग पुश्त-दर-पुश्त अपनी रेगिस्तानी जिन्दगी बिता रहे थे। अरबी जहाज व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और अरबस्तान में बहुत कम तब्दीली नजर आती थी। कुछ लोग ईसाई हो गये थे और कुछ यहूदी; लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियो के, और मक्का के 'काले पत्थर' (काबा) के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह एक अजीब बात है, कि अरब कौम, जो इतने दिनो तक सो रही थी, और दूसरी जगहो की घटनाओ से जाहिरा बिलकुल अलग थी, एकदम से जाग पडी, और उसने इतनी ज्यादा तेजी दिखाई कि सारी दुनिया हिल उठी, और उसमें उथल-पुथल मच गई। अरब लोग एशिया, योरप और अफरीका में तेजी के साथ कैसे फैल गये, और उन्होने अपनी ऊँची संस्कृति और सभ्यता का किस प्रकार विकास किया, यह कहानी इतिहास के चमत्कारो में से एक है।

जिस नई शक्ति या ख़याल ने अरबो को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास और उत्साह भर दिया, वह इस्लाम था। इस मजहब को एक नये पैगम्बर, मुहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हे इस मजहब के चलाने की कोई जल्दी नही थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और शहर के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। उनको 'अल् अमीन' (थातीवाला या ट्रस्टी) कहा जाता था। लेकिन जब उन्होने अपनें नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब वह मक्का की मूर्त्तियो के ख़िलाफ उपदेश देने लगे, तो बहुत से लोग उनके ख़िलाफ हो गये, और आख़िर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पडा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर जोर देते थे, कि ईश्वर एक है, और मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगो द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होने यथरीब में अपने कुछ दोस्तो और सहायको के यहाँ आश्रय लिया। मक्का से उनकी इस रवानगी को अरबी जबान में 'हिजरत' कहते है, और मुसलमानी सम्वत् उसी वक्त यानी सन् ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत् चन्द्र-सम्वत् है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आज कल साधारणत· प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम है। और हिजरी सम्वत् के महीने एक ही मौसम में नही पड़ते। हिजरी सम्वत् का एक महीना अगर इस साल जाड़े में होगा, तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते है कि इस्लाम उस दिन से शुरू हुआ, जिस दिन मुहम्मद साहब मक्का से निकले, या उन्होने 'हिजरत' की, यानी सन् ६२२ से। हालाँकि एक लिहाज से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मुहम्मद साहब

का स्वागत किया और उनके आगमन के उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आज कल सक्षेप में इसको सिर्फ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगो ने मुहम्मद साहब की मदद की थी, वे 'असार' कहलाये। असार का मतलब है मददगार। इन मददगारो के वशज अपने इस ख़िताब पर आज भी अभिमान करते, और अभी तक उसका इस्तैमाल करते हैं। तुम कम-से-कम इस ख़ानदान के एक आदमी को जरूर जानती हो। हमारे परम मित्र डॉक्टर एम ए अन्सारी इसी ख़ानदान के हैं।

इस्लाम या अरबो की विजय-यात्रा पर विचार करने के पहले, आओ, जरा चारो तरफ एक नजर डालले। हम अभी देख चुके है कि रोम ख़तम हो चुका था, पुरानी यूनानी-रोमन-सभ्यता का अन्त हो गया था और इस सभ्यता ने जो सामाजिक ढाचा बनाया था वह भी बिखर गया था। उत्तरी योरप की जातियाँ और उपजातियाँ सामने आ रही थीं। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग बिलकुल एक नये किस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन यह इनकी शुरुआत ही थी और इनके काम का कोई नतीजा अभी तक नहीं दिखाई देता था। इस तरह एक तरफ तो पुराने का अन्त हो चुका था, दूसरी ओर नये का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए योरप में अधेरा था। यह सच है कि योरप के पूर्वी किनारे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य कायम था। कुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बडा और शानदार शहर था और योरप में सबसे बडा शहर माना जाता था। खेल-तमाशे और सरकस उसके थियेटरो में हुआ करते थे और वहाँ बहुत शान व शौकत थी। फिर भी साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था। ईरान के सासानियो के साथ इनकी बराबर लडाई जारी थी। ईरान के ख़ुसरो द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन लिया था। खुसरो अरबस्तान को भी अपने आधीन मानता था, हालांकि यह अधीनता नाममात्र की थी। खुसरो ने मिस्र को भी जीत लिया था, और कुस्तुन्तुनिया के किनारे पर पहुँच गया था। लेकिन हिरेक्लियस नामक यूनानी सम्राट ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद में खुसरो को उसके ही लडके कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में योरप और पूरब में ईरान दोनो की ही हालत ख़राब थी। इसके अलावा ईसाई सम्प्रदायो में होनेवाले आपसी झगडो का कोई अन्त ही नहीं था। अफरीका में और पश्चिम में जिस ईसाई-धर्म का प्रचार था, वह बडा कलुषित और झगडालू था। ईरान में जरथुस्त धर्म राजधर्म था और लोगो पर जबरदस्ती लादा जाता था। इसलिए औसत आदमी योरप, अफरीका और ईरान में उस समय के मजहब से ऊब गये थे। उन्ही दिनो, सातवीं सदी की शुरुआत में, सारे

योरप में भयंकर महामारियाँ फैल चुकी थीं, जिनके कारण लाखो आदमी मर चुके थे ।

हिन्दुस्तान में हर्षवर्धन राज कर रहा था, और ह्यूएनत्साग इसी समय हिन्दुस्तान में आया हुआ था । हर्ष के राजकाल में हिन्दुस्तान एक शक्तिशाली देश था । लेकिन थोडे ही दिन बाद उत्तरी हिन्दुस्तान के टुकडे-टुकडे होगये और वह कमजोर पड़ गया । पूरब में, और आगे चीन में इसी समय तंग राज-वंश का आरम्भ हुआ था । ई० सन् ६२७ में 'ताई-त्साग' नाम का उनका एक सबसे बड़ा सम्राट् तख़्त पर बैठा और उसके जमाने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था । मध्य एशिया के ज्यादातर देश उसकी प्रभुता स्वीकार करते और उसे ख़िराज देते थे, पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी ।

इस्लाम के जन्म के समय एशिया और यूरोपीय दुनिया की यह दशा थी । चीन शक्तिशाली और मजबूत था, लेकिन वह बहुत दूर था । हिन्दुस्तान भी कम-से-कम, कुछ दिनो तक तो, काफी मजबूत था । लेकिन, जैसा हम आगे देखेंगे, हिन्दुस्तान के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक, कोई सघर्ष पैदा नहीं हुआ । योरप और अफरीका कमजोर हो चुके थे और इनमें जान नहीं थी ।

हिजरत के सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद साहब मालिक के रूप में ही मक्का लौटे । इसके पहले भी वह मदीना से दुनिया के बादशाहो और शासको के पास, इस बात का आदेश भेजा करते थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल या पैगम्बर को मंजूर करे । कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस के पास यह आदेश उस वक़्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियो के ख़िलाफ लड़ रहा था । ईरान के बादशाह और कहते है कि चीन के ताई-त्साग तक भी यह आदेश पहुँचा था । इन बादशाहो और शासकों को बडा ताज्जुब हुआ होगा कि आख़िर यह कौन आदमी है, जिसको कोई जानता भी नहीं, फिर भी उनके पास हुक्म भेजने की यह हिमाक़त करता है । मुहम्मद के इन आदेशो के भेजने से ही हम इस बात का कुछ अन्दाजा लगा सकते है, कि उस व्यक्ति को अपने में और अपने सिद्धान्तो पर कितना जबर्दस्त और अटल विश्वास था । इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उसने अपनी क़ौम में भर दिया, और इस आत्म-विश्वास और ईमान से पैदा होनेवाली शक्ति को लेकर रेगिस्तान के इन लोगो ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की जानी हुई आधी दुनिया को जीत लिया । विश्वास और ईमान ख़ुद भी एक बडी चीज है । साथ ही इस्लाम ने भ्रातृ-भाव का, अर्थात् सब मुसलमान बराबर है, इस बात का भी सदेश दिया । इस प्रकार

प्रजातन्त्र का एक रूप लोगो के सामने आया। उस जमाने के भ्रष्ट ईसाई धर्म के मुक़ाबिले भाईचारे के इस सदेश ने सिर्फ अरबो पर ही नहीं, बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन अनेक देशो के निवासियो पर भी, असर डाला होगा।

मुहम्मद साहब ६३२ ई० में यानी हिजरत के दस वर्ष बाद मर गये। उन्होने अरबस्तान के आपस में लडनेवाले कबीलो से एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए आग पैदा कर दी। इसके बाद इनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफा हुए। उत्तराधिकारी चुनने का यह काम सार्वजनिक सभा में एक किस्म के अनियमित चुनाव से होता था। दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफा बनाये गये। यह दस वर्ष तक खलीफा रहे।

अबूबकर और उमर बहुत बडे आदमी थे, जिन्होने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। ख़लीफा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक सरदार यानी राजा और पोप दोनो थे। अपने ऊँचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढनेवाली ताकत के होते हुए भी, उन्होंने अपने जीवन की सादगी नहीं छोडी, और ऐश-आराम और शान-शौकत में नही फँसे। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जीवित चीज थी, लेकिन इनके मातहत अफसर और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौक़त में फँस गये। बहुत से क़िस्से मशहूर है कि अबूबकर और उमर ने किस तरह कई बार इन अफसरो की लानत-मलामत की और उन्हे सजा भी दी। यहाँ तक कि इनकी फिजूल ख़र्ची पर वे रोते थे। इनकी धारणा थी कि सीधी-सादी और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताक़त है, और अगर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के बादशाही दरबारो की ऐश-आराम की चीजो को मजूर करलिया गया, तो अरब लोग भी भ्रष्ट हो जायँगे, उनका पतन हो जायगा।

बारह वर्ष के इस छोटे अर्से में भी, जिसमें अबूबकर और उमर ख़लीफा रहे, अरबो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह को हरा दिया था। यहूदियो और ईसायो के पवित्र शहर जेरूसलम पर अरबो ने क़ब्जा कर लिया था, और सारा सीरिया, इराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य का हिस्सा हो चुका था।

: ४९ :

अरब स्पेन से लगाकर मंगोलिया तक जीत लेते हैं

२३ मई, १९३२

और दूसरे मजहबो के चलानेवालो की तरह मुहम्मद भी बहुत सी मौजूदा सामाजिक प्रथाओ का विद्रोही था। जिस मजहब का उसने प्रचार किया, उसने सादगी, सरलता, और अपनी लोकतंत्र और समता की सुगध के कारण आस-पास के देशो की जनता को अपनी ओर खींच लिया। निरकुश राजाओ ने और राजाओ की तरह ही निरकुश और रौबीले पुरोहितो ने जनता को बहुत दिनों से पीस रक्खा था। लोग पुरानी प्रणाली से बेजार थे और हर प्रकार की तब्दीली के लिए तैयार बैठे हुए थे। इस्लाम ने एक क़िस्म की तब्दीली उनके सामने रखी, और इसका उन्होने स्वागत किया, क्योकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातो में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ ख़तम हो गई। पर इस्लाम के साथ कोई ऐसी बडी सामाजिक क्रान्ति नही आई, जिससे जनता का शोषण ख़तम हो जाता। हाँ, इस्लाम की वजह से मुसलमानो का शोषण कम पड गया, और वे महसूस करने लगे कि हम एक ही बिरादरी के और भाई-भाई है।

इस तरह से अरब लोग एक विजय के बाद दूसरी विजय करते हुए आगे बढने लगे। अकसर ये लोग बग़ैर युद्ध किये ही विजय पा लेते थे। दुश्मन कमजोर थे और उन्हींके आदमी उनका साथ छोड़ देते थे। अपने पैगम्बर की मृत्यु के २५ वर्ष के अन्दर ही अरबो ने एक तरफ सारा ईरान, सीरिया आरमीनिया और मध्य एशिया का छोटा सा भाग और दूसरी तरफ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकडा पश्चिम में जीत लिया था। मिस्र इन लोगो को बहुत आसानी से मिल गया, क्योकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदाय की आपसी लाग-डाँट की वजह से सबसे ज्यादा पीडित था। कहते है कि अरबो नें सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था। लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तको के बडे प्रेमी थे और इस जगली तरह से कभी काम नहीं कर सकते थे। यह मुमकिन है कि कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोडोसियस, जिसके बारे में मैने तुमसे कुछ बताया भी है, पुस्तकालय को या उसके किसी हिस्से को जलाने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले, जूलियस सीजर के जमाने में, एक घेरे के वक्त बर्बाद हो चुका था। थियोडोसियस पुरानी यूनानी किताबो को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथायें और फिलासफी हुआ करती थी, पसन्द नहीं करता था। वह बडा श्रद्धालु

ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबो से गरम किया करता था।

अरब लोग पूरब और पश्चिम में बढते गये। पूरव में हेरात, काबुल और बलख़ इनके अधिकार में आगये और वे सिन्ध और इण्डस नदी (सिन्धु) तक पहुँच गये, लेकिन इसके आगे बढ़कर वे हिन्दुस्तान में दाख़िल नहीं हुए। और कई सौ वर्षों तक हिन्दुस्तानी राजाओ के साथ इनका मित्रता का घनिष्ट सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढते ही गये। कहते है कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफ़रीका को पार करता हुआ एटलाटिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर जिसे आज मोरक्को कहते है, पहुँच गया था। इस विघ्न के यानी समुद्र के सामने आ जाने से उसको बडी निराशा हुई और वह समुद्र में, जितनी दूर तक जा सकता था,गया, और फिर समुद्र के पानी में खडे होकर उसने अल्लाह के सामने अफसोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा जिसे वह अल्लाह के नाम पर फतह करता।

मोरक्को और अफरीका से समुद्र की पतली धार पार करके अरब स्पेन और योरप में दाख़िल हुए। इस पतले जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुलीज़ का स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके पहले पहल जिब्राल्टर में लगर डाला था। जिब्राल्टर का नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम 'तरीक़' था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तरीक' यानी 'तरीक की पहाडी' है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द फतह कर लिया, और इसके बाद वे दक्षिणी फ्रास पर टूट पडे। इस तरह मुहम्मद साहब के मरने के सौ बरस के अन्दर ही अरबो का साम्राज्य दक्षिण फ्रास और स्पेन से लेकर, उत्तर अफरीका और स्वेज़ से होता हुआ, अरबस्तान, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोडकर हिन्दुस्तान इस साम्राज्य से बाहर था। योरप पर अरब लोग दो तरफ से हमला कर रहे थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफरीका होकर फ्रास पर। दक्षिण फ्रास में अरबो की तादाद कम थी और वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर थे, इसलिए उनको अरबस्तान से ज्यादा मदद नहीं मिल सकती थी। इसके अलावा अरब मध्य एशिया के जीतने में लगे थे। फिर भी फ्रास के इन अरबो ने पश्चिमी योरप के लोगो को भयभीत कर दिया था। इन अरबों का मुक़ाबिला करने के लिए योरप में एक बहुत बडी गुटबन्दी की गई, इस गुटबन्दी का नेता चार्ल्स मार्टेल था। उसने फ्रास में

टूर्स की लड़ाई में ७३१ ई० में अरबो को हरा दिया। इस हार के कारण योरप अरब लोगो के पंजे से बच गया। किसी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि—"टूर्स के मैदान में, अरबो ने, उस समय सारी दुनिया का साम्राज्य, अपने हाथ से खो दिया, जब वह इनकी मुट्ठी में आचुका था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग टूर्स की लडाई में सफल हुए होते, तो यूरोपियन इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। योरप में कोई दूसरा ऐसा शासक नहीं था, जो इनकी गति को रोक सकता। ये लोग कुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढे चले गये होते, और इन्होने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और दूसरी हुकूमतो को, जो रास्ते में पडती, ख़तम कर दिया होता। ईसाई धर्म के बजाय इस्लाम योरप का मजहब होता, और दूसरी किस्म की भी बहुत-सी तब्दीलियां हो गई होतीं। लेकिन यह सब तो कल्पना की उडान है, हुआ यह कि अरब लोग फ्रांस में रोक दिये गये, और इसके बाद कई सौ वर्षो तक वे स्पेन में रहे, और राज्य करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक का सारा मुल्क अरबो के हाथ में था। रेगिस्तान के ये खानाबदोश एक शक्तिशाली साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। यूरोपियन लोग उनको 'सैरासीन' कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका मतलब 'रेगिस्तान के रहनेवाले' होता है। लेकिन इन सहरानशीनो ने बहुत जल्द शहर की जिन्दगी और विलासिता को इख़्तियार कर लिया, और शहरो में इनके बडे-बडे महल तैयार हो गये। दूर-दूर देशो में विजय प्राप्त कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की आदत नहीं गई, और अब तो झगडने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरबस्तान के प्रमुख होने का मतलब एक बडे साम्राज्य का अधिकार हाथ में आ जाना था। इसलिए ख़लीफा की जगह के लिए अकसर झगडे होते थे। इन छोटे-छोटे झगडो और कुटुम्ब की कलह से अरबो में गृह-युद्ध भी हो जाता था, और इन्हीं झगडो की वजह से इस्लाम दो हिस्सो में बंट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो शिया और सुन्नी के नामसे आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् ख़लीफाओ—अबूबकर और उमर—के शासन के कुछ दिनो बाद ही झगडा पैदा हुआ। मुहम्मद साहब की लडकी फातिमा के पति, अली कुछ दिनो के लिए खलीफा हुए, लेकिन झगडा बराबर जारी रहा। अली कत्ल कर दिये गये और कुछ दिनो बाद उनके लडके हुसेन, अपने कुटुम्ब के साथ, कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में, हर साल मुहर्रम के महीने में, मुसलमान, खासकर शिया, मातम मनाते है।

ख़लीफ़ा अब एक छत्र राजा हो गया था। इसके चुनाव में लोकतन्त्र का ज़रा

भी अश नहीं बचा था। उस जमाने के जैसे और निरकुश राजा होते थे, खलीफा भी वैसा ही निरंकुश राजा था। सिद्धान्त रूप से यह इस्लाम धर्म का प्रमुख था और 'मुसलमानो का सरदार' समझा जाता था। लेकिन इन शासको में कुछ ऐसे भी थे, जो उस इस्लाम का, जिसके वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, अपमान करते थे। इनमें से एक ने मदीना की मस्जिद को घोडो का अस्तवल वना लिया था।

लगभग सौ बरस तक खलीफा मुहम्मद साहब के वश की एक शाखा में से होते रहे। इनको उम्मैया कहते थे। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलो, मस्जिदो और चश्मो की वजह से यह पुराना शहर बडा खूबसूरत वन गया था। दमिश्क के पानी के प्रवन्ध की वडी शोहरत थी। इस जमाने में अरवो ने इमारत वनाने का एक ख़ास तर्ज निकाला था, जिसे सरासीनी-भवन-निर्माण कला कहा गया है। इस शैली में ज्यादा बनाव श्रृगार नहीं होता था। यह शैली सरल, शानदार और सुन्दर थी। इस शैली के पीछे अरबस्तान और सीरिया के सुन्दर खजूरो की धारणा थी। मीनार, बुर्ज खम्भे और मेहराब, खजूरो के बागो के बुर्ज और मेहराव की याद दिलाते थे।

यह शैली हिन्दुस्तान में भी आई। लेकिन इसपर हिन्दुस्तान के विचारो का असर पडा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। स्पेन में आज तक सरासीनी शैली की इमारतो के सुन्दर नमूने पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से अरबो में विलासिता, खेल-कूद और ऐशोअशरत के तौर-तरीको का जन्म हुआ। घुडदौड अरवो का बहुत ही प्रिय मनोरञ्जन था। पोलो, शिकार और शतरज भी इन्हे बहुत पसन्द था सगीत और ख़ासकर गाने का अरबो में काफी फैशन और प्रचार हो गया था। दमिश्क की राजधानी गवैयो से और साजिन्दो से परिपूर्ण थी।

एक वहुत बडी लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण तब्दीली धीरे-धीरे और आगई। यह स्त्रियो की अवस्था के बारे में थी। अरबो में औरतें परदा नहीं करती थीं। इन्हे न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। ये बाहर निकलती थीं; मस्जिदो और व्याख्यानो में जाया करती थीं, और कभी-कभी खुद भी व्याख्यान देती थीं। लेकिन सफलता की वजह से अरबो ने उन दोनो पुराने साम्राज्यो यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रस्म और रिवाज की नकल शुरू कर दी, जो इनके दोनों बाजुओ पर पाये जाते थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य का खात्मा कर डाला था, फिर भी ये इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार हो गये। कहा जाता है कि खासकर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के प्रभाव के कारण अरब-स्त्रियो में परदे की रस्म शुरू हुई। धीरे-धीरे हरम

की प्रणाली शुरू हुई, और मर्द और औरतो का मिलना-जुलना आहिस्ता-आहिस्ता कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियो का यह परदा इस्लामी समाज का एक अग हो गया, और जब मुसलमान हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान ने भी उनसे यह आदत सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ आदमी इस जगलीपन को कायम रख रहे हैं, मुझे ताज्जुब होता है। जब-जब मै परदे में रहनेवाली और बाहर की दुनिया से अलग की हुई स्त्री का ख़याल करता हूँ, मुझे कैदखाना या चिड़िया घर याद आ जाता है। कोई कौम, जिसकी आधी आबादी एक किस्म के कैदखाने में बन्द हो, कैसे आगे बढ़ सकती है। इसलिए परदे को तोड दो, जिससे सब लोगो को दिन का उज्ज्वल प्रकाश देखने का मौका मिले।

सौभाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान तेज़ी से परदे को तोड़ रहा है—बहुत दूर तक मुसलमान समाज ने भी इससे छुटकारा पा लिया है, और इस भयकर बोझ को उतार फेंका है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल खत्म कर दिया है और मिस्र में यह बहुत तेज़ी के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मै इस ख़त को ख़तम करूँगा। अरबो में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरूआत में, अपने मजहब का बहुत जोश था। फिर भी ये लोग सहिष्णु थे, और दूसरे मजहबो के प्रति उनकी सहनशीलता की बहुत-सी मिसाले मिलती हैं। जेरुसलम में खलीफा उमर ने इस बात पर काफी जोर दिया था। स्पेन में ईसाइयो की काफी आबादी थी, और उन लोगो को धर्म की पूरी-पूरी आज़ादी थी। हिन्दुस्तान में, सिंध को छोडकर अरबो ने कही भी राज्य नही किया। लेकिन सम्पर्क काफी था, और इस देश के साथ उनका मित्रता का सम्बन्ध था। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग में सबसे ज्यादा उल्लेखनीय चीज़ यह दिखाई देती है कि अरब के मुसलमान बडे सहनशील होते थे, और योरप के ईसाई बेहद असहनशील।

: ५० :

बगदाद और हारूनल रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशो की चर्चा न करके हम आज भी अरबो की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा मैंने अपने पिछले ख़त में बताया है, करीब १०० वर्ष तक ख़लीफा हज़रत मुहम्मद के वंशज उम्मैया कुल के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबो ने इस्लाम का झडा दूर-दूर देशो तक पहुँचा

दिया। एक तरफ तो अरब लोग दूर-दूर के मुल्को को जीतते थे और दूसरी तरफ अपने घर में ही झगडा करते थे और अकसर आपस में गृह-युद्ध हुआ करते थे। आखिर में हजरत मुहम्मद के वश के एक दूसरे घराने ने, जो उनके चचा अब्बास से पैदा हुआ था और 'अब्बासी' कहलाता था, उम्मैया खानदान को निकाल दिया। अब्बासी लोग उम्मैयो के जुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन जीत होने के बाद उन्होने अपने जुल्म और मार-काट से उम्मैयो को भी मात कर दिया। उन्होने हरेक उम्मैया को जहाँ भी पाया गिरफ्तार कर लिया, और बेरहमी से मार डाला।

यह सन् ७५० के शुरू की बात है और तभी से अब्बासी खलीफो के अधिकार का लम्बा युग शुरू होता है। उनकी शुरुआत शुभ या मगलमय नहीं कही जा सकती। फिर भी अरब इतिहास में अब्बासी युग काफी उज्ज्वल युग समझा जाता है। इस जमाने में उम्मैयो के समय की अपेक्षा बहुत-सी तब्दीलिया शुरू हो गई थीं। अरब-स्तान के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवर्नर ने, जो उम्मैया था, अब्बासी खलीफा को, खलीफा मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफरीका या इफरीकिया की सूबेदारी बहुत जल्द स्वतत्र हो गई। मिस्र ने भी यही किया। उसने तो अपना एक दूसरा खलीफा ही बना लिया। लेकिन मिस्र इतना नजदीक था, कि इसे धमकी दी जा सकती थी, और दबाया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा ही होता रहा। लेकिन इफरीकिया में कोई दखल नहीं दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ऊपर कोई आघात किया ही नहीं जा सकता था। इस तरह हम देखते है कि अब्बासियो के खलीफा होने पर अरब साम्राज्य बँट गया। अब खलीफा सारी इस्लामी दुनिया का प्रमुख नहीं रह गया। और न 'अमीरुल मोमनीन' यानी मुसलमानो का अगुआ ही रह गया। मुसलमानो में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफरत करते थे, कि जब एक पर आफत आती थी, तो दूसरा खुशी मनाता था।

इन सब बातो के होते हुए भी अब्बासी खलीफा बहुत बडे राजा हुए थे और उनका साम्राज्य साम्राज्यो के लिहाज से बहुत बडा था। वह पुराना ईमान और उत्साह, जिसने पहाडो को जीता था और जो एक आग की तरह फैल गया था, अब नहीं दिखाई देता था। कोई सादगी नहीं थी, और न लोकतन्त्र के ही चिन्ह रह गये थे। 'अमीरुल मोमनीन' और ईरानी शाहशाहो में, जिन्हे पहले के अरबो ने या कुस्तुन्तु-निया के सम्राट् ने हराया था कोई खास फर्क नहीं था। हजरत मुहम्मद के जमाने के अरबो में एक अजीब जिन्दगी और ताकत पाई जाती थी जो बादशाहो की

सेनाओ की ताकत से एक बिलकुल जुदी चीज थी। अपने जमाने की दुनिया में वे उठकर ऊँचे खड़े हो गये थे, और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनायें और बादशाह निस्तेज और शक्ति-हीन हो जाते थे। बादशाहो से जनता दबी हुई थी, और अरब लोगो के आने से, जनता में, अच्छे दिन आने और सामाजिक क्रान्ति की आशा पैदा हो गई थी।

लेकिन अब दूसरी ही बात सामने आगई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलो में रहते थे और खजूर और छुहारे की जगह पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफी आराम में है, फिर सामाजिक क्रान्ति या किसी तब्दीली की झंझट में क्यो फँसा जायें। शान-शौकत में वे पुराने साम्राज्यो की होड़ करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज सीख लिये थे। जैसाकि मैं तुम्हे बता चुका हूँ इन बुराइयो में से एक बुराई स्त्रियो का परदा भी था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक में बगदाद चली गई। राजधानी की यह तबदीली भी एक महत्त्वपूर्ण थी, क्योकि बगदाद ईरानी बादशाहो का गरमी के मौसम में रहने की जगह था, और दमिश्क के मुकाबिले वह योरप से दूर था। राजधानी के इस परिवर्तन के बाद अब्बासियो की नजर योरप की तरफ इतनी नहीं रही, जितनी एशिया की तरफ रह गई। कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा करने की कोशिशें तो होती ही रहीं और यूरोपियन राष्ट्रो से अनेक लडाइयाँ भी लडी गईं, लेकिन इन लडाइयो में से ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए होती थीं। विजय के दिन ख़तम हो चुके थे और अब्बासी ख़लीफ़ा बचे हुए साम्राज्य को ही मजबूत करने की कोशिश करते थे। फिर भी स्पेन और अफरीका के निकल जाने पर भी यह साम्राज्य काफी बडा था।

बग़दाद! क्या तुम्हे इसकी याद नहीं है? और हारूनल रशीद और शहरजेद और 'अलिफलैला' की अद्‌भुत कहानियो का स्मरण क्या तुम्हे नहीं है? अब्बासी ख़लीफो की मातहत में जो शहर बना वह 'अलिफ लैला' का ही शहर है। बग़दाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ्तर, स्कूल, कालेज, बडी-बडी दूकाने, पार्क और बगीचे थे। यहाँ के सौदागर पूरब और पश्चिम के देशो से बडा भारी व्यापार करते थे। अनेक सरकारी अफसर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सो से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार अधिकाधिक पेचीदा होती जाती थी और कई महकमो में बँटी थी। साम्राज्य के सब हिस्सो से राजधानी तक चिट्‌ठी-पत्री जाने का बहुत अच्छा इन्तिजाम था। अस्पताल काफी तादाद में थे। सारी दुनिया से लोग बग़दाद देखने के लिए आया करते थे। विद्वान विद्यार्थी और कलाकार ख़ासतौर से आते थे, क्योकि यह मशहूर था कि खलीफ़ा विद्वानो और कलाकारों का विशेष स्वागत करता है।

खलीफा खुद गहरी विलासिता में जिन्दगी गुजारता था। उसके चारो तरफ गुलामो और उसके हरम की औरतो का झुण्ड होता था। हारूनल रशीद के जमाने में, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी जाहिरा शान-शौकत की चोटी पर था। हारूँ के पास, चीनी सम्राट के यहां से और पश्चिम में सम्राट शार्लमैन के पास से, राजदूत आये थे। स्पेन के अरबो को छोडकर, बगदाद और अब्बासी उपनिवेश शासन की सारी कलाओ, व्यापार और विद्या-प्रचार में, योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी युग हमारे लिए खासतौर से रोचक है, क्योकि इसी जमाने से विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया में एक बहुत बडी चीज है। बहुत-सी बातो के लिए हम विज्ञान के आभारी है। विज्ञान का यह ढग नहीं कि चुपचाप बैठ जायें और घटनाओ के होने के लिए प्रार्थना करता रहे! विज्ञान में इस बात के जानने का कौतुहल होता है कि आखिर कोई बात क्यो हो जाती है। विज्ञान प्रयोग करता है और बार-बार कोशिश करता है। कभी सफल होता है और कभी असफल। और इस तरह धीरे-धीरे विज्ञान मनुष्य मात्र के ज्ञान-समूह को बढाता रहता है। आजकल की दुनिया प्राचीन या मध्य कालीन दुनिया से बिलकुल जुदी है। यह भिन्नता ज्यादातर विज्ञान की वजह से ही है। विज्ञान ने ही आधुनिक दुनिया का निर्माण किया है।

पुराने जमाने के लोगो में मिस्र, चीन या हिन्दुस्तान में हमें वैज्ञानिक ढग नहीं दिखाई देता। प्राचीन यूनान में जरूर थोडी मात्रा में वह मौजूद था। रोम में इसका अभाव था, लेकिन अरबो में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी। इस लिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयो में इन्होंने हिन्दुस्तान से बहुत कुछ सीखा था। हिन्दुस्तानी विद्वान और गणित जाननेवाले बडी तादाद में बगदाद जाते थे, और बहुत से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला जाया करते थे, जो कि उस समय तक एक बहुत बडा विश्व-विद्यालय था, और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयो की किताबें, खास तौर से सस्कृत से अरबी जबान में अनुवाद की गई थीं। बहुत सी चीजें अरबो ने चीन से सीखीं—जैसे कागज का बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरो से सीखा उसकी बिना पर अपनी भी खोज करके उन्होंने और बहुत सी महत्वपूर्ण ईजादें कीं। पहले-पहल उन्होने ही दूरबीन और कुतुबनुमा या ध्रुवयन्त्र बताया। चिकित्सा में अरब डाक्टर और सर्जन सारे योरप में मशहूर थे।

इन तमाम बौद्धिक हलचलो का मुख्य-केन्द्र बगदाद था। पश्चिम में अरबी

स्पेन की राजधानी कोरडोवा को भी इसी किस्म का केन्द्र कह सकते है । अरबी ससार में इसी तरह के और भी कई विद्या के केन्द्र थे जहाँ बौद्धिक जीवन का प्रवाह बहता था जैसे कैरो या 'विजयी' अल-क़ाहिरा, बसरा, और कूफ़ा । लेकिन इन शहरो से बग़दाद जिसे एक अरब इतिहासकार ने 'इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख, साम्राज्य की गद्दी, कला, सस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र' कहा है, कहीं श्रेष्ठ था । इसकी आबादी २० लाख से ज्यादा थी और आकार में यह आजकल के कलकत्ता और बम्बई से क़रीब-करीब दुगना बडा था ।

यह जानना तुम्हारे लिए दिलचस्प होगा कि, ऐसा कहा जाता है कि मोजा और जुर्राब पहनने की आदत पहले-पहल बगदाद के अमीरो से ही शुरू हुई । इन्हे 'मोज़ा' कहा जाता था और हिन्दुस्तानी शब्द वहीं से लिया गया है । इसी तरह फ्रासीसी शब्द 'शेमीज़' 'कमीज़' से निकला है । 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनों अरबो से कुस्तुन्तुनिया के विजेन्टाइनवालो ने लिया और बाद को वहाँ से ये चीज़ें योरप में फैल गई ।

अरब लोग हमेशा से बडे सय्याह यानी समुद्र यात्री रहे है । इन्होने समुद्र के अपने लम्बे-लम्बे सफर क़ायम रक्खे और अफरीका में, हिन्दुस्तान के किनारो पर, मलेशिया में, और चीन में भी इन्होने अपनी बस्तियाँ बसाई । इन्हीं अरब यात्रियो में से एक अलबेरूनी था, जो हिन्दुस्तान आया था, और ह्यूएनत्साँग की तरह अपने सफर का हाल छोड गया है ।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबो और इतिहासो से हम इनके बारे में बहुत कुछ जान सकते है । हम सभी जानते है कि वे कितनी अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिख सकते थे । लाखो आदमियो ने अब्बासी खलीफो का और उनके साम्राज्य का नाम नही सुना है, लेकिन 'अलिफ लैला व लैला' यानी 'एक हज़ार एक रातो' में बयान किये हुए रहस्य और प्रेम के नगर बगदाद को कौन नही जानता । कल्पना का साम्राज्य अक्सर वास्तविकता के साम्राज्य से ज्यादा स्थायी और वास्तविक होता है ।

हारूनल रशीद की मृत्यु के कुछ दिनो बाद अरब साम्राज्य पर आफत आई । झगडे-फसाद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये । सूबे के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे । खलीफा ज्यादा-से-ज्यादा कमजोर होते गये । यहाँ तक कि एक ऐसा भी वक्त आया । जब खलीफा का राज्य सिर्फ बग़दाद शहर और आस-पास के चन्द गाँवो पर ही रह गया । एक खलीफा को उसीके सिपाहियो ने महल से घसीट कर बाहर फेंक दिया और क़त्ल कर डाला था । फिर थोडे दिन के लिए कुछ

ऐसे मजबूत आदमी पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हुकूमत करने लगे, और खलीफा उनका मातहत बन गया ।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए जमाने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलहदा-अलहदा राज्य क़ायम होने लगे और इसके भी पूरब से बहुत-सी खानाबदोश कौमें, पश्चिम की तरफ बढने लगीं। मध्य-एशिया के पुराने तुर्क लोग मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बग़दाद पर क़ब्जा कर लिया। इनको सेलजुक तुर्क कहते हैं। इन्होने कुस्तुन्तुनिया की बिजैण्टाइन सेना को बिलकुल हरा दिया, जिसकी वजह से योरप को बडा ताज्जुब हुआ। योरप का खयाल था कि अरबो और मुसलमानो की ताक़त खतम हो चुकी है और वे लोग दिन-ब-दिन कमजोर होते जाते है। यह बात सच थी कि अरब बहुत गिर चुके थे। लेकिन अब सेलजुक तुर्क इस्लाम का झडा उठाने और योरप को चुनौती देने के लिए सामने आगये थे।

इस चुनौती को स्वीकार कर लिया गया, और, जैसा हम आगे देखेंगे, लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर जेरूसलम को फिर से जीतने के लिए योरप की ईसाई कौमो ने जिहाद—धार्मिक लडाइयो—का सगठन कियाग या। १०० वर्ष से ज्यादा तक सीरिया, पैलेस्टाइन और एशिया माइनर में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाई धर्मो में आपस में लडाई होती रही और एक दूसरे को कमजोर करते रहे। इन देशो की चप्पा-चप्पा जमीन मनुष्य के खून से सिंच गई है। इन हिस्सो के खुशहाल शहरो की महानता और तिजारत जाती रही और इन लड़ाइयो की वजह से हरे-भरे खेत अकसर वीरान हो जाते थे।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाई खतम नहीं होने पाई थी कि मगोलिया में दुनिया को हिलानेवाला मुग़ल चगेज खाँ पैदा हुआ। कम से कम इसने एशिया और योरप को तो जरूर हिला दिया। इसने और इसके वंशजो ने बगदाद और बग़दाद के साम्राज्य का खातमा कर दिया। मगोलो द्वारा सर होने के पहले ही बग़दाद का मशहूर और विशाल नगर मिट्टी का ढेर हो चुका था, और इसके बीस लाख बाशिन्दे खतम हो चुके थे। यह ई० सन् १२५८ की बात है।

बग़दाद अब फिर एक हरा-भरा शहर हो गया और इराक की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने स्वरूप की छाया-मात्र है। मगोलो के साथ आई हुई मृत्यु और बरबादी के असर से यह फिर कभी पनप न सका।

: ५१ :

उत्तरी हिन्दुस्तान में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबो या सरासीनो की कहानी बन्द कर दूसरे देशो पर नजर डालनी चाहिए । जिस दरमियान अरब शक्तिशाली हुए, उन्होने दूसरे देशो को जीता, सब जगह फले और फिर गिर गये, उस जमाने में हिन्दुस्तान, चीन और योरप के देशो में क्या हो रहा था, इसकी एक झलक हम पहले ही पा चुके हैं— जैसे चार्ल्स मार्टल की मातहती में योरप की सम्मिलित सेनाओ द्वारा अरबो का फ्रास में टूर्स के मैदानो में हार जाना, अरबो की मध्य एशिया पर विजय और हिन्दुस्तान में सिन्ध तक उनका आना इत्यादि । आओ, पहले हम हिन्दुस्तान की ओर चले ।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ३४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तरी हिन्दुस्तान का राजनैतिक पतन और भी साफ-साफ दिखाई देने लगा । यह पतन कुछ समय पहले ही से चला आरहा था । हिन्दू और बौद्धधर्म के लड़ाई-झगडो ने इस पतन के क्रम में मदद पहुँचाई । हर्ष के समय में जाहिरा तौर पर बडा बहादुराना प्रदर्शन हुआ था । लेकिन यह थोडे ही समय के लिए था । हर्ष के मरने के बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई छोटी-छोटी रियासते पैदा हो गई जो कभी-कभी थोडे समय के लिए गौरव व यश प्राप्त कर लेती थी और कभी-कभी आपस में लड़ा करती थीं । यह एक अजीब बात है कि हर्ष के मरने के तीन सौ वर्ष बाद या उससे भी ज्यादा समय तक इस देश में साहित्य और कला फलते-फूलते रहे, और सार्वजनिक हित के और कितने ही काम होते रहे । इसी जमाने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध सस्कृत के लेखक हुए और इसी समय में कई ऐसे राजा हुए जो राजनैतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण नहीं थे, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके जमाने में कला और विद्या ने बडी तरक्की की । इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा की कल्पना का एक नमूना ही बन गया है और आज भी लोग उसको ऐसा समझते है । क्या तुमने 'राजा भोज और गगू तेली' की कहावत नही सुनी है ?

लेकिन इस उज्ज्वलता के होते हुए भी उत्तरी हिन्दुस्तान का पतन होता जा रहा था । दक्षिणी हिन्दुस्तान फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना रौब जमाता जारहा था । इस समय के दक्षिणी हिन्दुस्तान के बारे में मै तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूँ । उसमें मैंने चालुक्यो, पल्लवो, राष्ट्रकूटो और चोलो के साम्राज्य के बारे में लिखा था । मै तुम्हे शंकराचार्य

के बारे में बता चुका हूँ, जिन्होने थोडी उम्र में सारे देश के विद्वान् और अपढ, दोनों पर गहरा असर डालने में सफलता प्राप्त की और जो हिन्दुस्तान से बौद्ध धर्म को करीब-करीब ख़तम कर देने में सफल हुए। विचित्र बात यह है कि जिस समय शकराचार्य यह काम कर रहे थे उसी समय एक नया मजहब हिन्दुस्तान का दरवाजा खटखटा रहा था। यह मजहब बाद को विजय के प्रवाह के साथ हिन्दुस्तान में घुसा और हिन्दुस्तान की उस समय की प्रणाली को तहस-नहस कर देने के लिए चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, जब हर्ष जीवित ही था, हिन्दुस्तान की सीमा पर पहुँच गये थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गये और बाद में उन्होने सिंध को अपने क़ब्जे में कर लिया। ७१० ई० में १७ साल के एक लडके मुहम्मद इब्न क़ासिम ने एक अरबी सेना लेकर सिंध की घाटी को पश्चिम पजाब में मुलतान तक जीत लिया। हिंदुस्तान में अरबो की विजय का यही पूरा फैलाव था। मुमकिन है अगर उन्होंने ज्यादा कोशिश की होती तो वे इससे भी आगे बढ गये होते। यह बहुत मुश्किल भी न होता, क्योकि उत्तरी हिन्दुस्तान बहुत कमजोर था। हालांकि इन अरबो और आस-पास के राजाओ में अकसर लडाई हुआ करती थी, फिर भी इन अरबो ने विजय के लिए कोई सघटित यत्न नहीं किया। इसलिए राजनैतिक दृष्टि से अरबो की सिंध पर यह विजय कोई ख़ास महत्त्व की बात नहीं थी। मुसलमानो ने हिन्दुस्तान को इसके कई सौ वर्ष बाद जीता है, लेकिन सास्कृतिक दृष्टि से अरब और हिन्दुस्तान के इस सम्पर्क का महत्त्वपूर्ण नतीजा हुआ।

अरबो का दक्षिण के हिन्दुस्तानी राजाओ, ख़ासकर राष्ट्रकूटो, के साथ मित्रता का व्यवहार रहता था। बहुतसे अरब हिन्दुस्तान के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियो में उन्होने मस्जिदें बनवाई थी। अरब यात्री और सौदागर हिन्दुस्तान के अनेक हिस्सो में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी, तक्षशिला के विश्व-विद्यालय में, काफी तादाद में आते थे, जो ख़ासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। ऐसा कहा जाता है कि हारूनल रशीद के जमाने में हिन्दुस्तान में प्राप्त की हुई विद्वत्ता की बग़दाद में बडी क़द्र थी। हिन्दुस्तान से वैद्य और चिकित्सक अस्पताल और आयुर्वैदिक पाठशालायें स्थापित करने के लिए बग़दाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष की सस्कृत किताबो का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था।

इस तरह अरबो ने पुरानी भारतीय आर्य सस्कृति से बहुत-सी बाते ली थीं। उन्होंने ईरान की आर्य सस्कृति और यूनानी सस्कृति से भी बहुत कुछ सीखा था। अरब लोग क़रीब-करीब एक नई क़ौम की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी।

उन्होने अपने चारो ओर जितनी पुरानी सभ्यतायें देखीं, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फायदा उठाया। और इन सबके आधार पर उन्होंने एक अपनी चीज बनाई जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियो के ख़याल से इस संस्कृति का जीवन थोडे दिनो तक ही रहा, लेकिन यह एक प्रकाशमान जीवन था, जो योरप के मध्य-युग के अंधकार के परदे पर चमकता है।

यह एक अजीब बात है कि हालाँकि अरब निवासियो ने भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी सस्कृतियो से फायदा उठाया, पर भारतीयो, ईरानियो और यूनानियो ने अरबो के सम्पर्क से ज्यादा फायदा नही उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति एक नई जाति थी, और शक्ति व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थीं; पुरानी लकीर पर चली जाती थी, और परिवर्तन के लिए वे ज्यादा परवाह नही करती थी। और यह भी एक अजीब बात है कि जिस तरह उम्र का प्रभाव व्यक्तियो पर पड़ता है, उसी तरह राष्ट्रो और जातियो पर भी पडता है। उमर पाकर कौमो की रफ्तार भी धीमी पड़ जाती है; उनके मन और शरीर से लोच जाता रहता है, वे परिवर्तन से डरने लगती है, और तटस्थ हो जाती है।

इसलिए अरबो के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, हिन्दुस्तान पर ज्यादा असर नहीं पड़ा, और न कोई ख़ास तब्दीली ही आई। लेकिन इस लम्बे युग में इस्लाम के नये धर्म के बारे में हिन्दुस्तान को कुछ-न-कुछ जरूर परिचय मिल गया होगा। अरब के मुसलमान आये और गये, उन्होने मस्जिदें बनवाई, कभी-कभी उन्होने अपने धर्म का प्रचार भी किया और कभी-कभी उन्होंने कुछ लोगो को अपने धर्म में मिला भी लिया। मालूम होता है कि उस समय इसपर कोई आपत्ति नहीं की गई और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या फसाद हुआ। यह बात ध्यान देने लायक है, क्योकि बाद में इन दोनो धर्मो में बडे लड़ाई-झगडे हुए। ग्यारहवीं सदी में जब, इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, एक विजेता के भेस में, हिन्दुस्तान में दाख़िल हुआ, उस समय भीषण प्रतिक्रिया के भाव पैदा हुए और पुरानी सहनशीलता की जगह परस्पर हिकारत और सघर्ष के भाव आगये।

यह तलवार चलानेवाला, जो हाथ में आग और क़त्ल लेकर हिन्दुस्तान में आया था, ग़जनी का महमूद था। ग़जनी अब अफगानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवी सदी में ग़जनी के इर्द-गिर्द एक छोटा-सा राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाममात्र को बगदाद के ख़लीफा के अधीन थे, लेकिन, जैसा मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूनल रशीद के मरने के बाद ख़लीफा कमजोर हो गये, और एक समय आया जब ख़लीफो का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राष्ट्रो के रूप में, टुकडे-

टुकडे हो गया। यह उसी समय की वात है, जिसका हम जिक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की गुलाम ने ९७५ ई० के क़रीब ग़ज़नी और कधार में अपने लिए एक राज्य कायम कर लिया था। उसने हिन्दुस्तान पर भी हमला किया। उन दिनो लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के ख़िलाफ काबुल की घाटी में बढ गया, पर वहाँ उसकी हार हो गई।

महमूद अपने पिता सुबुक्तगीन के बाद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुडसवारो की सेना का अच्छा नायक था। हर साल वह हिन्दुस्तान पर हमला करता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी कैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने हिन्दुस्तान पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल कश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाक़ी सब आक्रमण सफल हुए, और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में उसका आतक छा गया। वह पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक गया। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा धन सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहा पर एक वहुत बडा मन्दिर था और सदियो की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहा जाता है कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा तो इस आशा में कि मूर्ति में कोई चमत्कार जरूर होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा,हजारो आदमियो ने उस मन्दिर में शरण ली। लेकिन भक्तो की कल्पनाओ को छोड़कर चमत्कार बिरले ही होते हैं। महमूद ने मन्दिर को तोड डाला, और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते,जोकि हुआ ही नहीं,नष्ट हो गये।

महमूद ई० सन् १०३० में मर गया। उस समय सारा पजाब और सिन्ध उसके कब्जे में था। वह इस्लाम धर्म का एक बडा नेता समझा जाता है, जो हिन्दुस्तान में इस्लाम धर्म के प्रचार करने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्जत और वहुत-से हिन्दू उससे घृणा करते हैं, लेकिन असल में वह मजहबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली वात यह थी कि वह एक प्रतिभाशाली सैनिक था। वह हिन्दुस्तान को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि वदकिस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते हैं। महमूद चाहे जिस धर्म का होता यही करता। यह एक ध्यान देने की वात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान राजाओ को भी धमकी दी थी। जब उन्होंने उसकी मातहती मान ली, और उसे ख़िराज दिया तब उसने उन्हे छोडा था। उसने बग़दाद के ख़लीफा को भी मौत की धमकी दी थी, और उससे समरकन्द मांगा था, इसलिए हमें महमूद को एक सैनिक के अलावा और कोई दूसरी चीज समझने की ग़लती में न फँसना चाहिए।

महमूद बहुत से हिन्दुस्तानी शिल्पकारो और कारीगरो को अपने साथ गजनी ले गया था, और वहां पर उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी । जिसका नाम 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था । बगीचो का वह बड़ा प्रेमी था ।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता चलता है कि मथुरा उस समय कितना बडा शहर था । महमूद ने गजनी के अपने एक सूबेदार के नाम एक खत में लिखा था—"यहा एक हजार ऐसी इमारतें है जो, इतनी मजबूत है, जैसे 'मोमिनो' यानी मुसलमानो का ईमान । यह मुमकिन नही कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना लाखो दीनार (उस समय का एक मुसलमानी सिक्का) खर्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है ।"

महमूद द्वारा लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फिरदौसी की किताब में पढते है । फिरदौसी फारसी का महाकवि था । मुझे खयाल आता है कि पिछले साल के अपने एक खत में, मैंने उसका और उसकी खास किताब 'शाहनामा' का जिक्र किया है । एक कथा है कि शाहनामा महमूद की आज्ञा से लिखा गया था । महमूद ने फिरदौसी को फी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था । लेकिन मालूम पड़ता है कि फिरदौसी किसी बात को सक्षेप में कहने का कायल नहीं कई था। उसने बहुत विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हजार शेर ले गया, तो हालाकि उसकी रचना की बहुत तारीफ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर पश्चात्ताप हुआ । उसने उसे वादे से कम इनाम देने की कोशिश की । इसपर फिरदौसी बडा नाराज हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया ।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बा कदम रक्खा और साढे तीन सौ बरसो से ज्यादा समय का हिन्दुस्तानी इतिहास कुछ पैरो में देख लिया । मैं समझता हूँ, इस लम्बे युग के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बाते लिखी जा सकती है । लेकिन मैं उन्हे नहीं जानता । इसलिए अक्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे में चुप रह जाऊँ । मैं तुम्हे भिन्न-भिन्न राजाओ और शासको के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक दूसरे से लडे और जिन्होने हिन्दुस्तान में कभी-कभी पाचाल जैसे बडे-बडे राज्य भी कायम किये । कन्नौज की मुसीबतो का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस प्रकार उसपर पहले कश्मीर के राजाओ ने और उनके बाद दक्षिण के राष्ट्रकूटो ने हमले किये और उसपर कब्जा कर लिया । लेकिन इससे कोई फायदा न होगा, तुम सिर्फ उलझन में और फँस जाओगी ।

यहा हम हिन्दुस्तान के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अखीर तक पहुँच गये है,

और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को टुकडो में बाँटना मुश्किल और अक्सर अनुचित होता है। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बहता ही जाता है। फिर भी इसमें तब्दीली होती है। एक पहलू का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है। ये परिर्वतन एकाएक नहीं होते, एक रग में दूसरा रग छिपता जाता है और इस तरह तब्दीली का पता नहीं चलता। इसलिए जहाँतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है हम इतिहास के इस कभी खत्म न होने वाले नाटक के एक अक तक पहुँच गये है। जिसयुग को हिन्दू युग कहते है, वह अब धीरे-धीरे खत्म होता है। हिन्दू-आर्य संस्कृति जो कई हजार वर्षो से फलती-फूलती चली आरही थी, अब एक नई आनेवाली सस्कृति के सघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह तब्दीली एकाएक नहीं हुई थी। यह धीरे-धीरे आई थी। इस्लाम उत्तरी हिन्दुस्तान में महमूद के साथ आया। दक्षिण बहुत दिनो तक मुसलमानों की विजय से बचा रहा, और इसके बाद बगाल भी करीब दो सौ बरसो इस्लाम से मुक्त था। हम देखते है कि उत्तर में चित्तौड, जो आगे इतिहास में अपनी बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत जातियो के सगठन का केन्द्र होने लगा था। लेकिन मुसलमानो की विजय-धारा निष्ठुर और निश्चित रूप से आगे बढती ही गई और व्यक्तिगत वीरता उसे जरा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नहीं कि पुराना हिन्दू-आर्य-भारत अवनति की ओर जारहा था।

विदेशियो और विजेताओ को रोकने में असमर्थ होने की वजह से हिन्दू-आर्य सस्कृति ने आत्म-रक्षा की नीति पकडी। पर अपने को बचाने की कोशिश में वह एक गुफा में चली गई। उसने अपनी जाति-पाति की प्रणाली को जिसमें अभीतक लोच बाकी थी ज्यादा मजबूत और कडी बना दिया। उसने स्त्रियो की स्वाधीनता घटा दी, और ग्राम पचायते भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हालत में हो गई। लेकिन इस हालत में भी, जब कि वह एक अधिक जीवित जाति के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगो पर अपना असर डालने और उन्हे अपने ढग पर मोड़ने और ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-सस्कृति में हजम करने की इतनी ज्यादा ताकत थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओ के ऊपर भी सास्कृतिक विजय प्राप्त करली।

तुम्हे यह याद रखना चाहिए कि यह सघर्ष भारतीय आर्य-सभ्यता और उच्च कोटि के अरबो के बीच नहीं था, बल्कि सभ्य लेकिन पतनशील हिन्दुस्तान और मध्य एशिया के अर्ध-सभ्य और अक्सर खानाबदोश क़ौमो (जिन्होने हाल ही में इस्लाम धर्म ग्रहण किया था) के बीच था। बदक़िस्मती से हिन्दुस्तान ने सभ्यता के इस अभाव को और महमूद के हमलो की बीभत्सता को इस्लाम के साथ शामिल कर दिया और इस तरह आपस की कटुता बढ गई।

: ५२ :

योरप के देशों का निर्माण

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी ! क्या अब हम योरप की सैर न करेगे ? पिछली बार जब हमने उसपर विचार किया था, उसकी हालत ख़राब थी । रोम का पतन, पश्चिमी योरप की सभ्यता का पतन था। कुस्तुन्तुनिया की सरकार के मातहतवाले हिस्से को छोडकर पूर्वी योरपवाले हिस्से की हालत उससे भी ख़राब थी। एटिला नामक हूण ने महाद्वीप के बहुत बडे हिस्से को तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, हालाकि वह गिर रहा था, कायम रहा। यहाँ तक कि कभी-कभी उसकी शक्ति एकाएक फूट निकलती थी ।

रोम के पतन से पैदा होनेवाले धक्के के बाद पश्चिम में सब बातें नये तरीके से व्यवस्थित होने लगीं। इनके निश्चित रूप पकडने और जमने में बहुत दिन लग गये। फिर भी पश्चिम का नया रूप-रग या ढाचा जैसे सामने आता-जाता है, हम उसे पहचान सकते है। कभी-कभी अपने साधु-संतो और शान्ति-प्रिय लोगो की मदद पाकर, और कभी अपने सैनिक राजाओ की तलवार के जोर पर, ईसाई धर्म का फैलाव बढता गया। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ्रास, बेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ्रैंको ने, जिन्हें तुम फ्रेन्च (फ्रान्स निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य कायम किया। क्लोविस ने ई० सन् ४८१ से ५११ तक राज्य किया। यह राजवश क्लोविस के बाबा के नाम से मेरोविजियन वश कहलाता है। लेकिन इन राजाओ के ऊपर बहुत जल्द उन्हींके दरबार का एक अफसर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सर्वशक्तिमान हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे। राजा तो नाम के और कठपुतली मात्र थे।

चार्ल्स मार्टल भी इन्हीं राजमहल के मेयरो में से एक था, जिसने ७३२ ई० में फ्रान्स में टूर्स की बडी लडाई में सरासीनो को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्टल ने सरासीनो के विजय-प्रवाह को रोक दिया और ईसाइयो की निगाह में उसने योरप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्जत और शोहरत बहुत बढ गई। लोग उसे शत्रुओ के विरुद्ध ईसाई-ससार का नेता मानने लगे। इन दिनो रोम के पोपो का सम्बन्ध कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो के साथ अच्छा नहीं था। इसलिए पोप चार्ल्स मार्टल से सहायता की आशा करने लगे। चार्ल्स मार्टल के लड़के पेपिन ने

उस समय के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपनेको राजा घोषित करना निश्चय किया। पोप ने खुशी के साथ यह बात मानली।

शार्लमेन पेपिन का लडका था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपनी रक्षा के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की, पोप के दुश्मनो को भगा दिया और ई० सन् ८०० के बडे दिन को गिरजे में एक बडा उत्सव करके पोप नें शार्लमेन को रोमन सम्राट बना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बावत मैं तुम्हे पहले एक बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे आनेवाला इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योकि वह 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[1] की चेशायर बिल्ली की तरह केवल अपनी मुस्कराहट छोड जाता है लेकिन उसके शरीर का कोई निशान बाकी नहीं बचता। लेकिन अभी यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झाक करने की जरूरत नहीं।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह दूसरी ही चीज थी। यह अपने ही साम्राज्य को एक मात्र साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोडकर, अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियो तक इस बात की लाग-डाँट रही थी कि इन दोनो में कौन बडा है। लेकिन यह लाग-डाँट भी अभी आगे की चीज है। ध्यान देने लायक बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनरुत्थान माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इस धारणा के साथ एक नया भाव पैदा हो गया था—ईसाई मत और ईसाई जगत का। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' कहलाता था। सम्राट ससार में एक प्रकार का ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था और पोप भी इसी प्रकार पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। एक राज-सम्बन्धी मामलो की देख-रेख करता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलो की। बहरहाल कुछ ऐसे ही विचार थे, और मैं समझता हूँ कि इसी विचारधारा के कारण योरप में राजाओं के ईश्वरीय

१ 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अँगरेजी भाषा में बच्चो की एक बडी पुस्तक का नाम। आक्सफर्ड विश्व-विद्यालय के एक प्रोफेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लडकियो के विनोद के लिए, सन् १८६५ मे इसे लिखा था। यह पुस्तक बडी रोचक है, और शायद ही कोई अँगरेज़ी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसको न पढा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लडकी की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

या दैवी अधिकार (Divine Right) का भाव पैदा हुआ है। सम्राट 'धर्म का रक्षक' (Defender of the Faith) था। तुम्हे यह बात रोचक मालूम होगी कि अंग्रेजो का राजा अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट की तुलना उस खलीफा से करो जो 'अमीरुल मोमनीन' (ईमानदारो का सरदार) कहलाता था। खलीफा सम्राट और पोप दोनो होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वह नाम-मात्र का ख़लीफा रह गया था।

कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसंद नहीं किया। जिस समय शार्लमेन का राजतिलक हुआ, कुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत साम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन वही स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए अपने ही लडके को मार डाला था। उसके समय में राज्य की हालत खराब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन का राज-तिलक कर दे और कुस्तुन्तुनिया से सम्बन्ध तोड ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का प्रतिनिधि' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते है। लेकिन ये वाक्य जनता को धोखा देनें और उसे मत्रमुग्ध कर देने का अपना काम कर ही जाते है। ईश्वर और धर्म को अपनी मदद के लिए पुकारकर अधिकारीवर्ग ने अक्सर दूसरो को बेवकूफ बनाया है और अपनी ताकत बढाई है। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नजरो में रहस्यमय और छायापूर्ण चीज बन जाते है। और साधारण जीवन से बिलकुल अलग रहने से लोग इन्हे करीब-करीब देवताओ की तरह समझने लगते है। इसीलिए साधारण मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारो के शिष्टाचारो और वहांके विस्तृत नियमो और उपनियमो की सूची का ख़याल करो, और मदिरो और गिरजो में होनेवाली पूजा के विस्तृत आचार से उसकी तुलना करो। दोनो में एकसी बातें मिलती है। दोनो में वही झुकने, सलाम करने, दण्डवत करने और सर झुकाने की बातें मिलेंगी। अधिकारो की यह पूजा बचपन से ही जुदे-जुदे तरीको से हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

शार्लमेन बगदाद के हारूनल रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और इस बात पर ग़ौर करो कि उसने यह प्रस्ताव किया था कि वे पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनो से लडने के लिए मिलकर काम करें। इस प्रस्ताव का कोई फल नही निकला, लेकिन फिर भी यह प्रस्ताव राजाओ और राजनीतिज्ञो की नीति पर काफी रोशनी डालता है। सोचो तो, ईसाई-शक्ति और

अरब-शक्ति के खिलाफ ईसाई-जगत का अधिनायक और 'पवित्र' सम्राट बगदाद के खलीफा से मेल करे। तुम्हे याद होगा कि स्पेन के सरासीनो ने बग़दाद के अब्बासी खलीफाओ को खलीफा मानने से इन्कार कर दिया था। वे आजाद हो गये थे, लेकिन ये दोनो एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड नहीं सकते थे। कुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन में भी मेल नहीं था। लेकिन यहाँ भी फासले की वजह से लडाई नहीं हो सकी। बहरहाल यह प्रस्ताव किया गया था कि एक ईसाई और एक अरब दूसरी ईसाई और अरब शक्ति से लडने के लिए आपस में मेल करले। इन राजाओ की असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह अपनी शक्ति, अधिकार और धन बढाले। लेकिन इस नीयत के ऊपर ये लोग धर्म का चोला चढ़ा देते थे। हर जगह ऐसा ही हुआ। हिन्दुस्तान में हमने देखा है कि महमूद मजहब के नाम पर आया और उसने इस भावना से बहुत फायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर अक्सर लोगो ने फायदा उठाया है।

लेकिन हरेक युग में लोगो के ख़यालात बदला करते है, और हम लोगो के लिए बहुत दिन पहले के लोगो के बारे में कोई फैसला कर लेना मुश्किल है। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत सी बातें जो आज हमें स्पष्ट दिखाई देती है उस समय के लोगो को विचित्र मालूम पडती थीं। हमें आज उनके सोचने का ढग और उनकी आदतें अजीब मालूम होती है। एक तरफ लोग ऊँचे अदर्शों की बात करते थे, 'पवित्र' साम्राज्य की, ईश्वर के प्रतिनिधि की और ईसा के प्रतिनिधि पोप की बातें बघारी जाती थीं, और उधर पश्चिम की हालत उतनी ही खराब थी जितनी हो सकती थी। शार्लमेन के बाद ही इटली और रोम की हालत बहुत शोचनीय हो गई थी। रोम में कुछ स्त्री और पुरुषो का एक घृणित गिरोह जो चाहता था करता था और पोपो को बनाता बिगाडता रहता था।

दरअसल में रोम के पतन के बाद पैदा होनेंवाली पश्चिमी योरप की सर्वव्यापी अशान्ति से लोगो के दिलो में यह ख़याल पैदा हो गया था कि अगर साम्राज्य का फिर से जन्म हो तो हालत सुधर जायगी। बहुतो के लिए यह इज्जत का सवाल हो गया कि एक सम्राट् बनाया जाय। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बना दिया गया, कि ग़ैर-ईसाई यह कहकर ईसाइयो का अपमान न करें कि ईसाइयो में सम्राट का नाम लुप्त हो गया है।

शार्लमेन के साम्राज्य में फ्रास, बेलजियम, हालैंड, स्वीजरलैंड आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबो के अधीन था। उत्तर-पूरब में स्लाव और दूसरी जातियाँ थीं। उत्तर में डेन और नार्थमेन

थे। दक्षिण-पूरब में बलगेरियन और सरबियन लोग थे और उनके बाद कुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन राज्य था।

ई० सन् ८१४ में शार्लमेन मर गया और थोडे ही दिनो के बाद साम्राज्य की सम्पत्ति के बँटवारे के लिए झगडे उठ खडे हुए। उसके वशज, जो केर्लोविजियन (केरोलस चार्ल्स का लैटिन रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसा कि उनमें से कुछ की उपाधियो से मालूम होता है। एक 'मोटा' कहलाता था, दूसरा 'गंजा' और तीसरा 'पवित्र'। शार्लमेन के साम्राज्य से टूटकर अब जर्मनी और फ्रांस ने अपना अलग रूप धारण करना शुरू किया। कहते है, ई० सन् ८४३ से जर्मन राष्ट्र का जन्म हुआ, और यह भी कहा जाता है कि ई० सन् ९६२ से ९७३ तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनी को एक राष्ट्र बनाया। फ्रास पहले से ही ओटो के साम्राज्य के बाहर था। ई० सन् ९८७ में ह्यूकैपेट नामक एक सरदार ने शक्तिहीन केर्लोविजियन राजाओ को निकाल दिया और फ्रास पर कब्जा कर लिया। लेकिन पूरे फ़्रास पर कब्ज़ा नहीं हो सका, क्योकि फ़्रास बडे-बडे भागो में बटा था, जो स्वतत्र सरदारो के अधीन थे और ये सरदार आपस में अकसर लडा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे, जितना साम्राट और पोप से, और सम्राट् तथा पोप से मुकाबिला करने के लिए सब मिल जाते थे। ह्यू कैपेट के समय से फ्रास राष्ट्र की शुरुआत हुई और इस आरम्भिक युग में भी हमें फ्रास और जर्मनी की प्रतिद्वद्विता दिखाई देती है। यह प्रतिद्वद्विता पिछले हज़ार वर्षों से चली आती है औरआज तकजारी है। अजीब बात है कि फ़्रांस और जर्मनी के समान दो सभ्य और अत्यन्त कुशल राष्ट्र, जो एक दूसरे के पडौसी है, अपने पुराने वैमनस्य को पीढी-दर-पीढ़ी भड़काते रहे। लेकिन शायद इसमें उनका उतना दोष नहीं है, जितना उस प्रणाली का, जिसके नीचे वे रहते रहे है।

करीब-करीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मँच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के एक आदमी ने, जिसका नाम रूरिक था, ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय योरप के दक्षिण पूरब में बलगेरियन लोग बसने लगे और धीरे-धीरे उग्र होने लगे। इसी प्रकार सरबियनों ने भी वहाँ बसना शुरू किया। मगयार या हँगेरियन और पोल जातिवाले भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच में अपना राज्य स्थापित करने लगे।

इसी दरमियान उत्तर योरप से कुछ लोग जहाजो के जरिये पश्चिम और दक्षिण देशो को आये। उन लोगो ने वहा आग लगाई, कत्ल किये और लूट-मार की। तुमने डेन और दूसरे नार्थमेनो के बारे में पढा होगा, जो इंगलैड को लूटने गये

थे। ये नार्थमेन या नार्समेन या नार्मन, भूमध्य सागर में गये, अपने जहाजो के जरिये उन्होने बडी-बडी नदियो को पार किया और जहाँ कहीं भी वे गये वहीं लूट-मार की। इटली में अराजकता थी और रोम बहुत बुरी आफत में था। इन लोगो ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनिया को भी धमकाया। इन लुटेरो और डाकुओ ने फ्रांस के पश्चिमी हिस्से को, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली को छीन लिया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और उस प्रदेश के मालिक तथा जमींदार बन बैठे, जैसा कि अक्सर लुटेरे समृद्धिशाली होने पर करते हैं। फ्रास के नारमडी प्रात में बसे हुए इन्हीं नार्मनो ने १०६६ ई० में विलियम के सेनापतित्व में (जिसको विजेता कहा गया है) इग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते है।

अब हम मोटे तौर पर योरप में ईसाई सन् के पहले हजार बरसो के अन्त तक पहुँच गये। इसी वक्त गजनी का महमूद हिन्दुस्तान पर हमला कर रहा था और इसी समय के लगभग बग़दाद के अब्बासी खलीफाओ की ताकत कम हो रही थी और पश्चिमी एशिया में सेलजुक तुर्क इस्लाम को फिर से जगा रहे थे। स्पेन अब भी अरबो के मातहत था। लेकिन वे अपनी मातृभूमि अरबस्तान से बहुत दूर पड गये थे। दरअसल में उनका सम्बन्ध बगदाद के शासकों के साथ अच्छा नहीं था। उत्तरी अफरीका वास्तव में बगदाद से स्वतत्र हो गया था। मिस्र में यही नहीं कि एक स्वतत्र शासन कायम हो गया हो, बल्कि वहाँ के खलीफाओ ने अपनी अलग खिलाफत बनाली थी और कुछ समय के लिए मिस्र के खलीफा उत्तरी अफरीका पर भी राज्य करते रहे।

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले खत में हमने फ्रांस, जर्मनी रूस और इगलैंड की शुरूआत की एक झलक देखी थी, लेकिन याद रक्खो कि इन देशो के बारे में इन लोगो का उस जमाने वह खयाल नहीं था, जो अब है। हम आज-कल यह जानते हैं, कि अंग्रेजो, फ्रासीसियो और जर्मनो की कौमें अलग-अलग हैं, और इनमें से हरएक अपनी मातृ-भूमि या पितृ-भूमि को अलग-अलग मानता है। राष्ट्रीयता का यह भाव आज-कल ससार में भलीभाति जाहिर है। हिन्दुस्तान में हमारी आजादी की लड़ाई भी

'राष्ट्रीय' लडाई है। लेकिन उस जमाने में राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। उस ज़माने में ईसाई-धर्म-जगत की भावना ज़रूर थी, यानी लोग कुछ इस शक्ल में सोचते और अनुभव करते थे, कि हम ईसाई समाज या गिरोह के आदमी है और मुसलमानो या गैर ईसाइयो से अलग हैं। इसी तरह मुसलमानों का भी खयाल था, कि हम मुसलमानी दुनिया के प्राणी हैं और बाकी जितने हैं काफिर है, और हमसे अलग हैं।

लेकिन ईसाईधर्म और इस्लाम के ये विचार बिलकुल अस्पष्ट थे और जनता की रोजाना जिन्दगी पर इनका कोई असर नहीं पड़ता था। ख़ास-ख़ास मौको पर लोगो के दिलो में मजहबी जोश भरा जाता था, ताकि आगे इस्लाम या ईसाईधर्म के लिए, जहां जैसा मौका हो, लड़ने को तैयार हो जायें। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी प्रणाली तहस-नहस हो गई थी। सभी जगह अराजकता, उद्दडता, जबर्दस्ती और बदइन्तजामी दिखाई देती थी। जबर्दस्त आदमी जो कुछ पाते थे, ले लेते थे। और जब तक कोई ज्यादा जबर्दस्त आदमी पैदा नहीं होता था, जो उनसे छीन ले, ये अपना अधिकार जमाये रहते थे। किले बनाये जाते थे, और इन किलो के स्वामी छापा मारने के लिए अपने दल के साथ बाहर निकलते थे। गाँवो मे लूट-मार करते थे, और कभी-कभी अपनी बराबरी के लोगो से युद्ध भी करते थे। गरीब किसान और जमीन पर काम करनेवाले मजदूर ही सबसे ज्यादा मुसीबत में फँसे थे। इसी बदइतजाम में से सामन्त प्रणाली का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नही थे। इन डकैत सरदारो से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे और न कोई केन्द्रीय शासन ही था, जो कि इन किसानो की रक्षा करता। इसलिए किसानो ने इस दुर्गति से बचने के लिए उत्तम उपाय यही देखा कि, किले के इन मालिको से, जो, उन्हे लूटते रहते थे, समझौता कर लें। किसान इस बात पर राजी हो गये कि खेत में जो कुछ पैदा होगा, उसका कुछ हिस्सा उनको देंगे, और भी कई तरीको से उनकी सेवा करेंगे, बशर्ते कि वे इन्हे लूटना छोड दें और परेशान न करें, और अपने वर्ग के दूसरे आदमियो से भी इनको बचायें। इसी तरह छोटे किले के मालिक ने बडे किले के मालिक से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा मालिक बडे मालिक को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान नहीं होता था और कुछ पैदा नहीं करता था। इसलिए सैनिक साहयता देने का वादा करता था यानी जरूरत पड़ने पर उसकी तरफ से लड़ने का वचन देता था। इसके

बदले में बड़ा मालिक छोटे को बचाता था और छोटा बड़े का मातहत समझा जाता था। इसी तरह क़दम-ब-क़दम छोटे से बड़े और बड़े से अधिक बड़े मालिक तक यह सिलसिला चलता था और अन्त में बादशाह तक पहुंच जाता था, जिसे इस सामन्ती ढांचे का प्रमुख समझना चाहिए। लेकिन यह सिलसिला यहीं नहीं खतम होता था। इनका ख़याल था कि स्वर्ग में भी यह सामन्त प्रथा है, जहा त्रि-देव या त्रिमूर्ति (Trinity) है और परमेश्वर इन सबका प्रमुख है।

योरप की बदइन्तज़ामी में से यह सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुमको याद रखना चाहिए कि उस वक्त कोई केन्द्रीय शासन अमली शक्ल में नहीं था। न तो पुलिसवाले थे और न इस क़िस्म की कोई दूसरी चीज थी। एक जमीन के टुकड़े का मालिक, उसका शासक और स्वामी भी था और उन सारे आदमियों का भी स्वामी था जो उस जमीन पर बसते थे। यह एक क़िस्म का छोटा-मोटा राजा माना जाता था, जो उनकी सेवाओ और लगान के बदले में उनकी रक्षा करता था। यह अपनी जमीन पर बसने वालो का राजा कहलाता था और वे लोग उसकी प्रजा या गुलाम समझे जाते थे। इसके पास जो जमीन होती थी, सिद्धान्त में वह बड़े मालिक या सामन्त की तरफ से मिली हुई समझी जाती थी, और इसी बड़े सामन्त का यह मातहत समझा जाता था और उसे फौजी सहायता देता था।

गिरजाघरो के अफसर भी इस सामन्त प्रथा के अंग माने जाते थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्त दोनो थे। जर्मनी में तो आधी जमीन और सम्पत्ति बिशप और पादरी लोगो के हाथ में थी। पोप खुद एक बड़ा सामन्त समझा जाता था।

तुम देखोगी कि यह सारी प्रणाली एक श्रेणी पर दूसरी श्रेणी तथा वर्गों से मिलकर बनी थी। इसमें बराबरी का कोई सवाल न था। असामी, प्रजा या दास सबसे नीची सतह पर होते थे और उन्हे ही इस सामाजिक ढाचे का—छोटे मालिको, उनसे बड़े सामन्तो और राजाओ का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। गिरजो का यानी—बिशपो कार्डिनलो और मामूली पादरियो, मतलब सब छोटे-बड़े कर्मचारियों का बोझ भी इन्हीं असामियो को बरदाश्त करना पड़ता था। ये सामन्त लोग, चाहे छोटे हो चाहे बड़े, अन्न या और किसी किस्म की सम्पत्ति की उपज के लिए कोई परिश्रम नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी शान के ख़िलाफ समझा जाता था। इन लोगो का ख़ास काम युद्ध था और जब कोई लड़ाई नहीं होती थी तो ये नकली लड़ाइयां लड़ते थे और टूर्नामेंट करते थे। यह अनपढ और अनगढ लोगों की एक ऐसी जमात थी जो सिवाय खाने-पीने और लड़ने के कोई दूसरा जरिया अपने मनोरंजन का नहीं जानती थी। इस तरह से अन्न और जीवन की दूसरी

जरूरतो को पैदा करने का सारा बोझ किसानो और शिल्पकारो पर पडता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह था, जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही धारणा थी। सिद्धान्त रूप से इन सामन्तो का फर्ज था कि अपने मातहतो और अपनी प्रजा की रक्षा करें, पर व्यवहार में इनके वास्ते कोई कायदा-कानून नही था। वे खुद अपने कानून थे। बडे सामन्त या राजा शायद ही कभी इनको रोक-थाम करते थे, और किसानो में इतनी ताकत नही थी कि इन मालिको की माग के खिलाफ खडे हो सकें। चूंकि ये लोग ज्यादा जबर्दस्त होते थे, अपनी प्रजा से ज्यादा से ज्यादा ले लिया करते थे और उनके पास सिर्फ इतना छोडते थे कि वे अपनी मुसीबत से भरी हुई जिन्दगी किसी तरह बिता सकें। जमीन के मालिको का यही ढंग हरेक देश में रहा है। जमीन का मालिक होना एक शराफत समझी जाती थी। लुटेरा सरदार जो जमीन को दबा बैठता था और किला बना लेता था शरीफ समझा जाने लगता था और उसकी सभी इज्जत करते थे। जमीन के मालिक होने की वजह से इन लोगो के हाथ में इख्तियार भी आजाता था। और इन भूस्वामियो ने, इस इख्तियार की वजह से किसानो से, अन्न पैदा करने वालो से, या मजदूरो से, जितना धन चूस सकते थें, चूसा। कानून भी जमीन के मालिको की मदद करता रहा है, क्योकि कानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते थे या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगो का यह ख़याल है कि जमीन किसी व्यक्ति की मिलकियत न समझी जाय, बल्कि समाज की मिलकियत हो। अगर जमीन समाज की या राष्ट्र की हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि जमीन उन सब लोगो की होगी जो उस पर बसे हैं। और ऐसी हालत में कोई भी उनको न चूस सकेगा और न उनसे कोई बेजा फ़ायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये ख़यालात उस वक्त तक पैदा नही हुए थे, जिस जमाने की हम बात कर रहे है। उस वक्त लोग इस ढग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे इससे बचने का कोई रास्ता नही दिखाई देता था। वे बेचारे इन सब बातो को बरदाश्त करते थे और आशा-शून्य परिश्रम की जिन्दगी बिताते थे। आज्ञा-पालन की आदत उनमें कूट-कूट कर भर दी गई थी और एक दफा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बरदाश्त करने लगते है। इस तरह से हम देखते है कि एक ऐसे समाज का निर्माण होने लगा, जिसमें एक तरफ तो सामन्त सरदार और उनके नौकर थे और दूसरी तरफ बेहद गरीब लोगो का झुण्ड था। सरदार के पत्थर के पक्के क़िले के चारो तरफ आसामियो के लकडी और मिट्टी के

झोपडे बन जाते थे । दो किस्म की दुनिया थी जो एक दूसरे से बिलकुल अलग थी । एक तो मालिको की दुनिया और दूसरी असामियो की । शायद स्वामी लोग यह समझते थे कि उनके असामी उनके मवेशियो से कुछ ही दर्जा ऊँचे है ।

कभी-कभी छोटे-छोटे पादरी असामियो को उनके स्वामियो के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे । लेकिन आमतौर पर पादरी स्वामियो का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि बिशप और 'एबाट' (मठाधिकारी) लोग खुद सामन्त होते थे ।

हिन्दुस्तान में इस किस्म की सामन्त-प्रथा नही थी । लेकिन इससे मिलती-जुलती प्रणाली यहाँ भी मौजूद थी । हमारी हिन्दुस्तानी रियासतो के राजा महाराजाओ ठिकानो और जागीरदारो ने बहुतेरी सामन्ती प्रथायें अब तक कायम रख छोडी है । हिन्दुस्तान की जाति-व्यवस्था ने भी, जो सामन्त-प्रणाली से बिलकुल अलग चीज थी, समाज को अनेक हिस्सो में बाँट दिया था । चीन में, जैसा मै तुम्हे बता चुका हूँ, कभी कोई निरकुशता नही रही और न इस किस्म का कोई खास अधिकार-प्राप्त वर्ग ही रहा । इम्तहान की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे से ऊँचे ओहदो का दरवाजा खोल रखा था । लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बदिशें रही होगी ।

इस तरह सामन्त प्रणाली में समता या आजादी का कोई खयाल नही था । हा अधिकार और कर्तव्य का जरूर खयाल था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने असामी से लगान और सेवा ले और वह इस बात को अपना कर्तव्य समझता था कि असामियो की रक्षा करे, लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते है और लोग अक्सर कर्तव्य भूल जाते है । आज भी कुछ यूरोपियन देशो में और हिन्दुस्तान में बडे-बडे जमींदार पाये जाते है । ये जरा भी परिश्रम किये बिना अपने किसानो से बडी-बडी रकमें लगान में वसूल करते है । लेकिन अपनी जिम्मेदारी की बात को जमाना हुआ उन्होंने भुला दिया है ।

ताज्जुब की बात है कि योरप की पुराने 'बर्बर' कबीले, जिन्हे अपनी आजादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे उस सामन्त प्रणाली के सामने झुक गये, जिसमें आजादी का नाम भी नहीं था । पहले ये कबीले अपना प्रमुख चुना करते थे और उसपर रोक-थाम भी रखते थे । लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सभी जगह निरकुशता का मन-माना शासन होने लगा । मै नही बता सकता कि यह तब्दीली क्यों आई । मुमकिन है कि गिरजाघरो से जिन सिद्धान्तो का प्रचार हुआ उनकी वजह से लोकतत्र के खिलाफ विचार जनता में फैल गये हो । राजा पृथ्वी पर

परमेश्वर का अश समझा जाने लगा और ऐसी हालत में सर्वशक्तिमान के अश से कौन हुज्जत करे और कौन उसकी हुक्म अदूली करे? इस सामन्त प्रणाली में लोक और परलोक दोनो शामिल थे।

हिन्दुस्तान में भी हम देखते है कि स्वतत्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदल गये। वे धीरे-धीरे कमजोर होते गये यहाँ तक कि बिलकुल भूल गये। लेकिन जैसा मैंने तुम्हे बताया है मध्य युग की शुरूआत में कुछ हद तक ये विचार पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिला लेखो से यह बात जाहिर होती है।

योरप में आहिस्ता-आहिस्ता एक दूसरे रूप से कुछ आजादी पैदा हुई। जमीन-मालिको के और उसपर काम करनेवाले किसानो और मजदूरो के अलावा देश में दूसरे वर्ग भी थे। जैसे व्यापारी और कारीगर। ये लोग सामन्त-प्रणाली के अग नहीं थे। अशाति के जमाने में काफी व्यापार नहीं होता था और कारीगरी का काम भी बहुत नही चलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और कुशल कारीगरो और सौदागरो को महत्व मिल गया। वे अमीर बन गये और भू-स्वामी और बडे सामन्त इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। इन लोगो ने रुपया उधार दिया लेकिन भूस्वामियो पर दबाव डाला कि वे इन्हे कुछ अधिकार दें। इन अधिकारो के पा जाने से इनकी ताक़त बढ़ गई। इस तरह से हम देखेंगे कि सामन्तो के किले के चारो तरफ मिट्टी के झोपडो के बजाय, छोटे-छोटे कस्बे पैदा होने लगे और चर्चों या गिरजाघरो, या 'गिल्ड हाल' के चारो तरफ मकानात बनने लगे। कारीगर और सौदागर अपने-अपने सघ या असोसियेशन बनाते थे और गिल्ड हाल इन सघो का केन्द्रीय दफ्तर होता था। ये गिल्ड हाल फिर टाउन हाल बन गये। शायद तुम्हे लन्दन का गिल्ड हाल देखने की बात याद हो।

ये बढते हुए शहर कोलोन, फ्रैंकफुर्त, हैम्बर्ग वगैरा सामतो की शक्ति के प्रतिद्वन्दी बन गये। इन शहरो में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो इतना अमीर था कि बडे आदमियो से टक्कर ले सके। दोनो में एक लम्बा सघर्ष शुरू हुआ। अक्सर बादशाह, इन बडे सामन्तो और भूमिपतियो के प्रभाव से डरकर, शहरो का साथ देते थे, लेकिन मैं तो आगे बढ़ता जारहा हूँ।

मैंने यह खत शुरू करते हुए तुमसे यह बताया था, कि इस जमाने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं पाई जाई थी। लोग अपने सामन्त की सेवा करना और उसके प्रति वफादार रहना ही अपना फर्ज समझते थे। वे देश की रक्षा की शपथ लेते थे। बादशाह भी एक अस्पष्ट-सा व्यक्ति था, और लोगो से बहुत दूर था। अगर कोई भूमिपति बादशाह के खिलाफ बगावत करता तो यह उसकी मर्जी की बात थी।

उसकी प्रजा को तो उसके ही पीछे चलना पडता था, और यह बात राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बिलकुल भिन्न है।

: ५४ :

चीन ख़ानाबदोशों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनो से, क़रीब एक महीने से, तुम्हे चीन के बारे में और सुदूर पूर्वी देशो के बारे में कुछ नहीं लिखा। हमने पश्चिमी एशिया, हिन्दुस्तान और योरप की कितनी ही तब्दीलियो की चर्चा की। हमने अरबो को बहुत से देशो में फैलते और उनपर विजय पाते देखा। हमने यह भी देखा कि योरप अधकार में गिर गया और फिर उससे बाहर निकलने के लिए कोशिश करने लगा। इस दरमियान चीन अपना काम चलाता रहा और अच्छी तरह चलाता रहा। सातवीं और आठवीं सदियो में तग राजाओ की मातहती में चीन ग़ालिबन दुनिया का सबसे ज्यादा सभ्य, खुशहाल और सुशासित देश हो गया था। योरप इस देश से किसी बात में भी बराबरी नहीं कर सकता था, क्योंकि योरप रोम के पतन के बाद बहुत पीछे पड गया था। इस युग में ज्यादातर उत्तरी हिन्दुस्तान कुछ ढीला पडा रहा। इस देश ने अच्छे दिन भी देखे—जैसे हर्ष के शासन-काल में लेकिन आमतौर पर यह गिरता ही जा रहा था। दक्षिणी हिन्दुस्तान अलबत्ता उत्तर से कहीं ज्यादा सजीव था और समुद्र पार के उसके उपनिवेश श्रीविजय और अगकोर एक महान् युग में दाख़िल हो रहे थे। अगर कोई हुकूमत ऐसी थी जो कुछ बातो में इस जमाने के चीन का मुकाबिला कर सके तो वह बगदाद और स्पेन की दो अरब हुकूमतें थीं। लेकिन ये दोनों हुकूमतें भी कुछ ही जमाने तक अपनी शान की चोटी पर रहीं। दिलचस्प बात यह है कि राजसिंहासन से उतारे हुए तग सम्राट् ने अरबो से मदद की अपील की थी और इन्हींकी मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस प्रकार सभ्यता में चीन उस जमाने में सबसे आगे था और उस समय के यूरोपियन लोगो को अगर अर्ध-जगलियो की जमात कहे तो ज्यादा अनुचित न होगा। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी उतने में चीन सबसे आगे था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मै इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नहीं मालूम उस समय अमरीका में क्या हो रहा था। इतना हमें जरूर पता चलता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशो में कई सौ वर्षों से सभ्यता चली आरही थी। कुछ बातो में

ये लोग ख़ासतौर से आगे बढे हुए थे। कुछ बातो में ख़ासतौर से पीछे थे। लेकिन मैं इन सब चीजो के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज्यादा कहने की हिम्मत नही कर सकता। हाँ, मै चाहता हूँ कि मैक्सिको और मध्य अमरिका की 'माया' संस्कृति और 'इनका'[१] के पेरू राज्य का ख़याल तुम मन में जरूर रखना। दूसरे लोग जो मुझसे ज्यादा जानते हैं, इनके बारे में कुछ काम की बातें तुमको बतायेंगे। इतना मैं जरूर कहूँगा कि उनकी सस्कृति ने मेरा मन मोह लिया है लेकिन मेरा जितना ज्यादा आकर्षण है उतनी ही ज्यादा इस विषय की मेरी कम जानकारी भी है।

मै चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रखो। हमने देखा है कि बहुत सी ख़ानाबदोश कौमें मध्य एशिया में पैदा हुई और वे या तो पश्चिम योरप को चली गई या नीचे हिन्दुस्तान में उतर आईं। हूण, सीथियन, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी कौमें एक के बाद एक उठीं और इनकी लहर एक के बाद दूसरी आती रही। तुम्हे सफेद हूण, जो हिन्दुस्तान आये और एटिला के हूण, जो योरप में थे, याद होगे। सेलजूक तुर्क भी, जिन्होने बगदाद के साम्राज्य पर कब्जा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्को की एक दूसरी जाति आई जिन्हे उस्मानी (Ottoman) तुर्क कहा गया है। वे आये, उन्होने कुस्तुन्तुनिया को जीता और विएना की दीवारो तक पहुँच गये। इसी मध्य एशिया या मगोलिया से भयंकर मगोल लोग भी आये थे और विजय करते हुए योरप के मध्य तक पहुँच गये थे और उन्होने चीन को भी अपने कब्जे में ले लिया था। इसी मंगोल वश के एक आदमी ने हिन्दुस्तान में एक साम्राज्य की नींव डाली और एक राज-वश चलाया जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मगोलिया की इन ख़ानाबदोश क़ौमो से चीन की बराबर लडाई होती रही, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये खानाबदोश चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्हीं क़ौमो से बचने के लिए चीन की 'बडी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नहीं कि इस दीवार से कुछ फायदा जरूर हुआ लेकिन हमलो से बचानें में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज नहीं साबित हुई। एक सम्राट् के बाद दूसरा सम्राट् इन ख़ानाबदोश क़ौमो को भगाता था, और इनके खदेडने के सिलसिले में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था, जिसके बारे में मैं तुम्हे बता

१. इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासको की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू मे 'इनकाओ' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

चुका हूँ। चीनी लोग कोई बहुत बडे साम्राज्यवादी नहीं थे। इनके सम्राटो में से कुछ जरूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशो को फतह करने की महत्वाकाक्षा रखते थे, लेकिन और कौमो के मुक़ाबिले में चीनी लोगों को शान्तिप्रिय कह सकते हैं। इन्हे विजय या लडाई प्रिय नहीं थी। चीन में विद्वानो को सैनिको से हमेशा ज्यादा आदर और मान मिलता था और इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी फैलकर बढ गया तो उसकी वजह यह थी कि उत्तर और पश्चिम की खानाबदोश कौमें चीनियो को बराबर कोचती रहती थीं और उनपर हमला करती रहती थीं। ताक़तवर सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हे बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड दिया करते थे। इस ढग से इनका सवाल हमेशा के लिए तो हल नहीं होता था, लेकिन कुछ अवकाश जरूर मिल जाता था।

पर यो चीन-निवासियो को जो कुछ अवकाश मिलता था, उसका बोझ और मुल्की और क़ौमो के मत्थे पडता था। क्योंकि जिन खानाबदोशो को चीनी भगाते थे वे दूसरे देशो पर जाकर हमला करते थे। इसी तरह ये खानाबदोश क़ौमें हिन्दुस्तान भी आई और बार-बार योरप गई। चीन के हन् सम्राटो ने हूण, तातारियो और दूसरे खानाबदोशो को अपने यहा से भगाकर दूसरे देशो में पहुचा दिया और तग राजाओ ने तुर्कों को योरप तक पहुचाया।

अभीतक तो चीनी लोग खानाबदोश कौमो से अपनी रक्षा करने में बहुत हदतक सफल रहे, लेकिन अब हम उस जमाने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नही रह सके।

तग राज-वंश, जैसा कि और राजवशो का सब जगह हाल हुआ करता है, धीरे-धीरे अनेक अकुशल राजाओ के होने की वजह से कमजोर हो गया। शान-शौकत और ऐयाशी के अलावा इनमें अपने पूर्वजो के कोई सद्‌गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई थी और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिया गया था, जिसका बोझ ज्यादातर गरीब लोगो पर पडता था। असन्तोष बढा और दसवीं सदी के शुरू में यानी ९०७ ई० में यह राज-वश खतम हो गया।

पचास बरस तक छोटे छोटे और निकम्मे शासको का ताँता लगा रहा। ९६० ई० में एक दूसरे बडे राजवश की शुरूआत होती है। इस राजवश को सग-वश कहते है और काओ-त्सू ने इसे चलाया था। लेकिन चीन की सरहदो पर, और अन्दर देश में भी, झगडे जारी रहे। किसानो पर लगान का बोझ बहुत ज्यादा था जिसके कारण वे नाराज थे। जैसा हिन्दुस्तान में है, वैसे ही चीन में भी, आराजी और लगान का बन्दोबस्त ऐसा था कि बहुत ज्यादा बोझ जनता पर पड़ जाता था और बिना इस बन्दोबस्त के बदले न तो शान्ति ही सभव थी और न तरक़्क़ी

ही हो सकती थी। लेकिन नीचे से ऊपर तक इस किस्म की तब्दीली करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगो को वर्तमान प्रणाली से मुनाफा रहता है और जब किसी तब्दीली की चर्चा शुरू होती है ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। इस किस्म की बात हमें अपने देश में, खासकर अपने प्रात में, बहुत दिखाई और सुनाई दे रही है। लेकिन अगर हम वक्त पर अकलमन्दी के साथ परिवर्तन नही करते तो परिवर्तन की यह आदत है कि वह बिना बुलाये ही आजाता है और सारा मामला गड़बडा देता है।

तग राजवश इसलिए गिर गया कि उसने जरूरी परिवर्तन नही किये। और इसी वजह से सग राजवश को भी परेशानियां रही। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ जो सफल हो सकता था। इसका नाम वाग-आन-शी था और यह ग्यारहवीं सदी में सगो का प्रधान मत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हे पहले बताया है, चीन कनफ्चूशियस के विचारो से शासित होता था। कनफ्चूशियन शास्त्र की परीक्षा सारे सरकारी अफसरो को पास करनी पडती थी और किसीकी हिम्मत नही पडती थी कि जो कुछ कनफ्चूशियस ने कहा है उसके खिलाफ बोले या करे। वांग-आन-शी ने इन सिद्धान्तो के विरुद्ध तो कुछ भी नहीं किया, लेकिन उसने इन सिद्धान्तो का बिलकुल दूसरा अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरकीबें चालाक आदमी अकसर करते हैं। वॉग के कुछ खयालात बिलकुल आजकल के से थे। उसका असली उद्देश यह था कि गरीबो के ऊपर से टैक्स का बोझ कम करके उस बोझ को अमीरो पर डाल दे जो इसे सह सकते थे। इसने लगान में कमी कर दी और किसानो को यह अख्तियार दे दिया कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पडे तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर सकते हैं। अमीरो पर इसने इन्कम यानी आमदनी पर टैक्स लगादिया। यह टैक्स नये जमाने का टैक्स समझा जाता है लेकिन हम देखते हैं कि चीन में यह नौ सो बरस पहले लगाया जा चुका था। वाँग की यह भी तजवीज थी कि किसानो की सहायता के लिए सरकार उन्हे क़र्ज़ (तक़ावी) दिया करे, जिसे फसल पर किसान लोग वापस करदें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता बढता रहता था। मालूम नहीं तुम जानती हो या नहीं कि पिछले दो साल में अनाज और खेत में पैदा होने वाली दूसरी चीजो के भाव में कमी हो जाने की वजह से हिन्दुस्तान में हमारे किसानो को कितनी मुसीबत सहनी पडी है। बाजार-भाव जब इस तरह गिर जाता है, गरीब किसानो को अपने खेतो की उपज से बहुत कम मिलता है। अपनी उपज वे बेच नही सकते फिर लगान देने के लिए या किसी चीज को खरीदने के लिए पैसे कहाँ से आवे? भारत की मौजूदा अग्रेजी सरकार से ज्यादा होशियार वाग-आन-शी ने इस समस्या को

हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज की कि अनाज के भाव को बढने-घटने से रोकने के लिए सरकार को गल्ला खरीदना और बेचना चाहिए।

वांग की यह भी तजवीज थी कि सरकारी कामो में बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी मिले। उसने स्थानीय सेना भी बनाई थी जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदकिस्मती से वाग अपने जमाने से बहुत आगे बढ़ गया था इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार खतम होगये। सिर्फ उसकी स्थानीय सेना ही ८०० वर्ष तक कायम रही।

सग लोगो में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्या उनके सामने थी उसका मुकाबिला कर सके इसलिए इन लोगो ने समस्याओ से हार मान ली। उत्तर की जगली कौमें, जिनको खितन कहते थे, इनके मुकाबिले में बहुत मजबूत थीं। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर सग लोगो ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हे किन या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद मागी। 'किन' आये और उन्होने खितन लोगो को निकाल भगाया लेकिन वे खुद ठहर गये और वापस जाने से इन्कार कर दिया। कमजोर आदमी या कमजोर देश का, जो मजबूत से मदद मागता है, अकसर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होने पेकिंग को अपनी राजधानी बना ली। सग लोग दक्षिण को हट आये और ज्यो-ज्यो किन बढते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह से उत्तर चीन में तो किन साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सग साम्राज्य। इन सगो को दक्षिणी सग कहा गया है। सग राज-वश उत्तर में ई० सन् ९६० से ११२७ तक रहा। दक्षिणी संग दक्षिण चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज्य करते रहे। १२६० ई० में मगोल आये और इनका खातमा कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन हिन्दुस्तान की तरह इसका बदला लिया और मगोलो को भी अपने अदर हजम करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन खानाबदोश कौमो के सामने पस्त हो गया, लेकिन पस्त होते-होते भी इसने उन खानाबदोशो को सभ्यता सिखाई, इसलिए चीन को इन कौमो से नुकसान नहीं पहुचा, जैसा योरप और एशिया के दूसरे हिस्सो में हुआ।

उत्तर और दक्षिण के सग राजनैतिक दृष्टि से उतने ताकतवर नहीं थे, जितने उनके पुरखा तंग लोग थे लेकिन सगो नें तगो की कला-सम्बन्धी परिपाटी क़ायमरखी और उसकी उन्नति भी की। दक्षिणी सगो की मातहती में दक्षिण चीन ने कला और कविता के मामले में बहुत तरक्की की। उनके जमाने में वहाँ बडे अच्छे चित्र खींचे जाते थे, खासकर प्राकृतिक दृश्यो के, क्योकि सग कलाकार प्रकृति के उपासक थे। चीन के

वर्तन भी कला के स्पर्श से बहुत सुन्दर बननें लगे थे। यह कला दिन-ब-दिन और अदभुत होती ही गई, और दो सौ बरस के बाद मिग सम्राटो के जमाने में वहाँ चीनी के बडे ही खूबसूरत बर्तन बनने लगे थे। मिग युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी हृदय को आनन्दित करनेवाली दुर्लभ चीज समझे जाते है।

: ५५ :

जापान में शोगन-शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब जब कि हम जापान के इतने नजदीक पहुँच गये है, इस देश की यात्रा कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हे अपनी पिछली यात्रा तो याद ही होगी। उस समय हमने देखा था कि बडे-बडे घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़ाई कर रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट् किसी ताकतवर और बडे कुटुम्ब का सरदार होने के बजाय केन्द्रीय सरकार का प्रमुख हो गया था। नारा नाम की राजधानी बसाई गई थी जिसे केन्द्रीय शक्ति का चिन्ह कहना चाहिए। इसके बाद राजधानी बदल कर क्योटो में कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नकल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत कुछ चीन से और चीन के जरिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निपन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके है कि फूजीवारा नाम के एक वंश ने इस समय सारी ताकत अपने हाथ में करली थी, और सम्राट् को कठपुतली की तरह जिधर चाहता नचाता था। दो वर्ष तक इसी तरह राज चलता रहा। आखिरकार सम्राट् लोग ऊब गये। वे गद्दी छोड़ने लगे और साधु होकर मठो में रहने लगे। लेकिन साधु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए सम्राट् को, जो उसका लड़का होता था, सलाह-मशविरा देकर शासन के कामो में बहुत दखल देते थे। इस तरीके से सम्राटो ने फूजीवारा कुटुम्ब से पैदा होनेवाली अड़चन को किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीका बहुत पेचीदा था लेकिन इससे फूजीवारा वंश के अधिकार बहुत घट गये। असली ताकत सम्राटो के हाथ होती थी, और वे एक के बाद दूसरे गद्दी से उतरकर साधु हो जाते थे। इसलिए इनको 'मठ-निवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस दरमियान दूसरी तब्दीलियाँ हुई और बडे-बडे जमींदारो का एक नया वर्ग भी पैदा हुआ। ये लोग युद्ध-कला में भी होशियार थे। फूजीवारो ने ही इन जमींदारो का निर्माण किया था और इन्हे सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे—जिसका अर्थ 'बडा नाम' है। इसी किस्म की एक श्रेणी हमारे सूबे में भी है, जो अँग्रेजो के आने से पहले पैदा हुई थी। अवध में ख़ास तौर से, जहाँ बादशाह कमजोर था, मालगुजारी वसूल करने के लिए वह आदमी मुकर्रर करता था। ये लोग छोटी-छोटी फौजें अपने पास रखते थे, जिससे मालगुजारी ज़ोर-ज़बरी से वसूल कर सके। ये आमदनी का बहुत ज्यादा हिस्सा अपने लिए ही रख लिया करते थे। यही मालगुजारी वसूल करनेवाले वढकर बडे-बडे ताल्लुकेदार हो गये है।

दाइम्यो लोग अपनी छोटी-छोटी सेनाओ और दरबारियो की मदद से बडे ताक़तवर हो गये। वे आपस में लडाई करते और क्योटो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानो में दो घराने बहुत मशहूर थे—तायरा और मिनामोतो। इन लोगो ने ११५६ ई० में फूजीवारो को दबाने में सम्राट की मदद की। लेकिन बाद को फिर यही एक दूसरे के साथ बडी कटुता से लडने लगे। तायरा लोग जीते और इस इत्मीनान के लिए कि विरोधी कुटुम्ब भविष्य में उनको परेशान न करे, उन्होने मिनामोतो कुल के लोगो को कत्ल कर दिया। उन्होने सभी प्रमुख मिनामोतो को मार डाला। सिर्फ चार बच्चे बचे, जिनमें से एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा कुटुम्ब नें मोनामोतो को एकदम ख़त्म कर देने की कोशिश तो की लेकिन पूरी तरह सफलता नहीं हुई। यह लडका योरीतोमो, जिसकी कोई हैसियत नहीं थी, तायरा कुल का सख़्त दुश्मन निकला। उसके दिल में बदला लेने की आग भडक रही थी। बडा होने पर वह अपनी अभिलाषा में सफल हुआ। उसने तायरा लोगो को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लडाई में उनको कुचल डाला। इसके बाद योरीतोमो सबसे ताकतवर हो गया और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगन' की ऊँची उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरो को दमन करने वाला महान सेनापति'। यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन करने के पूरे अख़्तियारात मिल जाते थे। असली हाकिम शोगन होता था। इस तरह से जापान में शोगन प्रणाली शुरू हुई। यह बहुत दिनो, क़रीब ७०० वर्ष तक, रही और अभी हाल तक पाई जाती थी। लेकिन जब जापान ने अपने सामन्ती दायरे से निकलकर अर्वाचीन युग में कदम रखा तब यह प्रथा ख़त्म हो गई।

लेकिन इसका यह मतलब नही है कि योरीतोमो के वंशजो ने, शोगन की हैसियत से ७०० वर्ष तक राज्य किया। उन कुटुम्बो में कई तब्दीलियां होती रही जिनसे शोगन आते थे। गृह-युद्ध बराबर होते रहे लेकिन शोगन-प्रणाली अर्थात् शोगन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अख्तियारात नही होते थे, राज्य करना, बहुत दिनो तक जारी रहा। कभी यह होता था कि शोगन भी नाम मात्र का शासक रहता था और असली ताकत चन्द अफसरो के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योटो, में विलासिता का जीवन बिताने से योरीतोमो बहुत डरता था क्योकि उसकी यह धारणा थी कि आराम और आसाइश की जिन्दगी में वह और उसके साथी कमजोर पड़ जायेंगे। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई और पहला शोगन-शासन 'कामाकुरा शोगनत्व' कहलाता है। यह १३३३ ई० तक यानी करीब १५० वर्ष तक रहा। इस युग के अधिकाश भाग में जापान में शांति रही। कई वर्षो के गृह-युद्ध के बाद शाति के आने से उसका लोगो ने बहुत स्वागत किया और सम्पन्नता का युग शुरू हुआ। इस जमाने में जापान की हालत उस समय के योरप के किसी भी देश की हालत से बेहतर थी और इसका शासन भी कहीं ज्यादा अच्छा था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालाकि दोनो के दृष्टिकोण में बहुत फर्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन मौलिक रूप से शान्ति-प्रिय और सौम्य लोगो का देश था। इसके विरुद्ध जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिको को नीची निगाह से देखते थे और सिपहगिरी का पेशा शरीफ पेशा नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के आदमी सिपाही होते थे और सैनिक सरदार या दाइम्यो आदर्श पुरुष समझा जाता था। शायद हिन्दुस्तान की तरह चीन भी इतना बुड्ढा हो गया था कि उसमें से युद्ध की प्यास जाती रही थी। बुढापे में सभी, आम तौर से, शान्ति और आराम चाहते है।

इस प्रकार चीन से जापान ने बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने तरीके से और हरएक चीज को उसने अपने जातीय साचे में ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा, जो चीनी जहाजो के जरिये से हुआ करता था। तेरहवीं सदी के अन्त में इस बात में एकदम से रुकावट आगई, क्योकि मगोल चीन और कोरिया में पहुँच गये थे। मंगोलो ने जापान को भी जीतने की कोशिश की लेकिन पीछे हटा दिये गये। इस तरह से जिन मगोलो ने एशिया की कायापलट कर दी और योरप को हिला दिया, जापान पर उनका कोई खास असर न पड सका। जापान पुराने रास्ते पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभाव से पहले की अपेक्षा और भी दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी इतिहास में एक कहानी है कि इस देश में कपास का पौधा पहले पहल कैसे आया। कहते है कि कुछ हिन्दुस्तानी, जिनका जहाज जापानी किनारे के नजदीक डूब गया था, ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये।

चाय का पौधा इसके बाद आया है। पहले-पहल यह पौधा नवीं सदी की शुरू-आत में आया था लेकिन उस समय इसको सफलता नहीं मिली। ११९१ ई० में एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था, इसके बाद चाय बहुत लोक-प्रिय हो गई। चाय पीने की वजह से सुन्दर चीनी के बर्तनो की माग बढी। तेरहवीं सदी के आख़ीर में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए, एक जापानी कुम्हार चीन गया था और वह ६ वर्ष तक वहाँ रहा। वापस आने पर उसने सुन्दर जापानी सफेद मिट्टी के बर्तन बनाने शुरू किये। जापान में आज कल चाय पीना एक कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार लगा रहता है। अगर तुम कभी जापान जाओ तो ठीक ढग से चाय पीना, नहीं तो जगली समझी जाओगी।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हे बरेली जेल से खत भेजा था। उसी दिन शाम को मुझ से अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नहीं, बल्कि दूसरी जेल को मेरा तबादला किया जारहा था। इसलिए मैंने बैरक के अपने उन साथियो से बिदा ली, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने तक रहा था। मैंने उस बडी २४ फीट की दीवार पर आख़िरी नज़र डाली, जिसकी छाया में इतने दिन रहा था, और थोडी देर के लिए बाहर की दुनिया देखने के वास्ते मैं निकल पड़ा। हम दो आदमी तब्दील किये जा रहे थे। अधिकारी हमें बरेली स्टेशन नहीं ले गये, कि कहीं लोग हमें देख न ले, क्योंकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे। कहीं ऐसा न हो कि लोगो की हम पर नजर पड जाय! मोटर से ५० मील का फासला तै करके हमें उजाड़खड में एक छोटे से स्टेशन पर ले आया गया। इस सैर के लिए मैं बहुत एहसानमन्द हुआ, क्योंकि कई महीनो के एकान्त के बाद रात की ठडी हवा और धुन्धलेपन में आदमी, जानवरो, और पेडो की तेज़ी से भागती हुई शक्ले देखनें में बडी भली मालूम होती थी।

हम लोग देहरादून लाये जारहे थे। तडके ही, जबकि हम अपने सफर की आख़िरी मंजिल तक नही पहुँचे थे, हम लोग गाडी से उतार लिये गये, और मोटर पर बिठाकर रवाना कर दिये गये, ताकि कहीं कोई हमें देख न ले।

और इस तरह अब मैं देहरादून के छोटे से जेल में बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ उतनी गर्मी नही, और टेम्परेचर बरेली की तरह ११२° तक नहीं पहुँचता। हमारे चारो तरफ की दीवारे भी नीची है, और उनके ऊपर सिर उठा कर हमारी तरफ झाकते हुए पेडो में भी कुछ ज्यादा हरियाली है। दीवार के ऊपर से नजर दौडाता हूँ, तो दूर पर एक खजूर के पेड की चोटी दिखाई देती है, इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेडो के पार, चन्द ही मील के फासले पर, पहाड़ है, और इन पहाडो की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं पहाडो को नहीं देख सकता, क्योकि पेडो ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाडो के नजदीक रहना और रात को यह कल्पना करना, कि दूर मसूरी के चिराग टिमटिमा रहे है, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन ? जब मैंने इन ख़तो के लिखने का सिलसिला शुरू किया था, उस वक्त तुम मसूरी में थी। इन तीन या चार वर्षों में कितनी-कितनी बाते हो गई, और तुम कितनी बडी होगई हो। रह-रहकर और कभी-कभी बहुत अवकाश के बाद मैंने इन ख़तो को जारी रखा, ज्यादातर जेल से ही लिखे भी। लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूँ उतना ही मैं अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ। मैं डरने लगता हूँ, कि कहीं ऐसा न हो कि ये खत तुम्हे नापसन्द हों, और तुम्हारे लिए बोझ हो जायें। ऐसी हालत में इन ख़तो को क्यो जारी रखू ?

मै बहुत चाहता था कि तुम्हारे सामने पुराने जमाने की साफ-साफ तस्वीरे रखू, ताकि तुम्हे यह पता चल सके, कि हमारी यह दुनिया धीरे-धीरे किस तरह बदली, कैसे बढी और विकसित हुई, और कैसे कभी-कभी जाहिरा पीछे हटी है। मेरी इच्छा थी कि तुम्हे यह पता चल जाय कि पुरानी सभ्यतायें किस किस्म की थीं, वे लहरो की तरह कैसे उठीं, और फिर बैठ गई, और तुम समझने लगो कि इतिहास की नदी किस प्रकार बराबर युग-युगान्तर से बहती हुई चली आरही है, और किस प्रकार इसकी धारा में भवर पैदा हुए, लहरें उठीं, बहुत-सा पानी लहर के साथ बह गया और कुछ पानी पीछे रह गया, और कैसे यह अभी तक अज्ञात समुद्र की तरफ बहती हुई चली जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हे मनुष्य के पद-चिन्हो पर ले चलू और यह दिखाऊँ कि शुरू से, जबकि वह मुश्किल से मनुष्य कहला सकता था, आज तक, जब वह अपनी बड़ी सभ्यता पर, ज्यादातर बेवकूफी और

प्रमादवश, अपनेको बहुत कुछ समझने लगा है, वह कौन-कौन सी हालतो में से से गुजरा है। हम लोगो ने शुरू इसी तरह से किया था। तुम्हे याद होगा, मसूरी के दिनो में, हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी, कि पहले-पहल खेती और आग का आविष्कार कैसे हुआ, लोग कस्बो में कैसे बसे और श्रम का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यो-ज्यो हम आगे बढते गये, साम्राज्यो और इसी किस्म की चीजो में उलझते गये, और अपना रास्ता खो बैठे। अभी तक हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे है। मैने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओ का एक ढांचा ही रखा है। मै चाहता हूँ कि इस ढाचे के ऊपर मास और खून चढ़ा दूं, जिससे तुम्हारे लिए एक जीती-जागती और शक्तिमान मूर्ति तैयार हो जाय।

मगर मुझे डर है कि मुझमें वह ताकत नहीं है। और तुम्हें घटनाओ के ढाचे में जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पडेगा। फिर सवाल उठता है कि जब यह बात है तब मै तुम्हें ये ख़त क्यो लिखूं। प्राचीन इतिहास की अनेक अच्छी किताबें तो तुम खुद ही पढ सकती हो, फिर भी इन सन्देहो के बीच भी मैने ये ख़त लिखना जारी रखा है और मेरा ख्याल है कि मै इसे आगे भी जारी रखूंगा। मुझे याद है कि मैने तुमसे इन ख़तो के लिखने का वादा किया था और इस वादे को पूरा करने की कोशिश करूंगा। लेकिन एक दूसरी बात भी है जो मेरे ऊपर इससे ज्यादा प्रभाव रखती है। जब मै इन्हे लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक दूसरे से बातें कर रहे है, तो उस समय मुझे बडी खुशी होती है।

जिस समय से मनुष्य जगल के अन्दर से लुढकता और ठोकरें खाता हुआ बाहर निकला उस समय से उसकी यात्रा की घटनायें मैने ऊपर लिखी है। उसका यह रास्ता हजारो वरसो का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगान्तरों से इसका मुकाबिला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हम लोगो के लिए उन तमाम बडे-बडे जानवरो के मुक़ाबिले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य स्वभावत अधिक दिलचस्पी की चीज है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज लाया जो दूसरो में नहीं पाई जाती थी। अर्थात् बुद्धि और कौतूहल, खोजने की और सीखने की इच्छा। इस प्रकार आदमी की खोज आदि से शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने चारो ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है। आदमियो को और दूसरी चीजों को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे बहुतसी बाते सीखता है। किसी छोटी लडकी को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त है और उसकी मानसिक बाढ अच्छी हुई है तो

वह कितनी ही बातो के बारे में कितने ही सवाल करेगी ? यही हाल इतिहास के प्रभात काल में था। आदमी उस समय बच्चा था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी। उसने अपने चारो तरफ घूरकर देखा होगा और सवालात पूछे होंगे। लेकिन वह अपने सिवा सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नही था। हाँ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज थी--बुद्धि। उसकी मदद से, धीरे-धीरे और तकलीफ के साथ, वह अपने अनुभवो को इकट्ठा करता गया और उनसे सीखता गया। इस तरह शुरू के जमानें से आजतक आदमी की खोज जारी रही है। उसने बहुत-सी बाते मालूम करलीं और बहुत-सी बाते अभी मालूम करने को हैं। जैसे-जैसे वह अपने रास्ते पर आगे बढ़ता है उसे नये और लम्बे-चौडे मैदान सामने मिलते हैं जिनसे उसे यह पता चलता है कि वह अब भी अपनी खोज की आख़िरी मंजिल से--अगर इस खोज की आख़िरी मंजिल हो सकती है--बहुत दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और वह किधर की तरफ जारहा है ? हजारो वर्षों से आदमियों ने इन प्रश्नो का उत्तर देने की कोशिश की है। धर्म, फिलासफी और विज्ञान ने इन प्रश्नो पर विचार किया और बहुत-से जवाब दिये, लेकिन इन जवाबो से मैं तुम्हे परेशान नहीं करूँगा, इसलिए कि मैं खुद भी उन्हे नही जानता। लेकिन मुख्यत धर्म ने अपनें ढग पर इन सवालो का पूरा-पूरा जवाब देने की कोशिश की है। अक्सर बुद्धि की धर्म ने परवाह नहीं की और अपने निश्चयो को मनवाने में कई तरीको का इस्तैमाल किया है। विज्ञान ने संदिग्ध और शंका-पूर्ण उत्तर दिया है, क्योकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह किसी बात में अपने को निर्भ्रान्ति या भ्रम-रहित नहीं समझता। वह प्रयोग करता है और अक्ल लगाता है और मनुष्य के मष्तिस्क पर भरोसा करता है। मुझे तुमसे इस बात के कहने की जरूरत नही कि मैं विज्ञान को और वैज्ञानिक ढग को ज्यादा पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के इन सवालो का जवाब निश्चयपूर्वक न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते है कि यह खोज दो ढग पर चली है। मनुष्य ने अपने अन्दर भी ढूँढा है और अपने बाहर भी। उसने प्रकृति को भी समझना चाहा है और अपने को भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योकि आदमी खुद प्रकृति का एक अंग है। हिन्दुस्तान और यूनान के पुराने फिलासफरो ने कहा है--अपनें को जानो। और उपनिषद में ज्ञान के लिए प्राचीन आर्य भारतीयो के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नो का हाल मिलता है। विज्ञान अब तो अपने पख और आगे पसार रहा है और इन दोनो रास्तो की खोज की जिम्मेदारी ले रहा है और उनको एक

दूसरे से मिला-जुला रहा है। विज्ञान एक ओर तो बहुत दूर के प्रकाश के सितारे की खोज आत्म-विश्वास के साथ करता है, और दूसरी ओर हमें उस आश्चर्यजनक नन्हीं-नन्हीं चीजो अर्थात् अणुओ, परमाणुओ और विद्युत्कणो के बारे मे भी बताता है जो बराबर हरकत कर रही है और जिनसे सारी प्रकृति बनी हुई है।

आदमी की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में बहुत दूर तक पहुँचा दिया है। मनुष्य ने जितना ही ज्यादा प्रकृति को समझा उतना ही उसने उससे फायदा उठाया और उसे अपने मतलब के लिए काम में लाया। इस प्रकार उसके हाथ में बहुत ज्यादा ताक़त आ गई। लेकिन अभाग्य-वश इस नई ताकत को उसने ठीक ढग से इस्तैमाल नहीं किया और अकसर बेजा इस्तैमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान से ख़ास तौर से भयकर अस्त्र-शस्त्र बनाने का काम लिया है, जिनकी मदद से वह दूसरे मनुष्य को मार सके, और उसी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर डाले, जिसके बनाने में उसने इतनी मेहनत की है।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

११ जून, १९३२

अब यह मुनासिब मालूम होता है कि हम थोडी देर के लिए ठहर जायें और जिस मजिल पर पहुँचे है वहाँ से चारो तरफ नजर डाल लें। हम कितनी दूर पहुँचे, है, इस समय कहा है और दुनिया कैसी दिखती है ? आओ हम अलादीन की जादुई क़ालीन पर बैठें और उस समय की दुनिया के मुख़्तलिफ हिस्सो की थोडी देर के लिए सैर कर आवें।

हम ईसाई सन् के पहले हजार वर्ष तक पहुँच गये है। कुछ देशो में हम जरा आगे बढ गये है और कहीं इससे कुछ पीछे भी है।

हम देखते है कि एशिया में इस समय चीन सग राज्यवश के अधीन था। महान् तग वश ख़त्म हो चुका था और सगों को एक तरफ घरेलू झगडो का सामना करना पडा और दूसरी तरफ उत्तर के 'बर्बर' ख़ितनो के विदेशी हमले को झेलना पडा। डेढ सौ वर्ष तक उन्होंने मुकाबिला किया, लेकिन फिर कमजोर पड गये और एक दूसरी वहशी कौम 'किन' लोगों से, जिन्हे 'सुनहरे तातारी' भी कहते थे, मदद माँगनी पडी। किन आये, लेकिन वहीं ठहर गये और बेचारे सगो को सिकुडकर दक्षिण चले जाना पडा, जहाँ दक्षिण सगो के नाम से उन्होंने डेढ़ सौ वर्ष तक और

राज्य किया। इस बीच में वहा सुन्दर कलायें, चित्रकारी और चीनी बर्तन बनाने की कला की खूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और सघर्ष के युग के बाद ९३५ ई० में एक सयुक्त स्वतंत्र राज्य बना और यह बहुत दिनो, करीब साढे चार सौ वर्ष तक, कायम रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-पद्धति के बारे में बहुत कुछ सीखा, धर्म और थोडी बहुत कलायें चीन होकर हिन्दुस्तान से कोरिया और जापान को गई पूरब दिशा में बहुत दूर पर स्थित जापान एशिया के संतरी की तरह दुनिया से बिलकुल अलग अपनी जिन्दगी गुजारता था। फूजीवारा कुटुम्ब सबसे श्रेष्ठ था और सम्राट्, जो हाल ही में एक कुल के प्रमुख से जरा कुछ ज्यादा हैसियतवाले हो गये थे, फूजीवारो के मुकाबिले में हल्के पड़ने लग गये थे। इसके बाद शोगन आये।

मलेशिया में हिन्दुस्तानी उपनिवेश विकसित हो रहे थे। विशाल अगकोर कबोडिया की राजधानी था और यह राज्य अपने वैभव और शक्ति की चोटी पर था। श्रीविजय सुमात्रा में एक बौद्ध साम्राज्य की राजधानी थी। इस साम्राज्य का सब पूर्वी टापुओ पर अधिकार था, और इन टापुओ में आपस में बहुत बडा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके श्रीविजय से व्यापार के लिए और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए होड़ करते हुए उसके साथ भयकर लडाई में उतरनेवाला था। और जैसा कि व्यापार के लिए आजकल की यूरोपियन कौमें करती है, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

हिन्दुस्तान में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये जितने कुछ दिनो से कभी नहीं रहे थे। उत्तर पर मुहम्मद गजनवी बार-बार धावा मारता था और उसे लूटता और तबाह करता रहता था। हर बार बहुत-सा धन वह अपने साथ ले जाता था। उसने पजाब को अपने राज्य में मिला लिया था। पर दक्षिण में हम देखते हैं, कि चोल साम्राज्य बढ रहा था और राजराजा तथा उसके लडके राजेन्द्र की मातहती में प्रभावशाली होता जाता था। उन्होने दक्षिणी भारत पर कब्जा कर लिया था और उनकी जल सेनायें अरब समुद्र और बंगाल की खाडी पर हावी थी। लका, दक्षिण बरमा और बगाल पर भी इन्होंने उनपर हमला किया था और वहाँ अपनी फौजें ले गये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हमें बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य का कुछ बचा-खुचा हिस्सा मिलता है। बगदाद अभी तक हरा-भरा था और नये शासक, यानी सेलजूक तुर्कों, की मातहती में उसकी ताक़त बढ़ रही था। लेकिन पुराना

साम्राज्य कई राज्यो में बँट गया था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नही रह गया था अब वह केवल कई देशो और जातियो का मजहब था। अब्बासिया साम्राज्य के खडहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई। इस पर महमूद राज्य करता था और यहां से वह हिन्दुस्तान पर टूटता रहता था। हालाकि बग़दाद का साम्राज्य टूट गया था, बग़दाद खुद अभीतक बहुत-बडा शहर बना हुआ था, जहाँ दूर-दूर से विद्वान और कलाकार खिच-खिचकर जाते थे। मध्य एशिया में उस समय कई बडे और मशहूर शहर थे जैसे बुख़ारा, समरकन्द, बलख़ वगैरा। इन शहरो में खूब व्यापार हुआ करता था और बडे-बडे कारवाँ व्यापार का माल लाया और ले जाया करते थे।

मगोलिया में और इसके चारो तरफ ख़ानाबदोशो की क़ौमें, तादाद में और ताकत में बढ रही थीं। २०० वर्ष बाद ये एशिया के ऊपर टूटनेवाली थीं। उस समय भी मध्य और पश्चिमी एशिया में जितनी प्रभावशाली कौमें थीं सभी खानाबदोशो की जन्मभूमि मध्यएशिया के इसी टुकडे से आई थी। चीनियो ने इन्हे पश्चिम की तरफ भगा दिया था। कुछ तो इनमें से हिन्दुस्तान चली गई थी और कुछ योरप। इसी समय सेलजूक़ तुर्क पश्चिम की ओर खदेड दिये गये। इन्होने बगदाद के साम्राज्य की किस्मत जगाई, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उस पार मिस्र था जो बगदाद से बिलकुल आजाद था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को एक अलग ख़लीफा घोषित कर रखा था। उत्तरी अफरीका एक स्वतत्र मुसलमानी राज्य की मातहती में था। जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के उस पार स्पेन में एक स्वतत्र मुस्लिम राज्य था, जिसे क़ुर्तुबा या 'कार्डोबा की अमारत' कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हें बाद को कुछ बताऊंगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि स्पेन ने अब्बासिया ख़लीफो की मातहती क़बूल नहीं की थी। उस समय से यह देश स्वतत्र ही था। फ्रांस को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्टल ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था और अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यो की बारी थी कि मुसलमानो पर हमला करें। और ज्यो-ज्यो जमाना गुजरा इन ईसाई राज्यो के हमलो में जोर भी आता गया। लेकिन जिस वक्त की बात हम कर रहे है, उस वक्त कारडोबा की अमारत एक बडा और उन्नतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में योरप के और देशो से कहीं आगे था।

स्पेन को छोडकर योरप कई ईसाई राज्यो में बँटा था। इस समय तक ईसाई धर्म सारे महाद्वीप में फैल चुका था और देवी-देवताओ के मजहब योरप से

करीब-करीब गायब हो चुके थे। आज-कल के यूरोपियन देशो की शक्ल-सूरत बनने लगी थी। ९८७ ई० में ह्यू कैपेट की मातहती में फ्रास सामने आया। डेन कैन्यूट, जो इस बात के लिए मशहूर है कि उसने समुद्र की लहरो को पीछे हट जाने का हुक्म दिया था, १०१६ ई० में इग्लैण्ड में राज्य करता था। ५० वर्ष बाद नारमडी से 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अग था, लेकिन एक राष्ट्र बनता जाता था। हालाँकि वह बहुतेरी छोटी-छोटी रियासतो में बँटा था। रूस पूरब की तरफ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाजो से अकसर भयभीत किया करता था। यह उस आश्चर्य-जनक मोह और आकर्षण की शुरुआत थी जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। इस बडे शहर के पाने की अभिलाषा एक हजार वर्ष से रूस अपने दिल में पालता रहा है और उसे उम्मीद थी कि महायुद्ध के खतम होने पर, जो १४ वर्ष हुए बन्द हुआ, यह शहर उसे मिल जायगा, लेकिन एक दम से क्रान्ति पैदा हो गई और पुराने रूस के सारे मनसूबे गडबड़ा गये।

९०० वर्ष पुराने योरप के नकशे में तुम्हे पोलैण्ड और हगरी भी मिलेंगे। इन देशो में 'मगियार' लोग रहा करते थे और तुम्हे बलगेरियन और सर्व लोगो के राज्य भी इस नकशे में दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी जिसे चारो ओर से उसके अनेक दुश्मन घेरे हुए थे लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियो ने उसपर हमला किया। बलगेरियन लोगो ने उसको परेशान किया और नार्मन, समुद्र के रास्ते बराबर उसे दिक करते रहे। सब से ज्यादा ख़तरनाक सेलजूक तुर्क निकले जिन्होने उसकी जिन्दगी खतम कर देनी चाही। लेकिन यह साम्राज्य इन दुश्मनो के, और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयो के, बावजूद भी और ४०० वर्षो तक जिदा रहा। इस आश्चर्यजनक मजबूती की एक वजह यह भी है कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत दृढ़ थी। यह ऐसी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इस पर कब्जा करना मुश्किल था। इस साम्राज्य के इतने दिनो तक न टूटने की दूसरी वजह यह भी थी कि यूनानियो ने रक्षा करने का एक नया ढग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसी रासायनिक चीज़ थी कि पानी के छूते ही जलने लगती थी। इस 'यूनानी आग' के जरिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग उनपर हमला करनेवाली सेनाओ को, जो बास्फोरस पार करके आती थीं, तहस-नहस कर देते थे, और उनके जहाजो को जला दिया करते थे।

ईसवी सन् के १००० बरसो के बाद योरप का यह नकशा था। उसी वक़्त नार्मन लोग अपने जहाजो में आ रहे थे और भूमध्य सागर के किनारे के शहरो को

और समुद्र के जहाजो को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये कुछ शरीफ भी होते गये। फ्रास के पश्चिमी हिस्से, नारमडी, में वे बस गये थे। फ्रास के अपने इस आधार से उन्होने इग्लैंड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होने मुसलमानो से छीन-लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोडकर उन्होंने 'सिसीलिया' का राज्य कायम कर दिया था।

योरप के मध्य में, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का फैलाव था और इसमें बहुत सी रियासते थीं जिनका प्रमुख सम्राट् हुआ करता था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान जारी रहती थी। कभी सम्राट् और कभी पोप हावी हो जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे पोपो की ताकत बढ गई। लोगो को जाति से निकाल देने की धमकी का भयकर शस्त्र पोप के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को इतना जलील किया कि उसे नगे पाँव बर्फ में माफी मागने के लिए पोप के पास जाना पडा था और कनौजा (जो इटली में है) में पोप के निवासस्थान के बाहर उस समयतक खडे रहना पडा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर दाखिल होने की इजाजत नहीं दी।

हम देख रहे है कि इस समय योरप के देश एक खास शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज से बिलकुल जुदे थे—खासकर उनकी प्रजा आज से बिल्कुल भिन्न थी, ये लोग अपने को फ्रासीसी, अग्रेज या जर्मन नहीं कहते थे। गरीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे, सिर्फ इतना जानते थे कि हम अपने मालिक के असामी है और अपने मालिक के हुक्म के मुताबिक हमें चलना चाहिए। सरदार या सामन्त अपने को किसी न किसी जगह का मालिक समझते थे और किसी बडे राजा या बादशाह की मातहत हुआ करते थे। यही सामन्त-प्रणाली थी जो सारे योरप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और खासतौर से उत्तर इटली में, बडे-बडे शहर बढने लगे। पेरिस उस वक्त भी एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और तिजारत के केन्द्र थे, और वहाँ बहुत धन इकट्ठा हो जाता था। फिर ये शहर सामन्तो को पसन्द नहीं करते थे और हमेशा इन दोनो के बीच झगडे हुआ करते थे। अन्त में पैसे की जीत हुई। अपने पैसे की मदद से, जिसे वह मालिको और जमींदारो को उधार देते थे, इन लोगो ने अधिकार और रिआयते खरीदी। और इस तरह धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया जिसकी सामत-प्रणाली से कभी नही पटी।

इस तरह से हम देखते है कि योरप के समाज में सामन्त पद्धति के ढग पर बहुत सी तहें पाई जाती थीं। पादरी लोग भी इस प्रणाली को आशीर्वाद देते थे

ओर स्वीकार करते थे। राष्ट्रीयता की कोई भावना नही पाई जाती थी। लेकिन सारे योरप, ख़ासकर ऊँचे वर्ग में, ईसाइयत और ईसाई राज्य की भावना ज़रूर थी। यह एक ऐसी भावना थी जिससे योरप की सारी ईसाई कौमें बँधी हुई थी। पादरियो ने इस विचार के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे उनको ताकत मिलती थी और रोमन पोप के अख़्तियार बढ़ जाते थे, जो उस वक्त तक पश्चिमी योरप में पादरी-समुदाय का मुखिया हो चुका था। तुमको यह भी याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया से अलग हो चुका था। कुस्तुन्तुनिया में वही पुराना कट्टर चर्च जारी रहा और रूस ने अपना मजहब कुस्तुन्तुनिया ही से सीखा। कुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नही मानते थे।

लेकिन खतरे के मौक़े पर, जब कुस्तुन्तुनिया को दुश्मनो ने घेर लिया और खास कर सेलजूक तुर्कों ने इस पर हमला किया, वह रोम के प्रति अपनी घृणा और अपने अभिमान को भूल गया, और उसने मुसलमान काफिरो के खिलाफ पोप से मदद मागी। उस वक्त रोम में एक मशहूर पोप मौजूद था। उसका नाम हिल्डेब्रेण्ड था और बाद को वह पोप ग्रिगोरी सप्तम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी हिल्डेब्रेण्ड के सामने कनोज़ा में अभिमानी जर्मन सम्राट् नगे पैर गिरती हुई बरफ में हाजिर हुआ था।

उस समय एक दूसरी घटना हो गई थी जिससे ईसाई ससार में कुछ उत्तेजना थी। बहुत से श्रद्धालु ईसाई विश्वास करते थे कि ईसा के ठीक हजार वर्ष के बाद दुनिया एकदम से ख़त्म हो जायगी। 'मिलेनियम' लफ्ज के मानी 'एक हजार वर्ष' हैं। यह शब्द दो लैटिन शब्दो से मिलकर बना है। 'मिले' (Mille) का मतलब हजार है और 'एनस' (annus) साल को कहते है। चूंकि एक हजार वर्ष के बाद दुनिया के ख़ातमे की उम्मीद की जाती थी, इस लिए 'मिलेनियम' शब्द का मतलब हो गया—'एकदम से तब्दील होकर बेहतर दुनिया का आजाना।' मैंने तुम्हे बताया है कि योरप में उस वक्त बडी मुसीबत थी और मिलेनियम के आने की आशा में बहुत से थके हुए लोगो को शान्ति मिलती थी। मिलेनियम के आने पर बहुत से लोगो ने अपनी जमीनें बेंच डालीं। और पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) को चले गये ताकि जब दुनिया का ख़ातमा हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद हो।

लेकिन दुनिया का ख़ातमा नही हुआ और उन हजारो यात्रियो को, जो जेरुसलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया, और सताया। अपमान से दु खी और गुस्से मे भरे हुए ये लोग योरप लौटे और अपने पवित्र देश में इनको जो तकलीफें हुई थी उसके क़िस्से सारे योरप में फैलाने लगे। एक मशहूर तीर्थयात्री 'साधु पीटर', हाथ

में डडा लिये हुए, चारो तरफ यही प्रचार करता फिरता था कि जेरूसलम के पवित्र नगर को मुसलमानो से छीनना चाहिए। इससे ईसाई ससार में घृणा और जोश बहुत बढ गया। और यह देखकर पोप ने इस आन्दोलन को खुद चलाने का निश्चय किया।

इसी वक्त विधर्मियो के खिलाफ सहायता के लिए कुस्तुन्तुनिया से प्रार्थना आई। सारा ईसाई-ससार, रोमन और यूनानी दोनों, बढते हुए तुर्कों के खिलाफ मिल गया। १०९५ में पादरियो की एक बडी परिषद् में यह तय हुआ, कि जेरूसलम के पवित्र शहर को मुसलमानो से छीनने के लिए एक धार्मिक युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह से 'क्रूसेड' (जिहाद)की लडाई शुरू हुई यानी इस्लाम के खिलाफ ईसाइयत, और हिलाल (अर्धचन्द्र) के खिलाफ सलेब (क्रॉस) का सग्राम शुरू हुआ।

: ५८ :

एशिया और योरप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने दुनिया का—यानी एशिया, योरप और थोडा-सा अफरीका का—अपना सक्षिप्त सिहावलोकन खतम कर दिया, और ईसा के बाद हजार वर्ष के अन्त तक पहुँच गये। लेकिन आओ, हम एक बार और इस पर नजर डाल ले।

पहले एशिया को ले। हिन्दुस्तान और चीन की पुरानी सभ्यता अभी तक यहाँ जारी थी, और उन्नति कर रही थी। हिन्दुस्तानी सस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी, और वहाँ उससे बहुत अच्छे परिणाम निकल रहे थे। चीनी सस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हद तक मलेशिया, में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरबस्तान, फिलस्तीन, सीरिया और इराक में अरबी सस्कृति का प्रसार था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का सम्मिश्रण था। मध्य एशिया के कुछ देशो ने भी इस ईरानी-अरबी सस्कृति के मिले-जुले रूप को इख्तियार कर लिया था, और उन पर हिन्दुस्तान और चीन का भी असर पडा था। इन देशो में एक ऊँचे दरजे की सभ्यता मौजूद थी। व्यापार, विद्या और कलाओ की उन्नति भी हो रही थी। बडे-बडे शहरो की बहुतायत थी और उसके मशहूर विश्व-विद्यालयो में दूर-दूर से विद्यार्थी आया करते थे। सिर्फ मलेशिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्से में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का पाया कुछ नीचा था।

अब योरप को लो। एशिया के उन्नतिशील देशो के मुक़ाबिले में यह पिछडा हुआ और आधा-जगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने जमाने की एक यादगार

रह गई थी। विद्या की कद्र नही थी, और न कला का ही ज्यादा प्रचार था। एशिया के मुकाबिले यहां व्यापार भी बहुत कम था। सिर्फ दो चमकनेवाली जगहे थी। एक तो स्पेन, जो अरबो की मातहती में था, और अरबो के शानदार जमाने की परिपाटी को कायम रखे हुए था। दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरते हुए भी, अभी तक, एशिया और योरप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। योरप के ज्यादातर हिस्सो में अक्सर अशाति रहा करती थी। सामन्त-प्रणाली के नीचे, जो योरप में सब जगह पाई जाती थी, हरेक सरदार और सामन्त अपनी रियासत का छोटा-मोटा बादशाह हुआ करता था। एक ऐसा समय आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की वह पुरानी मशहूर राजधानी रोम एक मामूली गाव के बराबर हो गया, और उसके पुराने 'कोलोजियम' (बडे अखाडे) में जगली जानवर रहने लगे। लेकिन यह फिर बढ़ने लगा था !

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के योरप और एशिया का मुकाबिला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब हम फिर नज़र डाले, और मामलो की तह में जाकर देखने की कोशिश करे। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले को एशिया की हालत जितनी अच्छी दिखाई देगी, असल में उतनी अच्छी नही थी। हिन्दुस्तान और चीन, प्राचीन सभ्यता के दो जन्म-स्थान, परेशानी और आफत में फँसे हुए थे। इनकी परेशानी सिर्फ यह नही थी कि बाहर से इन पर हमले होते थे। इनकी परेशानी इससे ज्यादा असली थी, और इनकी अन्दरूनी जिन्दगी और ताकत को चूस रही थी। पश्चिम में, शानदार जमाने का खातमा हो रहा था। यह सच है कि सेलजूको की ताकत बढ़ रही थी, लेकिन उनका उदय सिर्फ उनके सैनिक गुणो की वजह से हो रहा था। हिन्दुस्तानी, चीनी, ईरानी या अरबो की तरह इनको एशिया की सभ्यता का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। ये एशिया की सिपहगिरी और उसके सामरिक गुणो के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी सभ्य कौमें सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। अन्दर से उनका आत्म-विश्वास जाता रहा था और ये लोग सिर्फ अपने को बचाये रखना चाहते थे। नई कौमें पैदा हुई, जिनमें ताकत थी और जो उत्साह से भरी थी। इन कौमो ने एशिया की पुरानी जातियो को जीत लिया, और योरप को भी डराने लगीं। लेकिन इनके साथ सभ्यता की कोई नई लहर नहीं आई और न इनसे संस्कृति को कोई नया प्रोत्साहन मिला। पुरानी कौमो ने धीरे-धीरे इन नई कौमो को सभ्य बनाया और अपने इन विजेताओ को हज़म कर गई।

इस तरह से हम देखते हैं कि एशिया के ऊपर एक बडी तब्दीली आने लगी

थी। पुरानी सभ्यतायें क़ायम थीं, ललित कलायें फूल-फल रही थी, विलासिता में नज़ाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाडी कमज़ोर पड रही थी और जिन्दगी की सांस धीरे-धीरे मन्द पडती जाती थी। ये सभ्यतायें बहुत दिनो तक कायम रही। सिवा अरबस्तान और मध्य एशिया के, जब वहा मगोल लोग आये थे, कहीं दूसरी जगह न तो ये सभ्यतायें ख़तम हुई, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे इन सभ्यताओ ने मुरझाना शुरू किया, और अन्त में वे एक रँगी हुई तसवीर की तरह बन गईं जो दूर से देखने में तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन उसमें जान नहीं थी। और अगर कोई नजदीक आकर देखता तो मालूम होता कि उसको दीमकें चाटती जा रही हैं।

साम्राज्यो की तरह सभ्यताओ का पतन भी, बाहर के दुश्मनो की ताक़त की वजह से इतना नहीं होता, जितना अन्दरूनी कमज़ोरी और सडान की वजह से होता है। रोम बर्बरो की वजह से नहीं गिरा। बर्बरो ने तो सिर्फ एक मुर्दा चीज़ को गिरा दिया था। जिस समय रोम के हाथ और पाँव काटे गये, उससे कहीं पहले रोम के दिल की धडकन बन्द हो चुकी थी। यही बात हमें हिन्दुस्तान, चीन और अरबस्तान में भी मिलती है। अरबी सभ्यता का पतन उसके उदय के समान ही एकाएक हुआ। हिन्दुस्तान और चीन में पतन की यह धारा धीरे-धीरे बही और इसका पता चलाना आसान नहीं है।

महमूद गज़नवी के हिन्दुस्तान आने के बहुत पहले पतन का क्रम शुरू हो चुका था। लोगो के दिमाग़ अब पहले जैसे न थे, उनमें तब्दीली आचुकी थी। नये विचार और नई बात पैदा करने की जगह हिन्दुस्तान के आदमी की हुई बातो की नक़ल करते थे और उसी को दोहराते थे। उनकी बुद्धि अभी तक तेज़ थी लेकिन वे अपनी बुद्धि को उन बातो के अर्थ करने और समझाने में लगाते थे जो बहुत दिनो पहले लिखी जा चुकी थीं। ये लोग आश्चर्य-जनक मूर्तिया बनाते और खुदाई का बहुत सुन्दर काम करते थे, लेकिन इनकी ये सब चीज़ें शृगार और छोटी-छोटी बातो के ब्योरे के बोझ से बहुत दबी हुई थीं और कभी-कभी उनमें वीभत्सता भी आजाती थी। मौलिकता ख़तम हो चुकी थी और ऊची और साहसपूर्ण कल्पना की बिल्कुल कमी थी। अमीरो और खुशहालो में विलासिता और कला की नफासत चलती रही लेकिन जनता की मुसीबतो और मेहनत को कम करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया और न उपज बढ़ाने की ही कोई कोशिश हुई।

ये सब बातें उस समय होती हैं जब सभ्यता की सध्या आती है। जब ये बात होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि सभ्यता की जिन्दगी ख़तम हो रही है। क्योंकि

नई चीज पैदा करना ही जिन्दगी का प्रमाण है, किसी चीज का दोहराना या नकल करना नही।

चीन और हिन्दुस्तान में उस समय कुछ इसी किस्म की बात पैदा हो गई थी। लेकिन मेरे मतलब को समझने में गलती न करना। मेरा मतलब यह नहीं है कि चीन या हिन्दुस्तान की हस्ती इसकी वजह से मिट गई या वे इस कारण असभ्यता के गड्ढे में गिर पडे। मेरा मतलब यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में रचनात्मक कार्य के लिए जो सरगरमी पुराने जमाने में पाई जाती थी वह अब खतम हो रही थी और उसकी जगह पर नई सरगरमी या उत्साह पैदा नहीं हो रहा था। बदली हुई आबोहवा के मुताबिक अपने को ढालने में यह असमर्थ था। यह सिर्फ अपने पुराने ढर्रे पर चल रहा था। हरेक देश और सभ्यता की यही दशा होती है। एक युग ऐसा होता है जब नई चीजो के पैदा करने की और उनका विकास करने की बडी-बडी कोशिशें होती है और फिर थकावट का जमाना आजाता है। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में यह थकावट इतने दिनो के बाद आई और फिर भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि पूरी-पूरी थकावट आगई हो।

इस्लाम अपने साथ हिन्दुस्तान में मानवी उन्नति की एक नई लहर लाया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवाई का काम किया। इसने हिन्दुस्तान को हिला दिया, लेकिन दो वजहो से वह हिन्दुस्तान की उतनी भलाई नहीं कर सका, जितनी कर सकता था। वह हिन्दुस्तान में गलत रास्ते से और देर से आया। महमूद गजनी के हमलो के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान प्रचारक हिन्दुस्तान भर में फिरते रहते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति से आये थे और इनको कामयाबी हुई थी और इस्लाम के खिलाफ कोई भी कटु भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और विजेता, लुटेरा और कातिल बनकर उसके इस आने के ढंग से हिन्दुस्तान में इस्लाम की इतनी बदनामी हो गई जितनी किसी दूसरी वजह से नहीं हुई। निस्सन्देह दूसरे बडे विजेताओ की तरह महमूद गजनवी लुटेरा और कातिल था और मजहब की जरा भी परवाह नही करता था लेकिन बहुत दिनो तक इसके हमलो ने हिन्दुस्तान में इस्लाम को साये में डाल दिया और यह मुश्किल हो गया कि लोग इस्लाम पर निष्पक्ष भाव से विचार करें, जैसा दूसरी हालत में करते।

यह एक वजह थी, दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी पैदाइश के चार सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान पहुँचा और इस चार सौ वर्ष के जमाने में यह कुछ थक चुका था और इसकी रचना-शक्ति बहुत कुछ खतम हो चुकी

थी। अगर इस्लाम के साथ शुरू में अरब लोग हिन्दुस्तान आये होते तो उन्नति-शील अरबी संस्कृति का पुरानी भारतीय सस्कृति से समिश्रण हो गया होता, और वे दोनो एक-दूसरी पर असर डालतीं, जिससे बडे-बडे नतीजे निकल सकते थे। दो सभ्य कौमो का मेल हो गया होता, क्योकि अरब लोग धर्म के सम्बन्ध में बुद्धिवाद और सहिष्णुता के लिए मशहूर थे। एक ज़माने में बग़दाद में एक क्लब था, जहाँ खलीफा की सदारत में हर मजहब के माननेवाले और लामजहब, यानी किसी भी मजहब को न माननेवाले, आदमी इकट्ठा होते थे और सिर्फ बुद्धिवाद की दृष्टि से सब मसलो पर बहस-मुबाहिसे हुआ करते थे।

लेकिन अरब लोग हिन्दुस्तान के अन्दर नहीं आये। वे सिन्ध में आकर रुक गये और हिन्दुस्तान पर उनका कुछ असर नहीं पडा। हिन्दुस्तान में इस्लाम तुर्को के जरिये से, और दूसरी कौमो के जरिये से, आया जिनमें अरबो की तरह सहिष्णुता या तहजीब नहीं पाई जाती थी क्योकि ये लोग मुख्यत सैनिक थे।

लेकिन फिर भी रचनात्मक प्रयत्न और उन्नति के लिए हिन्दुस्तान में एक लहर आई। इस नई लहर नें हिन्दुस्तान में नई जान डाल दी और फिर खतम हो गई। लेकिन इस विषय पर हम फिर विचार करेंगे।

हिन्दुस्तानी सभ्यता की कमजोरी का एक दूसरा नतीजा सामने आने लगा था। जब बाहर से इस पर हमला हुआ तो उस आंधी से हिफाजत करने के लिए इस सभ्यता ने एक खोल बनाकर अपने को उसमें क़ैद कर लिया। यह डर और कमज़ोरी की एक निशानी थी। इस दवाई ने रोग को और वढा दिया। विदेशी हमला असल रोग नहीं था। असल रोग तो था निश्चलता, कमज़ोरी और सुस्ती। इस तरह सव चीजो से दूर भाग जाने की वजह से सुस्ती और कमजोरी बढने लगी और उन्नति के सारे रास्ते रुक गये। बाद को चीन ने भी यही वात अपने तरीक़े से की। और जापान ने भी ऐसा ही किया। ऐसे समाज में रहना, जो किसी खोल में बन्द हो, कितनी खतरनाक बात है। उसमें पहुँचकर हम सडने लगते हैं और ताजी हवा और ताजे विचार के आदी नहीं रह जाते। जैसे व्यक्तियो के लिए ताज़ी हवा की जरूरत होती है वैसे ही समाजो के लिए भी ताजी हवा बहुत जरूरी है।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि योरप उस समय पीछे था और झगडालू भी था। लेकिन इसकी सारी बदअमनी और अनगढपन के पीछे भी इसमें कम से कम जिन्दगी और उत्साह पाया जाता था। एशिया बहुत दिनो तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ जा रहा था। लेकिन योरप प्रयत्नशील था, हालाकि एशिया के पाये तक पहुँचने के लिए उसे अभी बहुत चलना था।

आज योरप दुनिया पर हावी है, और एशिया तकलीफें सहते हुए अपनी आजादी के लिए प्रयत्नशील है। अगर तुम सतह के नीचे देखने की कोशिश करोगी तो तुम्हे एशिया में नया उत्साह, नई रचनात्मक भावना और नई जिन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं, और योरप या, यो कहो, पश्चिमी योरप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के चिन्ह दिखाई दे रहे है। इस समय वे बर्बर मौजूद नहीं है जो अपनी ताकत से यूरोपियन सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करे दें, लेकिन कभी-कभी सभ्य आदमी भी जगली काम करने लगते है, और जब ऐसी बात होती है, सभ्यता खुद अपने को नष्ट कर डालती है।

मै एशिया और योरप की बाते करता हूँ, लेकिन ये तो भौगोलिक शब्द है। जो समस्या हमारे सामने है वह एशिया की या योरप की नहीं है; वह तो सारे संसार और मनुष्य-मात्र की है, और जब तक हम सारे ससार के लिए इस समस्या को हल नहीं कर डालते, परेशानी कायम रहेगी। जब ग़रीबी और मुसीबत सब जगहो से जाती रहेगी, तभी समझना चाहिए कि यह समस्या हल हुई। मुमकिन है, इसमें कुछ वक़्त लग जाय, लेकिन लक्ष्य यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज न होना चाहिए, तभी समता के आधार पर हम अगली सभ्यता और सस्कृति क़ायम कर सकेगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज रचनात्मक और उन्नतिशील होगा। बदलते हुए जमाने के अनुकूल अपने को ढालेगा और अपने आदमियो के सहयोग पर इसकी बुनियाद होगी, और अन्त में यह सारे संसार में फैल जायगा। इस बात का कोई ख़तरा न होगा कि इस प्रकार की सभ्यता भी पुरानी सभ्यताओ की तरह गिर जायगी या नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी।

इसलिए जब हम हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लडाई कर रहे है, हमें यह याद रखना चाहिए कि असल में मनुष्यमात्र की आजादी हमारा महान् लक्ष्य है, और हमारी लडाई में दूसरे देशो की भी आजादी शामिल है।

: ५६ :

अमेरिका की 'माया' सभ्यता

१३ जून, १९३२

मै तुमसे कहता आया हूँ कि इन ख़तो में मै ससार के इतिहास की रूप-रेखा खींचने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में मैने अभी तक एशिया, योरप और उत्तरी अफ़रीका के इतिहास की कहानी ही कही है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया

के बारे में मैंने अभीतक कुछ नहीं बताया। अगर कुछ बताया भी है तो वह नहीं के ही बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें इस बात की सूचना पहले ही दे चुका हूँ कि इस शुरू के जमाने में भी अमेरिका में एक किस्म की सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है, और मैं तो, निस्सन्देह, इस सम्बन्ध में बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी इस विषय पर तुम्हें कुछ बताने की उत्सुकता को नहीं दबा सकता, जिससे तुम यह समझने की आम गलती न कर जाओ कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपियनों के पहुँचने के पहले अमेरिका केवल एक जंगली मुल्क था।

सम्भवत पाषाण युग जैसे बहुत पुराने जमाने में, जब मनुष्य कहीं बसा नहीं था और यहाँ-वहाँ घूमता फिरता और शिकार करता रहता था, उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच में खुश्की रास्ता था। उस रास्ते से मनुष्यों के कितने ही गिरोह और जातियाँ अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आती-जाती रही होंगी। बाद को ये रास्ते बीच में समुद्र आजाने से कारण बन्द हो गये और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे एक अपनी सभ्यता पैदा कर ली। याद रक्खो कि, जहाँ तक पता चला है, अमेरिका के लोगों को एशिया और योरप के सम्पर्क में आने का कोई साधन नहीं था। मैं तुम्हें उस चीनी भिक्षु का हाल बता चुका हूँ जो कहता था कि पाचवीं शताब्दी में उसने एक ऐसे देश की यात्रा की थी जो चीन से बहुत दूर पूर्व में था। मुमकिन है, यह देश मैक्सिको रहा हो। इसके अलावा सोलहवीं सदी तक, जबकि कहा जाता है कि नई दुनिया की खोज की गई, इस बात का कहीं भी कोई बयान नहीं पाया जाता कि इस देश से किसी का कोई व्यावहारिक सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया हमारी दुनिया से दूर और जुदी थी—और इस पर योरप और एशिया की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ा था।

ऐसा मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन खास केन्द्र थे मैक्सिको, मध्य अमेरिका और पेरू। यह ठीक तौर से मालूम नहीं है कि ये सभ्यतायें कब से शुरू हुई। लेकिन मैक्सिको का सम्वत् (पंचांग) लगभग ईस्वी सन् के ६१३ साल पहले से शुरू होता है। ईसवी सन् के शुरू के सालों में, दूसरी सदी के आगे अमेरिका में कई शहर बढ रहे थे। इस युग में पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और रंगाई बहुत अच्छी होती थी। ताबा और सोना बहुतायत से मिलता था। लेकिन लोहा नहीं था। गृह-निर्माण कला की तरक्की हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की एक-दूसरे से लाग-डाँट थी। एक खास तरह की और पेचीदा लिपि पाई जाती थी। कला, खासकर शिल्पकला, का बहुत प्रचार था और इसकी सुन्दरता अपूर्व थी।

सभ्यता के इन क्षेत्रो में से हरेक में कई राज्य थे। कई भाषायें थी और इन भाषाओ में काफी साहित्य भी था। शासन सुसगठित और मजबूत था और शहरो में रहनेवाले लोग सभ्य और बुद्धिमान थे। इन राज्यो की आर्थिक और कानून बनाने की प्रणाली बहुत ऊँची उठी हुई थी। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर जल्दी ही बढकर उस समय के एशिया के बडे शहरो के टक्कर का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मायापान, चाओ मुल्तन वगैरा और भी बडे-बडे नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक सघ बनाया था, जिसे मायापान-संघ कहते थे। यह ईसा से ठीक एक हजार वर्ष बाद की बात है, और यह वही जमाना है जिस तक हम एशिया और योरप में पहुँचे है। इस प्रकार यह साफ है कि ईसा के एक हजार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यो का एक शक्तिशाली सगठन था। लेकिन इनके सारे राज्यो और खुद माया सभ्यता में पुरोहितो का ही बोलवाला था। ज्योतिष सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान समझा जाता था, और इसके जानने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फायदा उठाते थे। इसी तरह हिन्दुस्तान में भी लाखो आदमी चन्द्र और सूर्य ग्रहण के समय व्रत रखने और नहाने के लिए प्रोत्साहित किये गये है।

सौ वर्षो से ज्यादा समय तक मायापान का सघ बना रहा। जान पडता है कि इसके बाद एक सामाजिक क्रान्ति हुई और सरहद पर से एक बाहरी ताकत ने दखल देना शुरू कर दिया। लगभग ११९० ई० में मायापान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद १०० वर्ष तक के अन्दर ही एक दूसरी जाति के लोग सामने आ गये। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अजटेक कहलाते थे। चौदहवीं सदी के शुरू में इन लोगो ने माया देश को जीत लिया और लगभग १३२५ ई० में 'टेनोच्टिलटलन' नाम का नगर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अजटेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत ज्यादा थी।

अजटेक राष्ट्र एक सैनिक राष्ट्र था। इन लोगो ने सैनिक बस्तियाँ बसाई। जगह-जगह छावनियाँ बनाई और देश भर में सेना के आने जाने के लिए सडको का जाल बिछा दिया। ऐसा कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्य को आपस में लडाते रहते थे। जब उनमें फूट हो जाती थी तब उनपर राज्य करना उनके लिए आसान होता था। सारे साम्राज्यो की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोम वाले इसे—'डिवाइड एट इमपेरा" (Divide et impera) अर्थात् 'फूट डालो और राज्य करो, कहते थे।

दूसरे मामलो में चतुर होते हुए भी अजटेक धर्म के मामले में पुरोहितो से जकडे हुए थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मजहब में आदमियो की बहुत कुरबानियां की जाती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हजारो आदमी बड़े ख़ौफनाक तरीक़े से बलिदान कर दिये जाते थे।

लगभग दो सौ बरसो तक अजटेक लोगो ने अपने साम्राज्य पर डडे के बल पर कठोर शासन किया। साम्राज्य में जाहिरा अमन व शान्ति थी, जैसे आज ब्रिटिश शासन में हिन्दुस्तान में है। लेकिन जनता बेरहमी से चूसी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह निर्माण हो और जिसका सचालन इस तरह किया जाय, वह बहुत दिनो तक कायम नहीं रह सकता, और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अजटेक राज्य जाहिरा अपनी शक्ति और शान की सबसे ऊँची चोटी पर था, मुट्ठी भर विदेशी लुटेरो और दुस्साहसी आदमियो के हमले से भरभराकर गिर पडा। किसी साम्राज्य के पतन का यह एक बडा ही आश्चर्यजनक उदाहरण है। स्पेन-निवासी हर्नेन कोर्टे ने मुट्ठी भर सिपाहियो की मदद से इस साम्राज्य को नष्ट कर दिया। कोर्टे एक बहादुर और साहसी व्यक्ति था। उसके पास दो चीजें थीं, जो उसे बडी मदद देती थीं, बन्दूके और घोडे। मालूम होता है कि मैक्सिको साम्राज्य में घोडे नहीं थे और बन्दूके तो निश्चय ही नहीं थीं। किन्तु अगर इस साम्राज्य की जडें सडी न होतीं तो न तो कोर्टे की हिम्मत और न उसकी बन्दूके और घोडे किसी मतलब के निकलते। इस राज्य का ऊपरी खोल तो क़ायम था लेकिन अन्दर से यह सड गया था। इसलिए जरा-सी ठोकर से जमीन पर आगया। यह जनता के शोषण से बना था, इसलिए लोग उससे बहुत असतुष्ट थे। इसलिए जब उसपर हमला हुआ तो साधारण जनता ने साम्राज्यवादियो की इस मुसीबत का स्वागत किया, और, जैसा कि अक्सर होता है, इसके साथ ही एक सामाजिक क्रान्ति भी आगई।

एक दफा तो कोर्टे खदेड दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहां के कुछ लोगो की मदद से उसनें फिर फतह पाई। उसने अजटेक राज्य का ही अन्त नहीं कर दिया, बल्कि यह ताज्जुब की बात है कि अजटेक राज्य के साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लडखडाकर गिर पडी और नष्ट हो गई और थोडे ही समय में उस शानदार राजधानी टैनोच्लिटलन का कोई निशान बाक़ी नहीं रहा। इसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है। इसी स्थान पर स्पेनवालो ने एक गिरजाघर बनाया। माया सभ्यता के और बडे शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतान के जगलो ने उन्हें ढक लिया, यहां तक कि उनके नाम भी याद न रहे। इनमें से बहुत-से शहर आजकल पडौस के गांवों के नामों से याद किये जाते हैं।

उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और केवल तीन किताबें बच रही हैं और उन्हे भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है।

यह बता सकना असाधारण रूप से कठिन है कि एक पुरानी जाति और एक पुरानी सभ्यता, जो करीब १५०० बरस तक मौजूद रही हो, योरप की नई जाति के सम्पर्क में आते ही क्यो एकाएक ख़तम हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क नहीं था, बल्कि इन लोगो के लिए कोई रोग या महामारी थी, जिसके जरासे छू देने भर से वे बिलकुल नष्ट हो गये। कुछ बातो में इनकी सभ्यता बहुत आगे थी और कुछ बातो में बहुत पीछे। उनमें इतिहास के जुदा-जुदा युगो का एक अजीब मेल पाया जाता था।

दक्षिणी अमेरिका में, पेरू में, सभ्यता का एक दूसरा केन्द्र पाया जाता था और इस देश में 'इनका' राज्य करता था। वह एक प्रकार का दैवी राजा माना जाता था। यह एक अजीब बात है कि पेरू की यह सभ्यता, कम-से-कम अपने दिनो में, मैक्सिको की सभ्यता से टूटकर बिलकुल ही अलग हो गई थी। दोनो सभ्यतायें एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं थीं, फिर भी वे एक-दूसरे के बारे में कुछ नहीं जानती थी और यह बात स्वयं ही यह साबित कर देती है कि वे कुछ मामलों में कितनी पिछडी हुई थीं। मैक्सिको में कोर्टे के सफल होने के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर डाला। उसका नाम पिजारो था। वह १५३० ई० में आया और उसने 'इनका' को धोखे से पकड़ लिया। दैवी राजा के पकडे जाने से लोग डर गये। पिजारो ने कुछ समय तक 'इनका' के नाम से राज्य करने की कोशिश की और उसने बहुत-सा धन वसूल कर लिया। बाद में यह आडम्बर ख़तम हो गया और स्पेनवालों ने पेरू को अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

कोर्टे ने जब पहले पहल टेनोच्लिटलन का शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर चकित हो गया। उसने योरप में इस क़िस्म का दूसरा शहर नहीं देखा था।

माया और पेरू की कला के बहुत-से अवशेष मिले हैं और वे अमेरिका, ख़ासकर मैक्सिको, के अजायबघरो में देखे जासकते हैं। इनमें एक सुन्दर कलापूर्ण परम्परा थी। कहा जाता है कि पेरू के सुनारो का काम बडे ही ऊँचे दर्जे का होता था। शिल्प के भी कुछ चिन्ह मिले हैं, जिनमें पत्थरो पर साँपो की बनावट ख़ास तौर पर बहुत सुन्दर है। दूसरी मूर्तियां वीभत्सता प्रकट करने के लिए बनाई गई थीं और सचमुच उन्हे देखकर डर मालूम होता है।

: ६० :

मोहेंजो-दारो की ओर एक छलॉग

१४ जून, १९३२

मैं अभी मोहेजो-दारो और सिन्ध की घाटी की पुरानी हिन्दुस्तानी सभ्यता के बारे कुछ पढ रहा था। इस विषय पर एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस विषय की सारी बाते, जो अभी तक मालूम हो सकी है, बताई गई है। यह पुस्तक उन लोगो ने तैयार की और लिखी है जिनकी देख-रेख में इस शहर की खुदाई का काम था। इन लोगो ने अपनी आँखो से इस शहर को, पृथ्वी माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभीतक यह पुस्तक नहीं देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती लेकिन मैंने इसकी एक समालोचना पढी है और मैं चाहता हूँ कि इसमें दिये हुए कुछ उद्धरणो को तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्‌भुत वस्तु है और जितना ही इसकी बाबत ज्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य बढता है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि यदि हम पिछले इतिहास के वर्णन को छोड दें और इस खत में पाँच हजार वर्ष पीछे कूद जायें तो तुमको कुछ ऐतराज न होगा।

मोहेजो-दारो को लोग, कम-से-कम ५००० वर्ष पुराना मानते हैं। फिर भी हमें पता चलता है कि मोहेंजो-दारो एक सुन्दर शहर था। सभ्य और शिष्ट लोग यहाँ रहते थे। इसके पहले विकास का एक लम्बा युग जरूर गुजरा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जान मार्शल, जिनकी देख-रेख में मोहेजो-दारो की खुदाई का काम हो रहा है, लिखते हैं —

> "एक बात जो मोहेजो-दारो और हरप्पा दोनो जगहो में साफतौर से और निर्विवाद रूप से दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानो पर मिलती है वह शैशवावस्था की सभ्यता नही है। बल्कि भारत की जमीन पर प्रोढता पाई हुई और बहुत प्राचीन किस्म की सभ्यता है, जिसके पीछे करोडो मनुष्यो का प्रयत्न छिपा हुआ है। इसलिए अब आगे ईरान, इराक और मिस्र के साथ-साथ हमे भारत की भी गणना सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे करनी चाहिए जहाँ सभ्यता का अकुर निकला और बढा।"

मेरा खयाल है कि हरप्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ नहीं बताया है। यह एक दूसरा स्थान है, जहाँ मोहेजो-दारो से मिलते-जुलते पुराने खडहर खोदकर निकाले गये है। यह पश्चिमी पजाब में है।

इस प्रकार हम देखते है कि सिन्ध की घाटी में हम न केवल ५००० वर्ष पहले

बल्कि उससे भी हजारो वर्ष और आगे पहुँच जाते है। यहातक कि हम प्राचीनता के उस धुंधले कोहरे में खो जाते है जब पहले-पहल आदमी बसने लगे थे। जिस समय मोहेजो-दारो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नही आये थे। किन्तु इसमें सदेह नहीं कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नही तो कम-से कम पंजाब और सिन्ध एक उच्चकोटि की और आश्चर्यजनक रूप से समान सभ्यता का आनन्द ले रहे थे। यह सभ्यता उस समय की इराक़ और मिस्र की सभ्यताओ से मिलती-जुलती और कई बातो में उनसे भी श्रेष्ठ थी।"

मोहेजो-दारो और हरप्पा की खुदाई से एक प्राचीन और मनोहर सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारतभूमि के नीचे दूसरे स्थानो पर कितनी और चीजें गडी पडी हैं। ऐसा मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत में काफी दूर तक प्रचलित रही होगी। वह केवल मोहेजो-दारो और हरप्पा तक ही सीमित नही थी। फिर ये दोनो स्थान भी एक-दूसरे से काफी दूरी पर हैं।

यह वह जमाना था "जिसमें पत्थर के हथियार और बर्तनो के साथ-साथ ताँबे और काँसे के हथियार और बर्तनो का उपयोग भी होता था।" सर जान मार्शल ने सिन्ध घाटी के निवासियो के साथ उस समय के मिस्र और इराक के लोगो की तुलना करके उनका भेद और सिन्ध की घाटी के निवासियो की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखते हैं—

> "अगर मुख्य-मुख्य बातो का ही जिक्र किया जाय तो पहली चीज यह मालूम होती है कि रुई के कपडो का व्यवहार इस युग मे केवल भारत तक ही परिमित था। पश्चिमी जगत् मे रुई के कपडे का प्रचार इसके दो तीन हज़ार वर्ष बाद हुआ, इसके अलावा इतिहास काल के पहले मिस्र या इराक या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग मे हमे कोई ऐसी चीज नही मिलती जो मोहेजो-दारो के नागरिको के रहने के बडे-बडे मकानो और सुन्दर बने हुए स्नानगारो की बराबरी कर सके। उन देशो मे देवताओ के विशाल मन्दिरो तथा राजाओ के महलो और कब्रो के बनाने मे बेशुमार धन और बुद्धि खर्च की जाती थी, लेकिन बाकी जनता को मिट्टी की मामूली झोपडियो पर ही सन्तोष करना पडता था, लेकिन सिन्ध घाटी मे हमे इसका उलटा दृश्य मिलता है और यहाँ पर सब से अच्छे मकान वे होते थे, जो नागरिको के आराम के लिए बनाये गये थे।"

आगे चलकर वह बताते हैं—"सिन्ध-घाटी की कला और धर्म पर स्पष्टतया उसके एक ख़ास व्यक्तित्व की छाप है। उसमें एक अपना निरालापन है। भेड, कुत्ते या दूसरे पशुओ की 'फीयेन्स' या मिट्टी की मूर्तियो तथा मुद्राओ या ठप्पो पर अकित 'इंटेंग्लियो' की नक्काशी के काम के जो नमूने यहाँ मिलते हैं उसकी शैली या मेल के दूसरे

नमूने किसी भी देश में, उस जमाने में, देखने को नहीं मिलते। खासतौर से पत्थर या धातु की मुद्राओ पर अकित छोटे सींगवाले कुवडे सांडो की शक्लो की भावपूर्ण लचक और सुन्दर रूप रेखा नक्काशी के काम में शायद ही कहीं देखने को मिल सकती है। ये कृतियां 'ग्लिप्टिक' कला की वेजोड़ रचनायें हैं। इसी प्रकार हरप्पा में मिले हुए चित्र न० १० और ११ में अकित मनुष्यो की दो प्रतिमाओ में जो भावयुक्त लचक है वह भी यूनान के पौराणिक काल के पहले हमें कहीं नहीं मिलती। सिन्ध के लोगो के धर्म में वहुत सी ऐसी वातें है जिसके समान वातें हमें दूसरे देशो में मिल सकती है। यह वात सभी इतिहास के पहले काल के और ज्यादातर ऐतिहासिक धर्मों के वारे में सच कही जासकती है, लेकिन सव वातो को मिलाकर देखने से इन लोगो का धर्म इतना हिन्दुस्तानी है कि मुश्किल से ही हम उसे आज कल के हिन्दू धर्म से जुदा कह सकते है।"

सम्भव है, इस उद्धरण के कई शब्द तुम न समझ सको। 'फीयेन्स' का अर्थ है मिट्टी की चीजो का काम। 'इन्टैग्लियो' और 'ग्लिप्टिक' कला के अर्थ होते है—किसी कठोर वस्तु और मुख्यत. जवाहिरात पर खुदाई और नक्काशी करना।

मेरी वडी इच्छा है कि मै हरप्पा में पाई गई मूर्तियो, या कम से कम उनकी तसवीरो, को देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हरप्पा और मोहेजो-दारो साथ-साथ जासकें। और आँख भरकर वहाँ के दृश्यो को देख सकें। लेकिन इस दरमियान हम लोग अपना अपना काम जारी रखेंगे—तुम अपने पूना के स्कूल में और मै अपने स्कूल में, जो 'देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल' कहलाता है।

: ६१ :

कारडोबा और ग्रेनाडा

१६ जून, १९३२

हम एशिया और योरप में बरसो से फिरते रहे हैं और ईसा से हजार वर्ष बाद तक पहुँचकर हम रुक गये है। हमनें इस युग पर एक बार और भी नजर डाली। लेकिन स्पेन के उस जमाने का वर्णन हमारी इस कहानी से छूट गया है, जब उसपर अरवो का कब्जा था, इसलिए हमें एक बार और पीछे की ओर नजर डालनी चाहिए और उसे भी अपने इस चित्र में स्थान देना चाहिए।

स्पेन के बारे में थोडी-बहुत जानकारी तो तुम्हें है ही, यदि तुम्हे उसकी याद हो। ७११ ई० में अरव-सेनापति समुद्र पारकर अफरीका से स्पेन पहुँचा। उसका

नाम तरीक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तरीक अर्थात् तरीक की पहाडी) पर उतरा था । दो साल के अन्दर ही अरबो ने सारा स्पेन जीत लिया । कुछ दिनो बाद उन्होने पुर्तगाल को भी अपने राज्य में मिला लिया और वे बराबर बढते गये। फ़ास पर भी उन्होने हमला किया और सारे दक्षिण में फैल गये । उनकी इस बढती हुई ताकत से फ्रंक और दूसरी जातियाँ डर गई और उन्होने चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में मिल-जुल कर अरबों को रोकने की एक बहुत बडी कोशिश की । इसमें वे सफल हुई । फ़ास में 'पाइटियर्स' के पास टूर्स की लड़ाई में फ्रंको ने अरबो को हरा दिया । यह बहुत बडी हार थी और इससे अरबो का योरप जीतने का स्वप्न ख़त्म हो गया। इसके बाद कई बार अरब और फ़्रंक और फ्रास की दूसरी ईसाई जातियाँ एक दूसरे से लड़ती रहीं। कभी अरब जीते और फ्रांस में घुस पडे और कभी ये स्पेन खदेड़ दिये गये । शार्लमैन ने भी स्पेन में अरबो पर हमला किया था लेकिन वह हार गया । बहुत दिनो तक ताकतो की यह बराबरी बनी रही और अरब स्पेन में राज्य करते रहे; हाँ वे आगे न बढ सके ।

इस प्रकार स्पेन उस बडे साम्राज्य का अंग बन गया जो अफरीका से मगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था । लेकिन यह हालत बहुत दिनो तक कायम न रही । तुम्हे याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियो ने उम्मैया ख़लीफो को निकाल दिया था । स्पेन का गवर्नर उम्मैया था । उसने नये अब्बासी ख़लीफा को ख़लीफा मानने से इन्कार कर दिया । इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का ख़लीफा बहुत दूर होने के कारण और अपनें घरू झगडो में फँसे रहने की वजह से कुछ कर-धर नही सकता था । लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच मनमुटाव जारी रहा और ये दोनो अरब राज्य मुसीबत के समय एक दूसरे की मदद करने की बजाय एक दूसरे की मुसीबतो पर ख़ुश होते रहते थे ।

स्पेन के अरबो का अपनी मातृ-भूमि से सम्बन्ध तोड़ लेना किसी कदर जल्द-बाजी थी । वे एक दूर देश में एक विदेशी जनता के बीच में थे और चारो ओर से दुश्मनो से घिरे हुए थे । उनकी तादाद भी थोडी थी । मुसीबत व ख़तरे में उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था लेकिन उन दिनो वे आत्म-विश्वास से भर रहे थे और इन ख़तरो की बिल्कुल परवाह नही करते थे । सच तो यह है कि उन्होने उत्तर की ईसाई जातियो के निरंतर दबाव के होते हुए भी बहुत अच्छी तरह से निबाहा और अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना राज्य क़ायम रखा । इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी सी रियासत पर २०० वर्षों तक, राज्य करते रहे । इस प्रकार वे बग़दाद के बड साम्राज्य के ख़तम हो

जाने के बाद भी जिन्दा रहे और जब उन्होने स्पेन से अन्तिम विदा ली, उसके पहले बगदाद शहर मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सो पर अरबो का ७०० वर्षो तक राज्य करना एक बडे ताज्जुब की बात है। लेकिन इसमे भी ज्यादा महत्व की बात है स्पेन के अरबो या मूरो (जैसा कि वे पुकारे जाते थे) की ऊँची सभ्यता और सस्कृति। एक इतिहास लेखक अपने उत्साह की तरग में लिख गया है —

> "मूर लोगो ने कारडोवा के उस अद्भुत साम्राज्य को सगठित किया था जो मध्यकाल के लिए एक चमत्कार था। जब सारा योरप लडाई-झगडे और वहशियो की तरह अज्ञान मे डूबा हुआ था, तब अकेले इस राज्य ने ही विद्या और सभ्यता की रोशनी को पश्चिमी दुनिया में जलाये रखा।"

ठीक ५०० बरसो तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसको अग्रेजी में कारडोवा, और कभी-कभी कारडोवा कहते है। मुझे आशका है कि समय-समय पर मैं एक ही नाम के कई हिज्जे करता हूँ। लेकिन अब मैं बराबर कारडोवा ही लिखने की कोशिश करूगा। कारडोवा बहुत बड़ा शहर था जिसमें १० लाख आदमी रहते थे। यह एक बाग़-बाग़ीचोवाला शहर था जिस की लम्बाई १० मील थी और जिसके उपनगर २४ मील तक फैले हुए थे। कहा जाता है कि इस नगर में ६० हजार महल और कोठियाँ थीं और २ लाख छोटे मकान, ८० हजार दूकानें, ३८ सौ मसजिदें और ७ सौ सार्वजनिक स्नानागार (हम्माम) थे। मुमकिन है, इन अको में कुछ अत्युक्ति हो लेकिन इससे शहर की विशालता का कुछ अंदाज लगाया जा सकता है। इस शहर में कई पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का 'शाही पुस्तकालय' मुख्य था। इसमें चार लाख किताबें थीं। कारडोवा का विश्व-विद्यालय सारे योरप और पश्चिमी एशिया में भी मशहूर था। ग़रीबो के लिए बहुत सी प्रारम्भिक पाठशालायें थीं जिनमें उन्हे मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है —

> "स्पेन मे करीब-करीब सभी लोग पढना-लिखना जानते थे, जबकि ईसाई योरप मे पादरियो को छोडकर और सब लोग, यहा तक कि ऊचे खानदान के लोग भी, बिलकुल अपढ होते थे।"

ऐसा वह कारडोवा का नगर था और बग़दाद के दूसरे बडे अरबी शहर का मुक़ाबिला करता था। उसकी शोहरत सारे योरप में फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'जगत् का आभूषण' कहा है। उसके विश्व-विद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरब फिलासफी का असर योरप के दूसरे बडे विश्व-विद्यालयो, जैसे पेरिस, आक्सफर्ड और इटली के उत्तरी विश्व-विद्यालयो, तक

फैल गया। एवरोज या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कारडोवा का एक मशहूर फिलासफर (दर्शनिक) हुआ है। अपनी जिंदगी के आखिरी दिनो में वह स्पेन के अमीर से लड़ बैठा और निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में बस गया।

योरप के दूसरे हिस्सो की तरह स्पेन में भी एक तरह की सामत-प्रणाली थी। वहाँ भी बडे-बडे और शक्तिशाली सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के राजा—अमीर की अकसर लड़ाई होती रहती थी। अरब राज्य बाहरी हमलो से इतना कमजोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगडो से हो गया। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतो की ताकत बढ़ रही थी और वे अरबो को बराबर पीछे हटाती जा रही थी।

ई० सन् १००० के करीब यानी ईसवी सन् के हजार वर्षो के ठीक अन्त में, अमीर का साम्राज्य करीब-करीब सारे स्पेन पर फैला हुआ था। यहातक कि इसमें दक्षिणी फ्रास का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और जैसा अकसर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी और घरेलू कमजोरी थी। अपनी कला, विलासिता और बहादुरी के साथ भी अरबो की सुन्दर सभ्यता आखिर अमीरो की ही सभ्यता थी। जो गरीब थे वे गरीब ही बने रहते थे और बढती हुई सम्पत्ति में उनको कोई हिस्सा न मिलता था। इसलिए बिना उलट-फेर हुए वह समाजिक प्रणाली चल नहीं सकती थी। भूखी गरीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मजदूरो ने दंगा मचा दिया। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध बढ़ता गया, एक के बाद एक सूबा आजाद होता गया और अन्त में अरबो का स्पेन-साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। हालाकि अरबो की ताकत बिखर गई थी, फिर भी वे तबतक बराबर राज्य करते रहे जबतक कि ई० सन् १२३६ में कारडोवा कैस्टाइल के ईसाई बादशाह के हाथ में पूरी तरह नहीं आगया।

अरब दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गये, फिर भी वे बराबर सामना करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रेनाडा नाम का छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वहीं बने रहे। फैलाव की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा था लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना था। ग्रेनाडा का प्रसिद्ध 'अलहम्ब्र' अपनी सुन्दर महराबो, खम्भो और 'अरबेस्को'[1] के साथ, अभीतक पाया जाता है और अपने पुराने जमाने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसके मानी है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते हैं जो

१ अरबेस्क—स्पेन के अरबो अथवा 'मूरो' की अलकृत चित्रकला या मूर्तिकला। इसमें पौधो एव लताओ का चित्रण अधिक होता था।

इस्लाम से प्रभावित अरब और दूसरी इमारतो में पाई जाती है। आदमी की सूरत-शक्ल के चित्र के खींचने को इस्लाम ने कभी प्रोत्साहन नही दिया। इसलिए कारीगर लोग काल्पनिक और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबो के ऊपर या दूसरी जगहो पर वे कुरान की अरबी आयतें खोदते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि ऐसी लिपि है जिसमें सजावट का काम आसानी से हो सकता है।

ग्रेनाडा का राज्य दो सौ बरसो तक कायम रहा। इस जमाने में स्पेन के ईसाई राज्य, खासकर कॅस्टाइल, उसे दबाते और तग करते रहे। कभी-कभी उसने कॅस्टाइल को कर देना भी मजूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यो में आपस में फूट न होती तो शायद ग्रेनाडा का राज्य इतने दिनो तक न कायम रहता, लेकिन १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यो के शासको में, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कॅस्टाइल, एरागोन और लायन्स तीनो मिल गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रेनाडा के अरब साम्राज्य का अन्त कर डाला। अरब कई बरसो तक बहादुरी से लडते रहे और अन्त में वे ग्रेनाडा में घेरकर कैद कर लिये गये। अख़ीर में १४९२ ई० में भूख से तग आकर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया।

बहुत से सरासीन या अरब स्पेन छोडकर अफरीका चले गये। ग्रेनाडा के नज़दीक शहर के सामने ही एक स्थान है जो आज दिन भी 'एल अल्टिमो सासपिरो डेल मोरो' (El ultimo saspiro del Moro) 'अर्थात् मूरो की अन्तिम आह' के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबो के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का बडा ही काला हिस्सा है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनको क़त्ल किया गया। सहिष्णुता के जो वादे उनसे किये गये थे, वे बिलकुल भुला दिये गये। इसी समय स्पेन में 'इनक्विजिशन' का भीषण हथियार रोमन चर्च ने बनाया। यह वह भयकर शस्त्र था जिससे रोमन चर्च उन तमाम आदमियो को कुचल देता था जो उसके सामने झुकने से इन्कार करते थे। यहूदी, जो सरासीनो की मातहती में ख़ुशहाल थे, अपना धर्म बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुत से यहूदी जिन्दा जला दिये गये। स्त्री और बच्चो तक को नहीं छोडा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियो यानी सरासीनो को हुक्म दिया गया कि वे अपनी नफीस पोशाक छोड दें और अपने विजेताओ के हैट और ब्रिचेज (एक तरह का चुस्त पायजामा) को पहनाना शुरू कर दें। अपनी

भाषा, अपनी रीति, रिवाज और यहा तक कि अपने नाम भी छोड देने और स्पेनिश भाषा ही बोलने पर उनको मजबूर किया गया। यह भी हुक्म हुआ कि वे स्पेनवालो की तरह ही रहन-सहन रखें और अपना स्पेनिश नाम रखलें। इन जुल्मो के विरोध में विद्रोह और बलवे हुए लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गये।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत विरुद्ध थे। मुमकिन है कि वे इन बातो का विरोध सिर्फ इसलिए करते रहे हो, कि स्पेन के अरब नहाना-धोना बहुत पसन्द करते थे, और उन्होने सारे मुल्क में बडे-बडे सार्वजनिक हम्माम बना रक्खे थे। ईसाई तो यहाँ तक बढ गये, कि उन्होने 'मूरो या अरबों के सुधार के लिए' हिदायतें निकालीं कि "न अरब के पुरुष, न उनकी स्त्रियाँ और न दूसरा ही कोई, घर में या और कहीं नहाने-धोने पावे और उनके सब स्नानागार गिराकर नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भारी जुर्म उनपर यह लगाया गया कि वे धर्म के मामलो में सहनशील होते हैं। यह एक बडी अजीब बात मालूम पड़ती है। लेकिन १६०२ ई० में वेलेशिया के आर्चविशप ने सरासीनो को स्पेन से निकालने की सिफारिश करते हुए उनकी 'धर्मभ्रष्टता और राजविद्रोह' के बारे में जो बयान तैयार किया था, उसमें उनकी सहिष्णुता को एक खास अपराधी बताया गया है। इसका जिक्र करते हुए वह कहता है कि 'वे (अर्थात् मूर या अरब) मजहबी मामलो में अन्त करण की स्वतत्रता की सबसे ज्यादा कद्र करते हैं, तुर्क और दूसरे सब मुसलमान भी अपनी रिआया को यही हक़ देते हैं।" इस तरह इन शब्दो में स्पेन के सरासीनो की, अज्ञात रूप से, कितनी अधिक तारीफ की गई है। इससे यह पता चलता है कि कि स्पेन के ईसाइयो का दृष्टिकोण कितना जुदा और अनुदार था।

लाखो सरासीन स्पेन से खदेड़ दिये गये। उनमें से ज्यादातर अफरीका और कुछ फ्रान्स चले गये। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि अरब स्पेन में सात सौ बरसो तक रह चुके थे, और इस लम्बे जमाने में बहुत कुछ स्पेन की जनता में घुल-मिल गये थे। वे अरब जरूर थे लेकिन धीरे-धीरे स्पेनिश बनते जारहे थे। ग़ालिबन् पिछले जमाने के स्पेन के अरब बग़दाद के अरबो से बिलकुल जुदे थे। आज भी स्पेनिश जाति की नाडियो में अरबो का काफी खून बहता है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत नहीं बल्कि बसनेवालो की हैसियत से दक्षिणी फ्रान्स और स्वीजरलैंड में भी फैल गये थे। आज दिन भी हमें 'मिडी' के फ्रान्सीसियो में कभी-कभी अरबो के चेहरे की बनावट दिखाई पड़ती है।

इस तरह स्पेन से अरबो का राज्य ही नहीं बल्कि उनकी सभ्यता भी खतम

हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने कई देशो और सस्कृतियो पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही बढिया यादगारे ससार में छोड गई। लेकिन आगे वह फिर अपने पैरो पर खडी न हो सकी।

सरासीनो के चले जाने के बाद, फर्डीनेण्ड और आइजावेला के शासन में स्पेन की ताक़त बढती गई। कुछ ही दिनो बाद, अमेरिका का पता लग जाने की वजह से, गहरा माल इसके हाथ लगा और कुछ समय के लिए स्पेन योरप में सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो गया। इसके सामने दूसरे राष्ट्र अपना सिर झुकाते थे लेकिन उसका पतन भी तेजी के साथ हुआ और बहुत जल्द ही उसका महत्व नष्ट हो गया। जब योरप के दूसरे देश उन्नति करते रहे, स्पेन अपनी जगह पर निश्चल रहा और मध्ययुग के सपने देखता रहा। उसे यह पता नहीं था कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी।

लेन पूल नाम के एक अग्रेज इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनो के बारे में लिखा है—"सदियो तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र—कला, विज्ञान, विद्या और सुसस्कृत विवेक का केन्द्र रहा है। इतने दिनो तक योरप का कोई दूसरा देश मूरो के इस सुन्दर राज्य के बराबर नहीं पहुँच पाया था। फर्डीनेण्ड और आइजावेला की थोडे दिनो की चमक-दमक और चार्ल्स का साम्राज्य मूरो के स्थायी बडप्पन को नहीं पासका। मूरो को खदेड दिया गया, कुछ दिनो तक ईसाई स्पेन चॉद की तरह, उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद ग्रहण आया और उस ग्रहण के अधेरे में स्पेन आज तक पडा सड रहा है। मूरो की सच्ची यादगार हमें स्पेन की ऊसर और उजाड जगहो में दिखाई देती है, जहाँ अरब लोग अपने जमाने में अगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फसले पैदा करते थे। जहा अरबो के जमाने में, बुद्धि और विद्या फूलती-फलती थी, वहा आज मूर्खों और अज्ञानियो का निवास है। सारी कौम में मुर्दनी छागई है और लोग नीचे जारहे हैं, और क़ौमो के मुकाबिले इनका पाया बहुत नीचा हो गया है और ये इतने जलील हो गये है जितना इन्हे होना चाहिए। क्या ये बाते मूरो की सच्ची यादगार नहीं है ?"

इतिहास-लेखक का निर्णय कठोर है। सालभर हुए, स्पेन में एक क्रान्ति हुई और वहाँ का राजा गद्दी से उतार दिया गया। अब वहाँ पर प्रजातत्र राज्य है। सम्भव है, यह नवजात प्रजातत्र पहले से अच्छा काम करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशों की बराबरी में ले आवे।

: ६२ :

'क्रूसेड' अर्थात् ईसाइयों के 'धर्म-युद्ध'

१९ जून, १९३२

अपने हाल के एक खत में मैंने तुम्हे बताया था कि पोप और उसकी चर्च कौंसिल ने मुसलमानो से जेरुसलम छीनने के लिए कैसे धर्म-युद्ध की घोषणा की। सेलजूक तुर्कों की बढ़ती हुई ताकत से योरप भयभीत हो गया था; ख़ास कर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जो साफ-साफ खतरे में पड़गई थी। जेरुसलम और फिलस्तीन के ईसाई यात्रियो पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने योरप में उत्तेजना पैदा करदी थी और लोग गुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धार्मिक युद्ध' की घोषणा करदी गई। पोप और चर्च ने योरप के सारे ईसाइयो से अपील की कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए आगे बढ़ें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध शुरू हुए और डेढ सौ बरसो से ज्यादा समय तक ईसाई धर्म और इस्लाम में, सलेब (क्रास) और हिलाल (अर्धचन्द्र) में लड़ाई जारी रही। बीच-बीच में काफी वक्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की अवस्था बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियो के दल के दल युद्ध करने के लिए और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए जाते रहे। इन लम्बी लड़ाइयों से ईसाई जिहादियो को कोई ख़ास फायदा नहीं पहुँचा। कुछ समय के लिए जेरुसलम ईसाई जिहादियों के हाथ में चला गया था। लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के हाथ में आगया और उन्हींके अधिकार में बना रहा। इस धार्मिक युद्ध का एक ख़ास नतीजा यह हुआ कि लाखो ईसाईयों और मुसलमानो को मुसीबते झेलनी पड़ीं और मौत के घाट उतरना पडा। एशिया और फिलस्तीन की जमीन इन्सान के ख़ून से रंग गई।

इन दिनो बगदाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभीतक उसके ऊपर अब्बासी ख़लीफाओ का ही अधिकार था। वे अभीतक ख़लीफा अर्थात् मुसलमानो के सेनापति (अमीरुल मोमनीन) कहलाते थे। लेकिन वे सिर्फ नाम के ही खलीफा थे, उनके हाथ में कोई ताकत न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और सूबे के हाकिम कैसे स्वतंत्र हो गये। गजनी के महमूद ने, जो एक शक्तिशाली बादशाह था और जिसने कई बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की थी, खलीफा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्जी के मुताबिक काम न करेगा तो नतीजा उसके हक में अच्छा न होगा। ख़ास बगदाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे।

इनके बाद तुर्कों की, 'सेलजूक' नाम की, दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी ताकत बढा ली। वे आगे फैलते गये और कुस्तुन्तुनिया को भी जीत लिया। लेकिन खलीफा खलीफा ही बना रहा, हालांकि उसके हाथ में कोई राजनीतिक ताक़त नहीं थी। उसने सेलजूक सरदारो को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान ही राज्य करने लगे। इसलिए धर्म-युद्ध में भाग लेनेवाले ईसाईयो को इन्हीं सेलजूक सुलतानों और उनके अनुयायियो से लडना पड़ता था।

योरप में इन धर्म-युद्धो की वजह से ईसाई राज्यो में सामूहिकता की भावना बढी, और ग़ैर-ईसाइयो के ख़िलाफ़ सब ईसाई एक है और उनकी अपनी एक दुनिया है, यह खयाल पैदा हुआ। सारे योरप का एक ही ध्येय और विचार था और वह यह कि विधर्मियो के हाथो से 'पवित्र' देश का उद्धार होना चाहिए। इस एक भावना ने जनता में उत्साह पैदा कर दिया था और इस महान् कार्य के लिए सैकडो आदमियो ने अपना घर-बार और धन-दौलत त्याग दी। इनमें बहुत से ऊँचे भावो से प्रेरित होकर गये थे लेकिन बहुत से तो पोप के इस वादे की लालच से भी गये थे, कि अगर वे वहा गये तो उनके पाप माफ कर दिये जायँगे। इन धर्म-युद्धो के दूसरे भी कितने ही कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया का मालिक बन जाना चाहता था। तुम्हे याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया का धर्म रोम के धर्म से अलग था। कुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर सम्प्रदाय (Orthodox Church) के ईसाई कहते थे। वे रोमन सम्प्रदाय से बडी नफरत करते थे और पोप को नया रईस समझते थे। पोप चाहता था कि कुस्तुन्तुनिया का यह घमड चूर करदें और उस पर अपना कब्ज़ा कर लें। विधर्मी तुर्कों के खिलाफ, धर्म-युद्ध की आड में, वह अपनी इस पुरानी लालसा को पूरा करना चाहता था। यह है राजनीतिज्ञो का और उन लोगों का ढंग जो अपने को शासन-विद्या में कुशल मानते है। रोम और कुस्तुन्तुनिया का यह सघर्ष याद रखने लायक है क्योकि क्रूसेड के बीच में यह बराबर उठता और फूलता-फलता रहा।

इन क्रूसेडो के होने का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारी लोग, खास कर वेनिस और जिनेवा के उन्नतिशील बन्दरगाहो के सौदागर, इन युद्धों को चाहते थे क्योकि इनको व्यापार में बहुत घाटा हो रहा था, जिसकी वजह यह थी कि सेलजूक तुर्कों ने पूरब के कई तिजारती रास्तो को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता इन कारणो के बारे में कुछ नहीं जानती थी। किसी ने ये बातें नहीं बताई थीं। राजनीतिज्ञ अकसर असली कारणो को छिपा रखते है और धर्म, न्याय, सत्य और इसी तरह की और बातो के बारे में बढ़-चढ़कर बातें किया

करते है । क्रूसेडो के समय में यही हाल था और यही हाल आज दिन भी है । उस समय जनता उन पर विश्वास कर लेती थी और आज भी आम लोगों का ज्यादातर हिस्सा राजनीतिज्ञो की चिकनी-चुपडी बातो पर भरोसा कर लेता है ।

इन कारणो से क्रूसेडो में शामिल होने के लिए बहुत-से आदमी इकट्ठा होगये। उनमें बहुत-से अच्छे और ईमानदार आदमी थे लेकिन बहुत-से ऐसे थे जो सच्चाई से बहुत दूर थे । लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हे लड़ाई की तरफ खीचा था । क्रूसेड की फौज पवित्र और धार्मिक आदमियो और ऐसे लुच्चो की ताज्जुब भरी मिलावट थी जो हर तरह के जुर्म कर सकते थे । असल में इन क्रूसेडो में हिस्सा लेने वाले सैनिको में से बहुत-से, जो अपनी समझ में एक ऊँचे आदर्श के लिए बाहर निकलते थे, बडे घृणित और जलील अपराधो के दोषी भी रहे है । उनमें से बहुत-से लूट-मार में ऐसे डूबे कि फिलस्तीन के पास तक नहीं पहुँचे । कुछने यहूदियो को रास्ते में मारना शुरू कर दिया, और कुछने अपने ईसाई भाइयो को ही कत्ल कर डाला । कभी-कभी ऐसा हुआ कि जिन-जिन ईसाई देशो से होकर ये सैनिक गुजरे वहां के ईसाई किसानो ने इनके जुल्मो और बुरे कामो से ऊबकर बगावत कर दी, इनको मार डाला और निकाल दिया ।

आखिर में बुइलो के गाडफ्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में क्रूसेड की सेना फ़िलस्तीन पहुँची । इसने जेरुसलम को जीत लिया । इसके बाद एक हफ्ते तक मार-काट मची रही । हज़ारो लोग कत्ल कर दिये गये । इस घटना को अपनी आँखो से देखनेवाले एक फ्रासीसी ने लिखा है—"मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक ख़ून था, और घोडे की लगाम तक पहुँच जाता था ।" गाडफ्रे जेरुसलम का बादशाह हो गया ।

७० बरस बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने जेरुसलम को ईसाइयो से फिर छीन लिया । इससे योरप की जनता फिर उत्तेजित हो उठी और कई क्रूसेड, एक के बाद दूसरे, होते रहे । इस बार क्रूसेड की सेना के साथ योरप के कई बादशाह और सम्राट् ख़ुद आये थे । लेकिन उन्हे सफलता न मिली । वे इस बात पर आपस में ही झगडने लगे कि बडा कौन है और आगे कौन चले । वे एक दूसरे से ईर्षा रखते थे । क्रूसेडो की कहानी बेरहमी, नीचता, छल-कपट, भयकर अपराधो और निर्दयतापूर्ण लडाइयो से भरी हुई है । लेकिन कभी-कभी इस भयानक लडाई में भी मानव प्रकृति की अच्छाइयो की झलक दिखाई पडी, और ऐसी घटनायें भी हुई जब दुश्मनो ने एक दूसरे के प्रति उदारता और बहादुराना भलमसाहत का बर्ताव किया । फिलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओ में इग्लैण्ड का राजा भी था । वह 'रिचर्ड दी लायन

हारटेड' यानी 'शेरदिल रिचर्ड' कहलाता था और अपनी शारीरिक शक्ति और बहादुरी के लिए मशहूर था। सलादीन भी बडा लडाका था और अपनी बहादुरी के लिए मशहूर था। जो क्रूसेडर सलादीन से लडनें आये थे वे भी उसकी वहादुराना शराफत के कायल थे। एक कहानी मशहूर है कि एक बार रिचर्ड वहुत बीमार पड गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी खबर हुई तो उसने उसके पास पहाड से ताजा बर्फ भिजवाने का इन्तजाम कर दिया। आजकल की तरह उन दिनो पानी को जमा करके नकली बर्फ नहीं बनाई जा सकती थी, इसलिए पहाडो से बर्फ का इन्तजाम तेज दूतों के जरिये किया जाता था।

क्रूसेडो के समय की वहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध है। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टेलिसमैन' नामक उपन्यास पढा होगा।

क्रूसेडो का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी पहुँचा और उसने उसपर कब्जा कर लिया। इस सेना ने पूर्वी यूनानी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को भगा दिया और वहाँ एक लैटिन राज्य और रोमन कैथलिक चर्च की स्थापना की। इन लोगो ने कुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट की और शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लैटिन राज्य ज्यादा दिनो तक कायम न रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी सुस्त होते हुए भी लौट आये और ५० साल के अन्दर ही उन्होंनें लैटिनो को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वरसों तक और बना रहा। १४५३ ई० में तुर्कों नें हमेशा के लिए उसे खतम कर दिया।

क्रूसेडो द्वारा कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लेना पोप और रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की इस इच्छा को जाहिर करता है कि वे वहाँ अपना प्रभाव फैलाना चाहते थे। हालाकि मुसीवत के समय इस शहर के यूनानियो ने तुर्कों के खिलाफ रोम से सहायता माँगी थी, फिर भी उन्होंने क्रूसेडो में लडने आनेवालो की कुछ भी मदद नहीं की। वे उनसे वडी नफरत करते थे।

लेकिन इन क्रूसेडो में सबसे भयानक क्रूसेड वह था जो 'बच्चो का क्रूसेड' के नाम से मशहूर है। बहुत बडी तादाद में वच्चों ने, खासकर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के वच्चो ने जोश में आकर अपने घरो को छोड दिया और फिलस्तीन जाने का निश्चय कर लिया। उनमेंसे कितने ही रास्ते में मर गये और बहुत से खो भी गये, फिर भी ज्यादातर वच्चे मार्सेलीज पहुँचे। वहाँ उनके साथ धोखा किया गया और

१ स्कॉट—यह अंग्रेजी भापा के वहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गये है। यह स्कॉटलैण्ड के रहनेवाले थे। सन् १७७१ में उनका जन्म हुआ था और सन् १८३२ में यह मरे। इन्होने अंग्रेजी मे वहुत से उपन्यास लिखे है।

बदमाशो ने उनके उत्साह से वेजा फायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने की झूठी लालच देकर गुलामो का व्यापार करनेवाले, इन्हे अपने जहाजो में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ गुलाम के रूप में बेंच दिया।

फिलस्तीन से लौटते समय इग्लैंड का बादशाह पूर्वी योरप में दुश्मनो द्वारा पकड़ लिया गया और उसको छुड़ाने के लिए एक बहुत बडी रकम देनी पडी थी। फ्रान्स का एक राजा तो फ़िलस्तीन ही में गिरफ्तार कर लिया गया था और वह भी काफी रकम देने पर छूटा। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट् फ्रेडरिक बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूबकर मर गया। इधर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, क्रूसेडो का आकर्षण कम होता गया। जनता उनसे ऊब गई। जेरुसलम मुसलमानो के ही हाथ में बना रहा। योरप के राजा और योरप की जनता अब जेरुसलम छीनने में और अधिक धन बरबाद करने के लिए तैयार न थी। इसके बाद जेरुसलम ७०० बरस तक मुसलमानो के पास ही रहा। थोडे ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में एक अंग्रेज सेनापति ने इसे तुर्को के हाथ से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडो में एक क्रूसेड बडा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। असल में इसे पुराने अर्थ में तो क्रूसेड कहना ही न चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया। वहाँ युद्ध करने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और लड़ने के बजाय उससे समझौता कर लिया। फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। ऐसे जमाने में, जब ज्यादातर राजा मुश्किल से पढे-लिखे होते थे, यह कई जबानें, जिनमें अरबी भी शामिल थी, जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' (The Wonder of the World) के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नहीं करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत भी कर दिया था, लेकिन इस बहिष्कार का असर उसपर कुछ न पड़ा।

इस तरह क्रूसेडो का कोई ख़ास नतीजा न निकला। हाँ, इस बराबर होती रहनेवाली लड़ाई ने सेलजूक तुर्को को जरूर कमजोर कर दिया। इससे भी बडी बात यह हुई कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया। बडे-बडे सामन्त और सरदार अपने को स्वतंत्र समझने लगे। वे एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे। कभी-कभी वे एक दूसरे के खिलाफ ईसाई राज्यो तक की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी क्रूसेडर तुर्को की इस अन्दरूनी कमजोरी से फायदा भी उठा लेते थे। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबग सुलतान होता था, इन सब की एक नहीं चलती थी।

क्रूसेडो के बारे में एक दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन

नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने, जिन्हे तुम गैरीबाल्डी वाली किताबो के लेखक के रूप में जानती हो, पेश किया है। यह मत बडा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है "योरप में फिरसे जिन्दा हो रही शक्ति के अन्दर पूर्व के प्रति जो आम आकर्षण था, क्रूसेड उसीके धार्मिक और सैनिक रूप थे। क्रूसेडो से योरप को यह पुरस्कार नहीं मिला कि (ईसा की) 'पवित्र समाधि' (Holy Sepulchre) स्थाई तौर पर स्वतंत्र हो गई हो या ईसाई जगत् में असली एकता आगई हो। क्रूसेड की कहानी तो इन बातो का एक लम्बा प्रतिवाद है। क्रूसेड से इन सब बातो की बजाय योरप में ललित कला, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान तथा बौद्धिक कौतूहल आया और इनमें से एक-एक चीज ऐसी है जिससे साधु पीटर को सख्त नफरत होती।"

सलादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सो में, जो छोटे-छोटे सामान्त-सरदारो के कब्जे में थे, उपद्रव होने लगे। अन्तिम क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। उसका नेता फ्रास का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बडी-बडी घटनायें घट रही थीं। चगेज खाँ नामक ताकतवर सरदार के नीचे मगोल आगे बढ रहे थे और पूर्वी क्षितिज को काली घटा की तरह घेर रहे थे। क्रूसेडर और गैर-क्रूसेडर यानी ईसाई और मुसलमान दोनो ही इस हमले को इस समय डर की निगाह से देखते थे। चगेज और मगोलो का जिक्र हम दूसरे खत में करेगे।

इस खत को खतम करने के पहले मै एक और बात का जिक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बुखारा नामक शहर में एक बहुत बडा अरब चिकित्सक रहता था जो एशिया और योरप दोनो में मशहूर था, उसका नाम इब्न सीना था लेकिन योरप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर हुआ। वह 'चिकित्सको का राजा' कहा जाता था। क्रूसेडो के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में वह मर गया।

मैंने इब्न सीना के नाम का जिक्र उसकी शोहरत की वजह से किया है। लेकिन इस बात को याद रखो कि इस सारे जमाने में, यहाँ तक कि जब अरब साम्राज्य गिर रहा था तब भी अरबी सभ्यता पश्चिमी और मध्य एशिया के एक हिस्से में क़ायम रही। क्रूसेडरो से लडते रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कालेज और अस्पताल बनवाये, लेकिन यह सभ्यता जल्दी से एकाएक और पूरी तरह गिरकर खतम हो जानेवाली थी, क्योंकि पूरब से मगोल बढ़े आरहे थे।

: ६२ :

क्रूसेडों के समय का योरप

२० जून, १९३२

अपने पिछले खत में हम लोगो ने ग्यारहवी, बारहवीं और तेरहवीं सदियो में इस्लाम और ईसाई धर्म का कुछ सघर्ष देखा था। ईसाई धर्म की भावना योरप में उठ रही थी। इस समय तक ईसाई मत सारे योरप में फैल चुका था। पूर्वी योरप की रूसी वगैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे ईसाई धर्म में शामिल हुईं। एक रोचक कथा प्रचलित है—मै कह नही सकता कि कहाँ तक सच है—कि रूस की पुरानी जनता ने ईसाई होने के पहले अपने पुराने धर्म को बदलने और एक नये धर्म को मंजूर करने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये धर्मो के बारे में उन्होने सुन रक्खा था, वे ईसाई और इस्लाम धर्म थे। इसलिए, आजकल की प्रथा के अनुसार, रूसियो ने ऐसे देशो में, जहाँ इन मतो के माननेंवाले लोग थे, अपने प्रतिनिधियो को भेजा ताकि वे उनकी जाच करे और उनपर अपनी रिपोर्ट पेश करें। कहते है कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहो पर गया, जहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार था। बाद में वे लोग कुस्तुन्तुनिया गये। कुस्तुन्तुनिया में उन्होने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई सम्प्रदाय की प्रार्थना बडी शान-शौकत के साथ होती थी। उसके साथ भजन और बढिया गाने भी होते थे, धूप और खुशबूदार चीजे जला करती थीं। पादरी और पुजारी भडकीली पोशाक पहनकर आते थे। उत्तर के सीधे-सादे और अर्धसभ्य आदमियो पर इस पूजन-विधि का बहुत असर पडा। इस्लाम में इतनी तड़क-भडक की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होंने ईसाई धर्म के पक्ष में अपना फैसला किया और वैसी ही रिपोर्ट अपने राजा के सामने भी पेश की। इस पर रूस के राजा और प्रजा ने ईसाई धर्म इख़्तियार कर लिया और चूंकि उन्होने ईसाई धर्म को कुस्तुन्तुनिया से लिया था इसलिए वे रोमके नहीं बल्कि 'कट्टर यूनानी सम्प्रदाय' के अनुयायी हुए। बाद में भी, किसी समय, रूस ने रोम के पोप को अपना धर्म-गुरु नहीं माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडो के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलगेरिया वाले मुसलमान हो जाने के लिए कुछ-कुछ तैयार होरहे थे लेकिन बाद में कुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा जोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिजेण्टाइन राजकुमारी से शादी करली और ईसाई होगया। (तुम्हे याद होगा कि बिजेण्टियम कुस्तुन्तुनिया का पुराना नाम था) इसी तरह दूसरे पडोसी मुल्को ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार करलिया था।

इन क्रूसेडो के समय योरप में क्या हो रहा था ? तुम देख ही चुकी हो कि इन धर्म-युद्धो में शामिल होने के लिए कुछ राजा-महाराजा फिलस्तीन गये और उनमें के कई वहां आफत में फँस गये। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा विधर्मी तुर्कों के ख़िलाफ 'पवित्र युद्ध' के लिए आज्ञा और अपीले जारी कर रहा था। यही दिन थे, जब पोप की ताकत अपनी चोटी पर पहुच चुकी थी। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट माफी माँगने को पोप के सामने हाजिर होने के लिए कनोज़ा में घण्टो बर्फ में नगे पाव खडा रहा था। यह वही पोप ग्रेगोरी सप्तम था जिसका पहला नाम 'हिल्डेब्रैण्ड' था और जिसने पोपो के चुनाव का एक नया तरीका जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् में 'कार्डिनल' सबसे बडे पुरोहित या पादरी होते थे। इनका एक सघ बनाया गया जिसे 'पवित्र सघ' (Holy College) कहते थे। यही सघ या कॉलेज एक नये पोप को चुनता था। यह तरीक़ा १०५९ ई० में चलाया गया था और, कुछ फेर-बदल के साथ, आजतक चला आरहा है। अभी तक यह क़ायदा है कि जब पोप मर जाता है तब कार्डिनलो का सघ या कॉलेज तुरन्त इकट्ठा होता है और कार्डिनल लोग एक तालाबद कमरे में बैठ जाते है और जब तक चुनाव ख़तम नहीं हो जाता तब तक न कोई उस कमरे के भीतर जासकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। अक्सर चुनाव में सहमत न हो सकने के कारण वे घण्टो उसी बन्द कमरे में बैठे रहते है, बाहर नहीं आसकते। इसलिए अन्त में वे एकमत होने के लिए मजबूर हो जाते है। चुनाव होते ही एक खिडकी में रोशनी कीजाती है ताकि बाहर खडी और इतज़ार करती हुई भीड को मालूम हो जाय कि चुनाव होगया है।

जिस तरह पोप चुना जाता था, उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट भी चुना जाने लगा। लेकिन सम्राट बडे-बडे सामन्तो और सरदारो द्वारा चुना जाता था। इनकी तादाद सिर्फ सात थी और वे 'निर्वाचक सरदार' (Elector Princes) कहलाते थे। इस तरह सम्राट एक ही कुटम्ब से नहीं आसकता था। लेकिन व्यवहार में अकसर एक ही राज-वश इन चुनावो में बहुत दिनों तक हावी रहता था।

इस तरह हम देखते है कि बारहवीं और तेरहवीं सदियों में होहेन्स्टाफेन वश का साम्राज्य पर सबसे ज्यादा असर था। मेरा ख़याल है कि होहेन्स्टाफेन जर्मनी में कोई छोटा कस्बा या गांव है। शुरू में यह कुटुम्ब इसी गाँव से आया था। इसलिए उसने इस गांव के नाम पर ही अपना नाम रखलिया। होहेन्स्टाफेन वश का फ्रेडरिक प्रथम ११५२ ई० में सम्राट हुआ। वह आमतौर से फ्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है। यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था जो क्रूसेड के रास्ते में डूब गया था।

कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास में फ्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सब से शानदार थी। जर्मन जनता तो उसे बहुत दिनो से अपना आदर्श वीर और अर्द्ध-दैवी व्यक्ति समझती रही है और उसके बारे में कितनी ही कहानियाँ प्रचलित हो गई है। लोगो का कहना है कि वह किसी पहाड़ की गहरी गुफा में सोरहा है और जब समय आयगा, वह उठेगा और अपने देश-वासियो को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ्रेडरिक बार्बरोसा बहुत दिनो तक पोप के खिलाफ लडता रहा लेकिन अन्त में पोप की ही विजय हुई और फ्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। वह एक निरकुश राजा था। उसके बडे सामन्त और सरदार उसे बहुत तग करते थे। इटली में बडे-बडे नगर बढ रहे थे, फ्रेडरिक ने उनकी आजादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नहीं हुआ। जर्मनी में भी, खास कर नदियो के किनारे, बडे-बडे नगर कोलोन, हैम्बर्ग, फ़्रैंकफुर्त वगैरा बस रहे थे। लेकिन इनके बारे में फ्रेडरिक की नीति दूसरी थी। उसने स्वतत्र जर्मन नगरो की मदद की। उसने सामन्तो और सरदारो की ताकत को कम करने के लिए ही ऐसा किया था।

मैने तुम्हे कई मौको पर यह बताया है कि राज-धर्म के बारे में प्राचीन भारतीय धारणा क्या थी ? प्राचीन आर्य-काल से अशोक के समय तक, और 'अर्थ-शास्त्र' के समय से शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। लोकमत ही सब से बड़ा मालिक है। भारतीय सिद्धान्त यही था हालाँकि दूसरे देशो के राजाओ की तरह हिन्दुस्तान के राजा भी, अमल में, काफी स्वेच्छाचारी होते थे। इस प्राचीन भारतीय धारणा की तुलना प्राचीन योरप के ख़यालात से करो। उन दिनो के वकीलो की राय में सम्राट को सब अधिकार प्राप्त थे, उसकी मर्जी ही कानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट पृथ्वी पर क़ानून का जिन्दा पुतला है।" फ्रेडरिक बार्बरोसा खुद कहता था कि "जनता का यह काम नही है कि वह राजाओ को कानून बतावे बल्कि उसका काम तो राजाओ का हुक्म मानना है।"

इस सम्बन्ध में चीनी धारणा से भी मिलान करो। वहाँ सम्राट या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी बडी-बडी उपाधियो से पुकारा जाता था लेकिन इससे हमें धोखे में न पडना चाहिए। सिद्धान्त में चीन के सम्राट की हालत योरप के सर्वशक्तिमान सम्राट की हालत से बहुत भिन्न थी। एक प्राचीन चीनी लेखक, मेंग-त्सी ने लिखा है कि "जनता देश का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण अंग है, उसके बाद जमीन और फसल के देवताओ का दर्जा है और सबसे कम महत्व शासक या राजा का है।"

इस तरह योरप में सम्राट पृथ्वी पर सर्वशक्तिमान माना जाता था। इसी ख़याल से राजाओ के ईश्वरीय अधिकारो की भावना पैदा हुई है। अमल में तो वह भी सर्वशक्तिमान होने से बहुत दूर था। उसके सामन्त और सरदार बडे फसादी होते थे और धीरे-धीरे हम देखते है कि नगरो में नये-नये वर्ग पैदा होने लगे थे, जो शासन में हिस्सेदार होने का दावा करते थे। दूसरी ओर पोप भी पृथ्वी पर सर्व-शक्तिमान होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वशक्तिमान मिले, वहाँ उपद्रव होना लाजिमी ही है।

फ्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ्रेडरिक था। वह थोडी ही उम्र में सम्राट बन गया और उसका नाम फ्रेडरिक द्वितीय पडा। यह वही आदमी था जिसे 'स्टूपर मुडी' या 'ससार का आश्चर्य' कहा गया है। और जिसने फिलस्तीन जाकर मिस्र के सुल्तान के साथ दोस्ताना बातचीत की थी। अपने दादा की तरह यह भी पोप को सताता रहा और उसकी आज्ञा का निरादर करता रहा। पोप ने बदला लेने के लिए उसे समाज से बाहर निकाल दिया। यह पोपो का एक पुराना और कारगर हथियार था। लेकिन अब इसमें कुछ-कुछ ज़ग लग रहा था। फ्रेडरिक द्वितीय पोप के गुस्से की बिलकुल परवाह नही करता था और साथ ही दुनिया भी बदल रही थी। फ्रेडरिक ने योरप के सब राजाओ के पास लम्बे-लम्बे ख़त भेजे जिनमें उसने बताया कि "राजाओ के मामले में पोप को दख़ल देने की कोई ज़रूरत नहीं है। पोप का काम धार्मिक और अध्यात्मिक मामलो की देख-रेख करना है, राजनीति में दखल देना नहीं।" उसने पादरियो की बेईमानी और बुराइयाँ भी बताई। वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपो को पछाड दिया। उसके ये पत्र बडे रोचक है क्योकि वे पोप और सम्राट के बीच की पुरानी शक्ति में आधुनिक भावना के पैदा होने के पहले नमूने हैं।

फ्रेडरिक द्वितीय धार्मिक मामलो में बडा उदार था और अरबी और यहूदी फिलासफर उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी हिन्दसा और अलजब्रा (बीजगणित) योरप में पहुँचे थे। तुम्हे याद होगा कि ये असल में हिन्दुस्तान से अरब में गये थे। फ्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय कायम किया और सैलर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में चिकित्साशास्त्र के एक बड़ा स्कूल कायम किया था।

फ्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ ई० से १२५० ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टाफेन वश का अधिकार जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद क़रीब-करीब साम्राज्य का ही ख़ात्मा हो गया। इटली अलग हो गया, जर्मनी के टुकडे-टुकडे हो गये और वहाँ कई सालों तक भया-

तक उपद्रव मचा रहा । लुटेरे सरदार और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकनेवाला नही था । जर्मन जाति के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का भारी बोझ सहना बहुत मुश्किल था । फ्रास और इंग्लैंड में वहा के बादशाह अपनी स्थिति मजबूत कर रहे थे और बडे-बडे उपद्रवी सामान्तो और सरदारो को दबा रहे थे जर्मनी का बादशाह ही सम्राट भी था और वह पोप या इटली के शहरो से ही लड़ने में इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के सरदारो को दबा नही सकता था । जर्मनी को जरूर यह सन्देह-जनक अभिमान हो सकता था कि उसका राजा सम्राट होता है । लेकिन इसके लिए उसे यह क़ीमत चुकानी पडी कि उसके घर में खुद कमजोरी और फूट पैदा हो गई । जर्मनी के एक और सयुक्त-राष्ट्र होने के पहले ही फ्रास और इग्लैंड ताकतवर राष्ट्र होगये थे । सैंकडो बरसो तक जर्मनी में छोटे-छोटे राजा होते रहे । अभी केवल साठ ही वर्ष हुए जबकि जर्मनी संगठित हुआ लेकिन फिर भी छोटे-छोटे राजा और राजकुमार तो बने ही रहे । १९१४ के महायुद्ध ने इस झुण्ड को ख़त्म कर दिया ।

फ्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतना उपद्रव मचा रहा कि २३ साल तक कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया । १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट, रूडाल्फ सम्राट् चुना गया । अब हैप्सबर्ग का राजवंश सामने आया, जो राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहा लेकिन सन् १९१४ के महायुद्ध में यह राजवश भी, शासक की हैसियत से, खतम हो गया । युद्ध के समय आस्ट्रिया-हँगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ्रासिस जोजेफ था । वह बहुत बुड्ढा था । राजगद्दी पर बैठे हुए उसे ६० बरस से ज्यादा हो चुके थे । फ्रैंज फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और राजगद्दी का उत्तराधिकारी था, जो १९१४ में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप) के सिराजेवो नाम की जगह पर अपनी पत्नी के साथ क़त्ल कर दिया गया था । इसी कत्ल के करण महायुद्ध हुआ । इस युद्ध ने बहुत-सी चीजो का ख़ात्मा कर दिया, जिसमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवश भी शामिल है ।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफी है । इस साम्राज्य के पश्चिम में फ्रास और इग्लैंड अक्सर आपस में लडा करते थे , लेकिन इससे ज्यादा अपने ही बडे-बडे सरदारो से उनकी लडाई चलती रहती थी । जर्मनी के सम्राट् या राजा की बनिस्बत फ्रास और इंग्लैंड के बादशाह अपने सरदारो से लड़ने में ज्यादा सफल हुए, इसलिए इग्लैंड और फ्रास और राष्ट्रो के मुक़ाबिले में ज्यादा सयुक्त देश होते गये और उनकी एकता ने उन्हे ताकत दी ।

इसी समय इँग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा ।

घटना यह थी कि सन् १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाचार्टा पर दस्तख़त किये। जॉन अपने भाई रिचर्ड, जो 'लायन हार्टेड' यानी 'शेर दिल' कहा जाता है, के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बडा लालची था लेकिन साथ ही साथ कमजोर भी था। उसने हरेक आदमी को अपना दुश्मन बना लेने में ही कामयाबी हासिल की थी। इग्लैण्ड के सरदारो ने उसे टेम्स नदी के 'रनीमीड' नाम के टापू में घेर लिया और तलवार के जोर से डरा-धमकाकर मैग्नाचार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उससे जबरदस्ती दस्तख़त करवा लिये। मैग्नाचार्टा में उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह इग्लैंड के सरदारो और जनता के कुछ अधिकारो का आदर करेगा। इग्लैंड की राजनैतिक स्वतत्रता की लम्बी लडाई में इसे पहला कदम कहना चाहिए। इस प्रतिज्ञा-पत्र में यह ख़ास तौर पर लिखा गया था कि राजा किसी व्यापारी की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी में बिना उसके बराबरवालो की राय के दख़ल नही दे सकता। इसी बात से जूरी की प्रथा निकली है। जिसमें अपने बराबर के लोग फैसला देते है। इस तरह हम देखते है कि इग्लैंड में बहुत पहले ही राजा के इख़्तियारात कम कर दिये गये। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक की सर्व शक्तिमानता का जो सिद्धान्त प्रचलित था, वह उस समय भी इग्लैंड में नहीं माना जाता था।

यह एक मज़ेदार बात है कि यह कानून, जो इग्लैंड में आज से ७०० बरस पहले बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य में, हिन्दुस्तान पर लागू नहीं है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति, वाइसराय, को आर्डीनेन्स निकालने, क़ानून बनाने और जनता से उसकी सम्पत्ति और स्वाधीनता छीन लेने के हक हासिल है।

मैग्नाचार्टा के बनने के थोडे ही दिनो बाद इग्लैंड में एक और बडी बात हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय सभा का विकास होने लगा जिमें मुख़्तलिफ शहरो से सरदार और नागरिक भेजे जाते थे। यह अग्रेजी पार्लमेण्ट की शुरूआत थी। नायको (नाइटो) और नागरिको की सभा 'कामन्स हाउस' (साधारण सभा) बन गई और बडे-बडे अमीरो, सरदारो और पादरियो से मिलकर 'लार्डस् हाउस' (सरदार-सभा) बनी। शुरू-शुरू में इस पार्लमेण्ट को नाममात्र के अधिकार थें पर धीरे-धीरे इसकी ताक़त बढती गई। अख़ीर में तो राजा और पार्लमेण्ट में इस बात पर खींचतान होने लगी कि उन दोनो में कौन बडा है ? इस झगडे में राजा की जान गई और पार्लमेण्ट निर्विवाद रूप से इग्लैंड की मालिक हो गई। लेकिन यह ताक़त पार्लमेण्ट को क़रीब ४०० बरसो बाद—अर्थात् सत्रहवी सदी में जाकर मिली।

फ्रास में भी एक कौंसिल थी जो 'तीन रियासतो की कौंसिल' कही जाती थी। लार्ड, चर्च और जनता, ये ही तीन रियासते थीं। जब कभी राजा की इच्छा होती थी,

इस कौंसिल की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थी और यह अंग्रेजी पार्लमेण्ट की तरह अधिकार पाने में सफल न हो सकी। फ़्रांस में भी राजाओ की शक्ति टूटने के पहले एक राजा को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा था।

पूरब में अब भी यनानियो का पूर्वी रोमन साम्राज्य क़ायम था। अपनी जिंदगी की शुरूआत से ही यह किसी-न-किसी से लडाई करता रहा। और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि अब खतम हो जायगा। फिर भी वह जिन्दा रहा। पहले वह उत्तर की बर्बर जातियो से बचा और बाद में मुसलमानों के हमले से भी उसने अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसी, बलगेरियन, अरब, या सेलजूक के हमले भी हुए; लेकिन ईसाई जिहादियो का हमला सबसे ज्यादा घातक और नुकसानदेह साबित हुआ। इन ईसाई वीरो ने ईसाई कुस्तुन्तुनिया को जितना नुकसान पहुँचाया, उतना किसी विधर्मी ने नहीं पहुँचाया। इस आफ़त के बुरे असर से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं निकल या पनप सका।

पश्चिमी योरप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। वह उसकी बिलकुल परवाह नहीं करती थी। उसे ईसाईयत की दुनिया का अग नहीं कहा जासकता। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी योरप के विद्वानो की भाषा लैटिन थी। असल मे देखें तो इस गिरावट के जमाने में भी कुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं ज्यादा विद्या और ज्ञान-चर्चा थी लेकिन यह विद्या बुढापे की विद्या थी जिसमें कोई ताक़त या नई बाते सोचने और करने का माद्दा नहीं रह गया था। पश्चिम में विद्या कम थी लेकिन वह नई थी और उसमें नई बातें सोचने और करने की ताक़त थी और थोडे ही दिनो बाद यह ताक़त खूबसूरत चीजों और रचनाओ के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट और पोप में संघर्ष नही था। वहाँ सम्राट सर्व-शक्तिमान था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसीकी अजादी का सवाल ही नहीं था। राजसिंहासन सबसे ज्यादा ताक़तवर या सबसे ज्यादा सिद्धान्तहीन आदमी के लिए एक भेंट थी। हत्या और कपट से या मारकाट के बल पर लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड-बकरियो की तरह उनके हुक्मो को मानती रहती थी। उसको इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन उस पर राज्य करता है।

पूर्वी साम्राज्य योरप के फाटक पर एक द्वारपाल की तरह खड़ा था। वह एशियाई हमलो से उसकी रक्षा करता था। कई सौ बरसो तक वह इसमें सफल होता रहा।

कुस्तुन्तुनिया को अरबवाले नहीं लेसके। सेलजूक तुर्क भी, हालांकि वे उसके बहुत नजदीक पहुँच गये थे, उसे नहीं लेसके। मंगोल भी इसके पास से होते हुए उत्तर रूस की तरफ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर उनके हाथ में आगया। इस नगर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी खातमा होगया।

: ६४ :

योरप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडो का जमाना, योरप में, श्रद्धा, सामूहिक आकांक्षा और विश्वास का जमाना था। जनता अपनी आये दिन की मुसीबतो से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और विश्वास का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था और विद्या भी बहुत कम थी क्योकि जहाँ विश्वास का बोलबाला हो वहा विज्ञान और विद्या आसानी से फूल-फल नहीं सकते। विद्या और ज्ञान लोगो में सोचने और विचारने की ताकत पैदा कर देता है और शका, कौतूहल और तर्क श्रद्धा के लिए कोई अच्छे साथी नहीं हो सकते। विज्ञान का रास्ता परख और खोज का रास्ता है। श्रद्धा का रास्ता यह नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमजोर पड गई और शका का उदय हुआ।

लेकिन अभी तो जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का जोर था और रोमन चर्च धर्म में श्रद्धा रखनेवालो का नेता बनकर अक्सर उनको चूसता रहता था। न जाने कितने हजार 'भक्त' फिलस्तीन मे धर्म-युद्ध करने के लिए भेजे गये जो कभी लौट कर नहीं आये। पोप ने योरप की उस ईसाई जनता या समूहो के खिलाफ भी क्रूसेड (धर्मयुद्ध) की घोषणा करनी शुरू करदी, जो सब बातो में उसका हुक्म मानने को तैयार नहीं था। पोप और चर्च ने 'डिसपेन्सेशन' और 'इडलजेन्स' जारी कर या अक्सर उन्हें बेंचकर जनता के अध-विश्वास का बेजा फायदा उठाया। चर्च के किसी क़ानून या परिपाटी के भग करने की इजाजत को 'डिसपेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन कानूनो को चर्च खुद बनाता था उन्ही को खास मौकों पर तोडने की इजाजत भी वह दे देता था। एसे नियमो के लिए ज्यादा दिनों तक लोगो के दिलो में इज्जत क़ायम नहीं रह सकती। 'इडलजेंस' इस से भी बदतर चीज थी। रोमन चर्च के मुताबिक़ मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी'

नामक लोक में जाती है जो स्वर्ग और नरक के बीच में है। वहाँ पर इस दुनिया में किये हुए पापो के लिए ये आत्मायें यातना भोगा करती है; इसके बाद कहीं ये स्वर्ग को जाती हैं। पोप रुपया लेकर लोगो को अपना प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'पेरगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग को पहुँच जायेंगे। इस तरह श्रद्धा के कारण चर्च भोले-भाले लोगो को लूटता था और जिन कामो को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा पैदा कर लिया करता था। 'इंडलजेन्स' की बिक्री का रिवाज क्रूसेडो के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बडी बदनामी फैली और बहुत से कारणो में एक कारण यह भी था जिससे लोग रोमन चर्च के खिलाफ हो गये।

यह ताज्जुब की बात है कि सीधे-सादे विश्वास और श्रद्धावाले लोग कैसी-कैसी बातें सरलता से मान लेते और सहन कर लेते हैं। यही वजह है कि कई देशो में धर्म एक बहुत बड़ा और बडे फायदे का रोजगार बन गया है। मन्दिरो के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह भोले-भाले उपासको को मूँड़ने की कोशिश करते हैं। गंगा के घाटो पर जाओ; वहाँ तुम देखोगी कि पडे किस तरह कुछ धार्मिक क्रियाओ को करने से तबतक इन्कार करते है, जबतक कि बेचारा ग़रीब देहाती इन्हे भेंट नही दे देता। कुटुम्ब में कुछ भी हो—चाहे बच्चा पैदा हुआ हो, शादी हो या ग़मी हो, पुरोहित बीच में जरूर आपड़ते हैं और पैसा चाहते हैं।

यह बात हर मजहब में है, फिर चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाई धर्म हो, चाहे इस्लाम हो या पारसी। हर मजहब का, श्रद्धालुओं के विश्वास से, पैसा पैदा करने का अपना अलग तरीका होता है। हिन्दू धर्म का तरीका बिलकुल साफ और खुला हुआ है। कहा जाता है कि इस्लाम में पुजारी या पुरोहित नहीं होते और पुराने जमाने में अपने अनुयायियो को धार्मिक लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोडी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में ख़ास तरह के व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को धर्म के मामलो की खासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला वग़ैरा। इन लोगों ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानो पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँड़ना शुरू कर दिया। जहाँ पर लम्बी दाढ़ी, चोटी, तिलक, फकीरी बाना या संन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाय, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

यह देखकर हैरत होती है कि आदमी चतुर न होने पर भी धर्म के मामले में अंधविश्वास की वजह से कितनी दूर तक जाने को तैयार हो जाता है। शायद तुमने आग़ाखां का नाम सुना होगा। वह मुसलमानो के एक फिरके के प्रधान हैं और उनके बहुत से मालदार अनुयायी हैं। कहा जाता है कि पुराने जमाने के पोपो की तरह

वह आज भी धन लेकर 'इंडलजेन्स' या वैसी ही कोई चीज जारी किया करते हैं। लेकिन मालूम होता है कि आगाखां पोप से भी आगे बढ़ गये हैं। वह सचमुच फरिश्ता जिब्राईल या उसीके समान परलोक के किसी दूसरे ऊँचे अधिकारी के नाम एक पत्र लिख देते हैं जिसमें पत्र ले जानेवाले के साथ खास रिआयत करने का अनुरोध होता है। इस क़िस्म के पत्र के लिए निस्सन्देह बहुत बड़ी रक़म देनी पड़ती है। मेरा ख़याल है कि जब आदमी मर जाता है तब यह खत उसके कफ़न में रख दिया जाता है। जब ऐसी बातों के होते हुए भी धर्म की हस्ती बनी है तब समझना चाहिए कि उसका और श्रद्धा का लोगों पर कैसा अजीब असर है। फिर भी आगाखां खुद एक बहुत शरीफ आदमी हैं, और ज्यादातर पेरिस और लन्दन में रहा करते हैं और घुड़दौड़ के बड़े शौकीन हैं।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आज-कल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, तो तुम वहाँ भी देखोगी कि धर्म एक बहुत बड़ा रोजगार बन गया है, जो जनता के शोषण पर जीरहा है।

मैं मध्य युग और श्रद्धा के जमाने से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस जमाने की तरफ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को स्पष्ट और रचनात्मक रूप धारण करते हुए पाते हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में निर्माण का एक बड़ा ऊँचा जमाना आया। इसमें सारे पश्चिमी योरप में बड़े-बड़े गिरजे बन गये। एक ऐसी शिल्पकला का जन्म हुआ जैसी योरप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। कारीगरी और हिकमत से गिरजों की भारी-भारी छतों का दबाव और बोझ इमारत के बाहर बने बड़े-बड़े पुश्तों पर बांट दिया जाता था। गिरजे के भीतर पतले खम्भों को देखकर ताज्जुब होता है जो जाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए मालूम होते हैं। अरबी निर्माण-शैली की तरह इन गिरजों में भी नुकीले मेहराब होते थे। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली एक मीनार होती थी। निर्माण की इस शैली को 'गॉथिक शैली' कहते हैं जो योरप में फूली-फली। इसमें आश्चर्यजनक सुन्दरता थी और ऐसा मलूम होता है कि यह एक ऊँची उठती हुई श्रद्धा और आकांक्षा की प्रतिनिधि थी। सचमुच यह श्रद्धा के जमाने की नुमाइन्दा थी। ऐसी इमारतें केवल वही शिल्पकार और कारीगर बना सकते हैं जिन्हें अपने काम से प्रेम हो और जो एक बड़े मक़सद को पूरा करने के काम में आपस में सहयोग करें।

पश्चिमी योरप में इस गॉथिक शैली का विकास एक अद्भुत् बात है। अव्यवस्था, अराजकता, अज्ञान और असहिष्णुता के कीचड़ से यह एक खूबसूरत चीज पैदा

हुई—जैसे स्वर्ग की ओर उठती हुई प्रार्थना हो। फ़ास, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गॉथिक शैली के वडे-वडे गिरजे क़रीब-क़रीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नही जानता कि उनकी शुरूआत कैसे हुई; और न कोई उनके वनानेवालो के नाम ही जानता है। ये रचनायें जनता की सम्मिलित प्रेरणा और परिश्रम को जाहिर करती है, किसी एक शिल्पकार की नहीं। इन गिरजो की दूसरी ख़ासियत उनकी खिड़कियो के कलईदार रगीन शीशे थे। इन खिड़कियो पर खूबसूरत रंगो में अच्छी-अच्छी तस्वीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर जो रोशनी आती वह गिरजो से पैदा होने वाले पवित्र और आतक के भाव को वढा देती थी।

थोडे दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में योरप का मुकाबिला एशिया से किया था। उस वक्त हमने देखा था कि एशिया योरप से सस्कृति और सभ्यता में कहीं ज्यादा वढ़ा हुआ था। फिर भी हिन्दुस्तान में रचनात्मक काम वहुत ज्यादा नही होरहा था। मै यह भी कह चुका हूँ कि नई वाते सोचना और पैदा करना ही जिदगी की निशानी है। अर्धसभ्य योरप से पैदा होनेवाली गॉथिक शिल्पकला इस वात का सवूत है कि उसमें काफी जिदगी मौजूद थी। वदअमनी और सभ्यता की पिछडी हुई स्थिति में पैदा होनेवाली कठिनाइयो के होते हुए भी यह जिन्दगी फूट निकली और उसने अपने को जाहिर करने के लिए रास्ता ढूंढ लिया। गॉथिक इमारतें इस बात को जाहिर करती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही जिन्दगी का प्रवाह चित्रकला, स्थापत्य (पत्थर से बननेवाले मकानो और मूर्तियो की) कला और साहस के ख़तरनाक कामो के प्रति प्रेम वग़ैरा में भी फैल गया।

तुमने इन गॉथिक गिरजो में से कुछ को देखा है। मुझे मालूम नहीं कि तुम्हे उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर गिरजा देखा था। इटली के मिलन शहर में एक बहुत खूबसूरत गॉथिक गिरजा है। एक सुन्दर गिरजा फ्रास में चारत्रे नामक जगह पर भी है। लेकिन मै सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गॉथिक गिरजे जर्मनी, फ्रांस, इग्लैण्ड और उत्तरी इटली में फैले हुए है। यह एक ताज्जुब की वात है कि ख़ास रोम में गॉथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियो के इस बडे निर्माण-युग में ग़ैर-गॉथिक शैली के गिरजे भी बनाये गये जैसे पेरिस में नात्रदेम और शायद वेनिस का सेन्ट मार्क। सेन्ट मार्क, जिसे तुमने देखा है, बिजेण्टियन शैली का एक नमूना है। इसमें पच्चीकारी का वहुत ही अच्छा काम है।

श्रद्धा का जमाना ढल गया और इसके साथ गिरजो का बनना भी कम हो गया। आदमियो के ख़याल दूसरी तरफ़ फिर गये। लोग अपने व्यापार, रोज़गार

और शहरी जिंदगी पर गौर करने लगे। लोगो ने गिरजो की जगह शहर की दीवारें और दूसरी इमारतें वनवानी शुरू कीं। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरूआत से सुन्दर गॉथिक टाउनहाल या पचायती हाल, उत्तर और पश्चिम योरप भर में फैले हुए देखते है। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारते गॉथिक शैली की है लेकिन मै यह नहीं जानता कि वे कव वनीं। इतना मुझे ख़याल है कि पहले की गॉथिक इमारत जल गई थी और उसके वाद गॉथिक शैली पर ही एक दूसरी इमारत वनाई गई।

ग्यारहवीं और वारहवीं सदी के ये वडे-वडे गॉथिक गिरजे शहरो और कस्वो में ही वने। पुराने शहर ऊपर उठ रहे थे और नये तरक्क़ी कर रहे थे। सारे योरप में तब्दीली होरही थी और सभी जगह शहरी जिंदगी वाढ पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने जमाने में भूमध्य सागर के किनारे चारो तरफ वडे-वडे शहर थे लेकिन जव रोम और यूनानी रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, ये शहर भी उजड गये। सिवाय कुस्तुन्तुनिया के मुश्किल से योरप में कोई वडा शहर पाया जाता था। हां, स्पेन की वात जुदी थी जहां अरवो की हुकूमत थी। एशिया में हिन्दुस्तान, चीन और अरवी दुनिया में वडे-वडे शहर इस जमाने में मौजूद थे लेकिन योरप में यह वात नहीं थी। मालूम होता है, सभ्यता और सस्कृति साथ-साथ चलते है और योरप में रोमन व्यवस्था के टूट जाने के वहुत दिनो वाद तक इनमें से कोई चीज नहीं पाई जाती थी।

लेकिन अव नागरिक जीवन का फिर से उत्थान हो रहा था। इटली में ख़ास तौर से ये शहर वढ रहे थे। सम्राट और पवित्र रोमन साम्राज्य की आंखो में ये खटकते थे क्योंकि ये अपने कुछ अधिकारो और आजादी से हाथ धोने को तैयार नहीं थे। इटली में और दूसरी जगहो में ये शहर व्यापारी और मध्य वर्ग की वढती हुई ताक़त के सुवूत थे।

वेनिस, जो एड्रियाटिक समुद्र में सवसे जवर्दस्त था, आजाद प्रजातंत्र होगया था। इसके बीच फैली इसकी चक्करदार नहरो में समुद्र का पानी आता है और निकल जाता है, जिससे आज यह वडा ख़ूबसूरत हो गया है, लेकिन कहते है कि शहर बनने और बसने के पहले यहां दलदल और तराई की जमीन थी। जब एटिला हूण तलवार और आग लेकर एक्यूलिया में आया तो कुछ लोग भागकर वेनिस की तराई में छिप गये। इन्हीं लोगो ने ख़ुद वेनिस का शहर बसाया और चूंकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पडता था इसलिए आजाद बने रहे। हिन्दुस्तान से और पूरब के दूसरे मुल्को के साथ वेनिस का वडा व्यापार था। और इसके साथ दौलत भी आती थी। वेनिस ने अपनी जल-सेना वनाली और एक वडी

समुद्री ताकत बन गया। यह अमीरो का प्रजातंत्र था, जिसमें एक अध्यक्ष या राष्ट्रपति हुआ करता था। उसे डॉजे कहते थे। जब नेपोलियन वेनिस में विजेता की हैसियत से १७९७ ई० में दाख़िल हुआ तबतक यह प्रजातंत्र कायम रहा। कहते है कि जिस दिन नेपोलियन वहाँ दाख़िल हुआ, वहाँ का डॉजे, जो बहुत बुड्ढा आदमी था, मर गया। वह वेनिस का आख़िरी डॉजे था।

इटली की दूसरी तरफ जिनेवा था। यह भी समुद्री मुसाफिरो का एक बड़ा व्यापारी शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनो शहरो के बीच में बोलोना का विश्व-विद्यालय था और पीसा, वेरोना और फ्लोरेस के नगर थे। यह वही फ्लोरेस था जहाँ बहुत जल्द बडे-बडे कलाकार पैदा होने वाले थे और जो मशहूर मेडिसी राजघराने की मातहती में तेजी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलन का शहर एक महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हो गया था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ रहा था।

फ्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपेट ने अपनी राजधानी बनाई थी, फ्रांस की तरक्की के साथ बढ़ता जाता था। पेरिस हमेशा से ही फ्रांस का मर्मस्थल और आत्मा का केन्द्र रहा है। दूसरे देशो में दूसरी राजधानियां हुई है लेकिन पिछले एक हजार वर्ष में पेरिस फ्रास के जीवन पर जितना हावी रहा है, उतनी कोई दूसरी राजधानी किसी दूसरे देश पर नहीं रही। फ्रास में दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लायन्स, मार्सेलीज (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था) आर्लियन्स, वोर्डियो बुलोन वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी में भी स्वतत्र शहरो की तरक्की, ख़ास तौरपर १३ वीं और १४ वीं सदी में, ध्यान देने के काबिल है। इन शहरो की आबादी बढ रही थी और ज्यो-ज्यो उनकी ताकत और दौलत बढती गई, वे बहादुर होते गये और उन्होने सामन्तो से लडाई शुरू करदी। सम्राट भी इनको प्रोत्साहन देता था क्योकि वह इनके जरिये बडे-बडे सरदारो को दबाये रखना चाहता था। इन शहरो ने मिलकर अपनी हिफाजत के लिए बडी-बडी व्यापारिक पंचायते और संघ बना लिये। कभी-कभी ये संघ सरदारो के संघ के ख़िलाफ युद्ध की घोषणा कर देते थे। जर्मनी के उन्नतिशील नगरो में से कुछ के नाम ये है—हैम्बर्ग, ब्रीमेन, कोलोन फ्रैंकफुर्त, म्यूनिच, डैनज़िग, न्यूरेम्बर्ग, ब्रेसलाउ।

निदरलैंड्स में, जिसे आज हालैंड और बेलजियम कहते है, एण्टवर्प, ब्रूजेज और घेण्ट नाम के शहर थे; ये व्यापारिक शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में लन्दन तो था लेकिन वह योरप के महत्वपूर्ण शहरो से तिजारत, दौलत या विस्तार में मुक़ाबिला नहीं कर सकता था। आक्सफर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जाते थे। योरप के

पूरब में वियेना का शहर था, जो योरप के सबसे पुराने शहरो में से एक है। रूस में मास्को, कीफ और नोवगोरॉड बडे शहर थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज्यादातर शहर, पुराने तरीके के शाही नगरों से बिल्कुल अलग चीज़ थे। योरप के इन बढनेवाले शहरो के महत्व की वजह कोई सम्राट या बादशाह नहीं था बल्कि वह तिजारत थी, जिनपर इनका कब्जा था। इसलिए इनकी ताकत बडे सामन्तों से नहीं थी, बल्कि व्यापारीवर्ग से थी। ये व्यापारिक शहर कहलाते थे। शहरो का तरक्की करना गोया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआवर्ग का तरक्की करना है। यह मध्यमवर्ग, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अपनी ताकत बढाता रहा। यहाँ तक कि इसने बादशाहो और सरदारो को ललकार दिया और उनसे हुकूमत छीन ली। लेकिन यह बात तो उस ज़माने के बहुत दिनो बाद हुई है, जिसपर हम इस वक़्त विचार कर रहे है।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता साथ-साथ चलते हैं। शहरो की तरक़्क़ी से विद्या और आज़ादी की भावना बढ़ती है। जो लोग देहातो में रहते है वे बहुत दूर-दूर बसे होते है और अक्सर अन्ध विश्वासी हुआ करते हैं। वे प्रकृति की दया पर निर्भर करते हैं। उन्हें बडी सख़्त मेहनत करनी पड़ती है, बहुत कम फुरसत मिलती है और अपने मालिको के हुक्म के खिलाफ चलने की हिम्मत नहीं होती। शहरो में लोग एक बहुत बडी तादाद में साथ-साथ रहते हैं। इन्हे ज्यादा सभ्य जिन्दगी बिताने का, पढने का, बहस-मुबाहिसा करने, और आलोचना करने का, और विचार करने का मौका मिलता है।

इस तरह राजनैतिक हुकूमत के ख़िलाफ, जिसके नुमाइन्दे सरदार और सामन्त होते थे और आध्यात्मिक सत्ता के ख़िलाफ, जिसका नुमाइन्दा चर्च था, आज़ादी की भावना बढने लगी। श्रद्धा और विश्वास का ज़माना ख़तम हुआ और शंका की शुरूआत हुई। अब लोग चर्च और पोप की हुकूमत को आँख बन्द करके मानने को तैयार नहीं थे। हमने देखा है कि सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि मुख़ालफत की यह भावना किस तरह बढती गई।

बारहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक्की होने लगी। योरप में पढे-लिखो की आम ज़बान लैटिन थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्वविद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का बडा कवि हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेट्रार्क, जो इटली का दूसरा बडा कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोडे दिन बाद चासर, जो प्रसिद्ध अग्रेज़ कवियो में सबसे पहले हुआ, इग्लैण्ड में पैदा हुआ।

लेकिन विद्या की पुनर्जागृति से ज्यादा दिलचस्प चीज वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरूआत थी। बाद के वर्षो में योरप में यह भावना बहुत बढी। तुम्हे याद होगा, मैंने तुम्हे बताया था कि अरबो में यह भावना पाई जाती थी और इन लोगो ने इसके मुताबिक काम भी किया था। मध्ययुग में, योरप में, प्रयोग और खुले दिमाग साथ ऐसे अन्वेषण की भावना का जिन्दा रह सकना मुश्किल था। पादरियो का गिरोह इसको नहीं सह सकता था। लेकिन पादरी समुदाय के बावजूद यह भावना प्रकट होने लगी। योरप में इस वक्त एक अग्रेज ऐसा हुआ, जिसमें सबसे पहले यह वैज्ञानिक भावना जाहिर हुई। उसका नाम रोजर बेकन था। वह अक्सफर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

हिन्दुस्तान पर अफ़ग़ानों का हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे खत में खलल पड गया। जब लिखने बैठा तो यह भूल गया कि मैं जेल में हूं और मेरे चारो तरफ क्या-क्या चीजें हैं। खयालो की तेज रफ्तार के साथ मै मध्य युग की दुनिया में पहुँच गया लेकिन उससे ज्यादा तेजी के साथ उस जमाने से मौजूदा दुनिया में खींच लाया गया और मुझे, किसी कदर तकलीफ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि ममी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाकात न होने पायगी। मुलाकात बद होने की कोई वजह मुझे नहीं बताई गई। क़ैदी को वजह क्यो बताई जाय? दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई हैं और मुलाकात की अगली बारी का इन्तिजार कर रही थीं पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार होगया और अब उन्हे वापस जाना होगा। यह है वह शराफत, जो हमारे साथ की जाती है। खैर! हमें परवाह न करनी चाहिए। ये तो रोजमर्रा की बाते हैं। क़ैदखाना बहरहाल कैदखाना है। हमें यह न भूल जाना चाहिए।

इस कठोर जागरण के बाद मेरे लिए यह मुमकिन नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर गुजरे हुए जमाने का खयाल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब ठीक हूँ; इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

अब हम हिन्दुस्तान में वापस लौट आवेगे। बहुत दिनो तक हम इस मुल्क से दूर रहे। मध्य युग के अँधेरे से बाहर निकलने लिए जिस वक्त योरप कोशिश कर रहा

१ इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

था, जब योरप के लोग सामन्त प्रथा, चारो तरफ की वद-इतजामी और कुशासन के बोझ में पिसे जारहे थे, तब हिन्दुस्तान की क्या हालत थी ? जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड रहे थे, योरप के मुल्क एक शक्ल पकडते जारहे थे और क्रूसेडों के दरमियान इस्लाम और ईसाई प्रभुत्व से लिए लड रहे थे, तब हिन्दुस्तान में क्या हो रहा था ?

हम मध्य युग की शुरूआत के हिन्दुस्तान की एक झलक देख चुके हैं। हमने देखा है कि सुलतान महमूद उत्तर पश्चिम ग़जनी से उत्तरी हिन्दुस्तान के हरे-भरे मैदानो पर कैसे टूटा, लूटमार की और वरवादी करके वापस चला गया। महमूद के हमलों ने, हालांकि वे वडे जवर्दस्त थे, हिन्दुस्तान में कोई वडी या ज्यादा दिनो तक टिकनेंवाली तव्दीली पैदा नहीं की। इनसे मुल्क को, खासकर उत्तर को, वडा धक्का पहुँचा। महमूद गजनवी ने वहुत-सी खूवसूरत इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके (ग़जनी) सम्राज्य में सिर्फ सिन्ध और पजाव का कुछ हिस्सा बाकी रहा। उत्तर के बाकी हिस्से बहुत जल्द निकल गये। दक्षिण और वगाल से तो इन हमलों का कोई सम्वन्ध ही न था। महमूद के वाद डेढ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक इस्लाम या मुसलमानो की विजय की बाढ हिन्दुस्तान में कुछ भी आगे न बढ़ सकी।

बारहवीं सदी के अख़ीर में, ११८६ ई० के क़रीव, उत्तर-पश्चिम से हमलो की एक नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ। उसने ग़जनी पर क़ब्जा कर लिया और ग़जनवी साम्राज्य को ख़तम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन गोरी (गोर नाम के अफ़ग़ानिस्तान के एक छोटे-से कसवे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर आया और उसपर कब्जा कर लिया। इसके बाद वह दिल्ली आया। पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था; उसके झडे के नीचे उत्तर हिन्दुस्तान के बहुत-से सरदार शहाबुद्दीन के ख़िलाफ लडे और उसको वुरी तरह हराया लेकिन यह हार थोडे ही दिनो की रही। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बडी फौज लेकर वापस आया और इसबार उसने पृथ्वीराज को हराकर क़त्ल कर दिया।

पृथ्वीराज अभी तक एक लोकप्रिय वीर नायक समझा जाता है और उसके बारे में बहुत से गाने और किस्से मिलते हैं। इनमें से सबसे मशहूर किस्सा कन्नौज के राजा जयचन्द की लडकी को भगा लेजाने का है। लेकिन इस घटना ने पृथ्वीराज को बहुत नुकसान पहुँचाया। इसकी वजह से उसके कितने ही सूरमा अनुयायियो की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी उसने मोल लेली। इसकी वजह से आपसी झगडो की शुरुआत हुई और हमला करनेवाले के लिए जीतना आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बडी विजय हासिल की, जिसकी वजह से हिन्दुस्तान में मुसलमानो की हकूमत कायम हुई । धीरे-धीरे हमला करने वाले पूरब और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे । आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० तक, मुसलमानो की हुकूमत दक्षिण के बडे भाग पर फैल चुकी थी । इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी । नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू । इन सब में विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य नोट करने लायक है । दो सौ बरसो तक इस्लाम, एक हद तक असफल होता रहा । फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान् आया तब कहीं यह करीब-करीब सारे हिन्दुस्तान में फैल गया ।

मुसलमान हमला करनेंवालो के हिन्दुस्तान में आनें की वजह से बहुत से परिणाम हुए । याद रखो कि ये हमला करनेवाले अफगान थे । ये अरब, ईरानी या पश्चिमी एशिया के उच्च कोटि के सभ्य मुसलमान न थे । सभ्यता के ख़याल से अफगान हिन्दुस्तानियो से पीछे थे लेकिन ताकत और जोश से भरे हुए थे और उस वक़्त के हिन्दुस्तान के मुकाबिले में कहीं ज्यादा जानदार थे । हिन्दुस्तान गहरे दलदल में फँसा हुआ था । उसमें तब्दीली और तरक्की का ख़याल बहुत कम रह गया था । वह पुराने तरीको और रिवाजो से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने या उन्हें बेहतर बनाने की कोशिश नहीं करता था । युद्ध के तौर-तरीको में भी हिन्दुस्तान पीछे था और अफगान लोग कहीं अच्छे ढग पर संगठित थे । इसलिए साहस और त्याग के होने पर भी पुराना हिन्दुस्तान मुसलमान आक्रमणकारियो के सामने झुक गया ।

ये मुसलमान बडे ख़ौफनाक और जालिम थे । ये एक कठोर देश से आये थे, जहाँ 'मुलायमियत' की ज्यादा कद्र नहीं थी, इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये और हारे हुए मुल्क में थे और चारो तरफ़ दुश्मनो से घिरे हुए थे । ये दुश्मन किसी वक्त बलवा कर सकते थे । इन लोगो को बलवे का डर बराबर रहा होगा और इस डर की वजह से अक्सर आदमी भयंकर और ज़ालिम बन जाता है । इसलिए जनता को पस्त कर देने के लिए कत्लेआम होते थे । इसमें एक मुसलमान के एक हिन्दू को उसके मजहब के लिए कत्ल करने की कोई बात न थी; वहाँ तो हारे हुए हिन्दुस्तानियो की आत्मा को जीते हुए विदेशियो द्वारा कुचल दिये जाने का सवाल था । इन जुल्मो और बेरहमी से भरे हुए कामो का खुलासा करते वक़्त हमेशा मजहब का नाम लिया जाता है । लेकिन यह ग़लत बात है । कभी-कभी मजहब का बहाना जरूर लिया जाता था, लेकिन असली वजह राजनैतिक और सामाजिक थी । मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने हिन्दुस्तान पर हमला किया, अपने मुल्क में भी वैसे ही बेरहम और खूँख़ार होते थे और मुसलमान

होने के बहुत पहले भी वे इसी तरह के थे। एक नया मुल्क जीतने के बाद उसको कब्जे में रखने का सिर्फ एक ही तरीका उन्हे मालूम था और वह ख़ौफ का तरीक़ा था।

हम देखते है कि धीरे-धीरे हिन्दुस्तान ने इन खूंख़ार सिपाहियो को मुलायम कर दिया और उन्हे सभ्यता सिखा दी। वे समझने लगे कि हम विदेशी आक्रमणकारी नहीं है, बल्कि हिन्दुस्तानी है। उन्होने इस देश की स्त्रियो के साथ शादी करनी शुरू करदी और हमला करनेवाले और जिन पर हमला किया गया था, उनके बीच का फ़र्क़ कम होता गया।

तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद ग़ज़नी के पास, जो उत्तर हिन्दुस्तान को बरबाद करनेवालो में सबसे बड़ा हुआ है और जो 'काफिरो' के ख़िलाफ मुसलमानो का नेता समझा जाता था, एक हिन्दू फौज थी, जिसका एक हिन्दू सेनापति था। इस सेनापति का नाम तिलक था। वह तिलक और उसकी फौज को अपने साथ ग़ज़नी लेआया था और उसकी मदद से विद्रोही मुसलमानो को नष्ट किया करता था। इस तरह तुम देखोगी कि महमूद का उद्देश्य नये मुल्को को फतह करना था। जैसे हिन्दुस्तान में वह अपने मुसलमान सिपाहियो की मदद से बुतपरस्तो को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में हिन्दू सिपाहियो के ज़रिये मुसलमानो को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने हिन्दुस्तान को हिला दिया। इसने ऐसे समाज में, जो गिर रहा था, तरक्की के लिए जोश और ज़िन्दगी भरदी। हिन्दू कला, जो दूषित और पतित होगई थी, और जो तफसील, नक़ल और पुनरुक्ति की वजह से बोझीली हो चली थी, उत्तर में तब्दील होने लगी। एक नई कला पैदा हो गई, जिसे हिन्दुस्तानी-मुस्लिम कला कहना चाहिए और जिसमें उत्साह था और ज़िन्दगी थी। पुराने हिन्दुस्तानी कारीगरों को मुसलमानों के लायें हुए नये ख़यालात से हिम्मत और रवानी यानी स्फूर्ति मिली। मुसलमान धर्म और ख़यालात की सादगी ने उस ज़माने की शिल्पकारी पर असर डाला और उसमें श्रेष्ठता और सादगी पैदा कर दी।

मुस्लिम हमलो का पहला असर यहाँ के लोगो पर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण चले गये। महमूद के हमलो और क़त्लेआम के बाद उत्तरी भारत के लोग बर्बरता, बेरहमी और विनाश को इस्लाम का अग समझने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और उसका रोकना नामुमकिन हो गया तो कुशल शिल्पकारों और विद्वानो के झुण्ड के झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य सस्कृति को बड़ी ताक़त मिली।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मै पहले तुम्हें बता चुका हूँ। मैने तुम्हें बताया था

कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्ष तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यो की ताकत सबसे ज्यादा प्रभावशाली हो गई थी। ह्यूएनत्साग पुलकेशिन् द्वितीय से मिला था, जो उस समय राजा था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यो को हरा दिया। आठवीं सदी से दसवी सदी के अख़ीर तक, यानी २०० वर्ष तक, दक्षिण में राष्ट्रकूटो की धाक जमी रही। सिन्ध के अरब शासको के साथ राष्ट्रकूटो का बड़ा अच्छा ताल्लुक था। उनके राज्य में बहुतेरे अरब व्यापारी और मुसाफिर आते थे। ऐसे ही एक मुसाफिर ने अपने यात्रा-वर्णन में वहाँका कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटो का उस समय का राजा ससार के चार सबसे बडे सम्राटो में से एक था। उसको राय में बगदाद के ख़लीफा और चीन और रूम (कुस्तुन्तुनिया) के सम्राट संसार के दूसरे तीन बडे सम्राट थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योकि इससे उस समय के एशिया में फैले लोकमत का हमें पता चलता है। किसी अरब मुसाफिर का राष्ट्रकूटो के राज्य का ख़लीफा के साम्राज्य से मुकाबिला करना, जबकि बग़दाद अपनी शान और दबदबे की चोटी पर रहा होगा, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत मजबूत और ताकतवर रहा होगा।

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटो की जगह पर फिर चालुक्यो का राज्य हो गया और ये लोग २०० से भी ज्यादा बरसो, यानी ११९० ई०, तक राज्य करते रहे। इन चालुक्य राजाओ में से एक के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है और इस कविता में बताया गया है कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयंवर में कैसे चुना था। आर्यों की यह पुरानी रस्म इतने दिनो तक कायम थी।

हिन्दुस्तान में दक्षिण और पूर्व की तरफ़ और आगे बढ़कर तमिल देश था। यहाँ तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी करीब ६०० वर्षों तक, पल्लवो का राज्य रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक वे दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हे याद होगा कि इन्हीं पल्लवो ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपो को बसाने के लिए बेडे भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी काँची या काँजीवरम् थी। यह उस वक्त एक ख़ूबसूरत शहर था और आज भी यह अपने नगर बसाने के सुन्दर और बुद्धिमत्तापूर्ण ढग के लिए मशहूर है।

पल्लवो की जगह पर दसवी सदी को शुरू में चोल लोग आगये। मैं तुम्हे राजराजा और राजेन्द्र के चोल साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ, जिसने बडे-बडे जहाजी बेडे बनवाये थे और लका, बरमा और बंगाल जीतने के लिए निकला था। उस वक्त की उनकी पंचायत-प्रथा, जिसमें हरेक गाँव में पंचायत के लिए चुनाव

होता था, खासतौर पर नोट करने लायक़ है। इस प्रथा की बुनियाद नीचे से शुरू होती थी। गाँव की पचायते अनेक कमेटियाँ बनाती थीं, और जुदे-जुदे कामो की देख-रेख करती थीं और जिला की पचायतें भी चुनती थीं। फिर ये जिले की पचायते सूबे की पचायते बनाती। मैंने अकसर इन खतो में इस ग्राम-पचायत-प्रणाली पर जोर दिया है, क्योंकि यही प्राचीन आर्य राज-व्यवस्था की बुनियाद थी।

जिस वक्त उत्तरी भारत पर अफ़ग़ानो ने हमला किया, दक्षिण भारत में चोल लोगो का बोलबाला था। कुछ दिन के बाद ये गिरने लगे और एक छोटा-सा राज्य, जो पहले इनकी मातहती में था, स्वतन्त्र होगया और उसकी ताक़त बढ़ने लगी। यह पाड्यो का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी और इसका बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्कोपोलो, जिसके बारे में मैं बाद को कुछ लिखूंगा, दो दफा कायल गया था—एक दफा ई० सन् १२८८ में और दूसरी दफा ई० सन् १२९३ में। इसने लिखा है कि यह बहुत बड़ा और भव्य शहर है, अरब और चीन के जहाजों से भरा रहता है और व्यापार के कारण गूंजता रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर 'मकड़ी के जाले की तरह महीन' मलमल बनती थी। मार्को एक महिला, रुद्रमणी देवी का भी जिक्र करता है, जो तैलग (तेलगू) देश की रानी थी। इसने ४० वर्ष तक हुकूमत की। मार्को ने इसकी बडी तारीफ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरबस्तान और ईरान से समुद्र के जरिये दक्षिण हिन्दुस्तान में घोडे खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोडो की नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते है, हिन्दुस्तान पर हमला करनेवाले मुसलमान इसीलिए बेहतर सिपाही होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोडे हुआ करते थे। एशिया की वे जगहे, जहाँ बढ़िया घोडे पैदा होते हैं, मुसलमानो के ही क़ब्जे में थीं। इस तरह तेरहवीं सदी में जब चोल राज्य का पतन हुआ, पाण्डय राज्य एक ताक़तवर तमिल राज्य था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानो के हमले की नोक दक्षिण तक पहुँच गई, यह नोक पाड्य राज्य के अन्दर तक घुस गई और यह राज्य तेजी के साथ गिर गया।

मैंने इस खत में दक्षिण हिन्दुस्तान के इतिहास पर एक सरसरी नजर डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय जरा पेचीदा है और पल्लव, चालुक्य और चोल इन शब्दो से लोग भ्रम में फँस जाते हैं और अक्सर एक-दूसरे को मिला देते है। लेकिन अगर तुम सबको लेकर इसपर नजर

डालोगी तो अपने मन में इसे इतिहास के लम्बे चौडे ढाँचे के अंदर मुनासिब स्थान दे सकोगी। तुम्हे याद होगा कि दक्षिण के छोटे से कोने को छोड़कर अशोक सारे हिन्दुस्तान पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज्य करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों की ताकत बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक हुकूमत करते रहे। उसी वक्त के क़रीब कुशन लोगो का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैल गया था। जब तैलगी आन्ध्रों का पतन हुआ, पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लव लोग उठे और बहुत दिनो तक उन्होने राज्य किया। इन लोगो ने मलेशिया में बस्तियाँ बसाई और ६०० वर्ष तक राज्य किया जिसके बाद चोलो के हाथ में हुकूमत आई। चोलो ने दूर-दूर के कितने ही मुल्क जीते और अपनी जल-सेना से समुद्र पर अपना क़ब्ज़ा रखा। ३०० वर्ष के बाद ये भी हट गये और पाण्डच राज्य सामने आया; उसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई। इसका बड़ा बन्दरगाह कायल दूर-दूर के देशो के सम्पर्क में था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटो के बाद फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ नाम है। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे युगो तक क़ायम रहे और सभ्यता के कितने ऊँचे जीने तक चढ़ गये। इन राज्यो में कोई अन्दरूनी ताक़त थी जिसकी वजह से योरप के राज्यो के मुकाबिले इनमें अधिक शान्ति और स्थिरता थी। लेकिन उनका सामाजिक ढाचा पुराना हो चुका था, उसकी स्थिरता खतम हो चुकी थी और यह बहुत जल्द, १४वीं सदी की शुरूआत में, मुसलमानो की सेना के आने पर टूटकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के गुलाम बादशाह

२४ जून १९३२

मैंने तुमसे सुलतान महमूद ग़ज़नवी के बारे में बताया है और कवि फिरदौसी के बारे में भी कुछ कहा है जिसने महमूद के कहने पर फारसी जबान में शाहनामा लिखा। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के जमाने के एक-दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा। यह आदमी महमूद के साथ पंजाब आया था। इसका नाम अलबेरूनी था और यह बडा विद्वान् था। यह उस जमाने के खूंख़ार और कट्टर सिपाहियो से बिलकुल जुदी तरह का आदमी था। इसने सारे हिन्दुस्तान में

सफर किया और इस नये मुल्क और यहाँके आदमियो को समझने की कोशिश की। इसमें हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण को समझने की इतनी उत्सुकता थी कि इसने सस्कृत जवान सीखी और खुद हिन्दुओ की खास-खास किताबें पढ़ीं। इसने हिन्दुस्तान का दर्शनशास्त्र पढा और यहाँ जिस तरह कला या विज्ञान की तालीम दी जाती थी उसे सीख लिया। भगवद्गीता इसे बहुत पसद थी। यह दक्षिण के चोल राज्य में गया था और वहाँ की नहरो और सिचाई का इन्तजाम देखकर उसे बहुत ताज्जुब हुआ था। इसका हिंदुस्तानी सफरनामा पुराने जमाने के उन बडे सफरनामो में है जो अभी तक पाये जाते है। क़त्लेआम, विनाश और असहिष्णुता के कीचड के बीच वह अलग खडा दिखाई देता है। उसने शान्ति के साथ चीजो का अध्ययन किया, सीखने और समझने की कोशिश की और यह जानने की पूरी कोशिश की कि सचाई कहाँ पर है।

अफग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसनें पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में लगातार ग़ुलाम राजा राज करते रहे। उनमे से पहला कुतुब-उद्दीन था। क़ुतुब-उद्दीन शहाबुद्दीन का गुलाम था लेकिन गुलाम भी ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकते है और वह अपनी कोशिशो से दिल्ली का पहला सुलतान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुलतान भी असल में ग़ुलाम थे, इसीलिए यह ग़ुलाम खानदान कहलाता है। ये लोग बडे खूँखार होते थे और इनकी विजय के साथ-साथ इमारतो और पुस्तकालयो का विनाश और लोगो पर अत्याचार चलता था। इन्हे इमारत बनाना बहुत पसन्द था और इमारतों के विशाल आकार या विस्तार को वे ख़ासतौर पर पसद करते थे। क़ुतुब-उद्दीन ने क़ुतुब-मीनार बनानी शुरू की। यह वही बडी मीनार है जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह से जानती हो। उसके वारिस अलतमश (इल्तुतमिश) ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद है। इन इमारतो का करीब-क़रीब सारा ख़ाका पुरानी हिन्दुस्तानी इमारतो, ख़ासकर मन्दिरो, से लिया गया था। सब कारीगर भी हिन्दुस्तान के थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानो के साथ आये हुए नये ख़यालात का इनपर बहुत असर पड़ा था।

महमूद ग़जनवी और उसके बाद जिस किसीने भी हिदुस्तान पर हमला किया वही अपनें साथ हिन्दुस्तानी कारीगरों और मिस्त्रियो का एक झुण्ड अपनें साथ लेगया। इस तरह मध्य एशिया में हिन्दुस्तानी शिल्पकला का असर फैल गया।

बिहार और बगाल को अफग़ानो ने बडी आसानी से जीत लिया। वे बडे हिम्मतवाले होते थे और अचानक हमला करके लोगो को हैरत में डाल देते थे और

हिम्मत का नतीजा अक्सर अच्छा होता है। अमेरिका में पिज़ारो और कार्टे की विजय की तरह बंगाल की विजय भी हमें ताज्जुब में डाल देती है।

अल्तमश के ज़माने में यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में ही हिन्दुस्तान की सरहद के उस पार एक धुआंधार बादल उठा। यह चंगेज़ख़ाँ की मातहती में बढ़ता हुआ मंगोलो का दल था। चगेज़ख़ां सिन्ध नदी तक अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ आया और यही आकर ठहर गया। हिन्दुस्तान बच गया। इसके २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी, तैमूर, हिन्दुस्तान में लूट-मार और कत्ल करने आया था। हालांकि चगेज ख़ुद नहीं आया लेकिन बहुत से मगोलो को हिन्दुस्तान पर हमला करके लूटमार करने की आदत-सी पड गई। कभी-कभी ये लाहौर तक आजाते थे और लोगो में डर पैदा कर देते थे, यहां तक कि कभी-कभी सुलतान भी डर जाते और रिश्वत देकर अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुलतानो में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह अल्तमश की लड़की थी और बडी बहादुर और क़ाबिल औरत थी; लेकिन अपने ख़ूंख़ार अफ़ग़ान सरदारो, और उनसे भी ख़ूंख़ार मंगोलो से, जो पजाब पर हमला करते रहते थे, उसे बडी मुसीबत उठानी पडी थी।

ग़ुलाम बादशाह १२९० ई० में ख़तम हो गये। इसके बाद अलाउद्दीन ख़िलजी अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मुलायमियत के साथ कत्ल करके तख़्त पर बैठ गया। जितने मुसलमान सरदारो पर उसे बेवफाई का शक था, उन सबको उसने कत्ल करा दिया और यो अपना काम पूरा किया। मंगोलो की साजिश से डर कर उसनें यह हुक्म निकाला था कि 'उसके राज्य में जितनें भी मंगोल हो, सब क़त्ल कर दिये जायें, ताकि उस ख़ानदान का एक आदमी भी न बचे।' इस तरह दो-तीन हज़ार मगोल, जिनमें ज्यादातर बेगुनाह थे, क़त्ल कर दिये गये। बार-बार क़त्ल और ख़ून का जिक्र करना बहुत भली बात नहीं और न इतिहास के विस्तृत दृष्टिकोण से ही इनका कोई महत्व है, फिर भी इससे यह बात समझ में आजाती है कि उस वक्त उत्तर भारत में सभ्यता का पलड़ा झुका हुआ था और जान-माल सुरक्षित न थे। एक हद तक बर्बरता की तरफ वापसी थी। इस्लाम अपने साथ तरक्की की बाते लाया था लेकिन अफ़ग़ान मुसलमान अपने साथ बर्बरता का भी अश लाये थे। बहुत से आदमी इन दोनो को एक ही समझते है लेकिन इनमें फ़र्क़ किया जाना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरो की तरह असहिष्णु था लेकिन मालूम होता है कि हिन्दुस्तान के इन मध्य एशियाई शासको का ख़याल अब बदल रहा था। वे अब हिन्दुस्तान को

अपना घर समझने लगे थे और अपने को परदेशी नहीं समझते थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की थी और उसके लडके ने भी ऐसा ही किया था।

अलाउद्दीन के जमाने में एक अच्छी शासन-प्रणाली बनाने की कोशिश की गई। फौज के आने जाने के लिए सड़के खास तौर से दुरुस्त की जाती थीं। अलाउद्दीन फौज का ख़ास तौर से ख़याल रखता था। उसने अपनी फौज को बहुत ताकतवर बना लिया था और उसकी मदद से उसने गुजरात को और दक्षिण के बहुत बडे हिस्से को जीत लिया। उसके सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लाये। कहते हैं, उनके साथ ५० हजार मन सोना, बहुत से मोती और जवाहरात, २० हजार घोडे और ३१२ हाथी आये थे।

चित्तौड़, जिसे वीरता का घर कहना चाहिए, बहादुरी से भरा हुआ लेकिन पुराने तरीके पर चलनेवाला था। लड़ाइयों में उसका वही पुराना ढग कायम था, इससे अलाउद्दीन की कुशल सेना के सामने दब गया। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूटा गया, लेकिन लूटे जाने के पहले ही किले की स्त्रियो और पुरुषो ने पुराने तरीको के अनुसार, जौहर की भयंकर रीति पूरी कर डाली। इसके मुताबिक जब हार सामने हो और बचने का कोई रास्ता न दिखाई पडे तो आदमियो के लिए मैदान में जाकर लड़ते हुए मर जाना और औरतो के लिए चिता में बैठकर जल जाना कर्तव्य समझा जाता था। यह रीति ख़ासकर औरतो के लिए बडी ख़ौफनाक थी। बेहतर होता अगर औरते भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और लडाई में काम आ जातीं। बहरहाल ग़ुलामी और जिल्लत से मौत बेहतर थी क्योंकि इस जमाने में लडाई में हार जाने का मतलब ही ग़ुलामी और जिल्लत था।

इधर हिन्दुस्तान के रहनेवाले यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान हो रहे थे। पर तेजी से नहीं। कुछ लोगो ने अपना मजहब इसलिए बदल दिया कि इस्लाम उन्हे अच्छा लगा, कुछ लोग डर की वजह से मुसलमान हो गये, और कुछ इसलिए कि जीतने वालो की तरफ रहना अच्छा था। लेकिन तब्दीली की असली वजह आर्थिक थी। जो लोग मुसलमान नहीं हुए उन्हे जजिया देना पड़ता था। ग़रीबो के ऊपर यह बहुत बडा बोझ था; बहुत से तो सिर्फ इस बोझ से बचने के लिए अपना मजहब तब्दील करने के लिए तैयार हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के आदमियों में मुसलमान होने की प्रेरणा दरबार में इज्जत और ऊँचे ओहदो के लालच से हुआ करती थी। अलाउद्दीन का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुलतान का हाल बताना चाहता हूँ। यह अजीब

आदमी था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। वह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा विद्वान् और काबिल आदमी था। उसने फ़िलासफी, न्याय और यूनानी दर्शन पढ़ा था। वह कुछ गणित भी जानता था, और विज्ञान तथा चिकित्साशास्त्र का भी उसे इल्म था। वह बहादुर आदमी था और अपने जमाने के लिहाज से वह विद्वत्ता का चमत्कार ही था, लेकिन इन सब बातो के होते हुए भी वह चमत्कार बेरहमी का चमत्कार था। वह बिलकुल पागल-सा था। वह अपने ही पिता को कत्ल करके तख्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के लिए उसके दिल में बडे मनसूबे पाये जाते थे। स्वभावत. उसकी सारी कोशिशें, इस सिलसिले में, नाकामयाब रहीं।

लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय कर लिया था कि शहर के कुछ लोगो ने गुमनाम नोटिसो में उसकी नीति पर ऐतराज करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से दक्षिण के देवगिरि को तब्दील कर दी जाय (जो आजकल हैदराबाद रियासत में है।) इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान के मालिको को कुछ मुआवजा दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को यह हुक्म मिला कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत से आदमी शहर छोड़कर चल दिये। कुछ ऐसे थे जो छिप गये। जब इनका पता चला तो इन्हे बेरहमी के सथा सजा दी गई। इन सजा पाने वालो में से एक अन्धा था और दूसरा गठिया का रोगी था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज का था। इस कूच में लोगो की क्या हालत हुई होगी, इसका हम अन्दाजा लगा सकते है। कितने तो रास्ते ही में ख़तम हो गये होगे।

और दिल्ली के शहर का क्या हुआ? दो बरस बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा लेकिन कामयाब न हो सका। उसने इसे, एक अपनी आँखों देखनेवाले के शब्दो में, 'बिलकुल वीरान' कर दिया था। किसी बग़ीचे को एकदम बरबाद किया जा सकता है लेकिन वीरान को फिर बग़ीचा बनाना आसान नहीं होता। अफरीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह सारी दुनिया के बडे शहरो में से एक शहर है। जब हम इस शहर में दाख़िल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया है। यह बिलकुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी

मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतो, महलों और आस-पास की आबादी में बिल्ली और कुत्ते तक नहीं रह गये थे।"

पच्चीस बरस तक यानी १३५१ ई० तक यह पागल सुलतान रहा। ताज्जुब है कि जनता अपने शासको की, नाकाबलियत, बेरहमी और बदमाशी को किस हद तक सहती है। लेकिन जनता की अधीनता और ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को नष्टभ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की स्कीमो से और भारी टैक्सो से देश बरबाद हो गया, अकाल पडे और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बडे-बडे हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में कई रियासतें पैदा हो गई जिनमें विजय-नगर की रियासत ख़ास थी, जो १३३६ ई० में पैदा हुई और दस बरस के अन्दर दक्षिण में बडी ताक़तवर हो गई।

दिल्ली के पास तुम अब भी तुग़लकाबाद के खँडहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़ ख़ां का अभ्युदय

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई ख़तो में मैंने मंगोलो का ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उन्होंने लोगों में कितना ख़ौफ पैदा कर दिया था और किस तरह बरबादी की थी। चीन में हमने मंगोलो के आने के बाद ही, संग राजवंश का किस्सा बंद कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका पाला पड़ा था और पुरानी प्रणाली का वहीं से ख़ातमा होगया था। हिन्दुस्तान में गुलाम बादशाह मंगोलो से बच गये फिर भी इनकी वजह से काफी हल-चल मच गई थी। मंगोलिया के इन ख़ानाबदोशो ने सारे एशिया को दबा रखा था और पस्त कर डाला था। सिर्फ एशिया ही नहीं, आधे योरप की भी यही हालत थी। ये आश्चर्यजनक लोग कौन थे, जो एकदम से फूट निकले और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल दिया? सीथियन, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में उल्लेखनीय कार्य कर चुके थे। इनमें कुछ कौमें उस वक्त भी मशहूर थीं जैसे पश्चिमी एशिया में सेलजूक तुर्क, उत्तरी चीन में तातारी वग़ैरा। लेकिन मंगोलो ने अभी तक कुछ बहुत ज्यादा नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में इनके बारे में कोई जानता भी नहीं

था। ये मंगोलिया की कई मामूली जाति के लोगो में से थे और 'किन' तातारियो की मातहती में थे जिन्होंने उत्तर चीन को जीता था।

एकदम से इन लोगों में ताक़त पैदा हो गई। इनकी बिखरी हुई कौम इकट्ठी हुई और एक नेता—ख़ान महान्—चुना और उसकी मातहती और हुक्मबरदारी की क़सम खाई। उसके नेतृत्व में ये पेकिंग पर टूट पडे और 'किन' साम्राज्य को ख़तम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढे और रास्ते में जितने बडे-बडे राज्य इन्हे मिले सभी को बरबाद करडाला। ये रूस पहुँचे और उस पर कब्जा कर लिया। बाद को इन लोगो ने बग़दाद का और उसके साम्राज्य का भी पूरे तौर पर नाश कर दिया और सीधे पोलैण्ड और मध्य योरप तक पहुँच गये। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। इत्तफाक से हिन्दुस्तान इनसे बच गया। योरप और एशिया के लोगो को, ज्वालामुखी के इस प्रवाह पर कितनी हैरत हुई होगी। यह बिलकुल किसी बडी भारी प्राकृतिक विपत्ति के समान चीज थी—भूकम्प की तरह—जिसके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता।

मंगोलिया के ये ख़ानाबदोश लोग बडे मजबूत थे। मुश्किलो से भरी जिन्दगी बितानेवाले ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौडे मैदानो में ख़ीमो के अंदर रहा करते थे। लेकिन इनकी ताकत और मुश्किल जिन्दगी इनके लिए बहुत ज्यादा फायदेमन्द न साबित हुई होती अगर इनमें एक सरदार न पैदा हो गया होता, जो बहुत ही विचित्र आदमी था। इसे चंगेज ख़ां कहा गया है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमोचिन था। इसका पिता येगुसी-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़ कर मर गया था। 'बगातुर' मगोल सरदारो का प्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का बहादुर शब्द इसी से निकला है।

हालाँकि चगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का था और उसका कोई मददगार नहीं था फिर भी वह मिहनत करते हुए तरक्क़ी करता गया और आख़िर में कामयाब हुआ। वह कदम-क़दम आगे बढ़ा, यहातक कि अत में मगोलों की बडी सभा ने, जिसे 'कुरुलताई' कहते थे, उसे अपना 'खान महान्' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चगेज का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलो का गुप्त इतिहास' नाम की पुस्तक में, जो १३ वीं सदी में लिखी गई थी और १४ वीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से लिखा हुआ है—"इस तरह 'चीता' नामक सम्वत् में, जब नमदे के ख़ीमो में रहनेवाली सारी कौम एक आदमी की मातहती में मिल कर एक हो गई, तब

अनान नदी के निकलने की जगह पर वे सब इकट्ठा हुए और 'नौ पैरो' पर अपने 'सफेद झडे' को खडा करके इन लोगो ने चगेज को 'कागन' की उपाधि दी।"

चगेज जब 'खान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँच कर आदमी शाति और आराम चाहता है। लेकिन उसने अपनी विजय-यात्रा इस उम्र से शुरू की। यह ग़ौर करने की बात है, क्योकि विजेता लोग ज्यादातर अपनी जवानी में ही विजय का काम करते है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते है कि चगेज जवानी के जोश में एशिया पर नहीं टूटा था, वह सावधान, सचेत, वृद्ध आदमी था और ठीक तौर से विचार करके और तैयारी करने के बाद ही वह हरेक बडे काम को करता था।

मगोल लोग खानाबदो थे। शहरो और शहरो के रग-ढग से भी उन्हें नफरत थी। बहुत से आदमी यह समझते है कि चूकि वे खानाबदोश थे इसलिए जगली रहे होगे; लेकिन यह खयाल गलत है। हा, उन्हे शहर की बहुत-सी कलायें अलबत्ता नहीं आती थीं; लेकिन उनकी जिन्दगी का अपना एक अलग तरीका था और उनका सगठन बहुत पेचीदा था। लडाई के मैदान में अगर उन्हें बडी-बडी विजय प्राप्त होती थी तो इसकी वजह यह नहीं थी कि उनकी तादाद ज्यादा थी बल्कि यह कि उनमें नियत्रण और सगठन था और सबसे बडी बात तो यह थी कि उनका सरदार चगेज बडा क़ाबिल सिपहसालार था। बिना किसी शुबहे के यह बात कही जासकती है कि इतिहास में चगेज सबसे बडी सैनिक प्रतिभा रखनेवाला और सबसे बडा सैनिक नेता हुआ है। सिकदर और सीजर इसके सामने नाचीज मालूम होते है। चगेज न सिर्फ खुद बहुत बड़ा सिपहसालार था बल्कि उसने अपने बहुत से फौजी अफसरों को तालीम देकर होशियार नेता बना दिया था। अपने घर से हजारो मील दूर होते हुए, अपने खिलाफ़ लोगो और दुश्मनों से घिरे रहने पर भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फौजो पर विजय प्राप्त करते थे।

जिस वक्त चगेज सामने आया एशिया और योरप का नकशा किस तरह का था? मगोलिया के पूरब और दक्षिण चीन दो टुकडो में बँटा हुआ था। दक्षिण में सग साम्राज्य था जहाँ दक्षिणी सग शासन करते थे। उत्तर में 'किन' या 'सुनहले तातारियो' का साम्राज्य था और इसकी राजधानी पेकिंग थी। इन लोगों ने सगो को खदेड दिया था। पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर और उसके पार हिसिया या तगुओं का साम्राज्य था। ये लोग भी खानाबदोश थे। हिन्दुस्तान में, दिल्ली में, ग़ुलाम खानदान के बादशाहो की हुकूमत थी। ईरान और इराक़ में, हिन्दुस्तान की

सरहद तक फैला हुआ खारज़म या ख़ीवा का महान् मुसलमानी राज्य था जिसकी राजधानी समरकन्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के वारिसो का राज्य था। बग़दाद के इर्द-गिर्द, सेलजूक़ो की सरपरस्ती में ख़लीफा लोग हुकूमत करते थे।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्टाफेन खान्दान का फ्रेडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। इंग्लैंड में मैग्नाचार्टा और उसके बाद की घटनाओ का ज़माना था। फ्रास में लुई नवम राज्य करता था, जो क्रूसेड में गया था और वहाँ तुर्कों द्वारा पकड़ लिया गया था और जिसे फिर बहुत-सा धन देकर छुड़ाना पड़ा था। पूर्वी योरप में रूस था, जो दो राज्यो में बँटा हुआ था--उत्तर में नोवेगरॉड और दक्षिण में कीफ। रूस और रोमन साम्राज्य के दरमियान हगरी और पोलैंड थे। बिज़ैण्टाइन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द फूल-फल रहा था।

चगेज़ ने बडी सावधानी के साथ अपनें विजय की तैयारियाँ कीं। उसने अपनी फौज को अच्छी तरह लड़ाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा इसने अपने घोडो को सिखाया था और इस बात का खास इन्तज़ाम किया था कि एक घोडा मरनें के बाद दूसरा घोडा तुरंत सिपाहियो के पास पहुँच सके, क्योकि खानाबदोशो के लिए घोडो से ज्यादा ज़रूरी चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियो के बाद वह पूर्व की तरफ बढ़ा और उत्तर चीन और मचूरिया के 'किन' साम्राज्य को क़रीब-करीब ख़तम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि वह दक्षिणी सगो से दोस्ती का रिश्ता रखता था क्योकि इन सगो ने 'किन' लोगो के खिलाफ़ उसकी मदद की थी। बेचारे संग यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने इसके बाद तगुओ को भी जीत लिया था।

इन विजयो के बाद चगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारज़म के बादशाह से दोस्ती का रिश्ता कायम करना चाहता था लेकिन यह हुआ नहीं। एक पुरानी लैटिन कहावत है कि 'देवता लोग जिसे नष्ट करना चाहते है पहले उसकी बुद्धि हर लेते है।' खारज़म का बादशाह अपनी ही बरबादी पर तुला हुआ था और अपने नाश के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम (गवर्नर) ने मगोल सौदागरों ने कत्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने इसके लिए राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवकूफ शाह

घमण्डी था और अपने को बहुत-कुछ समझता था। उसने इन राजदूतो की बे-इज्जती की और उनको मरवा डाला। चगेज के लिए इस बेइज्जती का सहना नामुमकिन था लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नहीं लिया; सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ अपनी फौज के साथ कूच किया।

यह कूच सन् १२१९ ई० में शुरू हुई और एशिया, और कुछ हद तक योरप, ने आँखें खोलकर इस ख़ौफनाक नजारे को देखा, जिसने बडे भारी बेलन (रोलर) की तरह बिना किसी हिचकिचाहट ने लाखो की तादाद में आदमियो को और शहरो को कुचल डाला। ख़ारजम का साम्राज्य ख़त्म हो गया। बुख़ारा का बडा शहर, जिसमें बहुत से महल थे और दस लाख से ज्यादा आदमी रहते थे, मिट्टी में मिला दिया गया। समरकन्द, जो राजधानी था, नष्ट हो गया और उसकी दस लाख की आबादी में सिर्फ ५० हजार लोग जिन्दा बचे। हिरात, बलख़, और दूसरे अच्छे-अच्छे शहर नष्ट हो गये। लाखो आदमी मार डाले गये। जो कारीगरी और हुनर सैकडो वर्षों से मध्य एशिया में फूल-फल रहे थे, गायब हो गये। ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का ख़ातमा हो गया। जहाँ-जहा से चगेज गुजरा, वहां की जमीन वीरान होगई।

खारजम के बादशाह का लडका जलालुद्दीन इस तूफान के ख़िलाफ बहादुरी से लडा। वह हटते-हटते सिन्धु नदी तक चला आया और वहां पर भी जब इस पर हमला हुआ तो वह घोडे पर बैठा हुआ, ३० फीट नीचे सिन्धु नदी में कूद पडा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली दरबार में आश्रय मिला। चगेज ने वहाँ तक उसका पीछा करना मुनासिब नहीं समझा।

सेलजूक तुर्कों की और बगदाद की खुशक़िस्मती थी कि चगेज ने इनको छोड दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ बढ गया। उसने कीफ के ग्रैंड ड्यूक (बडे-नवाब) को हराकर क़ैद कर लिया और हीसियो या तगुओ के बलवे को दबाने के लिए पूरब की तरफ वापस चला गया।

चगेज ई० सन् १२२७ में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफी ताक़त थी और वह दिन-ब-दिन बढ़ ही रहा था। इसकी राजधानी अभी तक मगोलिया में कराकुरम नाम का छोटा-सा क़स्बा था। ख़ानाबदोश होते हुए भी चगेज खां बडा ही योग्य सगठन करनेवाला था और उसने अपनी मदद के लिए बहुत अच्छे मत्री मुक़र्रर कर रखे थे। उसका इतनी तेजी के साथ बननेवाला साम्राज्य उसके मरने पर नहीं टूटा।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक पिशाच है। उसे इन्होंने 'ख़ुदा का क़हर' कहा है। यह बतलाया गया है कि चंगेज़ बड़ा ज़ालिम आदमी था। बिला शक वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन इस बात में, उसमें अपने ज़माने के दूसरे बहुत से शासकों से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था। हिन्दुस्तान में अफ़ग़ान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब ग़ज़नी पर अफ़ग़ानों ने ११५० ई० में क़ब्ज़ा किया तो पुराने ख़ून का बदला लेने के लिए इन लोगों ने उस शहर को लूटा और जला दिया। "सात दिन तक लूट-मार और बरबादी जारी रही। जो मर्द मिलता क़त्ल कर दिया जाता था। सब स्त्री और बच्चे क़ैद कर लिये जाते थे; महमूदी बादशाहों (यानी सुलतान महमूद के ख़ानदान वालों) के महल और मकानात, जिनका दुनिया में कोई सानी नहीं था, बरबाद कर दिये गये।" मुसलमानों का दूसरे मुसलमानों के साथ ऐसा सलूक था। यहाँ हिन्दुस्तान में जो कुछ अफ़ग़ान बादशाहों ने किया उसमें और मध्य एशिया और ईरान में की हुई चंगेज़ की विनाशपूर्ण कार्रवाई में कोई फ़र्क़ नहीं था। चंगेज़ ख़ारज़म से ख़ास तौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूतों को क़त्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह ख़ून का बदला लेने की बात थी; और जगहों पर भी चंगेज़ ने ख़ूब सत्यानाश किया था, लेकिन जितनी बरबादी मध्य एशिया में हुई, शायद दूसरी जगह नहीं हुई।

शहरों को यों बरबाद करने में चंगेज़ का दूसरा मतलब भी होता था। उसमें ख़ानाबदोशों की भावना थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह बड़े बड़े मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफ़ा चंगेज़ का यह ख़याल हुआ कि चीन के तमाम शहर बरबाद कर दिये जायें तो अच्छा होगा। लेकिन ख़ुश-क़िस्मती कहिए कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका ख़याल था कि सभ्यता और ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी को मिला दिया जाय, लेकिन यह नहीं हुआ और न हो सकता है।

तुम्हें शायद चंगेज़ ख़ाँ के नाम से यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। चंगेज़ मज़हब के मामले में बड़ा सहिष्णु आदमी था। उसका अपना मज़हब शमावाद (Shamaism) था, जिसमें 'अनन्त नीले आकाश' की पूजा की जाती थी। वह चीन के ताव धर्म के सन्तों से अक्सर ख़ूब ज्ञान-चर्चा करता था। लेकिन वह ख़ुद शमा मत पर ही क़ायम रहा और जब कठिनाई में होता था तब आकाश से सलाह-मशविरा किया करता था।

तुमने इस ख़त के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने 'ख़ान महान्' चुना था। यह सभा असल में सामन्त-सभा थी, जनता की सभा नहीं और यों चंगेज़ इस क़ौम का सामन्त सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा न था, और उसके अनुयायी भी उसी की तरह थे। शायद वह बहुत दिनो तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है। सदेश जबानी भेजे जाते थे और छन्द में उपमा या कहावत के रूप में होते थे। ताज्जुब की बात तो यह है कि जबानी सदेशो से किस तरह इतने बडे साम्राज्य का कारबार चलाया जाता था ? जब चगेज को यह मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है तो उसने फौरन ही यह महसूस कर लिया कि वह बडी फायदेमन्द होगी और उसने अपने लडके और खास-खास सरदारो को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मगोलो के पुरानें क़ानून-कायदे और उसकी अपनी कहावते भी लिख ली जायें। खयाल था कि उनका यह पुराना कानून हमेशा के लिए अपरिवर्तनशील है, और इसके खिलाफ़ कोई नहीं जा सकता। बादशाह के लिए भी इसका मानना जरूरी था, लेकिन यह अपरिवर्तनशील कानून अब ग़ायब है और आजकल के मगोलों को इसकी कोई याद नहीं।

हरेक देश और हरेक मजहब का पुराना क़ानून होता है और लोग समझते हैं है कि वह अपरिवर्तनशील क़ानून हमेशा क़ायम रहेगा। कभी-कभी लोग कहते है कि इस क़ानून को खुदा ने भेजा है, और जाहिर है कि जो चीज खुदा भेजेगा वह परिवर्तनशील या अस्थाई नहीं समझी जा सकती, लेकिन क़ानून एक खास स्थिति के मुआफिक बनाये जाते है, और उनकी मशा यह होती है कि हम उनकी मदद से अपने को बेहतर बना सके। अगर हालत बदल जाती है तो पुराने क़ानून कैसे काम में आसकते है। हालत के साथ क़ानून को भी बदलना चाहिए। नहीं तो ये लोहे की जजीर की तरह हमें जकड रखते हैं जबकि दुनिया आगे बढ़ती जाती है। कोई भी कानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। क़ानून के लिए जरूरी है कि वह ज्ञान पर निर्भर हो, और ज्यो-ज्यो ज्ञान बढ़ेगा, क़ानून को भी उसके साथ बढ़ना पडेगा।

मैंने चगेज खाँ के बारे में तुम्हें कुछ बातें जरा तफसील के साथ बताई है जो शायद जरूरी नहीं था। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत आकर्षित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि यह खौफनाक, बेरहम और उद्दण्ड खानाबदोश क़ौम का सामन्त सरदार मेरे समान एक ऐसे शान्त, अहिंसक और सादे आदमी को आकर्षित करे, जो सामन्त प्रथा की हरेक बात से नफरत रखनेवाला है।

मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

जब चगेजखां मरा, उसका लड़का ओग़ताई 'बडा खान' हुआ। चंगेज और उस जमाने के मंगोलो के मुकाबिले में वह दयावान और शान्तिप्रिय था और कहा करता था कि "हमारे कागन चगेज ने वडी मिहनत से साम्राज्य की इस इमारत को वनाया है। अब वक्त यह है कि हम अपने लोगो को शान्ति दें, खुशहाल बनावे और उनके बोझ को हलका करे।" यहां देखने की वात यह है कि ओग़ताई किस तरह सामन्त सरदार की हैसियत से अपने वश के वारे में सोचता था।

लेकिन विजय का युग खतम नहीं हुआ था और मंगोल अभी तक ताक़त और जोश में भरे हुए थे। एक वडे सिपहसालार सबूताई की मातहती में योरप पर दूसरी मर्तबा हमला हुआ। योरप के सिपहसालार और फौजें सबूताई का मुक़ाबिला नहीं कर सकती थीं। यह सबूताई दुश्मन के देश में हाल लाने के लिए पहले अपने जासूस भेजता था और इस तरह अपनी तैयारी पक्की कर लेता था। देश में दाखिल होने के पहले वह वहां की राजनैतिक और सैनिक स्थिति अच्छी तरह जान लेता था। वह लड़ाई की कला का बडा भारी जानकार था और यूरोपियन सेनापति उसके सामनें बच्चे मालूम होते थे। सबूताई सीधे रूस चला गया और सेलजूको को दक्षिण-पश्चिम बग़दाद में शान्ति से छोड़ गया। ६ वर्ष तक वह आगे बढता ही गया और उसनें मास्को, कीफ, पोलेंड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटा और नष्ट किया। १२४१ ई० में मध्य-योरप के लोअर साइलेशिया में लिबनिज नाम की जगह पर पोलैण्ड और जर्मनी की फौजें बिलकुल तहस-नहस कर दी गईं। मालूम होता था कि सारा योरप खतम हो जायगा। मगोलो को रोकने वाला कोई नहीं दिखाई देता था। फ्रेडरिक द्वितीय, जो 'ससार का चमत्कार' कहलाता था, मगोलिया से आये हुए इस असली चमत्कार के सामने जरूर पीला पड़ गया होगा। योरप के बादशाह और शासक लोग हक्का-बक्का हो रहे थे कि एकाएक उनका कष्ट दूर होनें का मौक़ा अपनें आप आगया।

ओग़ताई की मृत्यु हो गई और उसकी विरासत के बारे में कुछ झगडा हो गया, इसलिए योरप की मगोल फौजें, जो कहीं हारी न थीं, पीछे लौट पडीं और १२४२ ई० में अपने देश को, पूरब, वापस चली गईं। योरप की जान में जान आई।

इस दरमियान मुग़ल लोग चीन भर में फैल चुके थे। और उत्तर में 'किन' लोगों को और दक्षिण चीन में संगो को उन्होने बिलकुल खतम कर दिया था। १२५२

ई० में मगूखा 'बडा खान' हुआ और उसने कुबलाई को चीन का गवर्नर मुकर्रर किया। क़राक़ुरम में, मगू के दरबार में, एशिया और योरप से झुण्ड के झुण्ड लोग आया करते थे, लेकिन 'बडा खान', खानाबदोशो की तरह, अभीतक खीमो में ही रहता था। हाँ, खीमे बहुत सजे होते थे और वे अनेक महाद्वीपो की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खास कर मुसलमान, आते थे और मगोल लोग उनसे खूब माल खरीदते थे। ज्योतिषी,कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस जमाने के विज्ञान के बारे में कुछ जानते थे, खीमो के इस शहर में इकट्ठे हुआ करते थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो यह खीमो का शहर सारी दुनिया पर हावी है। इस विस्तृत मगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शाति और सुप्रबन्ध था। महाद्वीपो के बीच के कार-वानी रास्ते खूब चलते थे और उनपर मुसाफिरो और सौदागरो का खूब आना-जाना होता था। यो, एशिया और योरप एक-दूसरे के घने सम्पर्क में आगये थे।

क़राकुरम में मजहवी आदमियो के बीच होड लगी हुई थी। ससार के इन विजेताओ को सभी अपने खास मजहब में मिलाना चाहते थे। जो मजहब, इन शक्ति-शाली लोगो को अपनी तरफ खींच लेने में कामयाब होता वह खुद सर्वशक्तिमान होजाता और दूसरे मजहबो पर हावी होजाता इसलिए सभी कोशिश में थे। पोप ने रोम से अपने प्रतिनिधि भेजे थे। नेस्टोरियन ईसाई भी, मुसलमान भी और बौद्ध भी आये थे। मगोलो को किसी मजहब में शामिल होने की जल्दी नहीं थी क्योंकि वे कोई बडी मजहवी क़ौम के नहीं थे। पता चला है कि किसी वक़्त 'बडा खान' ईसाई मत की तरफ झुक रहा था लेकिन वह पोप के अधिकार को मानने को तैयार नहीं था। आखिर मगोलो ने उन्हीं जगहो के मजहबो को इख्तियार कर लिया, जहाँ-जहाँ वे बस गय थे। इस प्रकार चीन और मगोलिया में वे बौद्ध हो गये, मध्य एशिया में मुसलमान हो गये, और रूस और हगरी में बहुत-से ईसाई हो गये।

रोम में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'बडे खा' (मगू) का एक असली खत मिलता है, जो उसने पोप को लिखा था। यह खत अरबी जबान में है। मालूम होता है कि पोप ने नये खान के पास, ओगताई के मरने के बाद, अपना एक एलची भेजा था और उसे सूचना की थी कि योरप पर फिर हमला न करे। खान ने जवाब दिया था कि उसने योरप पर इसलिए हमला किया कि यूरोपियनों ने उसके साथ मुनासिब वर्ताव नहीं किया था।

मगू के जमाने में विजय और विनाश की एक और लहर भी चली। उसका भाई हलाकू ईरान का गवर्नर था। बग़दाद के खलीफा से वह किसी बात पर नाराज हो गया और उसने उसके पास एक सदेसा भेजा जिसमें उसकी वादाखिलाफी पर उसे

फटकारा और हिदायत की कि अगर वह आइन्दा ठीक तौर से न रहेगा तो अपना राज्य खो बैठेगा। खलीफा कोई बहुत अक्लमद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फायदा उठाना ही जानता था। उसने भी सख़्त जवाब दे दिया और बग़दाद में वहाँ के लोगो की एक भीड़ ने मंगोल एलचियो की बेइज्ज़ती भी की। इस पर हलाकू का मगोल ख़ून उबल पड़ा। ग़ुस्से में उसने बगदाद के ऊपर कूच कर दी और ४० दिन घेरा डालने के बाद उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ लैला के शहर बगदाद का यह ख़ातमा था। साम्राज्य के ५०० वर्ष में इस शहर में जो बेशुमार दौलत इकट्ठी हुई थी वह भी चली गई। ख़लीफा और उसके लड़के और रिश्तेदार कत्ल कर दिये गये। हफ्तो तक क़त्लेआम जारी रहा, यहाँ तक कि दजला (टाइग्रिस) नदी का पानी मीलो तक ख़ून से लाल हो गया। कहते है कि १५ लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के जो ख़ज़ाने और पुस्तकालय थे, नष्ट कर दिये गये। बगदाद बिलकुल बरबाद हो गया। पश्चिमी एशिया की नहरों की पुरानी प्रणाली भी, जो हज़ारो वर्षो से चली आती थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल एलप्पो, एलिस्सा और दूसरे शहरो का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात का अधेरा छागया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि यह "विज्ञान और गुण के अकाल का युग था।" फिलस्तीन को एक मगोल फौज भेजी गई थी लेकिन मिस्र के सुलतान बेबर नें उसे हरा दिया। इस सुलतान का एक अजीब उप-नाम 'बन्दूकदार' था क्योकि उसके पास बदूकचियो का एक फौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये है जब बन्दूको का इस्तैमाल शुरू होगया था। चीन के लोग बहुत दिनो से बारूद के बारे में जानते थे। मंगोलों ने ग़ालिबन इसे चीनियो से सीखा और यह मुमकिन है कि इन लोगो को बारूदी हथियारो की वजह से विजय में सहायता मिली हो। मंगोलो के जरिये ही आग्नेयास्त्र (फायर आर्म—बदूके वग़ैरा) योरप में दाख़िल हुए।

१२५८ ई० में बग़दाद की बरबादी से अब्बासिया साम्राज्य का जो कुछ बचा था वह भी ख़त्म हो गया। पश्चिमी एशिया में इस ख़ास तरह की अरबी सभ्यता का इसे अन्त कहना चाहिए। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा अभीतक अरब परिपाटी पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद ख़तम होगया। अरबस्तान खुद महत्त्व में घटता गया और वहाँ के लोगो ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनो के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अग बन गये। १९१४ और १८ के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेजो के उभाड़ने से, अरबो ने तुर्कों के ख़िलाफ विद्रोह किया था और उस वक्त से अरबस्तान कमोबेश आज़ाद है।

दो वर्ष तक कोई ख़लीफा नहीं रहा। मिस्र के सुलतान बेबर ने आख़िरी अब्बासिया ख़लीफा के एक रिश्तेदार को ख़लीफा नामजद कर दिया लेकिन उसके पास कोई राजनैतिक अधिकार नहीं थे, वह तो सिर्फ धर्म-गुरु था। ३०० वर्ष बाद कुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफा की इस उपाधि को उसके आख़िरी उपाधिधारी से ले लिया। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफा भी कहलाने लगे। अभी कुछ ही साल हुए, मुस्तफा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफा दोनों को ख़तम कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'बडा ख़ान' मगू १२३९ ई० में मर गया। मरने के पहले उसने तिब्बत को जीत लिया था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलाईखा 'बडा ख़ान' बना। कुबलाई बहुत दिनो तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था, इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राकुरम से हटाकर पेकिंग में क़ायम की और उसका नाम 'ख़ानबालिक' यानी 'खान का नगर' रक्खा। कुबलाई चीन के मामलो में इतनी दिलचस्पी रखता था कि उसने अपने बडे साम्राज्य का ख़्याल नहीं किया और धीरे-धीरे बडे-बडे मगोल गवर्नर आज़ाद हो गये।

कुबलाई ने चीन की विजय पूरी करली लेकिन इस हमले में और इसके पहले के मगोल हमलो में फ़र्क़ था। इसमें बेरहमी और बरबादी बहुत कम थी। चीन ने कुबलाई को ठडा कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोग भी इसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करते और उसे अपना आदमी मानते थे। कुबलाई ने ही युआन वश, जिसे कट्टर चीनी वश कहना चाहिए, चलाया। कुबलाई ने ही टाकिंग, अनाम और बर्मा जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। वह जापान और मलेशिया भी जीतना चाहता था लेकिन कामयाब नहीं हुआ। क्योकि मगोलो को समुद्रों में सफर करने और लडने की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

मगूखा के ज़माने में, फ्रास के बादशाह लुई नवम की तरफ से एलची आये थे। लुई ने यह तजवीज़ की थी कि योरप की ईसाई ताक़तें और मगोल मिलकर मुसलमानो का विरोध करें। बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पडे थे क्योकि क्रूसेड के ज़माने में वह क़ैद कर लिया गया था। लेकिन मगोलो को ऐसी दोस्ती में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न उन्हें किसी जाति से धर्म की बिना पर लड़ाई करना ही अच्छा लगता था।

फिर वे योरप के छोटे-छोटे राजाओं से क्यों और किसके ख़िलाफ दोस्ती करते? उन्हे पश्चिमी यूरोपीय राज्यो या मुसलमानी राज्यो की सिपहगीरी से कोई डर नहीं था। यह इत्तिफाक की बात थी कि पश्चिमी योरप इनसे बच गया था।

सेलजूक तुर्क इनके सामने सर झुकाते थे और ख़िराज देते थे। सिर्फ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था जिसने मगोल फौज को हराया था लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल चाहते और कोशिश करते तो उसे हरा देते। एशिया और योरप भर में, विशाल मगोल साम्राज्य फैला हुआ था। मंगोलो की विजय के बराबर इतिहास में दूसरी विजय नहीं हुई और न इतना बडा साम्राज्य ही हुआ है। मंगोल उस वक्त दुनिया के बादशाह मालूम होते थे। हिन्दुस्तान उनसे आज़ाद था सिर्फ इसलिए कि मगोल उस तरफ झुके नहीं थे। पश्चिमी योरप, जो हिन्दुस्तान के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था लेकिन वे हिस्से सिर्फ इसलिए आज़ाद थे कि मंगोल लोग उधर ध्यान नहीं दे रहे थे वर्ना वे जब चाहते, इन्हें हजम कर सकते थे। तेरहवीं सदी में लोगो को ऐसा ही मालूम होता रहा होगा।

लेकिन मंगोलो की ज़बरदस्त ताकत कुछ घटने लगी थी और विजय करने की प्रेरणा कम होती जारही थी। तुम्हे यह न भूलना चाहिए कि उस ज़माने में लोग या तो घोडे पर या पैदल चलते थे। सफर का इससे ज्यादा तेज कोई-ज़रिया नहीं था। मगोलिया के अपने देश से, साम्राज्य के पश्चिमी सरहद पर, योरप में जाने के लिए सेना को सफर में सालभर लग जाते थे, और विजय के लिए इनमें इतना उत्साह नहीं था कि वे अपने साम्राज्य में से होकर इतने लम्बे-लम्बे सफर करते, जब कि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लड़ाई में बराबर कामयाबी हासिल होते रहने और लडाई के दिनो में लूटमार करने की वजह से मगोल सिपाही बहुत अमीर हो गये थे। इनमें बहुतो के पास ग़ुलाम भी थे, इसलिए वे ठडे पड़ गये और शान्तिमय तरीक़ो को इख़्तियार करने लगे। जिसे अपनी जरूरियात की सब चीज़ें हासिल होती है वह शान्ति और सुलह के ही पक्ष में हुआ करता है।

विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि यह बिखरने लगा। कुबलाई खाँ १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई बड़ा ख़ान नहीं हुआ और साम्राज्य इन पाच हिस्सों में बँट गया .—

१. चीन का साम्राज्य—जिसमें मंगोलिया, मचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलाई के युआन राजवश के लोग इसके मालिक थे।

२. सुनहले कबीलो का (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम, रूस, पोलैंड और हँगरी में था।

३. इलख़ान साम्राज्य। यह ईरान, इराक़ और मध्य एशिया के एक हिस्से में था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक तुर्क इसे ख़िराज देते थे।

४ चग़ताई साम्राज्य। यह मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में, था। इसे महान् तुर्की कहते थे।

५. साइबेरियन साम्राज्य। यह मंगोलिया और 'सुनहले कबीले' राज्य के बीच में था।

हालांकि इस विशाल मंगोलियन साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे लेकिन ये पांचों टुकड़े, अपनी-अपनी जगह पर खुद भी विशाल साम्राज्य थे।

: ६६ :

महान् यात्री मार्कोपोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राकुरम में 'बड़े खां' के दरबार का जिक्र किया है कि मंगोलों की शोहरत और उनकी विजय की चमक-दमक से खिंचकर कैसे सैकड़ों सौदागर, कारीगर, विद्वान और उपदेशक वहां इकट्ठा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको प्रोत्साहन देते थे। ये मंगोल लोग अद्भुत थे। बाज-बाज बातों में बेहद क़ाबिल थे और बाज बातों में बिलकुल बच्चे। इसकी बेरहमी और भीषणता में भी, हालांकि वह दिल को दहला देती है, एक तरह का बचपन पाया जाता है और इसी बचपन की वजह से, मैं समझता हूं, ये खूंखार सिपाही किसी कदर चित्ताकर्षक हैं। कई सौ बरस बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जैसा कि वह हिन्दुस्तान में पुकारा जाता था, हिन्दुस्तान को जीता। इसका नाम बाबर था। उसकी मां चंगेज खां के वंश की थी। हिन्दुस्तान जीतने के बाद वह काबुल और उत्तर की ठंडी-ठंडी हवा, फूलों, बग़ीचों और तरबूजों के लिए तरसता था। वह बहुत ही भला आदमी था और उसने अपने संस्मरणों की जो किताब लिखी है उसकी वजह से तो वह और भी दिल को खींचनेवाला और भला आदमी मालूम होने लगता है।

इस तरह से मंगोल लोग अपने दरबार में बाहर के यात्रियों को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जैसे ही चंगेज खां को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है उसने उसका महत्व समझ लिया और अपने अफसरों को सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले रहते थे और ये दूसरों से सीख सकते थे। कुबलाई खां, पेकिंग में बसने के बाद और शरीफ चीनी सम्राट् बन जाने पर, ख़ास तौर से विदेशी यात्रियों को प्रोत्साहन देता था। उसके पास वेनिस से दो मुसाफिर

आये थे—एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में बुख़ारा तक गये थे और वहाँ इनसे, ईरान में हलाकू के पास भेजे हुए कुबलाई ख़ा के कुछ प्रतिनिधि मिले। उन लोगो ने इन दोनो सौदागरो को कारवा में शामिल होने को कहा और इस तरह से निकोलो पोलो और मेफियो पोलो बडे ख़ाँ के दरबार में पेकिंग पहुँचे।

कुबलाई खाँ ने निकोलो और मैफियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होने ख़ाँ को योरप, ईसाईधर्म और पोप के बारे में बताया। वह इनकी बातो से बहुत खुश हुआ और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई धर्म की तरफ झुक रहा है। उसनें १२६९ ई० में इन दोनो को योरप वापस भेजा और यह सदेशा पोप से कहलाया कि वह कुबलाई के पास १०० विद्वान, जो सातो कलाओ के जानने वाले और ईसाई-धर्म समझा सकनेवाले हो, भेज द। लेकिन ये लोग जब योरप वापस आये, उस समय पोप और योरप दोनो की हालत बुरी थी। इस क़िस्म के सौ आदमी थे ही नहीं। दो वर्ष के बाद ये लोग दो ईसाई साधुओ को साथ लेकर वापस आये लेकिन इससे ज्यादा ख़ास बात इन्होने यह की कि अपने साथ निकोलो के नौजवान लडके मार्को को भी ले आये।

तीनो पोलो अपने लम्बे सफर पर रवाना हुए और ख़ुश्की के रास्ते से इन्होने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। कितना बडा सफर यह था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय जिस पर पोलो गये थे तो करीब-करीब साल भर लग जायगा। पोलो ने कुछ हद तक ह्यूएनत्साग का पुराना रास्ता लिया था। वे फिल-स्तीन होकर आरमीनिया आये और वहा से इराक़ और ईरान की खाडी पहुँचे। यहा उन्हे हिन्दुस्तान के सौदागर मिले। ईरान पार करके वे बलख़ पहुँचे और वहाँ से पहाडो में होते काशगर। काशग़र से ख़ुतन, ख़ुतन से लाप-नोर झील जो चचल झील (Wandering Lake) कहलाती है, होते और रेगिस्तान पार करते हुए चीन और पेकिग के मैदानो में पहुँचे। उनके पास एक सबसे बडा पासपोर्ट था। बडे खा ने खुद सोने की तख़्ती पर खुदवाकर उन्हे कहीं भी जाने का हुक्म दे रखा था।

प्राचीन रोम के जमाने में, चीन और सीरिया के बीच में, कारवान का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर सय्याह और मुसाफिर स्वेन हेडेन का गोबी के रेगिस्तान पार करने का हाल पढा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चला था। उसने रेगिस्तान पार किया और लाप-नोर की झील को छूता हुआ ख़ुतन और उसके आगे पहुँचा। उसके पास आजकल के जमाने की सारी सहूलियतें थी। फिर भी उसे सफर में बडी परेशानी और तकलीफ हुई। फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्यूएनत्साग ने सफर किया होगा, इस रास्ते की

क्या हालत रही होगी ? स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की है। उसने यह मालूम किया कि लाप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी में, तारिन नदी ने, जो लाप-नोर में गिरती है, अपना मार्ग बदल दिया था। रेगिस्तान की बालू ने फौरन आकर उन जगहो को ढक लिया जहाँ से नदी होकर गुजरी थी। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग होगया और इसके निवासी शहर को बरबादी की हालत में छोडकर निकल पडे। झील ने भी नदी की वजह से अपना मुकाम बदल दिया और यही हालत पुराने कारवान और व्यापारी रास्ते की हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना रास्ता बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील भी इसके पीछे-पीछे गई और आज फिर तारिन की नदी पुराने लाउलन नगर के खँडहर से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्ष से काम में नहीं आया, फिर चलने लगे। लेकिन ऊँट की जगह पर अब मोटरें चलेंगी। इसी वजह से लाप-नोर को 'चचल' या घूमनेवाली झील कहते है। मैंने तुमसे लाप-नोर और तारिन नदी की चचलता का इसलिए जिक्र कर दिया कि तुम्हे मालूम हो जाय कि नदी के रास्ते में तब्दीली आजाने की वजह से बडे-बडे क्षेत्रो पर कैसे तब्दीली आजाती है और इतिहास पर कैसे असर पडता है। पुराने जमाने में मध्य एशिया में बडी घनी बस्ती थी और आदमियो के झुड के झुड उमड-उमड कर पश्चिम और दक्षिण जीतने के लिए निकले थे। आज कल यह हिस्सा बिलकुल रेगिस्तान है। इसमें कोई शहर नहीं पाये जाते और आबादी बहुत बिखरी हुई है। शायद उस वक्त ज्यादा पानी रहा हो और यह हिस्सा बहुत बडी आबादी का पालन पोषण करता रहा हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पडता गया, आबादी घटती गई।

इन लम्बे-लम्बे सफरो से एक फायदा था। मुसाफिरो को नई जबानो के सीखने का समय मिलता था। तीनो पोलो को वेनिस से पेकिंग तक पहुँचते-पहुँचते साढे तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे जमाने में मार्को को मगोलो की जबान और शायद चीनी भाषा को अच्छी तरह सीखने का मौक़ा मिल गया। मार्को 'बडे खाँ' का बहुत प्रिय हो गया और उसने क़रीब १७ साल तक उसकी सेवा की। उसे एक सूबे का गवर्नर बना दिया गया था और वह सरकारी काम पर चीन के जुदे-जुदे हिस्सों में जाया करता था। हालाकि मार्को और उसके पिता अपने देश को वापस जाने को बडे उत्सुक थे, उनको अपने घर और देश की याद सताती थी और वेनिस वापस जाना चाहते थे लेकिन खाँ की इजाजत मिलना आसान नहीं था। आखिरकार

उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान में इलखान साम्राज्य के मगोल शासक की बीवी मर गई। वह शासक कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था लेकिन उसकी पुरानी स्त्री ने यह वादा करा लिया था कि वह अपने फिरक़े के बाहर शादी न करे इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरे भाई का यही नाम था) कुबलाई ख़ॉ के पास पेकिग सदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने ही फिरके की एक योग्य स्त्री उसके पास भेज दे।

कुबलाई खा ने एक नौजवान मगोल राजकुमारी को चुना और तीनो पोलो को उसके साथ कर दिया क्योकि ये लोग तजुर्बेकार मुसाफिर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहा कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उस वक्त श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य कायम था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण हिन्दुस्तान आये। मं तुमको, पाण्ड्य राज्य के मशहूर बदरगाह कायल में मार्कोपोलो के आने के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। राजकुमारी के साथ मार्को और दूसरे लोग हिन्दुस्तान में काफी वक्त तक ठहरे। मालूम होता है कि इन्हे कोई जल्दी नहीं थी क्योकि इन्हे ईरान पहुँचते-पहुँचते दो वर्ष लग गये, लेकिन इस दरमियान जिसके साथ शादी होने वाली थी वह दूल्हा मर चुका था। उसने काफी इन्तिज़ार किया था। शायद उसका मरना कोई बहुत बडी आपत्ति नही थी। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के लड़के से हो गई, जो उसका हम उम्र था।

पोलो ने राजकुमारी को तो वहीं छोड दिया और ख़ुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए अपने घर गये। सन् १२९५ ई० में, यानी घर छोडने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तो और दूसरो पर असर डालने के लिए उन्होने एक दावत की और जब लोग खारहे थे, उसीके बीच उन्होने अपने फटे-पुराने और रुई भरे कपडे तराश डाले। फौरन ही क़ीमती जवाहिरात, हीरा, लाल, पन्ना, ढेरो उनके कपडो से निकल पडे, मेहमान हैरत में आगये। फिर भी बहुत कम आदमियो ने पोलो की कहानियो पर और चीन और हिन्दुस्तान में उनके कारनामों पर यकीन किया। इन लोगो ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बढ़ाकर बात कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से प्रजातत्र में महदूद होने की वजह से इनको यह कल्पना ही नही हो सकती थी कि चीन और एशिया के देश इतने बडे और मालदार हो सकते है।

तीन वर्ष बाद वेनिस और जेनेवा के शहरो में लडाई हुई। ये दोनो समुद्री ताकते थी और दोनो में लाग-डॉट थी। दोनो के दरमियान समुद्री लड़ाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जेनेवावालो ने कई हजार आदमियो को कैद कर

लिया। इन कैदियो में हमारे मित्र मार्कोपोलो भी थे। जेनेवा के कैदखाने में बैठकर मार्कोपोलो ने अपना यात्रा-वर्णन लिखा या यो कहिए, लिखाया। इस तरीक़े से 'मार्कोपोलो के यात्रा-वर्णन' का जन्म हुआ। अच्छे काम करने के लिए जेलख़ाना क्या ही उम्दा जगह है।

इस सफरनामे में मार्को ने ख़ास तौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओ का भी ज़िक्र किया है जो उसने चीन में की थीं। उसने स्याम, जावा सुमात्रा, लका और दक्षिण हिन्दुस्तान का भी हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन में बडे-बडे बन्दरगाह थे, जहा पूरब के देशो से सैकडो जहाज आया करते थे और बाज-बाज जहाज तो इतने बडे होते थे कि उनमें ३००, या ४०० मल्लाह हुआ करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और दौलतमन्द देश था जिस में अनेक शहर और कस्बे थे। "रेशमी और सुनहले कपडे और बहुत ही नफीस ताफ्ता बनते थे।" यह देश "बाग़ो और अंगूर के बग़ीचो" से भरा हुआ था। सडको पर मुसाफिरो के ठहरने के लिए, अच्छी-अच्छी सरायें बनी हुई थीं। उसने यह भी लिखा है कि बादशाह के हुक्म और सदेश पहुँचाने के लिए ख़ास इन्तज़ाम था। ये शाही सदेश या हुक्मनामे घोडो की डाक से २४ घटे में ४०० मील तक ले जाये जाते थे और यह दरअसल बहुत अच्छी रफ्तार है। बीच-बीच में घोडे बदल दिये जाते थे। उसने यह भी बतलाया है कि चीन के लोग काला पत्थर, जिसे वे ज़मीन से खोदते थे, ईंधन के काम में लाते थे। इससे साफ जाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खाने खोदते थे और कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई ख़ाँ ने काग़ज़ के नोट चला रखे थे, उनके बदले सोने के सिक्के देने का वायदा होता था, जैसे आज-कल चलते हैं। यह बडी दिलचस्प बात है, क्योकि इससे पता चलता है कि उसनें आज-कल के तौर-तरीक़े पर लेन-देन का इन्तज़ाम कर रखा था। मार्को ने यह भी लिखा है कि प्रेस्टर जॉन नाम के शासक की मातहती में ईसाइयो की एक आबादी चीन में रहती थी। इस ख़बर से योरप के लोगो को बडा अचम्भा हुआ। शायद ये लोग मगोलिया के पुराने नेस्टोरियन रहे हो।

मार्को ने जापान, बर्मा और हिन्दुस्तान के बारे में भी लिखा है। बहुतसी बाते ऐसी लिखी हैं जो उसने ख़ुद देखी थीं, और बहुतसी ऐसी जो सुनी थीं। मार्को की कहानी अभी तक भी सफर की अदभुत कहानी मानी जाती है। इस कहानी ने योरप के लोगो की आँखें खोल दीं। जो लोग अपने छोटे-छोटे देशो में, अपने छोटे ईर्षा और द्वेष में फँसे हुए थे, उनको आँखो के सामने विशाल ससार की महानता, सपत्ति और चमत्कार आगया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली, साहस की भावना बढ़ी और लोभ-लालच में तेज़ी पैदा

हो गई। इससे उन्हे समुद्र-यात्रा करने का प्रोत्साहन मिला। योरप बढ रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरो पर खडी हो रही थी और मध्य-काल की बदिशो को तोडकर बाहर आरही थी। वह जिन्दगी और जोश से भर रही थी और जवानी पर आरही थी। समुद्र-यात्रा की इसी प्रेरणा की वजह से और धन तथा साहस के ख़तरनाक कामो की तलाश में यूरोपियन लोग इसके बाद अमेरिका पहुँचे। केप आफ गुड होप (उत्तमाशा अन्तरीप) के चारो तरफ होते हुए प्रशांत महासागर, हिन्दुस्तान, चीन और जापान पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपो के कारवान के बडे-बडे रास्तो का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोडे दिन बाद ही 'बडे खा' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवश, जिसका यह जन्मदाता था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नही चला। मगोलो की ताकत तेज़ी के साथ घटने लगी और विदेशियो के खिलाफ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। ६० वर्ष के अन्दर ही मगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गये और नानकिंग में एक चीनी सम्राट बन बैठा। इसके १२ वर्ष बाद, १३६८ ई० में, यूआन राजवश का बिलकुल ख़ातमा हो गया और मगोल लोग चीन की 'बडी दीवार' के बाहर निकाल दिये गये। एक दूसरा चीनी राजवश—ताईमिंग राजवश—अब सामने आगया। इसने ३०० वर्ष तक चीन में राज किया। यह ज़माना सुशासन, सपन्नता और सभ्यता का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देश को जीतने की या साम्राज्य बनाने की इन लोगो ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मंगोल साम्राज्य टूट जाने की वजह से, चीन और योरप का सपर्क भी टूट गया। खुश्की के रास्ते अब सुरक्षित नहीं रह गये थे और समुद्र के रास्तो का अभी इतना ज्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हुआ था।

: ७० :

रोमन चर्च का फ़ौजी बाना

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हे बताया है कि कुबलाईखा ने पोप के पास एक सदेसा भेजा था और कहा था कि चीन को सौ विद्वान आदमी भेज दे। लेकिन पोप इस सदेसे के मुताबिक काम नहीं कर सका। उस वक्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हे याद हो तो यह सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का जमाना था, जबकि १२५० ई० से १२७३ ई० तक कोई गद्दी पर था ही नहीं। उस वक्त मध्य योरप की बडी बुरी हालत थी।

चारो तरफ बदइन्तिज़ामी थी और डाकू सरदार हर जगह लूट-मार करते फिरते थे। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रुडोल्फ सम्राट हुआ लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं बल्कि इटली साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय खेल राजनैतिक अशान्ति ही नहीं थी, रोमन चर्च के दृष्टिकोण से धार्मिक अशान्ति की शुरुआत भी हो चुकी थी। लोग उतने फर्माबरदार नहीं रह गये थे और न चर्च के हुक्मो का ही नम्रता से पालन करते थे। लोग शका करने लग गये थे और मजहबी मामलो में शका खतरनाक चीज होती है। हम देख चुके है, सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का वर्ताव करता था और समाज से निकाल दिये जाने से नहीं डरा था। उसने पोप के साथ ख़तो के जरिये वहस भी शुरू कर दी थी जिसमें पोप को नीचा देखना पडा था। फ्रेडरिक की तरह योरप में उस वक्त बहुत से शका करनेवाले रहे होगे। बहुत से इस तरह के भी आदमी रहे होगे जो चाहे पोप या चर्च के अधिकारो पर शका न भी करते रहे हो लेकिन जिन्हे चर्च के बडे आदमियो की विलासिता और दुष्टता का जीवन बुरा मालूम होता रहा होगा।

क्रूसेड की लडाइयाँ बदनामी और बेइज्जती के साथ खतम हो रही थीं। इनकी शुरूआत बडी उम्मीदो और बडे उत्साह से हुई थी लेकिन इनसे कुछ मतलब न निकला। इस किस्म की नाकायाबियो से फिर प्रतिक्रिया होती है। चर्च से असन्तुष्ट होकर लोग धीरे-धीरे प्रकाश की खोज में दूसरी जगहो पर नजर दौडाने लगे। चर्च ने जोर-जबर्दस्ती से इसका बदला लिया और आतकवाद के साधनो से आदमियो के दिमाग के ऊपर कब्जा कायम रखना चाहा। चर्च यह बात बिलकुल भूल गया कि आदमी का दिमाग अजीब होता है और पाशविक बल इसके खिलाफ बहुत ही कमजोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियो के और समूहो के अदर उठनेवाले खयालो का गला घोट दे। उसने शका का जवाब युक्ति और दलील से न देकर डडे और यातना से दिया।

११५५ ई० में, ब्रेशिया (इटली) के लोकप्रिय और ईमानदार उपदेशक एर्नाल्ड पर चर्च का गुस्सा उतरा। एर्नाल्ड पादरियों की विलासिता और भ्रष्टता के खिलाफ प्रचार करता था। उसे पकडकर फाँसी पर लटका दिया गया। फिर उसकी लाश को जलाकर राख टाइबर नदी में फेंक दी गई कि कहीं लोग उसे यादगार की तरह न रख लें। मरते दम तक एर्नाल्ड शात और गम्भीर रहा।

पोप इस मामले में यहाँतक बढ गया था कि ईसाइयो के गिरोह-के-गिरोह को, जो धार्मिक सिद्धान्तो में उससे जरा भी मतभेद रखता या पादरियो के तौर-तरीको की ज्यादा आलोचना करता, चर्च या समाज से बाहर निकाल देता। इन लोगो के

ख़िलाफ बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी जाती थी और इन पर हर किस्म की शर्मनाक बेरहमी और भीषणता का वार होता था। अलबिगुइस (या अलबिजेन्सस) लोगो के साथ, जो दक्षिण फ्रास के टूलोज नगर के थे, और वाल्डेन्सेस के साथ, जो वाल्डो के अनुयायी थे, इसी किस्म का बर्ताव हुआ था ।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक आदमी रहता था, जो ईसाई धर्म के इतिहास में एक बडा ही आकर्षक व्यक्ति हुआ है । यह असीसी का फ्रासिस था। यह बडा अमीर आदमी था लेकिन इसनें अपनी अमीरी को छोडकर ग़रीबी इख़्तियार करली थी और बीमारो और गरीबो की सेवा के लिए बाहर निकल पडा था। चूंकि कोढी सबसे ज्यादा दुखी थे और लोग सबसे कम उनकी परवाह करते थे इसलिए ख़ास तौर से वह उनकी सेवा में लगा रहता था। उसने एक सघ चलाया, जो बौद्ध सघ की तरह था । इसे 'सेंट फ्रासिस का आर्डर' यानी सघ कहते है। यह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगो की सेवा करता हुआ फिरता था और हजरत ईसा की तरह अपनी जिन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हजारो आदमी इसके पास आते थे और बहुत से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फिलस्तीन गया था। हालाँकि वह ईसाई था लेकिन मुसलमान भी इस शान्त और हर-दिल-अजीज शख़्स की इज्जत करते थे और उन्होने किसी तरह से उसके काम में दस्तदाजी नहीं की। ११८१ से १२२६ तक वह जिन्दा रहा। उसके मरने के बाद उसके सघ की चर्च के ऊँचे अफसरो से टक्कर हो गई। शायद चर्च को यह पसन्द नहीं था कि गरीबी की जिदगी पर इतना जोर दिया जाय। गरीबी और सादगी से जिदगी बिताने के इस पुराने ईसाई सिद्धान्त को चर्चवाले भूल गये थे। १३१८ ई० में मार्सेलीज में फ्रासिस के सघ के चार साधु, काफिर होने के अपराध में, जिन्दा जला दिये गये ।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे से शहर में संत फ्रासिस की यादगार में एक बहुत बडा जलसा हुआ था। मुझे याद नहीं पड़ता कि उस साल यह जलसा क्यो किया गया। शायद यह उसके मरने का सातसौवाँ साल रहा हो।

फ्रासिस के सघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल भिन्न, एक दूसरा सघ चर्च के अन्दर पैदा हुआ। उसका चलानेवाला एक स्पेन-निवासी सेण्ट डोमिनिक था। इस सघ को 'डोमिनिकन आर्डर' कहते है। यह संघ उग्र और कट्टर था। इन लोगो के ख़याल में मजहब को कायम रखने के बडे फर्ज के सामने दुनिया की सारी चीजें फिजूल थी। उनका ख्याल था कि अगर ये फर्ज समझाने बुझाने से पूरे नहीं हो सके तो जोर जबर्दस्ती से भी काम लेना चाहिए ।

मजहब में चर्च ने हिंसा और जब्र का राज्य बाकायदा और सरकारी तौर पर १२३३ में 'इन्क्विजिशन' को जारी करके शुरू किया। 'इन्क्विजिशन' एक किस्म की अदालत होती थी जो लोगो के धार्मिक सिद्धान्तो पर विचार करती थी। अगर इस अदालत की राय में लोग चर्च के धार्मिक सिद्धान्तो में पक्के साबित नहीं होते थे तो उनकी मामूली सजा यह थी कि वे जिन्दा जला दिये जाते थे। काफिरो यानी नास्तिको की बाकायदा खोज होती रहती थी और उनमें से सैकड़ो जिन्दा जला दिये गये। जिन्दा जलाने से भी बदतर यातना पहुँचाने की प्रथायें थीं ताकि काफिर लोग पुराने धर्म में वापस आजायें। बहुतेरी ग़रीब अभागी औरतो पर टोना-टोटका करने का अपराध लगाया जाता था और वे जिन्दा जला दी जाती थीं लेकिन यह बात, ख़ास कर इग्लैण्ड और स्काटलैंड में, अक्सर जनता की उत्तेजित भीड करती थी। 'इनक्विजिशन' यानी मजहबी अदालत के फैसले से ऐसा नहीं होता था।

पोप ने एक 'धर्माज्ञा' (Edict of Faith) निकाली जिसमें हरेक आदमी को हुक्म दिया गया कि मुख़बिर का काम करे। पोप ने केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) को शैतानी हुनर कहकर नाजायज करार दिया था, और मजा यह कि यह सारी हिंसा और अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था। ये लोग ईमानदारी के साथ इस बात पर यकीन करते थे कि किसी आदमी को जिन्दा जलाकर उसकी आत्मा को और दूसरो की आत्मा को बचा रहे है। मजहबी आदमियो ने अक्सर दूसरो से अपने ख़याल जबर्दस्ती मनाने की कोशिश की है और दूसरो के हलक के नीचे अपने ख़यालात उतारे है और समझते रहे हैं कि हम जनता की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने हत्यायें की है और लोगो की जानें ली है। और अविनाशी आत्मा को बचाने की बात करते हुए इन्होंने नाशमान शरीर को भस्म कर देने में जरा भी सकोच नहीं किया है। मजहब की करतूते बडी ख़राब रही है पर इस अमानुषिक बेरहमी में 'इनक्विजिशन' यानी इस मजहबी अदालत का मुकाबिला करनेवाली कोई दूसरी चीज दुनिया में नहीं हुई। और फिर भी यह एक ताज्जुब की बात है कि बहुत से आदमी, जो इन अत्याचारो के लिए जिम्मेदार थे, इस काम को अपने जाती फायदे के लिए नहीं लेकिन इस दृढ विश्वास से कर रहे थे कि वे ठीक काम कर रहे हैं।

जब पोपो ने योरप के ऊपर ख़ौफ़ का यह राज्य फैला रखा था तब उधर राजा और सम्राटों के ऊपर उनका जो रौब था वह दूर होता जारहा था। वे दिन चले गये थे, जब पोप सम्राट को समाज से बाहर करने की धमकी देकर और डराकर अपना ताबेदार बना लेता था। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की बुरी हालत होगई; कोई सम्राट

नहीं रहा या सम्राट रोम से दूर रहे तब फ्रांस का राजा पोप के कामो में दखल देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से फ्रास का राजा नाराज हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा जो ज़बर्दस्ती पोप के महल में घुसकर पोप के सोने के कमरे में चला गया और वहाँ पर पहुंचकर उसके मुंह पर उसका अपमान किया। इस बात पर किसी देश में असन्तोष नहीं हुआ। कहाँ यह बात और कहाँ कनौजा में, नगे पैर पोप से मिलने के लिए सम्राट के घंटो खडे रहने की बात !

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ़ांसीसी था, एविगनन (जो अब फ्रास में है) में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ्रासीसी बादशाहो के प्रभाव में, रहते रहे। १३७८ ई० में पोप का चुनाव करनेवाले बडे पादरियो के सघ (College of Cordinals) में मत-भेद हो गया। इसे 'महान् झगडा' (The Great Schism) कहते है। इनकी दो पार्टियो ने अपना-अपना पोप अलग चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट और उत्तर योरप के बहुत से देश इसको मानते थे। दूसरा जो एण्टी-पोप कहलाने लगा, एविगनन में रहता था। फ्रांस का राजा और उसके कुछ साथी राजा और सरदार उसका समर्थन करते थे। ४० वर्ष तक यह हालत रही। पोप और एण्टी-पोप एक दूसरे को कोसते और समाज से बहिष्कृत करते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनो पार्टियो ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था लेकिन दोनो पोपो के बीच के इस अप्रिय झगडे का असर योरप के लोगो पर बहुत ज्यादा पडा होगा। जब पादरी लोग, और इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि लोग, इस तरह की हरकतें करते है तो लोग उनकी पवित्रता और ईमानदारी पर शंका करने लगते है। इस तरह इस झगडे की वजह से, लोगो को मजहबी अफसरों की अंधी ताबेदारी से बाहर निकलने में बडी मदद मिल गई। फिर भी उनको अभी काफी जोरदार धक्के की जरूरत थी।

चर्च पर वाइक्लिफ नाम के एक अंग्रेज ने खुले आम आक्षेप करना शुरू कर दिया। वह पादरी था और आक्सफर्ड में प्रोफेसर था। बाइबिल का अंग्रेजी में पहली मर्तबा तर्जुमा करने के लिए वह मशहूर है। अपनी जिन्दगी में तो वह रोम के पोप के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, चर्च कौंसिल ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डिया खोदकर निकाली और जला दी जायें। इस हुक्म की पाबन्दी की गई।

हालाकि वाइक्लिफ की हड्डियो को कब्र खोदकर निकाला और जला दिया गया मगर उसके ख़यालात को आसानी से नहीं दबाया जा सका। वे फैलने लगे, यहांतक कि बोहेमिया तक, जो अब जेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुंच गये और उनका असर

जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्रेग विश्व-विद्यालय का प्रमुख हुआ। पोप ने जॉन हस को उसके खयालात की वजह से समाज से निकाल दिया लेकिन इससे उसके शहर में उसका कुछ नहीं बिगड़ा, क्योंकि वहाँ वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए एक चाल चली गई। उसे कॉन्स्टेंस, जो स्विट्जरलैंड में है और जहाँ चर्च कौंसिल की बैठक हो रही थी, बुलाया गया और सम्राट ने वादा किया कि हिफ़ाज़त से वहाँ पहुँचा दिया जायगा। जॉन हस गया। उससे कहा गया कि तुम अपनी गलती मान लो लेकिन उसने जवाब दिया कि जबतक मैं समझ न लूँ अपनी गलती नहीं मान सकता। इसपर हिफ़ाज़त के वादे के बावजूद उन्होंने उसे ज़िन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह ठीक समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत यातनापूर्ण मृत्यु को बेहतर समझता था। वह अन्तःकरण और भाषण की स्वतन्त्रता की वेदी पर शहीद हो गया। वह चेक लोगों का एक वीर पुरुष समझा जाता है और चेकोस्लोवाकिया में उसकी यादगार की आजतक इज्जत है।

जॉन हस की शहादत बेकार नहीं गई। चिनगारी की तरह इसने बोहेमिया में इसके अनुयायियों में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगों के ख़िलाफ़ क्रूसेड की घोषणा की। क्रूसेड एक सस्ती चीज थी, उसमें कुछ खर्च नहीं होता था और ऐसे भी बदमाशों की कमी नहीं थी जो ऐसे मौक़ों से फ़ायदा उठाते थे। इन जिहादियों ने, जैसा एच० जी० वेल्स ने लिखा है "बेगुनाह लोगों पर बुरी तरह और दिल दहलादेने वाले अत्याचार किये"। लेकिन जब हस के अनुयायियों की फ़ौज अपना लड़ाई का गाना गाती हुई आई, तो ये धर्म के लिए लड़ने वाले गायब हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जब तक गाँव के बेगुनाह लोगों को मारने और लूटने का काम था, इन बहादुरों ने खूब जोश दिखाया, लेकिन संगठित सेना के आने पर वे भाग गये।

इस तरह से निरंकुश और अपनेको ही सच्चा माननेवाले मज़हबी लोगों के ख़िलाफ़ बलवा और विद्रोह का सिलसिला शुरू हुआ, जो सारे योरप में फैल गया उसको एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दो दलों में बाँट दिया और ईसाई मज़हब के दो टुकड़े हो गये—एक कैथलिक, दूसरा प्रोटेस्टेण्ट।

: ७१ :

अधिकारवाद के खिलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि योरप के मजहबी लडाई-झगडो का बयान तुम्हे नीरस मालूम होगा। लेकिन यह बयान महत्वपूर्ण है क्योकि इससे यह पता चलता है कि आज के योरप का विकास कैसे हुआ। इसकी मदद से हम योरप को समझ भी सकते है। मजहबी आज़ादी के लिए जो लड़ाई योरप में चौदहवीं सदी में और उसके बाद बढी और राजनैतिक आजादी की लडाई, जो इसके बाद हुई, दरअसल एक ही लड़ाई के दो पहलू है। इसे अधिकार या अधिकारवाद के ख़िलाफ युद्ध कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पैपसी (पोप राज्य) दोनो निरंकुश अधिकार के नुमाइदे थे और आदमी की आत्मा को कुचलने कोशिश करते थे। सम्राट् 'ईश्वरीय अधिकार' से शासन करता था और पोप तो ईश्वर का प्रतिनिधि ही बना हुआ था। किसीको इस बारे में बोलने और उनके हुक्म को मानने से इन्कार करने का हक नहीं था। फरमाबरदारी बहुत बडी ख़ासियत समझी जाती थी। निजी विवेक या बुद्धि का इस्तेमाल भी पाप माना जाता था। इसी तरह दो रास्ते बिलकुल अलग-अलग थे। एक तो आँख मूदकर ताबेदारी का रास्ता था और दूसरा आज़ादी का। अन्त - करण की आज़ादी के लिए और, इसके बाद राजनैतिक आज़ादी के लिए, योरप में कई सदियो तक जबर्दस्त लड़ाई होती रही। बहुत ऊँचा-नीचा देखने और बडी तक-लीफें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हुई। लेकिन लोग ठीक उस वक्त, जब आज़ादी की मंजिल तक पहुँचने के लिए आपस में एक दूसरे को मुबारकबादी दे रहे थे कि उन्हे यह पता चला कि वे गलती पर है। जब तक आर्थिक आज़ादी नहीं मिलती, जब तक ग़रीबी मौजूद है, तब तक यह कहना सही नहीं है कि असली आजादी मिल गई। भूखे आदमी से कहना कि तुम आजाद हो, उसका मुह चिढ़ाना है। इसलिए दूसरा कदम आर्थिक आज़ादी की लडाई की तरफ बढाया गया और यह लडाई सारी दुनिया में आज जारी है। सिर्फ एक देश के बारे में यह कहा जासकता है कि वहाँ, आमतौर पर जनता को आर्थिक आज़ादी मिली है और वह देश रूस है या यो कहो कि सोवियट यूनियन है।

हिन्दुस्तान में अन्त करण की आज़ादी की कोई लडाई नहीं हुई क्योकि बहुत ही पुराने जमाने से यह हक हिन्दुस्तान में सब लोगो को मिला हुआ था। लोगो को हक था कि चाहे जो मानें। कोई मजबूरी नही थी। लोगो के दिमाग पर असर

डालने का जरिया बहस मुबाहसा और दलीलें हुआ करती थीं, लाठी-डडा नहीं। मुमकिन है, कभी-कभी जबर्दस्ती और हिंसा की भी गई हो, लेकिन पुराने आर्य सिद्धान्त में अन्त करण की आजादी मानी गई थी। अजीब बात यह है कि इसका नतीजा हमेशा अच्छा नहीं हुआ। सिद्धान्त में आजादी होने की वजह से लोग उसके बारे में सजग नहीं रहे और धीरे-धीरे असलियत से गिरते हुए मजहब के आचार-विचारो, रीति-रिवाजो और झूठे विश्वासो के जाल में फँसते गये। उन्होंने एक धार्मिक मनोदशा पैदा कर दी जिसकी वजह से लोग बहुत पीछे हट गये और धार्मिक सत्ता के गुलाम हो गये। यह सत्ता किसी पोप या व्यक्ति की नहीं थी, यह सत्ता शास्त्रों या 'पवित्र ग्रंथो', रस्म-रिवाज और परम्परा की थी। इस तरह से हम अन्त करण की आजादी की बात-चीत करते थे और उस पर नाज करते थे, लेकिन असल में हम आजादी से बहुत दूर थे और पुरानी किताबो और रस्मो की जजीरो में जकडे हुए थे। अधिकार और अधिकारवाद हम पर हुकूमत करता था और हमारे दिमाग़ पर उसीका कब्जा था। जजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीर को बाँधती है, काफी बुरी होती है लेकिन ख़यालात और तास्सुब की अदृश्य जजीरें, जिनसे हमारा मन बधा हो, उनसे कहीं ज्यादा ख़राब होती है। ये जजीरे हम खुद ही बनाते है और गोकि हम खुद यह नहीं जानते कि हम बँधे हुए है लेकिन असल में वे हमें बडी सख़्ती से जकडे होती है।

हिन्दुस्तान में मुसलमानो के हमलावर की हैसियत से आने की वजह से मजहब के मामले में किसी हद तक जोर-जबर्दस्ती का माद्दा आया। लडाई असल में जीतने और हारनेवाले के दरमियान, राजनैतिक, थी, लेकिन इसमें मजहब का रग आगया था और कभी-कभी मजहबी जुल्म हुए। लेकिन यह समझना कि इस्लाम मजहबी जुल्म का कायल था, ग़लती होगी। १६१० ई० में, जब अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गये थे, तब एक स्पेनिश मुसलमान ने एक दिलचस्प तकरीर की थी। 'इन्क्विजिशन का विरोध करते हुए उसने कहा था—

"क्या हमारे विजयी पुरखो ने कभी एक दफा भी ईसाई धर्म को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? जब तुम्हारे पुरखे जजीरे पहने हुए थे तब क्या हमारे पूर्वजो ने उन्हे अपने रस्म व रिवाज पर आजादी के साथ चलने का हक नहीं दे रखा था? अगर जबर्दस्ती मजहब में मिला लेने की कुछ घटनायें मिलती भी है तो वे इतनी कम है कि उनका बयान बेकार है। ऐसी जबर्दस्ती उन लोगो ने की है जिनकी आँखो के सामने ख़ुदा और रसूल का डर नहीं था। अगर किसीने ऐसा किया तो इस्लाम के सिद्धान्त और शरीयत के ख़िलाफ़ किया और जो ऐसा करे वह मुसलमान कहलाने के क़ाबिल नहीं

है । तुम मुसलमानो में एक भी ऐसी बाक़ायदा बनाई गई और ख़ून की प्यासी अदालत नहीं पा सकते जो मजहबी ख़्यालात से विरोध होने की वजह से जुल्म में तुम्हारे 'इनक्विजिशन' की बराबरी कर सके । इसमें शक नहीं कि जो लोग हमारे मजहब में आना चाहते है, हम उनको गले लगाने के लिए बिलकुल तैयार है, लेकिन कुरान पाक में इस बात की इजाजत नहीं है कि किसी के अन्तःकरण के साथ ज़बरदस्ती की जाय ।"

इस तरह, धार्मिक सहिष्णुता और आत्मा की स्वतत्रता, जो पुराने हिन्दुस्तानी जीवन के ख़ास पहलू थे, किसी हद तक हममें से जाते रहे । उधर योरप हमारे बराबर पहुँच गया, बल्कि लम्बी कशमकश के बाद इन्ही सिद्धान्तो को स्थिर करने में वह हमसे आगे बढ गया । आज कभी-कभी हिन्दुस्तान में मज़हबी झगडे होते है, हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से लडते है और एक दूसरे को क़त्ल करते है । यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कही ही होता है, और ज्यादातर हम लोग, हिन्दू और मुसलमान, दोस्ती और शान्ति के साथ, रहते है क्योकि हमारे असली हित और स्वार्थ एक ही है । किसी हिन्दू या मुसलमान का, मजहब के नाम पर, अपने भाई से लडना शर्म की बात है । हमें इसे ख़तम कर देना चाहिए और हम जरूर ख़तम कर देंगे । लेकिन ख़ास बात तो यह है कि अन्ध-विश्वास, परम्परा और रस्मरिवाज की मनोदशा के चक्कर से, जिसने मजहब की आड में हमें जजीर से बाँध रक्खा है, हम आज़ाद हो जायें ।

धार्मिक सहिष्णुता की तरह राजनैतिक आज़ादी के मामले में भी हिन्दुस्तान ने पहले अच्छी शुरुआत की थी । तुम्हे गाँवो के लोकतत्रो या जनता की पचायतो की याद होगी । तुम्हे ख़याल होगा कि पहले पहल राजा के अधिकार किस तरह महदूद थे और योरप की तरह हिन्दुस्तान में यह नहीं माना जाता था कि राजा को 'ईश्वरीय अधिकार' मिले हुए है । हमारा सारा राजशासन गाँवो की स्वतत्रता पर बना हुआ था । लोग इस बात की परवाह नहीं करते थे कि राजा कौन है । अगर उनकी स्थानीय आजादी महफूज रहती थी तो उनको इस बात की परवाह नही होती थी कि ऊपर का अफसर कौन है, लेकिन यह ख़याल ख़तरनाक और बेवकूफी का था । धीरे-धीरे ऊपर के अफसरो ने अपने अख़्तियारात बढा लिये और गाँव की आज़ादी में दख़ल देने लगे और एक ज़माना आया कि इस देश में बिलकुल निरकुश सम्राट् होने लगे, गाँवो की अपनी कोई सत्ता नहीं रह गई और ऊपर से नीचे तक कहीं भी आज़ादी का नामो-निशान नहीं रहा ।

: ७२ :

मध्य युग का अंत

१ जुलाई, १९३२

आओ, हम तेरहवीं से चौदहवीं सदी तक के योरप पर फिर से एक नजर डाल ले। यहाँ हमें वहुत ज्यादा अशाति, हिंसा और लडाई-झगडा मिलेगा। हिन्दुस्तान की हालत भी काफी खराब थी लेकिन योरप के मुक़ाविले में उसे कुछ शान्तिमय कह सकते हैं।

मगोल लोग योरप में बारूद लाये और अब बन्दूको का इस्तैमाल होने लगा था। राजाओ ने इससे फायदा उठाकर अपने बाग़ी सामन्त सरदारो को पस्त करना चाहा। इस काम में उन्हे शहर के नये व्यापारी वर्ग से मदद मिली। सरदारो की यह आदत थी कि वे आपस में भी लडते-झगडते रहते थे। इसकी वजह से वे कमजोर हो गये थे। लेकिन इससे गाँववालो को भी बडी परेशानी रहा करती थी। जब राजा ताक़तवर हुआ तो उसने इस आपसी लडाई को बन्द करवा दिया। कुछ जगहो पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारो की वजह से घरेलू लडाइयाँ होती थी—जैसे इग्लंड में दो खानदानों में झगडा था, एक तो यार्क का खानदान, और दूसरा लैन्केस्टर का खानदान। इन दोनो दलो ने गुलाब के फूल को अपना निशान बना लिया था, एक ने सफेद और दूसरे ने लाल गुलाब चुना था। इन लडाइयो को इसीलिए 'गुलाब के फूलो की लडाइयाँ' (The Wars of the Roses) कहा गया है। इन गृह-युद्धो में सामन्त सरदारो की काफी सख्या मारी गई। क्रूसेड्स में भी बहुत से सामन्त सरदार मारे गये थे। इस तरह धीरे-धीरे वे कब्ज़े में आगये। लेकिन इसका मतलब यह न समझना चाहिए कि अधिकार सरदारो के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल में ताक़त राजा की बढी और आम लोग जैसे के तैसे ही रहे। हाँ, आपस के नये झगडों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर जरूर हो गई। राजा धीरे-धीरे ज्यादा ताक़तवर और निरकुश शासक हो गया। राजा और नये व्यापारी वर्ग का झगडा अभी शुरू नहीं हुआ था।

कत्ले आम और लडाई से ज्यादा भयकर प्लेग की वह भीषण महामारी थी जो योरप में १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे योरप में, रूस और एशिया माइनर से लेकर इग्लैंड तक, फैल गई, यह मिस्र, उत्तर अफ्रीका और मध्य एशिया में भी फैली और वहाँ से पश्चिम की तरफ बढ़ गई। इसको 'काली मौत' (Black Death) कहते थे। इसमें लाखो आदमी मर गये। इग्लैंड की एक तिहाई आबादी खतम हो गई और चीन और दूसरे देशो में भी बहुत ज्यादा आदमी मरे। यह एक ताज्जुब की बात है कि यह बीमारी हिन्दुस्तान में नहीं आई।

इस भयकर आपत्ति की वजह से आबादी बहुत घट गई और जमीन जीतने के लिए काफी आदमी नही रह गये। आदमियो की कमी की वजह से किसानो की मजदूरी बढ़ने लगी और उनकी दयाजनक स्थिति में जरा-सा सुधार हुआ लेकिन पार्लमेण्ट जमींदार और जायदाद के मालिको के हाथ में थी। इन लोगो ने ऐसे कानून बनाये कि लोग पुरानी तुच्छ मजदूरी पर काम करने और ज्यादा न माँगने के लिए मजबूर हो गये। जब किसान और ग़रीब इतने पिसे और चूसे गये कि बात उनके सहने की शक्ति से आगे बढ गई, तब उन्होने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी योरप में किसानो के ये बलवे एक के बाद एक करके होते रहे। फ्रास में १३५८ में किसानो का एक बलवा हुआ जो 'जेकेरी' (Jacquerie) के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वेट टाइलर का बलवा हुआ जिसमें टाइलर १३८१ ई० में, अग्रेज राजा के सामने, मारा गया। ये बलवे अक्सर बडी बेरहमी के साथ दबा दिये गये। लेकिन समानता के नये ख़यालात धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोग ख़ुद अपने दिलो में पूछते थे कि हम गरीब क्यो रहे और भूखो क्यो मरे, जब कि दूसरे अमीर है और उनके पास हरेक चीज भरी पडी है ? क्या वजह है कि कोई सरदार कहलाये और कोई असामी या ग़ुलाम हो ? किसी के पास नफीस कपडे क्यो जब कि दूसरो के पास शरीर ढकने के लिए काफी चिथडे भी नही है ? हुकूमत की तावेदारी करने का पुराना ख़याल, जिस पर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, कमजोर पडता जाता था इसलिए किसान बार-बार सर उठाते थे, लेकिन वे कमजोर और असगठित थे इसलिए दबा दिये जाते थे और कुछ दिन के बाद वे फिर उठ खडे होते थे।

इंग्लैण्ड और फ्रास के बीच करीब-क़रीब बराबर लड़ाई होती रही। चौदहवी सदी के शुरू से पन्द्रहवी सदी के मध्य तक, ये दोनो मुल्क लडते रहे। इस लडाई को 'सौ वर्ष की लडाई' (The Hundred Years' War) कहते है। फ्रास के पूरब में बरगडी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम-मात्र के लिए फ़्रास के राजा की मातहत थी। यह एक तूफानी और झगडालू रियासत थी और अग्रेजो ने, फ्रास के ख़िलाफ, इससे और दूसरी रियासतो से साज़िश-सी करली थी। थोडे दिनो के लिए फ्रास चारो ओर से जकड गया। पश्चिमी फ्रास का काफी बडा हिस्सा, बहुत दिनो तक, अग्रेजो के क़ब्जे में रहा और इंग्लैंड का राजा अपने को फ्रास का राजा भी कहने लग गया था। जिस समय फ्रास की क़िस्मत का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नही दिखाई देती थी, एक नौजवान किसान लड़की के रूप में आशा और विजय ने दर्शन दिया। तुम जीन द आर्क या जोन आफ आर्क, जिसे 'मेड आफ् आर्लियन्स' यानी आर्लियन्स की कुमारी भी कहते थे, के बारे में

थोडा-बहुत जानती ही हो। वह एक बहादुर औरत या ऐसी नायिका है जिसे तुम पसद करती हो। उसने अपने पस्तहिम्मत देशवासियो के दिल में विश्वास पैदा किया और बडे-बडे कारनामे करने के लिए उनको उत्साहित किया। उसके नेतृत्व में फ्रासीसियो ने अग्रेजो को अपने देश से निकाल भगाया लेकिन इसका बदला उसे यह मिला कि 'इनक्विजिशन' के सामने उसका मुक़दमा हुआ। अग्रेजो ने पकड़कर चर्च से उसे फासी की सजा दिला दी और राउन के बाजार में १४३० ई० में इन लोगो ने उसे जिन्दा जला दिया। बहुत वर्षों के बाद रोमन चर्च ने अपने फैसले को बदल कर जो कुछ बुरा किया था उसे सुधारना चाहा और कुछ दिनो के बाद जीन द आर्क को 'सत' की पदवी दे दी।

जीन या जोन फ्रास और अपनी मातृभूमि को विदेशियो से बचाने की बात करती थी। बात करने का यह नया ढग था। उस वक्त लोगो में सामन्त प्रथा के खयाल इतने भरे थे कि वे राष्ट्रीयता का खयाल ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढग से बात करती थी उससे उन्हें ताज्जुब होता था और लोग उसकी बात मुश्किल से समझ पाते थे। जीन द आर्क के जमाने से फ्रास में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरूआत दिखाई देती है।

अग्रेजो को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ्रास के राजा ने बरगडी की तरफ ध्यान दिया, जिसकी वजह से उसे इतनी परेशानी हुई थी। यह शक्तिशाली रियासत, आखिरकार, काबू में आगई और १४८३ ई० में फ्रास में शामिल कर ली गई। फ्रास का राजा अब एक शक्तिशली बादशाह हो गया। उसने अपने सारे सामन्त सरदारो को या तो क़ाबू में कर लिया था या पस्त कर दिया था। बरगडी के फ्रास में मिल जाने से जर्मनी और फ्रास आमने-सामने आगये, इनकी सरहदें एक-दूसरे को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़्रास में एक मजबूत केन्द्रीय बादशाहत थी, तहाँ जर्मनी कमजोर था और कई रियासतो बँटा हुआ था।

इग्लैण्ड भी स्काटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा सघर्ष रहा है जिसमें स्काटलैंडवाले इंग्लैण्ड के ख़िलाफ फ्रास की तरफदारी करते रहे। स्काटलैंडवालो ने १३१४ ई० में, राबर्ट ब्रूस की मातहती में, बैनकबर्न में, अग्रेजो को हरा दिया।

इससे और पहले, बारहवीं सदी में अग्रेजो ने आयरलंड को जीतने की कोशिश शुरू की। इस बात को ७०० वर्ष हो गये; उस समय से कितनी लडाइयाँ हुईं, कितने बलवे हुए, कितनी भीषणता और भयंकरता रही फिर भी आयरलैंड का सवाल आज तक हल नहीं होसका। इस छोटे से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने

से बराबर इन्कार किया है और पीढ़ी दर पीढी लोगो ने बलवा किया और इस बात की घोषणा की है कि विदेशियो के सामने कभी सर नहीं झुकायेंगे। आयरिश समस्या का, और इसी तरह हिन्दुस्तान के सवाल का, सिवाय आजादी के दूसरा कोई हल नहीं हो सकता।

तेरहवीं सदी में योरप की एक दूसरी छोटी-सी क़ौम, यानी स्वीजरलैंड, ने अपनी आजादी के हक़ का ऐलान किया। यह साम्राज्य में शामिल था और आस्ट्रियन इस पर हकूमत करते थे। तुमने विलियम टेल और उसके लडके का किस्सा पढ़ा होगा लेकिन यह किस्सा सही नहीं है। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात स्विस किसानो का विद्रोह है, जो उन्होने विशाल साम्राज्य के खिलाफ किया था और उसके सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया था। पहले तीन जिलो ने बलवा किया और १२९१ ई० में 'अमर सघ' (Everlasting League) नाम की सस्था बनाई। दूसरे ज़िले भी उनमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीजरलैंड स्वतत्र प्रजातत्र हो गया। यह अनेक जिलो का एक फेडरेशन या संघ था और इसे 'स्विस सघतंत्र' (Swiss Confederation) कहते थे। क्या तुम्हे याद है कि पहली अगस्त को स्वीजरलैंड में हम लोगो ने कई एक पहाडो की चोटियो पर आग जलती हुई देखी थी। यह स्विस लोगो का राष्ट्रीय दिन था, यह उनकी क्रान्ति के शुरू होने के दिन की सालगिरह थी। उन दिनो यह जलती हुई आग इस बात का सकेत था कि आस्ट्रियन शासक के ख़िलाफ बगावत शुरू करदो।

योरप के पूर्व में कुस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था ? तुम्हे याद होगा कि लैटिन क्रूसेडवालो ने १२०४ ई० में यूनानियो से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० में यूनानियो ने इन लोगो को फिर निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से क़ायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बड़ा ख़तरा सामने आरहा था।

जब मगोल एशिया को पार करते हुए बढने लगे तो ५० हजार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भागे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे, ये अपने को उस्मान का वंशज कहते थे इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियो ने पश्चिमी एशिया में सेलजूको की शरण ली। जान पडता है कि ज्यो-ज्यो सेलजूक तुर्क कमजोर पड़ते गये, उस्मानी ताक़त में बढ़ते गये। वे फैलते भी गये और कुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय जैसा कि उनके पहले बहुतो ने किया था, वे उसे छोड़ गये और १३५३ ई० में एशिया को पार कर योरप चले गये। वहाँ वे तेजी से फैल गये। उन्होंने बलगोरिया और सर्बिया पर कब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाई। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के दोनो तरफ,

एशिया और योरप में फैल गया। यह कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द चारो तरफ था लेकिन कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर था। हजारो वर्षो का अभिमानी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटकर बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इसके अलावा कुछ और नहीं था। हालाकि तुर्क लोग पूर्वी साम्राज्य को तेजी के साथ निगलते जारहे थे फिर भी सुलतानो और सम्राटो में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनो के खानदानो में आपस में शादी-विवाह भी होते रहते थे। आखिरकार १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया भी तुर्कों के कब्जे में आगया। अब हम सिर्फ उस्मानी तुर्कों का जिक्र करेंगे क्योकि सेलजूको का तो अब तस्वीर में कुछ पता न था।

कुस्तुन्तुनिया का पतन, हालाकि उसकी उम्मीद बहुत दिनो से की जारही थी, एक ऐसी घटना थी जिससे योरप हिल गया क्योकि इसका मतलब यह था कि कई हजार वर्ष का पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य समाप्त हो गया। इसका मतलब यह भी था कि योरप पर मुसलमानो का दूसरा हमला होगा। तुर्क लोग फैलते गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे योरप को जीत लेंगे लेकिन वियेना के फाटक पर वे रोक दिये गये।

सेण्ट सोफिया का बडा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट जस्टीनियन ने बनवाया था, बदल कर मसजिद कर दिया गया और उसका नाम आया सूफिया रख दिया गया। उसके खजाने की भी कुछ लूट-मार हुई। इसकी वजह से योरप में कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। सच तो यह है कि तुर्की सुल्तान कट्टर यूनानी चर्च के लिए बहुत सहिष्णु रहे यहां तक कि कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा करने के बाद सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी चर्च का सरक्षक घोषित कर दिया। बाद के एक सुल्तान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटो का नुमाइन्दा समझकर 'सीजर' का लकब इख्तियार कर लिया। पुरानी परम्परा की यह ताकत होती है!

जान पडता है कि उस्मानी तुर्कों की कुस्तुन्तुनिया के यूनानियो ने कोई मुखालिफत नहीं की। उन्होने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य गिर रहा है। उन्होने पोप से और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को बेहतर समझा। लैटिन क्रूसेड वालो का बुरा तजुर्बा उन्हे होचुका था। कहते है कि १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में, एक बिजैण्टाइन सरदार ने कहा था कि "पोप के मुकुट से रसूल की पगडी अच्छी है।"

तुर्कों ने एक खास फौज बनाई थी जिसे 'जाँनिसार' कहते थे। वे छोटे-छोटे ईसाई लडकों को, ईसाइयो से कर के रूप में ले लेते थे और उनको खास शिक्षा देते

थे। छोटे-छोटे बच्चो को अपने माँ-बाप से अलहदा करदेना बडी बेरहमी की बात थी लेकिन उन लड़को को इससे कुछ फायदा भी होता था। उन्हे अच्छी तालीम मिलती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारियो की यह फौज उस्मानी सुल्तानो की ताकत का एक बड़ा आधार था। 'जाँनिसार' का मतलब है 'जान को निछावर करने वाला'।

इसी तरह, मिस्र में, ममलूको की भी एक फौज थी, जो जाँनिसारियो की तरह ही बनाई जाती थी। बाद में यह बहुत ताकतवर होगई और इसमें से कई लोग मिस्र के सुलतान भी हुए।

उस्मानी सुल्तानो ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करने के बाद अपने से पहले के अधिकारियो से, यानी बिज़ैण्टाइन सम्राटो से, विलासिता और दुराचार की बहुत-सी बुरी आदते भी सीख लीं। बिज़ैण्टाइन लोगो की सारी गिरी हुई साम्राज्य-प्रणाली ने इनको घेर लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताकत चूस ली। कुछ दिनो तक तो वे बडे मजबूत रहे और ईसाई योरप उनसे डरता रहा। उन्होने मिस्र जीत लिया और अब्बासियो के कमजोर नुमाइदे से उसका खलीफा का लक़ब छीन लिया और उस वक्त से उस्मानी सुल्तान अपने को ख़लीफा भी कहते रहे। आठ वर्ष हुए, मुस्तफा कमाल पाशा नें ख़िलाफत और सुल्तानियत दोनो को मसूख़ करके इनका ख़ातमा कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया के पतन का दिन, इतिहास की एक बडी तारीख़ है। इस दिन से एक युग का ख़ातमा और दूसरे की शुरुआत होती है। मध्य युग ख़तम हो जाता है, 'अंधकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते है और योरप में नई ज़िन्दगी और नया उत्साह आता हुआ दिखाई देता है। इसे पुनर्जागृति यानी रिनेसाँ (Renaissance) की शुरुआत कहते है। विद्या और कला का फिर से जन्म होता है, जनता लम्बी नींद से जगती हुई दिखाई देती है। लोग सदियो उस पार प्राचीन यूनान की तरफ नज़र डालते है, जबकि वह अपनी शान की चोटी पर था, और उससे उत्साह और स्फूर्ति लेते हैं। ज़िन्दगी के वैराग्यपूर्ण और उदासी से भरे हुए दृष्टिकोण के प्रति, जिस पर चर्च जोर देता था, लोगो के मन में विद्रोह खडा होता है और उन जंजीरो को, जिससे मनुष्य की आत्मा जकडी हुई थी, लोग तोड़ फेंकते है। पुराना यूनानी सौंदर्य-प्रेम फिर पैदा होता है और योरप में फिर सुन्दर शिल्पकला, चित्रकारी और मूर्तिकला फूलती-फलती और हरी-भरी होजाती है।

कुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बाते एक दम नहीं पैदा हो गई। ऐसा ख़याल करना गलती होगी। तुर्कों के इस शहर पर कब्ज़ा कर लेने से तब्दीली में ज़रा

तेजी आगई क्योकि बहुत से विद्वान इसे छोड कर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का खजाना ले आये और यह वही वक्त था जब कि पश्चिम इन बातो को समझने और उनकी इज्जत करने के लिए तैयार बैठा था। इम मानी में कह सकते है कि कुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ के आने में कुछ मदद मिल गई।

लेकिन इस भारी तब्दीली की इसे एक छोटी-सी वजह कह सकते है। पुराना यूनानी साहित्य या विचार मध्य काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज नही थी, विश्वविद्यालयो में लोग इसे पढते थे और विद्वान लोग इसे समझते थे लेकिन यह चन्द ही आदमियो तक महदूद था और चूकि जिन्दगी के बारे में जो खयालात फैले हुए थे उनके यह अनुकूल नहीं पडता था इसलिए इसका प्रचार नहीं हो पाता था। धीरे-धीरे जिन्दगी के नये दृष्टिकोण के लिए परिस्थिति अनुकूल हो गई क्योकि जनता के मन में शका की शुरुआत हो चकी थी, लोग उस वक्त की चीजों से असतुष्ट थे और ऐसी चीज की तलाश में थे जो उन्हे कुछ ज्यादा सतोष दे सके। जब उनके मन शका और आशा से भर गये तो उन्होने यूनान की पुरानी फिलासफी का पता चलाया और उनके साहित्य के रस को छककर खूब पिया। तब उन्हे मालूम हुआ कि बस इसी चीज की तो उन्हे जरूरत थी और इस नई चीज को पाकर वे उत्साह से भर गये।

यह पुनर्जागृति या रिनेसाँ पहले-पहल इटली में शुरू हुई। बाद को फ्रास और इंग्लैण्ड में गई और फिर दूसरी जगहो में फैल गई। यह सिर्फ यूनानी खयाल और यूनानी साहित्य का फिर से आविष्कार ही न था, यह इससे कहीं बडी और महत्वपूर्ण बात थी। योरप के हृदय के अदर ही अदर बहुत दिनो से तब्दीली का जो सिलसिला चल रहा था वही अब एक शक्ल में जाहिर हो गया। यह बेचैनी और यह तब्दीली बहुत-सी धाराओ और बहुतेरे ढगो से फूटकर बहनेवाली थी। पुनर्जागृति तो उसका सिर्फ एक रूप था।

: ७२ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम योरप की उस मजिल तक पहुँच गये है जब मध्यकालीन ससार बिखरना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था आजाती है। मौजूदा

हालत से लोगो में असन्तोष है और इस एसहास यानी अनुभूति से ही तब्दीली और तरक्की पैदा होती है। सामन्ती और मजहबी तौर-तरीके ने जिन-जिन वर्गों को चूस रक्खा था, वे सभी असन्तुष्ट थे। हमने देखा है कि किसानो के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पीछे और कमजोर थे और बलवा करनें पर भी कुछ फायदा न उठा सके। उनके दिन अभीतक नहीं आये थे। असली सघर्ष पुरानी सामन्त-श्रेणी और नये जगे और उठते हुए मध्य वर्ग में, जो ताकतवर होता जाता था, था। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद जमीन है या जमीन ही धन है। लेकिन अब एक नये किस्म का धन इकट्ठा होरहा था जो जमीन से नहीं पैदा होता था। यह धन व्यवसाय और तिजारत से आता था और नया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग इससे फायदा उठाता था और इसी की वजह से उसकी ताकत बढी थी। यह सघर्ष पुराना था। अब हम यह देखते है कि इन दोनो पार्टियो की हालत बदल गई थी और एक-दूसरे के प्रति उनके रुख भी बदल गये थे। सामन्त-प्रथा, जो अभी तक जारी थी, अपने बचाव में लगी हुई थी और मध्यवर्ग, जिसे अपनी ताकत पर भरोसा था, उसपर हमला करने लगा था। यह सघर्ष सैकडो बरसो तक जारी रहा और बुर्जुआ वर्ग की दिन-ब-दिन जीत होती गई। योरप के मुख्तलिफ देशो में इस सघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी योरप में बहुत कम सघर्ष था। पश्चिम में ही यह मध्यवर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशो के टूट जाने की वजह से कई दिशाओ में, जैसे—विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक्की हुई और नई-नई खोजें भी हुई। जब मनुष्य की आत्मा अपने बन्धनो को तोड डालती है तो हमेशा यही होता है। वह विकसित हो जाती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आजाद होगा हमारे देश वासियो का और हमारी आत्मा का विकास होगा और हम सारी दिशाओ में आगे बढेंगे।

ज्यो-ज्यो चर्च का बन्धन ढीला पडा और वह कमजोर हो गया, लोग गिरजो पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहो पर खूबसूरत इमारतें बनी। ये टाउनहालो या इसी किस्म की दूसरी इमारते थीं। गॉथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली पैदा होने लगी।

ठीक इसी वक्त, जब पश्चिमी योरप में नई जिन्दगी भरी हुई थी, पूरब के सोने की लालच लोगो के दिलो में पैदा होने लगी। मार्कोपोलो और दूसरे मुसाफिरो की कहानियो से, जो हिन्दुस्तान और चीन में सफर कर चुके थे, योरप की कल्पना उत्तेजित हो पडी और पूर्व की अथाह सम्पत्ति की इस उत्तेजना ने बहुतो को समुद्र

की ओर खींचा। इसी वक्त कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूरब जाने के खुश्की और समुद्री रास्तो पर क़ब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देते थे। बडे-बडे सौदागर और व्यापारी इस बात से बहुत नाराज थे और साहसियो की नई जमात भी, जो पूरब के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला रही थी। इसलिए इन लोगो ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने के लिए नया रास्ता खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरएक बालक यह जानता है कि जमीन गोल है और सूर्य के चारो तरफ घूमती है। हम लोगो के लिए यह बिलकुल साफ बात है लेकिन पुराने जमाने में यह इतनी साफ नहीं थी। जो लोग ऐसा करने का ख़याल करते थे या कहते थे उनसे चर्च जवाब तलब करता था और सज़ा देता था। लेकिन चर्च के डर के होते हुए भी ज्यादा-से-ज्यादा लोग इस बात को मानने लगे कि जमीन गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम दिशा में चलने से भी चीन और हिन्दुस्तान पहुँचना मुमकिन है, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ यह सोचते थे कि अफरीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकते है। तुम्हे याद रखना चाहिए कि उस वक्त स्वेज की नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लाल समुद्र में नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लाल समुद्र के बीच व्यापार के माल-असबाब खुश्की के रास्ते से, ज्यादातर ऊँटों पर लादकर, जाते थे, और दूसरी तरफ नये जहाजो पर लदते थे। यह ढग सुविधा-जनक नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा होजाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन हिन्दुस्तान की दौलत की लालच से लोग उत्तेजित और आकर्षित होते रहे। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढे। स्पेन उस वक्त ग्रेनाडा से अरबों को निकाल रहा था। एरेगान के फर्डिनेण्ड और कैस्टाइल की आइजाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन सयुक्त हो गया था और ई० सन १४९२ में ग्रेनाडा अरबों के हाथ से जाता रहा। यह उस वक्त की बात है जब योरप की दूसरी तरफ, तुर्कों को कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किये हुए ५० वर्ष हो चुके थे। स्पेन फौरन ही योरप की एक बडी ईसाई ताक़त बन गया।

पुर्तगालवालो ने पूर्व की तरफ जाने की कोशिश की, स्पेन वालो ने पश्चिम की तरफ। १४४५ ई० में पोर्चुगीजो ने वर्ड का अन्तरीप खोज निकाला। इसे खोज की पहली बडी मजिल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफरीका का आख़िरी पश्चिमी कोना है। अफरीका के नक़्शे को देखो। तुम्हे मालूम होगा कि अगर कोई योरप से जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा।

वर्डे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप के मिल जाने से लोगो में बडी उम्मीदें पैदा हो गईं और वे समझने लगे कि अब अफरीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकेगे।

अफरीका का चक्कर करने में ४० वर्ष और लग गये। १४८६ ई० में बैथलम्यू डायज़, जो पुर्तगाल का रहनेवाला था, अफरीका की दक्षिणी नोक तक अपना जहाज़ ले जासका। इस दक्षिणी नोक को ही 'केप ऑव् गुड होप' यानी उत्तमाशा अन्तरीप कहते है। कुछ ही बरसो के बाद एक दूसरा पोर्चुगीज़, वास्को डि गामा, इस खोज से फायदा उठाकर गुडहोप के अन्तरीप होता हुआ, हिन्दुस्तान आया। वास्को डि गामा १४९७ ई० में मलाबार के किनारे, कालीकट पहुँचा।

इस तरह पोर्चुगीज़ हिन्दुस्तान पहुँचने की दौड में जीत गये। लेकिन इसी दरमियान दुनिया की दूसरी तरफ बडी-बडी बाते हो रही थीं और स्पेन को उनसे और फायदा होनेवाला था। क्रिस्टोफर कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका पहुँचा। कोल-म्बस जिनेवा का रहने वाला एक गरीब आदमी था। इस बात पर विश्वास करते हुए कि दुनिया गोल है वह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और हिन्दुस्तान पहुँचना चाहता था। उसका यह ख़याल नहीं था कि उसे इस सफर में इतने दिन लग जायँगे, जितने लग गये। वह एक दरबार से दूसरे दरबार में जाता था और राजाओ से अपनी इस खोजपूर्ण समुद्र-यात्रा में मदद चाहता था। आख़िरकार स्पेन के फर्डिनेण्ड और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार होगये और कोलम्बस ८८ आदमियो और तीन छोटे जहाज़ो को लेकर रवाना हुआ। अज्ञात की ओर यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी क्योकि कोई यह नहीं जातना था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास ठीक निकला। ६९ दिन के लगातार सफर के बाद वे ज़मीन पर पहुँचे। कोलम्बस ने समझा कि बस हिन्दुस्तान मिल गया लेकिन असल में यह वेस्टइण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में नहीं पहुँचा और मरते वक्त तक उसका विश्वास था कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब गलती आज तक कायम है। इन टापुओ को आजतक वेस्ट इण्डीज़ कहते है और अमेरिका के आदिम निवासियो को आजतक इडियन या 'रेड इडियन' कहते है।

कोलम्बस वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाज़ो को लेकर फिर गया। लोग समझते थे कि हिन्दुस्तान का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे योरप में काफी चहल-पहल मच गई। इसके बाद ही वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा और पूरब और पश्चिम में इन नये देशो के मिलने की ख़बर से योरप में और उत्तेजना फैल

गई। इन दोनो नये देशो के ऊपर कब्ज़ा करने के दावेदार पुर्तगाल और स्पेन थे। स्पेन और पुर्तगाल के बीच झगडा बचाने के लिए पोप सामने आया और उसने दूसरे के विरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओ और फतवों को 'बुल' कहते थे) या फतवा निकाला और अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग (१ लीग=३ मील) के फासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक काल्पनिक रेखा खींच दी और यह घोषित किया कि इस रेखा के पूरब जितना ग़ैर-ईसाई मुल्क है वह पुर्तगाल ले-ले और पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। पोप ने योरप को छोडकर सारी दुनिया का दान कर दिया और इस दान में पोप को कुछ भी ख़र्च न करना पडा। अज़ोर्स एट-लाण्टिक महासागर के द्वीप है और १०० लीग यानी ३०० मील के फासले पर पश्चिम की तरफ रेखा खींचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड जाता है। इस तरह से पोप ने अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और हिन्दुस्तान, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देशो को और सारे अफरीका को पुर्तगाल की भेंट कर दिया।

पुर्तगाल वालो ने ज़मीन के इन बडे हिस्सो पर कब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई आसान बात नहीं थी। लेकिन वे तरक्की करते रहे और पूरब की तरफ बढते गये। १५१० ई० में वे गोवा पहुँचे, १५११ में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे, इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका यह मतलब नही है कि इन देशों पर उन्होने क़ब्ज़ा कर लिया। सिर्फ कुछ जगहो पर उन्हे पाँव रखने की जगह मिल गई। हम किसी अगले ख़त में इस बात की चर्चा करेंगे कि पूर्व में इन लोगो का क्या हाल रहा।

पूर्व में पोर्चुगीज़ लोगो में फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पोर्चुगीज़ मालिक से लड पडा और योरप वापस जाकर, वह स्पेन का नागरिक बन गया। गुडहोप के अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह हिन्दुस्तान और पूर्वी द्वीपो को जाचुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशो को जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया है वह एशिया नहीं है। बाद में १५७३ ई० में बलबोआ नाम का एक स्पेनी मध्य अमरीका में पनामा के पहाडो को पार करके प्रशान्त महासागर तक पहुँचा। किसी कारण से उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र कहा और इसके किनारे पर खडे होकर उसने यह दावा किया कि यह नया समुद्र और वे तमाम देश जो इस समुद्र के किनारे बसे है उसके स्वामी स्पेन के राजा के कब्ज़े में है।

१५१९ ई० में मैगेलन अपने पश्चिमी समुद्री सफर पर रवाना हुआ। यह सफर

उसका सबसे बड़ा सफर साबित हुआ। उसके साथ ५ जहाज और २७० आदमी थे। वह एटलाण्टिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुँचा और वहां से अपने सफर को दक्षिण की तरफ जारी रखते हुए आखिर में महाद्वीप के कोने तक पहुँच गया। उसका एक जहाज तो टूटकर नष्ट होगया और दूसरे के लोग उसे छोड गये। सिर्फ तीन जहाज उसके पास बचे। इन तीन जहाजो को लेकर वह दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप और एक दूसरे टापू के बीच के तंग जलडमरू मध्य को पार करके दूसरी तरफ के खुले समुद्र में आगया। इस समुद्र को उसने पैसिफिक (प्रशान्त) महासागर कहा क्योंकि अटलाण्टिक के मुकाबिले में यह ज्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुजरा था, वह अभीतक उसी के नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने, बहादुरी के साथ, अपनी यात्रा उत्तर की तरफ़ जारी रखी और इसके बाद अज्ञात समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ चल पडा। उसके सफर का यह हिस्सा बडा ख़ौफनाक था। कोई नहीं जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायँगे। करीब-करीब ४ महीने, और बिलकुल ठीक दिन जानना चाहतो हो तो १०८ दिन, तक वे समुद्र के बीच में खाने-पीने की थोडी चीजो के साथ रहे। आखिरकार, बडी तकलीफ उठाने के बाद, वे फिलीपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगो ने उनके साथ अच्छा सलूक किया; खाने पीने के लिए दिया और आपस में एक दूसरो से उपहार-परिवर्तन किया। लेकिन स्पेनवाले बडे बदमिजाज और शेखीबाज थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारो की आपस की लडाई में भाग लिया और मारा गया। और भी कई स्पेनवालो को इन टापुओ के आदमियो ने मार डाला क्योंकि वे बडी शेखी बघारते और वहाँ के आदमियो पर शान गाँठते थे।

स्पेन के लोग स्पाइस यानी मसाले के द्वीपो की तलाश में थे, जहाँ से कि कीमती मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढते गये। एक दूसरे जहाज को भी छोड़ देना और उसे जला देना पडा सिर्फ दो बाक़ी बचे। यह निश्चय हुआ कि इनमें से एक प्रशात महासागर होकर स्पेन वापस जाय और दूसरा गुडहोप के अन्तरीप से होकर। पहला जहाज तो बहुत दूर नहीं जासका क्योंकि पुर्तगालवालो ने पकड़ लिया, लेकिन दूसरा जहाज, जिसका नाम 'विक्टोरिया' था, अफरीका के चारो तरफ रेंगता हुआ, रवाना होने के ठीक ३ वर्ष बाद, सेविले, जो स्पेन में है, १५२२ ई० में पहुँचा। इसमें सिर्फ १८ आदमी बच गये थे। यह सारी दुनिया की यात्रा करनेवाला पहला जहाज था।

मैंने तुमसे 'विक्टोरिया' के सफर का सविस्तार हाल बताया है क्योंकि यह

अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम समुद्र बहुत आराम के पार कर लेते हैं और बड़े जहाजों पर लम्बे-लम्बे सफर करते हैं लेकिन इन शुरू के मुसाफिरों का ख़याल करो कि कैसे वे हर तरह के ख़तरे और तकलीफें बरदाश्त करते थे, अज्ञात में ग़ोते लगाते थे और उन लोगों के लिए, जो बाद को आनेवाले थे, समुद्री रास्ते की तलाश करते थे। उस जमाने के स्पेन और पुर्तगालवाले बड़े घमण्डी, शेखीबाज और बेरहम थे लेकिन वे अद्भुत रूप से बहादुर थे और साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक्त मैगेलन दुनिया के चारों तरफ घूम रहा था, कोर्टे मैक्सिको के शहर में दाखिल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए जीत रहा था। मैंने तुमसे इसके बारे में, और अमेरिका की 'माया' सभ्यता के बारे में, थोड़ा-बहुत बताया है। कोर्टे १५१९ ई० में मैक्सिको पहुचा। पिज़ारो १५३० ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जिसे अब पेरू कहते हैं) पहुँचा। हिम्मत और बहादुरी से, बेरहमी और फरेब से, लोगों के घरेलू झगड़ों से फायदा उठाकर कोर्टे और पिज़ारो ने दोनों पुराने साम्राज्यों का ख़ातमा कर दिया। लेकिन ये दोनों साम्राज्य बहुत पुराने हो चुके थे और बहुत-सी बातों में बड़े दकियानूसी थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह पहले ही धक्के में भरभराकर गिर गये।

जहाँ ये बड़े-बड़े सय्याह और समुद्र-यात्री पहुँचे थे वहाँ झुंड के झुंड लोग पहुँचने लगे, जो लूटमार के लिए बेताब थे। स्पेन के अधीन अमेरिका का जितना हिस्सा था उसे इस झुंड से बहुत तकलीफ हुई। कोलम्बस के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चांदी की धारा बराबर बह रही थी। इन कीमती धातुओं की बहुत ज्यादा मात्रा स्पेन जाने लगी, जिससे योरप की आखें चकाचौंध होगईं और स्पेन योरप का प्रभावशाली राज्य बन गया। यह सोना और चांदी योरप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह से पूरब की पैदावार ख़रीदने के लिए उनके पास बहुत ज्यादा दौलत हो गई।

स्पेन और पुर्तगाल की कामयाबी से और देशों के लोगों की कल्पना, ख़ासकर फ्रांस, इंग्लैंड, हालैण्ड और उत्तरी जर्मन शहरों के लोगों की कल्पना, जग गई। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तर से एशिया और अमेरिका पहुँचने का यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का—कोई रास्ता ढूंढ ले। लेकिन वे नाकामयाब रहे और पुराने ही रास्ते से उन्हें जाना पड़ा।

यह ज़माना भी क्या ही अद्भुत रहा होगा जब कि दुनिया का दरवाजा खुलता हुआ दिखाई देता था और उसमें ख़ज़ाने और आश्चर्यजनक चीज़ें नज़र पड़ती रही

होगी, नई-नई बातो का बराबर पता चलता जाता था और नये महाद्वीप, नये समुद्र, अथाह संपत्ति सामने थी। जरूरत सिर्फ इतनी थी कि लोग उसे खोलने का जादू भरा मंत्र पढ दें और वह उनके हाथ आजाय। उस जमाने की हवा में ही जादू का असर रहा होगा।

दुनिया अब तग जगह हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नहीं रही, कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नही क्योंकि विज्ञान ने बडे-बडे नये क्षेत्र खोल दिये है जिनमें खोज की जरूरत है और साहसपूर्ण कामो के लिए भी काफी गुंजाइश है—खास करके आजकल के हिन्दुस्तान में।

: ७४ :

मंगोल साम्राज्य का विध्वंस

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुमको कई दिनो से ख़त नहीं लिखा। मै तो इसके लिए बहुत इच्छुक और तैयार था लेकिन मेरे दाहिने हाथ की सबसे छोटी उंगली (कनिष्ठिका) इसके लिए तैयार नहीं थी। यह छोटी-सी चीज कुछ दिनो से अपने मन की हो गई है और बहुत लिखना पसद नहीं करती। जब मै तुम्हे पिछला ख़त लिख रहा था तब, करीब एक हफ्ता हुआ, इसने बाकी हाथ से असहयोग करना शुरू कर दिया। मुझे उस ख़त को ख़तम करने में बडी दिक्कत हुई। यह इतना जिद करने लगी और अपने मन की बात करने पर उतारू हो गई कि मैंने उसकी सनक के आगे झुक जाने का निश्चय किया और कुछ समय के लिए लिखना बद कर दिया। मैंने इसे आराम दे दिया था और अब मै लिखना शुरू करता हूँ। इस वक्त तो यह ठीक काम कर रही है लेकिन मुझे डर है कि भविष्य में यह शायद मुझे परेशान करेगी।

मैंने तुम्हे बताया है कि मध्य युग कैसे गुजर गया, योरप में नई भावना कैसे पैदा हुई और नई ताकत कैसे आई, जो कई रास्तो से फूट निकली। योरप नई चीजें सोचने, खोजने और बनाने के कामो में तेजी से भिड़ गया था। अपने छोटे-छोटे देशो में सदियो तक बंद रहने के बाद वहां के रहनेवाले जैसे फूट निकले और बडे-बडे समुद्रो को पार करके दुनिया के कोने-कोने में पहुँचने लगे। वे अपनी ताकत में पूरा भरोसा रखकर विजयी की हैसियत से बाहर निकले और इसी भरोसे से उनमें हिम्मत पैदा होगई और वे अद्भुत काम करने लगे।

लेकिन तुम्हें यह आश्चर्य जरूर हुआ होगा कि यह तब्दीली कैसे पैदा हुई।

१३वीं सदी के बीच में मगोल एशिया और योरप के मालिक थे। पूर्वी योरप उनके कब्जे में था, पश्चिमी योरप उन महान् और जाहिरा अजेय सिपाहियो के सामने थर्राता था। बडे खा के किसी सिपहसालार के सामने योरप के राजा और सम्राट क्या चीज थे ?

२०० वर्ष बाद, कुस्तुन्तुनिया के राजनगर पर और दक्षिण-पूर्वी योरप के काफी हिस्से पर, उस्मानी तुर्कों का कब्जा हो गया था। मुसलमानो और ईसाइयो में ८०० वर्ष की लडाई के बाद वह बडा तोहफा, जिसके लिए अरब और सेलजूक तुर्क ललचाया करते थे, उस्मानियो के हाथ में आया था। उस्मानी सुलतान इतने से संतुष्ट न हुए और पश्चिम पर ही नहीं बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाह डालने लगे। उन्होंने जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली को धमकाया, हगरी को जीत लिया और वियेना की दीवारो और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को जीत लिया। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' का लकब मिला था, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्र में भी उसकी जल-सेना सबसे श्रेष्ठ थी।

फिर यह तब्दीली कैसे हुई ? योरप मगोलो की आफत से कैसे बचा ? तुर्की खतरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई ? कैसे उसने न सिर्फ अपनी ही जान बचाई बल्कि खुद दूसरों पर चढ दौडने लगा और दूसरो के लिए ख़तरा बन गया ?

बहुत दिनो तक योरप को मगोलो की घुडकियाँ नहीं सहनी पडीं। वे खुद ही एक नये खान का चुनाव करने के लिए वापस चले गये और फिर लौट कर नही आये। पश्चिमी योरप मगोलो की मातृभूमि से बहुत दूर था। शायद यह बात भी हो कि यह मुल्क झाडियो और जगलो से भरा था इसलिए उन्हे अच्छा न लगा हो क्योंकि वे खूब खुले मैदानो और घाटियो के रहनेवाले थे। बहरहाल पश्चिमी योरप मगोलो से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं बल्कि मंगोलो की लापरवाही और उनके दूसरे काम में लगे रहने की वजह से। पूर्वी योरप में वे कुछ ज्यादा दिन रहे जबतक कि उनकी (मंगोल) ताकत धीरे-धीरे बिखर न गई।

मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया की विजय यूरोपियन इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है जिससे इतिहास का रुख बदल जाता है। सुभीते के ख्याल से यह कह सकते है कि उस वक्त से मध्य काल खतम हुआ और नई भावना और नई जागृति ('रिनैसाँ') आई, जो अनेक सोतो से बह निकली। इसी तरह ठीक उसी वक्त, जब तुर्क योरप को दबोचनेवाले थे

और तुर्कों को कामयाबी का काफी मौक़ा था, योरप के पैर जम गये और उसने अपने अन्दर ताकत पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी योरप में थोडे अरसे तक बढ़ते गये और जब वे बढ रहे थे, यूरोपियन नाविक नये-नये देशो और समुद्रो की तलाश कर रहे थे और पृथ्वी के चारो तरफ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान सुलेमान के ज़माने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बग़दाद और काहिरा (कैरो) तक फैल गया था लेकिन इसके आगे वे नही बढ सके। तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया के यूनानियो की पुरानी कमज़ोरियो और दुराचारपूर्ण रस्म-रिवाजो में फँसते जाते थे। इधर योरप की ताकत बढती जाती थी, उधर तुर्क अपनी पुरानी ताक़त खोते जाते थे और कमज़ोर होते जाते थे।

पुराने ज़माने में भ्रमण करते-करते हमने देखा था कि एशिया ने योरप पर कई बार हमला किया। एशिया पर योरप ने भी कुछ हमले किये हैं लेकिन उनका कोई महत्व नही था। सिकन्दर एशिया पार करता हुआ हिन्दुस्तान आया था लेकिन इससे कोई ख़ास नतीजा न निकला। रोमन लोग इराक़ के आगे कभी नही बढे। इसके मुकाबिले में, योरप पर बहुत पुराने ज़माने से एशियाई क़ौमो का बराबर हमला होता रहा है। एशियाई हमलो में, योरप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आखिरी हमला समझना चाहिए। हम देखते है कि धीरे-धीरे पलडा उलट जाता है और योरप तेज़ और ताकतवर बन जाता है। यह तब्दीली सोलहवी सदी के बीच में पैदा होती है। अमेरिका, जिसका पता हाल ही में चला था, योरप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया ज्यादा कठिन समस्या साबित हुई। २०० वर्ष तक यूरोपियन लोग एशियाई महाद्वीप के अनेक हिस्सो में पैर जमाने की कोशिश करते रहे और अठारहवीं सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सो पर हावी हो गये। कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते है कि योरप ने हमेशा एशिया पर राज किया है। योरप की यह शान बहुत हाल की है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अब स्थिति बदलती जारही है और इसकी ताक़त गिरती हुई दिखाई देरही है। पूरब के तमाम देशो में नये ख़यालात लहरे मार रहे है और बडे-बडे आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, योरप की प्रभुता को ललकार कर जड मे हिला रहे है। इन कौमी खयालो से भी ज्यादा विस्तृत और गहरे समाजवाद के नये खयालात है जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का ख़ातमा कर देना चाहते है। भविष्य में यह सवाल नही रहेगा कि योरप एशिया पर हावी है या एशिया योरप पर या एक देश दूसरे का शोषण करता है।

यह एक लम्बी भूमिका होगई। अब हम फिर मगोलो की चर्चा करेगे। उनकी

क़िस्मत के पीछे-पीछे चलकर हमें देखना है कि उनकी क्या दशा हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलाईखाँ आखिरी बड़ा खां था। १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर योरप में हंगरी और पोलैंड तक फैला हुआ था, पांच साम्राज्यों में बँट गया। ये पांचों साम्राज्य अपनी-अपनी जगह पर भी बडे-बडे साम्राज्य थे। मैंने अपने एक पिछले ख़त में इन पांचों के नाम दे दिये हैं।

इन पांचों में चीन का साम्राज्य सब-से बड़ा और ताक़तवर था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टांगकिंग, और बरमा के कुछ हिस्से शामिल थे। युवान ख़ानदान (जो कुबलाई का ख़ानदान था) इस साम्राज्य का अधिकारी हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं। बहुत जल्दी दक्षिण में इसके टुकडे टूट-टूटकर निकलने लगे और, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १३६८ ई० में, कुबलाई के मरने के ७६ वर्ष बाद, यह ख़ानदान ख़तम हो गया और मंगोल लोग भगा दिये गये।

बहुत दूर पश्चिम में, 'सुनहरे क़बीलों' (Golden Hordes) का साम्राज्य था। इन लोगों का क्या ही अच्छा नाम था। रूसी सरदारों ने कुबलाई की मृत्यु के बाद २०० वर्ष तक इन लोगों को कर दिया। इस जमाने के आख़ीर में, यानी १४८० ई० में, साम्राज्य किसी क़दर कमज़ोर पड़ रहा था। और मास्को के ग्राड ड्यूक ने, जो रूसी सरदारों का प्रमुख बन बैठा था, कर देने से इन्कार कर दिया। उस ग्राड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नवगोरोड का पुराना प्रजातंत्र था, जिस पर व्यापारियों और सौदागरों का अधिकार था। आइवन ने प्रजातंत्र को हरा कर अपने राज में मिला लिया। इसी दरमियान कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुँच चुका था और पुराने सम्राटों का कुटुम्ब वहांसे भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने राज-घराने की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करने लगा कि वह उस राजवंश का है और पुराने बिजैण्टियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ की क्रान्ति में हमेशा के लिए ख़तम हो गया, इसी आइवन महान् की मातहती में, पर इस तरीक़े पर, शुरू हुआ। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' (Ivan, the Terrible) कहलाता था, अपने लिए 'ज़ार' का लक़ब ले लिया जिसका अर्थ—सीज़र या सम्राट होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए योरप से हट गये। सुनहरे कबीलों और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसे जानने में हमें मगजपच्ची करने की जरूरत नहीं है। मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नहीं हूँ, लेकिन एक आदमी पर हमें जरूर ध्यान देना चाहिए।

वह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज खा बनना चाहता था। वह अपने को चगेज के खानदान का बताता था लेकिन असल में तुर्क था। वह लँगड़ा था, इसलिए तैमूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप की जगह पर १३६९ ई० में समरकद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी बेरहमी और विजय की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा और होशियार सिपहसालार था, लेकिन पक्का वहशी भी था। मध्य एशिया के मंगोल लोग, इस दरमियान में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था लेकिन मुसलमानो के साथ वह जरा भी मुलायमियत नहीं दिखाता था। जहाँ-जहाँ वह पहुँचा उसने तबाही और बरबादी फैलादी। आदमियो के सरो के बड़े-बडे ढेर देख कर वह बड़ा खुश होता था। पूर्व में दिल्ली से, पश्चिम में एशिया-माइनर तक, उसने लाखो आदमी कत्ल करा दिये। और इन कत्ल हुए लोगो के ककालो को वह 'पिरेमिड' की शक्ल में सजवाया करता था।

चगेज खा और उसके मगोल बेरहम और बरबादी करने वाले थे पर उनके ज़माने में दूसरे भी इसी तरह के हुआ करते थे; लेकिन तैमूर उन सब से बुरा था। बेमतलब की और पैशाचिक वेरहमी में उसका मुकाबिला करनेवाला कोई दूसरा नहीं। कहते है कि किसी जगह पर उसने २००० जिंदा आदमियो की एक मीनार बनवाई और उन्हे ईट और गारे से चुनवा दिया।

हिन्दुस्तान की दौलत ने इस वहशी को अपनी तरफ खीचा। अपने सिपहसालारो और सरदारो को हिन्दुस्तान पर हमला करने के लिए राजी करने में इसे कुछ कठिनाई हुई। समरकद में एक बडी सभा हुई, जिसमें सरदारो ने हिन्दुस्तान जाने पर इसलिए ऐतराज़ किया कि वहां गर्मी बहुत पडती है। अख़ीर में तैमूर ने वादा किया कि वह हिन्दुस्तान में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा। तैमूर ने अपनी बात क़ायम रखी।

तुम्हे याद होगा कि उत्तरी हिन्दुस्तान पर उस वक्त मुसलमानी राज्य था। दिल्ली में एक सुलतान राज्य करता था लेकिन यह मुसलमान राज कमजोर था और सरहद के मगोलो से बराबर लडाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी इसलिए जब तैमूर मगोलो की फौज लेकर आया तो उसका कोई बड़ा मुकाबिला नहीं हुआ और वह कत्लेआम करता और ककालो का पिरेमिड बनाता हुआ आराम के साथ आगे बढता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनो कत्ल किये गये; उनमें कोई फर्क नहीं किया गया। जब क़ैदी बहुत ज्यादा हो जाते तो वह उनके कत्ल का हुक्म दे देता था और लाखो आदमी मार डाले जाते थे। कहते है कि एक जगह पर हिन्दू और मुसलमान दोनो ने मिलकर राजपूतो की जौहर की रस्म अदा की थी यानी मरने के

लिए मैदानेजग में उतर पडे थे। लेकिन भीषणता की इस कहानी को दोहराते रहने की जरूरत नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह १५ दिन तक रहा और उसने इस बडे शहर को क़साईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकद वापस लौट गया।

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकद में और मध्य एशिया में दूसरी जगहो पर खूबसूरत इमारते बनवाना चाहता था इसलिए उसने, जैसा सुलतान महमूद ने पुराने जमाने में किया था, हिन्दुस्तान के बडे-बडे कारीगर, राजगीर और मिस्त्रियो को इकट्ठा किया और उन्हे अपने साथ ले गया। इनमें से जो सब से अच्छे राजगीर और कारीगर थे उन्हे उसने अपनी नौकरी में रख लिया, दूसरो को पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरो में भेज दिया। इस तरह इमारते बनाने की कला की एक नई तर्ज़ पैदा हुई।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर बन गया था। अकाल (क़हर) और महामारी जोरो के साथ चल रही थी। दो महीने तक न कोई राजा था, न सगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुकर्रर किया था वह भी मुलतान चला गया था।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ बढा। अगोरा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बडी फौज के साथ इसका मुक़ाबिला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र उसके लिए बडी जबर्दस्त रोक थी इसलिए यह बासफोरस पार न कर सका और योरप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ बढ़ रहा था, तमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौडा साम्राज्य भी बिखर गया, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया भर में फैला हुआ था। उस्मानी तुर्क, मिस्रवाले और सुनहरे क़बीलेवाले इसे खिराज देते थे। तैमूर का रण-कौशल अदभुत था, और यही उसकी योग्यता थी। साइबेरिया के बर्फिस्तान में उसकी रणयात्रा बहुत असाधारण रही है। असल में वह एक जगली खानाबदोश था, उसने कोई सगठन नहीं बनाया और न चगेज की तरह उसने साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई काबिल आदमी ही छोडे। इस तरह, तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खतम हो गया और बरबादी और क़त्लेआम की सिर्फ यादगार बाक़ी बची। मध्य एशिया में उन लोगो में जो विजयी की हैसियत से यहाँ से गुजरे है, चार आदमी अभी तक याद किये जाते हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चगेज खा और तैमूर।

तैमूर ने उस्मानी तुर्कों को हराकर हिला दिया लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और ५० वर्ष के अन्दर, यानी १४५३ में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया ।

अब हमें मध्य एशिया से विदा ले लेनी चाहिए । सभ्यता के पलडे में वह हलका पड़ जाता है और उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता । वहाँ कोई ऐसी बात नहीं होती जिसपरहम ध्यान दें । सिर्फ पुरानी सभ्यताओ की यादगार बाकी रह जाती है, जिन्हे आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया । प्रकृति भी उसके प्रति कठोर होगई और धीरे-धीरे वहाँकी आबहवा ज्यादा ख़ुश्क होगई और उसमें लोगो का बसना मुश्किल होता गया ।

हमें मगोलो से भी विदा ले लेनी चाहिए । हॉ, उनकी एक शाखा का खयाल रखना पडेगा जो बाद को हिन्दुस्तान में आई और जिसने यहाँ एक बडा और मशहूर साम्राज्य कायम किया । लेकिन चंगेज़ और उसके खानदानवालो का साम्राज्य बिखर गया । मगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारो की मातहती में वापस चले जाते है और अपनी पुरानी क़ौमी आदतो को इख़्तियार कर लेते है ।

छोटी अंगुली में फिर तकलीफ़ शुरू हो रही है इसलिए अब मै खतम करता हूँ ।

: ७५ :

हिन्दुस्तान में एक कठिन समस्या का समाधान

१२ जुलाई, १९३२

मैने तुमको तैमूर के बारे में, उसके कत्लेआम और सरो के ढेर (पिरेमिड) के बारे में बताया है । यह सब कितनी वीभत्स और वहशियाना बात मालूम होती है । हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती । लेकिन इस बात को भी निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते, क्योकि हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे जमाने में क्या हो सकता है । चंगेजखां और तैमूर द्वारा किया हुआ जान और माल का नुक़सान, गोकि बहुत ज्यादा था, फिर भी १९१४–१८ के महायुद्ध में हुई बरबादी के मुक़ाबिले में वह बिलकुल तुच्छ जँचता है और मंगोलो की हरेक बेरहमी की बराबरी करने के लिए भीषणता के नमूने, आज-कल के जमाने में भी, मिल सकते है ।

फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि चगेज और तैमूर के जमाने से आज हमने सैकडो बातों में तरक्की की है । यही नही कि उस जमाने से जिन्दगी कहीं ज्यादा पेचीदी

बन गई है, बल्कि वह ज्यादा सम्पन्न भी है। प्रकृति की बहुतेरी ताक़तें खोज निकाली गई हैं, उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फायदे के लिए काम में लाया गया है। बिला शक दुनिया आज ज्यादा सभ्य और सस्कृत है। फिर हम लडाई के जमाने में जगली क्यों बन जाते हैं? इसकी वजह यह है कि लडाई खुद ही अपनी जगह पर सभ्यता और सस्कृति का प्रतिवाद या इन्कार है। युद्ध का सभ्यता और सस्कृति से सिर्फ इतना ताल्लुक है कि यह सभ्य लोगों के दिमाग की मदद से ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर और ख़ौफनाक हथियार तैयार कराता है। जब लडाई शुरू होती है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें शामिल होते हैं, जानबूझकर अपने को जोश की ख़ौफनाक हालत में पहुँचा देते हैं। जो कुछ सभ्यता ने उन्हें सिखाया है उसमें से बहुतेरी बातें वे भूल जाते हैं, वे सचाई और जिन्दगी की वज़ेदारी को भुला देते हैं और हजारों वर्ष पुराने अपने जगली पुरखों-जैसे बन जाते हैं। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि लडाई जब कभी छिडती है तो ख़ौफनाक बन जाती है।

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में लडाई के जमाने में आजाय तो वह क्या कहेगा? मान लो कि उसने हमें और हमारी दुनिया को सिर्फ लडाई के वक्त ही देखा, शान्ति और सुलह के जमाने में नहीं। वह सिर्फ लडाई के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा और इस नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, सगदिल और जगली हैं, कभी-कभी त्याग और साहस दिखा देते हैं, लेकिन आम तौर पर हमारी जिन्दगी में कोई नेक पहलू नहीं, सिर्फ एक जबर्दस्त ख्वाहिश है कि एक दूसरे को क़त्ल करे और बरबाद करे। वह हमारे बारे में गलत राय क़ायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे में गलत ख़याल बना लेगा, क्योकि वह एक ख़ास वक्त पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नहीं, हमारा सिर्फ एक पहलू ही देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने जमाने के बारे में सिर्फ लडाई और क़त्ल का ख़याल करते हुए, राय क़ायम करेंगे तो वह गलत होगी। बदक़िस्मती से लडाई और क़त्ल की तरफ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिच जाता है और लोगों की रोजमर्रा की जिन्दगी हमें नीरस मालूम होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में क्या लिखे? इसलिए इतिहास-लेखक किसी लड़ाई या युद्ध के ऊपर टूट पडता है और उसीके बारे में बहुत कुछ लिख डालता है। इसमें शक नहीं कि हम लडाइयों को न भूल सकते हैं और न उनके बारे में उदासीन हो सकते हैं लेकिन हमें यह भी न चाहिए कि हम उन्हें उतना महत्व दे दें जितने के वे मुस्तहक़ नहीं। हमें पुराने जमाने पर मौजूदा जमाने के लिहाज से

नज़र डालनी चाहिए और उस ज़माने के आदमियो के बारे में उसी तरह सोचना चाहिए जिस तरह हम अपने बारे में देखते और सोचते है। तभी हमें उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम समझेंगे कि लोगो की रोजमर्रा जिन्दगी और ख़यालात ही असल में महत्व रखते है, कभी-कभी होने वाली लडाइयाँ नही। इस बात का याद रखना बहुत जरूरी है क्योकि तुम्हे इतिहास की किताबें लडाइयो के हाल से भरी मिलेंगी। मेरे ये ख़त भी अक्सर उसी तरफ बहक जाते है। असली वजह इसकी यह है कि पुराने ज़माने के लोगो की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बारे में लिखना मुश्किल है। मुझे इसके बारे में काफी जानकारी नहीं है।

जैसा हमने देखा है, तैमूर हिन्दुस्तान पर आनेवाली सबसे बडी बलाओ में एक था। उन भयकर बातो और कामो को सोचकर, जिसे उसने, जहॉ-जहॉ गया वहाँ किया, रोगटे खडे हो जाते है। फिर भी दक्षिण हिन्दुस्तान पर उसका ज़रा भी असर नही पडा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य हिन्दुस्तान के बारे में भी थी। आजकल का सयुक्त प्रान्त भी उसकी चोट से क़रीब-क़रीब बच गया था, सिवाय इसके कि देहली और मेरठ के नज़दीक उत्तर के छोटे-से हिस्से पर, कुछ असर पडा था। दिल्ली शहर के अलावा पजाब ही ऐसा सूबा था जो तैमूर के हमले से ज्यादा बरबाद हुआ। पजाब में भी असल बरबादी उन लोगो की हुई जो तैमूर के रास्ते में पडे। पजाब के ज्यादातर लोग बिना विघ्न के अपने रोज़मर्रा के काम में लगे रहे। इसलिए हमें इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम हमलो और लडाइयो के महत्व को बढ़ाकर न कहे।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियो के हिन्दुस्तान को देखो। दिल्ली की सुलतानियत सिकुडती जाती थी, यहॉ तक कि तैमूर के आने पर बिलकुल ख़तम हो गई। सारे हिन्दुस्तान में बहुत-सी बडी-बडी आज़ाद रियासते थीं। इन पर ज्यादातर मुसलमानो का कब्ज़ा था लेकिन विजयनगर की एक ताक़तवर हिन्दू रियासत भी दक्षिण में थी। इस समय तक इस्लाम हिन्दुस्तान के लिए अजनबी या नई चीज़ नहीं रह गया था; उसके पॉव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफ़ग़ान हमला करनें वालो और गुलाम बादशाहो की भयकरता और बेरहमी ठडी पड चुकी थी और मुसलमान बादशाह अब उतने ही हिन्दुस्तानी थे जितने कि हिंदू थे। उनका बाहरी मुल्को से कोई रिश्ता नही रह गया था। मुख़्तलिफ रियासतो में लड़ाइयाँ होती थी, लेकिन ये लडाइयाँ राजनैतिक थीं, मज़हबी नहीं। कभी-कभी मुसलमान रियासत हिन्दू फौज रखती और हिन्दू रियासत मुसलमान फौज रखती थी। मुसल-मान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतो से शादी करते थे। वे हिन्दुओ को वज़ीर

बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। जीते और हारे या शासक और शासित का कोई ख़याल न था। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान, जिनमें चन्द शासक भी शामिल है, हिन्दुस्तानी थे। जो मुसलमान हो गये थे, उनमें बहुत से तो दरबार से रिआयत मिलने या आर्थिक फायदे की उम्मीद में मुसलमान हो गये थे। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने रस्म-रिवाज से चिपटे हुए थे। बहुत-से मुसलमान शासको ने जबरदस्ती मुसलमान बनाने की कोशिश की लेकिन इसमें भी लक्ष्य ज्यादातर राजनैतिक था क्योकि यह समझा जाता था कि मुसलमान जनता ज्यादा वफादार रिआया होगी। लेकिन मजहब बदलने में जबरदस्ती बहुत मदद नहीं देती थी। असली असर आर्थिक होता है। जो मुसलमान नहीं थे, उनको जजिया देना पडता था, इसलिए बहुत से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरो की है, गांवो पर बहुत कम असर पडता था और लाखों देहाती अपने पुराने रास्ते पर चलते रहते थे। यह सच बात है कि अब सरकारी अफसरो ने गाँव की जिन्दगी में पहले से ज्यादा दख़ल देना शुरू कर दिया था और गाँव की पचायतो के जो अधिकार पहले थे, अब नहीं रह गये थे। फिर भी पचायते जारी रहीं। वे ग्रामीण जीवन की केन्द्र और रीढ थीं। सामाजिक दृष्टि से और धर्म और रस्म-रिवाज के मामलो में गांव में बिलकुल तब्दीली नहीं आई। हिन्दुस्तान, जैसा तुम जानती हो, आज तक लाखो गाँवो का देश है। शहर और क़स्बे तो सिर्फ सतह के ऊपर ही ऊपर रहते है, असली हिन्दुस्तान उस वक्त भी और आज भी ग्रामीण हिन्दुस्तान था और है। ग्रामीण हिन्दुस्तान को इस्लाम बहुत ज्यादा बदल नहीं सका।

इस्लाम के आने की वजह से हिन्दू धर्म को दो तरीक़ो से धक्का पहुँचा और ताज्जुब तो यह है कि ये दोनो तरीक़े एक दूसरे के ख़िलाफ थे। एक बात तो यह हुई कि वह ज्यादा कट्टर और सकीर्ण हो गया। वह सख़्त पड गया और हमलो से बचने के लिए तग दायरे के अन्दर घुस गया। जात-पाँत का बन्धन ज्यादा मजबूत हो गया और परदा ज्यादा आम हो गया। दूसरी बात यह हुई कि जात-पात, कट्टरता और सकीर्णता के ख़िलाफ एक अन्दरूनी विद्रोह पैदा हो गया और हिंदू धर्म में सुधार के लिए बहुतेरी कोशिशें हुई।

इतिहास भर में शुरू के जमाने से ही हिन्दू धर्म में सुधारक पैदा होते रहे है, जिन्होने इसकी बुराइयो को मिटाने की कोशिश की है। बुद्ध सबसे बडे सुधारक थे और मैंने तुमसे शकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं सदी में एक दूसरे सुधारक पैदा हुए जो चोल साम्राज्य के अन्तर्गत

दक्षिण के रहनेवाले और शंकर के विरोधी मत के माननेवाले थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और बुद्धि के मानने वाले थे, रामानुज वैष्णव थे और भक्ति के मानने वाले थे। रामानुज का असर सारे हिन्दुस्तान में फैल गया। मैने तुम्हे बताया है कि सारे इतिहास-भर में हिंदुस्तान, सस्कृति की दृष्टि से, एक रहा है; राजनैतिक दृष्टि से चाहे इस देश में कई एक परस्पर लडनेवाली रियासते क्यो न रही हो। जब भी कोई महापुरुष पैदा हुआ या आन्दोलन चला, राजनैतिक सीमाओ का कुछ भी ख़याल न करते हुए वह सारे देश मे फैल गया।

जब इस्लाम हिन्दुस्तान में बस गया, हिन्दू और मुसलमान, दोनो, में नये क़िस्म के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनो मजहबो में जो बाते एक थीं उन पर जोर देते और दोनो मजहबो के बुरे रस्म-रिवाजो पर हमला करते थे और दोनो मजहबो को नजदीक लाने की कोशिश करते थे। इस तरह दोनो का सामञ्जस्य या मेल करने की कोशिश हुई। यह एक मुश्किल काम था क्योकि दोनो तरफ वैमनस्य और तास्सुब काफी था। लेकिन हम देखेंगे कि इस किस्म की कोशिश एक के बाद दूसरी सदी में बराबर की गई है। कुछ मुसलमान शासको ने, और ख़ासकर महान अकबर ने भी इस सामञ्जस्य या दोनो की अच्छी बातो को मिलाने की कोशिश की।

इस सामञ्जस्य का प्रचार करनेवाले पहले मशहूर सुधारक रामानन्द थे। वह जात-पाँत के खिलाफ प्रचार करते थे और उसकी परवाह नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। रामानद चौदहवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए थे। कबीर बहुत लोक-प्रिय हो गये। तुम जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन बहुत मशहूर है और उत्तर के दूर-दूर के गांवो में भी गाये जाते है। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनो थे या दोनो के बीच के थे। उनके अनुयायी दोनो मजहबो के और सब जाति के लोग हुआ करते थे। कहते है कि जब वह मरे उनका बदन एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू शागिर्द चाहते थे कि जलाने के लिए ले जायें, मुसलमान शागिर्द दफन करना चाहते थे। इसलिए उनमें बहस-मुबाहिसा होने लगा और झगडा शुरू हुआ लेकिन इतने में किसी ने चादर उठा ली और वह शरीर, जिसके लिए वे झगड रहे थे, उसके नीचे से गायब था। कुछ ताज़े फूल जरूर उस जगह पर मिले। मुमकिन है यह कहानी बिलकुल काल्पनिक हो लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनो बाद उत्तर में एक दूसरे बडे सुधारक और धार्मिक नेता

पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होने सिक्ख धर्म चलाया। इनके बाद सिक्खो के दस गुरु हुए। आखिरी गुरू गुरु गोविन्दसिंह थे।

हिन्दुस्तान के धर्म और सस्कृति के इतिहास में एक दूसरा नाम भी बहुत मशहूर है, जिसका मै यहाँ जिक्र करना चाहूँगा। वह नाम चैतन्य का है। चैतन्य सोलहवीं सदी के शुरू में बगाल के एक मशहूर विद्वान हुए। उन्होने एकाएक यह निश्चय कर लिया कि उनका ज्ञान और काबलियत सब फिजूल की चीज है और उसे छोड दिया। वह भक्ति के मार्ग पर चल पडे और बहुत बडे भक्त होगये। वह सारे बगाल में अपने शिष्यो को लेकर भजन गाते फिरते थे। उन्होने भी एक वैष्णव सम्प्रदाय चलाया और अभी तक बगाल में उनका बहुत ज्यादा असर है।

यह तो हुई धार्मिक सुधार और मेल की बात। जीवन के दूसरे हिस्सो में भी इसी तरह का मेल या इख्तिलात का काम कभी, जान में और कभी अनजान में, जारी था। एक नई सस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई जबान पैदा हो रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब बाते गाँव के बनिस्बत शहरो में, खासकर साम्राज्य की राजधानी दिल्ली और सूबो और रियासतों की बडी राजधानियो में ज्यादा थीं। सबसे ऊपर बादशाह होता था। वह इतना निरकुश था, जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने हिन्दुस्तानी शासको की निरकुशता रोकने के लिए कितनी ही बदिशें और रस्म-रिवाज थे। नये मुसलमान बादशाहो के लिए इस क़िस्म की कोई चीज न थी। गोकि सिद्धान्त रूप से इस्लाम में कहीं ज्यादा समता है और, जैसा हमने देखा है, गुलाम भी सुलतान बन सकता था, फिर भी बादशाहो की निरकुशता और उनके अधिकार बढ़ने लगे। निरकुशता की इससे ज्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और कहाँ मिल सकती है कि पागल तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाय?

गुलाम रखने का रिवाज भी खासकर सुलतानो में बहुत बढ गया था। लडाइयो में गुलाम पकडने की खास तौर से कोशिशें की जाती थीं। इनमें भी कारीगर और राजगीर ज्यादा कीमती समझे जाते थे। बाकी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्द और तक्षशिला के महान् विश्व-विद्यालयो का क्या हुआ? बहुत दिन से इनका नामनिशान जाता रहा था। लेकिन नये किस्म के विश्वविद्यालय बहुत से पैदा हो गये थे। इनको 'टोल' कहते थे और इनमें पुरानी सस्कृत विद्या पढाई जाती थी। वे अप-टु-डेट (जमाने की सबसे ताजी चलन के मुताबिक़) नहीं थे। वे गुजरे जमाने में रहते थे और सभवत. सकीर्णता और प्रतिक्रिया की भावना क़ायम रखते थे। बनारस बहुत दिनो से इस किस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैने ऊपर हिन्दी में कबीर के भजनो का जिक्र किया है। उससे मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ आम जनता की जबान थी बल्कि वह एक साहित्यिक भाषा भी बन गई थी। सस्कृत बहुत दिनो से जिन्दा जबान न रह गई थी। यहांतक कि कालिदास और गुप्त राजाओ के जमाने में भी वह सिर्फ विद्वानो की ही जबान थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो सस्कृत की एक बिगडी हुई शक्ल थी। धीरे-धीरे सस्कृत की दूसरी पुत्रियां, हिन्दी, बगाली, मराठी और गुजराती, बढने लगी। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियो ने हिन्दी में रचनायें कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पद्रहवी सदी में, महाभारत और भागवत को सस्कृत से बंगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान राजाओ का हिसाब-किताब मराठी में रखा जाता था। इस तरह से हम देखते है कि पद्रहवीं सदी में सस्कृत से पैदा होनेवाली ये जबाने काफी तरक्की कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषायें—जैसे तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड इनसे कही पुरानी थी।

मुसलमानी दरबार की जबान फारसी थी। ज्यादातर पढे-लिखे आदमी, जिन्हे दरबार से या सरकारी दफ्तर से कोई सरोकार था, फारसी पढते थे। इस तरह हिन्दुओ की काफी तादाद फारसी पढती थी। धीरे-धीरे बाजारो में और सिपाहियो के बीच एक नई जबान पैदा हो गई, जिसे उर्दू कहने लगे। उर्दू के मानी हैं 'लश्कर'। असल में उर्दू कोई नई जबान नही थी, हिन्दी पर एक नई पोशाक पहना दी गई थी। इसमें फारसी के शब्द ज्यादा होते थे वर्ना यह बिलकुल हिन्दी ही थी। यह हिन्दी-उर्दू जबान या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है यह हिन्दुस्तानी जबान सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पद्रह करोड आदमी बोलते है। और इससे कहीं ज्यादा लोग इसे समझते हैं। इस तरह तादाद के खयाल से यह दुनिया की बडी जबानो में से एक है।

स्थापत्यशिल्प या इमारतें बनाने की कला में नई-नई शैलियो का विकास हुआ। और दक्षिण के बीजापूर और विजयनगर में, गोलकुडा में, अहमदाबाद में (जो उस समय एक बड़ा खूबसूरत शहर था लेकिन आज नहीं है) और जौनपुर में (जो इलाहाबाद के नजदीक है) बहुतेरी खूबसूरत इमारते बनीं। क्या तुम्हे याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खंडहरो को देखने गये थे? हम उस विशाल क़िले पर चढ गये थे और वहाँ से हमने देखा था कि हमारे नीचे पुराना शहर, उसके महल और बाजार सब टूटी-फूटी हालत में बिखरे हुए है।

इस तरह जब राजा लोग आपस में झगडते और एक दूसरे को बरबाद करने की कोशिश में लगे हुए थे, हिन्दुस्तान में बहुत सी ताक़ते चुपचाप, सामञ्जस्य

ओर मेल के लिए बराबर कोशिश कर रही थीं, ताकि हिन्दुस्तान के रहनेवाले शान्तिपूर्वक रह सके और अपनी ताक़तो को मिलजुल कर तरक्क़ी और बेहतरी के कामो में लगा सके। सदियो की कोशिश के बाद उनको काफी कामयाबी हासिल हुई लेकिन यह काम पूरा नहीं होने पाया था कि बिगड गया और जिस रास्ते से हम आगे बढे थे उसी पर कुछ दूर वापस आगये। फिर हमें आज उसी रास्ते पर चलना है और अच्छी-अच्छी बातो के मेल के लिए कोशिश करनी है। लेकिन इस मर्तबा हमें अपनी बुनियाद ज्यादा मजबूत करनी होगी। हमें इस मर्तबा आजादी और सामाजिक समता की बुनियाद पर रचना करनी चाहिए जिससे यह दुनिया के बेहतर तरीके के अनुकूल पडे। तभी यह कायम रह सकती है।

सैकडो वर्षों तक हिन्दुस्तान के बडे-बडे दिमाग़ धर्म और सस्कृति के इस सामञ्जस्य और मेल की पहेली में डूबे रहे है। हिन्दुस्तान का दिमाग़ इस बात में इतना फँसा रहा है कि राजनैतिक और सामाजिक आजादी बिलकुल भूल गई और ठीक उसी वक्त योरप कितनी ही बातो में आगे बढ गया और हिन्दुस्तान बेदम, मुर्दा-सा, जिन्दगी की दौड़ में पीछे रह गया।

मैंने तुम्हे बताया है कि एक वक्त था जब हिन्दुस्तान विदेशी बाजारो पर अपना काबू रखता था क्योकि रसायन विद्या में वह बहुत आगे था। हिन्दुस्तान रंग बना लेता था, फौलाद पर पानी चढ़ा लेता था और इसी तरह की दूसरी बहुत-सी बातें थी। हिन्दुस्तान के जहाज दूर-दूर देशो को माल-असबाब ले जाते थे। जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे है, उससे बहुत पहले हिन्दुस्तान ये बाते खो चुका था। सोलहवीं सदी में नदी फिर पूरब की तरफ वापस बहने लगी। पहले तो, शुरू में, क़तरा-क़तरा टपकता रहा लेकिन धीरे-धीरे यह बढ गया—यहाँ तक कि वह एक विशाल धारा के रूप में बदल गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, हिन्दुस्तान पर फिर एक नजर डाले और साम्राज्यो और राज्यो के बदलते हुए दृश्यो को देखें। ये किसी बडी या बहुत ज्यादा लम्बी सिनेमा के फिल्म की खामोश तस्वीरो की तरह हमें एकके बाद दूसरी, आती हुई दिखाई देंगी।

तुम्हें शायद पागल सुलतान मुहम्मद तुगलक़ की बात याद होगी और यह भी

याद होगा कि वह दिल्ली का साम्राज्य के तोड़ने में कैसे कामयाब रहा। दक्षिण के बडे सूबे निकल गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यो में विजयनगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्गा की मुसलमान रियासत ख़ास थी। पूर्व में गौड का सूबा, जिसमें बगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती में आज़ाद हो गया।

मुहम्मद का वारिस उसका भतीजा फीरोजशाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और रहमदिल था, लेकिन उसमें भी असहिष्णुता थी। फीरोज एक कुशल शासक था और उसने अपने राज्य में बहुत सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबो को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिल-सिला शुरू हो गया था उसे उसने जरूर रोक दिया। उसे नये शहर, महल, मसजिदें, बागीचे बनाने का बहुत शौक था। दिल्ली के नजदीक फीरोजाबाद और इलाहाबाद से थोडे फासले पर के जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना में एक बडी नहर बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतो की, जो टूट रही थीं, मरम्मत कर-वाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत नाज था और वह उन नई इमारतो की, जिन्हे उसने बनवाया था, और पुरानी इमारतो की, जिनकी उसने मरम्मत करवाई थी, एक लम्बी फेहरिस्त छोड़ गया है।

फीरोजशाह की माँ राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बडे राजा की लडकी थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फीरोज के बाप के साथ उसका विवाह करने से इनकार कर दिया था। इस पर लड़ाई शुरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। बीबी नैला को जब मालूम हुआ कि उसके लिए ही उसकी प्रजा की यह हालत हो रही है तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपने को फीरोजशाह के पिता के हवाले करके इस तकलीफ को खतम कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फीरोज शाह में राजपूती खून था। तुम देखोगी कि राजपूत स्त्रियो और मुसलमान शासको में इस किस्म के विवाह अक्सर हुआ करते थे। इसकी वजह से एकदेशी भावना की तरक्की में जरूर मदद मिली होगी।

फीरोजशाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढाचा, जिसे उसने जोड़ रखा था, टुकडे-टुकडे हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और छोटे-छोटे शासक सब जगह राज्य करने लगे। बदइन्तजामी और कमजोरी के इसी युग में तैमूर उत्तर से आया था। फ़ीरोजशाह की मृत्यु के ठीक १० वर्ष बाद उसने दिल्ली को करीब-करीब

कतल कर दिया। बहुत धीरे-धीरे यह शहर पनपा, ५० वर्ष बाद फिर एक सुलतान की मातहती मे एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी बन गया। लेकिन वह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी हिन्दुस्तान के बडे-बडे राज्यो से उसका कोई मुकाबिला नहीं था। सुलतान अफगान थे। वे बडे हलके दरजे के लोग थे, यहां तक कि उन्हींके अफगानी सरदार उनसे ऊब गये थे। और आखिरकार परेशान होकर उन सरदारो ने एक विदेशी को अपने यहां राज्य करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था। वह तैमूर के वश का था और उसकी मा चंगेजखां के खानदान से थी। उस वक्त वह काबुल का शासक था। उसने हिन्दुस्तान आने के निमत्रण को खुशी से मजूर कर लिया और अगर उसे यह निमत्रण न मिला होता तब भी आया होता। दिल्ली के नजदीक, पानीपत के मैदान में, १५२६ ई० में, बाबर ने हिन्दुस्तान का साम्राज्य जीता। एक विशाल साम्राज्य पैदा हुआ, जिसे हिन्दुस्तान का मुगल साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर शोहरत मिली और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो पर नजर डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढसौ वर्षों में, जब दिल्ली नीचे की तरफ जारही थी, और जगहो में क्या घटनायें हो रही थीं।

इस जमाने में हिन्दुस्तान में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासते थीं। नये बसे हुए जौनपुर में, मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी जिस पर शरक़ी बादशाह राज्य करते थे। यह रियासत कोई बडी या ताक़तवर नहीं थी, और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में करीब सौ वर्ष तक वह धार्मिक सहिष्णुता और सस्कृति का बडा भारी केन्द्र थी। जौनपुर के मुसलमानी कालेज सहिष्णुता के इन खयालो को फैलाते थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दू और मुसलमानो के बीच सामञ्जस्य और मेल की भी कोशिश की थी, जिसका जिक्र मै अपने पिछले खत में कर चुका हूँ। कला और नफीस इमारतो और इसी तरह से हिन्दी और बगाली जैसी देश की उन्नतिशील भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाता था। उस बढी हुई असहिष्णुता के बीच में जौनपुर की छोटी और चन्दरोजा रियासत विद्वत्ता, सस्कृति और सहिष्णुता का आश्रय स्थान होने की वजह से मशहूर है।

पूरब की तरफ इलाहाबाद की सरहद तक फैला हुआ गौडो का बडा राज्य था, जिसमें बिहार और बगाल दोनो शामिल थे। गौड का नगर एक बन्दरगाह था, जिससे हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के शहरो का समुद्र के जरिये सम्पर्क था। मध्य हिन्दुस्तान में, इलाहाबाद के पश्चिम, करीब-करीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा

का राज्य था, जिसकी राजधानी माँडव थी। माडव शहर भी था और किला भी। वहाँ बहुत-सी सुन्दर और विशाल इमारते बनीं जिनके खड्हरो को देखने के लिए अभी तक लोग जाते है।

मालवा के उत्तर-पश्चिम राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रियासते ख़ासकर चित्तौड़ की—थीं। चित्तौड़, मालवा और गुजरात में अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थीं। चित्तौड़ दूसरी दोनो शक्तिशाली रियासतो के मुकाबिले में छोटा था। लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर सिपाही रहे है और तादाद में कम होने पर भी अक्सर उनकी जीत हुई है। चित्तौड के राणा ने मालवा पर इस तरह की फतेह हासिल करने पर चित्तौड में एक 'विजयस्तम्भ' बनवाया था। माडव के सुलतान ने भी इस ख़याल से कि कहीं पीछे न रह जायें मांडव में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड की मीनार अभी तक कायम है, माडव की गायब हो गई है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहां पर एक बडा ज़बरदस्त राज्य कायम हुआ। इसकी राजधानी अहमदाबाद थी। अहमदाबाद को सुलतान अहमदशाह ने बसाया था। वह बहुत बडा शहर हो गया और उसकी आबादी करीब १० लाख तक पहुँच गई। इस शहर में वडी खूबसूरत इमारते बनीं और कहते है कि ३०० वर्षतक, यानी पन्द्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे अच्छे शहरो में से एक था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की जामी मसजिद रानपुर के जैन मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी जमाने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे जाहिर होता है कि हिन्दुस्तान की पुरानी शिल्प कला पर नये ख़यालात का असर किस तरह पड रहा था और नई शिल्पकला किस प्रकार पैदा हो रही थी। यहाँ फिर तुम्हे कला के क्षेत्र में सामञ्जस्य और मेल के उदाहरण दिखाई देंगे, जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद में इनमें से कई नफीस पुरानी इमारतें मिलती है जिनमें पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन नया तिजारती शहर, जो इन इमारतो के चारो तरफ वस गया है, बडा वीभत्स है और उसके अन्दर से गुजरते समय आँख वन्द करलेने की इच्छा होती है।

यही वक्त था जब पोर्चुगीज हिन्दुस्तान आये। तुम्हे याद ही होगा कि गुडहोप के अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को डि गामा ही पहले-पहल हिन्दुस्तान आया था। १४९८ ई० में वह दक्षिण के कालीकट मुकाम पर पहुँचा। इसके पहले भी बहुत-से यूरोपियन हिन्दुस्तान आचुके थे, लेकिन वे सिर्फ व्यापारी की हैसियत से या महज सफर करने के लिए आये थे। पोर्चुगीज अव दूसरे ख़याल से आये। इनके दिलो में अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था और पोप ने पूर्वी दुनिया का वैनामा

इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी तादाद कम थी लेकिन धीरे-धीरे ज्यादा जहाज आने लगे और इन्होने समुद्र तट के गोआ जैसे कुछ शहरो पर कब्जा भी कर लिया, लेकिन पोर्चुगीज लोग हिन्दुस्तान में कुछ ज्यादा न कर सके। वे देश के अन्दर कभी भी घुस न पाये, लेकिन हिन्दुस्तान पर समुद्र से हमला करनेवाले पहले यूरोपियन यही थे। इनके बहुत दिनो के बाद फ्रान्सीसी और अग्रेज आये। इस तरह से समुद्र का रास्ता खुल जाने पर हिन्दुस्तान की सामुद्रिक कमजोरी मालूम हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमजोर पड गये थे और उनका ध्यान खुश्की के ख़तरो की तरफ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानो ने समुद्र पर भी पोर्चुगीजो का मुकाबिला किया। उन्होने उस्मानी तुर्कों से मिलकर पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया लेकिन बाद में पोर्चुगीज जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्जा हो गया। उसी वक्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहो के डर से गुजरात के सुलतानो ने पोर्चुगीजो से सुलह करली लेकिन पोर्चुगीजो ने बाद में उन्हे धोखा दिया।

दक्षिण हिन्दुस्तान में चौदहवीं सदी की शुरुआत में दो बडी सल्तनते उठ खडी हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र क्षेत्र में और कर्नाटक के कुछ हिस्सो में फैली हुई थी। यह डेढ सौ बरस से ज्यादा समय तक कायम रही लेकिन इसका इतिहास बहुत कमीना है। असहिष्णुता, हिंसा, हत्या और सुलतानो और सरदारो में विलासिता का ख़ूब जोर था और आम जनता बडी मुसीबत में थी। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर अयोग्यता की वजह से बहमनी सल्तनत बिखर गई और उसके पाच टुकडे हो गये—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुडा, बीदर और बरार।

विजयनगर की रियासत को बनें करीब २०० वर्ष हो चुके थे और उस समय भी वह खूब अच्छी हालत में थी। इन ६ राज्यो के बीच अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थीं और हरेक रियासत दक्षिण का मालिक बनने की पूरी कोशिश करती थी। उनमें आपस में हर तरह की गुटबदी होती और टूटती और बार-बार बदलती रहती थी। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू राज्य से लडता था, कभी मुसलमान और हिन्दू राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लडते थे। यह सघर्ष बिलकुल राजनैतिक था और जब कभी कोई एक राज्य ज्यादा ताक़तवर हो जाता था तो दूसरें राज्य उसके ख़िलाफ मिलकर सगठित हो जाते थे। अख़ीर में विजयनगर की ताक़त और दौलत को देखकर मुसलमान रियासतों ने उसके ख़िलाफ एका कर लिया और १५६५ ई० में, तालीकोटा की लड़ाई में उन्होने इसे बिलकुल हरा दिया।

विजयनगर का साम्राज्य ढाई सदी के बाद ख़तम होगया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल तबाह हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी रियासतो के बीच आपस में झगडा उठ खडा हुआ और वे एक दूसरे से लड़ने लगी और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य के पजे में सब-की-सब आगईं। इनको दूसरी मुसीबत पोर्चुगीजो से उठानी पडी, जिन्होने गोवा पर १५१० ई० में क़ब्ज़ा कर लिया था। गोवा शहर बीजापुर राज्य में था। वहाँ से उनको निकालने की हरचन्द कोशिश करने पर भी वे गोवा में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क, जिसको 'पूर्व के वाइसराय' का बड़ा ख़िताब मिला था, शर्मनाक बेरहमी के काम करता रहता था। पोर्चुगीजो ने लोगो को कतल करवा दिया; औरतो और बच्चो को भी नहीं छोडा। तब से आज तक वे गोवा में मौजूद है।

उन दक्षिण रियासतो में, खासकर विजयनगर, गोलकुडा और बीजापुर में, बडी सुन्दर इमारते बनीं। गोलकुडा तो आज खडहर हो गया, बीजापूर में अभी तक इनमें से कई नफीस इमारते मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नहीं है। इसी जमाने में हैदराबाद का शहर गोलकुंडा के नजदीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ चले गये और उन्होने आगरा के ताजमहल के बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के धर्म के प्रति आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी असहिष्णुता और तास्सुब की लहर उठती थी, लड़ाइयो में ख़ौफनाक क़त्ल और बरबादी हुआ करती थी। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फौज थी, और विजयनगर की हिन्दू रियासत में मुसलमान फौज के कई दस्ते थे। काफी ऊँचे पाये की सभ्यता पाई जाती थी। लेकिन सारा टीमटाम अमीरो तक महदूद था। खेत में करनेवाला आदमी इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, और जैसा हमेशा होता है अमीरो की विलासिता का बोझ बरदाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

अपने पिछले ख़त में दक्षिण के जिन राज्यो की चर्चा हमने की है, उनमें विजयनगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गय है। निकोलो काण्टी नाम का एक इटैलियन १४२० ई० में आया था। हेरात का अब्दुर-रज्ज़ाक मध्य एशिया से बडे खा के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पाईज़ नाम का एक पोर्चुगीज़ १५२२ ई० में इस शहर में आया और इसी तरह और भी बहुत-से मुसाफिर आये। हिन्दुस्तान का एक इतिहास भी है जिसमें दक्षिण हिन्दुस्तान की रियासतो, ख़ासकर बीजापुर, का हाल है। इस इतिहास को अकबर के ज़माने में फरिश्ता ने फारसी में लिखा था। जिस युग की हम चर्चा कर रहे है उससे थोडे ही दिन बाद यह किताब लिखी गई। उस ज़माने के इतिहास अक्सर तास्सुब से भरे हुए है और बातो को बढा-चढ़ा कर लिखते है। लेकिन उनसे मदद बहुत मिलती है। काश्मीर की 'राजतरगिणी' को छोड-कर मुसलमानो के पहले के ज़माने का कोई इतिहास नहीं मिलता इसलिए फरिश्ता का इतिहास एक बडी अनोखी बात थी। दूसरो ने इसके बाद लिखा।

अनेक विदेशी यात्रियो ने विजयनगर का जो हाल लिखा है उससे इस शहर की एक निष्पक्ष और सच्ची तस्वीर सामने आजाती है। उन कमबख़्त लडाइयो के हाल से, जो अक्सर होती रहती थीं, हमें उतना पता नही चलता जितना इन बयानो से चलता है इसलिए मै तुम्हे वे बाते बताऊँगा जो इन लोगो ने लिखी है।

१३३६ ई० के करीब विजयनगर की बुनियाद पडी। यह शहर दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश में था। हिन्दू रियासत होने की वजह से दक्षिण में मुसलमान राज्यो के सताये हुए लोग काफी तादाद में इस शहर में जाकर आश्रय लेते थे। यह बहुत तेज़ी से बढने लगा। चन्द ही साल में यह रियासत दक्षिण में सबसे ताक़तवर होगई और उसकी राजधानी पर उसकी दौलत और ख़ूबसूरती की वजह से लोगो का ध्यान जाने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे प्रभावशाली राज्य हो गया।

फरिश्ता ने इसकी दौलत का ज़िक्र किया है और १४०६ ई० में, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने आया था तब, राजधानी की क्या हालत थी, यह भी बयान किया है। फरिश्ता कहता है कि सडक के ऊपर ६ मील तक सोने के कपडे, मख़मल और इसी किस्म की कीमती चीज़ें बिछाई गई थीं। यह धन की कितनी भयकर और दूषित फज़ूलख़र्ची थी।

१४२० ई० में इटैलियन निकोलो काण्टी आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील था, इसका क्षेत्र इतना बड़ा इसलिए था कि इसमें बहुत-से बगीचे थे। काण्टी की यह राय थी कि विजयनगर का शासक या राय (जैसा कि वह कहलाता था) उस वक्त हिन्दुस्तान का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य एशिया से अब्दुर-रज्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मगलौर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा जो ख़ालिस गले हुए पीतल का बना हुआ था। वह १५ फुट ऊँचा था और नीचे ३० फुट लम्बा और ३० फुट चौडा था। और ऊपर जाकर बेलूर में उसने एक दूसरे मदिर को देखकर और भी ताज्जुब जाहिर किया। उसने इस मदिर का हाल नहीं लिखा क्योकि उसे डर था कि अगर वह लिखेगा तो लोग उसपर यह "इल्ज़ाम लगायेंगे कि अत्युक्ति करता है।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और उसको देखकर उसका दिल बाग़-बाग़ होगया। उसने लिखा है—"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में किसी जगह पर इसकी बराबरी का शहर न तो आँखो ने देखा, न कानो ने सुना।" बाज़ारो के बारे में वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के कोने पर ऊँचे मेहराबदार फाटक और शानदार गैलरी है लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौडे हैं ख़ूबसूरत और खुशबूदार ताज़े फूल इस शहर में हमेशा मिलते है और रोज़ाना इस्तेमाल की ज़रूरी चीज़ समझे जाते है, जिनके बिना मानो लोग ज़िन्दा नहीं रह सकते। हरेक पेशे के व्यापारी और कारीगरो की दूकान एक ही जगह है। जौहरी लोग अपने लाल, मोती और पन्ना खुल्लमखुल्ला बाज़ार में बेचते है।" अब्दुर-रज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर क्षेत्र में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी नहरे और सोते बहते है, जिनकी नालियाँ कटे हुए और चमकदार पत्थरो की बनी हुई है। यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोडी-सी जगह में इसके बारे में कुछ बता सकना नामुमकिन है।" और इसी तरह से वह बयान करता जाता है। १५वीं सदी के मध्य में आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर की शान में बडी प्रशसा के शब्द कह गया है।

यह हो सकता है कि अब्दुर-रज्ज़ाक ने बहुत से बडे-बडे शहरो को न देखा हो इसलिए जब उसने विजयनगर देखा तो हक्का-बक्का हो गया लेकिन बाद में आनेवाला यात्री काफी सफर किया हुआ आदमी था। यह पेज़ नाम का पोर्चुगीज़ १५२२ ई० में आया था। यह वही समय था जब इटली में पुनर्जागृति (रिनैसाँ) का असर बढ रहा था और इटली के शहरो में खूबसूरत इमारते बन रही थीं। पेज़ को इटली के इन शहरो का पता था इसलिए उसकी शहादत बहुत क़ीमती है। उसने लिखा है

कि विजयनगर का "शहर रोम के बराबर बडा है और देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने विस्तारपूर्वक इस शहर की अद्भुत बाते बयान की है और इसकी अनेक झीलो, सोतो और फल के बगीचो की खूबसूरती के बारे में लिखा है। उसने लिखा है कि "दुनिया भर में यह सबसे भरा पुरा शहर है इस शहर की हालत वैसी नहीं है जैसी अक्सर और शहरो की होती है, जहाँ सामान नहीं मिलता या अक्सर कम पड जाया करता है। यहाँ हरेक चीज भरी पडी है।" इसने राजमहल में एक कमरा देखा था। यह कमरा "सारा हाथी दाँत का बना हुआ था। दीवारे ऊपर से नीचे तक और कमरा सबका सब हाथी दाँत का था और लकडी के खम्भो की चोटियो पर गुलाब और कमल के फूल थे जो सबके सब हाथी दाँत के बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर नहीं हो सकता था। यह सब इतना सुन्दर है कि इस तरह का दूसरी जगह मुश्किल से मिलेगा।"

पेज ने अपनी यात्रा के समय के विजयनगर के राजा का भी बयान किया है। यह दक्षिणी भारत के इतिहास में बडा प्रसिद्ध राजा हुआ है और उसकी सिपहगिरी, दुश्मनो के लिए उसकी दरियादिली, साहित्य की सहायता, लोकप्रियता और उसकी उदारता की तारीफ दक्षिण में अभी तक की जाती है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। उसने १५०९ से १५२९ तक यानी २० वर्ष राज्य किया। पेज ने उसकी लम्बाई, उसकी शकल-सूरत और उसके रग का भी बयान किया है। वह गोरा था। "लोग इससे बहुत डरते है और यह इतना अच्छा राजा है जितना होना मुमकिन है। यह खुशमिजाज और बडा हँसमुख है। विदेशियो की इज्जत करता है; उनका आदरपूर्वक स्वागत करता है और जो कुछ उनकी हालत होती है उसके बारे में पूछता है।" राजा के अनेक खिताबों के बयान करने के बाद पेज लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह हरएक चीज में इतना निपुण और सपूर्ण है कि जो कुछ उसके पास है वह उसके ऐसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं।"

यह तारीफ असल में बहुत ज्यादा हो गई। विजयनगर का साम्राज्य इस वक्त सारे दक्षिण और पूर्वी समुद्री किनारे तक फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, ट्रावनकोर और आजकल के मद्रास का सारा सूबा आ जाता था।

इसके अलावा मै एक बात और बताऊंगा। ई० सन् १४०० के क़रीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बडी नहरे बनाई गई थीं। एक नदी सारी की सारी बाँध दी गई थी और उसका पानी एक जगह इकट्ठा कर दिया गया था और इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के जरिये, जो पहाड को काट कर बनाई गई थी, शहर को पानी ले गये थे। विजयनगर इस तरह का था। इसे अपनी दौलत और

खूबसूरती पर नाज़ था और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह ख़याल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य के आख़िरी दिन इतने नज़दीक है। पेज़ के आने के ४३ वर्ष बाद एकदम से ख़तरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासते विजयनगर से जलती थीं, इसलिए इसके खिलाफ एक दूसरे से मिल गई और इसको बरबाद करने का उन्होने निश्चय कर लिया। उस वक्त भी विजयनगर ग़लती से अपने पर विश्वास करता रहा पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और यह अन्त अपनी भीषणता में सम्पूर्ण था।

जैसा मैंने तुमसे बताया है, १५६५ ई० में रियासतो के इस गुट ने विजयनगर को हरा दिया। भारी कत्लेआम हुआ और बाद को यह विशाल नगर लूट लिया गया। तमाम सुन्दर इमारते, मन्दिर और महल बरबाद कर दिये गये। पत्थर की मूर्तियाँ और सुन्दर खुदाई का काम सब नष्ट हो गया। जितनी चीज़ें जलाई जा सकती थी, जलादी गई। उस वक्त यह शहर यहाँ तक बरबाद किया गया कि खडहरो के ढेर हो गये। एक अंग्रेज़ इतिहासज्ञ कहता है कि दुनिया के इतिहास में शायद ही कभी ऐसी तबाही, और यो एकाएक, की गई होगी, जिसमें एक विशाल नगर जो एक दिन इतना सम्पन्न और भरपूर हो, जिसमें अमीर और मेहनती लोग खूब बसे हो, और जो दूसरे ही दिन पराजित हो जाय, लूटा जाय और खडहर बना दिया जाय और वहशियाना कत्लेआम और भीषणता के ऐसे दृश्य हो कि जिनका बयान करना नामुमकिन है।

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हम लोगो ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपो के बारे में बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए भी बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के ख़त में इनके बारे में कुछ लिखा था। उस वक़्त से ३१ ख़त हमने लिख डाले और अब ७८वे ख़त तक पहुँचे है। हरेक देश को बराबर-बराबर एक सीध में रखना भी मुश्किल होता है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हे लिखा था, तुम्हे याद है? क्या कम्बोडिया, अगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद है? क्या तुम्हे कम्बोडिया का साम्राज्य याद है, जो हिन्दी-चीन में पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियो से बढकर, कई सौ वर्षों में, एक बडा राज्य हो गया था? और तब इस साम्राज्य पर प्रकृति ने कठोरता

के साथ और अचानक चोट की और इस नगर और साम्राज्य को खतम कर दिया। यह सन् १३०० ई० की बात है।

करीब-क़रीब इसी कम्बोडियन साम्राज्य के वक़्त में एक दूसरा बडा साम्राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय साम्राज्य बनाने की दौड में कुछ देर में शामिल हुआ था और कम्बोडिया के बाद भी बना रहा। इसका अन्त भी एकाएक हुआ लेकिन इसका ख़ातमा कुदरत ने नही बल्कि आदमी ने किया। ३०० वर्ष तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के सारे टापुओ पर उसका कब्जा था और कुछ दिनो तक तो उसने हिन्दुस्तान, लका और चीन में भी अपने पैर रखने की जगह निकाल ली थी। यह व्यापारिक साम्राज्य था और तिजारत इसका ख़ास काम था, लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक दूसरा साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह हिन्दू राज्य था जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इनकार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्ष तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताक़त परेशान करती रही, लेकिन इसने अपनी आजादी कायम रक्खी और साथ ही पत्थर के बहुत-से सुन्दर मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में सब से मशहूर मन्दिर, जिसे बोरोबुदर भी कहते है, अभी तक पाया जाता है और बहुत-से यात्री इसे देखने जाते है। श्रीविजय के अधिकार से बच जाने के बाद पूर्वी जावा ख़ुद जबर्दस्ती करने लगा और अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी श्रीविजय के लिए उलटा एक ख़तरा बन गया। दोनो व्यापारिक राज्य थे। व्यापार के लिए समुद्रो को पार करना पडता था, इसलिए उनका एक-दूसरे से झगडा होता रहता था।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड का आजकल की ताक़तो में होनेवाली होड से, जैसे जर्मनी और इग्लैण्ड की होड से, मुक़ाबिला करूँ। जावा ने यह समझकर कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत के बढाने का सिर्फ एक ही उपाय यह है कि अपनी समुद्री ताक़त बढाई जाय, अपनी जल-सेना ख़ूब बढ़ा ली। बडे-बडे जगी बेडे भेजे जाते थे लेकिन वर्षो तक इनका मुक़ाबिला दुश्मनो से नही होता था। इस तरह जावा बढता चला गया और दिन-दिन जबरदस्त होने लगा। तेरहवीं सदी के अख़ीर में एक शहर बसाया गया जिसका नाम मज्जापहित था और यह बढ़ते हुए जावा की राजधानी होगया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख़ और घमण्डी होगया था कि इसने 'बडे ख़ान' कुबलाई के एलचियो को, जो खिराज लेने के लिए यहाँ भेजे गये थे, अपमानित किया। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक एलची के माथे पर अपमान-

जनक सन्देशा गोद-गोदकर लिख दिया गया। मंगोल खा के साथ इस तरह का खेल करना बहुत ही खतरनाक और बेवकूफी की बात थी। इसी तरह के सदेश से चिढकर चगेज ने मध्य एशिया को तवाह कर दिया था और बाद को हलाकू ने बगदाद को ऐसी ही बेइज्जती की वजह से बरबाद किया था। फिर भी जावा के छोटे टापूवाले राज्य ने इस तरह की बेइज्जती की। जावा वालो की खुशकिस्मती थी कि मगोल लोग बहुत कुछ ठडे पड गये थे और उन्हे विजय की कोई इच्छा नहीं थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हे बहुत पसन्द न थी, उन्हे तो ठोस जमीन पर ज्याद मजबूती मालूम होती थी। फिर भी कुबलाई ने जावा के अपराधी राजा को सजा देने के लिए फौज भेजी। चीनियो ने जावा वालो को हरा दिया। और राजा को मार डाला लेकिन उन्होने ज्यादा नुकसान नही किया। चीनी मगोलों में कितनी तब्दीली आगई थी!

चीनी हमले की वजह से मज्जापहित साम्राज्य, अन्त में, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, ज्यादा मजबूत हो गया। क्योकि चीनियो ने जावा में बन्दूको का प्रचार कर दिया और शायद यह बन्दूको की ही वजह थी, जिससे मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयो में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। इसकी तरक्की अचानक या बेतुके ढग से नहीं हो रही थी। साम्राज्य के विस्तार का काम राज्य की तरफ से सगठित किया गया था और कुशल जल-सेना और फौज इसमें मदद करती थी। विस्तार के इस जमाने में महारानी सुहिता रानी थीं। शासन बहुत ही केन्द्रित और कुशल था। पश्चिमी इतिहास-लेखको ने लिखा है कि टैक्स, चुगी और विदेशी व्यापार पर कर और मालगुजारी की प्रणाली बहुत अच्छी थी। सरकार के अलग-अलग महकमे थे—जैसे उपनिवेश का महकमा, व्यापार का महकमा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और हित का महकमा, देश के अन्दरूनी इन्तजाम का महकमा और लड़ाई महकमा। एक सबसे ऊँची अदालत (सुप्रीम कोर्ट) थी जिसमें दो प्रधान और सात जज हुआ करते थे। ब्राह्मण पुरोहितो को बहुत अख़्तियार थे, लेकिन राजा इनपर अपना अंकुश रखता था।

इन महकमो से, और इनके नामो से भी, हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की याद आती है। लेकिन उपनिवेश का महकमा नया था। मुल्क के अन्दरूनी इन्तजाम के महकमे का वजीर 'मन्त्री' कहलाता था। इससे यह जाहिर होता है कि हिन्दुस्तानी सस्कृति और परिपाटी इन द्वीपो में दक्षिणी हिन्दुस्तान के पल्लवो की पहली बस्ती बसने के १२ सौ वर्ष बाद तक कायम रही। यह तभी हो सकता है जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नही कि इस प्रकार का सम्पर्क व्यापार के जरिये बना हुआ था।

चूंकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि निर्यात और आयात व्यापार अच्छी तरह से सगठित रहे हो। निर्यात उस व्यापार को कहते है, जिसमें माल विदेशो को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं जिसमें बाहर के देशो से अपने मुल्क में माल आता है। यह व्यापार ख़ास तौर से हिन्दुस्तान, चीन और उसके अपने उपनिवेशो से हुआ करता था। लेकिन जब तक श्रीविजय से लड़ाई रहती थी, उसके साथ या उसके उपनिवेशो के साथ, व्यापार मुमकिन नही था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षो तक रहा लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का मशहूर युग १३३५ से १३८० तक हुआ है। ठीक ४५ वर्ष तक। इसी जमाने में, १३७७ ई० में, श्रीविजय पर क़ब्ज़ा हुआ और उसको बरबाद कर डाला गया। अनाम, स्याम और कम्बोडिया से मज्जापहित की दोस्ती थी।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और सम्पन्न थी। शहर के बीचो-बीच शिव का बहुत बडा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारते थीं। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे हिन्दुस्तानी उपनिवेशो ने सुन्दर इमारते बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बडे-बडे शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यवादी राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के तबाह होने के बाद ज्यादा दिनतक जिन्दा नहीं रहा। घरेलू झगडे शुरु हो गये और चीन से भी लड़ाई हो गई। इसकी वजह से चीनियो की विशाल जल-सेना जावा आई। उपनिवेश धीरे-धीरे टूटते गये। १४२६ ई० में बडा भारी अकाल पडा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वतन्त्र राज्य की हैसियत से ५० वर्ष और क़ायम रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह से मलेशिया की पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियो से पैदा होने वाले साम्राज्यो में से तीसरा साम्राज्य ख़तम हुआ। अपने छोटे ख़तो में हमने बडे-बडे युगो का हाल लिखा है। ईसाई सन् की करीब-करीब शुरूआत में पहली बार हिन्दुस्तान से बस्तियाँ बसाने के लिए लोग यहाँ आये थे और इस वक्त हम पन्द्रहवीं सदी में है। इस तरह हमने इन उपनिवेशो या बस्तियो के इतिहास के १४०० वर्षों का सिहावलोकन किया है। हमने जिन तीन साम्राज्यवादी राज्यो, यानी कम्बोडिया, श्रीविजय और मज्जापहित पर, अलग-अलग ख़ास तौर से ग़ौर किया है, वे सब कई सौ वर्षो तक क़ायम रहे। इन लम्बे युगो को याद रखना अच्छा होगा क्योंकि इससे उन रियासतो की कुशलता और मजबूती का कुछ पता चल जाता है। सुन्दर स्थापत्य-शिल्प से उन्हें विशेष प्रेम था और व्यापार उनका ख़ास पेशा था। वे हिन्दुस्तानी

संस्कृति की परिपाटी कायम रखे हुए थे और चीनी संस्कृति की बहुत-सी बातो को भी उन्होने बडी अच्छी तरह मिला लिया था।

तुम्हे यह याद होगा कि इन तीनो हिन्दुस्तानी उपनिवेशो के अलावा, जिनका हमने ज़िक्र किया है, और भी बस्तियां थी लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग विचार नहीं कर सकते, और न दो पडौसी देशो यानी बरमा और स्याम के बारे में ही कुछ ज्यादा कर सकते है। इन दोनो देशो में भी बडे ताकतवर राज्य बने और कला की भी काफी तरक्की हुई। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। मगोलो ने एक दफा बरमा पर हमला किया था लेकिन स्याम पर चीनवालो ने कभी हमला नहीं किया। बरमा और स्याम दोनो चीन को ख़िराज देते थे लेकिन यह एक किस्म की भेंट थी, जिसे कोई इज्ज़त करने वाला छोटा भाई बडे भाई के सामने पेश करता है। इस ख़िराज के बदले छोटे भाइयो के पास चीन से बहुत कीमती नजरे आती थीं।

बरमा पर मंगोलो का हमला होने के पहले वहां की राजधानी पगान थी। यह शहर उत्तर बरमा में था। २०० वर्षो से ज्यादा समय तक यह शहर राजधानी रहा। कहते है, यह बडा खूबसूरत शहर था और अगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबिला नहीं कर सकता था। आनन्द मन्दिर इसकी सबसे अच्छी इमारत थी। दुनिया भर में यह बौद्ध स्थापत्य-शिल्प के सबसे ख़ूबसूरत नमूनो में समझा जाता है। इसके अलावा भी बहुत-सी शानदार इमारते थीं। सच तो यह है कि पगान शहर के खॅडहर आज भी देखने में सुन्दर है। पगान का शानदार ज़माना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद बरमा में कुछ झगडा-फिसाद शुरू हुआ और उत्तर बरमा दक्षिण बरमा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसने बरमा को फिर मिलाकर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि बरमा और स्याम के इस मुख़्तसर और अचानक ज़िक्र से तुम घपले में न पड जाओगी। हम मलेशिया और इण्डोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुँच गये है। और मै अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक जमीन के इन हिस्सो के ऊपर जितने ख़ास-ख़ास प्रभाव पडे, फिर चाहे वे राजनैतिक रहे हो या सांस्कृतिक, हिन्दुस्तान या चीन से आये थे। जैसा मैने तुमको बताया है, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशो यानी बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पड़ा था। मलाया प्रायद्वीप और दूसरे टापुओ पर हिन्दुस्तान का ज्यादा असर पड़ा था।

अब एक नया असर और पैदा होता है। यह असर अरबो का था। बरमा और

स्याम पर यह असर नहीं पड़ा लेकिन मलाया और उसके टापू इसके प्रभाव में आगये और बहुत जल्द एक मुसलमान साम्राज्य पैदा हो गया।

अरब व्यापारी इन टापुओ में हज़ार वर्षो से आते थे और वहाँ बस भी गये थे, लेकिन वे सौदागरी में लगे रहते थे और हुकूमत के काम-काज में दख़ल नहीं देते थे। चौदहवीं सदी में अरब मजहबी उपदेशक अरबस्तान से आये और उन्हे कामयाबी हुई, खास तौर से चन्द स्थानीय शासको को मुसलमान बनाने में।

इसी दरमियान राजनैतिक तब्दीलिया शुरू हो गई थीं। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को दबा रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ, बहुत से लोग भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे और वहाँ उन्होंने मलक्का नाम का शहर बसाया। यह शहर और रियासत तेज़ी से बढी और १४०० ई० में मलक्का बडा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावा लोगो को उनकी रियाया पसन्द नहीं करती थी। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादी कौमो का तरीका है, ये लोग ज़ालिम होते थे, इसलिए बहुत-से लोग मज्जापहित में रहने के बजाय मलक्का की नई रियासत में बसना ज्यादा पसन्द करने लगे। स्याम भी इस वक्त किसी कदर जबर्दस्ती कर रहा था। इस तरह से मलक्का बहुत-से लोगो का आश्रय बन गया। इन लोगो में मुसलमान और बौद्ध दोनो थे। यहाँ के शासक पहले बौद्ध थे लेकिन बाद को मुसलमान हो गये।

मलक्का की नई रियासत को एक तरफ जावा से और दूसरी तरफ स्याम से खतरा था। इसने टापुओ की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतो से समझौता और दोस्ती करने की कोशिश की। इसने चीन से भी रक्षा के लिए मदद माँगी। उस वक्त मिंग लोग, जिन्होने मंगोलो को हराकर खदेड दिया, चीन पर राज्य करते थे। यह ग़ौर करने की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी मुसलमान रियासतो ने एक साथ ही चीन से मदद माँगी। इससे ज़ाहिर होता है कि ताकतवर दुश्मनो ने इन्हे ज़रूर धमकियाँ दी होगीं।

चीन ने मलेशिया के देशो से दोस्ती की पर साथ ही उनसे दूर रहने की नीति हमेशा बरती। वह विजय के लिए भी उत्सुक नहीं था। उसका ख़याल था कि इन देशो से उसे कोई फायदा नहीं हो सकता लेकिन वह इन्हे अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। मिंग सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदल देना चाहा और वह इन देशो में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। लेकिन जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की जबरदस्ती की नीति को पसंद नहीं किया। इसलिए इनको बन्दिश में रखने के वास्ते और चीन की ताकत को दूसरो पर ज़ाहिर करने के लिए उसने एक

बहुत बडी जल-सेना एडमिरल यानी जल सेनापति चेंग-हो की मातहती में भेजी। इस वेडे में कई जहाज ४०० फीट लम्बे थे।

चेंग-हो ने कई सफर किये और करीब-करीब सभी टापुओ—फिलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप वगैरा में गया। वह सीलोन भी आया और उसे जीत कर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी सफर में वह ईरान की खाडी तक गया था। चौदहवीं सदी की शुरूआत में चेग-हो की इन यात्राओं से उन देशो पर बहुत असर पडा, जहाँ-जहाँ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दवाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया और मलक्का की रियासत उसकी विशाल जल-सेना के साये में बहुत मजबूती से कायम हो गई। चेग-हो की मंशा बिलकुल राजनैतिक थी; धर्म से इसका कोई ताल्लुक न था। वह खुद बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के दुश्मनो का नेता बन गई। इसकी ताकत वढने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशो पर कब्जा करना शुरू कर दिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी उसका कब्जा हो गया। इसके वाद इस्लाम शहर का और दरवार का मजहब वन गया, लेकिन गांवो में, हिन्दुस्तान की तरह, पुराना धर्म और रस्म व रिवाज कायम रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित के साम्राज्यो की तरह बहुत दिनो तक कायम रह सकता था और महान हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। चन्द ही वर्षों में, यानी १५११ ई० में, पोर्चुगीजो ने उसमें दखल देना शुरू कर दिया और उन्होंने मलक्का पर कब्जा भी कर लिया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवाँ साम्राज्य आगया और वह भी बहुत दिनो तक जिन्दा न रह सका। इतिहास में पहली मर्तबा पूर्वी समुद्रों में योरप जबर्दस्त और हावी हो गया।

: ७६ :

योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आखिरी खत उस मौके पर खतम किया था, जब मलेशिया में पोर्चुगीज लोग आगये थे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे मालूम किये गये और पुर्तगाल और स्पेन के लोगो में पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ गया था और स्पेन

पश्चिम की तरफ । पुर्तगाल अफरीका के इर्द-गिर्द घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच गया। स्पेन ने गलती से अमेरिका का पता चला लिया और बाद को वह दक्षिण अमेरिका के इर्द-गिर्द घूमकर मलेशिया पहुँचा । अब हम अपनी कुछ बातो को मिलाकर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढा सकते हैं ।

शायद तुम्हे मालूम हो कि मसाले (मिर्च वगैरा) गरम मुल्क में यानी उन देशो में, जो भूमध्य रेखा के नजदीक है, पैदा होते हैं । योरप में मसाले बिलकुल नहीं होते । दक्षिण हिन्दुस्तान और लंका में कुछ होते है लेकिन ये मसाले ज्यादातर मलेशिया द्वीप से, जिन्हे मलक्का कहते है, आते हैं । असल में इन टापुओ को ही 'मसाले के टापू' कहते है । बहुत पुराने जमाने से योरप में इन मसालो की बहुत माग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। योरप पहुँचते-पहुँचते इनकी कीमत बहुत बढ जाती थी । रोमन लोगो के जमाने में काली मिर्च सोने के बराबर बिकती थी । हालांकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी माग थी लेकिन योरप इनके मँगाने का खुद कोई इन्तजाम नहीं करता था । बहुत दिनो तक मसाले का व्यापार हिन्दुस्तानियो के हाथ में था । फिर अरबो के हाथ में आगया । यह मसाले की लालच थी कि पोर्चुगीज और स्पेन के लोग एक दिशा की ओर आगे बढ़ते चले गये, यहाँ तक कि मलेशिया में आकर मिल गये । पोर्चुगीज इस खोज में आगे थे, क्योकि स्पेन के लोग रास्ते में अमेरिका में फँस गये और बहुत मुनाफे से फँसे रहे ।

इसके बाद ही वास्को डि गामा गुडहोप के अन्तरीप से होता हुआ हिन्दुस्तान पहुँचा । बहुत से पोर्चुगीज जहाज इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ आगे बढ गये । उसी वक्त मसाले और दूसरी चीजो का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पोर्चुगीज इस साम्राज्य से और अरब व्यापारियो से आम तौर पर सघर्ष में आगये । पोर्चुगीजो के वाइसराय अलबुकर्क ने १५११ ई० में मलक्का पर कब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खातमा कर दिया । योरप का व्यापार अब पोर्चुगीजो के हाथ में आगया और इनकी राजधानी लिस्बन योरप-भर में मसालो और दूसरे पूर्वी मालो की बडी-भारी व्यापारिक मडी बन गई ।

यह बात नोट करने लायक है कि अलबुकर्क अरबो का बडा ज़ालिम और बेरहम दुश्मन था । फिर भी वह पूर्व की दूसरी व्यापारिक जातियो के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था । तमाम चीनियो के साथ, जिनके सम्पर्क में वह आता, वह खास तौर से शराफत से पेश आता था । जिसका नतीजा यह हुआ कि चीन में पोर्चुगीजो के बारे में बहुत अच्छे खयालात फैल गये । शायद अरबो के साथ उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार के बाज़ार पर हावी थे ।

इस दरमियान मसाले के टापुओ की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद को प्रशात महासागर पार किया और दुनिया के चारो तरफ घूमा था, उस जहाजी बेड़े का एक सभासद था जिसने मलक्का खोज निकाला था। ६० वर्ष तक योरप के मसाले के व्यापार में पोर्चुगीजो का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। १५६५ ई० में स्पेन ने फिलीपाइन टापुओ पर कब्जा कर लिया और इस तरह से पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपियन ताकत का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पोर्चुगीजो के व्यापार में कोई ख़ास फरक़ नही आया क्योकि स्पेन के लोग व्यापारी नही थे। ये लोग पूर्व को अपने सैनिक और उपदेशक भेजते थे। पोर्चुगीजो का मसाले के व्यापार पर एकछत्र अधिकार हो गया। यहाँतक कि ईरान और मिस्र को भी पोर्चुगीजो के ज़रिये ही मसाला मिलता था। पोर्चुगीज़ किसी दूसरे को मसाले के इन टापुओ से सीधे व्यापार करने की इजाजत नहीं देते थे। इस तरह पुर्तगाल दौलतमन्द हो गया लेकिन उसने उपनिवेश बढाने की कोई कोशिश नही की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है। उसके यहा बाहर भेजने के लिए भी काफी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्ष तक, यानी सारी सोलहवीं सदी-भर पूर्व में जो कुछ किया, उसे देख कर वड़ा ताज्जुब होता है।

इस दरमियान स्पेन के लोग फिलिपाइन से चिपके रहे और जितना पैसा मुमकिन था, कमाने की कोशिश करते रहे। जबर्दस्ती ख़िराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में संघर्ष बचाने के लिए उन्होने पोर्चुगीजो से सुलह करली थी। स्पेन की सरकार फिलिपाइन को इस बात की इजाजत नहीं देती थी कि वह स्पेनिश अमेरिका से व्यापार कर सके, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चाँदी खिचकर पूर्व चला जायगा। सिर्फ एक जहाज साल भर में आता था। इसको 'मनिल्ला गैलियन' कहते थे और तुम समझ सकती हो कि इसके सालाना आमद की फिलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेचैनी के साथ इन्तजार करते थे। २४० वर्ष तक यह 'मनिल्ला गैलियन' अमेरिका और द्वीपो के बीच प्रशात महासागर पार करके आया-जाया करता था।

योरप में स्पेन और पुर्तगाल की इन कामयाबियो को देखकर दूसरी क़ौमें जलकर ख़ाक हुई जारही थीं। जैसा हमें बाद को मालूम होगा, उस वक्त स्पेन योरप पर हावी था। इँग्लैण्ड अव्वल दर्जे की ताकत न था। निदरलैंड में यानी हालैंड और बेलजियम के एक हिस्से में स्पेन की एक हुकूमत के ख़िलाफ बलवा हो गया था। अंग्रेज स्पेन से डाह रखने के कारण डच लोगो से हमदर्दी रखते थे। और उन्हे निजी तौर से मदद देते थे। इनके कुछ जल सैनिक खुले समुद्रो में जहाजो

पर डाका मारा करते थे और स्पेन के उन जहाजो को लूट लिया करते थे जो अमेरिका से खजाना लेकर स्पेन जाते थे। इस खतरनाक लेकिन फायदेमद काम का नेता सर फ्रासिस ड्रेक था।

१५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाजो को लेकर स्पेन के उपनिवेशो को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा लेकिन उसके चार जहाज तबाह हो गये। उसका सिर्फ एक जहाज 'गोल्डन हिन्द' प्रशात महासागर में पहुँचा और ड्रेक 'गुडहोप' अतरीप होता हुआ इँग्लैण्ड वापिस आया। इस तरह से उसने 'गोल्डन हिन्द' में सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। 'गोल्डन हिन्द' 'मैगेलन विक्टोरिया' के बाद दूसरा जहाज था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की थी। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे।

स्पेन के जहाजो का लूटना बहुत दिन जारी नहीं रह सका और इग्लैंड और स्पेन में बहुत जल्द लडाई छिड गई। डच तो स्पेन से लडाई कर ही रहे थे, पुर्त्तगाल भी इस लडाई में फस गया क्योकि कुछ वर्षो से स्पेन और पुर्त्तगाल पर एक ही राजा राज करता था। अपनी खुशकिस्मती से और दृढता के कारण इँग्लैंड इस लडाई में फतेहमद हुआ जिससे योरप को बडी हैरत हुई। स्पेन ने ब्रिटेन को जीतने के लिए जगी जहाजो का बेडा भेजा था। इसको 'अजेय आर्मेडा' (Invincible Armada) कहते थे। तुम्हे याद होगा कि यह बेडा डूब गया था लेकिन अभी तो हम पूर्व की बातें कर रहे हैं।

अग्रेज और डचो ने दूर के पूर्वी देशो पर धावा बोल दिया और स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगो पर हमला किया। स्पेन वाले सब फिलीपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से हिफाजत कर सकते थे, लेकिन पोर्चुगीजो को बहुत धक्का पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य ६ हजार मील तक, लाल समुद्र से लेकर मलक्का तक, जगह-जगह फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाडी में अदन के पास और लका में बसे हुए थे और भारतीय सागर से किनारे पर कितनी ही जगहो में, मलाया में और सारे पूर्वी टापुओ में इनकी बस्तियाँ थीं। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य नष्ट हो गया। इनके शहर और इनकी बस्तियाँ एक-एक करके या तो डचो को या अँग्रेजो को मिल गईं। मलक्का भी १६४१ ई० में इनके हाथ से निकल गया। हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहो पर दो-चार चौकियाँ इनके पास रह गईं। पश्चिमी हिन्दुस्तान में गोवा इन्हीं का है और पोर्चुगीज अभी तक वहाँ हैं। गोवा अब पोर्चुगीज लोकतत्र का, जो कुछ साल पहले ही बना है, एक हिस्सा है। अकबर ने गोवा लेना चाहा था लेकिन वह कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह, पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से गायब हो जाता है। इस छोटे-से देश ने

बहुत बडा कौर अपने मुह में रख लिया था, उसे निगल न सका। निगलने की कोशिश में पस्त हो गया। स्पेन फिलिपाइन में चिपका रहा लेकिन पूर्वी मामलो में वह कोई खास हिस्सा नही ले रहा था। पूर्व के बेशक़ीमत और फायदेमद व्यापार पर अब इग्लैण्ड और हालैण्ड का कब्जा था। इन दोनो देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारिक कम्पनियाँ बनवाई थी। इग्लैण्ड में रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक चार्टर यानी अधिकार पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी कायम हुई। ये दोनो कम्पनियाँ व्यापार के लिए थी। हालाकि दोनो निजी कम्पनिया थीं लेकिन इन्हे अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार में थी। हिन्दुस्तान उस वक्त मुगल सम्राटो के मातहत एक ताकतवर देश था, जिसे नाराज करने की किसी की हिम्मत नहीं पडती थी।

डच और अंग्रेज अक्सर एक दूसरे से लड़ते भी थे। आख़िरकार अग्रेज पूर्वी द्वीपो से अलग हो गये और हिन्दुस्तान पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल साम्राज्य उस वक्त कमजोर पड़ रहा था। इसलिए विदेशियो को मौक़ा मिल गया। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस तरह से दुस्साहसी लोग इंग्लैड और फ़्रांस से आये और जालसाजी, धोखेबाजी और लडाई करके इस बिखरते हुए साम्राज्य के हिस्सो पर क़ब्जा करने की कोशिश की।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

इन्दु बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थी और मुमकिन है अभीतक बीमार हो। जेल के अन्दर ख़बरों के पहुँचने में देर लग जाती है। मै तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हे अपनी ख़बरदारी ख़ुद ही करनी पडेगी। लेकिन मै तुम्हारी याद करता रहूँगा। कितने ताज्जुब की बात है कि हम सब किस तरह से फैले हुए है। तुम पूना में हो, ममी इलाहाबाद में बीमार है, और हममें से बाकी मुख़्तलिफ जेलो के अन्दर पडे हुए है।

कुछ दिनों से इन ख़तो के लिखने में मुझे कुछ कठिनाई होने लगी है। तुम से बात-चीत करने का बहाना कायम रखना आसान काम नहीं था। मुझे ख़याल आता है कि तुम पूना में बीमार पडी हो और किसे मालूम मै तुमको फिर कब देख सकूँगा।

हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष बीत जायेंगे और इस दरमियान तुम कितनी बढ जाओगी !

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, खास कर जेल में, अच्छा नहीं । मुझे अपने को सम्भाल लेना चाहिए और थोडी देर के लिए आज को भूल कर गुजरे हुए कल का खयाल करना चाहिए ।

हम लोग मलेशिया में थे और हमनें वहां एक अजीब घटना घटती देखी । योरप एशिया में जबर्दस्त होता जा रहा था । पोर्चुगीज आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद को अग्रेज और डच आये, लेकिन इन यूरोपियन लोगो की हरकतें बहुत दिनो तक मलेशिया और टापुओ के अन्दर ही महदूद रहीं । पश्चिम की तरफ मुगलो की हुकूमत में एक मजबूत हिन्दुस्तान था । उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफाजत अच्छी तरह कर सकता था । इसलिए हिन्दुस्तान और चीन में यूरोपियन लोगो ने दखल नहीं दिया ।

मलेशिया से चीन सिर्फ एक कदम पर है । अब हमें वहां चलना चाहिए । युआन राजवश, जिसे मगोल कुबलाई खां ने चलाया था, खतम हो गया था । १३६८ ई० में लोगो ने बगावत करके बची-खुची मगोल फौजो को भी चीन की 'बडी दीवार' के उस पार भगा दिया था । इस विद्रोह का नेता हांग-वू था, जो एक गरीब मजदूर का लडका था और जिसे बहुत कम शिक्षा मिली थी । लेकिन जिन्दगी की बडी पाठशाला का वह बडा अच्छा विद्यार्थी था । यह बडा सफल नेता निकला और बादको बडा अक्लमन्द शासक हुआ । सम्राट होते हुए भी वह अभिमान और अहकार से फूल नहीं उठा बल्कि सारी जिन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि मैं एक गरीब का लडका हूं । वह तीस वर्ष तक राज्य करता रहा । लोग आज भी उसके राज्य की याद इसलिए करते है कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिश की । अखीर वक्त तक उसने अपनी जिन्दगी की सादगी क़ायम रखी ।

हांग-वू नये मिंग राजवश का पहला सम्राट था । उसका लडका युग-लो भी बडा शासक हुआ है । वह १४०२ से १४२४ ई० तक सम्राट रहा लेकिन इन चीनी नामों से मैं तुम्हे परेशान न करूंगा । बहुत से अच्छे शासक हुए लेकिन जैसा कि अकसर होता है, पतन होने लगा । लेकिन हम सम्राटो को भूल जायें और इस जमाने के चीन के इतिहास पर गौर करें । यह बहुत ही रौशन जमाना था और उसमें विशेष मनोहरता पाई जाती थी । 'मिंग' के मानी ही चमकदार या 'रौशन' के है । मिंग खानदान २७६ वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक रहा ।

तमाम राजवंशों में यह राजवंश ख़ास तौर से चीनी कहा जा सकता है। इनके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना है जबकि घरेलू और वैदेशिक शान्ति रही। वैदेशिक नीति में कोई उग्रता नहीं दिखाई गई और न साम्राज्य बढ़ाने के ख़तरनाक काम ही किये गये। आस-पास के मुल्कों से दोस्ती थी, सिर्फ़ उत्तर में ख़ानाबदोश तातारियों से कुछ ख़तरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के बराबर था, जो बुद्धिमान, सभ्य, प्रिय था और जिसे अपनी श्रेष्ठता का मान था, पर जो सब छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। दूसरे देश उसकी तरफ़ आशा और आदर से देखते थे। कुछ ज़माने तक जापान ने भी चीन का प्रभुत्व माना और शोगन, जो जापान पर शासन करता था, अपने को मिंग सम्राटों के मातहत मानता था। कोरिया और इण्डोनेशियन द्वीपों से, जैसे सुमात्रा, जावा वग़ैरा से और हिन्दी-चीन से, ख़िराज आता था।

युग-लो के राज-काल में ही एडमिरल यानी जलसेनापति चेग-हो की मातहती में वह बड़ा सैनिक बेड़ा मलेशिया गया था। तीस वर्ष तक चेग-हो सारे पूर्वी समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया। यह द्वीप-राज्यों को डराने की साम्राज्यवादी कोशिश मालूम पड़ती है। ज़ाहिरा तौर से विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नहीं था। स्याम और मज्जापहित की बढ़ती हुई ताक़त की वजह से शायद युग-लो ने यह बेड़ा भेजा हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस बेड़े से बहुत बड़े नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया, मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ाया और चीनी संस्कृति को सब जगह पूर्व और इण्डोनेशिया भर में फैला दिया।

चूंकि चीन और पड़ोसी देशों में दोस्ती थी, घरेलू मामलों पर ज़्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सों को कम करके किसानों का बोझ कम कर दिया गया था। सड़कों, नहरों, जलमार्गों और तालाबों में सुधार किया गया। ख़राब फसल और अकाल के लिए सार्वजनिक खत्तियाँ क़ायम करने का इन्तज़ाम किया गया। सरकार ने नोट चलाया और इस तरह-से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक़्क़ी और माल के विनिमय में मदद पहुँचाई। नोट ख़ूब इस्तेमाल होते थे और ७० फ़ीसदी टैक्स नोट की सूरत में ही दिये जाते थे।

इस ज़माने का सांस्कृतिक इतिहास और भी उल्लेखनीय है। चीनी लोगों की कौम बहुत काल से कला-कुशल और सभ्य कौम रही है। मिंग युग के अच्छे शासन

और कला को प्रोत्साहन देने की वजह से जनता की आत्मा विकसित हो उठी। शानदार इमारते बन गई और मिग युग के चीनी के बर्तन और सुन्दर चित्र अपनी कारीगरी और नफीस काट के लिए मशहूर है। ये चित्र उन चित्रो का मुक़ाबिला करते है जो इन्ही दिनो इटली 'रिनैसाँ' की स्फूर्ति में पैदा कर रहा था।

पन्द्रहवीं सदी के अखीर में चीन दौलत, उद्योग-धधे और सभ्यता में योरप से आगे था। सारे मिग युग में जितना आनन्द और कला-सम्बन्धी प्रवृत्ति चीन के लोगो में थी योरप के किसी देश में नहीं थी, और याद रक्खो कि यह वही जमाना है जब योरप में रिनैसाँ का युग चल रहा था।

कला की दृष्टि से मिग युग के अच्छी तरह से मशहूर होने की एक वजह यह भी है कि उस जमाने के नफीस कामो के अनेक नमूने आज भी मिलते है। उस जमाने की बडी-बडी यादगारे पाई जाती है। लकडी और हाथी-दाँत की खुदाई का काम बहुत ही बढिया है। चीनी बर्तन और पीतल के कलश बहुत बढिया होते थे। मिग युग के अखीर में कला के कामो में विस्तार को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा जिसकी वजह से खुदाई और चित्रो की सुन्दरता कम हो गई।

इसी जमाने में पोर्चुगीज जहाज पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में कैण्टन पहुँचे। अलबुकर्क चीनियो का खास तौर से खयाल रखता था और जिन चीनियो से मिलता था उनसे बडा अच्छा बर्ताव करता था। इसकी वजह से चीन में इन लोगो के बारे में बहुत अच्छी रिपोर्ट पहुँची थी। इसलिए पोर्चुगीज जब चीन पहुँचे तो उनका बडा स्वागत हुआ लेकिन बहुत जल्द उन्होने कई तरह की शरारते शुरू कर दीं और कई जगह पर क़िले बना लिये। चीन की सरकार को इस जगलीपन पर बडा ताज्जुब हुआ। उसने कोई जल्दबाजी नही की लेकिन अखीर में सब को बाहर निकाल दिया। तब पोर्चुगीजो ने समझा कि उनका मामूली तरीक़ा चीन में फायदेमद नहीं हुआ। इसलिए वे ज्यादा शान्त और ठडे हो गये और १५५७ ई० में कैण्टन के नजदीक बसने के लिए इजाज़त लेली। तभी उन्होने 'मकाओ' बसाया।

पोर्चुगीजो के साथ ईसाई उपदेशक या पादरी आये। इनमें से सेट फ्रासिस जेवियर एक बहुत ही मशहूर पादरी था। वह हिन्दुस्तान में बहुत दिनो तक रहा और कितने ही ईसाई कालेज उसके नाम पर अभी तक मिलेगे। वह जापान भी गया था। जमीन पर उतरने की इजाजत मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह में वह मर गया। चीनी लोग ईसाई उपदेशको को प्रोत्साहन नही देते थे। पर दो जेसुयिट पादरियों ने, बौद्ध विद्यार्थी के वेष में अपने को छिपाकर, वर्षों तक चीनी भाषा पढ़ी। वे कनफ्यूशियन धर्म के बडे विद्वान् हो गये और वैज्ञानिक होने की शोहरत

भी उन्हे मिली। इनमें से एक का नाम मैटियो रिक्की था। वह बड़ा काबिल और अद्भुत विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने पक्ष में कर लिया। बाद को उसने अपना असली रूप जाहिर कर दिया। उसकी कोशिश से ईसाई धर्म की चीन में पहले से अच्छी हालत होगई।

डच सत्रहवी सदी के शुरू में 'मकाओ' आये। उन लोगो ने व्यापार करने की इजाजत माँगी लेकिन उनके और पोर्चुगीजो के बीच में बहुत वैमनस्य था और पोर्चुगीजो ने इस बात की बडी कोशिश की कि चीनी डच लोगो के खिलाफ हो जायँ। पोर्चुगीजो ने चीनियो से कहा कि डच बडी खूँखार और जहाजो पर डाका डालने वाली कौम है इसलिए चीनियो ने इजाजत नहीं दी। कुछ दिनो के बाद डचो ने अपने शहर बटाविया से, जो जावा में था, एक बड़ा जंगी जहाजो का बेड़ा मकाओ को भेजा और बेवकूफी से मकाओ पर जबरदस्ती कब्जा करने की कोशिश की लेकिन चीनी और पोर्चुगीज उनसे कहीं ज्यादा मजबूत थे।

डचो के पीछे-पीछे अंग्रेज भी गये लेकिन उनको कोई कामयाबी नहीं हुई। चीन के व्यापार में उनको मिग युग के खतम होने पर मौक़ा मिला है।

मिग युग दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीजो की तरह सत्रहवीं सदी के मध्य में खतम हुआ। तातारियो का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और बढ़ता गया यहाँ तक कि उसका साया चीन पर भी पड़ने लगा। तुम्हे 'किन' या सुनहले तातारियो की याद होगी। उन्होने संगो को भगा दिया था और बाद में वे खुद मंगोलो के जरिये खदेड़ दिये गये थे। इन्ही किन लोगो का भाई-बन्द एक नया कबीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया बसा है, उठ खड़ा हुआ। वे अपने को मंचू कहते थे। इन्हीं मंचू लोगो ने ही अखीर में मिगो से हुकूमत अपने हाथ में ले ली।

लेकिन अगर चीन में दलबन्दी और फूट न होती तो मंचू लोगो को चीन के जीतने में बडी दिक्कते पड़तीं। हरेक देश में, चीन हिन्दुस्तान वगैरा सब जगहो पर, विदेशी हमलो के कामयाब होने की वजह यही रही है कि देश कमजोर था और लोग आपस में ही लड़ते रहते थे। इसी तरह चीन में भी सारे देश में झगडे-फिसाद हुए। शायद बाद के मिग सम्राट नालायक और बेईमान थे या आर्थिक अवस्था ऐसी रही हो कि जिससे सामाजिक क्रान्ति हो जाय। मंचुओ के खिलाफ लड़ना भी बहुत खर्चीला और एक किस्म का बोझ हो गया। सब जगहो पर डाकू नेता पैदा होने लगे। और इनमें जो सबसे बड़ा था वह कुछ दिनो तक सम्राट भी रहा। मिगो का सेनापति, जो मंचुओ के खिलाफ लड़ रहा था, वू-सान-क्वी था। वह इस मुश्किल में फँसा था कि डाकू सम्राट और मचुओ के बीच क्या किया जाय। मूर्खता-वश

और शायद धोखे से उसने डाकुओ के खिलाफ मचुओ से मदद मांगी। मचू लोगो ने खुशी के साथ मदद दी और पेकिंग में रह गये। वू-सान-क्वी ने, यह देखकर कि अब मिगो का पक्ष बिलकुल कमजोर हो गया है, देश का साथ छोड दिया और हमला करने वाले विदेशी मचुओ से मिल गया।

यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि यह वू-सान-क्वी आज तक चीन में नफरत की निगाह से देखा जाता हो और चीनी लोग इसे अपने इतिहास का सबसे बडा विश्वासघाती समझते हो। देश की रक्षा की जिम्मेदारी लेकर फिर वह दुश्मन से मिल गया और दक्षिणी सूबो को गुलाम बनाने के काम में दुश्मनो की अमली तौर पर मदद की। मचुओ ने उसे उन्ही सूबो का वाइसराय बना दिया, जिन्हे जीतने में वू-सान-क्वी ने मदद दी थी और इस तरह से उसकी खिदमतो के लिए उसे इनाम दिया गया।

सन् १६५० में मचुओ ने कैण्टन नगर को भी जीत लिया और चीन की फतेह पूरी होई। शायद वे इसलिए भी जीत गये कि वे चीनियो से बेहतर सिपाही थे। शायद शाति और समृद्धि के लम्बे युग के कारण चीनी लोग सैनिक दृष्टि से कमजोर पड गये थे लेकिन मचुओ की विजय की तेजी के दूसरे कारण भी थे। वे चीनियो को खुश रखने और अपने में मिलाने की पूरी कोशिश करते थे। पुराने जमाने में तातारी लोगो के हमलो के साथ-साथ क़त्लेआम और बेरहमी भी हुआ करती थी पर इस मौक़े पर चीनी अफसरो को मिलाने की सब तरह से कोशिश की गई और इन्हीं अफसरो को ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर नियुक्त किया गया। इस प्रकार चीनी अफसर बडे-बडे पदो पर थे, शासन का पुराना तरीक़ा भी, जो मिगो के जमाने में चलता था, बदला नहीं गया। प्रणाली वही बनी रही सिर्फ ऊपर की हुकूमत में तब्दीली होगई थी।

लेकिन दो बाते खास थीं, जिनसे मालूम होता था कि चीनी लोग विदेशी हुकूमत की मातहती में है। एक तो खास-खास मुक़ामो पर मंचू फौजें रख दीगई थी और दूसरे लम्बी चोटी रखने का मचुओ का रिवाज हरेक चीनी के लिए जरूरी कर दिया गया था जो उनकी गुलामी का निशान था। हम लोगो में से बहुत-से समझते है कि हमेशा से चीनियो में लम्बी चोटी रखने का रिवाज रहा है, लेकिन असल मे यह रिवाज चीनियो में बिलकुल न था। यह गुलामी का वैसा ही एक चिन्ह था जैसे कई चिन्ह बहुत-से हिन्दुस्तानी आज भी इख़्तियार किये हुए है और उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नहीं करते। अब चीनियो ने लम्बी चोटी रखना छोड दिया है।

इस तरह चीन का मिग युग ख़तम हुआ। ताज्जुब होता है कि २०० वर्ष के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेजी से गिर क्यो गया? अगर यह अच्छा शासन था तो बलवे क्यो होते थे और अन्दरूनी झगडे क्यो थे? मंचूरिया से विदेशो के

हमले क्यो नहीं रोके जा सके ? शायद बाद को सरकार ज़ालिम हो गई और यह भी हो सकता है कि ऐसी सरकार जो रिआया को बच्चों की तरह समझे, क़ौम को कमजोर कर देती है। बच्चो के लिए और क़ौम के लिए भी यह अच्छा नहीं होता कि उन्हे हमेशा गोद मे खिलाते रहे।

हर शख्स को यह ताज्जुब हो सकता है कि चीन, जो इस ज़माने में सभ्यता में इतना ऊँचा हो गया था, दूसरी दिशाओ, जैसे विज्ञान खोज, वगैरा में आगे क्यो न बढ़ा ? योरप के लोग उससे बहुत पीछे थे। फिर भी तुम यह देखोगी कि रिनैसा के ज़माने में वे (योरप के लोग) स्फूर्ति, साहस और जिज्ञासा के भाव से भरे थे। इन दोनो का मुकाबिला इस तरह किया जा सकता है कि इनमें एक तो अधेड़ उम्र के सभ्य आदमी की तरह था जो शान्ति का जीवन चाहता हो, नये साहस के कामो में जिसे उत्सुकता न हो और न वह अपने रोज़मर्रा के कार्यक्रम में किसी किस्म का विघ्न पसन्द करता हो, जो कला और प्राचीन पुस्तको के पढ़ने में दिन भर लगा रहता हो और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था जो किसी क़दर अनगढ हो, लेकिन जिसमें जिज्ञासा और स्फूर्ति खूब पाई जाती हो और जो सब जगहो पर साहस की तलाश में रहे। चीन में सौन्दर्य बहुत है लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम के वक्त का शान्त और स्थिर सौन्दर्य है।

: ८९ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३३

चीन से हम जापान जा सकते है और रास्ते में थोडी देर के लिए कोरिया मे ठहर सकते है। मगोलो ने कोरिया में अपना अधिकार जमा रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं हुई। कुबलाई खा ने कई जंगी जहाजी बेडे जापान भेजे लेकिन वे सब भगा दिये गये। मगोलों को समुद्र पर कभी अनुकूलता महसूस नहीं हुई। वे कुदरती तौर पर खुश्की के आदमी थे। टापू होने की वजह से जापान उनकी पकड में आने से बच गया।

मगोलो के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोडे ही दिन बाद कोरिया में एक क्रान्ति हुई और वे शासक जिन्होंने मगोलो की मातहती इख्तियार कर ली थी निकाल दिये गये। इस बगावत का नेता ई-ताई-जो नाम का एक देशभक्त कोरियन था। यह वहीं का नया शासक बनाया गया। उसने एक राजवंश चलाया जो कि ५२०-

वर्षों से ज्यादा वक्त तक यानी १३९२ से हाल तक कायम रहा और उसका खातमा कुछ ही साल पहले हुआ, जब जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। सिओल राजधानी वनाया गया था और वह तबसे आज तक है। हम कोरिया के इन ५०० वर्षों के इतिहास में प्रवेश नहीं कर सकते। कोरिया, या चोसन, जैसा कि यह फिर कहलाने लगा था, क़रीब-करीब स्वतन्त्र मुल्क की हैसियत से बना रहा लेकिन चीन का साया उसपर पडता रहा और वह अक्सर चीन को ख़िराज भी देता था। जापान से कई दफा लडाइयाँ हुई और कई मौक़ो पर कोरिया कामयाब रहा लेकिन आज दोनो का कोई मुकाबिला नही। जापान एक विशाल और ताकतवर साम्राज्य है और साम्राज्यवादी कौमो में जो बुराइया पाई जाती है वे सब उसमें मौजूद है। वेचारा कोरिया इस साम्राज्य का छोटा-सा हिस्सा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते है और जो असहाय-सा पर बहादुरी के साथ अपनी आजादी के लिए लड रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी तक बहुत पुराने जमाने की चर्चा कर रहे थे।

तुम्हे याद होगा कि जापान में, वारहवी सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगन असली शासक हो गया था। सम्राट तो नाम-मात्र के लिए हुआ करता था। पहली शोगनशाही, जिसे 'कामकुरा शोगनशाही' कहते है, करीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश में योग्यता और शान्तिपूर्वक शासन किया। उसके बाद जैसा आम तौर पर होता है, शासक राजवश का पतन शुरू हुआ। इसके साथ-साथ बदइन्तजामी, विलासिता और गृहयुद्ध आये। सम्राट में, जो अपने अधिकारो को काम में लाना चाहता था, और शोगन में झगडे हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और साथ-ही-साथ पुरानी शोगनशाही भी खतम हो गई। १३१८ ई० में शोगनो के एक नये खानदान की शुरू-आत हुई। उसे 'अशीकागा शोगनशाही' कहते है और वह २३५ वर्ष तक चलती रही। लेकिन यह लडाई-झगडो का जमाना था। यह क़रीब-क़रीब वही जमाना था जब चीन में मिग लोग राज कर रहे थे। इस घराने के एक शोगन की यह जबर्दस्त ख्वाहिश थी कि मिगो से दोस्ती करले और वह इस हद तक गया कि उसने मिग सम्राट की मातहती कवूल कर ली। जापानी इतिहास-लेखक जापान के प्रति इस अप-मान पर वहुत नाराज हुए है और उन्होने इस आदमी की खूब लानत-मलामत की है।

चीन के साथ स्वभावत बडी दोस्ती थी और जापान में चीनी सस्कृति के बारे में, जो उस समय मिगो की अध्यक्षता में विकसित हो रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। हरेक चीज का अध्ययन किया जाता था और उसकी तारीफ होती थी; चित्रकला, कविता, गृहनिर्माण शिल्प, फिलासफी, और युद्ध-शास्त्र सभी के बारे

में यही बात थी । इस जमाने में दो मशहूर इमारते बनीं । एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का मण्डप और दूसरी 'जिनकाकूजी' यानी चादी का मण्डप ।

कला की उन्नति और विलासिता के साथ-साथ किसानो को बहुत ज्यादा तकलीफ और मुसीबत थी । उनपर बहुत ज्यादा टैक्स था और गृह-युद्धो का सारा बोझा ज्यादातर उन्हीं बेचारो पर पड़ता था । हालत दिन-ब-दिन खराब होती गई, यहाँतक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया ।

१५४२ ई० में, जब कि ये लडाइयाँ चल रही थीं, पोर्चुगीज़ आये । याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि ये ही लोग जापान में पहले-पहल बन्दूक तथा दूसरे आग्नेयास्त्र (Fire Aims) लाये थे । यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है, क्योकि चीन में बहुत दिन पहले से ये चीज़ें पाई जाती थीं और योरप में चीन से ही मगोलो के जरिये ये चीजें पहले-पहल पहुँची थीं ।

आख़िरकार जापान को इस १०० वर्ष के पुराने घरेलू युद्ध से तीन आदमियो ने बचा लिया । इनमें एक नारबुनागा जो एक 'दाइम्यो' या रईस, दूसरा हिदेयोशी जो एक किसान और तीसरा तोकूगावा आयेयासू जो एक बहुत बड़ा सरदार या रईस था। सोलहवीं सदी के ख़तम होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया था । किसान हिदेयोशी जापान के सबसे क़ाबिल राजनीतिज्ञो में से एक हुआ है । लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—छोटे क़द और चपटे मुँह का बनमानुष-जैसा ।

जापान को एक सूत्र में बाँधने के बाद इन लोगो की समझ में यह बात नहीं आई कि इतनी बडी फौज को लेकर क्या किया जाय । इसलिए कोई दूसरा काम न पाकर उन्होंने कोरिया के ऊपर हमला कर दिया; लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा । कोरिया के लोगो ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और जापान और कोरिया के बीच के समुद्र पर हावी हो गये । यह कामयाबी कोरियावालो को एक नये किस्म के जहाज की वजह से हुई जिसकी छत लोहे की चद्दरो की और कछुये की पीठ की तरह हुआ करती थी । इन जहाजो को 'कच्छप नौका' कहते थे । ये जहाज़ इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे । इन नावो ने जापान के जगी जहाजो को नष्ट कर दिया ।

ऊपर बताये हुए तीसरे आदमी, तोकूगावा आयेयासू ने गृह-युद्ध से बहुत फायदा उठाया । वह बडा मालदार हो गया और जापान के सातवे हिस्से पर इसकी मिल्कियत हो गई । उसीने अपनी रियासत के बीचोबीच यँदो नाम का शहर बसाया । यही शहर बाद को टोकियो हो गया । १६०३ ई० में आयेयासू शोगन बन गया और इस तरह से तीसरी और आख़िरी शोगनशाही शुरू हुई जिसका नाम 'तोकूगावा शोगनशाही' था और जो २५० वर्ष से ज्यादा रही ।

इसी दरमियान पोर्चुगीजो ने अपना व्यापार एक छोटे पैमाने पर जारी रक्खा। करीब ५० वर्षो तक उनका कोई यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी नहीं था क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० में आये और डच और अंग्रेज इसके भी बाद आये। सेंट फ्रांसिस जेवियर ने १५४९ ई० में इस देश में ईसाई धर्म की शुरुआत की। जेसुइट लोगो को प्रचार करने की इजाजत दी गई और उनको प्रोत्साहन भी दिया जाता था। असल में इसकी वजह राजनैतिक थी क्योकि बौद्ध विहार या मठ षड्यन्त्रो के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओ को दबाया जाता था और ईसाई उपदेशको के साथ रिआयत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियो ने यह अनुभव कर लिया कि ये (ईसाई) उपदेशक खतरनाक है। फौरन ही उन्होने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० में ईसाइयो के खिलाफ एक डिग्री यानी राजाज्ञा निकाली गई, जिसमें इस बात का ऐलान किया गया कि जो ईसाई उपदेशक २० दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसको फांसी की सजा दी जायगी। यह डिग्री व्यापारियो के खिलाफ नही थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते और व्यापार कर सकते है लेकिन अगर वे अपने जहाज में किसी मिशनरी को लायेंगे तो जहाज और माल दोनो जब्त कर लिये जायेंगे। यह डिग्री शुद्ध राजनैतिक कारणो से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को सन्देह हो गया था कि खतरा आनेवाला है। उसने समझा कि मुमकिन है ये ईसाई उपदेशक और उनके जरिये ईसाई बने हुए दूसरे लोग राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक हो जायें, और उसका खयाल गलत नहीं था।

थोडे ही दिनो बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यकीन हो गया कि उसका भय सही था और वह बहुत नाराज हो गया। तुम्हे याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियन' जहाज साल में एक दफा फिलीपाइन और स्पेनिश अमेरिका के बीच में आया-जाया करता था। तूफान ने एक दफा इसे बहाकर जापानी किनारे पर पहुंचा दिया। स्पेनिश कप्तान ने स्थानीय जापानियो को दुनिया का नक्शा दिखाकर और उसमें स्पेन के राजा का विस्तृत साम्राज्य बताकर उन्हे डराना चाहा। लोगो ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो मामूली-सी बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ बहुत से ईसाई हो गये तो फौज भेजी गई कि नये ईसाइयो से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। इसकी रिपोर्ट जब हिदेयोशी को पहुँची तो वह बहुत खुश नही हुआ। बल्कि ईसाई मिशनरियो के और भी खिलाफ हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियन' को तो जाने दिया लेकिन कुछ मिशनरियो और नये ईसाई हुए जापानियो को कत्ल करा दिया।

जब आयेयासू शोगन हुआ तो यह विदेशियो से ज्यादा दोस्ती रखने लगा। विदेशी व्यापार की तरक्की करने के में उसे बडी दिलचस्पी थी। ख़ासकर अपने बन्दरगाह येदो से वह विदेशी व्यापार बढ़ाना चाहता था। लेकिन आयेयासू की मृत्यु के बाद ईसाइयो पर अत्याचार फिर शुरू हुआ। मिशनरी लोग जबरदस्ती निकाल दिये गये और जो जापानी ईसाई हो गये थे उनको ईसाई धर्म छोड़नें पर मजबूर किया गया। व्यापार की नीति भी बदल दी गई क्योंकि जापानी लोग विदेशियो की राजनैतिक चालो से बहुत डरे हुए थे। वे किसी भी तरह से विदेशियो को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियो की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते है। हमें यह बात आश्चर्य में डाल देती है कि जापानी लोग इतनी कुशाग्र बुद्धि के थे कि उन्होंने साम्राज्यवाद के भेड़िये को मजहब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया हालांकि उन्हे यूरोपियन लोगों से बहुत कम पाला पड़ा था। बाद के ज़माने में दूसरे देशो में यूरोपियन लोगो ने अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए किस तरह मज़हब से बेजा फ़ायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते है।

और अब इतिहास में एक अजीब चीज़ शुरू हुई। जापान का दरवाज़ा बन्द कर दिया गया। जानबूझ कर अलग रहने की और दूसरो से दूर रहने की नीति इख़्तियार की गई और एक दफा इख़्तियार करने के बाद इस नीति को पूरी-पूरी तरह निभाया गया। अंग्रेज़ों ने यह देखकर कि वहाँ उनका कोई स्वागत नहीं करता, १६२३ ई० में जापान जाना ही बन्द कर दिया। इसके साथ स्पेन के लोगो को, जिनको सबसे ज्यादा ख़ौफनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते है और वे भी फिलीपाइन नहीं जा सकते। आख़िरकार १२ वर्ष बाद, १६३६ ई० में, जापान पर पूरे तौर पर मुहर लग गई। पोर्चुगीज़ भी निकाल दिये गये और सारे जापानी, ईसाई या ग़ैर-ईसाई, किसी भी काम के लिए विदेश जानें से रोक दिये गये। इस कानून के मुताबिक कोई भी जापानी जो विदेश में रहता रहा हो, जापान वापस नहीं था सकता था। आने पर उसे फासी की सजा देने का विधान था। सिर्फ चन्द डच रह गये पर उनको भी सख़्त हुक्म था कि वे बन्दरगाह न छोडें और देश के अन्दर न जायें। १६४१ ई० में ये डच भी वहाँ से हटा कर, एक छोटे से द्वीप नागासाकी बन्दरगाह, में रख दिये गये जहाँ वे बिल्कुल कैदी की तरह रहा करते थे। इस तरह से पहले पोर्चुगीजो के आने के ठीक ९९ वर्ष बाद जापान सारे वैदेशिक सम्पर्क से अलग हो गया और उसने अपने को बंद कर लिया।

१६४० ई० में एक पोर्चुगीज जहाज आया, जिसमें एलची थे और वे व्यापार को फिर से शुरू करने की दरख़्वास्त लेकर आये थे। लेकिन कुछ हुआ नहीं। जापानियो ने एलचियो और जहाज के बहुतेरे मल्लाहो को मार डाला। कुछ मल्लाहो को जिन्दा छोड दिया ताकि वे वापस जाकर ख़बर दे दें।

२०० वर्ष से ज्यादा समय तक जापान ने अपने को दुनिया से बिलकुल अलग रक्खा। वह अपने पडोसी चीन और कोरिया से भी अलग रहा। कुछ डच जो उस द्वीप में रहते थे और थोडे चीनी, जिन पर कडी नजर रहती थी, बस यही बाहरी दुनिया से उनके सम्पर्क के जरिये थे। अपने को इस तरह से अलहदा कर लेना बडी गैर-मामूली बात है। लिखित इतिहास के किसी भी युग में या किसी भी देश में इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं पाया जाता। रहस्यमय तिब्बत और मध्य अफरीका भी अपने पडोसियो से काफी सम्पर्क रखते थे। अपने को अलहदा कर लेना बहुत ख़तरनाक चीज होती है, व्यक्ति के लिए भी और देश के लिए भी। लेकिन जापान इससे जिन्दा निकल आया और उसको आन्तरिक शान्ति मिली। और लम्बी-लम्बी लडाइयो के बुरे असर से वह बच गया। और अख़ीर में जब सन् १८५३ ई० में उसने अपने दरवाजे और अपनी खिड़कियां खोलीं तो उसने गैर-मामूली काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे बढा और जो समय खो चुका था उसकी पूर्ति कर ली। दौड में यूरोपियन कौमो को पकड लिया और उन्हीं के खेल में उन्हे हरा दिया।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और जो शक्ले उस रूप-रेखा के बीच में चलती हुई दिखाई देती है, वे कितनी दुबली-पतली और निर्जीव नजर आती हैं। फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने जमाने की कोई किताब पढते हैं, मुर्दा भूतकाल में भी जान आ जाती है और रंग-मच हमारे नजदीक आजाता है। हम देखते हैं कि रग-मच के ऊपर जीते जागते, ईर्ष्या-द्वेष और प्रेम में भरे स्त्री पुरुष डोलने लगते हैं। मैंने पुराने जापान की एक सुन्दर स्त्री के बारे में एक किताब पढी है। उस स्त्री का नाम मुरासाकी था और वह कई सौ वर्ष पहले हुई थी जबकि ये, गृह-युद्ध जिनका जिक्र हमने आज के ख़त में किया है, नहीं हुए थे। उसने जापान के सम्राट के दरबार में अपनी जिन्दगी का लम्बा-चौड़ा हाल लिखा है। जब मैंने इस बयान का कुछ अश पढा जिसमें उसकी दिलपसंद ज़बान और दरबार की फिजूल और बेकार बातो और अनेक प्रेम-कथाओ का हाल भरा हुआ है, तो यह मुरासाकी, मेरे लिए एक बडी सच्ची चीज़ बन गई और पुराने जापानी दरबार की कलापूर्ण किन्तु सीमित दुनिया की एक साफ-साफ तस्वीर मेरी आखो के सामने आ गई।

: ८२ :

योरप में खलबली

४ अगस्त १९३२

कई दिन होगये, मैंने तुम्हे खत नहीं लिखे; मुझे लिखे हुए करीब दो हफ्ते तो जरूर हो गये होगे। जेल-खाने में भी, बाहरी दुनिया के समान, आदमी की चित्त की हालत (Moods) बदलती रहती है। पिछले दिनो मुझे भी इन पत्रो के प्रति, जिन्हे सिवाय मेरे और दूसरा नहीं देखता-पढ़ता, कोई खास उत्साह नहीं रह गया। ये खत नत्थी करके रख दिये जाते है और उस वक्त तक, शायद महीनो या वर्षो तक, इन्तजार करेंगे, जब तुम उन्हे देख पाओगी। महीनो और बरसो बाद ! जब हम फिर मिलेगे और एक दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुममें कितनी तब्दीली आगई है और तुम कितनी बढ गई हो ? उस वक्त हमें बहुत-सी बातें और काम करने होगे और तुम इन खतो पर बहुत कम ध्यान दोगी। उस वक्त तक इन खतो का ढेर लग जायगा और मेरी जेल की जिन्दगी के सैकडो घण्टे इन खतो को लिखने में लग चुके होगे।

लेकिन फिर भी मै इन खतो को जारी रखूंगा और लिखे हुए खतो के ढेर को बढाता रहूँगा। शायद तुम्हे भी इनमें दिलचस्पी हो, मुझे तो दिलचस्पी है ही।

हम कुछ दिन से एशिया में रह रहे है और हमने हिन्दुस्तान, मलेशिया, चीन और जापान में उसकी कहानी का सिलसिला जारी रखा है। हमने योरप को, ठीक उस वक्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड दिया था। उसमें 'रिनैसा' का आगमन हो चुका था और योरप का पुनर्जन्म हो रहा था; बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था क्योकि सोलहवी सदी में जिस योरप का विकास हो रहा था वह किसी पुराने युग की प्रतिमा नहींथी। यह बिलकुल ही नई चीज थी। अगर पुरानी चीज कहे भी तो यह मानना पडेगा कि उसपर का गिलाफ बिलकुल नया था।

योरप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और चारो ओर से घिरी हुई चीजें एकाएक फूटकर बाहर निकल रही थीं। कई सौ वर्ष तक सामन्त-प्रथा पर बना हुआ एक सामाजिक और आर्थिक ढाँचा सारे योरप में फैला हुआ था और उसने योरप को अपने पजे में दबा रखा था। कुछ दिनो तक इस खोल की वजह से तरक्की रुकी रही लेकिन कई जगहो पर यह खोल फटने लगा। कोलम्बस, वास्को डि गामा और समुद्री रास्तो का पता चलानेवाले दूसरे लोगो ने इस खोल को फाड़ डाला और

अमेरिका और पूर्व के देशो से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की बेशुमार दौलत से योरप की आँखें चकाचौंध हो गई और तब्दीली में तेजी आगई। योरप अपने तग दायरे से बाहर देखने लगा और दुनिया के बारे में विचार करने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बडी-बडी सम्भावनायें सामने खुल गई। मध्यमवर्ग के लोग अधिक ताकतवर होगये और पश्चिम योरप में सामन्त प्रथा दिन-दिन विघ्न साबित होती गई।

सामन्त-प्रथा पुरानी चीज हो चुकी थी। बेरहमी के साथ किसानो का खून चूसना इस प्रणाली का सार था। किसानो से जबरदस्ती बेगार ली जाती थी। तरह-तरह की नजर और नजराने मालिक को देने पडते थे और वह मालिक ही न्यायाधीश यानी इन्साफ करनेवाला भी हुआ करता था। किसानो की मुसीबतें इतनी ज्यादा थीं कि, जैसा कि हमनें देखा है, किसानो के बलवे और किसानो की लडाइयाँ अक्सर हुआ करती थीं। किसानो की ये लड़ाइयाँ फैलने लगीं और अक्सर होने लगीं। योरप के बहुत-से हिस्सो में आर्थिक क्रान्ति हो गई। सामन्तशाही की जगह बुर्जुआ या मध्यमवर्ग के लोग आगये। इस आर्थिक क्रान्ति की कामयाबी की वजह किसानो की बगावत ही थी।

लेकिन यह ख़याल न करना कि ये तब्दीलियाँ फौरन हो गई। इनमें बहुत दिन लगे और पचासों बरस तक ये गृह-युद्ध योरप में जारी रहे। इन लडाइयो की वजह से योरप का बहुत बड़ा हिस्सा वीरान हो गया। सिर्फ किसानो की बगावतें ही नहीं हुई बल्कि, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिक लोगों में मजहबी लड़ाइयाँ भी हुई; आजादी के लिए क़ौमी लड़ाइयाँ भी छिडीं—जैसे निदरलैंड में, और बादशाह के निरकुश अधिकारो के ख़िलाफ 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग के लोगो ने भी बलवे किये। ये सब बातें तुम्हे घपले की और पेचीदा मालूम होती होगी। जरूर ये पेचीदा और घपले की चीजें है लेकिन अगर हम बडी-बडी घटनाओ और आन्दोलनो को नजर में रखें तो कुछ जरूर समझ सकेगे।

पहली याद रखने की बात यह है कि किसान बडी तकलीफ और मुसीबत में थे और इसी वजह से किसानो की लड़ाइयाँ हुई। दूसरी याद रखने की बात यह है कि मध्यमवर्ग पैदा हो गया था और उपज की शक्तिया बढ रही थीं। चीजो के बनाने में ज्यादा मजदूर लगाये जाते थे और व्यापार भी ज्यादा हो गया था। तीसरी बात याद रखने की यह है कि चर्च सबसे बडा जमींदार था। उसका जमींदारी में बहुत बडा स्वार्थ फैला हुआ था इसलिए उसकी यही इच्छा रहती थी कि सामन्तशाही क़ायम रहे। चर्च, किसी किस्म की ऐसी तब्दीली नहीं चाहता था जिससे उसकी जायदाद और दौलत का बहुत बड़ा हिस्सा उनके हाथ से निकल जाय। इस तरह, जब रोम में मजहबी बगावत फैली तो आर्थिक क्रान्ति ने भी उसीका साथ दिया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या इसके बाद, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक, हर तरह की तब्दीलियाँ होने लगीं। अगर तुम सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप पर दूर से और विस्तृत नजर डालो तो तुम्हारी समझ में यह बात आजायगी कि ये सारी प्रवृत्तियाँ, आन्दोलन और तब्दीलियाँ कैसे एक दूसरे के साथ गुथी हुई और मिली-जुली थीं। आमतौर पर इस जमाने की तीन तहरीको पर खास जोर दिया जाता है--'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफार्मेशन' या सुधार और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सब के पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल छिपी हुई थी जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और आर्थिक क्रान्ति ही सारी तब्दीलियो में सबसे महत्वपूर्ण हुई है।

'रिनैसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान, साहित्य और यूरोपियन भाषाओ में तरक्की हुई। 'रिफार्मेशन' यानी सुधार आन्दोलन रोमन चर्च के खिलाफ एक बगावत थी। वह चर्च की बदचलनी के खिलाफ जनता का विद्रोह था। इसके अलावा वह पोप के खिलाफ योरप के राजाओ की बगावत भी थी, जो पोप के इस दावे को मानने से इन्कार कर रहे थे कि वह इन लोगो पर शान जमा सकता है। तीसरे वह चर्च को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। 'रेवोल्यूशन' यानी क्रान्ति, राजाओ पर अकुश रखने के लिए और उनके अधिकारो को सीमित कर देने के वास्ते, बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का एक राजनैतिक संघर्ष था।

इन सब तरीको के पाछे एक दूसरी बात भी छिपी थी—छपाई। तुम्हे याद होगा कि अरबो ने कागज बनाना चीनियो से सीखा था और योरप ने अरबो से सीखा। फिर भी कागज को सस्ता और काफी मात्रा में बनते-बनते बहुत दिन लग गये। पन्द्रवीं सदी के अखीर में योरप के बहुतेरे हिस्सो, हालैंड, इटली, इग्लैंड, हंगरी वगैरा, में किताबें छपने लग गई थीं। ख़याल तो करो कि कागज और छपाई के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग कागज और किताब और छपाई के इतने आदी हो गये है कि इस बात की कल्पना भी मुश्किल है कि इन चीजों के बिना भी दुनिया हो सकती है। छपी हुई किताबों के बगैर ज्यादा आदमियो को सिर्फ लिखना-पढना तक सिखाना भी करीब-करीब नामुमकिन है। पहले किताबो को मेहनत के साथ हाथ से नक़ल करना पड़ता था, फिर भी वे कुछ ही आदमियो के पास पहुँच सकती थीं। पढाई जबानी हुआ करती थी और विद्यार्थी हरेक चीज जबानी याद कर लेते थे। यह बात तुम अभी तक पुराने क़िस्म के मकतबो और पाठशालाओ में पाओगी।

कागज और छपाई के आजानें से बहुत बडी तब्दीली हो गई। छपी हुई स्कूली

और दूसरी किताबें सामने आईं। बहुत जल्दी ही लिखने-पढने वालो की तादाद बढ़ गई। जितना ही लोग पढने लगे, उतना ही ज्यादा सोचने लगे (लेकिन जहाँ तक गम्भीर पुस्तको का सम्बन्ध है वही तक यह बात सही है। आज कल जो बहुत ज्यादा रद्दी किताबें निकल रही है उनके बारे में नहीं) और जितना ज्यादा आदमी सोचता है, उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालात की छान-बीन करता है और उन पर एतराज करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि वर्तमान प्रणाली को लोग चुनौती देने लगते है। अज्ञान तब्दीली से हमेशा डरता है। वह अज्ञात वस्तु से डरता है इसलिए वह अपनी जानी-बूझी लीक पर ही चलना पसद करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यो न हो। वह अपने अन्धेपन में गिरता पडता और लुढकता हुआ, किसी तरह चलता है। लेकिन ठीक तौर से पढने या अध्ययन करने से कुछ ज्ञान हो जाता है और किसी कदर आँखें खुल जाती है।

कागज और छपाई के कारण आँखो के इस प्रकार खुल जाने की वजह से ही इन बडी तहरीको में, जिनका अभी हम जिक्र कर चुके है, बडी मदद मिली। पहले-पहल बाइबिल छपी और बहुत से आदमी, जिन्होंने बाइबिल को सिर्फ लैटिन भाषा में सुना था, अब अपनी ही जबान में पढ सकते थे। इस तरह पढने की वजह से वे हरेक बात के जानने और समझने की कोशिश करने लगे और पादरियो से किसी कदर आजाद हो गये। स्कूल की किताबें भी बहुत बडी तादाद में छपने लगीं। इसके बाद हम योरप की जबानो को तेजी के साथ तरक्की करते देखते है। अभी तक तो लैटिन ने उन्हे दबा रखा था।

इस जमाने में योरप के इतिहास में बहुत बडे-बडे आदमी हुए है। उनसे हमारा बाद में परिचय होगा। हमेशा, जब कभी, किसी देश या महाद्वीप ने अपनी खोल को, जिसकी वजह से उसकी तरक्की रुकी हुई थी, तोड फेंका है तो वह कई दिशाओ में आगे बढ निकला है। इस बात को हम योरप में पाते है और इस युग का यूरोपियन इतिहास सब से ज्यादा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। क्योंकि इसी जमाने में आर्थिक और दूसरी बडी तब्दीलियाँ हुईं। हिन्दुस्तान के या चीन के इसी युग के इतिहास का योरप से मुकाबिला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनो देश उस वक्त योरप से बहुत-सी बातों में आगे थे। फिर भी हम हिन्दुस्तान और चीन के इतिहास में अकर्मण्यता और उसीके मुकाबिले में इस युग के यूरोपियन इतिहास में अद्भुत प्रयत्नशीलता देखते हैं। हिन्दुस्तान और चीन में बडे-बडे आदमी और बडे-बडे महाराजा हुए। सस्कृति का पाया बहुत ऊँचा था लेकिन जनता, खास तौर से हिन्दुस्तान में, बिलकुल अकर्मण्य और निर्जीव हो रही थी। कोई भी राजा हो

उन्हे कोई ऐतराज नही हुआ करता था। इस बात का उनको आदी बना दिया गया था और हुक्म मानने के इतने आदी होगये थे कि हुकूमत का मुकाबिला करना उनके लिए नामुमकिन था। इसलिए उनका इतिहास, कहीं-कहीं दिलचस्पी होते हुए भी, सार्वजनिक आन्दोलनो के इतिहास की जगह शासको और घटनाओ का बयान ही ज्यादा है। मै नहीं कह सकता कि यह बात चीन के बारे में कहाँ तक सही है लेकिन हिन्दुस्तान के लिए तो यह बात कई सौ वर्षो से सही है। इस युग में हिन्दुस्तान में जितनी बुराइयाँ आई, हमारे देश-वासियो की इसी दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था के कारण थी।

हिन्दुस्तान में एक दूसरी प्रवृत्ति यह देखी जाती है कि लोग पीछे देखना चाहते है, आगे नहीं। वे उस ऊँचाई की तरफ देखते है जिस पर कभी वे थे; उस ऊँचाई की तरफ नही, जिस पर उनको आगे पहुँचना है। इस तरह हमारे देशवासी गुजरे हुए जमाने के लिए लम्बी-लम्बी सासें लेते रहे और आगे बढने की बजाय जो कोई भी आया उसका हुक्म मानते रहे। असल में साम्राज्य अपनी ताकत पर उतना नहीं निर्भर करते जितना उन लोगो की गुलाम तबीयत पर, जिनके ऊपर वे हुकूमत करते है।

: ८३ :

'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे योरप में फैल रही थी, रिनैसां या पुनर्जागरण का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की जमीन में उगा। लेकिन अपनी पुष्टि और बाढ के लिए वह सदियो का फासला पारकर पुराने यूनान की तरफ उम्मीद की निगाह से देखता था। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और इस शारीरिक सौन्दर्य में इसने एक नई चीज जोड दी जो ज्यादा गहरी थी। जो मन से पैदा हुई थी और आत्मा से सम्बन्ध रखती थी। यह नागरिक उन्नति थी और उत्तर इटली के शहरो ने इसे आश्रय दिया। फ्लोरेन्स खास तौर से प्रारम्भिक 'रिनैसां' का घर रहा है।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियो में फ्लोरेन्स ने इटैलियन भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेट्रार्क, पैदा किये थे। मध्य काल में यह योरप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहाँ बड़े-बड़े महाजन इकट्ठा होते थे। यह मालदार और रंगी

लोगों का छोटा-सा लोकतन्त्र था, जिनकी वहुत तारीफ नहीं की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषो के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को 'सनकी-फ्लोरेंस' के नाम से पुकारा गया है। लेकिन महाजनो, अत्याचारियों और निरकुश लोगो के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवी सदी के पिछले आधे हिस्से में तीन मशहूर आदमी पैदा किये—ल्यूनार्डो द विसी, माइकेल एजेलो और राफेल। ये तीनो वहुत बडे कलाकार और चित्रकार हुए हैं। ल्यूनार्डो और माइकेल एजेलो, दूसरी बातो में भी महान् थे। माइकेल एजेलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस सगनरमर से विशाल मूर्तियाँ गढकर निकालता था। वह वहुत बडा स्थापत्य शिल्पकार भी था। रोम का सेन्ट पीटर का विशाल गिरजा मुख्यत उसीने निर्माण किया था। उसने वहुत लम्बी, क़रीव ९० वर्ष की, उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक सेन्ट पीटर के गिरजे के वनाने में मेहनत करता रहा। वह दुखिया था और चीजो की गहराई में घुसकर किसी-न-किसी चीज की तलाश किया करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत काम करने की कोशिश करता था। एक दफा उसने कहा था कि "चित्र सर से वनाये जाते है, हाथ से नहीं।"

इन तीनो में उम्र में सबसे बडा ल्यूनार्डो था और कई बातो में सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने जमाने का सबसे अद्भुत आदमी था और याद रखो कि यह वह युग था कि जिसम अनेक महापुरुष हुए। चित्रकार और प्रतिमाकार तो वह था ही, पर साथ ही वह बडा विचारक और वैज्ञानिक भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा चीजो के मूल में धँसने की कोशिश करता था और यह जानने की फिक्र में रहता था कि किसी वात की असली वजह क्या है। वह उन महान् वैज्ञानिकों में से था जिन्होंने शुरू-शुरू में अर्वाचीन विज्ञान की बुनियाद डाली थी। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस वात की कोशिश में रहती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, ख़ुद ही पढा था। ३० वर्ष की उम्र में उसने लैटिन और गणित का अध्ययन ख़ुद ही शुरू किया। वह एक बडा इजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस वात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में ख़ून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदत और छोटी बुद्धि के अनगढ आदमी इस काबिल नहीं कि मनुष्य-शरीर जैसी एक पेचीदा हड्डी-पजर से बनी ख़ूबसूरत मशीन उन्हे दी जाय, उनको तो एक थैला मिलना चाहिए जिससे वे खाना निकाल ले और उसे फिर बाहर करदें क्योंकि वे लोग भोजन की नालियो के सिवा और क्या है?" वह गोश्त नहीं खाता था और जानवरो से बड़ी मुहब्बत करता था। उसकी एक आदत यह थी कि वह

बाज़ार से पिजडे के अन्दर बन्द चिडियो को ख़रीद लेता और फौरन उन्हे छोड़ देता था।

ल्यूनार्डो की कोशिशो में से सबसे अद्‌भुत् कोशिश यह थी कि वह हवा में उड़ना चाहता था। उसे कामयाबी तो नही हुई। लेकिन कामयाबी की तरफ बहुत-दूर तक बढ़ा ज़रूर था। उसके प्रयोगो और सिद्धान्तो पर अमल करने वाला उसके बाद कोई दूसरा नही हुआ। अगर उसके बाद उसी की तरह दो-तीन आदमी और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही बन चुका होता। यह अद्‌भुत और विचित्र आदमी १४५२ से १५१९ ई० तक जिन्दा रहा। कहते हैं कि उसका जीवन क्या था "प्रकृति के साथ वार्तलाप-सा था।" वह हर वक्त सवाल पूछता रहता और प्रयोग करके उसके जवाब मालूम करता रहता था। वह हमेशा आगे बढ़ता जाता था और भविष्य को पकड़ने की कोशिश करता था।

मैंने फ्लोरेंस के इन तीनो आदमियो के बारे में विस्तार से लिख दिया, खासकर ल्यूनार्डो के बारे में क्योंकि मैं उसे बहुत पसन्द करता हूँ। फ्लोरेंस के लोकतंत्र का इतिहास बहुत दिलचस्प या शिक्षाप्रद नही है। उसमें तरह-तरह की बेईमानियाँ और साजिशें होती रहती थीं और वहाँ ज़ालिम और बदमाश शासक पैदा होते रहे। लेकिन फ्लोरेंस बहुत-सी बातो के लिए माफ किया जा सकता है; यहाँतक कि महाजनो के लिए भी उसे माफी मिल सकती है क्योंकि उसने अनेक महापुरुष पैदा किये। इन सुपुत्रो का साया अभी तक फ्लोरेंस पर है और जिस वक़्त कोई इस खूबसूरत शहर की सड़को पर होकर गुजरता है और मध्यकालीन पुलो के नीचे से मनोहर आर्नो को बहते हुए देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा हुआ ज़माना साफ-साफ और जिन्दा होकर सामने आ जाता है। कहीं दान्ते आँखों के सामने से गुजरता है और कहीं बीएट्रिस, जिससे वह मुहब्बत करता था, सामने से गुजरती है और अपने पीछे एक हल्की खुशबू उड़ाती हुई चली जाती है। ल्यूनार्डो भी तग गलियो में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचार में निमग्न और जीवन और कुदरत के रहस्यो की तलाश में डूबा हुआ।

इस प्रकार रिनैसा इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिमी देशो को फैल गया। बडे-बडे कलाकारो ने पत्थर और कनवैस में जान डालने की कोशिश की और योरप के अजायबख़ाने और चित्रमंदिर उनकी बनाई हुई तस्वीरो और मूर्तियो से भरे हुए हैं। सोलहवीं सदी के आख़ीर में इटली में कला में होनेवाली जागृति गिरने और ख़तम होने लगी। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड में बडे-बडे चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैम ब्रैण्ड सबसे मशहूर है। स्पेन में इसी समय

वेलेस्क्वीज़ नाम का चित्रकार हुआ। लेकिन अब मैं तुम्हारे सामने ज्यादा नाम न रक्खूँगा। उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। अगर तुमको महान् चित्रकारो में दिलचस्पी हो तो चित्रालयो में जाकर उनकी बनाई हुई तस्वीरो को देखो। उनके नाम से कोई खास मतलब नहीं। हमें उनका सन्देश तो उस कला और सौन्दर्य में मिलता है जिसे उन्होने जन्म दिया।

इस ज़माने में, यानी पद्रहवीं से सत्रहवीं सदी के बीच, विज्ञान की भी धीरे-धीरे तरक्की हुई और उसने अपनी जड़ मजबूत कर ली। चर्च से उसे सख्त लड़ाई करनी पडी क्योकि चर्च यह नहीं चाहता था कि लोग विचार और प्रयोग करे। उसके ख़याल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूरज पृथ्वी के चारो तरफ घूमता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जडे हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ कहता, वह काफिर समझा जाता था और उसे मज़हबी अदालत (इनक्वीज़िशन) सज़ा देती थी। फिर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्ड-निवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि ज़मीन सूरज के चारो तरफ घूमती है। इस तरह उसने विश्व के अर्वाचीन सिद्धान्तो की बुनियादी रखी। वह १४७३ से १५४३ ई० तक जिन्दा रहा और किसी वजह से अपने बागी और विधर्मी उसूलो के लिए चर्च के गुस्से से बच गया। उसके वाद जो हुए, उनकी किस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। जोर्डानो ब्रूनो नाम के इटैलियन को १६०० ई० में रोम में चर्च ने इसलिए जिन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर जोर देता था कि दुनिया सूरज के चारो तरफ घूमती है और सितारे खुद भी सूरज है। इसके ज़माने में गैलीलियो भी हुआ जिसने दूरबीन ईजाद की थी। उसे भी चर्च ने धमकी दी लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी बात वापस ले लेना ज्यादा मुनासिब समझा। उसने पादरियो की मण्डली के सामने अपनी गलती और बेवकूफी मान ली और कह दिया कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूरज उसके चारो तरफ घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिनों तक जेल में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के मशहूर वैज्ञानिको में हारवे भी था। उसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि खून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में विज्ञान के सबसे बडे आदमियों में एक शख्स पैदा हुआ जिसका नाम आइज़क न्यूटन था। वह बहुत बड़ा गणितज्ञ था। उसीने 'लॉ ऑफ् ग्रेविटेशन' यानी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता लगाया जिससे उसने यह बताया कि चीजें ज़मीन पर क्यो गिरती हैं। इस तरह उसने कुदरत का एक बडा रहस्य खोज निकाला।

इतनी बात, या इतनी थोडी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस ज़माने में

साहित्य भी आगे बढा। नई भावना ने जो सब जगह फैली हुई थी, यूरोपियन भाषाओ पर भी बहुत असर डाला था। ये जबाने कुछ दिन से मौजूद थी और हमने देखा है कि इटैलियन भाषा ने अच्छे-अच्छे कवि भी पैदा किये थे। इग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लेकिन लैटिन, जो पादरियो और विद्वानो की भाषा थी, इन सब पर हावी थी। ये भाषायें गॅवारू यानी 'वरनाक्यूलर' कहलाती थी। आश्चर्य है, यह शब्द अभी तक कुछ लोग हिन्दुस्तानी जबानो के लिए इस्तेमाल लरते है। इन जबानो में लिखना शान के खिलाफ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज और छपाई ने, इन भाषाओ को प्रोत्साहन दे दिया। इटैलियन भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ्रेंच, अग्रेजी और स्पेनिश और सबसे आख़िर में जर्मन। फ्रास में चन्द नौजवान लेखको ने सोलहवी सदी में इस बात का पक्का इरादा कर लिया कि लैटिन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गॅवारू भाषा' की तरक्की करेगे ताकि अच्छे-से-अच्छे साहित्य की यह उचित माध्यम बन सके।

कुछ दिन हुए, मै इन नौजवान फ्रासीसी लेखको में से एक के—योआकिम दु बेले के—किसी निबन्ध या मजमून का एक उद्धरण पढ रहा था। इस मजमून का नाम है—'La Deffense et Illustration de la Langue Francoyse' (फ्रेंच भाषा का समर्थन और व्याख्या)। मैने इसे पढकर महसूस किया कि हिन्दुस्तान में आज हालत इसके बिलकुल खिलाफ है हालाकि हमारा पक्ष कहीं जोरदार है। फ्रासीसी भाषा आज बडी सुन्दर भाषा हो गई है। इसका साहित्य बहुत बडा है और इसमें बारीक-से-बारीक भाव और अर्थ को जाहिर करने की ताकत आ गई है। लेकिन योआकिम के जमाने में फ्रासीसी उन्नत नही थी। वह दरअसल 'गॅवारू भाषा' थी। लेकिन हमारी जबाने हिन्दी और उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती काफी पुरानी और उन्नत है और इनमें बहुत अच्छा साहित्य पाया जाता है, चाहे यह साहित्य उतनी तरह का न हो जितनी तरह का यूरोपियन जबानो में है। द्रविड भाषायें इनसे भी पुरानी और सम्पन्न है। इसलिए अपनी प्रवृतियो और मनोदशाओ को जाहिर करने के लिए हमारे पास बना बनाया माध्यम मौजूद है। इसलिए यह मुनासिब है कि हम इनके इस्तेमाल के लिए जोर दें और विदेशी भाषा के इस्तेमाल को किसी तरह के ग़रूर की बात न समझें। तुम कहोगी कि मै भी कितना धोखेबाज आदमी हूँ। मै खुद वही करता हूँ जिसके खिलाफ तुम्हे उपदेश देता हूँ! मै ये ख़त अग्रेजी में क्यो लिखता हूँ? इसलिए कि मेरी अपनी शिक्षा दूषित रही है। मै चाहता हूँ कि मै हिन्दी आसानी से

१ चॉसर—अग्रेजी भाषा का आदि कवि। इसकी लिखी 'कैटरबरी टेल्स' बहुत मशहूर है। यह १३४० ई० पैदा हुआ था और १४०० में मरा।

लिख सकूं। लेकिन अब भविष्य में मै ज्यादा कर्तव्यपरायण होने की कोशिश करूँगा।

इस तरह से योरप की भाषाओ ने तरक्क़ी की और उनमें ताक़त पैदा हुई। तरक्क़ी करके ये इतनी अच्छी भाषायें होगईं, जितनी आज हम इन्हे देखते है। इग्लैण्ड में १५६४ से १६१६ तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवी सदी में 'पैरेडाइज़ लास्ट' का रचयिता अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रास में सत्रहवीं सदी में डेस्कार्टे नाम का फिलासफर और मॉलियर नाम के नाटककार हुए। मॉलियर पेरिस के सरकारी थियेटर 'फ्रासीसी प्रहसन मडली' का जन्मदाता था। शेक्सपियर के ही ज़माने में स्पेन का सरवेटीज़ हुआ, जिसने 'डान क्विक्सॉट' नाम की मशहूर किताब लिखी है।

एक दूसरे नाम का भी मै जिक्र करूगा, इसलिए नहीं कि वह महान् है बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। वह मैकियावेली का नाम है, जो फ्लोरेन्स का रहनेवाला था। वह पद्रहवी और सोलहवीं सदी का मामूली राजनीतिज्ञ था लेकिन उसने 'प्रिन्स' (राजा) नाम की एक किताब लिखी जो बहुत मशहूर हुई। इस किताब से उस ज़माने के राजाओ और राजनीतिज्ञो की मानसिक दशा की झलक मिल जाती है। मेकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की जरूरत है, इसलिए नही कि आदमी सदाचारी बने, बल्कि इसलिए कि उनपर हुकूमत की जासके, उनको मस्त रखा जासके। किसी शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़हब का भी समर्थन करे जिसे वह झूठ समझता हो। मैकियावेली ने लिखा है :—
"राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ हैवान और इसान का, शेर और लोमडी का पार्ट कैसे अदा किया जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो । मै इस बात के कहने का दावा करता हूँ कि हमेशा ईमानदार रहना बहुत नुकसानदेह होता है, लेकिन सदाचारी, श्रद्धालु, दयावान का आडम्बर क़ायम रखने में फायदा है। सद्गुणो का दिखावा बनाये रखने से ज्यादा फायदेमद और दूसरी चीज नहीं।"

कितनी बुरी बात है! जितनी ज्यादा बदमाशी करे उतना ही बेहतर वह राजा होगा। जब औसत राजा के मन की योरप में उस वक्त यह हालत थी तो कोई ताज्जुब नहीं कि वहाँ झगडे और फिसाद कायम रहे! लेकिन इतनी दूर जाने की क्या जरूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी कौमें भी मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती है। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, बेईमानी और सिद्धान्तहीनता छिपी रहती है, सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हैवान का ख़ूनी पजा छिपा रहता है।

: ८४ :

'प्रोटेस्टेण्टों' की बग़ावत और किसानों की लड़ाई

८ अगस्त, १९३२

मैं तुमको पन्द्रहवी सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के योरप के बारे में पहले ही कई ख़त लिख चुका हूँ। मध्य युग के गुज़रने, किसानो की मुसीबत, मध्यमवर्ग (बुर्ज़ूआ) के उदय, अमेरिका, और पूर्व तक जाने के समुद्री रास्तो की खोज और योरप में कला, विज्ञान और भाषाओं की तरक़्क़ी के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तस्वीर की रूप-रेखा पूरी करने लिए मुझे इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कुछ कहना बाक़ी है। याद रखो कि मेरे दो आख़िरी ख़त और वह ख़त जो मैं समुद्री रास्तो के बारे में लिख चुका हूँ, यह ख़त जो लिख रहा हूँ और शायद आगे लिखे जानेवाले एक-दो ख़त और, ये सब योरप के इसी ज़माने का बयान करते हैं। हालांकि मैं मुख़्तलिफ तहरीको और कामो के बारे में जुदा-जुदा लिख रहा हूँ लेकिन ये सब बाते कमोबेश, एक ही ज़माने में हुईं और आपस में, एक-दूसरे पर असर भी डालती रहीं

'रिनैसाँ' के ज़माने के पहले से ही रोमन चर्च में गड़गड़ाहट सुनाई दे रही थी। योरप के राजाओ और जनता दोनो ने चर्च के गैरमुनासिब बर्ताव को महसूस करना शुरू कर दिया था, वे ग़ुर्राने और शंका करने लगे थे। तुम्हे याद होगा कि सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप से बहस करने की भी जुर्रत की थी और समाज-बहिष्कार की ज़रा भी परवा न की थी। इस-शंका और नाफरमानी से रोम (पोप) चिढ़ गया और उसने इस नई नास्तिकता को कुचल देने का फैसला कर लिया। इसी मतलब से 'इनक्विज़िशन' जारी किया गया और योरप भर में ये शंका और तर्क करनेवाले, नास्तिक या काफिर करार दिये जाकर और औरतें टोना-टटका की मुजरिम कहकर जलाई गई। प्रेग के जॉन हस को धोखे से जाल में फँसा कर जला दिया गया; इसपर उसके बोहेमिया के अनुयायियो ने बगावत का झण्डा खड़ा किया। रोमन चर्च के ख़िलाफ़ इस बग़ावत की नई भावना—'स्पिरिट'—को 'इनक्विज़िशन' का ख़ौफ और जुल्म भी दबा न सका। वह फैलती ही गई और इसमें शक़ नहीं कि इसके साथ ही किसानो का असन्तोष भी शामिल हो गया, जो चर्च से, उसकी ज़मींदाराना हैसियत में, उनको था। बहुत जगह राजाओ ने भी ख़ुदग़र्ज़ी के ख़ातिर बगावत की इस भावना को बढ़ाया। उनकी ईर्ष्या और लालच से भरी आँखें, चर्च की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। इसी वक़्त किताबो और बाइबिलो की छपाई से भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को मदद मिल गई।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में, जर्मनी में, मार्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के ख़िलाफ इस बगावत का एक बड़ा नेता होने वाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार वह रोम गया और वहाँ चर्च के भ्रष्टाचार और विला-सिता को देखकर उसको बडी नफरत हुई। बहस और झगडा बढता गया, यहाँ तक कि रोमन चर्च के दो टुकडे हो गये और पश्चिमी योरप, राजनैतिक और मज़हबी, दोनो मामलो में दो दलो में बँट गया। पूर्वी योरप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी चर्च इस झगडे से अलग ही रहा। जहाँ तक उसका ताल्लुक़ था वह नये मत की कौन कहे, रोम को भी सच्चे धर्म से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' बगावत शुरू हुई। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन चर्च की ही बहुतेरी बातो के खिलाफ 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता था। तभी से पश्चिमी योरप में ईसाई धर्म के दो खास हिस्से रहे है—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही सम्प्रदायो या उपविभागो में बँट गये है।

चर्च के खिलाफ इस आन्दोलन या तहरीक को 'रिफार्मेशन' कहते है। असल में यह चर्च की निरकुश सत्ता और भ्रष्टाचार के ख़िलाफ एक सार्वजनिक बगावत थी। इसके साथ ही बहुत से राजाओ की यह ख़्वाहिश थी कि पोप का उन पर हुक्म चलाना हमेशा के लिए बन्द हो जाय। वे उनके राजनैतिक मामलो में पोप की दस्तदाजी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था और वह यह कि बहुत-से वफादार चर्चवाले भी चर्च की बुराइयो को दूर करने के लिए अन्दर से कोशिश कर रहे थे।

शायद तुम्हे चर्च के दो सघों—फ्रासिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। जब मर्टिन लूथर की ताकत बढ रही थी, करीब-करीब उसी जमाने में, सोलहवीं सदी में एक नया चर्च-सघ चलाया गया। इस सघ को लोयोला के रहनेवाले इग्ने-शियस नाम के एक स्पेनवासी ने चलाया था। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ जीसस' यानी जीसस का सघ रखा। इसके सदस्य जेसुइट कहलाये। मै पहले इन जेसुइटो के चीन और पूर्व के सफर करने का जिक्र कर चुका हूँ। यह 'जीसस-सघ' एक बडी महत्वपूर्ण जमात थी। रोमन चर्च और पोप की सेवा के लिए ऐसे आदमी तैयार करना इसका उद्देश्य था जो अपना सारा वक्त इस काम (उनकी सेवा) में लगा सके। वह बडी सख्त तालीम देता था और वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बडे ही काबिल और श्रद्धालु सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग चर्च के प्रति इतने श्रद्धालु थे कि वे बिना कोई तर्क या सवाल किये अन्धे की तरह उसका

हुक्म मानते थे और उन्होने अपना सब कुछ उसकी भेंट कर दिया। यदि चर्च को कोई फायदा हो तो वे ख़ुशी से अपनी क़ुरबानी देने को तैयार रहते थे। यहाँ तक कि उनके बारे में यह मशहूर था कि जहाँतक चर्च की सेवा का सवाल है, उनको कोई काम करने में किसी तरह की हिचकिचाहट नही थी। जिस किसी भी काम से चर्च की भलाई हो वह सब उनके ख़याल में मुनासिब था।

ये महत्त्वपूर्ण लोग रोमन चर्च के लिए सबसे बडे मददगार साबित हुए। उन्होने न सिर्फ चर्च का नाम और उसका सदेश दूर-दूर के देशो तक पहुँचाया बल्कि योरप में चर्च की इज्जत और वक़त भी बढ़ा दी। कुछ तो सुधार की अन्दरूनी हलचल की वजह से, और ख़ास तौर से प्रोटेस्टेण्ट बग़ावत के खौफ से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफार्मेशन' ने चर्च को दो हिस्सो में बाँट दिया और साथ ही कुछ दूर तक अन्दर से भी उसे सुधारने में कामयाब हुआ।

ज्यो-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट बगावत बढी, योरप के बहुतेरे राजा-महाराजा एक न एक पक्ष का साथ देने लगे। कुछ ने एक पक्ष लिया, कुछ ने दूसरे का पक्ष लिया। इसमें उनका कोई धार्मिक या मजहबी उद्देश्य नहीं था। इसमें ज्यादातर राजनीति थी और ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने का इरादा था। उस वक्त 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट हैप्सबर्ग ख़ानदान का चार्ल्स पंचम था। अपने दादा और पिता की शादी की वजह से विरासत में उसे एक बडा साम्राज्य मिल गया था जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को), स्पेन, नेपल्स और सिसली, निदरलैण्ड और स्पेनिश अमेरिका शामिल थे। उन दिनो शादी करके दहेज या विरासत के जरिये, अपना साम्राज्य बढाने का तरीक़ा योरप में ख़ूब चल निकला था। इसी वजह से, न कि अपनी किसी काबलियत की वजह से, चार्ल्स आधे से ज्यादा योरप पर राज्य करता था और कुछ वक़्त के लिए तो वह एक बहुत बडा आदमी हो गया था। उसने प्रोटेस्टेण्टो के ख़िलाफ पोप की मदद करने का फैसला किया। 'रिफार्मेशन' का ख़याल ही साम्राज्य के ख़याल से कुछ मेल नहीं खा सकता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओ या जागीरदारो ने प्रोटेस्टेण्टो का साथ दिया और सारे जर्मनी में, रोमन और लूथरन ये, दो दल बन गये। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड गया।

इग्लैण्ड में बार-बार शादियाँ करने वाले बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ प्रोटेस्टेण्टो का, या यो कहो कि खुद अपना, साथ दिया। उसकी आँखें चर्च की सम्पत्ति पर लगी हुई थी, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने गिरजो, मठो और धर्मालयो की सारी कीमती जमीन जब्त कर ली। पोप से सम्बन्ध तोडने का

एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक देकर दूसरी औरत से शादी करना चाहता था।

फ्रास में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मत्री मशहूर कार्डिनल (बडा पादरी) रिशेल्यू था और असली शासक वही था। रिशेल्यू ने फ्रास को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टो का खूब दमन किया। लेकिन राजनीति की जालसाज़ी तो देखो कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टो और प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तो को उत्तेजन दिया। उसका मतलब यह था कि इससे जर्मनी में गृहयुद्ध हो जायँ, वह कमज़ोर हो जाय और वहाँ फूट पड़ जाय। फ्रास और जर्मनी की एक दूसरे के प्रति यह दुश्मनी योरप के इतिहास में बराबर, एक सिलसिले से, शुरू से अत तक चलती गई है।

लूथर एक महान् प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता की मुख़ालफत की। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह धर्म के मामले में सहिष्णु था, वह उतना ही असहिष्णु था जितना पोप, जिससे वह लड रहा था। इस तरह मालूम होता है कि 'रिफ़ार्मेशन' से योरप में कोई मजहबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढग के धर्मान्ध पैदा कर दिये—'प्यूरिटन' (कट्टर—ईसाई धर्म का एक पथ) और कालविनिस्ट। कालविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओ में से एक था। उसमें सगठन करने का काफी माद्दा था और कुछ दिनो तक उसने जेनेवा के शहर पर अपना अधिकार जमा रखा। क्या तुम्हे जेनेवा के पार्क में बना हुआ 'रिफार्मेशन' का वह बड़ा स्मारक याद है, जिसकी दीवारे दूर-दूर तक फैली है और जिसमें कालविन और दूसरे लोगो की मूर्तियाँ है ? कालविन इतना असहिष्णु था कि उसने बहुत से लोगो को सिर्फ इसलिए जलवा दिया था कि वे उमसे सहमत नहीं होते थे और 'फ़्री थिंकर्स' यानी स्वतत्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टो की आम लोगो ने भी खूब मदद की क्योंकि उनमें रोमन चर्च के ख़िलाफ बडा जबर्दस्त असतोष था। जैसा मै तुमसे कह चुका हूँ। किसान लोग बडी मुसीबत में थे और बार-बार दगे होते थे। ये दगे बढकर जर्मनी में किसान-युद्ध की सूरत में तब्दील हो गये। बेचारे ग़रीब किसान उस प्रणाली के ख़िलाफ उठ खडे हुए जो उनको पीस रही थी और बहुत ही मामूली और न्यायोचित अधिकारो की माँग की—यानी यह कि असामी या दास प्रथा (Serfdom) उठा दी जाय और उन्हे मछली मारने और शिकार करने के हक दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हको को मजूर करने से भी इन्कार कर दिया गया और जर्मनी के सामन्तो ने उनको दबाने के काम में सब तरह की बर्बरता का इस्तेमाल किया। और उस

महान् सुधारक, लूथर, का क्या रुख था ? क्या उसने ग़रीब किसानो का साथ दिया और उनकी न्यायोचित माँगो का समर्थन किया ? उसने यह सब कुछ नही किया, वल्कि किसानो की माँग पर कि असामी या दास प्रथा तोड़ दी जाय उसने कहा--"इससे तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य एक ऊपरी दुनियावी राज्य में तब्दील हो जायगा। असंभव ! पृथ्वी पर कोई राज्य लोगो की असमता के बगैर टिक नहीं सकता। कुछ को आजाद, दूसरो को गुलाम, कुछ को शासक, दूसरो को रिआया रहना ही पडेगा।" उसने किसानो को श्राप दिया और बरबाद कर देने का हुक्म दिया। "इसलिए जो लोग भी काबिल हो, उनको (किसानो को) पामाल करदो, उनको सबके सामने खुल्लमखुल्ला या गुप्तरूप से कत्ल करो या छुरा भोक दो और याद रखो कि एक बागी से बढ़कर जहरीला, घृणित और पिशाच कोई नहीं है। तुम उसे जरूर मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उस पर टूट नहीं पडोगे तो वह तुम्हारे और सारे देश पर टूट पडेगा।" एक मजहबी नेता और सुधारक के मुँह से निकलने वाले ये कैसे सुन्दर शब्द है !

इन सब बातो से साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बाते सिर्फ वडे लोगो के लिए थीं, आम लोगो के लिए नहीं। करीब-करीब हरेक युग में आम जनता की जिन्दगी जानवरों से कुछ ज्यादा वेहतर नहीं रही है। लूथर के मुताबिक उनकी यही जिन्दगी जारी रहनी चाहिए क्योकि स्वर्ग या ख़ुदा ने उनके लिए वैसा ही कायदा बना रखा है। रोम के ख़िलाफ प्रोटेस्टेण्ट बग़ावत के बढ़ने और कामयाब होने की एक बडी वजह जनता की बुरी आर्थिक हालत और मुसीबत थी। बगावत ने उसका फायदा उठा लिया लेकिन जब यह ख़याल पैदा हुआ कि कहीं ये किसान बहुत आगे न बढ़ जायँ और अपनी गुलामी से छुटकारा पाने की माँग न कर बैठें (और यह कोई छोटी बात थी !) तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजा और सामन्तो से मिल गये। बेचारी गरीब जनता के दिन अभी दूर थे। नया जमाना, जो क्षितिज पर उदय हो रहा था, 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग के लोगो का जमाना था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो के सघर्षों और लडाइयों के बीच, इस वर्ग को, अनिवार्य रूप से, पर कदम-कदम, उठता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कही भी यह बढता हुआ 'बुर्जुआ' वर्ग काफी शक्तिमान् था, वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टो में भी कई सम्प्रदाय थे। इंग्लैण्ड में बादशाह खुद चर्च का प्रधान—'धर्म का रक्षक' Defender of the Faith—बन गया और वहाँ चर्च अमली तौर पर बिलकुल चर्च नहीं रह गया वल्कि सरकार का एक महकमा हो गया। तब से 'चर्च आफ इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड के चर्च) की वही हालत है।

दूसरे मुल्को, खास तौर से जर्मनी, स्वीजरलैण्ड और निदरलैण्ड, में दूसरे सम्प्रदायो का जोर बढा। कालविन सम्प्रदाय खूब फैला, क्योकि वह 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग के विकास के अनुकूल था। मजहबी मामलो में कालविन भयंकर रूप से असहिष्णु था। नास्तिको पर तरह-तरह के जुल्म किये जाते और उनको जला दिया जाता था और श्रद्धालुओ पर पूरा अनुशासन (पाबन्दी) था। लेकिन व्यापार के मामले में, रोमन शिक्षा के खिलाफ, उसकी शिक्षा बढते हुए उद्योग–धंधो और व्यापार के ज्यादा अनुकूल थी। व्यापार में फायदे की नीति को आशीर्वाद दिया जाता था और साख को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस तरह नये 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग ने पुराने धर्म का नया सस्करण अंगीकार कर लिया और हलके मन से दौलत पैदा करने में लग गया। उन्होने सामन्त सरदारो के खिलाफ अपनी लडाई में आम जनता का उपयोग कर लिया था और अब, जब सरदारो पर उनको फतह मिल चुकी थी, उन्होने जनता की उपेक्षा की या उसकी छाती पर चढ बैठे।

लेकिन अब भी 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग को बहुतेरी मुसीबतो का सामना करना बाक़ी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तो से लडने में शहर के आदमियो और व्यापारियो की मदद की थी। अब सामन्त बिलकुल कमजोर और बेदम हो गये तो बादशाह की ताकत बहुत बढ गई। अब वही स्थिति पर हावी था। उसके और मध्यम वर्गों के बीच का सघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था और आगे आनेवाला था।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बडा लापरवाह हो गया। इन खतो को लिखे हुए मुझे बहुत समय हो गया है। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करने वाला है और न कोई बढावा ही देने वाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड जाता हूँ और दूसरे कामो लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यो ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन खतो के लिखने की जरूरत ही क्यो पडती?

पिछले खतो में मैंने तुम्हे योरप के उस जमाने का हाल लिखा था जबकि यहाँ बडी गडबड़ थी और बडा परिवर्तन हो रहा था। उन खतो में सोलहवीं और

सत्रहवी सदी के महत्वपूर्ण परिवर्त्तनो का जिक्र किया गया था। ये परिवर्त्तन उस आर्थिक क्राति के साथ या बाद में आये जिसने मध्य युग का खात्मा करके बुर्जुआ वर्ग को ऊपर चढाया था। आखिरी खत में मैंने पश्चिमी योरप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फिरको प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथलिक में बँट जाने का जिक्र किया था। इन दोनो फिरको की धार्मिक लड़ाई का खास मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योकि वहाँ दोनो दल करीब-करीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी योरप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस लड़ाई में उलझे हुए थे। लेकिन इग्लैण्ड योरप की इस मजहबी लडाई से अलग था। अपने बादशाह हेनरी के राज्य में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी फिसाद के रोम से अपना सम्बन्ध तोड लिया और अपना निजी चर्च स्थापित कर लिया जो कैथ-लिक और प्रोटेस्टेण्ट चर्चों के बीच का था। हेनरी मजहब की कुछ भी परवाह नही करता था। उसे चर्च की जमींदारियो की जरूरत थी; वह उसनें ले ली। वह दूसरी शादी करना चाहता था सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफार्मेशन का खास नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप के हथकडो से बरी हो गये।

जिस वक्त 'रिनैसाँ' और 'रिफार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उफान योरप के नकशे को बदल रहे थे उस वक्त वहाँ कैसी राजनैतिक घटनायें हो रही थीं ? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो में योरप का नकशा किस तरह का था ? इन दो सौ वर्षों में योरप का नकशा दरअसल बदलता जारहा था। इसलिए हमें सोलहवीं सदी के शुरू के नक़शे पर गौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ बढ रहा था। दक्षिण पश्चिमी कोने में अरब विजेताओ के वशज, मुस्लिम सरासीन लोग, ग्रेनेडा से खदेड़कर बाहर निकाल दिये गये और स्पेन फर्डिनेण्ड तथा आइजाबेला के सम्मिलित शासन में एक ईसाई ताक़त बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयो और मुसलमानो की सदियो की मुठभेड़ ने स्पेन निवा-सियो को अपने कैथलिक मजहब से बडे जोश और कट्टरता के साथ चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में खौफनाक 'इनक्विजिशन' की जड़ जम गई थी। अमे-रिका की खोज के घमड और उससे मिलनेवाली दौलत की वजह से स्पेन योरप की राजनीति में बडा महत्वपूर्ण भाग लेने लगा था।

नकशे पर फिर निगाह दौडाओ। इग्लैंड और फ्रास लगभग वैसे ही थे जैसे कि वे आज हैं। नक़शे के बीच में एक साम्राज्य था जो बहुत-सी जर्मन रियासतो में बँटा हुआ था, इनमें से हरेक करीब-करीब स्वतंत्र था। राजाओं, ड्यूको, पादरियो, निर्वाचको वग़ैरा की मातहत छोटी-छोटी रियासतो का यह एक अजीब झुण्ड था।

इसमें ख़ास इख़्तियारात वाले कुछ नगर भी थे और उत्तर के व्यापारिक नगरो ने मिलकर एक सघ भी बना लिया था। इसके बाद स्वीजरलैंड का प्रजातन्त्र था जो असल में स्वतत्र था लेकिन अभी तक जाहिरा तौर से स्वतन्त्र माना नहीं गया था। वेनिस का प्रजातन्त्र और उत्तर इटली के और भी कई प्रजातन्त्र नगर थे। रोम कें चारों ओर पोप की जमींदारी थी, जो 'पैपल स्टेट्स' कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में पोलैंड और हंगरी का बडा राज्य था जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड रही थी। पूर्व में 'सुनहले फ़िरक़े' मगोलो के चगुल से निकलकर एक शक्ति-शाली राज्य बन रहे थे। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवीं सदी के शुरू में योरप की यह हालत थी। ई० सन् १५२० में चार्ल्स पचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग ख़ानदान का था और जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसिली के राज्य और निदरलैंड की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियो की वजह से योरप के बहुत से देशो और राष्ट्रो के स्वामी ही बदल गये। करोडो जनता और बडे-बडे देश विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेज में दिये गये। बम्बई का टापू इसी तरह इग्लैंड के एक बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी स्त्री ब्रैगेंजा (पुर्तगाल)की कैथ-राइन के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पचम इसका अधिकारी हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और खासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक्त तो अपने बडे साम्राज्य के कारण वह योरप में बडा जब-रदस्त जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके जमाने में यह साम्राज्य पूर्वी योरप की ओर ख़ूब बढ़ा। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाजो तक पहुँच गये मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में जरा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आगया और उसने सुलेमान को कर के रूप में धन देकर उससे पिंड छुडाना ही ठीक समझा।

पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुल्तान को कर देना जरा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का ख़िताब अपने आप ले लिया क्योंकि वह अपने आपको पूर्व बिज़ेण्टाइन सीजरो का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में कुस्तुन्तुनिया में इमारते बनाने का काम बडे जोरो से हुआ।

बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गई। इटली में कलाओ का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नजर आरहा था। कलाओ की यह जागृति सिर्फ कुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के खुरासान में भी बडे सुन्दर चित्र बनाये जारहे थे।

हम देख चुके है कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर हिन्दुस्तान में एक नया राजघराना कायम किया। यह ई० सन् १५५६ की बात है, जब चार्ल्स पचम योरप में सम्राट था और सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर और उसके योग्य वारिसो के बारे में हमें अभी बहुत-कुछ कहना है। यहा तो सिर्फ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर खुद 'रिनेसा' के राजाओ के ढग का राजा था। लेकिन वह उस वक्त के यूरोपियन नमूनो से कही अच्छा था। वह एक खतरनाक कामो में दिलचस्पी लेनेवाला बहादुर सूरमा था, जिसे साहित्य और कला से बड़ा प्रेम था। उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो साहसी और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके राजदरबारो में ऊपरी तडक-भड़क और शान-शौकत भी थी। फ्लोरेंस का मेडीसी और बोर्जिया खानदान मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा लोग, और उस वक्त योरप के भी ज्यादातर राजा, मैकियावैली के सच्चे अनुयायी थे। ये धर्म-अधर्म का विचार न करनेवाले, साजिश करनेवाले और स्वेच्छाचारी थे और अपने विरोधियो का काम तमाम करने के लिए जहर का प्याला और कातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। सूरमा बाबर की इस गिरोह से तुलना करना वैसे ही अनुचित है, जैसे इनके टुच्चे राजदरबारो की दिल्ली या आगरे के मुग़ल सम्राटो—अकबर, शाहजहा वगैरा—के दरबार से तुलना करना ख़याल से बाहर की बात है। कहा जाता है कि ये मुगल दरबार बडे शानदार थे और शायद इनके जैसी शान-शौक़त और तडक-भड़क के दरबार कभी रहे ही नहीं।

योरप का जिक्र करते-करते, हम, अनजाने ही, हिन्दुस्तान की बातो को ले बैठे। लेकिन मै तुम्हे यह बतलाना चाहता था कि योरप के 'रिनेसाँ' के समय हिन्दुस्तान और दूसरे देशो में क्या हो रहा था? उस समय तुर्की, ईरान, मध्य-एशिया और हिन्दुस्तान में भी कला सम्बन्धी जागृति हो रही थी। चीन में मिंग राजाओ का शान्तिमय और सुखमय जमाना था जब कि कला और कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुकी थी। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह प्रजा की कला न थी। इटली में कुछ मुख्य-मुख्य कलाकारो के मरने के बाद, जिनमें से कइयो के नाम मै लिख चुका हूँ, पिछले रिनेसाँ-युग की कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का योरप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच में बँटा हुआ था। उस वक्त राजाओं की गिनती थी, रैयत की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ्रांस, और स्पेन कैथलिक थे, जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था, इंग्लैंड सिर्फ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था कि उसके बादशाह की ऐसी मर्जी थी, और चूंकि इंग्लैंड प्रोटेस्टेण्ट था इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की काफी वजह थी, क्योंकि इंग्लैंड उसे जीतने और तंग करने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मजहब किसी गिनती में ही न था। अन्त में जाकर जनता के मजहब का भी असर पड़ता था और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुई हैं। मजहबी पहलू को राजनैतिक या आर्थिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे ख़याल से, मैं तुम्हें पहले यह बतला चुका हूँ कि रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों की बग़ावत ख़ास तौर पर वहीं हुई जहाँ नया व्यापारी-वर्ग जोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि धर्म और व्यापार के बीच सम्बन्ध था। इसी तरह बहुतसे राजा लोग धार्मिक सुधार-आन्दोलन से इसलिए डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में ग़दर न फैल जाय और उनका अधिकार न छिन जाय। अगर कोई आदमी पोप के धार्मिक शासन को नामंजूर करने के लिए तैयार हो जाता, तो क्या उसके लिए यह मुमकिन न होता कि वह बादशाह या राजा के राजनैतिक शासन को भी न माने? बादशाहों के लिए यह नियम बड़ा खतरनाक था। वे अभीतक यही मानते थे कि उनको राज्य करने का अधिकार परमात्मा की तरफ से मिला हुआ है। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इस विचार को छोड़ने के लिए तैयार न थे।

इस तरह, बावजूद रिफार्मेशन के, योरप में बादशाहों का बोलबाला था और वे सर्वशक्तिमान थे। पहले कभी वे इतने स्वेच्छाचारी न थे, क्योंकि बड़े-बड़े माण्डलिक सरदार और सामन्त उनपर दबाव डालते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यम वर्ग के लोग इन माण्डलिक सरदारों से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसंद करता था। इसलिए व्यापारी और कृषक-वर्ग की मदद से बादशाह ने सरदारों को दबा दिया और खुद बहुत शक्तिशाली बन बैठा। हालांकि मध्यम-वर्ग ने अपनी ताकत और अपना महत्व बहुत बढ़ा लिया था, मगर अभी वह इतना ताक़तवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दख़ल देसके। लेकिन थोड़े ही अर्से के बाद मध्यम-वर्ग बादशाह के बहुत से कामों का विरोध करने लगा। ख़ासकर उसने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करों का और धर्म के मामलों में दख़ल देने का विरोध किया। बादशाह को

ये बातें बिल्कुल अच्छी न लगी। वह इस बात से बहुत चिढ़ा कि इन लोगो ने उसके किसी भी काम का विरोध करने की हिम्मत की। इसलिए उसने इनको जेल में ठूंस दिया और दूसरी सजायें भी दीं। उन दिनो कैद की सजा बादशाह की मर्जी पर निर्भर होती थी, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान में है, क्योकि हम अंग्रेज सरकार के आगे सर झुकाने से इन्कार करते है। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध बढ़ने लगा। बादशाहो की तानाशाही को दबाने के लिए उनके खिलाफ मध्यम-वर्ग की यह लडाई सदियो तक चलती रही और इसे खत्म हुए ज्यादा अर्सा नहीं हुआ। कई बादशाहो के सर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहो के दैवी अधिकार का ख़याल हमेशा के लिए खत्म हो गया और बादशाह अपनी असली जगह पर पहुंचा दिये गये। कुछ देशो में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रो में हम इस लडाई के उतार-चढाव का जिक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी में योरप में करीब-करीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं बल्कि करीब-करीब। तुम्हे याद होगा कि स्वीजरलैण्ड के गरीब पहाडी किसानो ने हैप्सबर्ग के बादशाह का मुकाबिला करने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आजादी हासिल करली थी। इस तरह मनमानी तानाशाही के यूरोपियन समुद्र में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा कृषक प्रजातन्त्र राज्य एक टापू के समान था जिसमें बादशाहो के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता और धर्म की आजादी की लडाई लडी जाकर फतह हासिल करली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लडाई बडी जबरदस्त थी, क्योकि यह उस जमाने में योरप की सबसे जबरदस्त शक्ति—स्पेन—के ख़िलाफ लडी गई थी। इस तरह निदरलैण्ड ने योरप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इग्लैण्ड में भी जनता की आजादी के लिए एक लडाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा और उस वक्त की पार्लमेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड और इग्लैण्ड ने तानाशाही के खिलाफ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे कदम बढाया और चूंकि इन मुल्को में मध्यमवर्ग की जीत हुई इसलिए नई परिस्थितियो का फायदा उठाकर ये और देशों से आगे बढ़ गये। दोनो ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जहाजी बेडे बनाये; दोनो ने दूर-दूर देशो से व्यापार कायम किया और दोनो ने एशिया में साम्राज्य की नींव रक्खी।

इन पत्रो में अभीतक हमने इग्लैण्ड के बारे में ज्यादा नहीं लिखा है।

लिखने के लिए कुछ था भी नहीं; क्योंकि इग्लैण्ड योरप का कोई महत्त्वपूर्ण देश नहीं था। लेकिन अब एक तब्दीली आती है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा, इग्लैंड बडी तेजी के साथ आगे बढता है। हम 'मैग्नाचार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत, किसानो में असतोष और शाही खानदानो के आपसी झगडो का जिक्र कर चुके है। इन लडाइयो में बादशाहो के हाथ से खून और हत्यायें आमतौर पर हुई। माण्डलिक सरदारो और सामन्तों की एक बहुत बडी सख्या लडाइयो में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। उन्होने तानाशाही का खूब अभिनय किया। आठवां हेनरी टच्यूडर था और उसकी लडकी एलिजावेथ भी टच्यूडर थी।

सम्राट पचम चार्ल्स के बाद साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड उसके पुत्र द्वितीय फिलिप के हिस्से में आये। उस वक्त सबसे ताकतवर बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे योरप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हे याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्जे में थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके पास चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टे और पिजारो की जन्मभूमि होकर भी स्पेन नई परिस्थितियो से फायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवा थी तो ऐसे धर्म की जो बडा ही कट्टर और बेरहम था। सारे देश में इनक्विजिशन की तूती बोलती थी और काफिर कहे जानेवालो को दिल दहलानेवाली तकलीफें दी जाती थीं। समय-समय पर बडे आम जलसे किये जाते थे और इन 'काफिर' स्त्री-पुरुषो के झुड-के-झुड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतो और हजारो मनुष्यो के सामने बडी-बडी चिताओ पर जिन्दा जला दिये जाते थे। सबके सामने जिन्दा जलाने के काम को धार्मिक कार्य कहा जाता था। इस तरह की बाते आज कितनी खौफनाक और खूख्वार मालूम पडती हैं। पर इस जमाने का योरप का इतिहास हिंसा, खूंख्वारी, वहशियाना बेरहमी और मजहबी कठमुल्लेपन से इस कदर भरा हुआ है कि उसपर यकीन करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनो तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की बहादुरी ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, सन् १५८८ ई० में, इग्लैंड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फौजो को ले जानेवाला 'अजेय आर्मेडा' इग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योकि 'आर्मेडा' का कमाण्डर समुद्र या जहाजो के बारे में कुछ न जानता था। दरअसल उसने बादशाह फिलिप द्वितीय के पास जाकर यह प्रार्थना भी की थी कि उसे इस काम का भार न सौंपा जाय क्योकि उसे समुद्री लडाई के बारे में कुछ भी जानकारी न थी और वह अच्छा

नाविक भी न था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के जहाजी बेडे का संचालन तो खुद ईसा मसीह करेंगे।

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य गायब होता गया। चार्ल्स पचम के जमाने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूरज अस्त नहीं होता। यही कहावत आजकल के एक अभिमानी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

: ८९ :

निदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले ख़त मे मैंने तुम्हे बतलाया था कि सोलहवी सदी में क़रीब-करीब सारे योरप में बादशाहो का कितना जोर हो गया था। इग्लैण्ड में ट्यूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सो में स्वेच्छाचारी राजाओ का राज्य था। फ्रास में ख़ासतौर पर ऐसा राजा था जिसकी हुकूमत बिलकुल निजी और मनमानी थी, यानी सारा साम्राज्य बादशाह की क़रीब-करीब व्यक्तिगत जायदाद समझा जाता था। कार्डिनल रिशलू नाम के एक बडे योग्य मत्री ने फ्रास और उसकी बादशाहत को मजबूत बनाने में बडी मदद की। फ्रास का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी ताक़त और हिफाजत जर्मनी की कमजोरी में है। इसलिए रिशलू ने, जो ख़ुद एक कैथलिक पादरी था और फ़्रास में प्रोटेस्टेण्टो को बडी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टो को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लडाई-झगडे और अशान्ति बढे, जिससे वह कमजोर हो जाय। यह नीति कामयाब भी खूब हुई। जैसा कि आगे जिक्र किया जायगा, जर्मनी में बडे जबरदस्त घरेलू झगडे पैदा हो गये, जिन्होंने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ्रांस में भी सत्रहवीं सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्रॉद का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह नें उमरावो और व्यापारियो दोनो को कुचल दिया। उमरावो के हाथ में कुछ ताक़त तो रह ही नही गई थी, लेकिन अपनी तरफ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हे बहुत-सी सहूलियते देदीं। उनको क़रीब-करीब कुछ भी टैक्स न देनें पडते थे। उमराव लोग और पादरी दोनो ही टैक्सो से बरी थे। टैक्सो का सारा बोझ आम जनता और ख़ासकर किसानो पर पडता था। इन ग़रीब

अभागो को चूसकर जो धन इकट्ठा किया जाता था उससे बडे-बडे आलीशान महल बनाये गये और बडे ठाठ-बाट का दरबार बादशाह के नजदीक पैदा हो गया। पेरिस के पास जो वर्साई नगर है उसका तुमको ख़याल होगा। वहांके आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते है, सत्रहवीं सदी में फ्रास के किसानो के खून से बने थे। वर्साई स्वेच्छाचारी और खुदमुख्तार बादशाहत का नमूना समझा जाता था, और इसमें कुछ भी ताज्जुब की बात नहीं कि इसी वर्साई ने फ्रांस की उस राज्य-क्रान्ति की नींव डाली जिसने तमाम बादशाहत का ही खातमा कर दिया। लेकिन उन दिनो राज्य-क्रान्ति फिर भी बहुत दूर थी। उस समय चौदहवां लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और यह वह 'सूरज' था जिसके चारो तरफ दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने ७२ साल के लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज्य किया और उसका प्रधान मत्री मैजारिन नामक एक दूसरा बडा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बडा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौक़त की इस पतली चादर के नीचे बडी गरीबी, तकलीफ और तडप थी। वह जमाना सुन्दर नक़ली बालो और लैस के कफो तथा क़ीमती पोशाको का था, लेकिन जिस शरीर पर ये चीजें पहनी जाती थी उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौक़त और तडक-भडक का बडा असर पडता है, इसलिए अगर अपने शासन-काल में चौदहवे लुई नें योरप पर अपना काफी सिक्का जमा लिया था तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। वह बादशाहो में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान बादशाह' आखिर था क्या? मशहूर अग्रेज-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवे लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा, एक भद्दी दो जडो वाली मूली के, जिसमें अजीब तौर से सिर बना दिया गया हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान भोडा जरूर है, मगर शायद बहुत से लोगों—क्या राजा और क्या प्रजा—पर लागू हो सकता है।

चौदहवे लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० यानी अठारहवीं सदी के शुरू तक ले आता है। इस समय तक योरप के दूसरे मुल्को में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनायें तो हमारे लिए ध्यान देने लायक़ है।

निदरलैंड की स्पेन के खिलाफ बग़ावत का हाल मैं तुमको बतला चुका हूं। उनकी यह बहादुराना लडाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमेरिकन ने आजादी की इस लडाई का मशहूर इतिहास लिखा है, जो बड़ा रोचक और दिलचस्प है। साढ़े तीन सौ वर्ष पहले योरप के इस छोटेसे कोने

में जो कुछ हुआ उसके इस हृदय-स्पर्शी वर्णन से ज्यादा दिलचस्प कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस किताब का नाम 'राइज़ ऑफ दि डच रिपब्लिक' है[1] और मैंने इसे जेल में पढ़ा है। जेल के बाहर शायद ही मुझे इसे पढ़ने का वक्त मिलता। इसके लिए मुझे जेल को कितना धन्यवाद देना चाहिए!

निदरलैण्ड में हालैण्ड और बेल्जियम दोनो शामिल हैं। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में है। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दर-असल नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए बडे-बडे बाँध और और दीवारे बनाई गई हैं। इन्हे 'डाइक' कहते हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ उनको हमेशा समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत और निडर मल्लाह होते हैं और समुद्र-यात्रा करनेवाले अक्सर व्यापार का पेशा करने लगते हैं। इसलिए निदरलैण्ड के निवासी व्यापारी हो गये। वे ऊनी कपडे और दूसरी चीजें तैयार करने लगे और पूर्वी देशो के गरम मसाले भी ले जाने लगे नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और ख़ासकर एण्टवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खडे हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशो से व्यापार बढता गया वैसे-वैसे इन शहरो की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प योरप का व्यापारिक केन्द्र या राजधानी बन गया। कहते हैं कि उसकी मंडी में रोज पाँच हज़ार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदा करते थे, उसके वन्दर में एकसाथ ढाई हज़ार जहाज़ लंगर डाले रहते थे। रोजमर्रा करीब-करीब पाच सौ जहाज़ वहाँ आते-जाते थे। इन्ही व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरो के शासन की वागडोर थी।

यह व्यापारियो की ठीक ऐसी जाति थी जो 'रिफ़ार्मेशन' के नये धार्मिक ख़यालो की ओर झुक सकती थी। यहाँ पर ख़ासकर उत्तरी भागो में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के इत्तफाक से हैप्सबर्ग का पाँचवाँ चार्ल्स और उसके बाद उसका पुत्र दूसरा फिलिप निदरलैण्ड का राजा हुआ। इन दोनो में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या मजहबी आजादी को सहन नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरो के अधिकारियो को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो अपनी बेरहमी और ज़ुल्म के लिए मशहूर हो गया है। 'इनक्विजिशन' कायम हुआ और एक 'ख़ूनी मजलिस' बनाई गई जिसने हज़ारो को जिन्दा जला दिया, या फासी पर लटका दिया।

यह एक बडी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे

१ यह पुस्तक हिन्दी मे 'नरमेध' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुई है। इसकी कीमत १।।) है।

स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उसका मुक़ाबिला करने की ताकत भी लोगो में बढती गई। उनमें प्रिंस विलियम ऑफ ऑरेञ्ज, जो विलियम दि साइलेन्ट (शात विलियम) भी कहलाता है, नामक एक ऐसा बड़ा और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबिला एल्वा का ड्यूक नही कर सकता था। १५६८ ई० में "इनक्विजिशन' ने, कुछ थोडेसे आदमियो के सिवा, निदरलैण्ड के सारे निवासियो को काफिर करार देकर मौत की सज़ा दे दी। यह एक अजीब और इतिहास में लासानी फैसला था, जिसने तीन-चार लाइनो में ही तीस लाख आदमियो को इतना बडा दण्ड दे दिया।

शुरू में तो यह लडाई निदरलैण्ड के अमीरो और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पडी। दूसरे देशो में बादशाह और अमीरो की जो लडाइयाँ चल रही थीं, उन्ही जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरो को ब्रसेल्स में फासी पर चढ़ना पडा। इन फाँसी दिये जानेवालो में से काउण्ट एग्मौट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तगी मलूम पडने लगी तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबो पर असर पडा तो उन लोगो ने बगावत करदी। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टो के बीच भी झगडा चल रहा था।

स्पेन एक बडा ज़बरदस्त राज्य था, जिसे अपने बडप्पन का बडा घमण्ड था, उधर बेचारे निदरलैण्ड में सिर्फ व्यापारियो और बेदम और फिज़ूल-खर्च अमीरो के कुछ सूबे थे। दोनों में कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार क़त्लेआम होते रहते थे, नगरों के तमाम निवासियो को मौत के घाट उतार दिया जाता था। आदमियो को क़त्ल करने के मामले में एल्वा और उसके सेनापति चग़ेज़ खा और तैमूर की बराबरी कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलो से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के युद्ध-कला से अनजान पुरुष और अक्सर औरते भी एल्वा के सैनिको से जल और थल पर तब-तक लडते थे जबतक कि भोजन का अभाव उनके लिए लडाई जारी रखना नामुमकिन न कर देता था। स्पेन की गुलामी इख्तियार करने के बदले अपनी ज़िन्दगी की तमाम कीमती चीज़ो के विनाश को बेहतर समझकर हालैंड-निवासियो ने 'डाइक' तोड डाले, जिससे उत्तरी समुद्र के पानी की बाढ़ स्पेन की फौजो को डुबो दे और उन्हे देश से बाहर निकाल दे। जैसे-जैसे लडाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें कडाई भी आती गई और दोनो पक्ष बहुत ही ज्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना

है। इन लोगो ने आख़िरी दम तक शहर की रक्षा की। लेकिन अन्त वही हुआ—हस्ब-मामूल स्पेन के सैनिको द्वारा क़त्लेआम और लूटपाट। इसी तरह अल्कमार का घेरा भी है, लेकिन यह नगर 'डाइक' तोड़ने से बच गया। और लीडन को जब दुश्मनो ने घेर लिया तो भूख और महामारी से हज़ारो आदमी मर गये। लीडन के पेडो में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा था। लोगो ने सब खा डाले। घरो पर जूठन के टुकडो के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तो तक से छीना-झपटी करते लेकिन फिर भी वे लडे जाते थे और शहर की दीवारो पर से सूखकर कॉटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालो से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेगे लेकिन हार न मानेगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाक़ी न रहेगा तो यक़ीन रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी ज़ालिमो से अपनी औरतो, अपनी आज़ादी और अपने धन की रक्षा करने के लिए बचा रक्खेगा। अगर परमात्मा भी नाराज़ होकर हमें विनाश की गोद में छोड़ दे और सारी आसाइशें हमसे छीन ले तो भी हम तुमको भीतर घुसने से रोकने के लिए हमेशा मुस्तैद रहेगे। जब हमारी आख़िरी घडी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथो से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे सब एकसाथ आग में जलकर मर जायँगे, बजाय इसके कि हम अपने घरो को भ्रष्ट होने और अपने हक़ो को कुचल जाने दें।"

लीडन के निवासियो में ऐसा उत्साह था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से मदद की सूरत नजर नहीं आती थी वैसे ही उनकी मायूसी भी बढ़ती जाती थी। आख़िर उन्होने हालैंड की जागीरो के अपने दोस्तो को सदेश भेजा। इन जागीरो ने यह ज़बरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओ के हाथ में जाने देने से यह बेहतर है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश अच्छा है।" और उन्होने घोर संकट में पडे हुए अपने साथी शहर को यह जवाब भेजा–"ऐ लीडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की वनिस्वत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरो से नष्ट हो जाय।"

आख़िरकार एक के बाद दूसरा 'डाइक' तोड दिया गया और हवा ,की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस गया और उसके साथ हालैंड के जहाज खाना और सहायता लेकर पहुँचे। इस नये दुश्मन समुद्र से डरकर स्पेन के सैनिक जल्दी में भाग खडे हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियो की वीरता की यादगार में सन् १५७५ ई० में लीडन का विश्वविद्यालय कायम किया गया, जो तबसे आज तक मशहूर है।

बहादुरी और खौफनाक कत्ल की ऐसी कितनी ही कहानियाँ है। सुन्दर एण्ट-वर्प में बडा भयकर कत्लेआम और लूटमार हुई जिसमें आठ हजार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन-कोप' (Spanish Fury) कहा जाता था।

लेकिन इस जबरदस्त लडाई में हालैंड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड के बहुत-से अमीरो का अपनी तरफ मिला लेने में कामयाब हो गये और उनके जरिये उन्हींके देशवासियो को कुचलवाया। उनको इस बात से बडी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टो से कैथलिको की तादाद बहुत ज्यादा थी। उन्होने कैथलिको को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे कामयाब भी हो गये। और भला अमीर-उमरा ! यह कहते हुए शर्म लगती है कि इन लोगो में से बहुत-से स्पेन के बादशाह से अपने लिए दौलत और रुतबे हासिल करने की खातिर देश-द्रोह और धोखेबाजी में कितने नीचे गिर गये थे ! भले ही उनके कामो से देश जहन्नुम में चला जाय ! फूट डालकर हुकूमत करने की साम्राज्यो की यह पुरानी नीति है। हमने यहाँ अपने देश में भी इस नीति का पूरी तरह अमल में लाया जाना देखा है। बहुतसे लोग इसके फन्दे में फँस गये है और बहुत-से हिन्दुस्तानियो ने देश को धोखा देने का काम किया है।

निदरलैण्ड की एक आम सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेन्ज ने कहा था—"निदरलैण्ड को कुचलने वाले कुछ निदरलैण्ड के लोग ही है। एल्वा के ड्यूक को जिस ताक़त का घमड है वह अगर तुम्हारी ही—निदरलैण्ड के नगरो की—दी हुई नहीं है, तो कहाँ से आई ? उसके जहाज, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहाँ से आये ? निदरलैण्ड के लोगो के पास से।"

इस तरह, आखिरकार, स्पेन वाले निदरलैण्ड के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए जो आज मोटे तौर पर बेलजियम कहलाता है। लेकिन हरचन्द कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को क़ाबू में न लासके। यहाँ यह बात खास तौर पर ग़ौर करने लायक़ है कि लड़ाई के दौरान में, करीब-करीब उसके खतम होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की मातहती से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके हको को मान लेता। लेकिन आखिरकार उनको उससे सम्बन्ध तोडना ही पडा। उन्होने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, प्रजातत्र बनने के लिए मजबूर किया, हालाकि उस जमाने में राज-परम्परा का बहुत जोर था।

हालैण्ड की यह लड़ाई कितने ही वर्षो तक चली। सन् १६०९ ई० में कही जाकर हालैंड आजाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड में असली लडाई १५६७ से १५८४ ई० तक रही। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम आफ ऑरेञ्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के ज़रिये मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में योरप की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें नाकामयाब हुईं। १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश में कामयाबी हुई, और यह महापुरुष--जो हालैंड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था--मारा गया; लेकिन उसका काम ख़तम हो चुका था। बलिदान और कष्टो की भट्ठी में से निकलकर डच रिपब्लिक (हालैण्ड का प्रजातन्त्र राष्ट्र) तैयार हो गई थी। बेरहम और स्वेच्छाचारी शासको का मुकाबिला करने से हरेक देश और जाति को फायदा पहुँचता है। इससे नसीहत मिलती है और ताकत बढती है। मजबूत और स्वावलम्बी हालैंड बहुत जल्दी एक बडी समुद्री ताकत बन गया और बहुत दूर पूर्व तक उसका साम्राज्य फैल गया। बेलजियम, जो हालैंड से अलग हो गया था, स्पेन के ही कब्ज़े में रहा।

योरप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक जबरदस्त घरेलू झगड़ा रहा, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह लड़ाई कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टो के बीच हुई और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और साम्राट् से भी, लडे, और फ्रास के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टो को शह दी, सिर्फ इसलिए कि यह गड़बडी ज़रा बढ जाय। आख़िरकार स्वीडन का बादशाह गस्टावस अडोलफस—जो 'उत्तर का शेर' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टो को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के गर्ज़ी सैनिक लुटेरे बन गये थे। उन्होने चारो तरफ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक कि फौजो के सेनापति भी सिपाहियो की तनख़्वाह या ख़ूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और ख़याल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! कत्लेआम, सत्यानाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नही हो सकता था, और न खेतीबाडी ही हो सकती थी। इसलिए दिन पर दिन खाने की चीजें कम होती गई और फाकाकशी बढने लगी। और इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढने लगे और लूटमार ज्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के गर्ज़ी सिपाहियो का क्रीडास्थल बन गया।

आख़िरकार यह लड़ाई ख़तम हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी

बाकी न रहा। लेकिन जर्मनी को यह नुकसान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक्त लगा। १६४८ ई० में 'वेस्टफैलिया' की सुलह के जरिये इस घरेलू लडाई का खातमा हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् एक परछाई-भर रह गया और उसमें कुछ भी ताक़त न रही। फ्रास ने एक बडा टुकड़ा, आल्सस, ले लिया, जिसपर दो सौ वर्ष से अधिक उसका क़ब्जा रहा। बाद में उसे यह टुकडा फिर से उठे हुए जर्मनी को लौटाना पडा। लेकिन १९१४–१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ्रास ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सुलह से फ्रास को फायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी ताक़त पैदा होगई, जो आगे चलकर फ्रास के रास्ते का कॉटा बन गई। यह प्रशिया था, जिसपर 'हॉयनज़ॉलर्न' का घराना राज्य करता था।

वेस्टफैलिया की सुलह ने, आख़िरकार, स्वीजलैण्ड और हालैण्ड के प्रजातन्त्रो को मान लिया।

मैने तुमको कैसी लडाइयो, हत्याओ, लूटमार और मजहबी कट्टरपन की कहानी सुनाई है। लेकिन यही उस रिनेसा के बाद का योरप था, जिसमें कला और साहित्य ने इतनी तरक्क़ी की थी। मैने योरप का मुकाबिला एशिया के देशो से किया है और उस नई जिन्दगी का जिक्र किया है जो उस वक्त योरप में हिलोरे मार रही थी। इस नई जिन्दगी को कोई भी मुसीबतो के बीच आगे बढते हुए देख सकता है। नये बालक और नये युग का जन्म बडी तकलीफो के साथ हुआ करता है। जब जड में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर समाज और राजनीति दोनो डावाडोल होने लगते है। योरप की यह नई जिन्दगी बिलकुल स्पष्ट है। लेकिन इसके चारो ओर कितना जगली आचरण है! उस जमाने का यह उसूल था—"झूठ बोलने की विद्या ही राज्य की विद्या है।" उस वक्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियो और साज़िशो, हत्या और अत्याचार से भरा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक्त इंग्लैंड के इतिहास को देंगे। अभीतक हमने ज्यादातर इसे दरगुजर किया है क्योंकि मध्यकालीन युग में वहाँ कोई ऐसी ख़ास बात नहीं

हुई । यह देश फ़ास और इटली से भी पिछड़ा हुआ था । हाँ, ऑक्सफर्ड-विश्व-विद्यालय बहुत पहले एक विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज की भी शोहरत होगई । वाइक्लिफ, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ, ऑक्सफर्ड की ही देन था ।

इंग्लैंड के प्रारंभिक इतिहास में खास दिलचस्पी की चीज़ पार्लमेण्ट का विकास है । शुरू से ही अमीर-उमरा की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारो को महदूद कर दिया जाय । १२१५ ई० में मैग्नाचार्टा बना । इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है । शुरू-शुरू की ये बाते अधकचरी-सी थीं । उस वक्त जो बडे-बडे अमीर-उमरा और पादरी थे वही बढ़ते-बढते हाउस ऑफ लार्ड्स (लार्डसभा) के रूप में सगठित हो गये । लेकिन आख़िरकार सबसे महत्व-पूर्ण जो चीज़ बनी वह थी एक चुनी हुई कौंसिल, जिसमें नाइट लोग, छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरो के कुछ नुमाइन्दे शामिल थे । यही चुनी हुई कौंसिल बढ़कर आगे "हाउस ऑफ कॉमन्स" (कॉमन्स सभा) की शक्ल में तब्दील हो गई । ये दोनो कौंसिले या सभायें ज़मींदारो और धनवान लोगो की थीं । कॉमन्स सभा के लोग भी कुछ दौलतमन्द ज़मींदारो और व्यापारियो के नुमाइन्दे थे ।

कॉमन्स सभा के हाथ में कुछ भी ताकत नहीं थी । वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियां भेजते थे और लोगो की शिकायते पेश करते थे । धीरे-धीरे वे टैक्सो के मामले में भी दख़ल देने लगे । उनकी मर्जी के बिना नये टैक्सो का जारी करना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंजूरी लेनें का रिवाज शुरू कर दिया । आमदनी पर अधिकार हमेशा एक बडी ताकत होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और ख़ास कर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे यह अधिकार बढ़ता गया वैसे ही वैसे उसकी ताक़त और उसकी शान भी बढ़ती गई । अक्सर कॉमन्स सभा और बादशाह में मतभेद होने लगे । लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक कमज़ोर चीज थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, करीब-करीब स्वेच्छाचारी राजा थे । लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना बचा जाते थे ।

इंग्लैंड योरप की खौफनाक मजहबी लड़ाइयो से बचा रहा । मजहबी झगडो, दगे-फिसादो और कट्टरपन की बहुत ज्यादती रही, और औरतो की एक बडी तादाद जिन्दा जला दी गई, क्योंकि उन्हें जादूगरनियाँ समझा गया था । लेकिन योरप के मुकाबिले में इंग्लैंड में फिर भी, शान्ति रही । आठवे हैनरी के राज्यकाल में यह समझा जाने लगा कि इंग्लैंड ने प्रोटेस्टेण्ट मत को मान लिया है । देश में बहुत-से कैथलिक

जरूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ इग्लैड' कुछ-कुछ इन दोनो के बीच का था, और हालाकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था जिसका हाकिम खुद बादशाह था। हाँ, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'एन्टी-पोपरी' (पोप-विरोधी) दगे हुए। रानी एलिजाबेथ (यह आठवे हैनरी की लडकी थी) के वक्त में पूर्वी देशो और अमेरिका के जो नये समुद्री रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुजाइशें हुईं उन्होने बहुत-से लोगों को अपनी तरफ खींचा। स्पेन और पुर्तगाल के जहाजियो की कामयाबी से खिचकर और दौलत मिलने के लालच से इग्लैड ने भी समुद्र का रास्ता पकडा। सर फ्रासिस ड्रेक वगैरा शुरू में समुद्री डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाजो को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए जबरदस्त यात्रा की। सर वाल्टर रैले नें एटलाटिक समुद्र को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर उपनिवेश या बस्तियाँ बसाने की कोशिश की जिसे आज युनाइटेड स्टेट्स या सयुक्त राष्ट्र, अमेरिका कहते है। वर्जिन (अविवाहित) रानी एलिजाबेथ की तारीफ में इसे वर्जिनिया नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज योरप में लाया। इसके बाद स्पेनिश आर्मेडा आया और इस घमड-भरे हौसले के पूरी तौर पर नाकामयाब हो जाने से इग्लैड को बहुत-कुछ उत्साह मिला। इन बातो का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगडे से कोई ताल्लुक़ नहीं है, सिवा इसके कि लोगो का ध्यान इन बातो में लग गया और देश से बाहर के मामलो की तरफ बॅट गया। लेकिन ट्यूडरो के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिजाबेथ का जमाना इग्लैड के सबसे अच्छे जमानो में से है। एलिजाबेथ एक महान् रानी थी और उसके वक्त में इग्लैड में बहुत-से बडे-बडे काम करनेवाले पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी सूरमाओ से भी बढकर थे इस पीढी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे भी ऊपर है। इसके नाटक सारी दुनिया में मशहूर है, हालांकि निजी तौर पर इसके बारे में हम बहुत कम जानते है। यह उन लेखको के उस चमकनेवाले समूह में से एक था जिसने अग्रेजी भाषा के भडार को बेशुमार बेशक़ीमत हीरों से भर दिया है, जो हमारे दिल की कली को खिला देते है। एलिजाबेथ के जमाने की छोटी-छोटी गीत-कविताओ में भी एक विशेष रस है जो औरो में नहीं पाया जाता। ये बडी सीधी और मीठी ज़बानो में बडे मजे के साथ गाई जाती है और रोजमर्रा की बाते एक

निराले ही ढग से बयान करती है। इस जमाने का जिक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज समालोचक हमको बतलाता है कि "एलिजाबेथ-काल के इन महान् व्यक्तियो की ऊँची और सुन्दर भावना ने इंग्लैंड को एक ही पीढी में जादू के जैसी नाटको की ऐसी गौरव से भरी विरासत भेंट की है जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत मे अकबर महान् की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० में, एलिजाबेथ की मौत हुई। उसके बाद स्कॉटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योकि वारिसो में वही सबसे नजदीकी रिश्तेदार था। वह पहला जेम्स हुआ और इस तरह इग्लैंड और स्काटलैंड का एक सम्मिलित राज्य बन गया। जिस बात को इग्लैंड खून-खराबी से न पासका वही शान्ति-पूर्वक होगई। जेम्स राजाओ के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नही करता था। वह एलिजाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगडा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इग्लैड के बहुतसे कट्टर प्रोटस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम की मनमानी की मुखालफत करते थे और नये 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' को नापसन्द करते थे, क्योकि वे उसे काफी तौर पर प्रोटेस्टेण्ट नहीं समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़ गये और अटलाटिक समुद्र के पार नये जगली देश के लिए रवाना हुए। वे उत्तरी किनारे के एक मुकाम पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू प्ले माउथ का नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही लोग पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी किनारे पर इन बस्तियो की तादाद बढ़ते-बढते तेरह तक पहुँच गई। ये बस्तियाँ बाद में मिलकर 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का सयुक्त राष्ट्र बन गई। लेकिन यह तो अभी बहुत बाद की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में उसकें गद्दी पर बैठने के बाद, मामला बहुत बिगड गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको एक 'पिटीशन ऑफ राइट' यानी अधिकारो का प्रार्थनापत्र पेश किया जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खरीता है। इस अर्जी में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। वह ग़ैरकानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बात नहीं कर सकता था जो आज बीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का अंग्रेज वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और प्रजा को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नही तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को तोड़ दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन

कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पडी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उसपर लोग बहुत नाराज थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लडाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल में ही, १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत से अमीर-उमरा और फौज का ज्यादातर हिस्सा था, और दूसरी तरफ थी, पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लडाई चलती रही, और आखिरकार पार्लमेण्ट की तरफ एक बडा भारी नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बडा जबर्दस्त सगठन करनेवाला, कडा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में पक्का विश्वास रखनेवाला था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"लडाई के मामूली पैदा करनेवाले ख़तरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस वक्त जब कि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर उम्मीद की रोशनी, दहकती हुई आग की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई फौज का सगठन किया—इसको 'लौह शरीर' (Ironsides) कहते थे—और उसको अपने ख़ुद के अनुशासित उत्साह और जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फौज के 'प्यूरिटन्स' (पवित्रता के पालको) ने चार्ल्स के 'कैवैलियर्स' (घुड-सवारो) का मुकाबिला किया। आखिरकार क्रामवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का कैदी हो गया।

पार्लमेण्ट के बहुत से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की फौज इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस फौज के एक अफसर कर्नल प्राइड ने बेधडक पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरो को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय बडा सख्त था और पार्लमेण्ट का गौरव बढानेवाला न था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की मनमानी का विरोध किया तो ख़ुद पार्लमेण्ट की सेना ही एक दूसरी ऐसी ताक़त बन गई जो ख़ुद पार्लमेण्ट की कानूनी बातो की परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियाँ इसी तरह हुआ करती है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए मेबरो ने—जिनको 'रम्प पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुकदमा चलाने का फैसला

१ कार्लाइल—यह अग्रेज़ी भाषा का बहुत बडा इतिहास और निबध-लेखक होगया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारो पर उसका बडा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय १७९५ से १८८१ है।

कर लिया और उसे 'जालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु' करार देकर फांसी की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस शख़्स का, जो उनका बादशाह रह चुका था और राजाओ के दैवी अधिकार की बात करता था, लदन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

राजा लोग भी उसी तरह मरते है जिस तरह मामूली आदमी मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि इनमें से बहुतो की मौत बडी भयकर हुई है। मनमानी और बादशाहत ये गुप्त हत्याओ और हत्याओ को जन्म देते है और इग्लैंड के बादशाहो नें अबतक काफी गुप्त हत्यायें करवाई थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने आपको अदालत मानने की हिम्मत करना, बादशाह का न्याय करना, उसे फाँसी की सजा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और हैरत में डालने वाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अँग्रेजो ने, जो हमेशा से कट्टर और तब्दीलियो के ख़िलाफ रहे है, इस तरह से इस बात का उदाहरण पेश कर दिया कि एक बेरहम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अँग्रेज जाति का नहीं समझना चाहिए जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायियो (Ironsides) का।

इस घटना से योरप के बादशाहो, सीज़रो, राजाओ और छोटे-मोटे शाही खान-दान वालो को बड़ा धक्का पहुँचा। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जायँ और इंग्लैंड के उदाहरणो पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा ? अगर बस चलता तो इनमें से बहुत से इग्लैंड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैंड की बागडोर उस वक्त किसी निकम्मे बादशाह के हाथो में न थी। पहली दफा इंग्लैंड एक प्रजातत्र बना था और उसकी हिफाजत करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी फौज तैयार थी। क्रॉमवैल करीब-करीब डिक्टेटर था। वह 'लार्ड-प्रोटैक्टर' यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसकी कडी और अच्छी हुकूमत में इग्लैंड की ताकत बढ़ने लगी और उसके जहाजी बेडे ने हालैंड, फ़ान्स और स्पेन के बेडो को खदेड़ दिया। पहली ही बार इंग्लैंड योरप की एक ख़ास समुद्री ताकत बन गया।

लेकिन इंग्लैंड का यह प्रजातन्त्र ज्यादा दिन नहीं टिका, चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतनें पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद प्रजातन्त्र का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर दूसरे देशों में शरण ली थी, इग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और चरित्रहीन आदमी था और बादशाहत को वह ख़ाली एक मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध

नही करता था। असल में फ्रान्स का बादशाह उसे छिपे-छिपे धन की मदद देता था। क्रॉमवैल के वक्त में इग्लैंड ने योरप में जो नाम पैदा किया था वह गिर गया और हालैंड का जहाजी बेड़ा टेम्स नदी तक में घुसकर अग्रेजी बेडे को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स कट्टर कैथलिक था और पोप की ताकत को इग्लैंड में कायम करना चाहता था। लेकिन मजहब के बारे में अंग्रेज लोगो के विचार चाहे जैसे रहे हो—और ये विचार काफी धुंधले भी थे—लेकिन उनमें से ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला के बिलकुल खिलाफ़ थे। इस फैली हुई विचारधारा के खिलाफ जेम्स कुछ भी न कर सका। उल्टा पार्लमेण्ट की नाराजगी मोल लेने की वजह से उसे जान बचाने के लिए फ्रान्स भाग जाना पडा।

एकबार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर फतेह पाई, लेकिन इसबार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना घरेलू लडाई-झगडे के। बादशाह तो भाग ही चुका था। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इग्लैण्ड दुबारा प्रजातन्त्र होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अग्रेज अपने ऊपर एक स्वामी चाहता है और इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौकत और तडक-भडक से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और उनको उसी ऑरेञ्ज के घराने का एक बादशाह मिल गया जिसनें सौ वर्ष पहले स्पेन के खिलाफ निदरलैण्ड की उस बडी आजादी की लडाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' को पैदा किया था। इस वक्त एक दूसरा ऑरेञ्ज का शहजादा विलियम था, जिसने अग्रेजी शाही घरानें की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इग्लैण्ड के सयुक्त शासक बना दिये गये। अब तो पार्लमेण्ट ही सबसे बडी शक्ति थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए नुमाइन्दो के जरिये जनता के हाथ में राज्य शक्ति देनेवाली इग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उसदिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को मानने से इन्कार करे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध या इन्कार करने के अलावा भी साजिश करने और दबाव डालने के सैकडो तरीके हो सकते है, और कई ब्रिटिश बादशाहो ने इन उपायो का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट का पूरा अधिकार हो गया था। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या ? यह खयाल न करना कि वह इग्लैण्ड के लोगो की नुमाइन्दा थी। वह तो उनके एक छोटे से हिस्से की नुमाइन्दा थी। जैसा कि उसके नाम से जाहिर होता है, लार्ड सभा तो लार्डों या बडे-बडे जमींदारो और पादरियो की नुमाइन्दा थी, और कॉमन्स सभा ऐसे

दौलतमन्द आदमियों की सभा थी जोकि या तो जमीन-जायदादों के मालिक थे या बड़े-बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' (Pocket Boroughs) थे यानी ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जो किसी-न-किसी की जेब में ही रहते थे। सारे निर्वाचन क्षेत्र में मेम्बर को चुननेवाले सिर्फ एक या दो ही वोटर होते थे। कहा जाता है कि १७९३ ई० में कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ १६० वोटरों ने किया था। ओल्ड-सारम नाम की एक जमींदारी से दो मेम्बर पार्लमेण्ट में भेजे जाते थे। इससे तुमको मालूम होगा कि ज्यादातर जनता को वोट देने का हक न था और पार्लमेण्ट में उनके नुमाइन्दे बिलकुल न थे। कॉमन्स सभा आम लोगों की सभा होने का दावा नहीं कर सकती थी। वह उन मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नहीं थी जो नगरों में बनते जा रहे थे। वह तो सिर्फ जमींदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियों की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाकायदा बेची और खरीदी जाती थीं और रिश्वतखोरी का बाजार खूब गर्म था। ये सब बातें सौ वर्ष पहले यानी ठेठ १८३२ ई० तक होती थीं, जब कि बड़े आन्दोलन के बाद 'रिफार्म बिल' (शासन-सुधार कानून) पास हुआ और कुछ ज्यादा लोगों को वोट देने का हक मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की फतेह का मतलब था मुट्ठीभर धनवानों की फतेह। असल में इंग्लैण्ड पर हुकूमत करनेवाले यही मुट्ठीभर जमींदार थे जिनमें इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाकी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमें कुछ भी हाथ न था।

इसी तरह तुमको यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि स्पेन से आजादी की महान लड़ाई के कारण हॉलैण्ड का जो प्रजातन्त्र राज्य बना वह भी धनवानों का ही प्रजातन्त्र था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन एनी इंग्लैण्ड की रानी हुई। १७१४ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तो आगे कौन राजा बनाया जाय, इस पर फिर कुछ दिक्कत हुई। आखिरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक्त हनोवर का शासक था, और उसे इंग्लैण्ड का जार्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह कमअक्ल था और जरा भी चतुर न था, और एक बेवकूफ बादशाह रखने में कम खतरा था बनिस्बत एक ऐसा चतुर बादशाह रखने के जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जार्ज प्रथम अंग्रेजी तक न बोल सकता था; अंग्रेजी बादशाह अंग्रेजी जबान तक से अपरिचित था। उसका लड़का भी, जो जार्ज द्वितीय हुआ, शायद ही कुछ

अंग्रेजी जानता हो। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हनोवर का घराना' (House of Honover) या हनोवर का शाही खानदान, कायम किया गया जो आजतक वहाँ राज कर रहा हैं। इसे राज्य करना नहीं कहा जासकता क्योंकि राज्य और शासन तो पार्लमेण्ट करती है। चार जार्जों के बाद विलियम चतुर्थ हुआ। उसके बाद तिरसठ साल के लम्बे समय तक विक्टोरिया का राज रहा और उसके बाद एडवर्ड सप्तम हुआ। इस श्रेणी में अन्तिम नम्बर जार्ज पचम का है जो आजकल इंग्लैण्ड के बादशाह है[1]।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत गड-बड और झगड़ा रहा। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिश और बग़ावत और हत्यायें, एलिज़ाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर जारी रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत सी जमीन-जायदाद जब्त करली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर वहाँ बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट प्रवासी वहीं है और इनके कारण आयर्लैण्ड के दो टुकडे हो गये है; आयर्लैण्ड वासी और स्कॉटलैण्ड के प्रवासी, या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनो के बीच में बडी कट्टर दुश्मनी रही है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फायदा उठाया ही है। हमेशा से ही राज्य करनेवाले फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते है। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बडी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड की घरेलू लडाई के जमाने में आयर्लैण्ड में अंग्रेजों की बहुत हत्यायें हुईं। क्रॉमवेल ने इसका बदला आयर्लैण्ड के निवासियो की हत्यायें करके निकाला। इस बात को आयर्लैण्ड वाले आजतक बडे गुस्से के साथ याद करते है। इसके बाद और लडाई हुई, समझौता हुआ और इनको अंग्रेजों ने तोड भी डाला— आयर्लैण्ड की तकलीफों का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुःख-भरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी जमाने में यानी १६६७ से १७४५ ई० में हुआ था। इस मशहूर किताब का बाल-साहित्य में बडा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह तत्का-लीन इंग्लैण्ड पर एक कड़ुआ निन्दोपाख्यान यानी कहानी के बहाने उस जमाने की

१ १९३६ ई० मे जार्ज पचम की मौत के बाद उनके पुत्र एडवर्ड अष्टम गद्दी पर बैठे लेकिन छ महीने बाद ही उन्होने एक साधारण महिला के प्रेम के कारण गद्दी छोडदी और अब उनका छोटा भाई जार्ज षष्टम इंग्लैंड का बादशाह है।

२. 'गुलिवर्स ट्रैवल्स'—में डाक्टर गुलिवर की यात्राओ का बडा दिलचस्प बयान है। एकबार वह एक-एक इञ्च के मनुष्यो के देश में जापहुँचा और दूसरी बार ५०—६० फीट लम्बे मनुष्यो के देश में।

स्थिति की निन्दा है। 'रॉबिन्स क्रूसो'² का लेखक डेनियल डिफो भी स्विफ़्ट के ही वक्त में हुआ था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर, १९३२

आज हम फिर हिन्दुस्तान की तरफ़ आते हैं। हमने योरप को काफी समय दिया है और, कई पत्रो में, गड़बड़, लड़ाई-झगडो और युद्धो की गहराई को जानने और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो में वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि योरप के इस ज़माने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होगे। तुम्हारे ख़याल चाहे जो कुछ हो, पर वे जरूर मिले-जुले होगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस वक़्त योरप एक बड़ा अजीब और झमेलो से भरा देश हो रहा था। लगातार जंगली लड़ाइयाँ, मजहबी कट्टरपन और वेरहमी, जिसका उदाहरण इतिहास में दूसरी जगह मिलना मुश्किल है, बादशाहो की मनमानी और 'दैवी अधिकार', नीचे गिरे हुए अमीर लोग, और जनता का शर्मनाक तौर पर चूसा जाना। चीन इससे सदियो आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलामय, सहनशील और क़रीब-करीब शान्तिमय देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी हिन्दुस्तान बहुत-सी बातों में इससे अच्छा था।

लेकिन इंग्लैंड का भी एक दूसरा और ख़ुशनुमा पहलू दिखाई पड़रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरूआत नजर आरही थी और लोगो में आजादी की भावना जोर पकड़कर बादशाही राज्यसिंहासनो को डावाँडोल कर रही थी। इनकी और बहुत-सी दूसरी हलचलो की वजह, पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के देशो का तिजारती और औद्योगिक विकास था। बडे-बडे शहर बस रहे थे जो दूर देशो से व्यापार करने वाले सौदागरो से भरे थे और कारीगरो की औद्योगिक हलचल के शोर से गूंज रहे थे। सारे पश्चिमी योरप में 'शिल्प-सघ' (Craft Guilds) यानी शिल्पकारो और कारीगरो के संघ बन रहे थे। यही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यम वर्ग कहलाया। यह वर्ग बढ़ा तो सही लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी

२ 'राबिन्सन क्रूसो' अग्रेज़ी की एक बडी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियते इकट्ठी करली थी।

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक रुकावटें आई। राजनैतिक और सामाजिक सगठन में पुरानी सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रणाली बीते हुए जमाने की थी। वह इस जमाने से मेल नही खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे जिनसे व्यापारी वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्तो के अधिकार छीनने की कोशिश करनी शुरू की। बादशाह भी इन सामन्त सरदारो से नाराज़ था क्योंकि ये लोग उसकी ताकत में भी दखल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्त सरदारो के ख़िलाफ बादशाह और मध्यवर्ग दोनो मिलकर एक हो गये और उनके असली प्रभाव को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा ताकतवर और स्वेच्छाचारी हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उस जमाने में पश्चिमी योरप की धर्म-सस्था और व्यापार करने के बारे में जो मजहबी ख़यालात फैले हुए थे वे भी व्यापार और उद्योग की तरक्क़ी में रुकावट डाल रहे थे। खुद मजहब का बहुत-सी बातो में सामन्तशाही से ताल्लुक़ था और जैसा कि मैं तुमको बतला चुका हूँ, 'चर्च' सब से बडा सामन्त सरदार था। बहुत साल पहले कितने ही आदमी और गिरोह रोमन चर्च की आलोचना करने और उसकी हस्ती से इन्कार करने के लिए उठ खडे हुए थे। लेकिन वे कुछ तब्दीली न करा सके। मगर अब सारा बढता हुआ मध्यमवर्ग तब्दीली चाहता था इसलिए सुधार की तहरीक ने बड़ा जोर पकड लिया।

ये सब तब्दीलियाँ, और इनके अलावा कितनी ही दूसरी तब्दीलियाँ, जिन पर एक साथ हम पहले विचार कर चुके हैं, उस क्रांति के अलग-अलग पहलू और रुख़ थे जिसने मध्यमवर्ग को सबसे आगे बढा दिया। पश्चिमी योरप के सब देशो में करीब-करीब यही बात हुई होगी, लेकिन अलग-अलग मुल्को में वह अलग-अलग वक्त में हुई। इस वक्त और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योग-धधो के लिहाज से पूर्वी योरप बहुत पिछडा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई तब्दीली न हुई।

चीन और हिन्दुस्तान में शिल्प-सघ थे और शिल्पकारो और कारीगरो की एक बडी भारी तादाद थी। उद्योग-धधे आगे बढ़े हुए थे और पश्चिमी योरप की बनिस्बत तो बहुत बढे हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नही था जितना योरप में था और न यहाँ योरप जैसी आम जनता के लिए आजादी की लहर थी। दोनो देशो में मजहबी आजादी और नगरो, गांवो और गिल्डो यानी सघो में स्थानीय स्वतन्त्रता का रिवाज पुराना था। बादशाह की ताकत और मनमानी की लोगो को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि ये चीजें उनके स्थानीय मामलो में दखल न

डालती हो। दोनो देशो ने एक सामाजिक सगठन बना लिया था, जो बहुत दिनो तक टिका रहा और जो योरप के ऐसे किसी भी सगठन से ज्यादा टिकाऊ था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मजबूती ने ही तरक्की को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में फूट और गिरावट का नतीजा यह हुआ कि उत्तरी हिस्से पर मुगल बाबर ने कब्जा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आजादी की पुरानी आर्य भावना को बिलकुल भूल गये थे और चापलूस बनकर किसी भी शासक की मातहती स्वीकार कर लेते थे और यहाँतक कि मुसलमान भी, जो देश में एक नई जिन्दगी लेकर आये थे, मालूम होता है, उतने ही पतित और चापलूस हो गये जितने दूसरे लोग।

इस तरह योरप, उस जिदगी और जोश से भरा हुआ था जिसका पुरानी पूर्वी सभ्यता में अभाव था, और धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन की लालच ने उसके जहाजियो को अमेरिका और एशिया की ओर खीच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगाल वालो ने मलक्का के अरब साम्राज्य का खातमा कर दिया था। उन्होने हिन्दुस्तान के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रो में सब जगह चौकियाँ बिठला दी थीं। लेकिन जल्द ही उनके मसालो के व्यापार के प्रभुत्व को हॉलैंड और इग्लैड, इन दो नई ताक़तो ने छीनना शुरू कर दिया। पुर्तगालवाले पूर्व से खदेड दिये गये और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार ख़तम हो गया। कुछ हद तक हालैंड ने पुर्तगाल की जगह लेली और बहुत से पूर्वी टापुओ पर कब्जा कर लिया। १६०० ई० में रानी एलिज़ाबेथ ने लदन के व्यापारियो की एक कम्पनी, 'ईस्ट इडिया कम्पनी', को हिन्दुस्तान में तिजारत करने का फरमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट-इडियन कम्पनी' बनी। इस तरह योरप का एशिया को हडप करने का युग शुरू होता है। बहुत दिनो तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओ तक ही महदूद रहा। मिग राजाओ और सत्रहवी सदी के बीच में राज करने वाले मंचुओ के शासन-काल में चीन योरप से ज्यादा ताकतवर था। जापान तो इतना आगे बढ गया कि उसने १६४१ ई० में सब विदेशियो को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालो के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और हिन्दुस्तान में क्या हुआ? हिन्दुस्तान की कहानी को हम बहुत पीछे छोड आये है इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुगल खानदान की मातहत हिन्दुस्तान एक ताकत-वर राज्य बन गया। योरप के हमले का उसे कुछ भी ख़तरा न था। लेकिन समुद्र पर योरप का कब्जा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम हिन्दुस्तान की तरफ वापस आते हैं। योरप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अख़ीर तक आपहुँचे हैं। हम अठाहरवीं सदी के किनारे पर हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं जब कि बाबर यहाँ आया था।

१५२६ ई० में दिल्ली के कमजोर और कमीने अफ़ग़ान सुलतान पर बाबर की विजय से हिन्दुस्तान में एक नया ज़माना और नया साम्राज्य—मुगल साम्राज्य—शुरू होता है। नीच में थोडे समय को छोडकर यह १५२६ से १७०७ ई० तक यानी १८१ वर्ष तक रहा। ये वर्ष उसकी ताक़त और शासन के थे, जबकि हिन्दुस्तान के महान मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और योरप में फैल गई थी। इस घराने के छ महान बादशाह हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया और मराठे, सिख, वग़ैरा ने उसमें से रियासते बाट लीं। इनके बाद अंग्रेज आये जिन्होंने केन्द्रीय शक्ति के विनाश और देश में फैली हुई गड़बड से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना सिक्का जमा लिया।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चगेज ख़ा और तैमूर के खानदान का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और लडने की क़ाबलियत थी। लेकिन चगेज के ज़माने से अब तक मगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा लायक़, क़ाबिल और दिलपसद आदमी उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिलकुल न था, न मज़हबी कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखो की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और खुद भी फारसी का कवि था। वह फूलो और बाग़ो से प्रेम करता था और हिन्दुस्तान की गर्मी में उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आजाती थी। अपने सस्मरणो में उसने लिखा है—"फरग़ना में बनफशा के फूल बडे सुन्दर होते है, वह तो गुलेलाला और गुलाब का ढेर है।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का राजा हुआ तब वह सिर्फ ग्यारह वर्ष का बालक था। यह काम आसान न था। उसके चारो तरफ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लडकियाँ स्कूल जाते है, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पडा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे फतह किया और अपनी तूफानी जिन्दगी में उसे कई दिक्क़ते उठानी पडीं। इस पर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकाक्षा नें उसे आगे बढ़ने को मजबूर किया। काबुल को जीत कर वह सिंध नदी पार करके हिन्दुस्तान में आया। उसके साथ फौज तो थोडी-सी थी

लेकिन उसके पास नई तोपें थी, जो उन दिनो योरप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थी। अफ़ग़ानो की जो बडी भारी फौज उससे लडने आई वह इस छोटी सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपो के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतो का ख़ातमा नहीं हुआ और कितनी ही बार उसके नसीब का पलडा डांवाडोल होगया था। एक बार जब वह बहुत खतरे में था तो उसके सिपहसालारो ने उसे वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बडी जीवटवाला था और उसने कहा कि वापस भाग जाने से तो वह मौत को बेहतर समझता है। वह शराब से प्रेम करता था। लेकिन इस जिन्दगी और मौत के सवाल के वक्त उसने शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। इत्तफाक़ से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को आख़िर तक निभाया।

हिन्दुस्तान में आने के चार वर्ष बाद ही बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगडो में ही बीते और उसे जरा भी आराम न मिला। वह हिन्दुस्तान के लिए एक परदेशी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक ख़ूबसूरत राजधानी की नीव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर कारीगर को बुलवाया। यह वह जमाना था जब शानदार सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में इमारते बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी (तुर्की) शिल्पकार था। उसने अपने ख़ास शागिर्द यूसुफ को हिन्दुस्तान भेजा।

बाबर ने अपने संस्मरण लिखे हैं और इस दिलचस्प किताब में बाबर की मनुष्यता की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने हिन्दुस्तान और उसके जानवरो, फूलो, पेडो, फलो का वर्णन किया है, यहाँ तक कि मेढको को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के ख़रबूज़ो, अगूरो और फूलो के लिए रोता है। वह हिन्दुस्तानियो के बारे में बडी मायूसी ज़ाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक तो हिन्दुस्तानियो के पक्ष में कोई बात ही नही है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयो में फँसा रहने के कारण वह हिन्दुस्तानियो को पहचान न सका और इस नये विजेता से सभ्य वर्गवाले दूर-दूर भी रहे। शायद एक अजनबी आदमी दूसरे देश के निवासियो की जिन्दगी, और सभ्यता के साथ आसानी से हिलमिल भी नहीं सकता है। जो कुछ भी हो, उसे न तो अफ़ग़ानो में—जो कुछ दिनो से हिन्दुस्तान में राज कर रहे थे—और न ज्यादातर हिन्दुस्तानियो में ही कोई अच्छी बात नज़र आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का ख़याल रखते हुए भी उसके बयान से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक़्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल न जासका।

वावर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य वडा लम्बा-चौड़ा घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण, और पश्चिम की सरहदो पर समुद्र है। उसके उत्तर में कावुल, गजनी और कन्धार है। सारे हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है।" यह वात ध्यान में रखने लायक़ है कि वावर सारे हिन्दुस्तान को एक देश समझता था हालाँकि जव वह यहाँ आया था तव देश कई राज्यो में टुकडे-टुकडे हो रहा था। हिन्दुस्तान के एक ही देश होने का खयाल इतिहास में शुरू से चला आरहा है।

हिन्दुस्तान का वर्णन करते-करते वावर लिखता है

"यह एक वहुत ही ख़ूवसूरत मुल्क है। हमारे देशो के मुकाबिले मे यह एक दूसरी ही दुनिया है। इसके पहाड और नदियाँ, इसके जगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी ज़वाने, इसकी हवा और वरसात, सव एक अलग ही तरह के है सिंध को पार करते ही जो देश, पेड, पत्थर, खानावदोश कवीले और लोगो के रस्म और रिवाज दिखलाई पडते है वे ठेठ हिन्दुस्तान के ही है। साँप तक दूसरी तरह के हैं हिन्दुस्तान के मेंढक ग़ौर करने लायक है। हालाँकि ये उसी जाति के है जिस जाति के हमारे यहाँ होते है, लेकिन ये पानी की सतह पर छ-सात गज तक दौड सकते है।"

इसके वाद वह हिन्दुस्तान के जानवरो, फूलो, पेडो और फलो की एक सूची देता है। और इसके बाद वह यहाँ के रहनेवालो का वर्णन करता है :—

"हिन्दुस्तान के देश में इसे अच्छा कहने के लिए आराम की कोई भी चीज़ें नहीं हैं। यहाँ के निवासी ख़ूवसूरत नहीं हैं। उनको दोस्तों में मिल वैठने की ख़ूवियो का या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का या आपसी घरू वर्ताव का कुछ भी इल्म नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ, न आचरण की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामो का ढाचा वनाने और उनको अच्छी तरह करने की क़ाबलियत और कला कौशल की सूझ, न नक्शे और मकानात बनाने की योग्यता या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोडे है, न अच्छा मास, न अंगूर और न ख़रबूज़े, न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठडा पानी, न बाजारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम (स्नानागार) न कॉलेज, न मोमवत्तियाँ, न मशाले, यहाँ तक कि शमादान भी नहीं है।" इसपर यह पूछने को तबियत हो उठती है कि आखिर उनके यहाँ है क्या? मालूम होता है जिस वक्त बावर ने ये वातें लिखीं उस वक़्त वह शायद बिलकुल दिक़ आगया होगा।

वावर कहता है—"हिन्दुस्तान की सवसे बडी अच्छाई यह है कि वह बहुत बडा देश है और यहाँ सोना और चाँदी ख़ूब है। हिन्दुस्तान में एक सहूलियत की वात यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के लोग बहुतायत से और चाहे जितने

मिलते है। किसी काम या धधे के लिए गिरोह का गिरोह तैयार मिलता है जिनके यहाँ वही काम-धंधा हज़ारो वर्षों से, पुश्त-दरपुश्त चला आरहा है।"

बाबर के संस्मरणो से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ दिये है। ऐसी किताबो के ज़रिये हमको किसी व्यक्ति के बारे में जो बाते मालूम होती है वे किसी दूसरे वर्णन से नहीं मालूम हो सकतीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर किस्सा है। उसका लड़का हुमायूँ बीमार पड़ा और कहते है कि उसकी मुहब्बत में बाबर अपनी ज़िंदगी भेंट करने के लिए तैयार होगया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते है कि हुमायूँ बीमारी से अच्छा होगया और उसके अच्छा होने के कुछ ही दिन बाद बाबर की मौत होगई।

बाबर की लाश को लोग क़ाबुल ले गये और वहाँ उसी बाग़ में उसे दफनाया जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलो के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीं के पास वापस चला गया।

: ८६ :

अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर हिन्दुस्तान का बहुत-सा भाग जीत लिया। उसने दिल्ली के अफग़ान सुलतान को हरा दिया और बाद में चित्तौड़ के बहादुर राणा साँगा—जो राजपूत इतिहास का एक मशहूर योद्धा है—के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतो को हराया। यह एक ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड़ गया। हुमायूँ बहुत सभ्य और विद्वान था लेकिन अपने पिता की तरह बहादुर न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आख़िर में १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, शेरख़ा नामक बिहार के एक अफग़ान सरदार ने उसे हराकर हिन्दुस्तान के बाहर निकाल दिया। इस तरह दूसरा मुग़ल बादशाह इधर-उधर छिपता हुआ और बडी मुसीबते झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी दर-दर मारे फिरने की हालत में, नवम्बर सन् १५४२ ई० में, राजपूताना के रेगिस्तानो में, उसकी स्त्री को एक लड़का पैदा हुआ। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह लड़का आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह तामस्प (तहमास्प) ने उसे शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरख़ा का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज्य किया। इस थोडे से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत काबिल आदमी था। वह बड़ा जबरदस्त संगठन करनेवाला था और उसका शासन फुरतीला और बहुत योग्य था। अपनी लडाइयो के बीच में भी उसने किसानो पर टैक्स लगानें की एक नई और अच्छी लगान प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह एक सख़्त और कठोर व्यक्ति था लेकिन हिन्दुस्तान के सारे अफग़ान बादशाहो में, और दूसरे बादशाहो में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर योग्य स्वेच्छाचारी शासको का हाल हुआ करता है—वह खुद ही सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था—इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढाचा टूटकर टुकडे-टुकडे हो गया।

हुमायूँ ने इस गडबड़ से फायदा उठाया और १५५६ ई० में वह एक फौज लेकर ईरान से लौटा, उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन राज न कर सका। छ महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मक़बरो का मुकाबिला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफगान शेरशाह का मकबरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह कठोर, मजबूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का मक़बरा दिल्ली में है। यह एक चमकदार और खूबसूरत इमारत है। इन पत्थर की इमारतो से सोलहवीं सदी के इन दो साम्राज्य के लिए लडनेवालो के बारे में बहुत-कुछ अन्दाज लगाया जासकता है।

अकबर उस वक्त तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखा, जिसे ख़ानबाबा भी कहते है, इसका निगहबान और रक्षक था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस निगहबानी और दूसरे के इशारे पर चलने से तग आगया और उसने राज की बागडोर अपने हाथो में ले ली।

१५५६ ई० से १६०५ ई० तक, यानी करीब पचास वर्ष तक, अकबर ने हिन्दुस्तान पर राज किया। यह जमाना योरप में निदरलैण्ड के विद्रोह का और इग्लैंड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम हिन्दुस्तान के इतिहास में जगमगा रहा है और कुछ बातो में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहिले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवीं सदी के हिन्दुस्तान का एक मुसलमान बादशाह, दोनो एक ही तरह से और क़रीब-

क़रीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह ख़ुद हिन्दुस्तान की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान पुत्रो के ज़रिये से बोल रही हो। अशोक के बारे में हम सिर्फ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरो पर खुदा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो इतिहास लिखनेवालो ने बडे लम्बे बयान लिखे हैं, और जो विदेशी उससे मिलने आये थे--ख़ासकर जेसुइट[1] लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की बहुत कोशिश की थी--उन्होने भी लम्बे-चौडे हाल लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुगल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार उनकी फौजी ताकत के बल पर था। अकबर के राज ने मुगल ख़ानदान की जड़ जमादी और उसको ख़ास हिन्दुस्तान की ज़मीन का और उसके ख़यालो को बिलकुल हिन्दुस्तानी बना दिया। इसीके राज्य-काल में योरप में 'महान् मुगल' (Great Mughal) का ख़िताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसकी ताकत को कोई रोकनेवाला न था। उस वक्त हिन्दुस्तान में राजा के अधिकारो को कम करने की कोई चर्चा तक नहीं थी। ख़ुशकिस्मती से अकबर एक अक्लमन्द स्वेच्छाचारी राजा था और वह हिन्दुस्तान के लोगो की भलाई के लिए दिन-रात कोशिश करता रहता था। एक तरह से तो वह हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का जन्मदाता समझा जासकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगो को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा मज़हबों के दावो का खयाल न करके एक आम हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता के ख़याल को अधिक महत्त्व दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह कामयाब तो नहीं हुआ, लेकिन यह ताज्जुब की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशो को कितनी ज्यादा कामयाबी मिली।

लेकिन फिर भी जो कुछ कामयाबी अकबर को मिली वह सब बिना किसी की मदद के ही नहीं थी। जबतक कि ठीक मौका न आगया हो और वातावरण सहायक न हो तब तक कोई भी बडे काम में सफल नहीं हो सकता। एक बडा आदमी ख़ुद अपना वातावरण पैदा करके ज़माने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन

१ जेसुइट—जेसुइट शब्द जीसस (ईसामसीह) से बना है। १५३९ ई० मे एक 'सोसाइटी ऑफ जीसस' बनाई गई थी जिसके मेम्बर जेसुइट कहलाते थे। ये लोग दुनिया मे घूमते फिरते थे और इनका सरदार 'ब्लैक-पोप' कहलाता था, हालाँकि ये अपना धर्मगुरु पोप को ही मानते थे।

वह बड़ा आदमी खुद भी तो जमाने और उस वक्त के वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर हिन्दुस्तान के उस जमाने का फल था।

पिछले एक खत में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियो (तहजीबों) और मजहबो का इस देश में साथ आपडा था उन दोनो के एकीकरण या मेल के लिए उस वक्त हिन्दुस्तान में कैसी अन्दरूनी ताक़तें काम कर रहीं थीं। मैंने तुम को गृह-शिल्प की नई शैली और हिन्दुस्तानी भाषाओ खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी के विकास के बारे में लिखा था। और मै तुमको रामानन्द, कबीर और गुरुनानक जैसे सुधारक और धार्मिक नेताओ के बारे में भी बतला चुका हूँ जिन्होने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक से पहलुओं पर जोर देकर और उनके बहुत-से रस्म-रिवाज की निन्दा करके दोनो मजहबो को एक-दूसरे के नजदीक़ लाने की कोशिश की थी। उस वक्त एकीकरण या मेल का यह खयाल चारो तरफ फैला हुआ था। और अकबर ने, जिसका दिमाग़ बहुत जल्दी प्रभावित होनेवाला और नई अच्छी-अच्छी बातो को पकडने वाला था, इसको जरूर इख्तियार किया होगा और बहुत-कुछ उसके मुताबिक़ काम किया होगा। असल में वह इसका खास संरक्षक हो गया था।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसकी और क़ौम की ताक़त इसी एकीकरण या मेल से बढ़ सकती है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और क़ाबिल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लडाई से नफरत नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्का इरादा करके इस कोशिश में लगा कि हिन्दू सरदारो और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करे। उसने ग़ैर मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जजिया, और हिन्दू-तीर्थ यात्रियो पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपनी शादी एक राजपूत सरदार की लड़की से की, बाद में उसने अपने लडके का विवाह भी एक राजपूत लडकी से किया, और उसने ऐसी मिश्रित शादियो को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के सबसे ऊँचे ओहदो पर राजपूत सरदारों को तैनात किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारो और सबसे क़ाबिल वजीरो और गवर्नरों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनो के लिए क़ाबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। असल में राजपूतो और अपनी हिन्दू प्रजा को खुश करने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओ का प्रेम जीतने में कामयाब हुआ और उसकी नौकरी और उसे इज्जत देने के लिए चारों तरफ से क़रीब-क़रीब सब राजपूत लोग इकट्ठे

होने लगे, सिवाय राणा प्रताप के जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। लडाई में हार जाने पर भी उसने अकबर का दास होकर ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने के बनिस्वत जंगल में भटकना अच्छा समझा। जिन्दगी भर यह राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लडता रहा, और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। इस बांके राजपूत की यादगार राजपूताने की एक बेशकीमती धरोहर है और इसके नाम के साथ कितनी ही कहानियां जुड़ गई है।

इस तरह अकबर ने राजपूतो को अपनी तरफ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियो और उनके दरबार में आनेवाले जेसुइट पादरियो तक के प्रति बडा उदार था। लेकिन इस उदारता की वजह से और मुस्लिम शरियत से कुछ-कुछ लापरवाह होने की वजह से मुसलमान लोग उससे नाराज़ हो गये और उसके ख़िलाफ कई बलवे उठ खडे हुए।

मैंने अकबर की बराबरी अशोक से की है। लेकिन इस मुक़ाबिले से तुम कहीं धोखे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातो में वह अशोक से बिलकुल जुदा था। वह बडे लम्बे-चौडे मनसूबे रखने वाला था, और अपनी जिन्दगी के आख़िरी दिनो तक अपने साम्राज्य बढ़ानें का इरादा करता रहा और मुल्क जीतता रहा। जेसुइट लोगो ने लिखा है कि वह

> "होशियार और तेज़ दिमाग वाला था, वह फैसले करने मे वड़ा सच्चा, मामलो मे बहुत समझदार, और इन सबके अलावा रहमदिल, मिलनसार और उदार था। इन गुणो के साथ उसमे ऐसे लोगो की हिम्मत भी थी जो बडे-बडे जोखिम के कामो को उठाते है और पूरा करते है। वह बहुत-सी बातो में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने का इच्छुक रहता था, उसे न सिर्फ फौजी और राजनैतिक बातो का ही वल्कि कला-कौशल का भी काफी इल्म था। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की दया और नम्रता की रोशनी फैलती रहती थी। उसे गुस्सा बहुत कम आता था और अगर कभी आता था तो उस वक्त वह गुस्से से पागल हो जाता था, लेकिन उसका यह गुस्सा ज्यादा देर तक न टिकता था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहब का नहीं है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर पर ग़ौर करने के काफी मौके मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व ताक़तवाला और फुर्तीला था और वह जगली और ख़ूंख़ार जानवरो के शिकार से ज्यादा किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल पर-

वाह न थी। उसकी आश्चर्यभरी ताकत का अंदाजा आगरे से अहमदाबाद तक के उस मशहूर सफर से लगाया जा सकता है जो उसने नौ दिन में पूरा किया था। गुजरात में बलवा हो गया था और अकबर एक छोटी-सी फौज के साथ राजपूताने के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चारसौ मील की दूरी तय करके वहां जा धमका। यह एक ग़ैर-मामूली काम था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणो के अलावा महान पुरुषो में कुछ और भी होता है, उनमें एक तरह की आकर्षण-शक्ति होती है जो लोगो को उनकी तरफ खींचती है। अकबर में यह व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति और जादू बहुत ज्यादा था, जेसुइट लोगो के अद्भुत बयान के मुताबिक उनकी आकर्षक आखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूरज की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, यदि यह पुरुष हमको आज तक आकर्षित करता हो और उसका बहादुराना और शाही व्यक्तित्व उन लोगो के बहुत ऊपर दिखलाई पड़ता हो जो सिर्फ बादशाह हुए है?

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बगाल, उडीसा, काश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने ख़िराज वसूल किया। लेकिन मध्य प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराकर उसने अच्छा नहीं किया। यह रानी एक बहादुर और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नहीं पहुँचाया था। लेकिन महत्वाकाक्षा और साम्राज्य को बढाने की ख़्वाहिश इन छोटी-मोटी बातो की बिलकुल परवाह नहीं करती है। दक्षिण में भी उसकी फौजों ने अहमदनगर की रानी (दरअसल वह रानी न थी बल्कि राज की देख-रेख करने के लिए 'रीजेंट' थी) मशहूर चांदबीबी से लडाई लडी। इस औरत में दिलेरी और काबलियत थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने अच्छी शर्तो पर उसके साथ सुलह मंजूर करली। बदक़िस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियो ने उसे मार डाला।

अकबर की फौजो ने चित्तौड पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बडी बहादुरी से चित्तौड की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ बहुत से योग्य सहायक इकट्ठा कर लिये जो उसके प्रति बडे वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फैज़ी और अबुलफ़ज़ल दो भाई थे, और एक था

बीरबल जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ कही जाती है। अकबर का अर्थ-मत्री था टोडरमल। इसीने लगान के सारे तरीके को बदल दिया था। तुम्हे यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन दिनो जमींदारी प्रथा न थी और न जमींदार थे, न ताल्लुकेदार। रियासत खुद किसानो या रैयत से लगान वसूल करती थी। यही प्रणाली आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आज कल के जमींदार अग्रेजो के बनाये हुए है।

जयपुर का राजा मानसिह अकबर के सबसे काबिल सिपहसालारो में से था। अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था--गवैयो का सिरताज तानसेन, जिसे आज हिन्दुस्तान के सारे गवैये अपना गुरू मानते है।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहा उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से १५ मील दूर फतहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक्त के एक अंग्रेज मुसाफिर के लफ्जो में "लन्दन से ज्यादा आलीशान" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का दोस्त और मत्री अबुल फजल लिखता है--"बादशाह सलामत आलीशान इमारतो के नकशे सोचते है और दिमाग के काम को मिट्टी और पत्थर का जामा पहिना देते है।"

फतहपुर-सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका जबरदस्त बुलद दरवाजा और बहुत-सी दूसरी आलीशान इमारते आज भी मौजूद है। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियो में और उसके चौडे सहनो में एक मिटे हुए साम्राज्य के भूत चलते हुए मालूम पड़ते है।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है लेकिन जगह यह जरूर बहुत पुरानी है और प्रयाग नगर तो रामायण के युग से चला आरहा है। इलाहाबाद का किला अकबर का बनवाया हुआ है।

एक नये साम्राज्य को जीतने और उसे मजबूत बनाने में अकबर को जिन्दगी भर कोशिश करनी पडी होगी। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नजर आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान पिपासा—दुनिया की वस्तुओ को जानने की इच्छा और उसकी सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय को समझा सकता था, उसे बुलाया जाता था। अलग-अलग मजहबो के लोग इबादतखाने में उसके चारो तरफ बैठते थे और इस महान बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने

की आशा रखते थे। वे अक्सर एक दूसरे से झगड़ पडते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहस सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल करता रहता था। उसे शायद यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी ख़ास धर्म या फिरक़े ने नहीं ले रक्खा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह धर्म में सबके साथ सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके राज्यकाल के इतिहास-लेखक बदायूनी[1] ने, जो ऐसे बहुत से जलसों में शामिल होता रहा होगा, अकबर का बडा मज़ेदार बयान लिखा है, जो मैं यहा देना चाहूँगा। बदायूनी ख़ुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयो को बिलकुल नापसन्द करता था। वह कहता है—"जहापनाह हरेक की राय इकट्ठी करते थे, ख़ासकर ऐसे लोगो की जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो उनको अच्छी लगती उन्हे रख लेते और जो उनके मिज़ाज के ख़िलाफ और उनकी इच्छा के विरुद्ध जाती उन सबको फेंक देते थे। शुरु बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहांपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब क़िस्म के मजहबी क़ायदो और फिरक़ो के विश्वासो में से गुज़रे हैं, और जो कुछ किताबो में मिल सकता है उस सबको उन्होने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो ख़ास उन्हींमें पाया जाता है, इकट्ठा किया है और खोज करने की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो मुस्लिम शरियत के बिलकुल ख़िलाफ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किसी मूल सिद्धान्त के आधार पर एक विश्वास का नकशा खिच गया है और उनपर जो-जो असर पडे हैं उनका नतीजा यह हुआ कि उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह यह जबर्दस्त यकीन पैदा होता और जमता गया है कि सब मजहबो में समझदार आदमी हैं और सब जातियो में सयमी विचारक और अद्भुत शक्तिवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही मजहब में बन्द होकर कैसे रह सकता है? "

तुम्हे याद होगा कि इस ज़माने में योरप में मजहबी मामलो में बडी जबर्दस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। स्पेन, निदरलैण्ड और दूसरे देशो में इनक्विज़िशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कोलविनिस्ट दोनो एक दूसरे को सहन करना बडा भारी पाप समझते थे।

१ बदायूनी—इसका पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल कादिर बदायूनी (बदायूँ का रहनेवाला) था। इसने मुगल साम्राज्य का इतिहास लिखा है जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओ से बहुत चिढता था।

अकबर ने वर्षों तक सब धर्मों के आलिमो से अपनी धर्म-चर्चा और बहस जारी रक्खी, लेकिन आखिर में ये उकता गये और उन्होने अकबर को अपने-अपने मजहब में मिला सकने की उम्मीद बिलकुल छोड़ दी। जब हरेक मजहब में सच्चाई का कुछ न कुछ हिस्सा था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेसुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूंकि हिन्दू लोग अपने धर्म को अच्छा समझते है और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी समझते है, तो फिर हम इनमें से किसको अपनावे?" अकबर का सवाल बड़ा मानी रखनेवाला था लेकिन जेसुइट लोग इससे चिढते थे और उन्होने अपनी किताब में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की सी आम ग़लती देखते है जो बुद्धि को विश्वास का गुलाम बनाने से इनकार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमजोर दिमाग न पा सके उसे सच न क़बूल करता हुआ उन मामलो को अपने अधकचरे फैसले पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो इन्सान की सबसे ऊँची विचार शक्ति की हद से भी बाहर है।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हो उतना ही अच्छा।

अकबर का उद्देश्य क्या था, यह साफ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनैतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूंढ निकालने के इरादे से कहीं वह भिन्न-भिन्न मजहबो को जबरदस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था? क्या अपने उद्देश्य और उसकी तालाश में वह धार्मिक था? मै नहीं जानता। लेकिन मेरा ख़याल है कि वह मजहबी सुधारक की बनिस्बत राजनीतिज्ञ ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने वाकई एक नये मजहब 'दीने इलाही' का ऐलान कर दिया जिसका पीर वह खुद था। दूसरी बातो की तरह मजहबी मामलो में भी उसकी मनमानी में कोई दख़ल नहीं दे सकता था और उसके आगे लेटना, क़दम चूमना वग़ैरा की क़वायद करनी पड़ती थी। यह नया मजहब चला नहीं। इसने तो उलटा मुसलमानो को चिढा दिया।

अकबर हुकूमतपरस्ती का तो ख़ास पुतला था। फिर भी यह सोचने में मजा आता है कि उदार राजनैतिक विचारो का उस पर क्या असर हुआ होता। अगर मजहबी आजादी थी तो लोगो को कुछ राजनैतिक आजादी क्यो न हो? विज्ञान की तरफ वह जरूर खूब खिचा होता। बदकिस्मती से ये ख़यालात, जिन्होने उस वक़्त योरप के कुछ लोगो को हैरान करना शुरू कर दिया था, उस जमाने के हिन्दुस्तान में चालू नहीं हुए थे। छापेखानो का भी उस जमाने में कोई इस्तेमाल नहीं नजर आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको

सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर बिलकुल अनपढ था, यानी वह बिलकुल पढ-लिख नहीं सकता था। लेकिन फिर भी वह बहुत ऊँचे दर्जे का शिक्षित था। और किताबें पढवा कर सुनने का बडा भारी शौक़ीन था। उसके हुक्म से बहुत सी सस्कृत किताबो का फारसी में तर्जुमा किया गया।

यह भी एक मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओ के सती होने के रिवाज को बन्द करने का हुक्म निकाला था और लडाई के क़ैदियो को गुलाम बनाये जाने की भी मनाई कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर सन् १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरे के पास सिकन्दरे में एक ख़ूबसूरत मकबरे में दफन की हुई है।

यह ख़त बहुत ही लम्बा हो गया है। यह उन बयानो का कसूर है जो मैंने इसमें उद्धृत किये है। लेकिन मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। अकबर के राज्यकाल में उत्तर हिन्दुस्तान—काशी में—एक आदमी हुआ जिसका नाम युक्तप्रान्त के हरेक ग्रामीण की जबान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है जिन्होने हिन्दी में रामचरित मानस या रामायण लिखी है।

: ६० :

भारत में मुग़ल साम्राज्य का पतन

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में मैं तुमको कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पडेगा। मगर पोर्चुगीज पादरियो के बयानो में से कुछ और बाते यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय मुसाहिबो की राय से बहुत ज्यादा क़ीमती है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ से उनको बहुत निराशा हुई थी। फिर भी वे लिखते है कि "वह दरअसल एक बड़ा बादशाह था, क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी रिआया की फरमाबरदारी, इज्जत, मुहब्बत और डर सब साथ पासके। यह बादशाह सब का प्यारा था, बडे आदमियो पर सख़्त, छोटे आदमियो पर मेहरबान, और सब लोगो के साथ—चाहे वह ऊँच हो या नीच, पडौसी हो या अजनबी, ईसाई हो या मुसलमान या हिन्दू—एकसाँ इन्साफ

करता था, इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में है।" जेसुइट लोग आगे कहते है—"अभी वह राजकीय मामलो में मशगूल है या अपनी प्रजा को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटो के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोडता हुआ या लकडी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नजर आता था; और इन सब कामो को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालाकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन वह मजदूरी को अपनी शान के खिलाफ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर हमको यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ तीन या चार महीने ही मांस खाता था । सोने के लिए वह बडी मुश्किल से रात के तीन घटे निकालता था । उसकी याद्दाश्त गजब की थी। उसके हजारो हाथी थे लेकिन वह सबके नाम जानता था; अपने घोडो के, हिरनो के और कबूतरो के नाम भी उसे याद थे!" इस अद्भुत स्मरणशक्ति पर मुश्किल से भरोसा किया जासकता है और शायद इस बारे में कुछ बढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग़ अद्भुत था। "हालाकि वह पढ लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होने वाली तमाम बातें उसे मालूम थी।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" इतनी जबरदस्त थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही लुक़मे में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह स्वेच्छाचारिता का पुतला था और हाँलाकि उसने प्रजा को बहुत कुछ महफूज कर दिया था और किसानो पर से करो का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसके दिमाग़ में यह बात न आई थी कि शिक्षा और तालीम के जरिये आम लोगो की जिन्दगी को ऊँचा उठावे। वह जमाना हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओ के मुक़ाबिले में अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बडी शान के साथ चमकते है।

हालाकि अकबर बाबर की तीसरी पीढी में था लेकिन हिन्दुस्तान में मुग़ल राजघराने की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन के कुबलाई खा के युआन राजघराने की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहो का एक हिन्दुस्तानी राजवंश बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो बडी भारी मेहनत की थी उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजघराना उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज्यादा राज्य करता रहा।

अकबर के बाद तीन और काबिल बादशाह हुए लेकिन उनमें कोई ग़ैर मामूली बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रो में राजगद्दी के लिए बडे शर्मनाक लड़ाई-झगडे होते। महलो की साज़िशें और विरासत की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रो का पिताओ से विद्रोह, भाइयो का भाइयो से विद्रोह, क़त्ल और रिश्तेदारों की आँखें फोड़ना—मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरकुश शासन के साथ जितनी शर्मनाक बाते हो सकती हैं वे सब होती थीं। शान-शौकत और तड़क-भड़क ऐसी थी जिसकी बराबरी कहीं न थी। तुम्हें याद होगा कि यह वह ज़माना था जब फ़्रास में चौदहवाँ लुई, जो दुनिया का चमत्कार कहलाता था, राज करता था जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौकतवाला था। लेकिन मुग़ल के ऐश्वर्य के मुकाबिले में लुई की शान-शौकत फीकी जँचती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस ज़माने के बादशाहो में सब से ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियों को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ बादशाही दरबार आराम से मौज मारता था।

अक़बर के ज़माने की धर्मों की सहिष्णुता उसके पुत्र जहागीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे ग़ायब होती गई और ईसाईयों और हिन्दुओ को थोडा बहुत तग किया जाने लगा। बाद में, औरगज़ेब के राज्य में, हिन्दुओ के मन्दिरो को तोडकर और बदनाम जज़िया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओं पर ज़ुल्म करने की जान-बूझकर कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव अकबर ने इतनी मेहनत से डाली थी वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पडा।

अकबर के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की रस्म को जारी रक्खा लेकिन शायद उसे हुकूमत की बनिस्बत कला और चित्रकारी और बाग़ो तथा फूलो में ज्यादा दिलचस्पी थी उसके यहाँ बडी चित्रशाला या आर्ट-गैलरी थी। वह हर साल काश्मीर जाता था और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग़ इसी ने लगवाये थे। जहाँगीर की बेगम—या यो कहो कि उसकी बहुतसी बेगमो से एक बेगम सुन्दरी नूरजहाँ थी जिसके हाथो में राज की असली ताक़त थी। ऐतमादुद्दौला की क़ब्र पर ख़ूबसूरत इमारत जहाँगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखनें की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखो को तृप्त कर सकूँ।

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष यानी

१६२८ से १६५८ तक राज्य किया। यह फ़ास के चौदहवे लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहाँ मुग़लो की शान शौकत सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के भी बीज नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने लिए बेशकीमती जवाहरात से जड़ा हुआ मशहूर तख़्त-ताऊस बनाया गया और इसीके राज्य में आगरे में जमना के किनारे 'सुन्दरता का स्वप्न' वह ताजमहल बना। शायद तुम्हे मालूम होगा कि यह उसकी प्यारी बेगम मुमताजमहल का मक़बरा है। शाहजहाँ ने बहुत से ऐसे काम किये जिनसे उसकी इज्ज़त और शान को बट्टा लगता है। वह मज़हब के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण गुजरात में जोरो का अकाल पड़ा तो उसनें अकाल-पीडितो की मदद के लिए कुछ भी न किया। उसकी रिआया की इस कम्बख़्ती और गरीबी के मुकाबिले में उसके धन और ऐश्वर्य—दौलत और हश्मत बडे घृणित मालूम पड़ते हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने सुन्दरता के जो आश्चर्य छोडे हैं उनकी वजह से शायद उसकी बहुत-सी बाते माफ की जासकती हैं। इसीके वक़्त में मुग़ल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलो में 'दीवाने आम' और 'दीवाने खास' बनवाये। इन इमातो में ऊँचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बडी विशाल, सुडौल और मनोहर है और अपनी ख़ूबसूरती में परियो के समान है।

लेकिन परिस्तान की इस ख़ूबसूरती के पीछे उस रिआया की बढ़ती हुई ग़रीबी थी जिससे इन महलो के लिए पैसा वसूल किया जाता था, जब कि उनमें से बहुत-से बेचारो के पास रहने को मिट्टी के झोपडे भी न थे। निरंकुश स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था और सम्राट या उसके वाइसराय और हाकिमो को नाराज़ करनेवालो को ख़ौफनाक़ सज़ायें दी जाती थीं। दरबार की साज़िशो में मैकियावैली के उसूल काम में लाये जाते थे। अकबर की दरियादिली, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था गुज़री हुई बात होगई थी। घटनायें विनाश की ओर ले जारही थीं।

इसके बाद महान मुग़ल ख़ानदान का आख़री आदमी औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को जेलख़ाने में डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक ४८ वर्ष राज्य किया। वह अपने दादा जहाँगीर की तरह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न उसे अपनें पिता शाहजहाँ की तरह शिल्प-कला से प्रेम था। वह तो एक पक्का ज़ाहिद यानी तपस्वी और कट्टर मुसलमान था, जो अपने मज़हब के सिवा और किसी मज़हब को सहन नही करता था। औरंगज़ेब बहुत सादामिज़ाज और क़रीब-करीब संन्यासी था। उसने हिन्दुओ पर ज़ुल्म

करने की नीति जानबूझ कर इख़्तियार की। जानबूझ कर ही उसने अकबर की, सबको खुश रखने और सबको मिलाने की, नीति को उलट दिया और इस तरह जिस नींव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था उसको बिलकुल हटा दिया। उसने हिंदुओ पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया। जहाँतक होसका हिन्दुओ से सब ओहदे छीन लिये। जिन राजपूत सरदारो ने अकबर के वक्त से इस राजघराने की मदद की थी उन्हींको उसने नाराज़ करके राजपूतो से लड़ाई मोल ले ली। उसने हज़ारो हिन्दू मन्दिरो को बरबाद करवा दिया और पुराने ज़माने की कितनी ही इमारतें धूल में मिला दी गई। जहाँ एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके कब्ज़े में आगये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहाँ दूसरी ओर इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारो तरफ़ दुश्मन पैदा होरहे थे। जज़िया के विरोध में हिन्दुओ की तरफ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी उसमें लिखा था कि यह कर "इन्साफ के ख़िलाफ है, यह नीति के भी ख़िलाफ है क्योकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिलकुल नई बात है और हिन्दुस्तान के नियमो को भंग करती है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहाँपनाह के राज में बहुत से लोग साम्राज्य के ख़िलाफ़ हो गये है जिसका लाज़मी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जावेगे क्योंकि सब जगह बेरोक-टोक मारकाट और लूट-खसोट का बाज़ार गरम हो रहा है। आपकी रिआया पैरो तले रौंदी जाती है। आपके साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जारहा है, आबादी कम हो रही है और मुसीबते बढती जारही है।"

आम लोगो में फैली हुई यह मुसीबत और ग़रीबी उन भारी तब्दीलियो की शुरुआत थी जो अगले पचास-साठ वर्षों में हिन्दुस्तान में होने वाली थीं। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद महान् मुग़ल साम्राज्य का एकदम और पूरी तौर पर विनाश इन्ही तब्दीलियो में से एक था। बडी-बडी तब्दीलियों और बडी-बडी तहरीको के असली कारण आर्थिक हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि योरप और चीन के बडे-बडे साम्राज्यो के पतन के शुरू में, और साथ-साथ, आर्थिक गिरावट हुई और बाद में क्रान्ति होगई। यही हाल हिन्दुस्तान में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यो का पतन हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का पतन उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियो की वजह से हुआ। वह बिलकुल टुकडे-टुकडे हो गया। लेकिन हिन्दुओ में जो विद्रोह की भावना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उबलने पर आगई थी, उससे इस सिलसिले में

वडी मदद मिली। मगर यह खास तरह की मजहबी हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगजेब के राज्य से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और बहुत मुमकिन है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगजेब इतना कडुवा और असहिष्णु हो गया हो। मराठे और सिक्ख इस हिन्दू जागृति की तेज नोक थे और, जैसा कि मैं अगले ख़त में लिखूगा, मुग़ल साम्राज्य का ख़ातमा इन्हींके हाथो से हुआ। लेकिन इस क़ीमती विरासत से वे कुछ फायदा न उठा सके। जब कि ये लोग आपस में लड़ रहे थे, अँग्रेज चुपचाप चालाकी के साथ घुस आये और लूट का माल हड़प कर गये।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल सम्राट फौज के साथ सफर करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था? वह एक बडा जबरदस्त मजमा होता था जिसका घेरा तीस मील और आबादी करीब पाच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलने वाली फौज तो होती ही थी लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखो दूसरे लोग और सैकडो बाजार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरो में उर्दू यानी 'लश्कर' की ज़बान का विकास हुआ।

मुगल काल के बहुत-से चित्र अब भी मिलते है जो बडे सुन्दर और बारीक है। सम्राटो की तसवीरो की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगा कर औरंगजेब तक तमाम बादशाहो के व्यक्तित्व को ये तसवीरे बडी खूबी के साथ प्रकट करती है।

मुग़ल सम्राट दिन में कम से कम दो बार झरोखे में से लोगो को दर्शन दिया करते थे और अर्जियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० में अग्रेज सम्राट जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए हिन्दुस्तान आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अँग्रेज लोग समझते है कि हिन्दुस्तान का राज्य उनको मुग़लो से विरासत में मिला है और इसलिए वे शान-शौक़त और बेहूदा तड़क-भड़क में मुगलो की नक़ल उतारने की कोशिश करते है। मैं तुमको पहले बतला चुका हूँ कि अँग्रेज बादशाह को मुगल शासको का ख़िताब 'कैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आजकल भी दुनिया भर में इतनी शान-शौकत और नुमायशी ठाठ-बाट शायद और कही न मिले, जितना हिन्दुस्तान में अँग्रेजी वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने अभी तक तुम्हे यह नही बतलाया है कि पिछले मुगल बादशाहो का विदेशियो के साथ कैसा ताल्लुक था। अकबर के दरबार में पोर्चुगीज पादरियो पर ख़ास मेहरबानी रहती थी और योरप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हींके जरिये था। अकबर इनको योरप की सबसे ताकतवर क़ौम समझता

था क्योकि समुद्र पर इनका कब्ज़ा था। अंग्रेज़ो का उस वक्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बडी इच्छा थी और उसने उस पर हमला भी किया मगर कामयाबी न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसद नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है क्योकि उस ज़माने में पूर्व बगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरो से चल रहा था। लेकिन ये जहाज ज्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुकाबिला करने की यह लाचारी मुग़ल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाज़ी ताकत का ज़माना आगया था।

जब अंग्रेज़ लोगो ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पोर्चुगीज़ो को उनसे डाह हुई और उन्होने जहागीर के कान उनके ख़िलाफ भरने में कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो १६१५ ई० में किसी तरह जहागीर के दरबार में जापहुँचा। उसने साम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इडिया कम्पनी के व्यापार की जड जमा दी। इसी अर्से में अंग्रेज़ी बेडे ने हिन्दुस्तान के समुद्र में पुर्तगाल के बेडे को हरा दिया। इग्लैंड का सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डच लोगो और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पोर्चुगीज़ो को पूर्वी समुद्रो से बाहर निकाल दिया और तुम्हे याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी १६४१ ई० में डच लोगो के हाथ आगया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहाँ और पोर्चुगीज़ो के बीच लड़ाई हुई। पोर्चुगीज़ बाकायदा ग़ुलामो का व्यापार करते थे और लोगो को जबरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पोर्चुगीज़ो ने बडी बहादुरी से रक्षा की लेकिन मुग़लो ने हुगली पर क़ब्जा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार की इन लड़ाइयो से थक गया। उसने साम्राज्य के लिए लडना-झगड़ना छोड दिया, लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहो से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्जा है।

इसी दौरान में अंग्रेज़ो ने मदरास और सूरत के पास, हिन्दुस्तान के समुद्रतट के नगरो में, कारख़ाने खोल दिये। खास मदरास की नींव उन्होने १६३९ ई० में डाली। १६६२ ई० में इग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन ऑफ ब्रंगैन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनो बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगजेब के राज्य काल में हुई। पोर्चुगीज़ो के ऊपर फतेह पाने के नशे में चूर ईस्ट इडिया कपनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, १६८५ ई० में हिन्दुस्तान में ज़बरदस्ती अपना राज्य बढ़ाने की कोशिश की।

लेकिन नुकसान उठाना पडा। इंग्लैंड से लडाई के जहाज दौडे हुए आये और औरंगजेब के राज्य में पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गये। लेकिन अभी मुगलो में उनको पूरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अंग्रेजो ने इससे सबक लिया और आगे के लिए वे बहुत सावधान होगये। औरंगजेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति जाहिरा तौर पर नष्ट होरही थी, बहुत वर्षो तक कोई बडा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। १६९० ई० में जॉब चार्नोक नाम के एक अंग्रेज़ ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मदरास, बम्बई और कलकत्ता इन तीनो शहरो की स्थापना अंग्रेजो के हाथो से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेजो की ही मेहनत से बढे।

अब फ्रास ने भी हिन्दुस्तान में कदम रक्खा। एक फ्रासीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत और दूसरी कई जगहो में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर खरीद लिया जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में करीब नव्वे वर्ष की बडी उम्र में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसकी छोडी हुई शानदार सम्पत्ति यानी हिन्दुस्तान को हथियाने के लिए लड़ाई-झगडो की शुरूआत हुई। इन झगडनेवालो में एक तो खुद उसकी ही नाकाबिल औलाद और बडे-बडे हाकिम थे; उधर मराठे और सिक्ख थे, दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दांत लगाये हुए थे, और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अंग्रेज़ और फ्रांसीसी थे। ऐसी हालत में बेचारे हिन्दुस्तान के लोगो का तो परमात्मा ही मालिक था।

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगजेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों मे हिन्दुस्तान अजीब तौर से टुकडे-टुकडो में बँटा रहा। उसकी हालत एक सैरबीन की तरह हो रही थी जिसमें हर वक़्त तब्दीलियाँ होती रहती थीं लेकिन देखने में वे कोई ख़ूबसूरत न थीं। ऐसा जमाना ले-भग्गुओ के या ऐसे लोगो के काम का होता है, जो साधनो और उपायो की परवाह नहीं करते और मौके को हाथ से न निकलने देने के लिए दुस्साहसी होने के अलावा भले-बुरे का भी कुछ विचार नहीं करते। इसलिए सारे हिन्दुस्तान में इस

तरह के ले-भग्गू पैदा होगये। इनमें ख़ास हिन्दुस्तान के रहने वाले थे, उत्तर-पश्चिम के देशो से आने वाले थे, और वे लोग थे जो अंग्रेजो और फ्रांसीसियो की तरह समुद्र पार से आये। हरेक आदमी या गिरोह अपना-अपना उल्लू सीधा करना चाहता था और दूसरो को भट्टी में झोकने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़तम कर देते थे लेकिन बाद में ये दोनो आपस में ही लड मरते थे। रियासतें छीनने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए और लूटमार करने के लिए जी तोडकर कोशिशें हो रही थीं। लूट-मार ज्यादा-तर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी, लेकिन कभी-कभी व्यापार के पतले परदे से भी ढकी रहती थी। और इस सब के पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[१] की तरह ग़ायब हो रहा था और जिसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम-मात्र के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी, या वह दूसरो का कैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और उफान, और तोड-मरोड उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे जो भीतर ही भीतर हो रही थी। पुरानी आर्थिक रूढियाँ टूट रही थीं, सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह भी ख़तम हो रही थी। देश में जो नई हालते पैदा होरही थीं, यह उनके अनुकूल न थी। ये ही घटनायें हम योरप में देख चुके है और व्यापारी वर्ग की तरक्क़ी भी देख चुके है, जिसे स्वेच्छाचारी शासको ने रोक दी थी। सिर्फ इंग्लैड में, और कुछ हद तक हॉलैंड में, बादशाहो पर लगाम लगादी गई थी। जिस वक्त औरंगजेब गद्दी पर बैठा उस वक्त इंग्लैड में वह थोडे दिन टिकने-वाला प्रजातन्त्र शासन था जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना। और औरंगजेब के ही राज्यकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से और १६८८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से इंग्लैड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैड में जो पार्लमेंट-जैसी एक आधी लोक सत्तावाली कौंसिल थी उससे इस लडाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज थी जो सामन्त सरदारो के और बाद में बादशाह के ख़िलाफ खडी हो सकती थी।

योरप के बहुत से दूसरे देशो में और ही तरह की हालतें थीं। फ्रास में अभी तक औरंगजेब का समकालीन महान् सम्राट चौदहवाँ लुई, औरंगजेब के राज्यकाल के अन्त तक था, और उससे भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ करीब-क़रीब अठारहवीं सदी के अख़ीर तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा जब तक कि फ्रास की, इतिहास में मशहूर, राज्य क्रान्ति के रूप में जबरदस्त उफान नहीं आगया। जर्मनी में, जैसा कि

१ 'एलिस इन दि वडरलैंड' नामकी कहानी की पुस्तक मे बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली जो सदा मुस्कराती रहती थी।

हम देख चुके हैं, सत्रहवीं सदी बडी ख़ौफनाक गुज़री। इसी सदी में 'तीससाल की लडाई' हुई जिसने देश के टुकडे-टुकडे करके उसका सत्यानाश कर दिया।

अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान की हालत का मुकाबिला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है जो वहाँ तीस साल की लडाई के जमाने में थी। लेकिन यह मुकाविला ज्यादा आगे नहीं बढाया जा सकता। दोनो देशो में आर्थिक सकट पैदा होरहा था और पुराना सामन्त वर्ग अपना महत्व खो चुका था। हालाँकि हिन्दुस्तान में सामान्तशाही आख़री सासें ले रही थी लेकिन उसका ख़ातमा बहुत दिनो तक नहीं हुआ। और करीब-क़रीब मर चुकने पर भी उसके ऊपरी चिन्ह बने ही रहे। असल में आज दिन भी हिन्दुस्तान में और योरप के कुछ हिस्सो में सामन्तशाही के बहुत से पुराने निशान बाक़ी हैं।

इन आर्थिक तब्दीलियो का नतीजा यह हुआ कि मुग़ल साम्राज्य टूट गया, लेकिन इस मौके से फायदा उठाकर अधिकार छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इँग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का नेतृत्व करनेवाला कोई सगठन या कौंसिल भी न थी। हद दरजे के निरकुश शासन ने आम लोगो को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आज़ादी के जो कुछ भी पुराने ख़यालात थे, वे सब भुलाये जाचुके थे। लेकिन, जैसाकि आगे चलकर इसी ख़त में जिक्र किया जायगा, कुछ कुछ सामन्त वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानो ने अधिकार छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें कामयाबी के नजदीक भी पहुँच गईं। ध्यान देने की ख़ास वात यह है कि सामंतशाही के ख़ातमे और अधिकार हाथ में लेने को तैयार मध्यमवर्ग के विकास के बीच में, मालूम होता है, अन्तर पड गया। जब इस तरह का अन्तर पड जाता है तो जरूर गड़बड और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल हिन्दुस्तान में भी हुआ। छोटे-मोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना कब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे लेकिन वे सब एक सडी हुई प्रणाली के नुमाइदे थे इसलिए उनकी नींव मजबूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पडा जो इग्लैंड के मध्यमवर्ग के नुमाइदे थे और उन्हीं दिनो अपने देश में विजय प्राप्त कर चुके थे। समाजिक क्षेत्र में इस अग्रेज़ी मध्यम वर्ग का स्थान सामन्त वर्ग से ऊँचा था क्योंकि वह ससार की तरक्की करती हुई नई परस्थिति के मुआफिक था, उसका सगठन ज्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज्यादा अच्छे हथियार और औज़ार थे जिनके ज़रिये वह अधिक कारगर तरीको से लड़ सकता था और समुद्र पर भी उसका कब्ज़ा था। हिन्दुस्तान के सामन्त राजाओ का इस नई ताक़त से मुकाबिला करना नामुमकिन था और वे एक-एक करके इससे हारते गये।

इस ख़त की यह भूमिका काफी लम्बी हो गई। अब हमको जरा पीछे चलना चाहिए। औरगज़ेब के शासन के पिछले दिनो में आम लोगो के जो बलवे हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता का ख़याल दुबारा पैदा हुआ, उनका जिक्र मै अपने आख़री ख़त में और इस ख़त में भी कर चुका हूँ। अब मै इस बारे में कुछ और बतलाऊगा। मुग़ल साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सो में उस वक्त कुछ-कुछ धार्मिक रूपवाले सार्वजनिक आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पडने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्तिमय रहे, राजनीति से इनका कोई ताल्लुक न था। हिन्दी, मराठी, पजाबी वग़ैरा देशी जबानो में गीत और धार्मिक भजन बने जिन का प्रचार भी खूब हुआ। इन गीतों और भजनो से जनता में जागृति पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्मोपदेशको के पीछे बहुत से धार्मिक मत बन गये। आर्थिकप रिस्थितियो के दबाव ने जल्द ही इन मतो का ध्यान राजनैतिक सवालो की तरफ खींचा, शासक वर्ग यानी मुग़ल साम्राज्य से झगडा होने लगा। नतीजा यह हुआ कि इन मतो के दबाने की कोशिश की गई। इस जुल्म ने शान्तिमय धार्मिक मतो को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। इस तरह सिक्खो और कई दूसरे फिरको का विकास हुआ। मराठो का इतिहास ज्यादा पेचीदा है लेकिन वहाँ भी असल में यही दिखलाई पडता है कि मजहब और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लो के ख़िलाफ तलवार उठाई। मुग़ल साम्राज्य का नाश अग्रेजों के हाथो से नहीं हुआ बल्कि इन धार्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन और ख़ासकर मराठो की वजह से हुआ। इन आन्दोलनो के बढने में औरगजेब की असहिष्णु नीति से क़ुदरती तौर पर मदद मिली। यह भी मुमकिन है कि अपने शासन के ख़िलाफ इस बढती हुई धार्मिक जागृति ने औरगज़ेब को और भी चिढ़ा दिया हो और असहिष्णु बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानो ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया लेकिन वे तीस साल तक, जबतक औरज़ेब की मृत्यु न हो गई, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नजदीक है, इसलिए ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियो ने किया जो मामूली लोगों का एक मजहबी फिरक़ा था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियो का विद्रोह था और सरदारो, हाकिमो वग़ैरा की बग़ावत से बिलकुल जुदा था। उस जमाने का एक मुग़ल अमीर तग आकर इनके बारे में लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे नीच बाग़ियोंका एक गिरोह था जिसमें सुनार, बढ़ई, भगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' का अपने से बडों के ख़िलाफ बग़ावत करना बडी शर्म की बात थी।

अब हम सिक्खो की तरफ आते हैं और उनके इतिहास का बयान कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुमको गुरु नानक के बारे में बतलाया था। इनकी मृत्यु बाबर के हिन्दुस्तान में आने के कुछ ही साल बाद होगई। वह उन लोगो में से थे जिन्होने हिन्दू धर्म और इस्लाम को एक ही तख़्ते पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए जो इन्हीं की तरह शान्तिप्रिय थे और सिर्फ मजहबी मामलो में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब और सुनहरे मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवे गुरु अर्जुन सिंह हुए जिन्होंने ग्रन्थ साहब का सकलन किया, जो कहावतो और भजनो का सग्रह है और सिक्खो का पवित्र धर्म-ग्रन्थ माना जाता है; एक राजनैतिक जुर्म की सजा में जहाँगीर ने अर्जुनसिंह को बडी बेरहमी से क़त्ल करवा डाला। सिक्खो की ज़िन्दगी की घडी बस यही से बदल गई। गुरू के साथ जुल्म और बेरहमी के इस बर्ताव से वे लोग आग हो उठे और उन्होने तलवार उठाली। छठवे गुरु हरगोविंद की मातहती में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये और राज्य-शक्ति से टक्करें लेने लगे। गुरु हरगोविंद ख़ुद दस साल तक जहाँगीर की क़ैद में रहे। नवे गुरु तेग़बहादुर हुए। ये औरंगज़ेब के राज्य में थे। औरगज़ेब ने इनको इस्लाम क़बूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको कत्ल करवा डाला। दसवे और आख़िरी गुरु गोविंदसिंह थे। उन्होने सिक्खो को एक ताकतवर सैनिक जाति बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह का मुक़ाबिला करना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु से एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु न हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारी सिक्ख जाति में है, जो 'खालसा' यानी 'स्वीकृत' या 'विशिष्ट' कहलाती है।

औरगज़ेब के मरने के कुछ ही दिन बाद सिक्खो ने बग़ावत कर दी। इसको दबा तो दिया गया लेकिन सिक्ख लोग अपनी ताक़त बढ़ाते रहे और पंजाब में स्थिति को मजबूत बनाते रहे। आगे चलकर, इस सदी के अख़ीर में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावते मुसीबत पैदा करने वाली ज़रूर थीं मगर मुग़ल सम्राज्य को असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठो की बढती हुई ताक़त से था। शाहजहाँ के राज्य में भी शाहजी भोसले नाम के एक मराठा सरदार ने काफी तंग किया था। वह पहले तो अहमद नगर की रियासत और बाद में बीजापुर रियासत में अफ़सर रहा था। लेकिन मराठो का गौरव और मुग़ल साम्राज्य को थर्रा देने वाला अगर कोई था तो वह इसका

शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू करदी और पूना के पास पहली ही बार एक क़िला जीत लिया। वह एक बहादुर सिपहसालार, छापे मारकर लड़ाई करने में पूरा होशियार नायक और जोखिम उठाने वाला था। उसने बहादुर और मजबूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया जो उसपर जान देता था। इनकी मदद से उसने बहुत से क़िलों पर कब्ज़ा कर लिया। बीजापुर ने उसके ख़िलाफ़ एक सिपहसालार भेजा जिसे उसने मार डाला। औरंगजेब के सिपहसालारों का तो उसने नाक में दम कर दिया। १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहां अंग्रेज़ों का कारख़ाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगजेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक आज़ाद राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो उसने इसमें अपनी हतकइज्ज़ती और अपना अपमान समझा। उसे वहां क़ैद कर लिया गया लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगजेब ने उसे राजा का ख़िताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई का रास्ता इख़्तियार कर लिया और दक्षिण के मुग़ल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए उसे धन देने लगे। यही इतिहास में मशहूर 'चौथ', यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहां जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताक़त तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़ी शान-शौकत के साथ अपनी तख़्तनशीनी का जलसा किया। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक, बराबर उसकी जीतें जारी रहीं।

तुम्हें मराठा देश के केन्द्र पूना शहर में रहते कुछ वक़्त हो गया है और तुम्हें मालूम पड़ गया होगा कि वहां के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस मज़हबी और राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी कर चुका हूं, उसका यह प्रतिनिधि था। आर्थिक संकट और आम जनता की बुरी हालत ने ज़मीन तैयार करदी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त कवियों ने अपनी कविता और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगों को जागृति और एकता हासिल हुई और उसी समय उनका नेतृत्व करके फ़तह हासिल करने के लिए एक बड़ा और होशियार नेता पैदा हो गया।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुग़लों ने बेरहमी के साथ मरवा डाला लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में गायब होने लगा। सारे हाकिम राजधानी से अपना ताल्लुक़

तोड़कर आज़ाद बन बैठे। बगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ जाह ने एक राज्य कायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ जाह के ख़ानदान के हैं। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब खतम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्य के, नाम मात्र के कई बादशाह एक के बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर हुआ वैसे-ही-वैसे मराठो की ताकत बढ़ती गई। उनका प्रधान मत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा को भी पीछे ढकेलकर असली अधिकारी बन बैठा। पेशवाओ की गद्दी, जापान के शोगनो की तरह, पुश्तैनी मानी जानी लगी और राजा की कोई वकत न रही। दिल्ली का बादशाह इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठो के अधिकार को मजूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी सतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी कब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान पर सिर्फ मराठो का ही अधिकार होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ से अचानक एक हमला हुआ जिसने ताकत की तराज़ू का पलडा उलट दिया और उत्तर भारत के नकशे को ही बदल दिया।

यह ख़त काफी लम्बा हो गया है और अब मैं इसे ख़तम करना चाहता हूँ। हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग के बारे में जितना मैं लिखना चाहता था उससे ज्यादा लिख गया। लेकिन लाचार होकर मुझे इस बयान को अगले पत्र में जारी रखना पडेगा।

: ९२ :

हिन्दुस्तान में अपने प्रतियोगियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके है कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की हालत बहुत खराब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज से तो उसका कोई निशान ही बाक़ी न था। लेकिन दिल्ली और उत्तरी हिन्दुस्तान का इससे भी अधिक पतन होनेवाला था। जैसा कि मै तुम्हें बतला चुका हूं, हिन्दुस्तान में उन दिनो ले-भग्गुओ

का बोलवाला था। उत्तर-पश्चिम से अचानक एक लुटेरो के सरदार ने आकर धावा बोल दिया और बहुत सी ख़ून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहाँ के बनवाये हुए मशहूर तख़्त ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयकर हमला १७३९ ई० में हुआ और इसनें उत्तर भारत को बरबाद कर दिया। नादिरशाह नें अपनें राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ाली। इस तरह अफगानिस्तान हिन्दुस्तान से अलग होगया। महाभारत और गधार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफगानिस्तान का हिन्दुस्तान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। लेकिन अब वह बिलकुल अलग हो गया।

सत्रह वर्ष के भीतर दिल्ली पर एक और लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का वारिस हुआ था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठो की ताक़त लगातार बढती ही गई और १७५८ ई० में पजाब पर भी उनका कब्ज़ा हो गया था। उन्होने इन सब जीते हुए हिस्सो पर कोई सगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगो पर छोड देते थे। ऐसे उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल गया। लेकिन इसके बाद ही गाडी बिलकुल रुक गई। उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने लडाई के मैदान में औरो की मदद से मराठो की एक बडी फौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तरी हिन्दुस्तान का मालिक बन बैठा और उसे रोकने वाला कोई न था। लेकिन विजय के इस समय में उसे खुद अपने ही आदमियों में फिसाद और बगावत का सामना करना पडा और वह अपने देश को वापस लौट गया।

कुछ दिनो तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठो के तरक्की के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जिस बडे पुरस्कार को वे जीतना चाहते थे वह उनके हाथ से निकल गया। लेकिन उन्होने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर हिन्दुस्तान के अन्दर सबसे ज़बर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मै आगे बताऊँगा, इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुई और हिन्दुस्तान के भाग्य का निबटारा कुछ सदियो तक के-लिए हो गया। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे मुख्य ग्वालियर का सिन्धिया था बडौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब जिन घटनाओ का मैने ऊपर इशारा किया है, हमें उनपर आना चाहिए। दक्षिणी हिन्दुस्तान में इस ज़माने की ख़ास घटना अंग्रेज़ो और फ्रासीसियो की लड़ाई है। अठारहवी सदी में योरप में इग्लैंड और फ्रास की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि हिन्दुस्तान में भी लडते थे। लेकिन कभी-कभी योरप में दोनो देशो में बाकायदा सुलह होने पर भी हिन्दुस्तान में ये लड़ते रहते थे। दोनो तरफ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भग्गू थे, जिनकी सबसे बड़ी ख्वाहिश थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए आपस में इनमें बडा जबर्दस्त मुकाबिला रहता था। फ्रासीसियो के दल में उस समय सबसे जोरदार आदमी डुप्ले था और अंग्रेज़ो में क्लाइव। डुप्ले ने दो रियासतो के आपसी झगडो में दख़ल देने का फायदेमन्द खेल शुरू किया। पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर देदेता और बाद में रियासत हडप जाता। फ्रासीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा, लेकिन अंग्रेज़ो ने भी बहुत जल्दी उसकी तरकीबो और तरीक़ो को अपना लिया और उससे भी आगे बढ गये। भूखे गिद्धो की तरह दोनो दल कहीं की गड़बडी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गडबडें काफी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी विरासत के बारे झगडा होता तो शायद अंग्रेज एक दावेदार की और फ्रासीसी दूसरे की तरफदारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगडे (१७४६–१७६१ ई०) के बाद अंग्रेज़ो ने फ्रांसीसियो पर फतह पाई। हिन्दुस्तान पर हाथ पर हाथ मारने का साहस करने वाले इन लोगो को इग्लैंड की पूरी मदद मिलती थी, लेकिन डुप्ले और उसके साथियो को फ्रांस से ऐसी कोई मदद नहीं मिली। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। हिन्दुस्तान में रहने वाले अंग्रेज़ो की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट-इंडिया कम्पनी के दूसरे शेयर-होल्डर यानी हिस्सेदार थे और वे लोग पार्लमेण्ट और सरकार पर दबाव डाल सकते थे; लेकिन फ्रांसीसियो के ऊपर उस वक्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् साम्राट् चौदहवे लुई का पोता) था, जो मज़े के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अग्रेज़ो का जो कब्ज़ा था, उससे भी उनको बडी मदद मिली। अंग्रेज़ो और फ़ासीसी दोनो ही हिन्दुस्तानी सैनिको को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे, और चूंकि इन सिपाहियो के पास देशी फौजो से अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बडी भारी माँग रहती थीं।

बस, अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान में फ़ासीसियो को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पाडि-चरी नाम के फ्रासीसी शहरो को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादीऐसी हुई कि दोनो जगह एक भी मकान या उसकी छत बाक़ी न रहे। इस वक़्त से फ़ासीसियो

का हिन्दुस्तान की रगभूमि से खिसकाना जारी हो गया। बाद में उन्होने पाँडिचरी और चन्द्रनगर हासिल कर लिये और आज भी ये शहर उनके क़ब्ज़े में है। लेकिन उनका महत्व कुछ नहीं है।

इस ज़माने में अंग्रेज़ो और फ्रासीसियो की युद्ध भूमि सिर्फ हिन्दुस्तान तक ही सीमित न थी। योरप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहो में भी लडे। कनाडा में भी अँग्रेज़ो की जीत हुई। लेकिन थोडे दिन बाद ही इंग्लैंड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ्रास ने इन उपनिवेशो को मदद देकर अँग्रेज़ो से अपना बदला ले लिया। लेकिन इन सब बातो के बारे में हम आगे के किसी खत में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ्रासीसियो को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेज़ो के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था लेकिन वह किसी गिनती में न था। हाँ, दक्षिण में एक नया और ताक़तवर विरोधी हैदरअली था। वह पुराने विजय-नगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकडो का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिलकुल निकम्मे आदमी के क़ब्ज़े में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके है, एक ख़याल ही ख़याल रह गया था। लेकिन काफी मज़ेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक यानी नादिरशाह के हमले के, जिसने केन्द्रीय सरकार की परछाईं तक ख़त्म कर दी थी, बहुत वर्षों बाद तक भी अँग्रेज़ लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिन्ह-रूप नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हे याद होगा कि औरगज़ेब के समय में एक बार बगाल में अँग्रेज़ो ने सिर उठाने की कोशिश की थी लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका जोश इस तरह ठडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाँकि उत्तर की हालत तो मानो खुल्लम-खुल्ला किसी दिलेर आदमी को न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम के एक अँग्रेज़, जिसकी उसके देश-वासी एक ज़बरदस्त साम्राज्य बनाने वाले की हैसियत से बहुत तारीफ करते है, ऐसा ही हौसले वाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यों से वह बतलाता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते है। वह बडा साहसी, जोखिम उठानेवाला, हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाज़ी से भी नहीं चूकता था। बगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अँग्रेज़ों की बहुत-सी कार्रवाइयो से चिढ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढकर आया और उसने कलकत्ते पर

कब्जा कर लिया। कही जानेवाली 'काल-कोठरी' की दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के अफसरों ने बहुत से अंग्रेजों को रात में एक छोटी-सी दम घोटने वाली कोठरी में बन्द कर दिया और रात भर में उनमें बहुत से दम घुटकर मर गये। यह काम बिला शक जंगली और दिल दहलाने वाला है लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता। इसलिए बहुत से लोगों का खयाल है कि यह सारा किस्सा ज्यादातर झूठा है और, जो कुछ भी हो, बढ़ाकर जरूर बयान किया गया है।

नवाब ने कलकत्ते पर कब्जा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वजीर मीर जाफर को देश-द्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज, जिसका किस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर बदला लेने का अपना निराला ढंग इख्तियार किया। जाल-साजी और धोखे के जरिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लडाइयाँ हुआ करती हैं उनके मुक़ाबिले में यह लडाई छोटी थी, और इसे तो असल में क्लाइव ने, अपनी साजिशों से, लडाई शुरू होने के पहले ही, करीब-करीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल की किस्मत का फैसला कर दिया, और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य की शुरूआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाजी की इस शर्मनाक नींव पर हिन्दुस्तान का ब्रिटिश साम्राज्य बनाया गया। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य बनाने वालों का क़रीब-करीब यही ढंग होता है।

भाग्य चक्र का यह अचानक परिवर्तन बंगाल के ले-भग्गू और लालची अंग्रेजों के सरदार के कारण हुआ। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकने वाला कोई न रहा। बस, क्लाइव को अगुआ बनाकर उन्होंने बंगाल के ख़जाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने करीब २५ लाख रुपये नकद खुद अपनी नज़र किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बडी कीमती जागीर भी हडप कर ली। बाकी के सब अँग्रेज लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत हासिल करने के लिए बडी छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और विवेक तो सब बांधों को पाकर गया। अँग्रेज़ लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गये और अपनी मर्जी के माफिक़ नवाबों को बदलने लगे। हरेक तबादले के साथ घूस

और वेशकीमत नजराने चलते थे। शासन की जिम्मेदारी उनपर न थी, यह तो वेचारे वदले हुए नवाव का काम था, उनका काम तो था जल्दी से जल्दी धनवान वन जाना।

कुछ वर्ष वाद, १७६४ ई० में, अँग्रेजो ने वक्सर में एक और लडाई जीती जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाम मात्र का वादशाह भी उनकी शरण में आगया। उन्होने उसे पेन्शन दे दी। अव वगाल और विहार में अँग्रेजो का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे उससे उनको सतोष न हुआ और उन्होने रुपया वटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अव वे उन ज़कातो को, जो देशी माल के व्यापारियो को देनी पडती थीं, दिये विना ही व्यापार करने पर उतारू होगये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अँग्रेजो की यह पहली चोट थी।

उत्तर हिन्दुस्तान में अँग्रेजो की स्थिति अव ऐसी होगई थी कि ताकत और दौलत तो उनके हाथ में थी लेकिन जिम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट-इडिया कपनी के व्यापारी लुटेरो को यह पता लगाने की जरूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फर्क है। यह वह जमाना था जव अँग्रेज लोग हिन्दुस्तान से मालामाल होकर इग्लैंड लौटते थे और 'नवॉव' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे का 'वैनिटीफेयर'[1] पढा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमडी आदमी का तुमको ख़याल होगा।

राजनैतिक जोखिम और गड़वड़ें, वर्षा की कमी, और अग्रेज़ो की हड़पने की नीति वग़ैरा इन सब कारणो का नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में वँगाल और विहार में एक वडा भयकर अकाल पडा। कहा जाता है कि इन प्रान्तो की एक-तिहाई से ज्यादा आवादी ख़तम हो गई। इस दिल दहलाने वाली सख्या का ख़याल तो करो! कितने लाख आदमी भूख से तडप-तडप कर मर गये। प्रान्त के प्रान्त उजाड हो गये और वहाँ जगल पैदा हो गये जिन्होंने उपजाऊ खेतो और गाँवो को वरवाद कर दिया। भूख से मरनेवालो की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाव के पास न तो ताक़त थी, न अधिकार और न प्रवृत्ति। ईस्ट इडिया कम्पनी के पास ताकत और अधिकार तो थे लेकिन वे कोई जिम्मेदारी या मदद देने की तरफ झुकाव महसूस न करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी कावलियत और ख़ूबी के साथ किया कि तुम्हे ताज्जुव होगा कि भयकर अकाल के वावजूद भी उन्होंने वचे हुए

१ वैनिटीफेयर—थैकरे का लिखा हुआ अँग्रेज़ी का एक मशहूर उपन्यास। थैकरे अग्रेज़ी भाषा का मशहूर उपन्यासकार होगया है।

लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रकम वसूल करली ! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक यह काम उन्होंने 'ज़ोर-जबर्दस्ती के साथ' किया । महान् विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख़्त लोगों से जो यह जबरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई उसकी हैवानियत यानी अमानुषिकता को पूरी तरह ख़याल में लाना भी मुश्किल है।

बंगाल में और फ़्रांसीसियों पर फ़तेह हासिल कर चुकने पर भी दक्षिण में अंग्रेज़ों को बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा । आख़िरी फतेह मिलने से पहले उनको कई बार हारना और बेइज्ज़त होना पड़ा । मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था । वह एक काबिल और ख़ूँख़ार सेनानायक था और उसने अंग्रेजी फौजों को बार-बार हराया । १७६९ ई० में उसने ठेठ मदरास के क़िले के नीचे अपने माफिक सुलह की शर्तें लिखवालीं । दस साल बाद उसे फिर बहुत बड़ी कामयाबी मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का काँटा बन गया । टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर की दो लड़ाइयाँ और हुई । बहुत से साल लग गये और तब फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा बनाकर गद्दी पर बिठलाया गया ।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया । उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया की तूती बोलती थी और दिल्ली का बेचारा गरीब बादशाह उसकी मुट्ठी में था ।

इसी अर्से में इंग्लैंड से वॉरन हेस्टिंग्स भेजा गया । वह यहाँ का पहला गवर्नर-जनरल हुआ । ब्रिटिश पार्लमेंट अब हिन्दुस्तान के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी । हेस्टिंग्स हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत बिगड़ा हुआ और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था । हेस्टिंग्स के ज़रिये बहुत सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हैं । जब हेस्टिंग्स इंग्लैंड लौटा तो हिन्दुस्तान के शासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उस पर मुकदमा चलाया गया लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया । पहले क्लाइव की भी पार्लमेंट ने निन्दा की थी और वह असल में आत्महत्या करके मरा । इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इन पर मुक़दमे चलाकर इंग्लैंड ने अपनी आत्मा को सतुष्ट कर लिया लेकिन दिल ही दिल में वह इनकी तारीफ करता था और इनकी नीति से फायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था । क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बने, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनानेवालों के नमूने हैं, और जब तक ग़ुलाम क़ौमों पर जबरदस्ती साम्राज्य लादे जाँयगे और उनको चूसा जायगा,

तब तक ऐसे लोग आगे आवेगे और बहुत से लोग उनकी तारीफ भी करेगे। चूसने की तरकीबें अलग-अलग युगो में भले ही बदलती रहे लेकिन तत्व वही रहता है। पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही करदी हो लेकिन इन लोगो ने लंदन के ह्वाइट हाल में, इडिया ऑफिस के बाहर, सामने ही, उसकी एक मूर्त्ति खडी कर रक्खी है, भीतर भी उसकी आत्मा आजतक मौजूद है और भारत में ब्रिटिश नीति पर असर डालती रहती है।

हेस्टिंग्स ने अग्रेजो के मातहत कठपुतली के समान हिन्दुस्तानी राजाओ को रखने की नीति शुरू की। भारतीय रगमच पर सोने में मढे हुए और बेवकूफ महाराजाओं और नवाबो की जो भीड़ की भीड जो आज अकड़ती फिरती है और लोगो को बुरी मालूम होती है, उसका कुछ-कुछ श्रेय हमें हेस्टिंग्स को देना पडेगा।

हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढा वैसे ही वैसे मराठो, अफग़ानो, सिक्खो, बर्मनो वग़ैरो से बहुत सी लड़ाइयाँ हुई। लेकिन इन लड़ाइयो के बारे में एक ताज्जुब की बात यह थी कि हालाँकि ये इंग्लैंड के फायदे के लिए लडी गई थीं लेकिन इनका ख़र्चा हिन्दुस्तान को देना पडा। इंग्लैंड के रहनेवालो पर कुछ भी बोझ न पडा। उन्होंने तो मजे से फायदा उठा लिया।

याद रहे कि हिन्दुस्तान पर ईस्ट इडिया कपनी, जो एक व्यापारी कपनी थी, राज्य कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढ़ रहा था लेकिन ज्यादातर हिन्दुस्तान की किस्मत व्यापारी लुटेरो के एक गिरोह के हाथो में थी। शासन अधिकांश में व्यापार था और व्यापार अधिकांश में लूट थी। इनके बीच में भेद की बडी बारीक रेखा थी। कपनी अपने हिस्सेदारो को हर साल १००, १५०, और २०० फी सदी से ऊपर जबरदस्त मुनाफे बाँटती थी। इसके अलावा हिन्दुस्तान में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रकमें बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले में देख चुके हैं। कपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। हिन्दुस्तान में कपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: ९३ :

चीन का एक बड़ा मंचू राजा

१५ सितम्बर १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूँ और मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ। बडी भयानक ख़बर यह आई है कि बापू ने अनशन करके प्राण दे देने का इरादा

कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होने इतनी बडी जगह घेर रक्खी है, कांप रही है और टूटकर गिरने को हो रही है और मुझे चारो तरफ अंधेरा और सुनसान नज़र आरहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको आख़री बार हिन्दुस्तान से पश्चिम लेजाने वाले जहाज़ के डेक पर खडे हुए देखा था और उनकी वह तसवीर रह-रह कर मेरी आँखो के आगे आजाती है। क्या उन्हे अब मैं दुबारा नहीं देखूंगा ? जब मुझे शंका होगी और नेक सलाह की ज़रूरत होगी या जब मैं दुख और रंज में होऊंगा और मुझे प्रेमपूर्ण तसल्ली की ज़रूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊंगा ? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको स्फूर्ति दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेंगे ? हाय ! हिन्दुस्तान एक बदकिस्मत देश है जो अपने महान पुरुषो को इस तरह मरने देता है, और हिन्दुस्तान के लोग गुलाम हैं और उनके दिमाग़ भी गुलामो के से हैं जो ख़ुद अपनी आज़ादी को तो भूल बैठे हैं और ज़रा-ज़रा सी न-कुछ बातों पर झगडे-टटे करते रहते हैं।

मेरी तबियत लिखने को बिलकुल नहीं कर रही है और मैंने तो ख़तो के इस सिलसिले को ख़तम तक कर देने पर विचार कर लिया है। लेकिन यह एक बेवकूफी की बात होगी। इस कोठरी में पडा-पडा मैं क्या कर सकता हूँ, सिवाय इसके कि पढूं, लिखूं, और विचार करूँ और जब उकता जाऊँ और बेकरार होजाऊँ तो तुम्हारा ख़याल करूँ, तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली मुझे और किस बात में मिल सकती है ? रंज और आँसू इस दुनिया में कोई अच्छे साथी नहीं हैं। बुद्ध ने कहा है कि "समुद्र में जितना पानी है उससे भी ज्यादा आँसू बह चुके हैं", और यह कमबख़्त दुनिया जब तक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तब तक नमालूम कितने आँसू और बहाये जाँयगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने पड़ा है। वह बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जब तक वह काम पूरा न हो जाय तब तक हमको या हमारे पीछे आनेवालो को चैन नहीं मिल सकता। इसलिए मैंनें अपने मामूली रोज़मर्रा के कामो को जारी रखनें का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तरह तुमको ख़त लिखता रहूँगा।

मेरे आख़िरी कुछ ख़त हिन्दुस्तान के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा हैं उसका पिछला हिस्सा शानदार नहीं है। हिन्दुस्तान चारो ख़ाने चित्त पड़ा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके बडे भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ ही चलना चाहिए।

तुम्हे याद होगा कि मैंने तुमको मिंग युग के ख़ुशहाल दिनो का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें ख़राबिया और फूट घुस गई और चीन

के उत्तरी पड़ौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। इस आधे विदेशी राजवंश के राज्य में चीन बहुत ताक़तवर होगया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताक़त लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फालतू ताक़त को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढ़ाने में ख़र्च करते थे।

एक नया राजघराना शुरू-शुरू में अक्सर थोड़े से क़ाबिल राजा पैदा करता है और बाद में नालायकों से उसका ख़ातमा हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ ग़ैर-मामूली योग्यतावाले और निपुण राजा और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ ८ वर्ष की थी। ६१ वर्ष तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा जो अपने ज़माने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसका महत्त्व इस वजह से नहीं है, और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण है। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसके असाधारण साहित्यिक कामों के कारण। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ्रांस के महान सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन रहा था। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज्य किया, और एक रिकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में ७२ वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मारली। इन दोनों का मुक़ाबिला करना मज़ेदार बात है लेकिन यह मुक़ाबिला सब तरह से लुई को ही नीचा गिरानेवाला है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्ज़ों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमज़ोर बना दिया। मज़हबी मामलों में भी वह असहिष्णु था। कांग-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था लेकिन वह दूसरे मज़हबों के प्रति उदार था। उसके राज्य में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज्य में, मिंग संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊँचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्की भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी, साहित्य और शिक्षा उसी तरह चलते रहे जैसेकि मिंग राजाओं के ज़माने में थे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई की खोज हुई और तांबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू राजाओं की नीतिकुशलता और कामयाबी का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति को अपना कर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की ताक़त और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह से कांग-ही एक ग़ैर-मामूली और अजीब खिचड़ी था यानी दर्शन और साहित्य का लगन के साथ अध्ययन करने वाला और संस्कृति के कामों में डूबा

हुआ, और बडा काबिल सिपहसालार। उसे मुल्क जीतने का जरा ज्यादा शौक़ था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई दिखाऊ प्रेमी न था। उसके साहित्यिक कार्यो में से नीचे लिखी तीन किताबो से तुम उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाज़ा लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में तैयार की गई थीं।

तुम्हे याद होगा कि चीनी भाषा में चिन्ह (शब्द-सकेत) है, अक्षर नहीं है। काग-ही ने चीनी भाषा का एक कोष तैयार करवाया। यह एक ज़बर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हज़ार से ज्यादा चिन्ह थे और उनके प्रयोग बतलाने वाले कितने ही वाक्याश यानी जुमले थे। आजतक भी उसकी जोड का कोई ग्रथ नहीं है।

काग-ही के उत्साह ने हमको जो एक और ग्रथ दिया, वह था एक बडा भारी सचित्र विश्वकोष—यानी कई सौ जिल्दो में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रथ। यह एक पूरा पुस्तकालय था, इसमें हरेक बात का बयान था, हरेक विषय पर लिखा गया था। काग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ ताबे के उठाऊ छापो से छापा गया।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रथ का मै यहाँ जिक्र करूँगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड यानी ऐसा कोष जिसमें शब्दो और पुस्तको के अशो का सग्रह और उनका मुकाबिला किया गया था। यह भी एक ग़ैर-मामूली काम था क्योंकि इस-के लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था। कवियो, इतिहास लेखको और निबन्ध लेखको की पूरी-पूरी रचनायें इस ग्रथ में दी गई थीं।

काग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये। लेकिन किसी पर भी असर डालने के लिए ये तीन ही काफी है। इनमें से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बडी 'ऑक्सफोर्ड इग्लिश डिक्शनरी' के जिसे बनाने में कितने ही विद्वानो ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ वर्ष हुए पूरी हुई है।

काग-ही ईसाई धर्म और ईसाई मिशनरियो के प्रति काफी उदार था। वह विदेशो के साथ तिजारत बढ़ाने की कोशिश करता था और उसने चीन के सारे बन्दर-गाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि योरप के लोग बदमाशी करते है और उनपर निगाह रखने की जरूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारो के साम्राज्यवादियो के साथ साजिश कर रहे है। इसका नतीजा यह हुआ कि उसने ईसाई धर्म के प्रति अपनी उदारता के भावो को बदल दिया। बाद में कैण्टन के चीनी फौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली उससे उसके

शुबहो के काफी सबूत मिले। इस रिपोर्ट में बतलाया गया कि फिलिपाइन और जापान में योरप की सरकारो और उनके सौदागरो और मिशनरियो के बीच में कितना गहरा ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफारिश की थी कि हमलो और विदेशियों की साजिशो से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई धर्म के प्रचार को रोका जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशो में विदेशियो की साजिशो पर और उनके इन इरादो पर यह काफी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशो को विदेशी व्यापार कम करना पडा और ईसाई धर्म के प्रचार को रोकना पड़ा। तुम्हे शायद याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी जिसके कारण देश को दूसरो के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी और दूसरे लोग पिछडे हुए और अज्ञान है और ये विदेशियो से नफरत करते है और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्कते पैदा करते है। पर हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है उससे तो यह साफ जाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने जमाने से हिन्दुस्तान चीन और दूसरे देशो के बीच काफी तिजारत होती थी। विदेशियो या विदेशी व्यापार से नफरत करने का कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षो तक तो विदेशी मडियों पर हिन्दुस्तान का ही कब्जा रहा। जब विदेशी व्यापारियो के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी योरप की ताकतो के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको शक और शुबहे की नजर से देखा जाने लगा।

कैण्टन के अफसर की रिपोर्ट पर चीन की बडी राज्यसभा (Chinese Grand Council of State) ने विचार करके उसे मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट कांग-ही ने उसके मुताबिक कर्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियो के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी किये।

अब मै थोडी देर के लिए खास चीन को छोडकर तुम्हे एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूँ और यह बतलाना चाहता हूँ कि वहाँ क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौडा मैदान सुदूर पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मै कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौडा था। इसमें मचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे कबीले के मगोलो को बाहर निकालकर रूस भी एक मजबूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानो की तरफ बढ रहा था। ये दोनो साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते है।

एशिया में मगोलो का तेजी के साथ कमजोर होकर नष्ट होजाना इतिहास की अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और योरप में बजता था और जिन्होने चगेज खाँ और उसके वारिसो के राज्य में उस वक्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, अपना नाम तक खो बैठे। तैमूर के राज्य में कुछ दिनो तक इन्होने फिर सिर उठाया था लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खतम होगया। उसके बाद उसके ख़ानदान के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर शैली ईरानी कला का प्रचार हुआ। हिन्दुस्तान में आने वाला बाबर तैमूर के ही ख़ानदान का था। लेकिन तैमूरिये राजाओ के होते हुए भी रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मगोलिया तक सारे एशिया में मगोल जाति गिरकर अपनी सारी ताकत खो बैठी। उसने ऐसा क्यो किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगो की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, और लोगो की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओ और आक्रमणकारियो पर ख़ुद ही इधर-उधर से हमले हो रहे है।

मगोल साम्राज्य के टूट जाने के बाद करीब-करीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में रूसवालो ने जमीन के रास्ते चीन को एलची भेजे। उन्होने मिंग सम्राटो से राजनैतिक रिश्ता क़ायम करने की कोशिश की लेकिन कामयाब न हुए। थोडे दिन बाद ही 'यरमक' नाम के एक रूसी डाकू ने कज्जाको का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड को पार किया और एक छोटे से राज्य सिविर को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढते गये यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशात महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियो से मुठभेड हुई। दोनो में लडाई हुई जिसमें रूसवालो की हार हुई। १६८९ ई० में दोनो देशो में नरख़िन्स की सुलह हुई। सरहदें तय कर दी गई और व्यापार का इन्तजाम किया गया। योरप के एक देश के साथ चीनवालो की यह पहली सुलह थी। इस सुलह से रूस का आगे बढना तो रुक गया लेकिन कारवानो के व्यापार में बडी भारी तरक्क़ी हुई। उस जमाने में महान् पीटर (पीटर दि ग्रेट) रूस का जार था और वह चीन से नजदीक़ी सम्बन्ध कायम करने का इच्छुक था। उसने कॉंग-ही के पास दो बार एलची भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक दायमी एलची मुकर्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी एलची या राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी ख़त में जिक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट मार्कस ऑरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत मडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० में हालैंड और रूस के राजदूत-मडल चीन के दरबार में पहुँचे तो वहां उन्होंने 'महान् मुग़ल' के एलची देखे। ये जरूर शाहजहाँ के भेजे हुए होंगे।

: ६४ :

चीनी सम्राट का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मचू सम्राट ग़ैरमामूली तौर पर लम्बी उम्र वाले होते थे। काग-ही का पोता शियन-लुग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक, राज्य किया। दूसरी बातो में भी यह अपने दादा के ही जैसा था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्यिक कार्य और साम्राज्य की वृद्धि। इसने हिफाजत करने लायक सब साहित्यिक ग्रंथो की बडी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बडी बारीकी के साथ इनकी फेहरिस्त बनाई गई। इसके लिए फेहरिस्त लफ्ज ठीक नहीं है क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं वे सब लिखी गईं और साथ ही उनकी आलोचना भी जोड दी गई। शाही पुस्तकालय की यह बडी फेहरिस्त, जिसमें किताबों का जिक्र था, चार हिस्सो में थी--कन्फ्यूशियन धर्म-सम्बन्धी; इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी जमाने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियो और नाटको की तरक्की हुई और ये बडे ऊँचे दर्जे तक जापहुँचे। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि उन दिनो इंग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनो और चीनी कला की दूसरी ख़ूबसूरत चीजों की योरप में मांग थी और इनकी तिजारत का तार बध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह पहले मचू सम्राट के जमाने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद दूसरे चार्ल्स के जमाने में पहुँची थी। अंग्रेजी के मशहूर डायरी यानी दिनचर्या लिखने वाले सेम्युएल पीपीज की डायरी में १६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक

लिखावट है। चाय के व्यापार में बडी ज़बरदस्त तरक़्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में अकेले फूचू नाम के चीन के बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरे स्थानो में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल हिन्दुस्तान और सीलोन (लंका) में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर कब्जा करके अपना साम्राज्य बढाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई० में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढाई की। इस पर शियन लुग ने न केवल गुरखो को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की मातहती कबूल करने को मजबूर किया। नेपाल की यह फतेह एक मार्के की बात है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखों जैसी लडाकू जाति को, खास उन्हींके घर में, हरा देना एक ताज्जुब की बात है। सिर्फ २२ वर्ष बाद, १८१४ ई० में, ऐसी घटना हुई कि हिन्दुस्तान के अग्रेज़ो का नेपाल से झगडा हो गया। उन्होने नेपाल को एक फौज भेजी लेकिन उसे बडी दिक्कतो का सामना करना पडा, हालाकि उसे हिमालय को पार नहीं करना पड़ा था।

शियन-लुग के राज के आख़िरी साल यानी १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके कब्जे में था उसमें, मचूरिया, मगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बरमा। लेकिन देश विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बडे ख़र्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी ख़र्चा होता है और टैक्सों का भार बढता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा गरीबो पर ही पडता है। उस वक्त आर्थिक तब्दीलियाँ भी होरही थीं जिससे असन्तोष की आग और भी बढी। देशभर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियां कायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियो के लिए काफी मशहूर रहा है। इनमें से कुछ के नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति (व्हाइट लिली सोसाइटी), दैवीन्याय समिति (सोसाइटी ऑफ डिवाइन जस्टिस), श्वेत पख समिति (व्हाइट फैदर सोसाइटी), स्वर्ग और पृथ्वी की समिति (हैवन ऐन्ड अर्थ सोसाइटी)।

सब तरह की पाबन्दियो के होते हुए भी विदेशी व्यापार साथ-साथ बढ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियो में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बडा हिस्सा ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसीको अखरती थीं। जैसा

कि हम आगे के ख़तों में देखेंगे, यह ज़माना वह था जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जाने वाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैंड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का एंजिन ईजाद हो चुका था और नये तरीको और मशीनो के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ रही थी—ख़ासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था उसका बिकना भी लाज़मी था, इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थीं। इंग्लैंड बड़ा खुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक्त हिन्दुस्तान उसके कब्ज़े में था जिससे वह यहाँ अपने माल को ज़बरदस्ती बिकवाने का इतज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मडल पेकिंग भेजा। उस समय तीसरा जार्ज इंग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुग ने उसको दरबार में मुलाकात के लिए बुलाया और दोनो ओर से नज़राने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियो में कुछ भी हेर-फेर करने से इनकार कर दिया। शियन-लुग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था वह बडा मज़ेदार ख़रीता है और मै उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है :—

> " ऐ बादशाह, तू बहुत से समुद्रो की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत मडल भेजा है जो बाइज्ज़त तेरी अर्जी लेकर आया है । अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भेंट में भेजी है। मैंने तेरी अर्जी या प्रार्थनापत्र को पढा है जो दिली अल्फाज़ उसमे लिखे है उनसे मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो काबिल तारीफ है। •
>
> "सारी दुनिया पर राज्य करते होते हुए, मेरी निगाह मे केवल एक ही मकसद है यानी आदर्श शासन कायम करना और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यो पर अमल करना, आश्चर्यभरी और बेशकीमत चीजो से मुझे दिलचस्पी नही है। मुझे तेरे देश की बनी हुई चीज़ो की ज़रूरत नही है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओ का आदर करे और भविष्य मे इससे भी ज्यादा श्रद्धा और राज्यभक्ति दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे राज्यसिंहासन की छत्रछाया मे रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे ।
>
> "डर से कापते हुए आज्ञापालन कर और लापरवाही मत कर !"

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियो ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे ज़रा सकते में आगये होंगे। लेकिन जिस ऊँची सभ्यता में स्थिर विश्वास और जिस ताक़त

के बड़प्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका पाया असल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मजबूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुंग के राज्य में वह मजबूत थी भी। लेकिन उसकी जड़ें तब्दील होती हुई माली हालत की वजह से खोखली होती जा रही थीं। जिन गुप्त समितियो का मैंने ज़िक्र किया है वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। असली दिक्कत यह थी कि देश को इन नई आर्थिक तब्दीलियों के अनुकूल नहीं बनाया जारहा था। दूसरी तरफ पश्चिम के देश इन नई तब्दीलियो के अगुआ थे। वे बडी तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर दिन ताक़तवर होते जाते थे। सम्राट शियनलुंग ने इग्लैंड के तीसरे जार्ज को जो बड़ा घमड-भरा जवाब भेजा था। उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैंड और फ़ास ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमड को मिट्टी में मिला दिया।

चीन के बारे का यह क़िस्सा तो मै अपने दूसरे ख़त में बयान करूँगा। १७९६ ई० में, शियन लुग की मृत्यु पर, हम अठारहवीं सदी के करीब-करीब अख़ीर तक पहुँच जाते है। लेकिन इस सदी के ख़तम होने से पहले अमेरिका और योरप में बहुत सी ग़ैर-मामूली घटनायें हो चुकी थीं। असल में योरप में होने वाली लड़ाइयों और गडबडो के ही कारण करीब-करीब पच्चीस वर्ष तक चीन में योरप का असर कम होता रहा। इसलिए अगले ख़त में हम योरप की तरफ रुख़ करेगे और अठारहवीं सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे और हिन्दुस्तान तथा चीन की घटनाओ से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस ख़त को ख़त्म करने के पहले मै पूर्व में रूस की तरक्की का हाल तुमको बतलाऊँगा। रूस और चीन में १६८९ ई० में जो नरख़िन्स्क की सुलह हुई, उसके बाद करीब डेढसौ वर्ष तक पूर्व में रूस का असर बढता ही गया। १७२८ ई० में वाइटस बेरिंग नाम के एक डेनमार्क के कप्तान नें, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करने वाले जलडमरूमध्य (आबनाय) की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उस देश को रूस के मातहत होने का एलान कर दिया। अलास्का समूरो[1] के लिए ख़ास-तौर पर मशहूर है और चूंकि समूर की खालो की चीन में बडी भारी माग थी इस-लिए रूस और चीन के बीच समूर की खालो की एक ख़ास तिजारत का सिलसिला कायम

१ समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) मे एक लोमड़ी होती है जिसके बाल बहुत मुलायम होते है। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते है जो बडे कीमती होते है। अग्रेज़ी में समूर के बालो को फर (Fur) कहते है।

हो गया। अठारहवी सदी के अखीर में समूर की खालो वगैरा की मांग चीन में इस कदर बढ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाडी से इग्लैंड के रास्ते मगवाकर साइबेरिया में बैकाल झील के पास कियाख़्ता की समूर की खालो की बडी भारी मडी को रवाना करने लगा। ये समूर की खाले कितना जबरदस्त रास्ता तय करके आती थीं।

जरा तब्दीली के लिए यह ख़त इस तरह के और ख़तो से छोटा हो गया है। मुझे उम्मीद है कि यह परिर्वन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

अठारहवीं सदी के योरप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस योरप की तरफ चलेगे और उसके बदले हुए भाग्य पर ग़ौर करेंगे यह उन जबरदस्त तब्दीलियों की शुरूआत का वक्त है जिनका असर ससार के इतिहास पर पडा। इन तब्दीलियो को समझने के लिए हमको चीजो की भीतरी तह में झाँकना पडेगा और यह जानने की कोशिश करनी पडेगी कि लोगो के दिमाग़ में क्या-क्या बाते चक्कर लगा रही थीं। क्योकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पडती है वह विचारों और इच्छाओ, तआस्सुबो (पक्षपात) और अन्ध विश्वासो, उम्मीदो और ख़तरो की गुत्थी का नतीजा होती है, और जब तक कि हम किसी काम के साथ-साथ उसके कारणो पर विचार न करे तब तक उस काम को यो ही समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान बात नहीं है, और अगर मै इस क़ाबिल भी होऊँ कि इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओ को ढालने वाले इन कारणो और उद्देश्यो पर अच्छी तरह लिख सकू, तो भी मै यह कभी न चाहूँगा कि इन ख़तो को और भी ज्यादा नीरस और उकता देनेवाला बनादू। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में या किसी ख़ास ख़याल के बारे में जोश ही जोश में मै जरूरत से ज्यादा गहराई में न पहुँच जाऊँ। लेकिन मै लाचार हूँ। तुम्हे यह बर्दाश्त करनी पडेगी। फिर भी हम इन कारणो की ज्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड देना भी परले दरजे की बेवकूफी होगी, और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की कशिश या आकर्षण और ख़ासियत से महरूम रह जावेगे।

सोलहवीं सदी और सत्रहवीं सदी के पहले आधे हिस्से में योरप में जो उथल-पुथल और हलचलें मची उनपर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच

के समय में (१६४८) वेस्ट फैलिया की सुलह हुई जिससे उस भयानक 'तीस साला लड़ाई' का खातमा हो गया। एक साल बाद ही इग्लैंड की घरेलू लड़ाई खतम हो गई और चार्ल्स प्रथम का सर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति का जमाना आया। योरप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका और दूसरी जगहों के उपनिवेशो में व्यापार से योरप को धन मिलने लगा जिसमे कुछ मदद मिली और जुदे-जुदे गिरोहो की आपसी तनातनी कम हुई।

१६८८ में इग्लैंड में वह शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया। असली लडाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के ख़िलाफ गृह-यद्ध में जीती थी। क्राति ने तो ख़ाली उसी नतीजे पर मुहर लगा दी जो चालीस साल पहले तलवार के जोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इग्लैंड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन योरप में, सिवाय स्वीजरलंड और हॉलैंड-जैसे कुछ छोटे-छोटे मुल्को के हालत इससे उलटी थी। वहाँ तो अभी आजाद और निरकुश राजाओ का बोलबाला था और फ़ास के महान बादशाह चौदहवे लुई को आदर्श मानकर उसकी नक़ल की जाती थी। योरप में सत्रहवीं सदी करीब-करीब चौदहवे लुई की ही सदी थी। योरप के राजा लोग पूरी शान-शौक़त और बेवक़ूफी के साथ मनमानी मौज कर रहे थे, आगे आनेवाली अपनी बुरी हालत की उनको कोई फिक्र न थी और न वे इग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही सबक़ लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी ताक़त और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चारसौ वर्ष से ज्यादा हुए तब इरैस्मस नामके हालंड के एक विद्वान ने लिखा था.—"बुद्धिमानो को तमाम चिडियो में से एक ईगल (उकाब या गरुड) ही बादशाही का नमूना नजर आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खानें लायक, बल्कि मासभक्षी, भुक्खड, सबकी घृणा का पात्र, सबसे बुरा, नुक़सान पहुँचाने की बहुत बडी ताकत रखनेवाला और नुकसान पहुँचाने की इच्छा रखने में सब से बढकर है।" आज बादशाहो का क़रीव-क़रीब लोप हो चुका है और जो कुछ बचे है, वे पुरानें जमाने के चिन्ह मात्र है, उनके हाथ में कुछ भी ताकत नहीं है। अब हम उनको दरगुजर कर सकते है। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे ज्यादा ख़तरनाक आदमियों ने लेली है और नये युग के इन साम्राज्यवादियो तथा लोहे और तेल और चाँदी और सोने के बादशाहो की ठीक अलामत अब भी ईगल ही है।

योरप की बादशाहतें मजबूत केन्द्रीय रियासतें बन गईं। राजा और सरदार की पुरानी सामन्तशाही ख़तम हो चुकी थी या होरही थी। देश के एक इकाई और

एक हस्ती होने का नया ख़याल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ेरिन नाम के दो बड़े क़ाबिल मन्त्रियों के समय में फ्रास इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। धर्म, जो अभी तक इन्सान की जिन्दगी की सबसे महत्वपूर्ण चीज़ थी, अब अपना महत्व खोने लगा और उसकी जगह नये विचारो ने ले ली, जैसा कि मैं इसी ख़त में आगे चलकर बतलाऊँगा।

सत्रहवीं सदी इस कारण और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नींव रक्खी गई और सारी दुनिया का व्यापार खुल गया। इस बड़े भारी नये बाज़ार ने क़ुदरती तौर पर योरप की पुरानी माली हालत को डाँवाडोल कर दिया और इसके बाद योरप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आसकता है जब इस नये बाज़ार को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक्की हुई और इसने दुनिया-भर के बाज़ार की माँग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ाने की दौड़ का, जो ख़ासकर इंग्लैंड और फ्रास के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ योरप में ही बल्कि कनाडा और, जैसाकि मैं लिख चुका हूँ, हिन्दुस्तान में भी, लड़ाई चेत गई। सदी के बीच में इन लड़ाइयो के बाद फिर एक शान्ति का ज़माना आया। योरप की ऊपरी सतह शान्त और हलचल से सूनी नज़र आने लगी। योरप के सारे शाही दरबार बड़े ही विनीत, सभ्य और नफीस महिलाओ और पुरुषो से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ ऊपरी सतह पर थी। भीतर ही भीतर खलबली और हलचल मच रही थी और नये ख़याल तथा नई भावनायें लोगो के दिमाग़ को परेशान कर रही थीं, और शानदार दरबारियो और कुछ ऊपर के वर्गो को छोड़कर बाकी के ज्यादातर लोगो को बढ़ती हुई ग़रीबी के कारण, दिन पर दिन ज्यादा मुसीबतें झेलनी पड़ रही थीं। इसलिए अठाहरवीं सदी के पिछले हिस्से में योरप में जो शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी, वह तो आनेवाले तूफान की सूचक थी। १७८९ ई० की १४ वीं जुलाई को योरप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफान की शुरुआत हुई। इस तूफान में यह बादशाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और घुने हुए रिवाज और अधिकार बह गये।

इस तूफान और बाद में होनेवाली तब्दीली की तैयारी फ्रास और कुछ-कुछ योरप के दूसरे देशों में भी, बहुत दिनो से नये विचारो के ही कारण हो रही थी। सारे मध्य युग में योरप में मज़हब का ही दौरदौरा था। बाद में, रिफार्मेशन के ज़माने में भी, यही हालत रही, हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनैतिक हो या

आर्थिक, मजहबी पहलू से विचार किया जाता था। मजहब एक संगठित चीज़ था और उसका मतलब था पोप और चर्च के दूसरे ऊँचे अफसरों की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत कुछ ऐसा ही था, जैसा हिन्दुस्तान में जातियों का। शुरू-शुरू में जाति का मतलब था समाज के धन्धों या कामों के मुताबिक होनेवाला बँटवारा। मध्ययुग में समाज के सम्बन्ध में लोगों के जो ख़याल थे उनकी जड़ यही पेशों के मुताबिक बने हुए सामाजिक वर्ग थे। हरेक वर्ग में, हिन्दुस्तान की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो या ज्यादा जातियों के बीच में यह बराबरी की भावना न थी। समाज का सारा ढाचा ही इस असमानता की नींव पर खड़ा था और कोई इस पर ऐतराज़ करनेवाला न था। इस बँटवारे से जिनको तकलीफ होती थी उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा।" इस तरह मजहब इस अन्याय से भरे हुए सामाजिक ढाचे को बनाये रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ से हटाने की कोशिश करता था। अमानतदारी या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जो कहलाता है उसका भी यह मजहब प्रचार करता था, यानी उसके मुताबिक दौलतमंद आदमी एक तरह से ग़रीब आदमी का अमानतदार था; जमींदार अपनी ज़मीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता था। एक बड़ी बेतुकी स्थिति को समझाने का चर्च का यह तरीक़ा था। इससे अमीरों का कुछ बनता-बिगड़ता न था और ग़रीबों को कोई आराम न पहुँचता था। भूखे पेट में भोजन की जगह ख़ाली स्थानपन्न की बातों से काम नहीं चल सकता।

कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों की सख़्त मजहबी लड़ाई, कैथलिक और कालविन के अनुयायियों—दोनों—की असहिष्णुता, और इनक्विज़िशन, ये सब इस कट्टर मजहबी और जातिगत दृष्टिकोण के ही नतीजे थे। जरा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि योरप में प्यूरिटनों ने लाखों स्त्रियों को जादूगरनी बतलाकर जिन्दा जला डाला। विज्ञान के नये ख़यालात को दबाया जाता था क्योंकि ये चर्च के मत के ख़िलाफ थे। जीवन को बिलकुल स्थिर और प्रगतिहीन समझा जाता था, तरक्की का कोई सवाल न था।

सोलहवीं सदी के बाद ये ख़याल हमको धीरे-धीरे बदलते हुए मालूम होते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मजहब का सब चीज़ों को जकड़ने वाला शिकजा ढीला पड़ जाता है, राजनीति और अर्थशास्त्र मजहब से अलग समझे जाते हैं। कहते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में बुद्धिवाद की, यानी अंधविश्वास के मुकाबिले में तर्क की बढ़ती होती है। यह माना जाता है कि सहिष्णुता की विजय दरअसल

अठारहवीं सदी में ही कायम हुई हैं। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग मजहब को अब उतना महत्व नहीं देते थे जितना पहले दिया जाता था। यह सहिष्णुता क़रीब-क़रीब उदासीनता थी। जब लोगो में किसी बात के लिए बहुत ज्यादा जोश होता है तो वे उस बारे में सहनशील वहुत कम होते हैं, जब वे उस बात की पर्वाह नही करते सिर्फ तभी वे उदारता के साथ अपनी सहनशीलता का ऐलान करते हैं। उद्योगवाद और मशीनो के प्रचार के साथ मजहब के बारे में और भी उदासीनता बढ़ने लगी। विज्ञान ने योरप की पुरानी रूढ़ियो की जड ही काट दी; नये उद्योग-धन्धो और आर्थिक हालतो ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होने लोगो का ध्यान अपनी तरफ खींच लिया। इस तरह योरप में लोगो ने मजहबी विश्वास और रूढि के सवालो पर एक दूसरे का सिर फोडने की आदत छोड दी (लेकिन पूरी तरह से नहीं), इसके बजाय अब उनमें आर्थिक और सामाजिक मामलो पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

योरप के इस मजहबी ज़माने का मुक़ाबिला आजकल के हिन्दुस्तान से करना दिलचस्प भी है और शिक्षाप्रद भी। अक्सर तारीफ़ और हिकारत दोनो के तौर पर, यह कहा जाता है कि हिन्दुस्तान तो धार्मिक और आध्यात्मिक देश है। उसका मुक़ाबिला योरप से किया जाता है जो अधार्मिक और ज़िन्दगी के ऐश-आराम को ज़रूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँतक हिन्दुस्तान के दृष्टिकोण पर धर्म का रग चढ़ा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव में यह मजहबी हिन्दुस्तान सोलहवीं सदी के योरप से अजीब तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस तुलना को बहुत ज्यादा नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन यह स्पष्ट है कि क्या तो धार्मिक विश्वास और रूढियो को हमारी ज़रूरत से ज्यादा महत्व दिया जाना, क्या हमारा राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नो को मजहबी फिरको के हितो से मिलाना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगडे और इसी तरह के सवाल, इन सब में वही घटनाचक्र है जो मध्यकाल के योरप में चल रहा था। अमली और जड़वादी योरप और आध्यात्मिक और परलोकवादी पूर्व का तो वहाँ कोई सवाल ही नहीं है। फ़र्क़ है तो एक उद्योगी और मशीन का ख़ूब प्रयोग करनेवाले योरप में—उसकी तमाम अच्छी और बुरी बातो के साथ—और उस पूर्व में जहाँ अभी तक उद्योग-धन्धो की ज्यादा शुरूआत नहीं हुई थी और जहाँ ज्यादातर खेती-बाडी का ही काम होता था।

योरप में सहिष्णुता और बुद्धिवाद का यह विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू में इसे पुस्तको से ज्यादा मदद नहीं मिली क्योकि लोग ईसाई धर्म की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा था कैद या और

कोई सजा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया कि उसने कनफ्यूशियस की बहुत ज्यादा तारीफ करदी थी। यह ईसाई धर्म पर आक्षेप समझा गया। लेकिन अठारहवी सदी में, जबकि ये नये ख़याल स्पष्ट और सार्वजनिक हो गये, तो इन विषयो के बारे में पुस्तके निकलने लगी। बुद्धिवाद सम्बन्धी और दूसरे विषयो पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्टेयर नाम का एक फ्रासीसी था जिसको क़ैद करके देश से निकाल दिया गया और जो आख़िरकार जिनेवा के पास फर्नी में जाकर रहा। जेल में उसे काग़ज और कलम-दवात नहीं दिये गये। इसलिए उसने किताबो की लाइनों के बीच-बीच में सीसे के टुकडो से कवितायें लिखीं। बहुत थोडी उम्र में ही वह एक मशहूर आदमी हो गया। दरअसल जब लोगो का ध्यान उसकी असाधारण योग्यता की तरफ खिचा तब वह सिर्फ दस ही बरस का था। वाल्टेयर अन्याय और कट्टरपन्थी से सख्त नफरत करता था। और इनके ख़िलाफ वह बहुत लडा। उसकी मशहूर पुकार थी--Ecrasez l'infame यानी 'इस घृणित चीज (झुठे विश्वास) को नष्ट कर दो'। वह बहुत दिन यानी १६९४ से १७७८ तक जिया और उसने कितनी ही किताबें लिखीं। चूंकि वह ईसाई धर्म की आलोचना करता था इसलिए कट्टर ईसाई लोग उससे सख़्त नफरत करते थे। अपनी एक किताब में उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जाच-पड़ताल किये किसी धर्म को इख़्तियार कर लेता है, वह उस बैल के समान है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगो को बुद्धिवाद और नये विचारो की तरफ झुकाने में वाल्टेयर की रचनाओ का बड़ा भारी असर पड़ा। फर्नी में उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगो के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक दूसरा बड़ा लेखक, जो वाल्टेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे छोटा था, जीन जैकस रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ और जिनेवा को उसपर बड़ा नाज है। क्या तुमको वहाँ पर जो उसकी मूर्ति है उसका ख़याल है ? रूसो ने धर्म और राजनीति पर जो कुछ लिखा उससे बडा हो-हल्ला मचा। लेकिन फिर भी उसके नवीन और जरा साहसपूर्ण सामाजिक और राजनैतिक मतो ने बहुतो के दिमाग़ में नये ख़यालात और नये इरादो की आग सुलगा दी। उसके राजनैतिक विचार आजकल के जमाने के अनुकूल नहीं रहे है, लेकिन उन्होने फ्रास के लोगो को उस महान् राजक्राति के लिए तैयार कराने में बडा भारी हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्राति का प्रचार नहीं किया, शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी किताबो और ख़यालो ने जरूर लोगों के दिमाग में ऐसा बीज बो दिया जिसका फल क्राति के रूप में प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहूर पुस्तक 'सोशल

काण्ट्रैक्ट' यानी सामाजिक शर्तनामा है और इस मशहूर वाक्य से शुरु होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूँ) "Man is born free but is everywhere in chains" यानी "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, लेकिन वह सब जगह जजीरो में जकडा हुआ है।"

रूसो एक जबरदस्त शिक्षा-प्रचारक भी था और उसके बतलाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीक़े आज भी स्कूलो में बरते जाते हैं।

अठारहवीं सदी में फ्रास में वाल्टेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से प्रसिद्ध विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ माण्टेस्क्यू[1] के नाम का जिक्र और करूँगा जिसने 'एस्प्रित दी लोई' नामकी किताब लिखी। पेरिस में इसी के समय में एक विश्व कोष भी प्रकाशित हुआ जो दिदरोत और राजनैतिक और सामाजिक विषयो के दूसरे विद्वान् लेखको के लेखो से भरा पडा था। फ्रास दार्शनिको और विचारको से भरा हुआ नज़र आता था। इतना ही नहीं, इनकी पुस्तके भी खूब पढी जाती थीं और यह इसमें कामयाब हो गये कि हजारो मामूली लोग इन्हींकी तरह सोचने और ख़याल करने लगे और इनके मतो पर बात-चीत करने लगे। इस तरह फ्रास में एक ऐसा जोरदार लोकमत पैदा हो गया जो धार्मिक असहिष्णुता और राजनतिक और समाजिक रिआयतो के ख़िलाफ था। लोगो पर आजादी की अस्पष्ट इच्छा का एक भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिंड छुडाना चाहते थे। उस वक्त प्रजातन्त्र की भावना सब लोगो में न थी, और जनता तो यही उम्मीद करती थी कि उसे प्लेटो के दार्शनिक बादशाह से मिलता जुलता एक आदर्श राजा मिले जो उनकी तकलीफो को दूर करे और उनको न्याय और थोडी बहुत स्वाधीनता दे दे। जो कुछ भी हो, दार्शनिको ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे में शक होने लगता है कि आखिर पीडित जनता बादशाह से कितनी मुहब्बत करती थी!

इग्लैण्ड में फ्रास की तरह का राजनैतिक विचारो का कोई विकास नहीं हुआ। कहा जाता है कि अग्रेज राजनैतिक जन्तु नहीं हैं। लेकिन फ्रासीसी हैं। इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनातनी को कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी बहुतेरी सुविधाओ और रिआयतो का उपभोग कर रहे थे। नई

१ माण्टेस्क्यू—(१६८९–१७५५) फ्रास का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि उस ज़माने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ सस्करण हो गये। उसके विचारो के कारण चर्च ने उस पर ज़बर्दस्त आक्रमण किया था।

आर्थिक परिस्थितियो, जिनके बारे में जल्दी ही किसी अगले ख़त में मै तुमको लिखूंगा, और व्यापार और अमेरिका तथा हिन्दुस्तान की उलझनों में अंग्रेजो का दिमाग लगा हुआ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम चलाऊ-समझौते ने विस्फोट या धड़ाके के ख़तरे को दूर कर दिया। फ्रास में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसीलिए उथल-पुथल हो गई।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इग्लैण्ड में आधुनिक उपन्यास का विकास अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं सदी के शुरू में लिखे गये थे, जैसा कि मै पहले ही बतला चुका हूँ। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक्त इग्लैण्ड में पाठको का एक नया गिरोह पैदा हुआ।

अठारहवी सदी में ही गिबन नाम के एक अग्रेज ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन एम्पायर' यानी रोमन साम्राज्य का ह्रास और पतन लिखा। रोमन साम्राज्य का बयान करते वक्त अपने किसी पिछले ख़त में मै इस बात और इस किताब का जिक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

महान् परिवर्त्तनों के पहले का योरप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवी सदी में योरप के, और ख़ासकर फ्रास के, स्त्री-पुरुषो के दिलो में जरा झाकने की कोशिश की है। यह सिर्फ एक झाकी रही है जिसने हमको कुछ ख़यालात की बढ़ती और पुराने विचारो से उनकी लड़ाई का दृश्य दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे है, लेकिन अब हम योरप की रगभूमि के पात्रो पर निगाह डालेगें।

फ्रास में बुड्ढा चौदहवां लुई आख़िरकार १७१५ ई० में मरने मे कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियो तक जिन्दा रहा और उसके बाद उसका पोता, पद्रहवे लुई के नाम से, गद्दी पर बैठा। फिर एक ५९ वर्ष की लम्बी हुकूमत चली। इस तरह चौदहवे और पद्रहवे लुई, फ्रास के इन दो सिलसिलेवार बादशाहो ने, कुल १३१ वर्ष तक राज किया।

चीन के दो मचू बादशाह काग-ह्री और चियन लुग, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एकके बाद दूसरा यानी एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनो के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बे वक्त के अलावा पन्द्रहवें लुई का शासन खास तौर पर शर्मनाक बुराइयो और षड्यन्त्रो के लिए मशहूर है। राज्य की सारी दौलत बादशाह के ऐश-आराम में खर्च होती थी। सब दरबारी लोग अपने-अपने आदमियो का खूब फायदा करवाते थे जिससे फिजूलखर्ची बढ गई थी। जो दरबारी स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते उनको मुफ्त की जमींदारियाँ और फालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका भार जनता पर ज्यादा ही ज्यादा बढता जाता था। निरकुशता, अयोग्यता, और अनाचार, बडे मजे से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे, फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के खतम होते न होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे? ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद हुई। पन्द्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ और बदले से बच गया, इनका मुकाबिला तो उसके वारिस सोलहवे लुई को १७७४ ई० में करना पडा।

अपनी अयोग्यता और कमीनेपन के बावजूद भी पन्द्रहवे लुई को राज्य में उसकी एकमात्र सत्ता के बारे में कोई सदेह न था। उसके पास सब कुछ था और उसे अपनी मर्जी के मुताबिक करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे वे सुनने लायक है —

"C'est en ma personne seul que re'side l'antorite souveraine C'est a moi seul qu'appartient le pouvoir lejislatif sans dependance et sans partage L'ordre public tout entier emane de moi, j'en suis le guardien supreme Mon peuple n'est qu'un avec moi, les droits et les interets de la nation, dont on ose, faire un corps separe du monarque, sont necessairement unis avec les miens et ne reposent qu'entre mes mains"

यानी "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ मेरे ही व्यक्तित्व में निवास करती है ...। सिर्फ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, कानून बनाने का पूरा हक है। प्रजा की शान्ति का एकमात्र स्रोत मैं ही हूँ, मैं ही उसका सबसे बडा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नही है, राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगो के दावे के मुताबिक बादशाह से कोई अलग चीज है, वे जरूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित है और मेरी ही मुट्ठी मे रहते है।"

अठारहवी सदी के ज्यादातर हिस्से में फ्रास का राजा इस तरह का था। कुछ दिनो तक तो योरप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओ और राष्ट्रो की महत्वाकांक्षाओ से उसकी मुठभेड हुई और उसे हार माननी पडी। फ्रास के कुछ पुराने प्रतियोगियो का भी योरप के स्टेज पर कोई जोरदार पार्ट

न रहा। लेकिन उनकी जगह फ्रांस की ताक़त का मुकाबिला करने के लिए और दूसरे पैदा हो गये। थोडे दिन की शहशाही शानशौकत भुगतकर घमंडी स्पेन योरप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फिलिपाइन, टापुओं में बडे-बडे उपनिवेश अब भी उसके कब्जे में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी जिन्होंने साम्राज्य के शिरोमणि होने का और उसके ज़रिये योरप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे महत्वपूर्ण नहीं रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी, एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया की बराबरी करने लगी थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी की विरासत के लिए लडाइयाँ हुईं और बहुत दिनों तक मेरिया थैरेसा नाम की एक महिला ने उसको घेर रक्खा।

तुम्हे याद होगा कि १६४८ ई० की वेस्टफैलिया की सन्धि ने प्रशिया को योरप की महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया था। वहाँ पर हॉहेनज़ॉर्लेन का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग के घरानें, की सत्ता का मुक़ाबिला करने के लिए तैयार हो रहा था। छियालीस वर्ष यानी १७४० से १७८६ ई० तक प्रशिया पर फ्रेडरिक ने राज किया जो फौजी कामयाबी के कारण 'ग्रेट' यानी महान् कहलाता है। योरप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन उसनें दार्शनिक का चोगा पहन लिया था और वाल्टेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक ताक़तवर फौज तैयार कर ली थी और वह एक होशियार और कामयाब सिपहसालार था। वह अपने आपको 'बुद्धिवादी' कहता था और सुनते है कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि जिस तरह वह चाहे स्वर्ग प्राप्त करे।"

सत्रहवीं सदी के बाद से योरप में फ्रास की सस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवीं सदी के बीच के समय में तो इसने और भी जोर पकड़ा और वाल्टेयर को सारे योरप में बडी भारी शोहरत मिली। असल में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्टे-यर की सदी' कहते है। योरप के तमाम राजदरबारो में, यहॉतक कि पिछडे हुए सेंट पीटर्सबर्ग में भी, फ्रेंच साहित्य पढ़ा जाता था और सभ्य और शिक्षित लोग फ्रेंच भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते। मसलन प्रशिया का फ्रेडरिक महान् क़रीब-क़रीब हमेशा फ्रेंच भाषा में ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ्रेंच भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और यह चाहा था कि वाल्टेयर उसे, उसके लिए, ठीक कर दिया करे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जिसका एक बडी ताकत की सूरत में बढना शुरू

होगया था। चीन के इतिहास का बयान करते वक्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया को पार करके प्रशान्त महासागर तक जापहुँचा और उसे पार करके अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवीं सदी के अखीर में रूस में महान पीटर नामक ताकतवर राजा का राज्य था। रूस मे जो बहुत से पुराने मगोलियन रिश्ते और खयालात बहुत दिनो से घुसे थे पीटर उनका खातमा करना चाहता था। वह रूस को ऐसा बनाना चाहता था जिसे आजकल लोग 'वेस्टरनाइज'[१] करना यानी पश्चिमीकरण कहते हैं। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओ से भरी हुई पुरानी राजधानी मॉस्को को छोड दिया और अपने लिए एक नया शहर और राजधानी बसाई। यह उत्तर में नेवा नदी के किनारे और फिनलैंड की खाडी के मुहाने पर था। इसका नाम सेंट पीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बज़ोवाले मॉस्को से बिलकुल जुदा था, वह ज्यादातर पश्चिमी योरप के बडे शहरो के जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का चिन्ह बन गया और रूस योरप की राजनीति में ज्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हे मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नही रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेट्रोग्रेड किया गया और दूसरी बार लैनिनग्रेड हुआ। आज कल यही नाम चालू है।

पीटर महान ने रूस में बहुत-सी तब्दीलियाँ की। मै यहा पर उनमें से एक का जिक्र करूँगा, जो तुम्हे दिलचस्प मालूम होगी। उसने स्त्रियो को घरो में बन्द रखने के रिवाज का, जिसे 'टॅरम' कहते थे, और जो उन दिनो रूस में जारी था, खातमा कर दिया। पीटर का ध्यान हिन्दुस्तान की तरफ भी था। और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिन्दुस्तान के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयत-नामे में लिखा है —"याद रखो कि हिन्दुस्तान का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है, और जो उसको मुट्ठी में रख सकता है वही योरप का डिक्टेटर होगा।" हिन्दुस्तान की सल्तनत हासिल करने के बाद इग्लैंड की ताकत में जो एकदम तरक्की हुई उससे पीटर के आखिरी शब्दो की सचाई साबित हो जाती है। हिन्दुस्तान की लूट से इग्लैंड को गौरव और धन मिला जिससे कई पीढियो तक वह ससार की सबसे बडी ताकत बना रहा।

एक तरफ प्रशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ रूस के बीच में पोलैंड था। वह एक पिछडा हुआ देश था जहाँ के किसान बहुत गरीब थे। वहा कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बडे-बडे शहर थे। उसका विधान भी अजीब-सा था।

[१] 'वेस्टरनाइज' करना अर्थात् पश्चिम जैसा बनाना, अर्थात पश्चिम (योरप) की सभ्यता को अपनाना।

जिसमें बादशाह तो चुना हुआ होता था और ताकत सामन्त सरदारो के हाथो में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताकतवर होते गये, पोलैंड कमजोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनो ही उसे हडपना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैंड का ही राजा था जिसने १६८३ ई० में वियेना पर आख़िरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी ताकत पूरी हो चुकी थी और पलडा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे योरप में तुर्की साम्राज्य कम होने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे है, यानी अठारहवीं सदी के पहले आधे हिस्से में टर्की दक्षिण-पूर्वी योरप का एक शक्तिशाली देश था, और उसका साम्राज्य वाल्कन की रियासतो से लगाकर हॅंगरी के पार पोलैंड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई राज्यो में बॅटा हुआ था और योरप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहले वाला दवदवा नहीं रहा था और राजा और वादशाह उसकी इज्ज़त तो करते थे लेकिन राजनैतिक मामलो में उसे पूछते भी न थे। धीरे-धीरे योरप में एक नया ढग यानी बडी शक्तियो का ढग, पैदा होरहा था। जैसा कि मै वतला चुका हूँ, ताकृतवर एक-सत्तात्मक या केन्द्रीय राज्य राष्ट्र या राष्ट्रीयता के ख़याल की बढती में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशो का विचार एक ख़ास तरीके से करने लगे थे जो आजकल तो बहुत फैल गया है लेकिन इस ज़माने के पहले एक ग़ैर-मामूली वात थी। फ्रास, इंग्लैंड या ब्रिटैनिया, इटैलिया और इस तरह की दूसरी सूरतें ज़ाहिर होने लगीं। ये राष्ट्र के प्रतीक या निशान-से मालूम होने लगे। कुछ दिन वाद, उन्नीसवीं सदी में, ये शक्ले लोगो के दिमाग में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर एक अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये देश नई देवियाँ बन गये जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त लोग लडते है और एक दूसरे की हत्या करते है। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हम लोगो को प्रेरित करती है और किस तरह लोग इस स्वर्गीय और ख़याली मूर्ति के लिए ख़ुशी-ख़ुशी मुसीबतें झेलते है और मर मिटते हैं। दूसरे देशो के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह के ख़याल रखते थे। लेकिन यह सब तो वाद की वाते है। अभी तो मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की इस भावना का अकुर पैदा हुआ। फ्रासीसी दार्शनिको ने इस प्रगति को वढाया और फ़्रांस की जवर्दस्त राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र 'शक्तिया' थे। वादशाह आते-जाते रहते थे लेकिन राष्ट्र बना

रहता था। इन ताकतो में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी ताकतो से ज्यादा महत्व-पूर्ण बन गईं। मसलन अठारहवी सदी के शुरू में फ्रास, इग्लैड, आस्ट्रिया, एशिया और रूस बिलाशक 'बडी ताक़तें' थीं। स्पेन की तरह कहने भर को कुछ और भी ताक़ते बडी थीं लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैंड बहुत तेजी के साथ धन और महत्व में बढ रहा था। एलिजाबेथ के वक्त तक वह योरप के ख़याल से कोई महत्व-पूर्ण देश न था और दुनिया के लिहाज से तो और भी कम था। उसकी आबादी थोडी थी; शायद उस वक़्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इग्लैड ने अपने आपको नई परिस्थितियो के मुताबिक बना लिया और वह आगे बढने लगा। स्पेन से पिंड छुडाने के बाद हालैड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशो के लिए छीना-झपटी मची। इसमें योरप की कई ताक़तो ने हिस्सा लिया मगर असली मुक़ाबिला सिर्फ इग्लैड और फ्रास इन दोनो में ही रहा। इस दौड में, अमेरिका में भी और हिन्दुस्तान में भी, इग्लैंड बहुत आगे बढ़ा हुआ था। पद्रहवे लुई के अयोग्य शासन में होने के अलावा फ्रास, योरप की राजनीति में बहुत ज्यादा लिपटा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक योरप, कनाडा और हिन्दुस्तान में भी इन दोनो ताकतो में तथा औरो में भी इस बात का निपटारा करने के लिए लड़ाई मची कि इन देशो का मालिक कौन हो। यह लडाई 'सात साल की लडाई' कहलाती है। इसका कुछ हिस्सा हम हिन्दुस्तान में देख चुके है जिसमें फ्रास की हार हुई थी। कनाडा में भी इग्लैड की विजय हुई। योरप में इग्लंड ने वह नीति चली जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरो को लडवाना। फ्रेडरिक महान इग्लड का दोस्त था।

इस सात वर्ष की लडाई का नतीजा इँग्लैड के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। हिन्दुस्तान और कनाडा, दोनो ही देशो में उसका कोई भी यूरोपियन प्रतियोगी बाकी न रहा। समुद्र पर भी उसका दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इँग्लैड की ऐसी हालत होगई कि वह अपने साम्राज्य को मजबूत करे और बढ़ावे और ससार की एक बडी ताक़त बन जाय। प्रशिया का महत्व भी बढ़ा।

इस लड़ाई-झगडे से योरप फिर पस्त हो गया और देश भर में फिर कुछ शान्ति नजर आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पौलैंड की रियासत हडप जाने से न रोक सकी। पौलैंड की ऐसी हालत न थी कि इन

ताकतो से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेडिये उस पर टूट पडे और बार-बार उसके हिस्से बाटकर पोलैंड के आज़ाद मुल्क का ख़ातमा कर दिया। १७७२,१७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बँटवारा हुआ। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगो ने, जो पोल कहलाते है अपने देश को सुधारने और मजबूत बनाने के लिए जबरदस्त कोशिश की। उन्होने पार्लमेण्ट कायम की और कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पौलैंड के चारो तरफ के निरकुश राजाओ के मुंह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टो से उनको नफरत थी। इसलिए पोल लोगो के देश प्रेम और महान् योद्धा को सियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लडने पर भी, १७९५ ई० में योरप के नक्शे पर पोलैंड का निशान बाकी न रहा। उस वक्त उसका ख़ातमा तो हो गया लेकिन पोल लोगो ने अपने देश-प्रेम को जिन्दा रक्खा और आज़ादी का स्वप्न देखते ही रहे। एक सौ बीस वर्ष बाद उनका स्वप्न सच्चा हुआ और योरप के महायुद्ध के बाद पोलैंड फिर एक आज़ाद देश की शकल में प्रकट हुआ।

मै लिख चुका हूँ कि अठारहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप में थोडी-बहुत शान्ति थी । लेकिन वह ज्यादा दिन न टिक सकी क्योकि वह ज्यादातर ऊपरी सतह पर ही थी।। उस सदी में जो बहुत-सी घटनायें हुईं उनको भी मै बतला चुका हूँ। लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओ यानी तीन क्रान्तियों, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों में योरप में और जो कुछ भी हुआ वह इन तीन घटनाओं के सामने तुच्छ मालूम होता है। ये तीनो क्रान्तियाँ इस सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों में हुई। ये क्रान्तियाँ तीन तरह की थीं—राजनैतिक, औद्योगिक और सामाजिक। राजनैतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहां के अँग्रेजी उपनिवेशो की बगावत थी जिसका नतीजा यह हुआ कि 'युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का सयुक्त राज्य का स्वाधीन प्रजातन्त्र बना जो हमारे आज के जमाने में इतना शक्तिशाली होने वाला था। औद्योगिक क्रान्ति इग्लैंड में शुरू हुई। वहां से पहले तो वह पश्चिम योरप के देशो में फैली; और फिर दूसरे देशो में। वह एक शान्तिमय लेकिन बहुत गहरी क्रान्ति थी और सारी दुनिया की जिन्दगी पर जितना इसका असर हुआ उतना आज तक इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नहीं हुआ। इसका नतीजा हुआ भाप और बडी मशीन और आख़िर में उद्योगवाद की उन अन-गिनती शाखाओ का आगमन, जो आज हम अपने चारो तरफ देख रहे है। फ्रांस की महान क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति थी जिसने फ्रास में न केवल राजाओ का ही खात्मा कर दिया बल्कि बहुत से विशेषाधिकारो यानी रियायतो को भी खतम कर दिया और

नये-नये वर्गो को आगे ला खडा किया । इन तीनो क्रान्तियो पर हम जरा खुलासा तौर से अलग-अलग विचार करेगे ।

हम देख चुके है कि इन परिवर्त्तनो की शुरुआत से पहले योरप में बादशाहतों का जोर था । इँग्लैड और हालैंड में पार्लमेण्ट तो थीं लेकिन उनकी नस अमीर-उमरा के हाथ में थी । क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानो के लिए, उनके माल, अधिकारों और विशेषाधिकारो की हिफाजत के लिए । शिक्षा भी सिर्फ धनवान और विशेषाधिकार वाले लोगो के लिए थी । असल में खुद सरकार ही इन लोगो के लिए थी । उस जमाने की सबसे बडी समस्या ग़रीबों की समस्या थी । हालांकि ऊपर के लोगो की हालत में कुछ सुधार हुआ लेकिन गरीबो की मुसीबते वैसी ही बनी रही, बल्कि ज्यादा बढ गई ।

अठारहवीं सदी भर में योरप के राष्ट्र गुलामो का बेरहम और शर्मनाक व्यापार करते रहे । वैसे तो योरप में ग़ुलामी ख़त्म हो चुकी थी हालांकि काश्तकार लोगो की हालत, जिन्हे 'सर्फ' या असामी कहते थे, ग़ुलामों से अच्छी न थी । लेकिन अमेरिका की खोज के बाद पुराना ग़ुलामो का व्यापार बडी बेरहमी की शक्ल में फिर चेत गया । स्पेन और पुर्तगाल वालों ने इस तरह शुरूआत की कि वे अफरीका के किनारो पर से हबशियो को पकड-पकड़ कर अमेरिका ले जाते थे और उनसे खेती-बाडी का काम लेते थे । इस बहुत ही शर्मनाक व्यापार में इग्लैड ने भी भरपूर हिस्सा लिया । अफरीका के लोगो की भयानक मुसीबतो का और जैसे जानवरों की तरह शिकार करके उनको पकडा जाता था और जजीरो से कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उसका कुछ भी अन्दाजा लगाना तुम्हारे लिए या हममें से किसी के लिए बहुत मुश्किल है । हजारो तो सफर खत्म होने पहले ही चल बसते थे । इस दुनिया में जितने लोगो ने मुसीबते झेली है उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतो का भार शायद हबशियो पर ही पडा है । उन्नीसवीं सदी में ग़ुलामी की प्रथा का कानूनन ख़ातमा हुआ और इग्लैड इस बात में अगुआ रहा । अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ । आज अमेरिका के सयुक्त राज्य में बसने वाले करोडो हबशी इन्हीं ग़ुलामो की सन्तान हैं ।

मैं इस ख़त को यह बतलाकर एक अच्छी बात के साथ ख़तम करूँगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में सगीत की बडी भारी तरक्की हुई । तुम जानती हो कि योरप के सगीत के नेता जर्मन लोग है । इनमें से कुछ बडे-बडे सगीतज्ञो के नाम सत्रहवीं सदी में भी दिखाई पडते है । दूसरे देशो की तरह ही योरप में भी सगीत करीब-करीब मजहबी कामों का अग था । धीरे-धीरे ये अलग होने लगे और सगीत

मजहब से भिन्न एक अलग ही कला बन गया। मोजार्ट और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवी सदी में रोशन होते हैं। दोनों बालगन्धर्व थे। दोनो ही असाधारण योग्यता वाले राग-लेखक थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग-लेखक माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था और जिस अद्भुत संगीत की रचना उसने दूसरो के लिए की उसे वह खुद न सुन सका। लेकिन उस सगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने जरूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ६७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उस चीज का वर्णन करेगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरूआत इंग्लैड में हुई और इग्लैड में ही हम सक्षेप में इस पर गौर करेगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नहीं बतला सकता क्योकि यह तब्दीली जादू की तरह किसी खास वर्ष में नही हुई। लेकिन फिर भी वह काफी तेजी के साथ हुई और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्ष से कम वक्त में ही उसने जिंदगी की सूरत बदलदी। इन खतो में तुमने और मैने, दोनो ने, दुनिया की शुरुआत से लगा कर हजारो वर्ष के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत सी तब्दीलियाँ हमारी निगाह में आई है। लेकिन ये सब तब्दीलियाँ, जो कि कभी-कभी बहुत बडी-बडी भी हुईं, लोगो की जिन्दगी और रहन-सहन के ढग को हक़ीक़त में बदल नहीं सकीं। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर हिन्दुस्तान में अकवर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इग्लैड या फ्रास में आते, तो बहुत से परिवर्त्तन उनकी नजर में आते। इनमें से कुछ परिवर्त्तनो को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम से कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि ख़यालात में तो बहुत फर्क मालूम होता। और जहाँ तक ऊपरी बातो से ताल्लुक है वे अपने को बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफर करना चाहते तो घोडे पर या घोडा-गाडी पर करते, जैसाकि अपने जमाने में किया करते थे; और सफर में वक्त भी क़रीब-करीब उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनो में से एक भी अगर हमारे जमाने की दुनिया में आजायँ तो उन्हे बडा जबरदस्त अचम्भा होगा। और शायद यह अचम्भा उन्हे तकलीफदेह भी मालूम हो। वह देखेंगें कि आजकल लोग तेज से तेज घोडे से भी ज्यादा तेज़ी

के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेजी के साथ, सफर करते हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाईजहाज में ये अद्भुत तेजी से साथ सारी दुनिया में दौड़ते फिरते हैं। फिर उसको दिलचस्पी तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबों, अखबारों, और सैकड़ों दूसरी चीजों में होगी जो सब अठारहवीं सदी और उसके बाद की औद्योगिक क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीकों के नतीजे हैं। सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर इन नये तरीकों को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन इसमें शक नहीं कि वे उनको अपने जमाने के तरीकों से बिल्कुल भिन्न पायेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें जरूर थीं, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी नई मशीनें। मशीन है क्या? यह इनसान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है। आदमी औजार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी जिन्दगी के शुरू से वह औजार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहता है। दूसरे जानवरों पर, जिनमें से बहुत से उससे ज्यादा ताकतवर थे, उसका दबदबा औजारों के ही कारण हुआ था। औजार या हथियार उसके हाथ का ही बढ़ा हुआ रूप है, या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औजार का बढ़ा हुआ रूप है। औजार और मशीन ने मनुष्य को पशुजगत से ऊपर उठा दिया। इन्होंने मनुष्य-समाज को कुदरत की गुलामी से छुड़ाया। औजार और मशीन की मदद से इन्सान के लिए चीजें बनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीजें बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओं, विचारों और विज्ञान की उन्नति हुई।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब मददगार निरी बरकतें ही नहीं साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की में मदद दी है तो लड़ाई और बरबादी के खौफनाक हथियारों को ईजाद करके बर्बरता को बढ़ाने में भी मदद की है। अगर इसने चीजों को इफरात या बहुतायत के साथ पैदा किया है तो यह इफरात जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े से लोगों के लिए हुई है। इसने तो दौलतमंदों के ऐश-आराम और ग़रीबों की ग़रीबी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है। यह इनसान का औजार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ तो इसने सहयोग, संगठन, मुस्तैदी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ लाखों की जिन्दगी को एक ऐसी नीरस दिनचर्या वाला और ऐसा भार बना दिया है जिसमें जरा भी सुख और आजादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं उनके लिए हम उस बेचारी को क्यो दोष दें ? दोष तो इन्सान का है जिसने उसका ग़लत इस्तेमाल किया है, और समाज का है जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया । यह तो ध्यान में भी नहीं आसकता कि दुनिया या कोई देश, औद्योगिक क्रान्ति से पहले के जमाने को लौट जावे; और यह बात न तो जरूरी मालूम होती है, न अक्लमदी की कि हम लोग कुछ बुराइयो से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बेशुमार फायदेमद चीजो को फेंक दें । चाहे जो हो, मशीन तो अब आगई और यहीं बनी रहेगी । इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की फायदेमद चीजो को रखले और उससे पैदा होनेवाली बुराइयों से पिंड छुड़ावे । इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फायदा उठाना चाहिए लेकिन इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगो में बराबर-बराबर बँट जाय जो उसे पैदा करते है ।

इस ख़त में मेरा इरादा तुमको इंग्लैण्ड में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था । लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मै असली बात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के प्रभावो की विवेचना करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह सवाल रख दिया है जो आज लोगो को तंग कर रहा है । लेकिन आजतक आ पहुँचने से पहले हमको कल की बातो का वर्णन करना है; उद्योगवाद के नतीजो पर विचार करने से पहले हमको यह अध्ययन करना है कि वह कब और कैसे आया । मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्त्व बता सकूं। यह कोई खाली राजनैतिक क्रान्ति न थी जिससे सबसे ऊपर के राजा और शासक बदल गये हो । यह ऐसी क्रान्ति थी जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पडा । मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर कब्ज़ा रखने वाले वर्गों की विजय । जैसा कि मै बहुत पहले बता चुका हूँ, राज्य वही वर्ग करता है जो उपज यानी पैदावार के साधनो पर कब्ज़ा रखता है । पुराने जमानें में उपज का मुख्य साधन सिर्फ जमीन थी, इसलिए जो लोग जमीन के मालिक यानी जमींदार थे, उन्हींका राज्य था । सामन्तशाही के जमाने में भी यही हाल रहा । इसके बाद जमीन के अलावा दूसरी तरह का धन प्रकट हुआ और जमींदार वर्ग के लोगो की ताकत पैदावार के नये साधनो के मालिकों में बँटनी शुरू होगई । इसी वक्त बडी मशीन का आगमन होता है जिससे उसपर कब्ज़ा रखनेवाले वर्ग कुदरती तौर पर आगे आजाते है और हुकूमत करने लगते है ।

इन ख़तो के सिलसिले में कई बार मै तुमको बतला चुका हूँ कि शहरो के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्त्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्त सरदारो से

कशमकश करते रहे और कहीं-कहीं कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्तशाही की बरबादी का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में यह खयाल पैदा कर दिया है कि इस नये बुर्जुआ या मध्यम वर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी ग़लती दुरुस्त करना चाहता हूँ क्योंकि मध्यमवर्ग बहुत धीरे-धीरे ताक़त हासिल करके ऊँचा चढ़ा और यह तरक्की इस ज़माने में नहीं हुई जिसका हम जिक्र कर रहे हैं। फ्रांस में महान क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कहीं जाकर मध्यमवर्ग को ताक़त हासिल करने का मौका दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हें याद होगा कि खुद पार्लमेण्ट भी लोगों की, खासकर जमींदारों की, एक छोटी-सी तादाद की नुमाइन्दा थी। शहरों के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, लेकिन असल में व्यापारी वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई गुंजाइश न थी।

इसलिए राजनैतिक ताक़त उन लोगों के हाथों में थी जो जमींदारियों के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशों में तो और भी ज्यादा था। जमींदारी पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इस तरह राजनैतिक ताक़त भी एक पुश्तैनी विरासत बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' (Pocket Boroughs) यानी पार्लमेण्ट में प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ जिनमें सिर्फ कुछ गिने-चुने चुनाव करनेवाले होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक मामूली तौर पर किसी के मातहत होते थे और इसलिए वह चुनाव क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़मी तौर पर खाली एक तमाशा होते थे, खूब रिश्वतें चलती थीं और वोट और पार्लमेण्ट की सीटें खूब बिकती थीं। उन्नतिशील मध्यमवर्ग के कुछ दौलतमन्द लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट खरीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनों में से एक तरफ भी निगाह नहीं डाल सकते थे। उनको विरासत (उत्तराधिकार) में तो कोई विशेषाधिकार या शक्ति मिलती ही न थी, और यह भी जाहिर है कि वे ताक़त खरीद भी नहीं सकते थे। इसलिए जब धनवान और विशेषाधिकार वाले लोग उनपर बैठकर उनको चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे ? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरों के चुनाव में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। अधिकारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों तक से बहुत नाराज़ होते थे और उनको जबर्दस्ती दबा दिया जाता था। वे असंगठित, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब जुल्म और मुसीबतों का प्याला पूरा भर गया तो वे न्याय और शान्ति को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवीं सदी में दंगों का खूब जोर रहा। जनता की माली हालत आम तौर पर बहुत खराब थी। छोटे-

मोटे काश्तकारो को नुकसान पहुँचा कर और उन्हे चूसकर बडे-बडे जमीदार अपनी रियासतें बढाने की कोशिशें कर रहे थे, जिससे यह हालत और भी बिगड़ती जारही थी। गाँवो की मुश्तरका जमीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बाते आम लोगो की मुसीबतो को बढानेवाली थीं। राज्यशासन में कोई आवाज न होने मे भी सब लोग नाराज थे और कुछ ज्यादा आजादी के लिए दबी-दबी सी माँग भी करते थे।

फ्रास में तो हालत और भी खराब थी जिसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गई। इग्लैड में बादशाह का महत्त्व कुछ नहीं रहा था और ताक़त ज्यादा लोगो के हाथ में आगई थी। इसके अलावा इंग्लैड में फ्रास की तरह ऐसे राजनैतिक विचारों का विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए इग्लैड एक बडे भारी विस्फोट या धड़ाके से बच गया और वहाँ परिवर्त्तन जरा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये आर्थिक संगठन के कारण होनेवाली तब्दीलियो ने इस चाल को तेज कर दिया।

अठारहवीं सदी में इग्लैड की यही राजनैतिक परिस्थिति थी। खासकर विदेशी कारीगरो के आ बसने से इग्लैड घरू उद्योग-धधो में बहुत आगे बढ गया। योरप की मजहबी लडाइयो ने बहुत से प्रोटेस्टेण्टो को अपना देश और घर छोड़कर इग्लैड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस वक्त स्पेनवाले निदरलैंड की बगावत को दबाने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत से कारीगर निदरलैंड से भाग कर इग्लैड आगये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हज़ार इग्लैड के पूर्वी हिस्से में बस गये और रानी एलिजाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहाँ बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज 'अप्रेन्टिस' (काम सीखने वाला) नौकर रक्खा जाय। इससे इग्लैड को अपने कपड़ा बुनने के उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अग्रेजो ने निदरलैड के बने हुए कपडो का इंग्लैड में आना रोक दिया। उधर निदरलैंड अभी तक आज़ादी की गहरी लडाई में लगा हुआ था जिससे उनके उद्योग-धधो को नुक़सान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले निदरलैड के कपडो से भरे हुए जहाज के जहाज इग्लैड जाया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी यह रफ्तनी बन्द ही नही हो गई बल्कि उल्टे अग्रेज़ी कपडे निदरलैंड के लिए रवाना होने लगे और इसकी तादाद बढ़ती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगो ने अग्रेजो को कपडा बुनना सिखाया। बाद में फ्रास से ह्यूजीनॉट, यानी भागे हुए प्रोटेस्टेण्ट, आये और इन्होंने अग्रेजो को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के बहुत से होशयार कारीगर इग्लैंड चले आए और अग्रेज लोगो ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे, कागज, कॉच, चाभी के खिलौने, तथा जेबी और दीवार की घड़ियाँ बनाना।

इस तरह इग्लैंड, जो अभी तक योरप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्व और धन में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ती हुई और यह सौदागरो और व्यापारियो की बढ़ती हुई आबादीवाला एक काफी महत्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के शुरू में ही लन्दन एक बडा-भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इग्लैंड का बादशाह पहला जेम्स, जो पहले चार्ल्स का, जिसका कि सर उडा दिया गया था, पिता था, राजाओ की निरकुशता और दैवी अधिकार को पूरी तरह मानने वाला था। वह पार्लमेण्ट को और लन्दन के इन कल के व्यापारियो को पसन्द नहीं करता था। और उसने गुस्से में आकर लन्दन के नागरिको को अपनी राजधानी ऑक्सफोर्ड लेजाने की धमकी दी। लन्दन के लॉर्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ। और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड जाने की मेहरबानी करेंगे।"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही दौलतमद व्यापारी वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होने वाली लड़ाई में उसको खूब रुपया दिया था।

इग्लैंड में जिन उद्योग-धधो की तरक्क़ी हुई ये सब घरू-धधे या ग्राम-उद्योग कहलाते है। यानी कारीगर या दस्तकार लोग ज्यादातर अपने घरो में या छोटे-छोटे गिरोहो में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारो की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थीं जो हिन्दुस्तान की बहुत सी जातियो से मिलती थीं लेकिन जातियो का-सा मजहबी पहलू उनमें न होता था। दस्तकारो के उस्ताद या मिस्तरी शागिर्द बनाते थे और उनको अपना हुनर सिखलाते थे। जुलाहो के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे। कताई का खूब प्रचार था और यह काम लड़कियाँ और औरते फालतू वक्त में किया करती थीं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे कारखाने होते थे जहाँ बहुत से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरो और उनके करघो के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनो बातो में दर असल कोई फर्क न था।

उस जमाने में उद्योग-धन्धो का यह घरू दर्जा सिर्फ इग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, तरक्क़ी कर रहा था। मसलन हिन्दुस्तान में ये घरू उद्योग-धन्धे बहुत बढ़े-चढ़े हुए थे। इग्लैण्ड में घरू उद्योग-धन्धो का क़रीब-क़रीब बिलकुल खातमा होगया है लेकिन हिन्दुस्तान में अब भी बहुत-से मौजूद है। हिन्दुस्तान में बडी मशीन और घरू करघा दोनों साथ-साथ चल रहे है, और इनकी

समानता और भिन्नता की तुलना की जा सकती है। तुम जानती हो कि जो कपड़ा हम पहनते हैं वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है, और इसलिए बिलकुल हिन्दुस्तान की कच्ची झोपड़ियो में बना हुआ है। बापू और हमारी कॉंग्रेस हाथ-कताई की उन्नति पर बहुत जोर देते हैं और कोशिश करते रहे हैं कि यह हमारे किसानों के फालतू वक्त का धन्धा बन जाय क्योंकि उनके पास बहुत-सा वक़्त फालतू रहता है। असल में पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में ही नही बल्कि इंग्लैण्ड और दूसरे देशो में भी यह फालतू समय का ही धन्धा था।

नये यान्त्रिक आविष्कारो या मशीन की ईजाद ने इग्लैंड के घरू उद्योग-धन्धो की कायम ही पलट कर दी। मशीने आदमी का काम दिन-पर-दिन करने लगी और उनके जरिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना बहुत आसान होगया। ये ईजादें अठारहवी सदी के बीच में शुरू हुई; इनका वर्णन हम अगले खत में करेगे। यह ख़त पहले ही लम्बा हो गया है।

मैंने मुख्तसर में अपने खादी आन्दोलन का जिक्र किया है। इसके बारे यहाँ मैं ज्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बडी मशीन से मुकाबिला करने के लिए नही है। बहुत से इस गलती में पड जाते है और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य युग को लौट जाना और मशीनो और उद्योग-वाद के सब नतीजों को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब गलती की बात है। हमारा आन्दोलन न तो उद्योगवाद के ख़िलाफ है और न मशीनो और कारख़ानो के। हम तो चाहते हैं कि हिन्दुस्तान को दुनिया की सबसे अच्छी चीजें मिले और जहाँ तक हो सके बहुत जल्दी मिले। लेकिन हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत को, और ख़ासकर अपने किसानो की भयकर गरीबी को देखते हुए, जोर देकर कहते हैं कि वे अपने फालतू वक्त में चरखा कातें। इस तरह वे न सिर्फ कुछ हदतक अपनी हालत सुधारते हैं बल्कि विदेशी कपडे पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते है जिसकी वजह से हमारे देश का रुपया बाहर चला जाता है।

: ९८ :

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत

२७ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ यान्त्रिक आविष्कारो के बारे में लिखना चाहता हूँ, जिनकी वजह से उत्पत्ति या पैदावार के तरीको में बड़ा जबर्दस्त फर्क पड़ गया। आज जो

हम उनको किसी मिल या कारखाने में देखते है तो वे बडे आसान मालूम पडते हैं। लेकिन पहले-पहल उनका खयाल करना और उनको ईजाद करना बडी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० में हुआ जब 'के' नामक आदमी ने कपडा बुनने की सरकवाँ ढरकी (फ्लाई शटल) की खोज की। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारो में सरकाया जाता था। सरकवाँ ढरकी के जरिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगा। इसका मतलब यह था कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की इस बढती हुई मांग को पूरा करने में कातने वालो को बडी दिक्कत हुई और वे भी अपनी पैदावार बढाने की कुछ तरकीब निकालने की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज ने कातने की 'जेनी' आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचार्ड आर्कराइट और दूसरे लोगो ने और-और आविष्कार किये, जलशक्ति का और बाद में भाप की ताक़त का इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपडे के उद्योग में काम में लाये गये और सूती कारखाने या मिले धडा-धड बनने लगीं। इसके बाद इन नये तरीक़ो को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपडों का उद्योग था।

इसी अर्से में १७६५ ई० में जेम्सवाट ने भाप का इजन बनाया। यह एक बडी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारख़ानो को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारखानो के लिए कोयले की जरूरत पडी इसलिए कोयले के उद्योग की तरक्की हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के यानी कच्चे लोहे को गला कर शुद्ध धातु अलग करने के नये तरीके ईजाद हुए। इस पर लोहे का उद्योग बडी तेजी से बढ़ने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानो के पास बनाये जाने लगे क्योकि वहाँ कोयला सस्ता पडता था।

इस तरह इग्लैड में तीन बडे उद्योगो—कपडा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रो और दूसरी माफूल जगहो में कारखाने खडे होने लगे। इग्लैड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहातो के बजाय अब बहुत सी जगहो पर ये नये कारखाने पैदा हो गये जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगल कर आसपास अँधेरा करने लगीं। कोयलो के ऊँचे टीलो और कूडे-कचरे के ढेरो से घिरे हुए ये कारखाने देखने में ख़ूबसूरत नहीं मालूम होते थे। इन कारखानो के पास बनने वाले औद्योगिक नगर भी कोई ख़ूबसूरती की चीज न थे। वे तो किसी तरह खडे कर लिये गये थे, क्योकि मिल-मालिको का तो असली मक़सद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बडे और गदे थे और भूखो मरते

मज़दूरो को इनके सिवा कोई चारा न था, और इन कारख़ानो की बुरी और नुक़सानदेह हालत में भी उनको काम करना पड़ता था।

तुम्हे याद होगा कि मै तुमको बडे ज़मींदारो के ज़रिये छोटे-छोटे काश्तकारो के चूसे जाने और बेकारी के बढ़ने के बारे में लिख चुका हूँ, जिससे इँग्लैड में दगे हुए और अशान्ति पैदा हुई। शुरू-शुरू में इन नये तरीको ने हालत और भी ख़राब कर दी। खेती-बाडी को नुक़सान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। असल में जैसे ही कोई नई खोज होती, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेती। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मज़दूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत से तो मशीनो से नफरत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिश करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़नेवाले' कहलाने लगे।

योरप में मशीन-तोड़ाई का एक लम्बा इतिहास है जो सोलहवीं सदी से शुरू होता है जब कि जर्मनी में एक मामूली मशीन का करघा ईजाद हुआ। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-सभा ने "इस डर से कि यह आविष्कार सैकडो कारीगरो को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और ईजाद करनेवाले को चुपचाप गला घोटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला!" इस अविष्कारक का इस तरह झट-पट ख़ातमा कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसके कारण सारे योरप में दगे-फिसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गये और कहीं-कहीं तो बीच बाज़ार में सब लोगो के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आजाती तो मुमकिन है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग ज़रा जल्दी आजाता। लेकिन सिर्फ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती ह कि उस वक्त परिस्थितियाँ इसके अनुकूल न थीं। जब माकूल वक़्त आगया तो इग्लैड में बहुत से दगे-फिसाद होने पर भी मशीन की सत्ता क़ायम हो गई। मज़दूरो की मशीन के प्रति नाराज़गी स्वाभाविक थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि क़ुसूर मशीन का न था, बल्कि उस तरीके का या जिससे वह थोडे से लोगो के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैड में मशीन और कारखानो के विकास की तरफ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत से घरू उद्योगो और घर पर काम करनेवालो को निगल

गये। इन घर पर काम करनेवालो के लिए यह मुमकिन न था कि मशीन का मुक़ाबिला करते। इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनर और धंधो को छोड़कर उन्हीं कारख़ानो में मजदूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफरत करते थे, या बेकारो में शामिल होना पड़ता था। घरू उद्योगो का विनाश एकदम तो नहीं हुआ। लेकिन हुआ काफी तेजी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी करीब १८०० ई० तक, बहुत से बडे-बडे कारखानें नजर आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन-सन के 'रॉकेट' नामक प्रसिद्ध इजन के साथ भाप से चलनेवाली रेले शुरू हुईं। इस तरह से सारे देश में और करीब-क़रीब हर तरह के उद्योग-धन्धो में और जिन्दगी के हरेक काम में मशीन दिन-पर-दिन तरक्क़ी करती गई।

यह एक दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कारक, जिनमें से कइयो का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, दस्तकारो की जमात में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत से औद्योगिक नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारो और उनके कारण पैदा होने वाले कारखानो के ढग का नतीजा यह हुआ कि मालिक और मजदूर के बीच की खाई और भी ज्यादा चौडी हो गई। कारख़ाने का मजदूर मशीन का सिर्फ एक किर्रा बन गया और उन जबर्दस्त आर्थिक शक्तियो के हाथ में असहाय हो गया जिनको वह समझ तक नहीं सकता था, उनपर काबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उसे पता लगा कि नये कारख़ाने उन लोगो से मुकाबिला कर रहे है और चीजें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे है, जितनी सस्ती अपने सादे और पुराने औजारो से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए मुमकिन न था। अपना कोई क़सूर न होते हुए भी उनको अपनी दूकाने बन्द करनी पडीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये काम में कामयाबी हासिल करना तो दूर की बात थी। बस वे बेकारो की फौज में शामिल हो गये और भूखो मरने लगे। अंग्रेजी कहावत है कि "भूख मिल-मालिक का ड्रिल-सारजैण्ट[1] है", और इसी भूख ने आख़िर इन कारीगरो को नौकरी की तलाश में नये कारखानो के दरवाजों पर ला पटका। मालिको ने उनके साथ दया का बर्ताव नहीं किया। उन्होंने इनको काम तो दिया लेकिन सिर्फ कौडी भर मजदूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख़्त मजदूरो को कारखानों में अपना ख़ून पानी कर देना पड़ता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी, दम घोट देने वाली और तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचाने वाली जगहो में, दिन रात पिसते थे। यहां तक कि उनमें से बहुत से तो थकान के

१. ड्रिल-सारजैण्ट—फौज को ड्रिल कराने वाला अफसर जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

मारे बेहोश हो कर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानों के ठेठ भीतर सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनों तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह खयाल न कर बैठना कि यह सब मालिकों की बेरहमी का ही नतीजा था। वे जान-बूझकर बेरहम कभी न थे, कुसूर तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियों को दूसरे देशों के क़ब्जे से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानों के बनाने में और मशीन खरीदने में बहुत रुपया खर्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाजार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिकों को किफायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ भी जाता था तो भी वे नये-नये कारखाने बनाते ही चले जाते थे। इंग्लैंड में तेजी से कारखाने बनने के कारण ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे थे और वे इससे फायदा उठाना चाहते थे—और असल में उन्होंने फायदा उठाया भी। बस अपना व्यापार बढ़ाने और ज्यादा धन कमाने की धुन में वे उन बेचारे मजदूरों का खून चूसते थे जिनकी मेहनत उनका दौलत पैदा करने का जरिया थी।

उद्योग-धन्धों का यह नया तरीक़ा बलवानों के द्वारा निर्बलों को चूसने के लिए खास तौर पर इख्तियार किया गया था। सारे इतिहास में हम बलवानों द्वारा निर्बलों को चूसा जाता देखते हैं। कारखानों की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। कानून में वहां गुलामी नहीं थी लेकिन हकीकत में भूखों मरनेवाला मजदूर, कारखाने की मजदूरी का गुलाम, पुराने जमाने के गुलामों से अच्छी हालत में न था। क़ानून बिलकुल मालिकों का ही साथ देता था। मजहब भी उन्हींके साथ था और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपनी बदकिस्मती को बरदाश्त करोगे तो अगले जन्म में तुमको परमात्मा की तरफ से इसका मुआवजा मिलेगा। असल में अधिकारी वर्गों ने बड़ी सुभीते की फिलासफी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों का होना जरूरी है और इसलिए कम मजदूरी देना बिलकुल नेक काम है। अगर अच्छी मजदूरी दी जायगी तो ग़रीब लोग मौज उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। खयालात का यह तरीका बड़ा तसल्ली देने वाला और फायदेमन्द था। क्योंकि कारखाने के मालिकों और दौलतमन्द दूसरे लोगों के दुनियावी स्वार्थों के साथ यह फिट बैठ जाता था।

इन युगों का बयान बड़ा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि आर्थिक मामलों और समाज पर उत्पत्ति के इन

यान्त्रिक या बडी-बडी मशीनो से काम लेने के क़ायदो का कितना जबरदस्त असर पड़ता है। सारा सामाजिक तख़्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते है और अधिकार प्राप्त करते जाते है; कारीगरों का वर्ग कारखानो का मजदूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई आर्थिक बाते धर्म और नीति के बारे में भी लोगो के विचारो को नये साचे में ढाल देती है। आम लोगो के विश्वास उनके हितो या वर्ग की भावनाओ के साथ-साथ दौडते है, और जब उनको अधिकार मिल जाय तो वे अपने हितो की हिफाजत करने के लिए क़ानून बनाने में पूरी सावधानी रखते है। अलबत्ता यह सब नेकी की दिखावट के साथ किया जाता है और यह यकीन दिलाया जाता है कि क़ानून की तह में सिर्फ मनुष्य जाति की भलाई करने का ही उद्देश्य है। हम हिन्दुस्तानियो को हिन्दुस्तान के अग्रेज वाइसराय और दूसरे अफसरो से ऐसी नेक बाते काफी तौर पर सुनने को मिलती रहती है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते है। लेकिन दूसरी तरफ वे आर्डिनेसो और तलवारो के जोर से राज करते है और हमारे देशवासियो के कलेजे का खून चूसते है। हमारे जमींदार लोग कहते है कि वे काश्तकारो से कितनी मुहब्बत रखते है, लेकिन उनको चूसने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में वे जरा भी नहीं हिचकते, यहाँतक कि उन बेचारो के पास सिवाय भुखमरे शरीरो के और कुछ नहीं छोडते। हमारे पूँजीपति और बडे-बडे मिल मालिक मजदूरो के प्रति अपनी सदिच्छाओ का विश्वास दिलाते है, लेकिन यह सदिच्छा अच्छी मजदूरी या मजदूरो के लिए अच्छी हालत के रूप में जाहिर नहीं होती। सारे मुनाफे नये-नये महल बनवाने में खर्च हो जाते है, मजदूरो की कच्ची झोपड़ियो को सुधारने में नहीं।

ताज्जुब है कि लोग अपने आपको और दूसरो को किस कदर धोखा देते है, अगर ऐसा करने में उनका फायदा होता हो। इसीलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद के अग्रेज मालिको को मजदूरो की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अडगा डालते हुए पाते है। उन्होंने कारखानों के बारे में क़ानून बनाये जाने और मजदूरो के रहन-सहन का सुधार किये जाने पर भी ऐतराज किया और यह मानने से इनकार किया कि दु ख के इन कारणो को दूर करना समाज का फर्ज है। वे तो इस खयाल से अपने आपको तसल्ली देते रहते थे कि सिर्फ निकम्मे लोग ही मुसीबत उठाते है। कुछ भी हो, वे तो मजदूरो को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'दखल न देने' (Laissez-Faire) की एक नई फिलासफी निकाली, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दखल न दे। दूसरे देशों से पहले चीजें बनाने के कारखाने खुल जाने के क़ारण वे

आगे बढ़ चुके थे और अब तो वे सिर्फ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छुट्टी मिल जावे। 'लेसे-फेयर' करीब-करीब एक दैवी मत बन गया जिसके बारे में यह माना जाता था कि अगर इससे कोई फायदा उठा सकता तो यह हरेक को बराबर मौका देने वाला था। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री-पुरुष को बाकी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लडाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था ?

इन खतो के दौरान में मै तुमको मनुष्यो में आपसी सहयोग की उन्नति के बारे में लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'लेसे-फेयर' और नये पजीवाद ने 'जगल का नियम' या मत्स्य-न्याय[१] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'पिग–फिलासफी' यानी शूकर-नीति का नाम दिया है। जिन्दगी और व्यापार का यह नया कायदा किसने बनाया ? मजदूरो ने तो नहीं ही। उन बेचारो की तो सुनता ही कौन था। इसके बनाने वाले तो ऊँचे वर्ग के कामयाव मिल-मालिक थे, जो बेहूदी भावनाओ के नाम पर अपनी कामयाबी में किसी तरह की दस्तंदाजी नहीं चाहते थे। बस आजादी और जायदाद के अधिकार की दुहाई देकर वे इसकी भी मुखालफत करते थे कि लोगो के खानगी मकानो की कानून के जोर से सफाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैने अभी पूंजीवाद शब्द का प्रयोग किया है, किसी न किसी रूप में पूजीवाद बहुत दिनो से सब देशो में चला आ रहा था, यानी इकट्ठा किये हुए धन से तिजारत की जाती थी। लेकिन बडी मशीन और उद्योगवाद के प्रचार का नतीजा यह हुआ कि कारखानो में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत पड़ने लगी। यह 'औद्योगिक पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवादी शब्द आज कल उस आर्थिक प्रणाली के लिए काम में लाया जाता है, जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद पैदा हुई। इस प्रणाली के मुताबिक पूंजीपति यानी पूंजी के मालिक, कारखानो का नियंत्रण करते थे और मुनाफा उठाते थे। औद्योगीकरण यानी बडे-बडे कल-कारखाने खुलने के साथ-साथ, सिवाय आज कल सोवियट यूनियन[२] के या शायद एक-दो दूसरे देशो के, पूंजीवाद

१ मत्स्य–न्याय—बलवानो के द्वारा निर्बलो के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा ससार के सब प्राणी आचरण करते है। जगल में छोटे जानवरो को बडे जानवर मार कर खा जाते हैं और उनसे बडे उनको मार कर खा जाते है। इसलिए यह 'जगल का नियम' भी कहलाता है।

२ सोवियट-यूनियन—रूस का नाम 'आजकल यूनियन ऑफ सोशलिस्ट सोवियट रिपब्लिक्स' (यू० एस० एस० आर०) है। इसे ही सोवियट यूनियन भी कहते है।

सारी दुनिया में फैल गया। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनो से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर ज़ोर देता रहा है। उद्योग-धन्धो के यन्त्रीकरण यानी मशीन की शक्ति से माल की उपज बहुत ज्यादा बढ गई और इसलिए धन भी खूब पैदा होने लगा। लेकिन यह नया धन एक छोटी सी जमात की ही जेब में जाता था— यानी नये उद्योगो के मालिको की जेबो में। मजदूर ग़रीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैंड में मजदूरो की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर हिन्दुस्तान तथा दूसरे देशो की लूट की बदौलत। लेकिन व्यवसाय के मुनाफे में मजदूरों का हिस्सा बहुत कम था। औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवाद ने पैदावार के सवाल को हल कर दिया। लेकिन जो नया धन पैदा हुआ उसके बटवारे का सवाल इनसे हल न हुआ। और धनिको और ग़रीबो की पुरानी कशमकश सिर्फ जारी ही न रही बल्कि और भी तेज हो गई।

औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी के दूसरे आधे हिस्से में हुई। यह वही जमाना था जबकि अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान और कनाडा में लडाइयां लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी जमाना था। इन घटनाओ का एक दूसरी पर जबर्दस्त असर पडा। ईस्ट इडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरो (तुम्हे क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लडाई के बाद बहुत दिनो तक जो रुपया हिन्दुस्तान से लूटा उस से इन नये उद्योग-धन्धो को चालू करने में बडी मदद मिली। मैं इस ख़त में पहले लिख चुका हूं कि औद्योगीकरण शुरू-शुरू में बडे ख़र्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है, कुछ दिन तक उससे फायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आजाय, चाहे कर्ज़े से या दूसरी तरह से, तो जबतक व्यवसाय चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा गरीबी और मुसीबत ही होता है। यह ख़ास तौर पर इंग्लैण्ड की खुशक़िस्मती थी कि ठीक जिस वक्त उसे अपने उद्योग-धन्धो और कारखानो को क़ायम करने के लिए बेहद रुपये की ज़रूरत हुई तभी उसे यह धन हिन्दुस्तान से मिल गया।

इन नये कारखानो के बन जाने पर नई जरूरतें पैदा हुईं। कारखानों की बनी हुई चीजें तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत हुई। मसलन कपडा बनाने के लिए रुई की जरूरत थी। इससे भी ज्यादा जरूरत थी नई-नई मडियो की, जिनमें कारखानो में तैयार किया हुआ नया माल खपाया जा सके। कारखाने पहले जारी करके इंग्लैंड दूसरे देशों से आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशकदमी के होते हुए भी उसे ऐसी मडियां मुश्किल से मिलतीं जहां माल आसानी से खपाया जा सकता। एक बार फिर हिन्दुस्तान ने, अपनी मर्जी के बिलकुल खिलाफ, इंग्लैंड की

यह दिक्क़त दूर करदी। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धो का सत्यानाश करने और हिन्दुस्तान पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाजियो से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बतलाऊँगा। यहाँ यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेजो ने जो हिन्दूस्तान पर क़ब्ज़ा कर रक्खा था और उसको ज़बरदस्ती अपनी स्कीमो में 'फिट' कर लिया था, इससे इँग्लैड की औद्योगिक क्रान्ति को बहुत मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूंजीवादी उद्योग दूसरे देशों में भी उसी आम लाइन पर तरक्क़ी करता गया जो इग्लैंड में तय हो चुकी थी। पूजीवाद ने लाज़मी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योकि हर जगह माल तैयार करने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को खपाने के लिए मडियो की माँग बढ़ने लगी। मंडियो और कच्चा माल प्राप्त करने का सबसे आसान तरीका यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, ज्यादा शक्तिशाली देशों में आपस में नये उपनिवेशो के लिए बडी ज़बरदस्त छीना-झपटी होनें लगी। इस बारे में भी हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा होने और अपनी समुद्री ताकत की वजह से इँग्लैड आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजो के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

औद्योगिक क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि अँग्रेज़ी दुनिया पर लंकाशायर के बडे-बडे कपडा बनाने वालों, और लोहे के मालिको और खान के मालिको का दबदबा दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया।

: ९९ :

अमेरिका का इंग्लैंड से विच्छेद

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी महान् क्रान्ति पर विचार करेंगे,—यानी अमेरिकन उपनिवेशो का इंग्लैंड से विद्रोह। यह तो ख़ाली राजनैतिक क्रान्ति थी, जो न तो औद्योगिक क्रान्ति जैसी महत्त्वपूर्ण थी, जिस पर हम विचार कर चुके है, और न उस फ़्रांस की राज्यक्रान्ति जैसी थी जो इसके थोडे ही दिनो बाद होनेवाली थी और जिसने योरप की सामाजिक नींव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका में होनेवाला यह राजनैतिक परिवर्त्तन महत्त्वपूर्ण था और इससे बडे-बडे नतीजे निकलने वाले थे। उस वक्त जो अमेरिकन उपनिवेश आज़ाद हो गये थे वे आज बढकर दुनिया

के सबसे ताकतवर, सबसे मालदार और, औद्योगिक दृष्टि से, सबसे ज्यादा उन्नतिशील देश बन गये है।

तुम्हें 'मे-फ्लावर' जहाज का नाम याद है जो १६२० ई० में थोडे से प्रोटेस्टेण्टो को इग्लैड से अमेरिका ले गया था ? वे जेम्स प्रथम की मनमानी को नापसन्द करते थे, और उसके मजहबी ख्यालात को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फादर्स' (यात्री-पूर्वज) कहलाते है, इंग्लैंड की जमीन को हमेशा के लिए सलाम करके अटलांटिक समुद्र के पार एक अजनबी देश को चले गये। उनका इरादा यह था कि वहाँ ऐसा उपनिवेश कायम करे जिसमें उनको ज्यादा आजादी रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी प्रवासी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत से लोग और जा पहुँचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहाँ कैथेलिक उपनिवेश थे; इग्लैड से आये हुए 'कैवेलियर' सरदारो के कायम किये हुए उपनिवेश थे, और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नाम के क्वेकर नेता के ऊपर ही पडा है। वहाँ हालैंड के लोग भी बसते थे, जर्मन और डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ्रास वाले भी। इनमें सभी देशो के निवासी मिले हुए थे लेकिन सबसे ज्यादा तादाद अंग्रेज प्रवासियो की थी, हालैंडवालो ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। जब बाद में यह अग्रेजो के हाथ में आया तो उन्होंने इसका नाम बदल कर न्यू-यार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अग्रेज प्रवासी इंग्लैंड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे। बहुत से लोगो ने अपने घर इसलिए छोडे थे कि वे इंग्लैंड में अपनी हालत से बेजार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत से कामो को नापसन्द करते थे। लेकिन उनकी सम्बन्ध-विच्छेद करने की ख़ाहिश बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थको का जोर था, इंग्लैंड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपने-अपने हाल में मस्त थे और इनमें आपस में कोई ऐसी बात न थी जो सबमें एक-सी पाई जाती हो। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश

१ क्वेकर—१६४९ ई० मे विलियम फाक्स ने एक 'सोसाइटी ऑफ फ्रैन्ड्स' (मित्र-मण्डली) कायम की थी जिसका उद्देश्य मजहब के ढकोसलो को छोड देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगो का मुंह-बोला नाम 'क्वेकर' पड गया। अमेरिका मे इस सोसायटी का सगठन विलियम पैन ने किया था। क्वेकर लोगो का जबरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

थे, ओर ये सव इँग्लैंड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहो उपनिवेशो में जितनी हालैंड या डेनमार्क वालों की वस्तियाँ थीं वे सब इन्हींमें मिल गई थीं और अग्रेजो के क़ब्जे में थीं। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही भीतर की तरफ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था जो आकार में इन तेरहो उपनिवेशो से करीब दस गुना बड़ा था। इन इलाको में कोई यूरोपियन प्रवासी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड-इडियनो'[१] के जुदे-जुदे कबीले और जातियाँ बसती थी और ये उन्हीके कब्जे में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसाकि तुम्हे ख़याल होगा, सारी दुनिया में इग्लैण्ड और फ्रांस की कशमकश चली थी। यह 'सात साल की लड़ाई' (१७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाती है जो सिर्फ योरप में ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान और कनाडा में भी चली। इग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रांस को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमेरिका से फ्रांस का टिकट कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्जे में आगये। कनाडा के सिर्फ क्यूबेक प्रान्त में ही कुछ फ्रेंच लोगो की आबादी थी; बाकी उपनिवेशो में अग्रेज ही ज्यादा थे। ताज्जुब की बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[२] आबादी से घिरा हुआ फ्रेंच भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बडे शहर मॉन्ट्रील (मॉन्ट रायल का अपभ्रंश) में, मै समझता हूँ, इतने फ्रेंच भाषा बोलनेवाले लोग है, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होगे।

पिछले किसी ख़त में मैं उस ग़ुलामो के व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूँ जो योरप के देशो ने अफरीका से हब्शी मजदूरो को पकड़-पकड़ कर अमेरिका लाने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और जगली व्यापार ज्यादातर स्पेनवालो, पुर्तगाल वालो और अग्रेजो के हाथ में था। अमेरिका में मजदूरो की जरूरत थी, खासकर दक्षिणी रियासतो में जहाँ तमाखू की खेती ख़ूब होने लगी थी। अमेरिका के बाशिन्दे

१ रेड-इडियन—कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका जापहुँचा। वहाँ के निवासियो को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका तावे जैसा रग होने के कारण 'रेड-इडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अव भी थोडी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते है।

२ ऐंग्लो सैक्सन—इग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन ज़ाति के माने जाते है। कहते है कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

'रेडइंडियन' कहलानेवाले लोग, खाना-बदोश थे और एक जगह टिककर नहीं रहना चाहते थे। इसके अलावा उन्होंने गुलामो की तरह काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; बरबाद हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका क़रीब-क़रीब खातमा कर दिया गया और नई परिस्थिति-यो में वे जिन्दा न रह सके। इन लोगो में से, जो किसी वक्त सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे है।

चूंकि रेड-इडियन लोग तो खेतो में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये जा सके, और मजदूरो की बडी भारी जरूरत थी, इसलिए अफरीका के कम्बख्त, निवासियो को भयकर नर-आखेट (मनुष्यो के शिकार) के जरिये पकडा जाता था, और जिस तरह उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर यक़ीन करना मुश्किल है। ये अफरीका के हबशी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया की दक्षिणी रियासतो को भेजे जाते थे जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज्यादातर तमाखू के बडे-बडे खेतो (प्लैन्टेशन) में काम लिया जाता था।

उत्तरी रियासतों में दशा इससे जुदी थी। 'मे-फ्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी कट्टर परम्परायें अभीतक चल रही थीं। वहां छोटे-छोटे खेत थे, दक्षिण की तरह बडे-बडे 'प्लैन्टेशन' न थे। इन खेतो में गुलामो या बडी तादाद में मजदूरो की ज़रूरत न थी। चूंकि नई जमीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की ख्वाहिश यही रहती थी कि अपना निजी खेत रखकर आजाद बना रहे। इसलिए इन बसनेवालो में बराबरी का भाव बढ़ने लगा।

इस तरह हम इन उपनिवेशो में दो आर्थिक प्रणालियो का विकास देखते है, एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे खेतो और समानता के कुछ-कुछ भावों पर निर्भर थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बडे-बडे प्लैन्टेशन और गुलामी था। रेड-इडियनो के लिए इन दोनो में से किसी में भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के आदिम निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ खदेड दिये गये।

इग्लैण्ड के बादशाह और बहुतसे अग्रेज जमींदारो का इन उपनिवेशो में, खास कर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल की लड़ाई के बाद अमेरिका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए खासतौर पर कोशिश की गई। अंग्रेजी पार्लमेण्ट, जिसमें जमींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशो को चूसने को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गये और व्यापार पर पाबन्दियां लगा दी गई। तुम्हें याद होगा कि इसी जमाने में हिन्दुस्तान में भी अंग्रेजों के जरिये बंगाल की

जबरदस्त लूट शुरू हो गई थी और हिन्दुस्तान के व्यापार के रास्ते में रुकावटें डाली गई थीं।

प्रवासी लोगो ने इन पाबन्दियो और नये टैक्सो की मुखालफत की, लेकिन 'सात साल की लडाई' में जीत होने के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताकत का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनकी मुखालफत की जरा भी परवा न की। उधर सात साल की लड़ाई से प्रवासियो ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग रियासतो या उपनिवेशो के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे शिक्षित अंग्रेजी फौजो के साथ फ्रेंच फौजो के खिलाफ लड़ चुके थे और लड़ने के तरीको और युद्ध के खौफनाक खेल से वाकिफ हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ से ये प्रवासी लोग भी इस बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अन्यायपूर्ण और अपने प्रति ज्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर पटकनी चाही तो मामला काबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इग्लैंड के बहुतसे मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसके फायदे में बहुत दिलचस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगो की मुट्ठी में थी, और शायद खुद सरकार के मेम्बर लोग भी ईस्ट इडिया कम्पनी के व्यापार में दिलचस्पी रखते थे। इसलिए सरकार ईस्ट इंडिया कंपनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश करती थी। लेकिन इससे उपनिवेशो के चाय के स्थानीय व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का निश्चय किया गया। १७७३ ई० में जब ईस्ट इडिया कंपनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ प्रवासी लोग रेड-इडियनों का भेष बनाकर माल के जहाज़ पर चढ़ गये और चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला एक बडी भारी सहानुभूति रखनेवाली भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशो और इग्लैंड के बीच लड़ाई ठन गई।

इतिहास की घटनायें ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होती, लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बडी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दांडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगो को 'बोस्टन टी-पार्टी' का खयाल आगया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी'

(नमक-दल) का उससे मुकाबिला करने लगे थे। लेकिन असल में इन दोनो में बहुत फर्क था।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इग्लैड और उसके अमेरिकन उपनिवेशो के बीच लडाई ठन गई। उपनिवेश किस बात के लिए लडाई लड रहे थे ? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैड से अलहदा होने के लिए। यहाँतक कि जब लडाई शुरू हो गई और दोनो तरफ ख़ून बह चुका तब भी प्रवासियो के नेता, इग्लैड के तीसरे जार्ज को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरेन' (महा कृपालु राजा) मानते रहे और अपने आपको उसकी वफादार रिआया समझते रहे। यह बात बडी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बातें तुम्हे बहुत बार होती हुई दिखाई देंगी। हॉलैंड में स्पेन का दूसरा फिलिप बादशाह कहलाता था हालाकि उसकी फौजो के साथ ज़बरदस्त लड़ाई छिडी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हॉलैड को मजबूर होकर अपनी आज़ादी का ऐलान करना पडा। हिन्दुस्तान में भी बहुत वर्षों तक शका और हिचकिचाहट और औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) की भावना से खिलवाड करने के बाद हमारी राष्ट्रीय महासभा (इडियन नैशनल कांग्रेस) ने पहली जनवरी १९३० ई० को मुकम्मल आज़ादी यानी पूर्ण स्वराज्य के हक़ में ऐलान किया। अब भी कुछ लोग ऐसे है जो, मालूम होता है, आज़ादी के खयाल से घबराते है और हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक शासन की बातचीत करते है। लेकिन इतिहास हमको यह बतलाता है और हॉलैंड और अमेरिका के उदाहरण स्पष्ट कर देते है कि ऐसी जद्दोजहद का नतीजा सिर्फ आज़ादी ही हो सकता है।

१७७४ ई० में, उपनिवेशो और इग्लैड के बीच लडाई छिडने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी आज़ादी नहीं चाहता है। और यही वाशिंगटन अमेरिका के प्रजातन्त्र का सबसे पहला राष्ट्रपति होने वाला था। १७७४ ई० में, लड़ाई छिड जाने के बाद, औपनिवेशिक कांग्रेस के छियालीस प्रमुख नेताओ ने वफादार रिआया की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय के पास यह प्रार्थनापत्र भेजा कि शान्ति कायम की जाय और जो 'ख़ून की नदी' बह चुकी है वह रोकी जाय। इग्लैड और उसकी अमेरिकन सतान के बीच में दुबारा मेल और मुहब्बत क़ायम करने की उनकी दिली ख्वाहिश थी। वे तो सिर्फ किसी तरह का औपनिवेशिक शासन चाहते थे और वाशिंगटन के लफ्ज़ो में उन्होंने ऐलान किया था कि कोई भी समझदार आदमी आज़ादी नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्रांच'[1] पिटीशन' (शान्ति की प्रार्थना) कहलाने लगी। ये शब्द कितने

१ 'ओलिव-ब्रांच'—(जैतून के पेड की डाली) योरप मे जैतून का पेड़

परिचित मालूम होते हैं ! आज हिन्दुस्तान में यही आवाज़ बार-बार सुनाई पड़ती है।

लेकिन सालभर भी न बीतने पाया था कि इस प्रार्थनापत्र पर दस्तख़त करनेवालो में से पच्चीस ने एक दूसरे ही ख़रीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा'।

जाहिर है कि उपनिवेशो ने कोई आज़ादी के लिए लड़ाई नहीं छेडी थी। उनकी शिकायते तो टैक्सो और व्यापार पर पाबन्दियो के बारे में थीं। वे लोग उन-पर उनकी मर्ज़ी के खिलाफ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी मशहूर पुकार यह थी कि 'प्रतिनिधित्व नहीं तो टैक्स नहीं' (No taxation without representation) क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका प्रतिनिधित्व न था।

इन प्रवासियो के पास कोई फौज तो न थी, लेकिन एक बड़ा देश ज़रूर था, जिसमें वे ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फौज तैयार की और वाशिंगटन उसका सिपहसालार हुआ। उनको कुछ कामयाबी भी मिली, और फ़ांस भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैंड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर इन उपनिवेशो से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैंड के ख़िलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैंड का पासा हलका हो गया, लेकिन लड़ाई बहुत वर्षों तक चलती रही। १७७६ ई० में उपनिवेशो का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणापत्र' प्रकट हुआ। १७८२ ई० में लड़ाई ख़तम हो गई और १७८३ ई० में सब लड़नेवालो ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन प्रजातन्त्र बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' (अमेरिका का संयुक्त राज्य) का नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनो तक इन राज्यो में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने आपको करीब-क़रीब आज़ाद समझता रहा। सबकी एक राष्ट्रीयता का ख़याल बहुत धीरे-धीरे पैदा हुआ। यह एक बहुत बड़ा देश था जो पश्चिम की तरफ फैलता ही जारहा था। यह वर्तमान संसार का सबसे पहला बडा प्रजातन्त्र था—छोटा-सा स्वीज़रलैंड उस ज़माने का एक दूसरा असली प्रजातन्त्र था। हॉलैंड प्रजातन्त्र ज़रूर था, लेकिन वह धनवालो के हाथ में था। इंग्लैंड खाली एक सल्तनत ही न था बल्कि वहाँकी पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान ज़मींदार वर्ग के हाथो में थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्तराज्य) का प्रजातन्त्र एक नये तरह का देश था। योरप और

शान्ति का चिन्ह समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

एशिया की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही का भी वहा कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में प्लैण्टेशन-प्रणाली और गुलामी के। वहां पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए 'वुर्जुवा' यानी मध्यमवर्ग की तरक्क़ी के रास्ते में कोई रुकावटें न थीं और उसने तेजी के साथ तरक़्क़ी की। आजादी की लडाई के वक़्त यहां की आवादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, १९३० ई० में, यह १२ करोड ३० लाख के करीव थी।

जॉर्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक वड़ा भारी ज़मींदार था। उस ज़माने के और महापुरुष, जो प्रजातन्त्र की नींव जमानेवाले समझे जाते जाते है, टॉमस पेन, वेन्जामिन फ्रेंकलिन, पैट्रिक हैनरी, टॉमस जैफरसन[1], जॉन ऐडम्स[2], और जेम्स मैडीसन[3] है। वैन्जामिन फ्रेंकलिन खास तौर पर प्रसिद्ध पुरुष हुआ है। यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। वच्चो की पतगें उड़ाकर इसने यह सावित कर दिया कि वादलों की कौंध और विजली एक ही चीज़ है।

१७७६ ई० की प्रजातन्त्र की घोषणा में यह कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर है।" अगर छानवीन की जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमजोर है, कुछ वलवान है, कुछ दूसरो से ज्यादा ज़हीन (चतुर) और योग्य है। लेकिन इस बयान की तह में जो ख़याल है वह बिलकुल साफ और तारीफ के लायक़ है। प्रवासी लोग योरप की सामन्तशाही की असमानताओ से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढी हुई चीज थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करने वालो में से बहुतो पर वाल्टेयर और रूसो वगैरा फ्रास की अठारहवीं सदी के दार्शनिको और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर है"—लेकिन फिर भी वहां वेचारा हबशी था, एक गुलाम, जिसके कुछ भी हक न थे। उसे कौन पूछता था? विधान की रचना में वह किस तरह फिट होता था? वह फिट नहीं होता था, और आजतक भी फिट नहीं हो सका है। वहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यो में जबर्दस्त गृह-युद्ध हुआ, जिसका नतीजा यह निकला कि गुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हवशियो का सवाल अमेरिका में अभीतक मौजूद है।

१. जैफरसन—(१७४३-१८२६), अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।
२ एडम्स (१७३५-१८२६); अमेरिका दूसरा राष्ट्रपति।
३. मैडीसन—(१७५१-१८३६) अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

: १०० :

बैस्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम मुख्तसर में अठारहवी सदी की दो क्रान्तियो का बयान कर चुके है। इस खत में मै तुमको तीसरी यानी फ्रास की राज्यक्रान्ति के बारे में कुछ बतलाऊँगा। तीनो क्रान्तियो में फ्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल मचाई। इग्लैड में शुरू होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और बहुत-से लोगो की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व कोई महसूस नहीं करता था। लेकिन इसके खिलाफ फ्रास की राज्य-क्रान्ति आश्चर्य-चकित योरप पर एकदम बिजली की तरह गिर पडी। योरप अभीतक बहुतसे राजाओ और बादशाहो के क़ब्जे में था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन काग़ज़ी तौर पर वह अब भी क़ायम था और उसकी प्रेतात्मा का साया अब भी योरप पर पड़ रहा था। राजाओ और बादशाहो तथा दरबारो और राजमहलों की इस दुनिया में, आम जनता की तह में से, यह अजीब और खौफनाक जीव निकल पड़ा जिसने सडे हुए रीति-रिवाजो और खास रिआयतो और हक़ो की ज़रा भी परवा न की और जिसने एक बादशाह को तख्त से गिराया तो दूसरो की भी ऐसी ही हालत कर डालने का डर दिखलाया। फिर इसमें क्या आश्चर्य है, अगर योरप के बादशाह तथा विशेषाधिकारो वाले तमाम लोग उस जनता की इस बगावत के आगे थर्राने लगे, जिसको उन्होने इतने दिनो तक न-कुछ समझकर कुचला था?

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी पहाड़ की तरह फट पडी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी पहाड़ बिना कारण या बिना बहुत दिनो की तैयारी के एकाएक नहीं फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट (धड़ाके) को देखकर ताज्जुब करते है; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताकते आपस में टकराया करती है और आग में सुलगा करती है। अखीर में ऊपर की पपडी उसको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालायें आकाश तक उठनेवाली विकट लपटो के साथ फूट पड़ती है और पिघला हुआ पत्थर (लावा) पहाड़ पर से नीचे की तरफ बहने लगता है। ठीक इसी तरह वे ताकते, जो आखिरकार क्रान्ति की शकल में ज़ाहिर होती है, समाज की सतह के नीचे बरसो तक खेला करती है। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि गरम होते-होते बाद में वह उबाल

आने की हालत पर पहुँचा है। भावनायें और आर्थिक परिस्थितियाँ क्रान्तियो का कारण होती है। बेवकूफ राज्याधिकारी लोग, जिनको ऐसी कोई बात दिखलाई नहीं पड़ती जो उनके विचारो से मेल न खाती हो, यह ख़याल करते है कि क्रान्तियाँ भड़कानेवालो के कारण होती है। भड़कानेवाले वे लोग होते हैं जो मौजूदा हालतो से असन्तुष्ट होते है और तब्दीली चाहते है और उसके लिए कोशिश करते है। हरेक क्रान्ति के युग में इनकी बहुतायत होती है, वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और असन्तोष का परिणाम होते है। लेकिन हज़ारो और लाखो आदमी ख़ाली एक भड़कानेवाले के इशारे पर ही नहीं नाचने लगते है। ज्यादातर लोग हिफाज़त को सबसे अच्छी चीज़ समझते है, जो-कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के ख़तरे में नहीं डालना चाहते। लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती है कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबतें बढ़ती जाती है और ज़िन्दगी एक असह्य बोझ हो उठती है, तो कमज़ोर से कमज़ोर भी ख़तरा उठाने के लिए तैयार हो जाते है। तभी जाकर वे भडकानेवाले की आवाज़ पर कान देते है, जो उनको अपनी मुसीबत से छुड़ाने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत से ख़तों में मै जनता की मुसीबतो और किसानो की बग़ावतों का ज़िक्र कर चुका हूँ। एशिया और योरप के हरेक देश में किसानों के ऐसे बलवे हुए है जिनकी वजह से बहुत खून-खराबी और कठोर दमन हुआ है। किसानो को उनकी मुसीबतो ने बग़ावत करने के लिए मजबूर किया है, लेकिन आम तौर पर उनको अपने उद्देश्य का साफ तौर पर इल्म न था। ख़यालात की इस अस्पष्टता यानी विचारधारा के अभाव के कारण उनकी कोशिशें ज्यादातर बेकार गई। फ्रास की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते है, कम-से-कम इतने बडे पैमाने पर, और वह है क्रान्ति करनें की आर्थिक प्रेरणा के साथ-साथ विचारो का मेल। जहाँ ऐसा मेल होता है वहीं क्रान्ति होती है, और असली क्रान्ति जिन्दगी और समाज की सारी रचना—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—पर असर करती है। अठारहवीं सदी के आख़िरी वर्षों में हम फ्रास में यही होता हुआ पाते है।

मै तुमको फ्रास के बादशाहो के ऐश-आराम, अयोग्यता, दुराचार और आम जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। इस तरह आर्थिक परिस्थितियाँ जरूरी तौर पर विस्फोट का सामान तैयार कर रही थी। फ्रास की जनता के हृदय में जो उथल-पुथल मच रही थी उसका भी कुछ ज़िक्र कर चुका हूँ; और उन नये ख़यालात का भी, जिनकी शुरुआत वाल्टेयर, रूसो और मौतेस्क्यू और दूसरे लोगो ने की थी। यानी आर्थिक मुसीबत और विचारधारा का निर्माण

ये दो क्रियायें साथ-साथ चल रही थीं और आपस में एक-दूसरी पर क्रिया और प्रतिक्रिया कर रही थी यानी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत वक़्त लगता है क्योंकि नये ख़यालात बहुत धीरे-धीरे छन-छनकर लोगो के पास पहुँचते है, और पुराने रिवाजो और ख़यालो को छोड़ देने के लिए बहुत कम लोग उत्सुक रहते हैं। बहुत बार ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा क़ायम हो, और लोग आख़िरकार नये तरह के ख़यालों को अपनाने में कामयाब हो, तबतक ख़ुद वे ख़याल ही पुराने पड़ जाते हैं। यह बडी दिलचस्पी की बात है कि अठारहवीं सदी के फ्रेंच दार्शनिको के विचार योरप के पूर्व-औद्योगिक (बडी-बडी मशीनो और कारख़ानो के पहले के ज़माने) के आधार पर बने हुए थे, और फिर भी क़रीब-करीब ठीक उसी वक़्त इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धो और ज़िन्दगी को इस कदर बदल रही थी कि हक़ीकत में वह बहुतसे फ़्रासीसी उसूलो की जड़ ही खोखली कर रही थी। औद्योगिक क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ्रेंच विचारक कुदरती तौर पर यह कल्पना न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बडे-बडे उद्योग-धन्धो के आने की वजह से उनके विचार, जिनपर फ़्रांस की राज्यक्रान्ति की विचारधारा ज्यादातर निर्भर थी, पुराने हो चुके थे।

जो कुछ भी हो, यह ज़ाहिर है कि फ्रेंच दार्शनिको के इन ख़यालो और उसूलो का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ा। आम जनता की हलचलो और बग़ावतो के बहुत-से उदाहरण पहले हो चुके थे; अब हमारे सामने जगी हुई जनता के आन्दोलन का, या यो कहिए कि जानकारी के साथ आगे बढ़नेवाली जनता की तहरीक का, महत्वपूर्ण उदाहरण था। फ़्रांस की इस महान् राज्यक्रान्ति का महत्व इसी कारण है।

मै बतला चुका हूँ कि १७१५ ई० में पद्रहवाँ लुई अपने दादा चौदहवे लुई का वारिस हुआ और इसने ५९ वर्ष तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—"आप मुये तो डुब गई दुनिया" (Apres moi le deluge) और इसीके मुताबिक वह बर्त्ताव भी करता था। बडे मज़े के साथ वह अपने देश को गड्ढ़े में गिरा रहा था। उसने इंग्लैंड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ नसीहत न ली। उसके बाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर बैठा जो बड़ा बेवकूफ और बुद्धिहीन था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत थी जो आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवकूफ थी; लेकिन उसमें एक तरह की जिद की ताकत थी जिससे सोलहवाँ लुई बिलकुल उसकी मुट्ठी में था। उस

में 'बादशाहो के दैवी अधिकार' की भावना लुई से भी ज्यादा थी, और वह आम लोगो से नफरत करती थी। इन दोनो, पति और पत्नी, ने सल्तनत के ख़याल को लोगो के लिए घृणापूर्ण बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ्रास के लोगो का सल्तनत के सवाल के बारे में कोई सुलझा हुआ खयाल न था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामो से प्रजातन्त्र को अनिवार्य कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० में रूस की राज्यक्रान्ति शुरू होने से पहले रूस के जार और जारीना ने अजीब बेवकूफी का बर्त्ताव किया था। लैटिन की एक प्रसिद्ध कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"परमात्मा जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले पागल बना देता है।" (quem deus perdere vult, prius dementat) बिलकुल ऐसी ही कहावत सस्कृत में भी है—'विनाशकाले विपरीत बुद्धि'

बादशाहत और डिक्टेटरशिप ज्यादातर फौजी शान-शौकत के सहारे खडी रहती है। जब कभी देश में गडबड पैदा होती है तो बादशाह या सरकार का गुट्ट लोगो का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों में अपनी फौजी किस्मत आजमाने की सोचते है। लेकिन फ्रास में इन फौजी किस्मत-आजमाइयो का नतीजा अच्छा नहीं रहा था। सात साल की लडाई में फ्रास की पराजय हुई और सल्तनत को धक्का लगा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका की आजादी की लडाई में फ्रास ने जो हिस्सा लिया उससे ख़र्चा और भी बढ गया। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-उमरा और पादरियो को ख़ास हक़ मिले हुए थे। वे बहुत से टैक्सो से बरी थे और अपनी ख़ास रिआयतो को जरा भी नही छोडना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ कर्ज चुकाने के लिए बल्कि राजदरबार की फिज़ूलखर्ची के लिए भी रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगो की कौन परवा करता था? फ्रास की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले कार्लाइल नाम के एक अग्रेज लेखक ने इनका जो बयान किया है वह मैं तुमको बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी अपनी ही एक खास शैली है, लेकिन उसके बयान अक्सर बहुत असर पैदा करने वाले होते है

"श्रमजीवियो पर फिर आफ़त आ रही है। बडे दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी तादाद दो-ढाई करोड है। जिनको हम एक तरह के सक्षिप्त, अस्पष्ट—हैवानी लेकिन धुधले, बहुत दूर के—ढेर में इकट्ठा करके कमीन, या ज्यादा इन्सानियत से, 'जनता' कहते है। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपने खयाल को दौडाकर आप इनके साथ-साथ सारे फ्रास में, इनकी मिट्टी की मडैयो मे, इनकी कोठरियो और झोपडियो मे, चले तो मालूम होगा कि

जनता सिर्फ अलग-अलग व्यक्तियो की ही बनी हुई है। इसके हरेक व्यक्ति का अपना अलग-अलग दिल है और तकलीफे है, वह अपनी ही खाल में खडा है, और अगर आप उसे नोचेगे तो खून बहने लगेगा।"

यह वर्णन १७८९ ई० के फ्रास पर ही नही बल्कि १९३२ ई० के हिन्दुस्तान पर कितनी अच्छी तरह लागू होता है ! क्या हममें से बहुत से लोग हिन्दुस्तान की जनता को, बीसियो करोड़ किसानो और मजदूरो को, एक में मिलाकर, उनको एक दुखी और एकदम वहशी नहीं समझते ? वे लोग लम्बे अरसे से बोझा ढोनेवाले जानवर रहे है और अब भी है। हम उनके साथ हमदर्दी दिखलाते है और उनकी भलाई करने की बडी कृपापूर्ण बाते करते है। लेकिन फिर भी हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारी ही तरह आदमी है, हमारी ही तरह उनके भी आत्मा है। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोपड़ियो में वे अलग-अलग जिंदगी बिताते है और हमारी ही तरह भूख और सर्दी और तकलीफ महसूस करते है। हमारे बहुत से राजनीतिज्ञ, जो कानून के पडित है, विधानो वगैरा की बातचीत करते है लेकिन उन इन्सानो को भूल जाते है जिनके लिए विधान और क़ानून बनाये जाते है। हमारे देश की करोडो कच्ची झोपड़ियो और कस्बो के निवासियो की राजनीति का अर्थ है भूखो के लिए भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान।

सोलहवे लुई के राज में फ्रांस की यही हालत थी। उसके शासन-काल के शुरू में ही भुक्खडो ने दंगे-फिसाद किये। ये कई साल तक जारी रहे और इसके बाद कुछ दिन शान्ति रही और फिर किसानो के बलवे हुए। दिजन में खाने की चीजो के लिए जो दंगा हुआ तो वहाँ के गवर्नर ने लोगो से कहा—"घास उग आई है; खेतो में जाकर उसे चरो"। हजारों आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह जाहिर किया गया था कि १७७७ ई० में फ्रांस में ग्यारह लाख भिखमगे थे। इस ग़रीबी और कम्बख़्ती पर विचार करते-करते हिन्दुस्तान का ख़याल किस तरह बरबस हमारे दिमाग में आ जाता है !

किसान लोग सिर्फ भोजन के ही भूखे न थे, उनको जमीन की भी उतनी ही जरूरत थी। सामन्तशाही में सामन्त लोग ज़मीन के मालिक होते थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हींके पेट में जाता था। किसानो के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई निश्चित उद्देश्य था, लेकिन वे अपने लिए जमीन चाहते थे और उनको कुचलने वाली इस सामन्तशाही से नफरत करते थे। वे सामन्तो से, पादरियो से और (हिन्दुस्तान का फिर ख़याल करो !) 'गबैल' या नमक-कर से नफरत करते थे जो ख़ास तौर पर गरीबो पर पड़ता था।

किसानो की यह हालत थी लेकिन फिर भी बादशाह और रानी रुपये के लिए चिल्लाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए कर्ज बढ़ते चले जारहे थे। मेरी एन्तोइनेत का लक़ब 'मैंडम डैफिसिट' (घाटा देवी) रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूल करने का कोई ढग नज़र न आता था। आखिरकार हार कर सोलहवे लुई ने मई सन् १७८९ ई० में 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में सामन्त, पादरी तथा साधारण लोग, इन तीन वर्गो के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, नुमाइन्दे होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती जुलती थी जिसमें सामन्तो और पादरियो का 'हाउस आफ लॉर्ड्स' और एक 'हाउस आफ कामन्स' होता था। लेकिन इन दोनो में फर्क भी बहुत-सा था। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठके कई सौ वर्षो से करीब-करीब नियमित रूप से होती चली आई थीं और अपने रिवाजो, कायदो और तौर-तरीको के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठके बहुत ही कम होती थीं और उसकी कोई परम्परा नहीं बनी थी दोनो संस्थाओ में ऊँचे वर्गो का ही प्रतिनिधित्व था, ब्रिटिश 'हाउस आफ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा। किसानो का प्रतिनिधित्व किसी में भी न था।

४ मई १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन शीघ्र ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनो जागीरो के नुमाइन्दो को इकट्ठा क्यो बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यम वर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगा और इस बात पर ज़ोर देने लगा कि उसकी मरजी के बिना कोई टैक्स नहीं लिया जा सकता। उसके सामने इंग्लैंड का उदाहरण था, जहाँ कामन्स सभा ने अपना हक महफूज़ कर लिया था। अमेरिका का नया उदाहरण भी उनके सामने था। वे बडी भारी ग़लत-फहमी में थे कि इंग्लैंड आज़ाद मुल्क था। असल में यह एक धोखा था क्योकि इंग्लैंड पर दौलतमद और ज़मींदार वर्गो का अधिकार और शासन था। वोट देने का हक बहुत थोडे लोगो को था जिससे पार्लमेण्ट पर भी इन्हीं लोगो का इजारा होगया था।

बहरहाल तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत की वही बादशाह लुई की बरदाश्त से बाहर की बात हो गई। उसने उनको हाल में से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगो की चले जाने की मंशा नहीं थी। वे तुरन्त ही नज़दीक के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक एक विधान की स्थापना न कर लेगे तब तक न टलेगे। यह 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह मौका आया जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और ख़ुद उसीके सिपाहियो ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति

में हमेशा नाजुक वक्त तभी आता है जब फौज, जो सरकार का खास पाया होती है, भीड में अपने भाइयो पर गोलियां चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबरा-कर हार मान ली और इसके बाद उसने बेवकूफी से, विदेशी फौजो से यह साजिश की कि वे उसकी रिआया पर गोलियां चलावे। जनता इसे बर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई १७८९ ई० के स्मरणीय दिन उन्होने वैस्तील[1] के पुराने जेलखाने पर कब्जा करके कैदियो को छोड़ दिया।

वैस्तील का पतन इतिहास की एक बहुत बडी घटना है। इसने क्रान्ति की शुरूआत की, यह सारे देश में जनता की बगावत के लिए एक इशारा था, इसका अर्थ था फ्रांस में पुरानी बातो, सामन्तशाही, सल्तनत और विशेषाधिकार का खातमा; यह योरप के तमाम राजाओ और बादशाहो लिए बडा भयानक और भयंकर बदशगुन था। जिस फ्रांस ने महान बादशाहो का फैशन कायम किया था वही अब एक नया फैशन क़ायम कर रहा था, जिसने तमाम योरप को हैरत में डाल दिया था। कुछ लोग इस लक्ष्य को देखकर डर से कांपने लगे। लेकिन बहुत से लोग इसमें उम्मीद और अच्छे दिनो के लक्षण देख रहे थे। चौदहवीं जुलाई आजतक फ्रांस का राष्ट्रीय त्योहार है और यह हरसाल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवीं जुलाई को वैस्तील पेरिस निवासियो के झुण्ड के कब्जे में आगया। लेकिन अधिकारी लोग इतने अन्धे होते है कि इस दिन से पहले की यानी १३ जुलाई की शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ राजा और रानी के सामने विद्रोही पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की खुशी में 'टोस्ट'[2] पिये गये। कैसी ताज्जुब की बात है कि योरप में बादशाहत की भावना इतनी जबरदस्त थी! इस जमाने में हम लोग प्रजातन्त्रो के आदी हो गये है और बादशाहो को मखौल समझते हैं। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूंक-फूंक कदम रखते हैं कि उनपर कहीं मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज्यादातर लोग बादशाहत के खयाल

१ वैस्तील—पेरिस शहर के बीच मे एक पुराना और बहुत मजबूत किला जिसमें राजनैतिक कैदी बद किये जाते थे और उनको तकलीफें दी जाती थी। पैरिस के लोगो ने इस पर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछ भी न बिगाड सकते अगर किले के भीतर के सैनिक उनका साथ न देते।

२ टोस्ट—शराब के प्याले हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष मे पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज योरप में और योरप के रहनेवालो में अब भी मनाया जाता है और आजकल अग्रेजी सभ्यता के भक्त हिन्दुस्तानी लोग भी इसकी नकल करने लगे है।

के खिलाफ है क्योंकि यह वर्ग-भेदो को बनाये रखती है और बडप्पन और झूठी टीम-टाम की भावना को वढाती है। लेकिन अठाहरवीं सदी के योरप में यह वात न थी। उस जमाने के लोगो के लिए विना वादशाह के देश की कल्पना करना जरा मुश्किल था। इसलिए हुआ यह कि लुई की वेवकूफी और लोगो की मरजी के खिलाफ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से उतार देने की कोई चर्चा न थी। करीव दो साल तक लोगो ने उसको और उसकी साजिशो को सहन किया और फ्रास ने विना वादशाह के काम चलाने का फैसला तभी किया जव वह भागने की कोशिश करता हुआ पकडा गया।

लेकिन यह वाद की वात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', 'नेशनल असेम्वली' (राष्ट्रीय सभा) वन गई और वादशाह एक वैधानिक या नियमित राजा वन गया, यानी ऐसा राजा जो असेम्वली के कहने के मुताबिक चलता था। लेकिन वह इस वात से नफरत करता था, और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफरत करती थी। पैरिस के लोग उनसे कुछ ज्यादा प्रेम नहीं करते थे और उनपर तरह-तरह की साजिशें करने का शक भी करते थे। वर्साई जहां राजा और रानी कचहरी या दरवार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उनपर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतो और ऐश-आराम के किस्सो और अफवाहो ने पैरिस के भूखे लोगो को और भी उत्तेजित कर दिया। वस, राजा और रानी पैरिस की त्यूलरीज[१] में एक वहुत-ही अजीव जुलूस वनाकर ले जाये गये।

यह खत निश्चित नाप से ज्यादा वढ चुका है। मै क्रान्ति का वयान अपने अगले खत में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

फ्रांस की राज्यक्रान्ति

१० अक्तूवर, १९३२

फ्रांस की राज्यक्रान्ति का वयान करने में मुझे जरा दिक्कत मालूम होती है। इस कारण नहीं कि उसके लिए मसाला कम है वल्कि इसलिए कि मसाला वहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति एक अजीव और सदा वदलते रहनेवाले नाटक की तरह थी और ऐसी असाधारण घटनाओ से भरी हुई है जो अव तक हमको मोह लेती है, सहमा

१ त्यूलरीज—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवे लूई को कैद किया गया था।

देती है और यर्रा देती है। राजाओ और राजनीतिज्ञो की नीतियां कोठरियो और खानगी कमरो में रहती है और उनपर एक रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत-से पाप चतुराई के पर्दे में ढक जाते है और हविसो और लालच की आपसी कशमकश शिष्टाचार की भाषा में छिप जाती है। यहांतक कि जब यह कशमकश लड़ाई की शक्ल में बदल जाती है और इस लालच और हविस की खातिर हजारो नौजवान मौत के मुह में भेज दिये जाते है, तब भी ऐसी किन्ही नीच भावनाओ का नागवार जिक्र हमारे कानो में नही पड़ता। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे उद्देश्य और महान हित की बाते की जाती है जिनके लिए भारी-से-भारी कुर्बानी की जानी चाहिए।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल जुदे ढग की चीज है। उसका मुकाम तो खेत, गली और बाजार है और उसके तरीके भोडे और गंवार होते है। राज्यक्रान्ति करनेवालो को राजाओ और राजनीतिज्ञो की सी तालीम मिली हुई नहीं होती। उनकी बातचीत चापलूसी से भरी हुई और सभ्य नहीं हुआ करती, जिसमें अनगिनती साजिशें और बुरी हरकतें छिप जायें। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमाग की बातो पर कोई परदे ढके रहते है; यहा तक कि उनके पास शरीर ढकने को काफी कपड़ा नहीं होता। राज्यक्रान्ति में राजनीति खाली राजाओ और पेशेवर राजनीतिज्ञो का खेल नहीं रह जाती। उसका ताल्लुक तो असलियत से होता है और उसकी तह में होता है सीधा-सादा मनुष्य-स्वाभाव और भूखे लोगो का खाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक के पांच वर्ष के मनहूस वक्त में हम फ्रांस में भूखी जनता की हरकत देखते है। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञो को मजबूर करते है और उन्हींके हाथो से बादशाहत, सामन्तशाही और चर्च की रिआयतो का खातमा करवाते है। यही लोग खूंख्वार 'मैदम गिलोटीन'[1] (सिर उडानेवाली देवी) को भेंट चढाते है और जिन लोगो ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगो पर ये अपनी नई मिली हुई आजादी के खिलाफ साजिश करने का शुबहा करते है उनसे बडी बेरहमी के साथ बदला लेते है। यही फटे-हाल और नगे पैरो वाले लोग कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति के पक्ष में लडने के लिए रणभूमि की तरफ दौड़ते है और अपने खिलाफ इकट्ठा होकर आनेवाली योरप की शिक्षित फौजो को पीछे खदेड़ देते है। फ्रांस के ये लोग आश्चर्यजनक काम कर दिखाते है, लेकिन भयकर खिचाव और लड़ाई-झगडे के कुछ ही साल बाद राज्यक्रान्ति की ताक़त खतम

१ गिलोटीन—मध्यकालीन योरप में अपराधियो के सिर उडाने के काम मे आनेवाली एक मशीन।

हो जाती है और वह अपने ही खिलाफ उल्टी लौटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है । और इसके बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्राति के खिलाफ दूसरी क्राति होती है जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेलीं थीं उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों की हुकूमत में कर दिया जाता है । इस प्रतिक्रान्ति में से डिक्टेटर और सम्राट नेपोलियन का उदय होता है । लेकिन न तो यह प्रतिक्रान्ति और न नेपोलियन जनता को उसकी पुरानी जगह पर पहुँचा सके । क्रान्ति की खास-खास कामयाबियो को कोई न मिटा सका; और उस दिन की जोशीली यादगार को, जबकि थोडी ही देर के लिए सही सताये हुओ ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ्रेंच लोगो से और हक़ीकत में योरप की दूसरी जातियो से कोई न छीन सका ।

क्रान्ति के शुरू के दिनो में बहुत सी पार्टियां और गिरोह हुकूमत के लिए लड़ रहे थे । एक तो रायलिस्ट यानी राजा के पक्षपाती थे जो सोलहवे लुई को आजाद राजा बनाये रखने की थोथी आशा लगा रहे थे, दूसरे नरम विचारो वाले लिबरल थे, जो विधान चाहते थे और बादशाह को एक नियन्त्रित शासक बनाकर रखना चाहते थे; तीसरे नरम विचारोवाले प्रजातन्त्रवादी थे जो 'गिरोंदे'[1] की पार्टी कहलाते थे, चौथे गरम प्रजातन्त्रवादी थे जो जैकोबिन[2] कहलाते थे क्योकि वे जैकोबिन कान्वेन्ट के हाल में अपनी सभा में किया करते थे । मुख्य दल यही थे और इन सब में और इनके अलावा भी, बहुत से ले-भग्गू थे । इन सब दलों और व्यक्तियो के पीछे थी फ्रांस की और खासकर पेरिस की जनता जो अपने ही में के कई गुमनाम नेताओं के इशारे पर चलती थी । विदेशो में, खासकर इग्लैंड में, वे फ्रेंच सरदार 'ईमिग्रीस' थे जो क्रान्ति से मुंह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके खिलाफ साजिशें कर रहे थे । योरप की सारी ताक़तवर क़ौमें क्रान्तिकारी फ्रास के खिलाफ हो रही थीं । पार्लमेण्ट वाला लेकिन धनसत्ता वाला इग्लैंड, और योरप के राजा और बादशाह भी, आम जनता के इस अद्भुत धडाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल देना चाहते थे ।

१ गिरोंदे—यह फ्रास के एक प्रान्त का नाम है । गिरोंदे पार्टी के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे ।

२ जैकोबिन—फ्रास की राज्यक्राति में भाग लेने वाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल । ये लोग जेलियो की-सी टोपी पहनते थे जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्राति का चिन्ह मानी जाने लगी । इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपीयर की हार के बाद इसका खातमा हो गया ।

रायलिस्टो और बादशाह ने मिलकर साजिश की लेकिन इससे उन्होने अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारी। नैशनल असेम्बली यानी राष्ट्रीय सभा में शुरू-शुरू में जिस पार्टी का ज़ोर था वह नरम लिबरलो की थी जो कुछ-कुछ इंग्लैंड या अमेरिका की तरह का कोई विधान चाहती थी। उनका नेता था मिराबो[1] जिसके नाम से तुम पहले ही से परिचित हो। तकरीबन दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरुआत के दिनो की कामयाबी से फूलकर इन्होने कितनी ही साहसपूर्ण घोषणायें कीं और कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन भी किये। बैस्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त १७८९ ई० को, असेम्बली में एक मज़ेदार घटना हुई। असेम्बली में सामन्तशाही हको और रिआयतो के तोड़ दिये जाने पर विचार हो रहा था। उस वक्त फ़्रांस की हवा में कुछ ऐसी बात थी, जो लोगो के दिमाग़ में भर गई थी, यहांतक कि सामन्त सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बडे-बडे सरदार और चर्च के नेता असेम्बली के अधिवेशन में उठ खडे हुए और अपने मांडलिक हको और रिआयतो को छोड़ने में एक दूसरे से आगे बढ़ने लगे। यह एक हार्दिक और उदार प्रदर्शन था, हालांकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। रिआयती वर्ग के दिल में ऐसी उदार भावनायें कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती है; या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि विशेषाधिकारो का अन्त तो होने वाला है ही, इसलिए नेकी के साथ उदारता दिखाने में ही भलाई है। थोडे ही दिन हुए जब बापू ने छुआछूत को हटाने के लिए अनशन किया था, तब हिन्दुस्तान के सवर्ण हिन्दुओ ने इसी तरह का एक अद्भुत काम कर दिखाया था और जादू की तरह सारे देश में हमदर्दी की लहर फैल गई थी। हिन्दुओ ने जिन जंजीरो में अपने बहुत से भाइयो को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हज़ारो दरवाज़े, जो युगो से अछूतो के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ्रांस की नैशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि ज़मीन के साथ काश्तकार की बिक्री की प्रथा, विशेषाधिकार, मांडलिक कचहरियां, सरदारो और पादरियो को टैक्स की छूट, और इख्तियार, ये सब बाते बन्द की जायें। यह अजीब बात है कि बादशाह तो था लेकिन सरदारो के सब इख्तियार छीन लिये गये।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मनुष्य के अधिकारों की एक घोषणा पास की।

१ मिराबो—(१७४९–१७९१), एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ, (बादशाह का विरोधी) नैशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

इस मशहूर घोषणा का ख़याल शायद अमेरिका की आज़ादी की घोषणा से हुआ हो। लेकिन अमेरिकावाली घोषणा मुख्तसर और सहल है; फ़ास वाली लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मनुष्य के अधिकार वे अधिकार थे जो उसको समानता, स्वाधीनता और आनन्द प्राप्त करानेवाले माने गये थे। उस वक्त मनुष्यो के अधिकार की यह घोषणा बडी ही साहसपूर्ण और निडर मालूम होती थी और बाद के तकरीबन सौ वर्षों तक यह योरप के लिबरलो और लोकसत्तावादियो का परवाना रही। लेकिन इतने पर भी आज यह बिलकुल रद्दी होगई है और हमारे ज़माने के किसी भी सवाल को हल नहीं करती। जनता को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि सिर्फ कानूनी बराबरी और वोट देने का हक असली समानता, या स्वाधीनता या आनन्द नहीं दे सकते, और यह कि जिनके हाथ में ताकत है वे उनको अब भी दूसरे तरीको से चूस सकते हैं। फ़ास की राज्यक्रान्ति से अब तक राजनैतिक विचार बहुत आगे बढ गये हैं और बदल गये हैं, और शायद इन्सानी हकूक के ऐलान के उन थोथे लफ्ज़ी असूलो को बहुत से अनुदार विचारवाले तो आज भी मजूर कर लेगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग असली समानता और आज़ादी देने के लिए तैयार हैं। यह घोषणा ख़ानगी सम्पत्ति की वास्तव में रक्षा करती थी। बडे-बडे सरदारों की और चर्च की जागीरे मॉडलिक हक्को और विशेष अधिकारो से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कारणो से ज़ब्त की गई थीं। लेकिन सम्पत्ति रखने का जो अधिकार था वह पवित्र और अटूट समझा गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के आगे बढ़े हुए राजनैतिक विचारो के मुताबिक ख़ानगी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

इन्सानी हकूक का ऐलान आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पडे। कल के साहसपूर्ण आदर्श बहुत करके आज की एक मामूली बात बन जाते हैं। लेकिन जिस वक्त इसका ऐलान किया गया था, सब पीड़ितो और पामाल लोगो के लिए यह अच्छे दिनो की मीठी उम्मीद का सदेश लानेवाला मालूम होता था। लेकिन बादशाह ने इसे पसंद नहीं किया; वह इस कुफ्र से हैरत में आगया और उसने इसे मंजूर करने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी वक्त यह हुआ कि पैरिस के लोगो का झुण्ड, जिसके आगे स्त्रियां थीं, वर्साई के महलो पर चढ आया और उसने बादशाह को न सिर्फ यह घोषणा ही मजूर करने पर मजबूर किया बल्कि उसे पैरिस जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले ख़त के अख़ीर में किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत से फ़ायदेमंद सुधार किये। चर्च की बडी भारी

सम्पत्ति राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ्रांस का अस्सी इलाकों में नया बँटवारा किया गया, और मेरा ख़याल है कि यह बटवारा आज तक चालू है। पुरानी मांडलिक कचहरियों की जगह अच्छी कानूनी अदालतें कायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे काश्तकारों का फायदा हुआ और न शहर के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की गति रोक दी गई। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, जनसाधारण, काश्तकारों और शहर के आम लोगों का असेम्बली में बिलकुल प्रतिनिधित्व न था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का कब्ज़ा था जिसका नेता मिराबो था, और ज्योंही उसे मालूम पड़ा कि उनकी गरज़ पूरी हो गई, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से मेल करने लगे और सूबों के काश्तकारों को गोली से उड़ाने लगे। उनका नेता मिराबो तो दरअसल बादशाह का खुफिया सलाहकार ही बन गया। जिस जनता ने बैस्तील पर हमला करके उसे जीत लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी ज़ंजीरें तोड़ डाली हैं, वही अब हैरत के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। आम लोगों की आज़ादी अब भी उतनी ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले, और नई असेम्बली उनकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने ज़मींदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर पैरिस, जो क्रान्ति का केन्द्र था, की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के विकास के दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह पेरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी था। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने वाले शहर के हरेक हलके में एक जिन्दा संस्था थी जो जनता से सीधा ताल्लुक रखती थी। कम्यून, और ख़ासकर हलके, क्रान्ति का झंडा उठानेवाले और नरम विचारों और मध्यमवर्ग की असेम्बली का मुक़ाबिला करनेवाले बन गये।

इसी अर्से में बैस्तील की हार की साल-गिरह आगई और १४ जुलाई को पेरिस के बाशिन्दों ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' कहा गया; और पैरिस वालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की यह हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा हो गया था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी, लेकिन पेरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी शक्ति से उबल रहे थे, किसान लोग अभी तक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ ताक रहे थे। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी, या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या ख़तम हो जाती। नरमदल का

नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साजिशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगो को रोक रक्खा था। २१ जून १७९१ को ऐसी घटना हुई जिसने क्रान्ति की किस्मत का निबटारा कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेस बदल कर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वर्दून के पास वेरनीस के किसानो ने उन्हे पहचान लिया और उन्हे रोक कर फिर पेरिस भेज दिया गया।

जहाँ तक पेरिस के रहनेवालो का ताल्लुक़ था वहाँ तक तो बादशाह और रानी के इस कार्य ने उनकी क़िस्मत का फैसला कर दिया। अब प्रजातत्र का खयाल खूब जोर पकडने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस वक्त की सरकार इतने नरम विचारोवाली और जनता की भावनाओ से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको उन्होने गोलियो से उड़ाना शुरू कर दिया। क्रान्ति के महान नेता मारत के पीछे अधिकारी लोग बुरी तरह पड गये क्योंकि उसने बादशाह को, भाग जाने के कारण देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा की थी। उसे पेरिस की गटरो में छिपना पडा जिस की वजह से उसे एक बुरा चमडी का रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक सिद्धान्त रूप से लुई बादशाह माना जाता रहा। सितम्बर १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली की जिन्दगी पूरी हो गई और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली यानी कानून बनाने वाली सभा ने ले ली। यह भी उसीकी तरह नरम विचारो वाली थी और सिर्फ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। यह फ्रास के बढते हुए जोश की नुमाइन्दा न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगो की, जो खुद जनता के ही लोग थे, तक़त वढ़ने लगी।

उधर योरप के ताकवर राष्ट्र इन अजीब घटनाओ को बडे चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोडे दिनो तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैंड के पुराने राज्य को खतम करने में लग रहे थे, लेकिन फ्रास में घटनायें बडे जोरो से आगे बढ़ रही थीं जिनकी तरफ उनका ध्यान खिचना चाहिए था। १७९२ ई० में फ्रास की आस्ट्रिया और प्रशिया से लडाई हुई। मैं तुमको यह बतला दूँ कि आस्ट्रिया इन दिनो निदरलैंडस के बेलजियम वाले हिस्से के कब्जे में था और उसकी सरहद फ्रास से मिली हुई थी। विदेशी फौजें फ्रांस के इलाके में घुस आई और उन्होंने फ्रास की फौजो को हरा दिया। यह खयाल किया गया और जिसके लिए सबूत भी था, कि बादशाह उनसे मिल गया है और सारे रायलिस्टो पर दगा-

बाज़ी का शक किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारो तरफ़ ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हे चारो तरफ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पेरिस की क्रांतिकारी कम्यून ने इस मुसीबत के मौके पर आगे बढ़कर लाल झंडा फहरा दिया, जिससे यह ज़ाहिर हो जाय कि राजदरबार की बग़ावत के ख़िलाफ़ जनता ने फौजी कानून यानी मार्शल-लॉ जारी कर दिया है, और उसने १० अगस्त १७९२ ई० को बादशाह के महल पर धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस (स्वीज़रलैंड के रहनेवाले) शरीररक्षको (बाडी-गार्डों) के हाथो जनता को गोलियों से उड़वा दिया। लेकिन जीत आख़िर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झंडा सब जगह मज़दूरो का, समाजवाद और साम्यवाद का, झंडा है। लेकिन पहले यह जनता के ख़िलाफ़ फौजी क़ानून ऐलान करने का सरकारी झंडा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यकीन के साथ नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून के ज़रिये इस झंडे का इस्तेमाल जनता की तरफ से उसका सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मज़दूरो का झंडा बनता गया।

बादशाह का गद्दी से उतारा जाना और क़ैद किया जाना काफी न था। स्विस शरीर-रक्षको की उनपर गोलिया चलाने और उनमें से बहुतो को मार डालने की कार्रवाई से जोश में आकर और मुल्क के दुश्मनो और भेदियो से डरकर और ग़ुस्से में आकर, पेरिस के लोग जिन पर सन्देह करते उनको पकडकर जेलों में ठूँसनें लगे। कुछ दिन बाद लोगों पर एक और पागलपन सवार हुआ। उन्होंनें क़ैदियो को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुकदमा चलाया और उनमें से बहुतो को मौत के घाट उतार दिया। ये जो 'सितम्बर की हत्यायें' कहलाती हैं, इनमें एक हज़ार से ज्यादा आदमी मार डाले गये। पैरिस के हुजूम को बडे पैमाने पर ख़ूँरेज़ी का यह पहला ही अनुभव था। ख़ून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और ख़ून बहाना बाकी था।

सितम्बर में ही फ्रांस की फौजो को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमला करनेवाले फौजो पर पहली फतह मिली। यह फतह वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रान्ति को बचा लिया।

२१ सितम्बर १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन यानी राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। यह असेम्बली का स्थान लेनेंवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनो असेम्बलियों से ज्यादा आगे बढी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी बहुत पिछडी

हुई थी। कन्वेन्शन का पहला काम हुआ प्रजातन्त्र का ऐलान करना। इसके बाद ही सोलहवे लुई का मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सजा दी गई और २१ जनवरी १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापो का बदला अपना सिर देकर चुकाना पडा। उसे गिलोटिन पर चढा दिया गया, यानी गिलोटीन पर उसका सिर उड़ा दिया गया। फ्रास की जनता अपना पीछे लौटने का मार्ग बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी क़दम बढ़ा लिया था और योरप के राजाओ और बादशाहो को अपनी चुनौती देदी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के खून से सनी हुई गिलोटीन की सीढ़ियो पर से ही क्रान्ति के महान नेता दान्तन[1] ने जमा हुई भीड के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहो को अपनी चुनौती दे दी। उसने पुकार कर कहा—"योरप के बादशाह हमको चुनौती देंगे; हम उनके आगे एक बादशाह का सिर आगे फेकते है!"

: १०२ :

क्रान्ति और प्रति क्रान्ति

१३ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई खतम हो चुका था लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रांस में आश्चर्यभरी तब्दीलियाँ हो चुकी थीं। उसके बाशिन्दो का खून क्रान्ति के जोश से भरा हुआ था, उनकी नसो में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। प्रजातन्त्रवादी फ्रास चुनौती दे रहा था; बाक़ी का योरप—'बादशाहतो वाला योरप' उसके खिलाफ खडा था। प्रजातन्त्रवादी फ्रास इन निकम्मे बादशाहो और राजाओ को बतला देना चाहता था कि आजादी के सूरज की गरमी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते है। वे लोग सिर्फ अपनी नई मिली हुई आजादी के लिए ही नहीं, बल्कि बादशाहो और सरदारों के जुल्मो से कराहते हुए सब लोगो की आजादी के लिए लडने की ख्वाहिश रखते थे। फ्रास के लोगो ने योरप के राष्ट्रो को अपना सदेश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासको के खिलाफ बगावत करे, और ऐलान किया कि वे लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारो के दुश्मन है। उसकी मातृभमि आजादी की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर कुर्बान हो जाना एक आनन्द की बात थी। और इस खूंखार

१ दान्तन—(१७५९-१७९४), फ्रास का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओ' का हुक्म इसीने दिया था। रोब्सपीयर ने इसे गिरा दिया और इसको गिलोटीन पर चढाकर मार डाला गया।

जोश के मौक़े पर उनको एक अद्भुत गीत मिल गया जिसका स्वर उनके जोशीले भावो से मिला हुआ था और जिसने उनको खतरो की जरा भी पर्वाह न करते हुए और गीत गाते हुए मैदानेजग में जोश के साथ आगे बढ़ने और सब बाधाओ को पार करने के लिए उत्तेजित किया गया। यह रूजे दि लाइली का राइन की फौजो के लिए बनाया हुआ लड़ाई का गीत था जो तब से 'मार्साइसी' कहलाता है और आज भी फ्रांसवालो का राष्ट्रीय गीत[1] है।

मातृभूमि के बच्चो, आओ !
गौरव का दिन आया है !
निष्ठुरता का खूनी झडा,
अपने सिर पर छाया है !
सुनो, खून के प्यासे सैनिक,
चारो ओर दहाड रहे।
गोदी के लालो, ललनाओ,
की हत्या को उमड रहे।
सैन्य सजाओ ! ऐ नागरिको !
कर मे तलवारे खीचो !
इन सब के अपवित्र खून से,
अपने खेतो को सींचो !

वे लोग बादशाहो की दीर्घायु के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पवित्र प्रेम और प्यारी आजादी के गाने गाते थे।

१ मूल फ्रेंच गीत इस प्रकार है —

Allons enfants de la patrie,
Le jour de gloire est arrive !
Contre nous de la tyrannie,
L'etendard sanglant est leve,
Eentendez-vous dans les campagnes,
Mugir ces feroces soldats ?
Ils Uiennent jusque dans nos bras,
Egorger nos fils, nos compagnes !
Aux armes, citoyens ! formez vos bataillons !
Marchons, marchons, qu'un sang inpur abreuve nos sillons !
Amour sacre' de la patrie,
Conduis, soutiens nos bres Uengenrs !
Liberte, liberti cherie,
Cambats avec tes defenseurs !

ओ मातृभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढ़ने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों,
को तू रण में कर बल प्रदान !
प्रिय स्वतन्त्रते ! समर बीच तुम
निज सेवक जन की करो सहाय !

चीजों की बड़ी तंगी थी। न तो काफी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहाँ तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फौज के लिए जूते दे देने को कहा गया; देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी खाने की चीजों को छोड़ दिया जिनकी कमी पड़ गई थी और जिनकी फौज के लिए जरूरत थी; कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कड़ाइयाँ, बाल्टियाँ, वगैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीजें माँगी गई। पेरिस की गलियों में सैकड़ों लुहारों की भट्टियों पर हथौड़े चल रहे थे क्योंकि सारे नागरिक पुरुष और स्त्रियाँ हथियार बनाने तक में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तंगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या पर्वाह थी जब उनकी मातृभूमि फ्रांस, सुन्दर फ्रांस, फटे-हाल मगर आजादी का मुकुट पहने, खतरे में थी और दुश्मन उसके दरवाजे पर आपहुँचे थे? बस, फ्रांस के नौजवान उसकी रक्षा करने को दौड़े और भूख-प्यास की पर्वाह न करते हुए, आगे बढ़कर विजय प्राप्त की। कार्लाइल लिखता है :—

"ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि किसी राष्ट्र की सारी की सारी जनता में जरा भी विश्वास या श्रद्धा का होना माना जा सके; सिवाय उन चीजों के जिनको वह खा सके या हाथ से छू सके। जब कभी उसे किसी विश्वास की प्राप्ति हो जाती है, तो उसका इतिहास हृदय-ग्राही और ध्यान देने योग्य बन जाता है।" एक महान हेतु में यही विश्वास क्रान्ति के रूप में, स्त्री और पुरुषों में पैदा हुआ और उन याद रखने लायक दिनों में उन्होंने जो इतिहास बनाया और जो कुर्बानियाँ कीं, उनमें अब भी हमपर असर डालने की और हमारी नाड़ी की गति को तेज करने की शक्ति है।

नये रँगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फौजी तालीम न मिलने पर भी, फ्रांस की जमीन पर से सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और उसके बाद निदरलैंड के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। आखिरकार हैप्सबर्गों ने निदरलैंड को छोड़ दिया और फिर वापस न आये। योरप की शिक्षित और तनख्वाह पानेवाली फौजें इन क्रान्तिकारी रँगरूटों के मुका-बिले में न ठहर सकीं। शिक्षित सिपाही तनख्वाह के वास्ते लड़ता था और बड़ी

होशियारी के साथ लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और फ़तह हासिल करने के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। शिक्षित सिपाही ढेर-के-ढेर सामान के साथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता था। रंगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेज़ी के साथ चलता था। यानी क्रान्ति-कारी फौजें लड़ाई में एक नया ही नमूना थीं और उनके लड़ने का ढंग भी बिलकुल नया था। उन्होंने लड़ाई के पुराने तरीकों को बदल दिया और कुछ हद तक योरप में अगले सौ वर्षों में तैयार होनेवाली फौजों के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फौजों की असली ताकत इनके जोश और इनके हौसले में थी। इनका मक़ूला (Motto), और असल में उस वक्त क्रान्ति का भी मक़ूला, दान्तन के इस मशहूर जुमले में आजाता है "मातृभूमि के दुश्मनों को शिकस्त देने के लिए हम में दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

लड़ाई फैलने लगी। समुद्री फौज के कारण इंग्लैंड एक ताकतवर दुश्मन साबित हुआ। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस ने खुश्की पर लड़ने के लिए बड़ी भारी फौज बनाली थी लेकिन समुद्री लड़ाई के लिए वह कमजोर था। इंग्लैंड ने फ्रांस के सारे बन्दरगाहों को रोकना शुरू कर दिया। फ्रांस से भागे हुए लोग इंग्लैंड से ही करोड़ों की तादाद में जाली 'असाइनेट्स' या फ्रेंच प्रजातन्त्र के नोट धड़ा-धड़ फ्रांस भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ्रांस की मुद्राप्रणाली और माली हालत को बिगाड़ने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण चीज़ बन गई और राष्ट्र की सारी ताकत उसमें खर्च होने लगी। ऐसी लड़ाइयां क्रान्तियों के लिए खतरनाक हुआ करती हैं। क्योंकि ये ध्यान को सामाजिक समस्याओं से हटाकर विदेशी दुश्मन से लड़ने की तरफ लगा देती हैं जिससे क्रान्ति का असली मक़सद भूल जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह लड़ाई का जोश ले लेता है। फ्रांस में ऐसा ही हुआ और, जैसा कि हम देखेंगे, आखिरी दरजा फ्रांस का यह हुआ कि वहाँ एक जबरदस्त फौजी सिपहसालार की डिक्टेटरशिप यानी तानाशाही कायम हो गई।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ्रांस के पश्चिम में वैन्दी में कुछ तो वहाँ के काश्तकारों के नई फौजों में भरती होने से इन्कार करने के कारण और कुछ रायलिस्ट नेताओं और फ्रांस से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का जबर-दस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रांति को सम्हालने वाले और चलाने वाले तो असल में पेरिस के नगर-वासी थे, किसान लोग राजधानी में बहुत जल्दी-जल्दी होने वाली तब्दीलियों के महत्व को न समझ सकने के कारण पिछड़ गये। वैन्दी का विद्रोह बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लड़ाई में और खासकर घरेलू लड़ाई में

लोगो की नीच-से-नीच प्रवृत्तियाँ जाग उठती है और दया तो दर-दर मारी फिरती है। लायन्स में क्राति के ख़िलाफ बग़ावत हुई। इसे दबा दिया गया और किसी ने यह प्रस्ताव पास किया कि सज़ा के तौर पर लायन्स के बडे नगर को बर्बाद कर दिया जाय। "लायन्स ने आज़ादी के ख़िलाफ लडाई ठानी है; लायन्स अब बाक़ी नहीं रह सकता।" ख़ुशक़िस्मती से यह प्रस्ताव मजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लायन्स को बडी मुसीबते उठानी पडीं।

इसी अर्से में पैरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका अधिकार था? नई चुनी हुई कम्यून और उसके हलकों का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में अधिकार के लिए मुख़्तलिफ गिरोहो में कशमकश चल रही थी जिनमें ख़ास थे गिरोंदी यानी नरम प्रजातन्त्रवादी और जैकोबिन यानी गरम प्रजातन्त्रवादी। जैकोबिन दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर गिरोंदी डिप्टी लोग कन्वेन्शन से निकाल दिये गये। कन्वेन्शन ने अब सामन्तों के हक़ों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो ज़मीनें सामन्त सरदारो के क़ब्ज़े में थीं वे स्थानीय कम्यूनो यानी म्युनिसिपैलिटियो को वापस लौटा दी गई, यानी ये ज़मीनें आम जनता की सम्पत्ति हो गई।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिन लोगो की तूती बोलती थी, दो कमिटियाँ क़ायम कीं, एक तो सार्वजनिक हित की और दूसरी सार्वजनिक रक्षा की और इनको लम्बे-चौडे अधिकार दे दिये। ये कमिटियाँ—ख़ासकर सार्वजनिक रक्षा वाली—जल्दी ही बडी ताक़तवर बन बैठीं और लोग इनसे डरने लगे। इन्होने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया। यहाँ तक कि क्रान्ति आतक के गहरे गड्ढे में जा पडी। ख़ौफ का साया अभी तक हरेक के ऊपर पडा हुआ था; विदेशी दुश्मनो का ख़ौफ, जो उनको चारो तरफ से घेरे हुए थे, भेदियो और देश-द्रोहियो का डर और इसी तरह के बहुत-से दूसरे डर भी थे। डर लोगों को अन्धा और ज़िन्दगी से ना-उम्मीद कर देता है, और इस लगातार सिर पर सवार रहनेवाले ख़ौफ से मजबूर होकर सितम्बर १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयकर कानून पास किया जो 'लॉ-ऑफ सस्पैक्ट्स' यानी सदेह-भाजन लोगो का क़ानून कहलाता है। जिस किसी पर शक होता उसकी खैर न थी, और शक किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस गिरोंदी डिप्टियो पर क्रान्तिकारी अदालत के सामने मुक़दमा चलाया गया और उनको फौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

इस तरह आतक की शुरूआत हुई। रोजमर्रा मौत की सज़ा पाये हुए लोगो की गिलोटीन तक यात्रा होती थी, रोजमर्रा इन क़ुर्बानी के बकरो से भरी हुई

गाडियां, जिन्हे 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियो की सड़को पर चू-चू करती और खड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागो को चिढाते थे। कन्वेन्शन में भी अधिकारियो के गुट्ट के खिलाफ़ बोलना खतरनाक था, क्योकि इससे शक पैदा होता था और शक का नतीजा होता था मुकदमा और गिलोटीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक हित और सार्वजनिक रक्षा की कमिटियो के हाथ में थी। ये कमिटियाँ, जिन्हे मौत और जिन्दगी का सारा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरो को नहीं बांटना चाहती थी। इन्होने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज किया। असल में जो इनकी हां में हां नहीं मिलाते थे, उन सबपर इनको ऐतराज़ था। अधिकार लोगो को असाधारण तौर से चौपट कर देता है। इसलिए इन कमिटियो ने उस कम्यून को ही कुचलना शुरू कर दिया जो अपने हलक़ो के साथ क्रान्ति का पाया रही थी। पहले इन्होने हलको को कुचला और फिर उनके सहारो को काटकर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आप ही को खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलके आम जनता को ऊँचे अधिकारियो से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसे थीं जिनमें होकर क्रान्ति का, उसे ताकत और जिन्दगी देने वाला, लाल खून बहता था। १७९४ ई० के शुरू में हलको और कम्यून के कुचल दिये जाने का मतलब था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। आगे से कन्वेन्शन और ये कमिटियाँ ऊँचे अधिकारियो का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई सजीव सम्बन्ध न था और जो आतंक के ज़रिये अपनी ख्वाहिशो को दूसरों से मनवाती थीं—जैसा कि सब अधिकारप्राप्त लोगों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के खातमे की शुरूआत थी। छ महीने तक यह आतक और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलने वाली थी। लेकिन उसका खातमा तो यह आंखो के सामने था।

इन उथल-पुथल और खींच-तान के दिनो में पैरिस और फ्रास के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमाइल देस्मूलिन, जो १७८९ में बैस्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौको पर भी महत्व-पूर्ण हिस्सा लिया था। आतंक के दिनो में दयालुता की नीति के पक्ष का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोटीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी जवान स्त्री लूसिली ने भी इसका अनुसरण किया और अपने पति के बिना जिन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्रे दि इग्लैन्ताइन; सरकारी वकील फोकिये तिनविली, जिससे सब घबराते थे; मारत, क्रान्ति का शायद सबसे बडा और क़ाबिल आदमी जिसे एक नौजवान लड़की शारलौती कॉरदे ने छुरा भोककर मार डाला, दान्तन, जिसका

ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो बहादुर और शेरदिल था और ज़बर-दस्त लोकप्रिय वक्ता था, लेकिन फिर भी उसका ख़ातमा गिलोटीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोव्सपीयर, जैकोबिन दल का नेता और आतक के दिनो में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब डिक्टेटर। यह तो एक तरह से आतक की मूर्ति ही बन गया है और लोग इसका नाम लेते हुए कापते है। लेकिन इस शख़्स की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उँगली नहीं उठा सकता, इसे 'अच्युत' (Incorruptible) कहा जाता था। लेकिन ज़िन्दगी में इतना सादगीपसन्द होते हुए भी वह अपने आपको बहुत कुछ समझता था और शायद उसे यह ख़याल था कि उससे जुदी राय रखनेवाला हरेक आदमी प्रजातन्त्र और क्रान्ति का दुश्मन है। क्रान्ति के बहुत-से बडे-बडे नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोटीन के घाट उतार दिये गये; यहातक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आख़िर इसके ख़िलाफ खडा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम क़रार दिया और इसका और इसके ज़ुल्मो का ख़ातमा कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे, क्रान्तियाँ बुड्ढे आदमियो से नही हुआ करती। इनमें से बहुत-से महत्वपूर्ण ज़रूर थे, लेकिन इस बडे नाटक में किसी का भी पार्ट, यहा तक कि रोव्सपीयर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति की घटना के सामने ये नाचीज़ मालूम पडते है, क्योकि इन लोगो ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथो में थी। वह तो एक मौलिक मानवी भूकम्प था जो इतिहास में समय-समय पर हुआ करता है, और जिनको सामाजिक परिस्थितियो और वर्षों की लगातार मुसीबते और ज़ुल्म, धीरे-धीरे लेकिन ज़रूरी तौर पर, तैयार करते है।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लडने और गिलोटीन से क़त्ल करने के सिवा और कुछ न किया। असली क्रान्ति से पैदा होनेवाली ताक़त हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियो से लडाई करने में लग गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके ज़रिये बहुत-सा रचनात्मक काम किया गया। खासकर राष्ट्र की शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीटर[१] का

१ मीटर-प्रणाली—नापो की इस प्रणाली मे लम्बाई की इकाई मीटर (=३९ ३७ इच) और वज़न की इकाई ग्राम (=करीब १/२८ औंस) मानी गई है। सरलता यह रक्खी गई है कि इनसे ऊपर और नीचे के सब नाप दस-दस गुणक या भाग है। जैसे १० मीटर=१ डेकामीटर, १० डेकामीटर=१ हेक्टोमीटर, १० हेक्टोमीटर=१ किलोमीटर, १/१० मीटर=१ डेसीमीटर, १/१०० मीटर=१ सेंटीमीटर

तरीका, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते है, तभी जारी किया गया था और इसने तमाम वजनो, लम्बाई और आयतन के तमाम नापो को सरल कर दिया। यह तरीका अब दुनिया के दूसरे सभ्य देशो में भी पहुँच गया है, लेकिन कट्टर इग्लैड अभी तक पुराने जमाने के गजो, फर्लांगो, पाउडो और हंडरवेटो वगैरा की रद्दी प्रणाली से चिपट रहा है। हम हिन्दुस्तानियो को सेरो और मनो वगैरा के अलावा इन जटिल लम्बाइयो और वजनो को भी बरदाश्त करना पड़ता है। मीटर के तरीके का लाजमी नतीजा यह हुआ कि प्रजातन्त्र का एक नया कैलेडर भी बना। यह २२ सितम्बर १७९२ ई० से, यानी जिस दिन प्रजातन्त्र का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के हफ्ते की जगह दस दिन का हफ्ता कर दिया गया और दसवे दिन छुट्टी रक्खी गई। महीने तो बारह ही रहे मगर उनके नाम बदल दिये गये। कवि फैब्रे ने मौसिमो के मुताबिक महीनो को बडे सुन्दर नाम दिये। बसन्त ऋतु के तीन महीने जर्मिनल (अकुरक), फ्लोरीयल (पुष्पक), प्रेरियल (शस्यक) थे, गरमी के महीने मेसिदोर, थर्मिदोर, फ्रक्तिदोर थे; पतझड़ के महीने वैन्दीमियर, ब्रूमेयर, फ्रिमेयर, रक्खे गये, सरदी के निवूस, प्लूविऊस, वैन्तूस, रक्खे गये। पर यह कैलेडर प्रजातन्त्रत के वाद ज्यादा दिन न चला।

कुछ दिन ईसाई धर्म के खिलाफ एक जबरदस्त आन्दोलन हुआ और बुद्धि की पूजा तजवीज की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गये। यह आन्दोलन प्रांतो में बहुत जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर में पेरिस के नात्रदेम गिरजे में आजादी और बुद्धि का बड़ा भारी जलसा मनाया गया और एक खूबसूरत औरत को बुद्धि की देवी बनाया गया। लेकिन रोब्सपीयर इन मामलों में कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। दान्तन ने भी नहीं किया। सार्वजनिक हित की जैकोबिन कमिटी भी इसके खिलाफ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओ को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। अधिकार और गिलोटीन के बीच में कोई रुकावट न थी। आजादी और बुद्धि के जलसे का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोब्सपीयर ने 'सर्वशक्तिमान् सत्ता' (Supreme Being) के नाम से एक जलसे का इंतिजाम किया। कन्वेन्शन की राय से यह तय किया गया कि फ्रांस एक 'सर्वशक्तिमान सत्ता' में विश्वास करता है। रोमन कैथलिक मजहब फिर पसद किया जाने लगा।

पैरिस के हलको और कम्यून के कुचले जाने के बाद हालत बडी तेजी से खराब हो रही थी। जैकोबिन लोग सर्वेसर्वा हो रहे थे; सरकार की बागडोर उनके हाथों

१/१००० मीटर=१ मिलीमीटर। इसी तरह नाम के आगे डेक-, हेक्टो, किलो इत्यादि उपसर्ग लगा दिये जाते है।

में थी लेकिन उनमें आपसी फूट होरही थी। आज़ादी और बुद्धि के जलसे में ख़ास हिस्सा लेने के कारण जब हीबर्त और उसके मददगारो को गिलोटीन पर चढा दिया गया तो जैकोबिन दल में ज़बर्दस्त फूट पडी। इसके बाद फैत्रे दि इग्लैंताइन का नम्बर आया, और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तन, कैमाइल देंस्मूलिन वग़ैरा ने रोब्सपीयर के हद से ज्यादा आदमियो को गिलोटीन पर चढा देने के काम की मुख़ालफत की, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल १७९४ ई० में दान्तन के क़त्ल ने, जो वडी हडवडी के साथ किया गया कि कहीं लोग रुकावट न डाल दें, पैरिस और सूबो की जनता को यह ज़ाहिर कर दिया कि क्रान्ति का ख़ातमा हो चुका। क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक नीच गुट्ट का क़ब्ज़ा हो गया। दुश्मनो से घिरे हुए और जनता से बिलकुल दूर इस गुट्ट को चारो तरफ धोखेबाज़ी नज़र आने लगी और ज़ोरो के साथ आतक फैलाने के सिवा इसे अपने बचने का कोई रास्ता न सूझा।

बस आतक का राज्य होने लगा और गिलोटीन की तरफ जाने वाली तम्ब्रिल गाडियाँ इन अभागो से पहले से भी ज्यादा भरी हुई जाने लगीं। जून में एक नया कानून पास पास किया गया जो 'बाइसवीं प्रेरियल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी खबरें उडाना, लोगों को लडाना या भडकाना, सदाचार की जड़ काटना और जनता के ईमान को बिगाडना वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोब्सपीयर और उसके ताबेदारो से मतभेद रखता वही इस कानून के लम्बे-चौडे जाल में फँसाया जा सकता था। लोगो के गिरोह-के-गिरोह पर एक साथ मुकदमे चलाये गये और सज़ायें दे दी गईं। एक बार तो डेढ़ सौ लोगो पर एक साथ मामला चलाया गया जिनमें सज़ायें पाये हुए कैदी, रायलिस्ट वग़ैरा, शामिल थे।

इस नये आतक का राज्य छियालिस दिन तक रहा। आख़िरकार नवीं थर्मिडोर यानी २७ जुलाई १७९४ को दबी हुई बिल्ली ग़ुर्राने लगी। कन्वेन्शन एकदम रोब्सपीयर और उसके साथियो के ख़िलाफ बदल गया और 'ज़ालिम को मारो' की पुकार लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ्तार कर लिया और रोब्सपीयर को बोलने तक नहीं दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल गाडी में बिठलाकर उसे भी गिलोटीन पर भेजा गया, जहाँ वह बहुतो को भिजवा चुका था। इस तरह फ्रास की राज्यक्रान्ति का ख़ातमा हो गया।

रोब्सपीयर की मौत के बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के ख़िलाफ क्रान्ति शुरू हुई। अब नरम दलवाले आगे आये और इन लोगो ने जैकोबिन लोगो को सताना और उनपर आतक जमाना शुरू किया। लाल आतक के बाद अब सफेद आतक की

बारी आई। पन्द्रह महीनें बाद, अक्तूबर १७९५ ई० में, कन्वेन्शन टूट गया और पांच मेम्बरो की एक 'डायरेक्टरी' सरकार बन गई। यह निश्चय ही मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने साधारण जनता को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़ास पर चार वर्ष से ज्यादा हुकूमत की और अन्दरूनी झगडो के होते हुए भी प्रजातन्त्र की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी लड़ाइयां जीतती रही। उसके ख़िलाफ कुछ बागी भी हुए लेकिन वे सब दबा दिये गये। इनमें से एक विद्रोह को दबानेवाला प्रजातन्त्र की फौज का नौजवान सिपहसालार नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पैरिस के लोगों की भीड पर गोली चलाई और बहुतो को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोका' करके मशहूर है। जब खुद प्रजातन्त्र की पुरानी फौज ही फ़ास के आम लोगो को मारने के काम में लाई जा सकती थी तो जाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाकी न रही होगी।

बस क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियो के मीठे सपनों का और ग़रीबो की उम्मीदो का भी खातमा हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी उनमें से बहुत-सी बाते हासिल हो गईं। कोई भी प्रति-क्रान्ति अब काश्तकारो की गुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ्रांस का एक राजघराना था—जब वे वापस आये तो उस जमीन को वापस न छीन सके जो काश्तकारो को बांट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले मामूली आदमी की हालत इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नहीं रही। असल में आतक के दिनो में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले के समय से अच्छी थी। आतक उसके खिलाफ न था, वह तो ऊँचे वर्गों के खिलाफ था, हालांकि आखिरी वक्त में ग़रीब लोगो को भी कुछ मुसीबतें झेलनी पडीं।

क्रान्ति का खातमा हो गया लेकिन प्रजातन्त्रवादी विचार सारे योरप में फैल गये और उसके साथ ही उन उसूलो का भी प्रचार हुआ जिनकी घोषणा 'मनुष्य के अधिकारो की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमतों के तौर-तरीक़े

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ्तो से कुछ नहीं लिखा है। कभी-कभी मै सुस्त हो जाता हूं। यह ख़याल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नजदीक आरहा है, मुझे जरा रोक देता

है। हम अठारहवी सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके है, अब उन्नीसवी सदी के सौ वर्षों पर ग़ौर करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जावेगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का वर्णन बड़ा लम्बा होगा। बहुत नज़दीक होने के कारण ये बहुत बड़े नज़र आते है और हमारे दिमाग़ में भर जाते है और पुरानी घटनाओं से हमको ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम होते है। जो कुछ आज हम अपने चारो तरफ देखते है, उसके ज्यादातर हिस्से की जड इन्हीं वर्षो के भीतर है, और हक़ीक़त में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओ के घने जगल में होकर तुमको लेजाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद मेरा इससे जी चुराने की यही वजह हो। लेकिन मैं यह भी ताज्जुब करता हूँ कि जब आख़िरकार मनुष्य जाति की यह कहानी सन् १९३२ तक आपहुचेगी और भूत, वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने रुक जावेगा, तब मैं क्या करूँगा? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूँगा? उस वक्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं कलम लेकर बैठू और तुम्हारा ख़याल करूँ या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत से सवाल पूछ रही हो जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूँ?

फ्रास की राज्यक्रान्ति के बारे में मै तीन ख़त लिख चुका हूँ, फ्रास के इतिहास में पाँच सक्षिप्त वर्षो के बारे में ये तीन लम्बी चिट्ठियां है। युगो की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक क़दम में पूरा कर दिया है और देश-देशान्तरो पर निगाह दौडाई है। लेकिन यहां फ्रास में, १७८९ से लगाकर १७९४ तक, हम काफी अर्से तक ठहरे है, और फिर भी यह जानकर तुम्हे ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को मुख़्तसर करने की सख़्त कोशिश की है क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह मजमून भरा हुआ था और मेरी क़लम आगे ही आगे बढना चाहती थी। फ्रास की राज्यक्राति का महत्व ऐतिहासिक है। वह एक युग के ख़ातमे और दूसरे की शुरूआत को बतलाती है। लेकिन नाटक की तरह दिलचस्प होने के कारण यह हमको और भी ज्यादा आकर्षित करती है और हम सबको बहुत-सी नसीहते देती है। दुनिया में फिर उथल-पुथल हो रही है और हमलोग बडी भारी तब्दीलियो के दरवाज़े पर खडे है। अपने देश में भी हम क्रान्ति के ही युग में रह रहे है, फिर यह क्रान्ति चाहे कितनी ही शान्तिपूर्ण क्यो न हो। इसलिए हम फ्रास की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही जमाने में हमारी आँखो के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते है। इन दोनो क्रान्तियों की तरह की जनता की असली क्रान्तियां जिन्दगी की कठोर सच्चाइयों पर बडी तेज़ रोशनी डालती है। बिजली की चमक की तरह वे सारे दृश्य को, और ख़ास कर अंधेरी जगहो को, रौशन कर देती है। कम-से-कम

कुछ देर के लिए अपनी मंजिल बहुत साफ और बहुत ही नजदीक मालूम होती है। दिल भरोसे और ताक़त से भर जाता है। शका और हिचकिचाहट गायब हो जाती है। दूसरे नबर की चीज पर सब्र करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते है और इधर-उधर नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज उनकी निगाह होती है उतनी ही क्राति आगे बढ़ती है। लेकिन यह क्रान्ति के उत्कर्ष में ही होता है जब कि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते है और जनता के लोग पहाड़ की ढाल पर चढते है। लेकिन अफसोस कि एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड़ पर से उत्तर कर नीचे की अँधेरी घाटियों में भी आना पडता है। उस वक्त विश्वास मद पड़ जाता है और ताकत कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्टेयर, जो क़रीब-करीब जिन्दगी भर निर्वासित रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस वक्त वह चौरासी वर्ष का था। पैरिस के नौजवानो को पुकारकर उसने कहा था·—"नौजवान बडे खुशक़िस्मत है, वे आगे बडी-बडी बातें देखेंगे"। दरअसल उन्होने बडी-बडी बाते देखीं और उनमें हिस्सा लिया क्योकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह काफी से ज्यादा वक्त तक इतजार कर चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान् बादशाह चौदहवे लुई का कहना था कि "मै ही सबसे बड़ा हूँ", अठारहवीं सदी में उसके वारिस पन्द्रहवे लुई ने कहा —"मेरे बाद दुनिया डूब जायगी", और इस न्यौते के बाद सचमुच प्रलय आया जिसमें सोलहवां लुई और उसके साथी ख़तम हो गये। पाउडर लगाये हुए, नकली बाल और रेशमी ब्रिचेज पहननेवाले सरदारो के बजाय 'सैन्सक्यूलौत्स' यानी बिना ब्रिचेज वाले लोग आगे आये; और फ़्रास का हरेक निवासी 'नागरिक' या 'नागरो' कहलाने लगा। नये प्रजातन्त्र का आदेश वाक्य था—"स्वाधीनता, समानता, भाईचारा" (Liberty, Equality, Fraternity), जो सारे ससार को पुकार-पुकार सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनो में आतंक का खूब जोर रहा। विशेष क्रान्तिकारी अदालत यानी 'स्पेशल रिवोल्यूशनरी ट्रिब्यूनल' की नियुक्ति से लगाकर रोब्सपीयर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनो में, तक़रीबन चार हजार आदमी गिलोटीन पर चढ़ा दिये गये। यह एक बडी तादाद है, और जब यह खयाल होता है कि कितने ही बेक़सूर आदमी गिलोटीन पर चढा दिये गये होंगे तो दिल को बडा सदमा और रज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनायें याद रखने लायक़ है जिससे हम फ़्रास के इस आतंक का सच्चा स्वरूप समझ सकें। प्रजातन्त्र चारो तरफ दुश्मनो, धोखेबाजो और भेदियों से घिरा हुआ था और गिलोटीन पर चढ़ाये जानेवालो में से बहुत से लोग

प्रजातन्त्र के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे और उसके सत्यानाश की कोशिश में थे। आतंक के अख़ीर में मुजरिमों के साथ बेक़सूर भी पिस गये। जब ख़ौफ पैदा होता है तो आंखों पर परदा पड़ जाता है और क़सूरवार और बेक़सूर के भेद का पता लगाना मुश्किल होजाता है। मुसीबत के मौके पर फ्रांस के प्रजातन्त्र को लाफायेत[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सिपहसालारों की तरफ से भी मुख़ालफत और धोखेबाजी का सामना करना पड़ा, तब कोई ताज्जुब नहीं कि नेता लोग घबरा गये हों और उन्होंने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो।

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक्त इंग्लैंड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फौजदारी कानून, ख़ासकर जायदाद की हिफाजत के बारे में, बड़ा खूंख़ार था और मामूली जुर्मों के लिए लोग फांसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौरपर लोगों को तकलीफ दी जाती थी। वेल्स ने लिखा है कि फ्रांस में आतंक के जमाने में जितने आदमी गिलोटीन पर चढ़ाये गये उतने ही समय में इंग्लैंड में इससे कहीं ज्यादा आदमी इस तरह फांसी पर चढ़ा दिये गये थे।

उन दिनों ख़ौफनाक बेरहमी और जंगलीपन के साथ जो ग़ुलामों का शिकार किया जाता था उसका खयाल तो करो! युद्ध, खासकर इस जमाने के युद्ध, की कल्पना करो जिसमें हजारों उठते हुए नौजवानों का मटिया-मेट होजाता है। जरा और पास आकर अपने ही देश की तरफ देखो और हाल की घटनाओं पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जालियाँवाला बाग़ में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्योहार के दिन, सैकड़ों लोग मार डाले गये थे और हजारों बुरी तरह जख़्मी कर दिये गये थे। और आजके ये सब षड्यन्त्रों के मुकदमे और खास अदालतें और आर्डिनेंस, लोगों को डराने और दबाने की कोशिशों के सिवा और क्या है? दमन और आतंक की तेजी हुकूमत के डर का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह पिछड़ी हुई यानी प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंकवाद का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती ख़तरे में मालूम पड़ती है। पिछड़ी हुई यानी प्रतिगामी हुकूमत विशेष अधिकार वाले कुछ लोगों की ओर से आमलोगों के ख़िलाफ ऐसा करती है, क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ से

१ लाफायेत—(१७५७–१८३४), फ्रांसीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेजों के ख़िलाफ लड़ा था। १७८९ ई० में यह फ्रांस की राज्यक्रान्ति का एक नेता था लेकिन १७९२ ई० में वहां से भाग गया। नेपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फौज का सिपहसालार हुआ।

गिने-चुने विशेष अधिकार वालो के खिलाफ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती है, वह अक्सर बेरहम और सख्त तो होती है लेकिन उसमें छल-कपट और धोखा-धडी नहीं होती। प्रतिगामी हुकूमत धोखे के वातावरण में रहती है क्योकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह आजादी की बात करती है और इस आजादी का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए आजाद है। वह इन्साफ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा परिस्थिति को कायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालाकि दूसरे लोग मरते है। तुर्रा यह कि वह कानून और शान्ति की बात करती है लेकिन इन लफ्जो और जुमलो की आड़ में गोलियां चलाना, मारना, कैद करना, जबान बन्द करना वगैरा, हरेक गैरकानूनी और अशान्तिपूर्ण कार्रवाई करती है। 'कानून और शान्ति' के नाम पर हमारे सैकडो भाइयो को खास अदालतो के सामने पेश करके मौत की सजा दे दी जाती है। इसी के नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर में मशीनगनो ने हमारे सैकडो बहादुर पठान देशभाइयो को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'कानून और शान्ति' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फौज हमारे सीमान्त के गांवो में और इराक में बम बरसाती है और स्त्रियो, पुरुषो और छोटे-छोटे बच्चो को अन्धाधुन्ध मार डालती है या जिन्दगीभर के लिए अपाहिज कर देता है। लोग कहीं हवाई जहाज की मार से बच न जायें, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये है जो गिरकर कोई नुकसान नहीं पहुँचाते मालूम पडते और कुछ देर तक फटते नही है। गावो के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि खतरा निकल गया, अपने घरो को वापस लौट आते है और थोडी ही देर बाद बम फट जाते है, जिससे आदमी और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोडो के सिर पर रोजमर्रा भूखो मरने का जो खौफ सवार रहता है उसका भी खयाल करो। हम अपने चारों तरफ गरीबी देखने के आदी होगये है। हम समझते है कि मजदूर और किसान उजड्ड लोग है और वे ज्यादा तकलीफ महसूस नहीं करते। आत्मा की फटकार को शान्त करने के लिए यह तर्क कितना फिजूल है। मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और जमीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अँधेरे दालानो में स्त्रियो और पुरुषो को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। लोग खानो में काम करनेवालो के लिए आठ घटे के दिन की बातचीत करते है, लेकिन कुछ लोग इसकी भी मुखालफत करते है और खयाल करते है कि

उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता हूँ या पढता हूँ तो मुझे अपने उन जमींदोज काले तहखानो में जानेवाली बात याद आजाती है जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ होगये थे।

फ्रास का आतक एक खूखार चीज थी। लेकिन फिर भी गरीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबिले में वह मक्खी के डक मारने जैसी नाचीज थी। सामाजिक क्रान्ति के खर्च, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही वडी क्यों न हो, इन बुराइयो से कम होते है, और उस लडाई के खर्चों से भी कम होते है जो मौजूदा राजनैतिक और सामाजिक प्रणाली में हमको समय-समय पर भुगतनी पड़ती है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का आतंक वहुत बडा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि वहुत से खिताबवाले और दौलतमद लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन खास हक रखनेवाले वर्गों की इज्जत करने के इतने आदी होगये है कि जब ये लोग मुसीवत में होते है तो हमारी हमदर्दी उनकी तरफ हो जाती है। दूसरो की तरह ही इनके साथ भी हमदर्दी रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगो की तादाद बिलकुल कम होती है। हम उनके भले की ख्वाहिश कर सकते है। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो जनसाधारण होते है, और हम थोडो की खातिर बहुतो को कुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है—"मनुष्यजाति को बनानेवाली साधारण जनता ही है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज है कि उसे गिनने की भी दिक्कत उठाने की जरूरत नहीं।"

इस खत में मै तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा दिमाग भटक गया और मेरी क़लम दूसरी तरफ दौड़ गई और नेपोलियन पर गौर करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे खत का इंतजार करना पडेगा।

: १०४ :

नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ्रास की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस प्रजातन्त्रवादी फ्रास ने योरप के वादशाहो को चुनौती दी थी और उससे लोहा लिया था, उसने इस छोटे से कोर्सिका के रहनेवाले के आगे सिर झुका दिया। फ्रांस में उस वक्त एक अजीब तरह की वहशियाना मनोहरता थी। फ्रेंच कवि बार्बिये ने इसका मुकाबिला एक जगली जानवर से, सिर उठाये हुए तथा चमकदार खालवाली एक शानदार

और मनमौजी घोडी से, किया है; यह घोडी एक सुन्दर आवारागर्द, ज़ीन, जोत और लगाम से फौरन भड़कने वाली, ज़मीन पर सुम दे-दे मारने वाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डराने वाली थी। यह शानदार घोडी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राज़ी हो गई और उसने इससे वडे-वडे अजीव काम करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जगली, मनमौजी, जानवर का सारा जगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और ख़ुद भी गिर पडी।

नेपोलियन का कुछ हाल तो तुमको पहले ही मालूम है। तुमने पेरिस की शाही इमारत इन्वॅलिद देखी है, जहाँ नेपोलियन की लाश लडाइयो में जीते हुए फटे झडो में लपेट कर दफनाई गई है, तुमने अजायबघर देखा है जहाँ उसकी बहुत-सी निशानियाँ रक्खी हुई हैं; और तुमने पॅरिस में बहुत बडे वॅन्दोम खभो के ऊपर उसकी मूर्ति भी देखी है। मेरा ऐसा ख़याल है कि तुम उसकी कुछ ज्यादा तरफदार हो गई थीं और उसे महान विभूति (एक बड़ा सूरमा) समझने लगी थीं। मैं तुम्हारे सामने क़बूल करता हूँ कि बचपन में मेरे दिल में भी नेपोलियन के लिए अच्छी जगह थी। मैं उसे एक आदर्श पुरुष समझता था, हालाकि उस समय मैं उसके बारे में काफी नहीं जानता था। अब मैं बहुत-सी बाते जानता हूँ और मुझे कहना पड़ता है कि मेरी निगाह में वह बहुत छोटा हो गया है और उतना बड़ा नही दिखलाई देता जितना बहुत दिन पहले मालूम होता था। लेकिन उसके प्रति अपनी पक्षपात की भावना को दूर करने के लिए बचपन के दिनो की तस्वीर को मैं पूरी तरह नहीं मिटा सकता, हालांकि मुझे उसकी बहुत-सी कमियो का ख़याल है। यह अजीब बात है कि बचपन और लडकपन में पडे हुए असर किस तरह जिन्दगी भर पीछा नहीं छोड़ते।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह ससार का कोई महान पुरुष, या, जैसा कि कहा जाता है, 'भाग्य-विधाता' या बडी विभूति था जिसने मनुष्य जाति को बहुत-से बधनो से छुड़ाने में मदद दी? या, जैसा कि एच० जी०-वेल्स वग़ैरा कहते है, वह ख़ाली एक ले-भग्गू और तोड-फोड़ करनेवाला था जिसने योरप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुक़सान पहुचाया? शायद इन दोनो बातो में अतिशयोक्ति है; या दोनो में सचाई का कुछ हिस्सा है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट को बनाने में ऐसे असाधारण गुण लगे थे जो हममें से बहुतो में न मिलेगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और

आश्चर्यजनक शक्ति तथा जबरदस्त हविस थी। वह बडा भारी सिपहसालार था और सिकन्दर और चगेज-जैसे पुराने सेनानायको के मुकाबिले का लडाई के हुनर का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और खुदगर्ज और घमडी भी था। उसकी जिन्दगी की सबसे बडी ख्वाहिश किसी मकसद को पालेना न थी बल्कि सिर्फ अधिकार प्राप्त करने की ख्वाहिश थी। उसने एक बार कहा था —

"हुकूमत मेरी रखेल औरत है! इस औरत को वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक्कत उठानी पडी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूगा और न अपने साथ उसे भोगने दूगा!" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक जबरदस्त साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की विजय उसके दिमाग में भर रही थी। उसे योरप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे खीच रहा था, खासकर मिस्र और हिन्दुस्तान। अपनी जिन्दगी के शुरू में, जब वह सत्ताईस वर्ष का था, तब उसने कहा था —"बडे-बडे साम्राज्य और जबरदस्त परिवर्तन पूरब में ही हुए है; उस पूरब में जहां साठ करोड इन्सान रहते है। योरप तो एक छोटी-सी टेकरी है!"

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ्रास के कब्जे में था। उसकी रगो में फ्रास, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ खून था। उसने फ्रास के एक फौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के जमाने में वह जैकोबिन क्लब का मेम्बर था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगो में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि उसे उनके उसूलों में कोई यकीन था। १७९३ ई० में तोलो में उसे पहली फतह हासिल हुई। इस जगह के धनवान लोगो ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज्य में उनकी दौलत न छिन जाय, अंग्रेजो को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ्रेंच जहाजी बेड़ा उनको सौंप दिया। इस दुर्घटना ने और ऐसी ही दूसरी दुर्घटनाओं ने नवीन क्रान्ति को जबरदस्त धक्का पहुचाया और हरेक फालतू आदमी को, और औरतो को भी, फौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने बागियो को पीस डाला और तोलो की लड़ाई में बडी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेजो को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह फौज का जनरल बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोब्सपीयर गिलोटीन पर चढा दिया गया तो यह आफत में फंस गया क्योंकि इस पर रोब्सपीयर के दल का होने का शक किया गया। लेकिन हकीकत में जिस दल में वह शामिल था उसदल में सिर्फ एक ही मेम्बर था, और वह था खुद नेपोलियन! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था

और ज़रा भी तरस खाये बिना आम जनता को गोलियो से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही प्रसिद्ध 'छर्रो का झोका' था जिसका ज़िक्र मै एक पिछले ख़त कर चुका हूँ। उस दिन नेपोलियन ने प्रजातन्त्र को ज़ख्मी कर दिया। दस वर्षों के भीतर ही उसने प्रजातन्त्र का ख़ातमा कर डाला और फ्रास का सम्राट बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फौज का कमांडर हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बडा कामयाब धावा करके सारे योरप को ताज्जुब में डाल दिया। फ्रास की फौजो में क्रान्ति का जोश अभी ठडा नही हुआ था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटे हाल और पांव में छाले पडे हुए गिरोह को आल्प्स पहाडो के ऊपर होकर ले गया और उनको उम्मीद दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानो में पहुँचकर उनको खाना और बहुत-सी आनन्द की चीजें मिलेगी। दूसरी तरफ इटली के बाशिन्दो को उसने आज़ाद कर देने का वादा किया; वह उनको ज़ालिमो से छुड़ाने आरहा था। लूटमार और डकैती की उम्मीद के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ का यह कैसा विचित्र मेल था ? इस तरह उसने फ़्रास और इटली दोनो के बाशिन्दो की भावनाओ से बडी चालाकी के साथ फायदा उठाया, चूंकि वह ख़ुद भी आधा इटैलियन था, इसलिए उसका ख़ूब असर पड़ा। जैसे-जैसे उसे फतह मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी शोहरत फैलने लगी। अपनी फौज में भी वह बहुत-सी बातो में एक मामूली सिपाही की तरह बर्ताव करता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था। क्योकि धावे में जहाँ कहीं सबसे ज्यादा ख़तरा होता वही वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए लड़ाई के मैदान ही में वह फौरन इनाम दे देता था। अपने सिपाहियो के लिए वह पिता— एक बहुत नौजवान पिता !— के समान था जिसे वे प्यार से 'नौजवान कप्तान' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। इसमें कौनसी ताज्जुब की बात है अगर यह कम उम्र नौजवान फ्रेंच जनरल फौज का प्यारा बन गया हो ?

तमाम उत्तरी इटली को फतह करके और आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने प्रजातन्त्र को बरबाद करके वहाँ बडी बुरी साम्राज्यवादी सुलह करके वह पैरिस को एक बड़ा भारी विजयी सूरमा बनकर लौटा। फ़्रास में उसकी तूती पहले ही बोलने लगी थी। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सब अधिकार अपने हाथ में कर लेने का वक़्त नही आया है, इसलिए उसने एक फौज लेकर मिस्र जाने का इतिज़ाम किया। अपनी जवानी से लगाकर अबतक पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी। अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग़

में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उसमानी साम्राज्य का हिस्सा था लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में 'मैमल्यूक'[1] लोग राज्य कर रहे थे जो सिर्फ़ नाम के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। कहते हैं कि जब नेपोलिन क़ाहिरा पहुँचा तो एक मैमल्यूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दामिश्क का ज़िरह-बख़्तर पहने घोड़े पर सवार होकर फ़्रांस की फ़ौज के सामने आया और उसके सिपह-सालार को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर बड़ी बुरी तरह गोलियों की बौछार की गई। जल्द ही नैपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक की-सी बातें बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन ज़मीन की लड़ाई का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह समुद्री लड़ाई लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास क़ाबिल एडमिरल यानी समुद्री सिपहसालार भी न थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैंड के जहाज़ी बेड़े का अफ़सर एक असाधारण प्रतिभावाला पुरुष था। यह होरेशियो नेल्सन[2] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ्रांस के जहाज़ी बेड़े को तबाह कर दिया। इस तरह परदेस में नेपोलियन फ्रांस से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ्रांस पहुँच गया लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' की कुरबानी करदी।

विजयों और कुछ फ़ौजी शान के बावजूद भी पूर्वी देशों का यह ज़बर्दस्त धावा बिलकुल नाकामयाब रहा। यह दिलचस्पी की बात ख़याल में रखने लायक़ है कि

१ मैमल्यूक—तुर्की के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक गुलाम जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

२. नेल्सन—(१७५८–१८०५) इंग्लैंड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति—इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीती थीं और इंग्लैंड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफल्गार के युद्ध में मारा गया।

नेपोलियन अपने साथ पडितो, विद्वानो और आचार्यो की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबो और तरह-तरह के औजारो के साथ, मिस्र देश को लेगया था। इस मण्डली में रोज़ बहस-मुबाहसे होते थे। जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से हिस्सा लेता था और इन पण्डितो ने वैज्ञानिक तरीके पर खोज का जबर्दस्त और बडा अच्छा काम किया। ग्रीक लिपि और मिस्र के चित्र-लेख की दो क़िस्में, पत्थर की एक चट्टान पर खुदी हुई मिल गई और चित्र-लेख-पद्धति की पुरानी पहेली हल हो गई। ग्रीक लिपि की मदद से बाकी की दोनो लिपियो को पढ लिया गया। यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की तजवीज़ में नेपोलियन की भी बहुत दिलचस्पी थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण हिन्दुस्तान के टीपू सुलतान के पास कुछ पैग़ाम भेजे थे। लेकिन इनका नतीजा कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताकत बिलकुल न थी। समुद्री फौज की ताकत ने ही अख़ीर में नेपोलियन को पछाड़ दिया, और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड को जबर्दस्त बनानेवाली भी समुद्री फौज की ताकत ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ्रांस की हालत बहुत ख़राब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी इसलिए हरेक को नेपोलियन से ही उम्मीद थी। वह हुकूमत हाथ में लेने के लिए बिलकुल राज़ी था। नवबर १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई लूसियन की मदद से असेम्बली को जबरदस्ती तोड़ दिया, और जिस विधान के मुताबिक डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी उस मौजूदा विधान का उसने ख़ातमा कर दिया। इस जबरदस्ती के राजनैतिक कार्य से, जिसे 'राजनैतिक चालबाज़ी' कहते है, नेपोलियन ने परिस्थिति को काबू में कर लिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें विश्वास रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था, लोकतन्त्र तक भी गायब हो रहा था और एक लोकप्रिय जनरल का डका बज रहा था। एक नये विधान का मसविदा बनाया गया जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) या एलची रक्खे गये लेकिन इन तीनो में प्रधान नेपोलियन था जिसे पूरे अधिकार थे। वह पहला कौंसल कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। विधान सम्बन्धी बहस-मुबाहसे के दौरान में किसी सदस्य ने यह प्रस्ताव किया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए जिसके हाथ में कोई असली ताक़त न हो और जिसका ख़ास काम काग़ज़-पत्रो पर दस्तख़त करना और प्रजातन्त्र का बाकायदा प्रतिनिधित्व करना हो, जैसे कुछ-कुछ आजकल के वैधानिक

बादशाह होते हैं या फ्रांस का राष्ट्रपति हैं। मगर नेपोलियन तो अधिकार चाहता था, सिर्फ शाही पोशाक नहीं। इस शाही लेकिन अधिकार-रहित मुखिया को वह बिल्कुल नहीं चाहता था। उसने कहा "इस मोटे सूअर को निकाल बाहर करो!"

यह विधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसिल बनाया गया था जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरों ने उसे करीब-क़रीब एक राय से मान लिया। इस तरह फ्रांस की जनता ने इस फिजूल की उम्मीद में कि वह उन्हें आजादी और सुख दिलायगा, खुद ही सारे अधिकार नेपोलियन की भेंट कर दिये।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन चरित्र की सारी बातें नहीं लिख सकते। वह तो जोरदार हरकतों और ज्यादा-से-ज्यादा अधिकार की हविस से भरा पड़ा है। 'राजनैतिक चालबाजी' के बाद पहली ही रात को, जब कि नया विधान बनने और तैयार होने भी न पाया था, कि उसने क़ानूनी जाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमिटियां नियुक्त करदीं। यह उसकी डिक्टेटरशिप या तानाशाही का पहला काम था। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद, जिसमें नेपोलियन भी शामिल होता था, यह जाब्ता १८०४ ई० में आख़िरी तौर पर मान लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' (नेपोलियन का क़ानूनी जाब्ता) कहलाया। क्रान्ति के विचारों या इस जमाने के आदर्शों के लिहाज से यह क़ानून ज्यादा अच्छा न था। लेकिन यह उस जमाने की हालतों से जरूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातों में सारे योरप वाले इसे क़रीब-क़रीब नमूना मानते रहे। उसने बहुत से तरीकों से राजशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम में दख़ल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने का उसमें आश्चर्यभरा माद्दा था। अपने अद्भुत बल और शक्ति से उसने तमाम साथियों और मंत्रियों को थका डाला। उस वक्त का उसका एक साथी उसके बारे में लिखता है—"अपनी नियमित चतुरता के साथ राज करता हुआ, शासन करता हुआ और सलाह-मशविरा करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम करता है। जितना और बादशाहों ने सौ वर्षों में राज किया होगा उससे ज्यादा इसने तीन वर्षों में कर लिया है।" यह बात जरूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी ग़ैरमामूली याद्दाश्त थी और बिलकुल सुलझा हुआ उसका दिमाग़ था। वह अपने बारे में कहता था—"जब मैं किसी बात को अपने दिमाग़ से निकालना चाहता हूँ तो उसकी दराज बन्द कर देता हूँ और दूसरी चीज की दराज खोल देता हूँ। इन दराजों में रखी हुई चीजें कभी मिलने नहीं पातीं और न तो मैं उनसे घबराता हूँ, न थकता हूँ। क्या मैं सोना चाहता हूँ? जब मैं सब दराज बन्द कर

देता हूँ तो मुझे नींद आजाती है।" दर असल यह देखा गया था कि वह लड़ाई के बीच में जमीन पर लेट जाता था और आध घंटे के क़रीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे अर्से के लिए गहरे कामो में मशगूल हो जाता था।

वह दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। अधिकार के जीने की दूसरी सीढी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने, आपको जिन्दगी भर के लिये कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार भी बहुत बढ गये। प्रजातन्त्र ख़तम हो चुका था, और वह सब तरह से बादशाह हो गया था, सिर्फ बादशाहत का नाम न था। १८०४ ई० में जैसा कि होना ही था, उसने जनता की राय लेकर अपने आप को सम्राट ऐलान कर दिया। फ्रांस में बिलकुल उसीकी तूती बोलती थी लेकिन फिर भी इसमें और पुराने जमाने के स्वेच्छाचारी राजाओ में बहुत फर्क था। वह अपनी हुकूमत को परम्परा और दैवी अधिकार के बल पर क़ायम नहीं रख सकता था। उसे तो इसको अपनी काबलियत और जनता में अपनी लोकप्रियता के सहारे रखना पडता था, ख़ासकर काश्तकारो में लोकप्रियता के सहारे, जो हमेशा उसके वफादार साथी थे क्योंकि वे समझते थे कि इसने उनकी जमीनो को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था—"मैं गोल कमरो में बैठनें वालो और बकवास करनेवालो की राय की क्या पर्वाह करता हूँ! मैं तो सिर्फ एक राय को मानता हूँ, जो काश्तकारो की राय है।" लेकिन आखिरकार लगातार जारी रहनेवाली लडाइयो के लिए अपने पुत्रो को देते-देते काश्तकार लोग भी तग आगये। जब यह मदद रुक गई तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खडा किया था, वह गिरने लगा।

दस साल तक वह सम्राट रहा और इन वर्षों में वह सारे योरप में ज़बरदस्त फौजी धावे करता हुआ दौडता फिरा और उसनें मशहूर लडाइयाँ जीतीं। सारा योरप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उससे पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लडाई १८०० ई० में हुई जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीजरलैंड की बरफ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्टरलिज, यैना, लूई, फ्रीडलैंड, वैगरा-वग़ैरा उसकी जीती हुई मशहूर लड़ाइयो के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, वग़ैरा सब उसके सामने जमींदोज होगये। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फेडरेशन कहलाने वाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत होगये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनो से नाम मात्र के लिए रह गया था, अब बिलकुल ख़तम हो गया।

योरप के बडे राज्यो में से सिर्फ इग्लैण्ड ही ऐसा बचा जिसपर आफत न आई। इग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र से सुरक्षित रहने की वजह से इग्लैण्ड उसका सबसे जबरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मै बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की जिन्दगी के शुरू में ही नेल्सन ने नील नदी की लडाई में उसके जहाजी बेडे को बरबाद कर दिया था। २१ अक्तूबर १८०५ को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफलगर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रास और स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेडो पर और भी जबरदस्त फतह पाई थी। इसी समुद्री लडाई के शुरू होने से पहले नेल्सन ने अपने बेडे को यह मशहूर सदेश दिया था —"इग्लैड को उम्मीद है कि हरेक आदमी अपना फर्ज अदा करेगा।" विजय की घडी में नेल्सन तो मारा गया। लेकिन इस फतह ने, जिसे अग्रेज लोग बडे अभिमान से याद करते है और जिसकी यादगार लदन के ट्रैफलगर स्क्वायर में नेल्सन स्तम्भ के रूप में बनी हुई है, इग्लैड पर धावा बोलने के सपने को खतम कर दिया।

नेपोलियन ने योरप के सारे बन्दरगाहो को इग्लैड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी सम्बन्ध रखने की मनाई कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इग्लैड को इस तरह काबू में लाने की सोची गई। उधर इग्लैड ने इन बन्दरगाहो का रास्ता बन्द कर दिया और नेपोलियन के साम्राज्य और अमेरिका वगैरा दूसरे देशो के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। योरप में लगातार साजिशें करके और नेपोलियन के दुश्मनों और उदासीन राज्यो में दिल खोलकर सोना बाँटकर, भी इग्लैड ने नेपोलियन से लडाई लडी। इस काम में उसे योरप के कई बडे-बडे दौलतमन्द घरानो से, खासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बडी मदद मिली।

इग्लैड ने नेपोलियन के खिलाफ एक और भी तरीका काम में लिया, जो प्रचार का था। यह नई तरह का धावा था लेकिन तब से यह बहुत आम हो गया है। फ्रास और खासकर नेपोलियन के खिलाफ अखबारो में आन्दोलन जारी किया गया। सब तरह के लेख, पुस्तिकायें, अखबार, नये सम्राट का मजाक उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातो से भरे हुए नकली सस्मरण, लदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपी से फ्रास में दाखिल कर दिये जाते थे। अखबारो के जरिये से झूठी बातो का प्रचार आजकल की युद्ध प्रणाली का बाकायदा अग बन गया है। १९१४–१८ ई० के महा-युद्ध के जमाने में, लडाई में हिस्सा लेनेवाले सब राज्यो और देशो ने बडी बेशर्मी के साथ असाधारण से असाधारण झूठी बातें फैलाई और इनको गढ़ने और प्रचार

करनें के हुनर में इंग्लैंड आसानी से सबसे आगे नजर आया। उसे तो नेपोलियन के वक़्त से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम मिल चुकी थी। हम हिन्दुस्तान के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बाते दबा दी जाती है और ब्रिटिश अधिकारियो के जरिये यहाँ और इंग्लैंड में सब से ज्यादा हैरत में डालनेवाली झूठी बातो का प्रचार किया जाता है।

यह खत बहुत लम्बा हो गया है। और फिर भी मैंनें अभी तुमको नेपोलियन की आधी कहानी भी नहीं बतलाई है।

: १०५ :

नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले खत में हमने नेपोलियन का किस्सा जहाँ छोडा है, वहींसे सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं अपने साथ फ्रास की राज्यक्रान्ति के कुछ खयाल लेता गया और जिन देशो को उसने जीता वहा के लोग उसके आने से नाखुश न हुए। वे लोग अपने निकम्मे और आधे सामन्त शासको से तंग आगये थे जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामतशाही उसके सामने नष्ट होकर गिरनें लगी। जर्मनी में खासतौर पर सामतशाही का खातमा हो गया। स्पेन मे उसने इनक्विजिशन का खातमा कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसनें अनजान में उत्तेजित किया था वही उसके खिलाफ उठ खडी हुई और इसने आखिरकार उसे हरा दिया। वह पुराने बादशाहो और सम्राटो को नीचा दिखा सकता था लेकिन अपनें खिलाफ भडके हुए सारें राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग उसके ख़िलाफ बागी हो गये और वर्षो तक उसको ताक़त और साधनो को बरबाद करते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीन नाम के एक महान देशभक्त की रहनुमाई में सगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन हो गया। जर्मनी में आजादी की लडाई हुई। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसको खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री ताकत से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह तो मुश्किल था कि सारा योरप एक डिक्टेटर को बर्दाश्त कर लेता। या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी—"मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नहीं है। मैं खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ और अपने भयंकर दुर्भाग्य का कारण हुआ हूँ"।

इस अद्भुत प्रतिभावाले आदमी में कमजोरियां भी असाधारण थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी की झलक रही और उसके दिल में यह अजीब ख़ाहिश रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्त्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनो को बडी भद्दी तौर पर बढ़ाया हालाकि वे बिलकुल नालायक थे। लूसियन ही एक अच्छा भाई था जिसने १७९९ ई० की राजनैतिक चालबाजी के दौरान में मुसीबत के वक्त नेपोलियन की मदद की थी लेकिन जो बाद में उससे खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयो को, जो घमडी और बेवकूफ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। उसमें अपने ख़ानदान को आगे बढाने की एक अजीब और बेहूदी धुन थी। जब उसपर मुसीबत पडी तो इनमें से क़रीब-करीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजघरानी क़ायम करने की भी बडी हसरत थी। अपनी ज़िन्दगी की शुरुआत में, इटली पर धावा बोलने और मशहूर होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दि बोहार्नाइ नामक एक ख़ूबसूरत लेकिन चचल औरत से शादी कर ली थी। जब उससे कोई औलाद न हुई तो नेपोलियन को बडी भारी मायूसी हुई क्योंकि उसके दिल में तो राजघराना चलाने की ख़ाहिश थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक़ देकर दूसरी औरत से शादी करने का इरादा कर लिया, हालाकि वह जोसेफाइन को चाहता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्राड डचेस (बडे ड्यूक की स्त्री) से शादी करने की थी लेकिन ज़ार इस पर राजी न हुआ। नेपोलियन भले ही करीब-क़रीब सारे योरप का स्वामी रहा हो, लेकिन उसके लिए रूस के शाही ख़ानदान में शादी करने की उम्मीद करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताख़ी की बात थी। तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी की शादी उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लडका पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल न चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी बीबी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफत आई तो वह उसे छोडकर भाग गई और उसका ख़याल ही दिल से निकाल दिया।

बडे ताज्जुब की बात है कि यह शख़्स, जो बहुत-सी बातों में अपने ज़माने के आदमियो से बढ़ा-चढा हुआ था, बादशाहत के पुराने ख़्यालात से पैदा होने वाली थोथी तडक-भडक का शिकार हो गया। और फिर भी, बहुत बार, वह क्रान्ति की सी बातें करता था और इन निकम्मे बादशाहो का मज़ाक उडाया करता था। उसने क्रान्ति की और नये ज़माने की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी, पुरानी बाते न तो उसके अनुकूल थीं और न उसे अपनाने के लिए तैयार थीं। इसलिए इन दोनो के बीच में वह तबाह हो गया।

धीरे-धीरे फौजी शान-शौकत की इस जिन्दगी का लाजिमी तौर पर बड़ा शोक-जनक अन्त होता है। खुद उसके ही कुछ मत्री लोग धोखा देते है और उसके खिलाफ साजिशें करते है; तैलीरैंद रूस के जार से मिलकर साजिश करता है और फोशे इग्लैंड से मिलकर। नेपोलियन उनकी धोखेबाजी पकड लेता है लेकिन फिर भी, ताज्जुब है कि उन्हे सिर्फ लानत-मलामत करके मत्रियो के पद पर कायम रखता है। बर्नादोत नामक उसका एक सिपहसालार उसके खिलाफ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई लूसियन के सिवा उसके खानदान के सारे लोग बेजा हरकतें करते रहते है और अक्सर उसकी जड भी काटते रहते है। फ्रास में भी असतोष बढ़ता चला जाता है और उसकी डिक्टेटरी बडी बेरहम और वहशियाना हो जाती है और हजारो आदमी बिना मुक़दमे के कैद में डाल दिये जाते है। उसका सितारा हकीकत में नीचे गिरता हुआ मालूम होता है। और बहुत-सी नावे जहाज का आखिरी वक्त नजदीक जानकर उसे भॅवर में छोड़ जाती है। हालाकि अभी उसकी उम्र ज्यादा नहीं है लेकिन उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ कमजोर होती जाती है। ठेठ लडाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायुगोले का दर्द उठ खड़ा होता था। अधिकार भी उसे भ्रष्ट कर देता है। उसमें पुरानी चतुराई तो मौजूद रहती है लेकिन अब उसकी चाल धीमी पड़ गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम होगई है।

१८१२ ई० में एक जबरदस्त फौज लेकर, जो 'ग्रान्ड आर्मी' यानी विशाल सेना कह-लाती थी, वह रूस पर धावा बोलने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालो को हरा देता है और बिना विरोध के आगे बढता चला जाता है। रूस की फौजें लगातार पीछे हटती चली जाती है और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। 'ग्रान्ड आर्मी' फिजूल उनको तलाश करती-करती मॉस्को पहुॅच जाती है। जार तो हार मानने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन दो आदमी, एक तो फ्रासीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना साथी और सिपहसालार और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियो का नेता बेरन वॉन स्टीन जिसे नैपोलियन ने बागी ऐलान कर दिया था, जार को ऐसा करने से रोक देते है। रूसी लोग दुश्मन को धुएँ से तंग करने के लिए अपने प्यारे मॉस्को नगर में ही आग लगा देते है। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुॅचती है तो स्टीन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उसके उपलक्ष में उठाकर कहता है —"इससे तीन-चार बार पहले मै अपना सामान खो चुका हूँ। हमें ऐसी चीजों को फेंकने का अभ्यास कर लेना चाहिए। चूकि हमको मरना तो है ही। इस-लिए हमें बहादुर हो जाना चाहिए!"

जाडे की शुरूआत है। नेपोलियन जलते हुए मॉस्को को छोडकर फ्रास लौटने का फैसला करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ में होकर बडी मुश्किल से धीरे-धीरे वापस लौटती है। रूस के कज्जाक लोग इधर-उधर से और पीछे से उसपर छापे मारते है और उसपर लगातार हमले करते है और पिछड जानेवालो को मौत के घाट उतार देते है। कडी सरदी और कज्जाक लोग, दोनो मिलकर हजारो जानें ले लेते है। और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतो का-सा जुलूस बन जाती है जिसमें सब लोग पैदल-पैदल फटे-हाल, पावो में छाले पडे हुए और सरदी से अकडे हुए, बडी मुश्किल से लडखडाते हुए चलते है। अपने गोलन्दाजो के साथ नेपोलियन को भी चलना पडता है। यह यात्रा बडी भयकर और दिल तोडनेवाली साबित होती है, और वह जबर्दस्त फौज कम होती-होती आखिर में बिलकुल बरबाद हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते है।

रूस के इस धावे ने जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। इसने फ्रास की फौजी ताक़त को खतम कर दिया। उसका नतीजा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढापा-सा छागया; वह फिक्रमन्द हो गया और लडाई-झगडो से ऊब गया। लेकिन उसे चैन नही लेने दिया गया। दुश्मनो ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह लडाइयाँ फतह करनेवाला सिपहसालार था, लेकिन फदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरैंद की साजिशें बढ़नें लगीं और नेपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सिपहसालार तक भी उसके खिलाफ हो गये। उकताकर और तग आकर नेपोलियन ने अप्रेल १८१४ ई० में राजगद्दी छोड दी।

नेपोलियन की तरफ से रास्ता साफ होते ही योरप के सबसे ताकतवर राष्ट्रो की एक बडी काग्रेस वियेना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन खानदान का एक और लुई, जो गिलोटीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पडा था वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवे लुई के नाम से फ्रास की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आगये और उनके साथ बहुत-से पुराने जुल्म भी वापस आगये। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के बहादुरी के कामो का बस यह अत हुआ। वियेना में बादशाह और उनके मन्त्री लोग आपस में बहस करते और लडते-झगडते थे और जब कभी इन बातो से उनको फुरसत मिलती तो मौज उडाते थे। उन्होने अब आराम की सांस ली। एक बडा भारी डर निकल गया था और वे लोग खुलकर सांस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देश-द्रोही तैलीरैंद बादशाहो और मन्त्रियो के इस गिरोह में बड़ा लोकप्रिय था और काग्रेस में

उसने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर राजनैतिक चालबाज मैटरनिख् था जो आस्ट्रिया का वैदेशिक मन्त्री था।

एक साल से कम वक्त में नेपोलियन तो एल्बा से तंग आगया और फ्रांस बोर्बन लोगो से। वह किसी तरह एक छोटी सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फरवरी १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह में किनारे पर आलगा। किसानो ने बडे जोश के साथ उसका स्वागत किया। उसके लिए भेजी गई फौजो ने जब अपने पुराने कमांडर 'पेटिट कार्पोरल' यानी नौजवान कप्तान को देखा तो वे 'सम्राट् की जय' का घोष करके उससे मिल गई। बस, वह बडे विजयोल्लास के साथ पैरिस पहुँचा और बोर्बन बादशाह वहाँ से तुरन्त भाग गया। लेकिन योरप की बाक़ी सब राजधानियो में आतंक और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच, गान और दावते एक दम ख़तम हो गईं। सबपर असर करनेवाले इस ख़ौफ की वजह से सारे बादशाह और मंत्री अपने आपसी झगडो-टंटो को भूल गये और नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के काम के बारे में ही सोच-विचार करने लगे। बस, योरप ने उसके ख़िलाफ हथियार उठा लिये, लेकिन फ़्रांस तो लडाइयो से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का था, जिसे उसकी स्त्री, मेरी लुईसी तक दग़ा दे गई थी। थका हुआ और वृद्ध मालूम होने लगा था। कुछ लड़ाइयो में उसकी जीत हुई लेकिन आख़िरकार, फ्रांस आने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशर[2] की मातहती में अंग्रेज़ और प्रशिया की फौजो ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापिसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनो तरफ करारा मुकाबिला था और यह बतलाना मुश्किल था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की क़िस्मत बहुत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में फतह हासिल करना बहुत मुमकिन था, लेकिन फिर भी एक न एक दिन तो उसे बाद में योरप की एक मजमूआ ताकत के सामने हारना पड़ता। अब चूंकि

१ वेलिंगटन—ड्यूक आफ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान में भी कई लडाइयाँ जीती थी। १८२८ ई० में यह इंग्लैंड का प्राइम मिनिस्टर भी था।

२. ब्लूशर—(१७४२–१८१९) प्रशियाँ का सेनापति। इसने फ्रांस मे कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असंभव था।

वह हार चुका था इसलिए उसके बहुत-से मददगारो ने उसके ख़िलाफ होकर अपनी जान बचानी चाही। अब लड़ना फिजूल था, और गृह-युद्ध का विचार उसे बिलकुल नापसन्द था। इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड दी और फ्रास के बन्दरगाह में पडे हुए एक अँग्रेजी जहाज पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्मसमर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इग्लैंड में बसना चाहता हूँ।

लेकिन अगर वह इग्लैंड या योरप से नम्र और शिष्ट बर्त्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से उनको पूरा यकीन हो गया था कि उसे बहुत दूर और बडी हिफाजत के साथ रखा जाना जरूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे क़ैदी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियो के साथ दक्षिण अटलाटिक सागर के सुदूर टापू सेट हेलेना में भेज दिया गया। वह योरप का कैदी समझा गया और कई राष्ट्रो ने सेट हेलेना पर उसकी निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन असल में उस पर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी इग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फौज रक्खी गई। उस वक्त वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालवेन ने सेंट हेलेना की इस तनहा चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "दुनिया की वह जगह है, जो सबसे ज्यादा अफसोसनाक, सबसे अलग, सबसे ज्यादा अगम्य यानी जहा आसानी से न पहुँचा जासके सबसे ज्यादा सुरक्षित, हमले के लिए सबसे ज्यादा मुश्किल और सबसे ज्यादा अकेली है।" इस टापू का अग्रेज गवर्नर एक बिलकुल गवार और जगली शख़्स था और वह नेपोलियन के साथ बडा बुरा बर्त्ताव करता था। उसे टापू के सबसे ख़राब आबहवा वाले हिस्से में, अस्तबल की तरह के एक मकान में, रक्खा गया और उसपर और उसके साथियों पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दिया लगादी गई। कभी-कभी तो उसे खाने के लिए काफी तौर पर अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे योरप में रहनेवाले दोस्तो से ख़त-किताबत नहीं करने दी जाती थी, यहाँ तक कि अपने छोटे से लड़के से भी नहीं, जिसे अपने अधिकार के दिनो में उसने रोम के बादशाह का ख़िताब दिया था। ख़त-किताबत तो क्या, उसके पुत्र की ख़बर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी जाती थी। एक जर्मन वनस्पतिशास्त्री, जो सेन्ट हेलेना गया था, वियेना में नेपोलियन की स्त्री और पुत्र से मिल चुका था, लेकिन उसे नेपोलियन से नहीं मिलने दिया गया और उनका सदेसा तक न पहुँचाने दिया गया। नेपोलियन ने कहा था—"इन जगलियो ने उसे मेरे पास आकर उनके समाचार देने से रोक दिया है।"

यह ताज्जुब की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्त्ताव किया

गया। लेकिन सेंट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार के हाथ की कठपुतली था, और ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार की जानबूझकर यह नीति थी कि इस कैदी के साथ बुरा बर्त्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। योरप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माँ, बुड्ढी होने पर भी, सेंट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी लेकिन इन बडे-बडे ताकतवर राष्ट्रो ने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! नेपोलियन के साथ जो बुरा बर्त्ताव किया गया वह उस आतक का एक पैमाना है, जो अभी तक योरप में उसके नाम से फैला हुआ था। लेकिन उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेकाबू होकर पड़ा था।

साढ़े पाच साल तक उसने सेंट हेलेना में यह जिन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू में बन्द होकर और रोज कमीनी जिल्लते उठाकर, गैर-मामूली ताकत और कल्पनावाले इस शख्स ने जो मुसीबते झेली होगी, उनका ख़याल करना मुश्किल नहीं है। इन जिल्लतो के कारण वह बहुत-बहुत दिनो तक अपने घर में से बाहर तक न निकलता था। उसका ख़ास काम था पढना और अपने सस्मरण लिखवाना, और उसे सबसे बडी खुशी तब होती थी जब फ्रास से नई किताबो का कोई पार्सल आता। हममें से जिन लोगो ने जेल में महीनो और वर्षो काटे है, वे नेपोलियन की मुसीबतो को कुछ-कुछ समझ सकते है और यह भी महसूस कर सकते है कि ब्रिटिश सरकार अपने दुश्मनो और कैदियो के साथ बर्त्ताव करने के मामले में कितनी अनुदार, कमीनी और कठोर थी और अब भी है।

नेपोलियन को तरह-तरह से नीचा दिखाया जाता था और तंग किया जाता था। लेकिन फिर भी रूसी बालबेन ने सेंट हेलेना में आने के एक वर्ष बाद उसके बारे में जो कहा था, वह सुनने लायक है—"जिस वक्त से मैं यहाँ आया हूँ, उसी वक्त से जो बात मेरे दिल को लगी है, (हालाँकि ऐसा होना स्वाभाविक है) वह है, वह जबर्दस्त दबदबा जो पहरेदारो से, चट्टानो से, कगारो से घिरा हुआ यह शख्स अभी तक लोगो के दिलो पर रखता है। सेंट हेलेना की हरेक चीज से इसका बड़प्पन जाहिर होता है। फ्रेंच लोग तो उसकी नजर से कांपते है और सेवा करने में अपने आपको धन्य समझते है।"

नेपोलियन मई १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफरत ने उसका पिंड न छोडा और उसके लिए एक बहुत-बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गये बुरे बर्त्ताव और जुल्म की ख़बर जैसे ही योरप पहुँची (उन दिनो ख़बरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) वैसे ही उसके खिलाफ बहुत से

देशों में, जिनमें इग्लैंड भी शामिल था, शोर मचा। इग्लैंड का वैदेशिक मत्री केसलरे, जो इस बुरे बर्त्ताव के लिए ख़ास तौर पर जिम्मेदार था, इस वजह से और अपनी सख़्त नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इस बात का इतना पछतावा हुआ कि वह ख़ुदकुशी करके मर गया।

बडे और असाधारण व्यक्तियो के बारे में कुछ फैसला देना मुश्किल है, और इस बात में कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक बडा और असाधारण आदमी था। वह करीब-क़रीब कुदरत की ताक़त की तरह एक मौलिक चीज़ था। विचारो और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और नि स्वार्थ भावनाओं की क़ीमत बिलकुल नहीं जानता था। वह लोगो को कीर्त्ति और धन देकर वश करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था। इसलिए जब उसके कीर्ति और अधिकार का भडार खाली हो गया, तो उन्हीं लोगो को चिपका रखने के लिए कोई आदर्श भावनायें बाक़ी न रहीं। जिन लोगो को उसने बढाया था, वे और बहुत से दूसरे उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। उसकी निगाह में धर्म तो ग़रीबो और दुखियो को अपनी बुरी क़िस्मत से सतुष्ट रखने का ख़ाली एक तरीका था। ईसाई मजहब के बारे में उसनें एक बार कहा था—"मै ऐसे धर्म को कैसे मान सकता हूँ जो सुक़रात और अफलातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था तो उसने इस्लाम की ओर कुछ पक्षपात दिखलाया था, इसलिए कि उसके ख़याल में शायद ऐसा करने से वहां के लोग उसे चाहने लगें। वह बिलकुल नास्तिक था लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था। क्योकि वह इसे उस वक्त की सामाजिक हालत कायम रखनें वाला आधार समझता था। वह कहता था—"धर्म कहता है कि स्वर्ग में सब बराबर होजाते है और यह भावना ग़रीबों को अमीरो की हत्या करनें से रोकती है। धर्म का वही उपयोग है जो चेचक के टीके का। वह अद्भुत बातो की हमारी इच्छा को पूरी कर देता है और हमें नीम हकीमो से बचा देता है । समाज सपत्ति की असमानता के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पडौसी लज़ीज़ दावत उडा रहा है, उसे जिन्दा रखने वाली एक तो स्वर्गीय शक्ति में श्रद्धा है और दूसरा यह विश्वास है कि परलोक में वस्तुओं का बटवारा दूसरे ही ढग से होगा।" सुनते है, अपनी ताक़त के घमड में उसने कहा था—"अगर आसमान गिरने लगे तो हम उसे अपनी भालो की नोक पर रोक लेगे।"

उसमें महान व्यक्तियो की सी लोगों को अपनी तरफ खींचने की ताक़त थी और उसने बहुत से जानिसार दोस्त पैदा कर लिये थे। अकबर की तरह उसकी निगाह में जादू था। एक बार उसने कहा था '—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है।

मैंने लड़ाइयाँ अपनी आखो से जीती है, हथियारो से नहीं।" जिस आदमी ने सारे योरप को लड़ाइयो में डुबो दिया उसके मुँह से ये लफ्ज़ आश्चर्यजनक मालूम होते हैं, लेकिन फिर भी इनमें कुछ सचाई है। हालाकि वह अपने जमाने का सबसे बड़ा सिपहसालार और सिपाही था, लेकिन वह अपने मकसद को शान्ति के उपायो से हासिल करना हमेशा बेहतर समझता था। उसका कौल था कि ज़बरदस्ती करना कोई इलाज नहीं है और इन्सान की आत्मा तलवार से ज़ोरदार है। उसने कहा थाः—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा ताज्जुब किस बात पर होता है ? इस बात पर कि हिंसापूर्ण शक्ति या ज़ोर-ज़बरदस्ती की ताक़त किसी भी चीज को सगठित करने के लिए कमज़ोर है। दुनिया में सिर्फ दो ही ताकते है एक तो आत्मा और दूसरी तलवार । आख़िर में आत्मा हमेशा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन ये अख़ीर के दिन उसके लिए न थे। वह तो जल्दी में था, और अपनी ज़िन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का तरीका चुन लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था —"युद्ध इस ज़माने की चीज़ नहीं रही है; एक दिन ऐसा आवेगा कि बिना तोपो और तलवारो के विजय प्राप्त हो जाया करेगी।" परिस्थितियो ने उसे बेकाबू कर लिया था—उसकी छलाँग मारने वाली महात्वाकाक्षा, लड़ाइयाँ जीतने में मिलने वाली सुविधा, योरप के राजाओ की इस कल के छोकरे के लिए नफरत और इसका डर, इन सबने उसे चैन से बैठने न दिया। लड़ाई में वह बडी बेपर्वाही के साथ लोगो की जानें झोक देता था, लेकिन फिर भी लोगो की मुसीबतो को देखकर उसका दिल भर आता था।

व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत सादा-मिज़ाज था और काम के सिवा किसी बात में ज्यादती नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खाने, वह हमेशा ज़रूरत से ज्यादा खाता है। ज्यादा भोजन करने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसकी इतनी अच्छी तंदुरुस्ती थी और उसमें इतनी ज़बरदस्त ताकत थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोड़े पर सौ मील का सफर करलेना उसके लिए कोई ग़ैरमामूली बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्वाकाक्षा योरप को जीतती हुई आगे बढ़ती गई वैसे-वैसे वह यह समझने लगा कि योरप एक रियासत है, एक इकाई है, जहाँ एक क़ानून, और एक ही सरकार होनी चाहिए· "मै सब राष्ट्रो को मिलाकर एक कर दूगा।" बाद में सेट हेलेना में निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग़ ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय में ज्यादा सही शक्ल में पैदा हुआ —"कभी-न-कभी परिस्थितियो

के जोर से (योरप के राष्ट्रो का) यह मेल होगा। गाडी चल पडी है, और मुझे तो यह नजर आता है कि मेरे चलाये हुए हुकूमत के तरीक़े का ख़ातमा होने के बाद योरप में बराबरी क़ायम करने का अगर कोई तरीका है तो वह एक राष्ट्रसघ (लीग आफ नेशन्स) के जरिये से है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद योरप अब भी अधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्र-सघ के बारे में प्रयोग कर रहा है।

उसने अपना अतिम वसीयतनामा लिखा जिसमें अपने उस छोटे से पुत्र के नाम एक सदेश छोडा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी बडी बेरहमी के साथ उसके पास पहुँचने से रोक दिये गये थे। उसे उम्मीद थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था कि वह शान्ति के साथ राज्य करे और बल का प्रयोग कभी न करे। "मै योरप को हथियारो के जोर से काबू में करने को मजबूर हो गया था, लेकिन इस जमाने का तरीका यह है कि समझा-बुझाकर विश्वास प्राप्त किया जाय।" लेकिन पुत्र की किस्मत में राज करना नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी की उम्र में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में अपने निर्वासन के दिनो में आये जब उसका दिल बहुत कुछ साफ हो गया था, या शायद उसने आगे के लोगो को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनो में वह इतना ज्यादा क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक बन नहीं सकता था। वह तो शक्ति की वेदी पर उपासना करता था, उसे तो असली मुहब्बत सिर्फ ताक़त से थी, और वह उससे गवारू तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह मुहब्बत करता था। उसने कहा था—"मै ताक़त से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, उस तरह जसे एक कलाकार करता है। जैसे फिड्ल[1] बजाने वाला अपनी फिड्ल से करता है ताकि उसमें से राग, स्वर और लय पैदा करे।" लेकिन हद से ज्यादा ताकत की तलाश ख़तरनाक होती है और जो शख्स या क़ौम इसके पीछे पडती है उसका कभी न कभी नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी ख़ातमा होगया, और यह अच्छा ही हुआ। सेंट हेलेना में उसने कहा था—"सारी ज़िन्दगी पर एक साथ विचार किया जाय तो मेरा जीवन कैसा सुन्दर गीत रहा है!"

इधर बोर्बन लोग फ्रास में राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि इन पिछली घटनाओ से बोर्बन लोगो ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रास उनसे तग आगया और उसने उनका ख़ातमा कर

१ फिड्ल—सारगी की तरह का एक बाजा जिसे वायोलीन भी कहते हैं।

दिया। एक दूसरे राजा का राज कायम हुआ, और नेपोलियन के प्रति अच्छे ख़यालात का इज़हार करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वेन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटादी गई थी, फिर वहीं रखदी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी होगई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस में आगया है।"

: १०६ :

दुनिया पर एक नज़र

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमच पर से, जिस पर वह इतने दिनो से हावी हो रहा था, बिदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज्यादा अर्सा हो चुका है, और बहुत-से बहसतलब प्रश्न ठडे हो चुके है। लेकिन, जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगो में बड़ा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे और ज्यादा शान्ति के जमाने में पैदा हुआ होता तो एक साधारण सेनापति से ज्यादा उसकी शोहरत न हो पाती, और लोगो की नजरो में आये बिना ही वह चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्त्तन नें उसे आगे बढने का मौक़ा दिया, और उसने भी इस मौके से पूरा फायदा उठाया। उसके पतन और यूरोपीय राजनीति से उसके हट जाने से योरपवासियो को बडी शान्ति मिली होगी, क्योकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी सदी भर यूरोपीय राष्ट्रो ने सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं किये थे, और सभी उसके लिए उत्सुक थे। योरप के बादशाहो और राजाओ को, जोकि वर्षों से उसके नाम से काँप उठते थे, उसके चले जानें से जितनी राहत महसूस हुई होगी, उतनी शायद किसी को न हुई हो।

हमने फ्रांस और योरप पर काफी वक्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवीं सदी में काफी दूर तक आगे बढ़ आये है। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नजर डाले और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसका क्या हाल था।

तुम्हे याद होगा कि योरप में पुरानें राजा लोग और उनके मन्त्री, वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए थे। जिस हौवे नेपोलियन के नाम से वे काँपते थे, वह दुनिया से बिदा हो चुका था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेलने और लाखो आदमियो की किस्मतो का, अपनी मर्ज़ी के मुताबिक, फैसला कर डालने के लिए आज़ाद थे। न तो उन्हे इस बात का ही कुछ खयाल था कि प्राकृतिक स्थिति और भाषा के मुताबिक किसी देश की सही हद क्या होनी चाहिए। रूस का ज़ार, इंग्लैंड का प्रति-

निधि केसलरे, आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिक और प्रशिया का शाह इस कांग्रेस की ख़ास या मुख्य शक्तियाँ थीं। और हाँ, चतुर, तेज़ बुद्धि वाला और लोकप्रिय टैलीरैण्ड भी, जो किसी वक़्त नेपोलियन का मंत्री रह चुका था, और अब फ्रांस के बोर्बन बादशाह का मंत्री था। इन लोगों ने नाच और दावत के बीच मिली हुई फ़ुरसत के समय योरप को फिर नई शक्ल में ढाल दिया।

बोर्बन लुई अठारहवाँ फिर फ्रांस की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन में इन्क्विज़िशन की प्रथा फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए बादशाह प्रजातन्त्र को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने हालैंड में प्रजातन्त्र को फिर से क़ायम नहीं होने दिया। इसके बजाय उन्होंने हालैंड और बेलजियम को मिलाकर निदरलैंड नाम का एक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; प्रशिया, आस्ट्रिया और ख़ासकर रूस उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेरा के बीच का एक टुकड़ा फ्रांस का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य योरप में एक अजीब और अस्पष्ट-सी जर्मन संघ-शक्ति क़ायम हुई, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया दो ख़ास ताक़तें बनी रहीं। इस तरह वियेना कांग्रेस के अक्लमन्दों ने यह नई व्यवस्था की, प्रजा को उसकी इच्छा के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उसे उस भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उसकी अपनी न थी, और इस तरह आगे आनेवाली मुसीबतों और लड़ाई के बीज बोये गये।

सन् १८१४–१५ की वियेना की कांग्रेस का ख़ास मतलब था बादशाहों का अपनी स्थिति को एकदम सुरक्षित बनाना। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से उन्हें अपनी जान का ख़तरा हो गया था, और इसलिए अब मौक़ा पाकर वे यह बेहूदा ख़याल बना बैठे कि हम इन नये क्रान्तिकारी विचारों का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट और प्रशिया के शाह ने तो अपनी और दूसरे राजाओं की रक्षा के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा कि मानो हम फिर चौदहवें और पन्द्रहवें लुई के ज़माने में पहुँच गये हैं। सारे योरप में, यहाँ तक कि इंग्लैण्ड तक में, उदार विचारों को कुचला जाने लगा। योरप के उन्नत विचारों के लोगों को यह देख कर कितनी मायूसी हुई होगी कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय की लोगों की तपस्या और उनका घोर कष्ट-सहन किस प्रकार फ़िज़ूल गया!

योरप के पूर्व में टर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे पतन की ओर जा रहा था। वैसे कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में वह

था अर्द्ध-स्वतंत्र। सन् १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के खिलाफ बग़ावत की और आठ वर्ष तक लडने के बाद इंग्लैंड, फ्रांस और रूस की मदद से अपनी आज़ादी हासिल करली। इसी युद्ध में अंग्रेज कवि बायरन यूनान की तरफ से एक स्वयं-सेवक की तरह युद्ध करता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे में कुछ बहुत ही सुन्दर कवितायें लिखी हैं, और शायद उनमें से कुछ तुम जानती भी हो।

यहां मैं दो राजनैतिक परिवर्त्तनो का ज़िक्र कर दूं, जो १८३० में योरप में हुए। बोर्बन बादशाहो के दमन और अत्याचारो से तग आकर फ़्रांस ने उन्हे फिर गद्दी से निकाल बाहर किया। लेकिन प्रजातन्त्र की स्थापना के बजाय एक दूसरा राजा बिठा दिया गया। यह था लूई फिलिप, जिसका बरताव कुछ अच्छा था, और वह किसी हद तक एक वैध शासक (Constitutional King) की तरह रहा। वह सन् १८४८ तक किसी तरह राज्य करता रहा। उसी समय एक दूसरा और पहले से भी गम्भीर विस्फोट होगया। बेलजियम में भी सन् १८३० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। योरप की ख़ास-ख़ास ताक़ते प्रजातन्त्र प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थीं। इसलिए उन्होने एक जर्मन राजकुमार को बेल-जियम की नज़र किया और उसे वहाँ का राजा बना दिया। एक और दूसरा जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतो में ऐसे राजकुमारो की बहुतायत रहती थी, जो किसी गद्दी के ख़ाली होते ही उसे सुशोभित (!) करने के लिए मिल जाते थे! तुम्हे याद होगा कि इग्लैण्ड का मौजूदा राजवश जर्मनी की ही एक छोटी सी रियासत हनोवर से आया हुआ है।

सन् १८३० का वर्ष योरप के और दूसरी कई जगहो, जर्मनी और इटली और ख़ासकर पोलैण्ड के लिए बग़ावतो का वर्ष था। लेकिन राजाओ ने इन बग़ावतो को दबा दिया। पोलैण्ड में रूसियो ने बडी बेरहमी से दमन किया, यहाँ तक कि पोलिश भाषा का इस्तैमाल करना तक रोक दिया। १८३० का यह साल, एक तरह से, सन् १८४८ का पूर्वाभास यानी आगे आनेवाली बातो को पहले से सूचित कर देनेवाला था। जैसाकि आगे चलकर हम देखेंगे कि योरप में यह राज्यक्रान्ति का वर्ष था।

इतना तो हुआ योरप के बारे में। अटलांटिक महासागर के उस पार सयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे योरप की तरफ फैल रहा था। यहाँ यूरोपियन स्पर्द्धाओ और युद्धों से दूर रहने और अज़ाद होने के कारण, वह बडी तेज़ी से तरक्क़ी करता हुआ योरप की प्रति-द्वन्दिता में आरहा था। लेकिन उधर दक्षिण अमेरिका में बडी तब्दीलियाँ होगईं। इनका अप्रत्यक्ष कारण था नेपोलियन। जब नेपोलियन ने स्पेन को

जीता और अपने एक भाई को वहा के तख़्त पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों ने बग़ावत कर दी। इस तरह पुराने स्पेनिश राजवश के प्रति अमेरिका के इन स्पेनिश उपनिवेशो की यह आश्चर्यजनक राजभक्ति ही थी, जिसके सहारे वे अपनी आज़ादी हासिल कर सके। लेकिन यह उस समय का एक कारण-मात्र होगया। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशों का स्पेन से सम्बन्ध-विच्छेद होता ज़रूर, क्योंकि दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वतन्त्रतावादी दल बढ़ रहा था। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का मशहूर नेता था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया प्रजातन्त्र का नाम भी उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनिश अमेरिका स्पेन से जुदा होकर अपनी आज़ादी के लिए लड रहा था। नेपोलियन के विदा हो जाने से लडाई में कोई फ़र्क़ नहीं हुआ और दक्षिण अमेरिका वाले स्पेन के नये शासन के ख़िलाफ कई वर्षों तक लडते रहे। योरप के कुछ बादशाह अमेरिकन उपनिवेशो के क्रान्तिकारियो के दमन में अपने मित्र स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के हस्तक्षेप को बिलकुल रोक दिया। उस वक्त मनरो सयुक्त राज्य के प्रेसीडेण्ट थे। उन्होंने यूरोपियन ताक़तो को साफ साफ कह दिया कि अगर उन्होने उत्तर या दक्षिण, अमेरिका में किसी भी जगह दख़ल दिया तो उन्हे सयुक्त राज्य से लोहा लेना पडेगा। इस धमकी ने यूरोपियन ताक़तो को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से थोडे या बहुत अलग ही रही हैं। योरप को दी गई मनरो की यह धमकी 'मनरो सिद्धान्त' (Monro's Doctrine) के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये प्रजातत्रो की लालची योरप के पजो से बहुत अर्से तक रक्षा की और उन्हें अपनी तरक्क़ी का मौक़ा दिया। योरप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन ख़ुद रक्षक—सयुक्त राज्य—से उनकी हिफ़ाजत करनेवाला कोई न था। आज उन पर संयुक्त राज्य की ही हुकूमत है, और छोटे-छोटे प्रजातत्रो में से बहुत-से बिलकुल उसीकी मुट्ठी में है।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकन उपनिवेश जिस समय आज़ाद हुए क़रीब-क़रीब उसी समय यह भी स्वतन्त्र हो गया। इस तरह हम देखते है कि सन् १८३० के क़रीब सारा दक्षिण अमेरिका योरप के पजे से मुक्त होगया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता अग्रेज़ो का कनाडा का उपनिवेश बदस्तूर था।

अब हम एशिया की तरफ आते है। इस समय अग्रेज़ हिन्दुस्तान में नि सन्देह सबसे ज़बरदस्त ताक़त बन गये थे। जिस समय योरप में नेपोलियन के युद्धो का

घमासान चल रहा था, अंग्रेजों ने इधर अपनी स्थिति को ठोस बना लिया, यहां तक कि जावा पर भी कब्जा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान हार गया था, और सन् १८१९ में मराठों की शक्ति भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई थी। हां, पंजाब में रणजीतसिंह की अधीनता में एक सिख रियासत थी। सारे हिन्दुस्तान में अंग्रेज धीरे-धीरे घुस और फैल रहे थे। पूर्व में आसाम हड़प लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बनने ही वाला था।

जबकि इधर हिंदुस्तान में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य एशिया में एक दूसरी यूरोपीय ताकत, रूस, आगे बढ़ रही थी, और पूर्व में प्रशान्त महासागर और चीन तक तो यह पहुँच ही चुकी थी। अब यह मध्य एशिया की छोटी-छोटी रियासतों में चक्कर काटती हुई अफग़ानिस्तान की सीमा तक पहुँच गई थी। हिन्दुस्तान के अंग्रेज, इस रूसी दैत्य को अपने पास पहुँचते देख, इतने डर गये कि अपनी घबराहट में, बिना किसी बहाने के ही, अफग़ानिस्तान से लड़ाई छेड बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुंह की खानी पडी।

चीन पर मञ्चू लोगों का क़ब्ज़ा था। व्यापार और धर्म-प्रचार के नाम से आनेवाले विदेशियों की नीयत पर सन्देह करने के काफी कारण होने की वजह से वे लोग इनके प्रवेश को रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाजे पर हो-हुल्लड मचाते ही रहे, और ख़ासकर अफीम के व्यापार को बढ़ावा देते रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ब्रिटिश चीन के व्यापार पर एकाधिकार मिला हुआ था। चीन सम्राट ने चीन में अफीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आना जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह उसका ग़ैरकानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से लड़ाई छिड गई, जिसे 'अफीम का युद्ध' कहा जाता है, और अख़ीर में अंग्रेजों ने चीन के लोगों को अफीम ख़रीदनें के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हे सन् १६३४ में जापान को बाहर वालो के सम्पर्क से अपने को अलग रखने का हाल सुनाया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक में भी इस देश का दरवाजा विदेशियो के लिए बन्द था। लेकिन इसकी चहारदीवारी के अन्दर पुरानी शोगनशाही कमजोर हो रही थी और नई परिस्थितियां पैदा हो रही थीं, जिनके कारण पुरानी प्रथा का एकाएक ख़ातमा होने वाला था। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में यूरोपीय शक्तियां मुल्को को हड़प करती जा रही थीं। फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अभीतक स्पेनवालो का कब्ज़ा बना हुआ था। पुर्त्तगाल वालो को अंग्रेजो और डचो ने खदेड़कर उसपर अपना कब्ज़ा कर रक्खा था। वियेना की

कांग्रेस के बाद डचो को जावा और दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप तक फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक आजाद थे, हालांकि वे मौक़े-मौक़े पर चीन को एक तरह का ख़िराज अदा करते थे। मोटे तौर से वाटरलू-युद्ध से १८३० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनैतिक अवस्था इस तरह की थी। योरप निश्चित रूप से दुनिया के मालिक के रूप में प्रकट हो रहा था, ख़ुद योरप में प्रतिक्रिया विजयी हो रही थी। शहशाह और बादशाह लोगो, यहाँ तक कि इग्लैंड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक, का यह ख़याल हो गया था कि उन्होंनें उदार विचारो को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होने इन विचारो को डिब्बे में बन्द कर रखने की कोशिश की। लेकिन वे नाकामयाब रहे, और वहाँ रह-रह कर विद्रोह होने लगे।

राजनैतिक परिवर्तनो ने इस सारे परदे पर कब्ज़ा-सा करलिया था। लेकिन फिर भी इनसे कहीं वढकर परिवर्त्तन हुए दौलत को पैदा करने और उसके बँटवारे और सफर के तरीको में जिनकी शुरूआत इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। शान्त लेकिन बिना किसी रोक-टोक के यह क्रान्ति योरप और उत्तरी अमेरिका में फैल रही थी और करोडो मनुष्यो के विचारों और आदतों और जुदी-जुदी श्रेणियों के आपस के सम्बन्धो में परिवर्त्तन कर रही थी। मशीनो की खटाखट में से नये-नये विचार पैदा होते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। योरप ज्यादा-से-ज्यादा क़ाबिल, मुस्तैद और कातिल—ज्यादा-से-ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और हृदयहीन वनता जा रहा था। नेपोलियन की स्पिरिट इसमें दख़ल कर गई मालूम होती थी। लेकिन ख़ुद योरप में ही ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जिनका भविष्य में साम्राज्यवाद से टक्कर लेना और उसे उखाड़ फेंकना निश्चित था।

अवश्य ही इस युग का अपना साहित्य, काव्य और संगीत भी है जिसपर लिखने को जी ललचाता है। लेकिन मैं अपनी कलम को अब ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसने काफी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

१८१४ में नेपोलियन का पतन हुआ, अगले वर्ष वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढर्रा १८१४ में ही ढह गया। इसके ठीक सौ

वर्ष बाद, १९१४ में महायुद्ध शुरू हुआ जो क़रीब-क़रीब सारी दुनिया में फैल गया और चार वर्षों के जमाने में इसने भयंकर नुक़सान और महान् कष्ट पहुँचाया। सौ वर्ष के इस युग का हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। इस युग के शुरू होते ही दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी सरसरी चर्चा मै तुमसे अपने पिछले पत्र में कर ही चुका हूँ। मै समझता हूँ, अपने लिए यह मुनासिब होगा कि मुख़्तलिफ देशो में इस सदी के अलग-अलग हिस्सों की जांच करने से पहले सारी सदी पर एक सरसरी निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की खास हलचलो का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और इस तरह हम पेड़ और पत्तियाँ सब देख सके।

जैसा कि तुम देखोगी ही १८१४ से १९१४ तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में पडे है इसलिए हम इन वर्षों को उन्नीसवीं सदी का नाम दे सकते है, गोकि यह बिलकुल सही तो न होगा।

उन्नीसवीं सदी एक बड़ा ही लुभावना युग है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन भी कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूकि हम उसके इतने नजदीक है, इसलिए यह हमें इससे पहले की सदियो की बनिस्बत ज्यादा बडी और ज्यादा घनी मालूम होती है। जब हम इस सदी को गूँथने वाले उन हजारो धागो को सुलझाने की कोशिश में लगते है, तो इसकी यह विशालता और पेचीदगी कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है।

यह सदी मशीनो की आश्चर्यभरी तरक़्की की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति अपने साथ-ही-साथ मशीनों की क्रान्ति लाई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा जरूरी हो गईं। जो कुछ मनुष्य पहले कर चुका था, उसका ज्यादातर इन मशीनो ने कर दिखाया, घिस-घिस की मेहनत से आदमियो को आराम मिला, प्राकृतिक तत्त्वो पर से उसकी निर्भरता कम हुई और मशीनो ने उसके लिए दौलत पैदा की। विज्ञान नें बहुत ज्यादा मदद दी और मुसाफिरी और आमदरफ्त की रफ्तार ज्यादा-ज्यादा तेज हुई। रेलगाडी आई और उसने किराया गाडियों—इक्के, तांगों वग़ैरा की जगह ले ली; भाप से चलने वाले जहाजो ने मस्तूलो वाले जहाजो की जगह ले ली; उसके बाद समुद्र में चलने वाले लाइनर नामक जबर्दस्त और शानदार जहाज पैदा हुआ जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक तेज रफ्तार और नियमितता के साथ चलने लगा। इस सदी के अखीर में आटोमोबाइल यानी एजिन और तेल से चलनेवाली गाड़ियाँ आई और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और सबके बाद निकला हवाई जहाज। इसी समय मनुष्य 'बिजली' नाम की एक नई और

आश्चर्य में डालनेवाली ताक़त पर काबू कर उसका प्रयोग करने लगा और इससे तार और टेलीफोन का जन्म हुआ। इन सब बातो से दुनिया में एक जबरदस्त तब्दीली आगई। और जैसे-जैसे आमद-रफ्त के साधनो में बढती और उन्नति होती गई और लोग ज्यादा-से-ज्यादा तेज़ी से सफर करने लगे वैसे-ही-वैसे ऐसा मालूम होने लगा मानों दुनिया सिकुडकर बहुत छोटी-सी रह गई है। आज तो हमें इन सबकी आदत पड़ गई है। और इसलिए शायद ही कभी इसके बारे में सोचते हों। लेकिन ये सब सुधार और तब्दीलियाँ हमारे इस जगत् में नई हैं, वे सब पिछले सौ वर्षों में ही आई हैं।

साथ ही यह सदी योरप की बढ़ती की, या यो कहो कि पश्चिमी योरप की, और ख़ासकर इग्लैण्ड की, बढती की सदी थी। उद्योगो और मशीनों की क्रान्तियाँ वहीं शुरू हुई और उन्नत हुई, और उन्होंने पश्चिमी योरप को ख़ूब आगे बढ़ाया। समुद्री ताकत और उद्योग-धन्धो में इंग्लैंड सबपर हावी था; लेकिन पश्चिमी योरप के दूसरे मुल्को ने धीरे-धीरे इसे आ पकडा। मशीनों की इस नई सभ्यता के सहारे अमेरिका के सयुक्तराज्य भी आगे बढ़ निकले और रेलो ने उन्हें पश्चिम की तरफ प्रशान्त महासागर तक पहुँचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र के रूप में सगठित कर दिया। ये अपनी ही समस्याओ और सीमा-विस्तार में इतने ज्यादा मशगूल थे कि योरप तथा बाकी दुनिया की झंझटो की तरफ ज्यादा ध्यान देने की उन्हें फुरसत ही न थी। फिर भी योरप के किसी भी तरह के हस्तक्षेप का विरोध करने और उसे रोकने में वे काफी मजबूत थे। मनरो के सिद्धान्त ने, जिसके बारे में मैं तुम्हे अपने पिछले ख़त में लिख चुका हूँ, दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रों की लालची योरप से रक्षा करली। स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगो ने इन प्रजातन्त्रों की नींव डाली थी, इसलिए ये लैटिन प्रजातन्त्र कहाते हैं। ये दोनो देश और इटली और किसी हद तक फ़्रास लैटिन राष्ट्र कहलाते हे। दूसरी तरफ योरप के उत्तरी देश टीटानिक हैं, इंग्लैण्ड टयूटनो की एग्लो-सेक्सन शाखा है और सयुक्तराज्य अमेरिका के लोग मूलत इसी एग्लो-सेक्सन गिरोह से निकले थे। लेकिन बाद में सभी तरह के प्रवासी वहाँ जापहुँचे।

उद्योगो और मशीनो के लिहाज़ से बाक़ी दुनिया पिछडी हुई थी और पश्चिम की नई यान्त्रिक सभ्यता की बराबरी करने में असमर्थ थी। पुराने घरेलू-उद्योगों की बनिस्बत योरप के मशीन-उद्योग से माल कहीं ज्यादा तेज़ी और भारी तादाद में पैदा होने लगा। लेकिन इस माल के तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत थी, जो ज्यादातर पश्चिमी योरप में नहीं मिल सकता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी था, और इसलिए उसकी खपत के लिए मंडी का

होना भी जरूरी था। इसलिए पश्चिमी योरप-वासी ऐसे मुल्को की तलाश करने लगे, जो उन्हें कच्चा माल दे सके और उनका तैयार माल लेसके। एशिया और अफरीका कमज़ोर मुल्क थे, इसलिए योरप उनपर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री ताकत और उद्योग-धन्धो में आगे बढ़ा हुआ होने के कारण इग्लैण्ड साम्राज्य-प्राप्ति की दौड में सहज ही पहले नम्बर पर आगया।

तुम्हे याद होगा कि गरम मसाले और अपनी जरूरत की दूसरी चीज़ें ख़रीदने के लिए योरप वाले पहले-पहल हिन्दुस्तान और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का सामान योरप में आया और साथ ही पूर्वी करघे से बना हुआ माल भी पश्चिम में पहुँचा। लेकिन बाद में, मशीन के तरक्की कर जाने से बात उल्टी हो गई। अब पश्चिमी योरप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा और अग्रेज़ी माल की बिक्री को प्रोत्साहन देने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जान-बूझकर हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग-धन्धो की हत्या कर डाली।

विशाल एशिया पर योरप जमकर बैठ गया। इस महाद्वीप के उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैंड सबसे बडी नियामत—हिन्दुस्तान पर मजबूत पंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्क साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जारहा था, और टर्की का हवाला 'योरप का मरीज़' कह कर दिया जाता था। नाममात्र के आज़ाद ईरान पर इंग्लैंड और रूस कब्ज़ा किये हुए थे। स्याम के एक छोटे से टुकडे को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बरमा, हिन्दी-चीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन वगैरा—को योरप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में योरप की सभी ताकतें चीन को कुतर रही थीं और उससे ज़बर्दस्ती रिआयतो पर रिआयतें ऐंठती जारही थीं। सिर्फ एक जापान तना हुआ डटा रहा और बराबरी की हैसियत से योरप के मुकाबिले में अडा रहा। वह अपने एकान्त वास से बाहर निकल आया था और आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ उसने अपने को नई परिस्थिति के अनुकूल बना लिया।

मिस्र के सिवा बाकी अफरीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह योरप का कुछ भी कारगर मुकाबिला नहीं कर सकता था, इसलिए योरप की ताकतें साम्राज्य-वाद की अंधी दौड में इसपर टूट पड़ीं और इस विशाल महाद्वीप को टुकडे-टुकडे कर डाला। इग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्ज़ा कर लिया, क्योंकि वह हिन्दुस्तान के रास्ते में था, और उसके बाद से हिन्दुस्तान पर अपना क़ब्ज़ा जमाये रखने की इच्छा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। १८६९ में स्वेज नहर खोली गई। इससे योरप से हिन्दुस्तान की यात्रा और भी नजदीक हो गई; इस नहर के कारण इग्लैण्ड के लिए

मिस्र का मूल्य और भी बढ़ गया, क्योंकि नहर के मामले में वह दखल दे ही सकता था और इस तरह उसके जाहिरा हिन्दुस्तान के समुद्री मार्ग पर इंग्लैण्ड का कब्जा जम गया ।

इस तरह, यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप सारी दुनिया में पूजीवादी सभ्यता फैल गई और सब जगह योरप हावी हो गया । इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते है । लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, हिन्दुस्तान और अरब और मगोलो के पुराने साम्राज्यवाद से बहुत ज्यादा भिन्न था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और बाजारो का भूखा था । नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था । ऐसा कहा जाता था कि "झण्डे की ओट में व्यापार चलता है" और ज्यादातर बाइबिल अथवा धर्म-प्रचार की ओट में झण्डा आगे बढ़ रहा था। धर्म, विज्ञान, स्वदेश प्रेम, सभी का एक ही मकसद के लिए दुरुपयोग किया जा रहा था, और वह लक्ष्य था दुनिया की दुर्बल और औद्योगिक दृष्टि से और भी पिछडी हुई जातियों का शोषण करना, ताकि बडी-बडी मशीनो के स्वामी और उद्योग-धन्धों के मालिक ज्यादा-से-ज्यादा मालदार हो जायें । सत्य और प्रेम-प्रचार के नाम पर जाने वाला धर्म-प्रचारक उस देश में साम्राज्यवाद का पेशखीमा होता था, और अगर कहीं उसका बाल भी बाका हो जाता, तो उसके देशवासी इसीको वहाँ की जमीन हडपने और जबर्दस्ती रिआयतें ऐंठने के लिए बहाना बना लेते थे ।

उद्योग और सभ्यता के इस तरह पूजीवादी ढांचे में ढाले जाने का लाजिमी नतीजे के तौर पर इस साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। पूंजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को पैदा किया और गहरा बनाया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो । इस राष्ट्रीयता का मतलब सिर्फ अपने देश का प्रेम नहीं था, बल्कि दूसरे सब मुल्कों से नफरत करना था । अपने ही जमीन के टुकडे—मुल्क की तारीफ के गीत गाने और दूसरों के मुल्कों को हिकारत से कुचल डालने की नीति के कारण दूसरे देशों में झगडो और मुसीबतो का बरपा होना लाजमी ही था । योरप के जुदे-जुदे देशो की औद्योगिक और साम्राज्यिक होड़ ने हालत को और भी खराब बना दिया । सन् १८१४-१५ की वियेना की कांग्रेस ने योरप का जो नक़शा तय किया था, विद्वेष का वह एक और दूसरा कारण था। इस नकशे के अनुसार कुछ जातियो को दबा दिया गया था और उन्हे जबर्दस्ती दूसरी जातियो की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था । पोलैण्ड की एक राष्ट्रीयता गायब हो गई थी । आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ एक साम्राज्य था, जिसमें सब तरह की जातियां भरी हुई थीं, और जो एक दूसरे से दिली नफरत रखती थीं । दक्षिण-पूर्व योरप के तुर्क-

साम्राज्य के बालकन प्रदेशो में बहुत-सी गैर-तुर्क जातियां भरी हुई थीं। इटली टुकडे-टुकडे होकर बहुत सी रियासतो में बंटा हुआ था, और उसका एक समूचा हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। योरप के इस नक़्शे को बदल डालने के लिए युद्धो और क्रान्ति के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गई। इनमें से कुछ का जिक्र मैंने अपने पिछले पत्र में किया है, जो वियेना के फैसले के फौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी प्रदेशो से आस्ट्रिया की और मध्य भाग से पोप की सत्ता उखाड़ फेंकी और एक सगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोडे ही दिनो बाद प्रशिया की अध्यक्षता में जर्मनी का एकीकरण हुआ। फ्रांस को जर्मनी ने हराया और अपमानित किया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लारेन छीन लिये, और उसी दिन से फ्रास प्रतिहिंसा और बदले के सपने देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर ही भीतर खूंख़ार बदला लिया जाने वाला था।

अपने महान् नेतृत्व के साथ इंग्लैण्ड यूरोपीय देशो में सबसे अधिक भाग्यशाली था। सारी नियामते उसे हासिल थीं, और उस समय जैसी भी स्थिति थी, उसीसे काफी सतुष्ट था। हिन्दुस्तान नये ढंग के साम्राज्य का नमूना और ऐसा वैभवशाली देश था कि जिसके आर्थिक शोषण के परिणाम-स्वरूप सोने की एक नदी लगातार इंग्लैंड को बहती रहती थी। हिन्दुस्तान पर इंग्लैंड की इस हुकूमत को दूसरे सब भावी साम्राज्य-बनानेवाले ईर्षा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुस्तान के ढग पर वे दूसरी जगहो में साम्रज्य कायम करने की तलाश करने लगे। फ्रास वालो को किसी हद तक कामयाबी मिली, जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, जबकि इनके लिए करीब-क़रीब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय महाशक्तियों के बीच राजनैतिक खींचतान शुरू हो गई। हरेक ताक़त ज्यादा-से-ज्यादा मुल्को को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड-बुन में लगी हुई एक ताक़त दूसरी ताकत के मुकाबिले में आडटती थी। ख़ासतौर पर इंग्लैंड और रूस के बीच तो बराबर तनातनी बनी रहती थी, क्योकि इंग्लैंड को हिन्दुस्तान पर की अपनी सत्ता के ख़िलाफ मध्य एशिया की ओर से रूस का ख़तरा लगा रहता था। इसलिए इंग्लैंड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में, जब रूस ने टर्की को हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दाँत गड़ाने चाहे तो, इंग्लैंड टर्की की मदद के लिए मैदान में आ उतरा और रूस को पीछे खदेड़ दिया। टर्की से कोई ख़ास मुहब्बत होने के कारण इग्लैंड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और हिन्दुस्तान से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी असली वजह थी।

जर्मनी, फ़्रास और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के धीरे-धीरे उसकी बराबरी में आगे

बढ आने के कारण इग्लैंड का औद्योगिक नेतृत्व भी धीरे-धीरे कम होता गया। इस सदी के आखिरी दिनों में परिस्थितियां अपनी हदतक पहुँच चुकी थीं। योरप की इन ताक़तो की महत्त्वाकांक्षाओ की पूर्ति के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। हरेक शक्ति को एक दूसरी से डर, घृणा और ईर्षा थी, और इसी डर और घृणा ने उन्हें अपनी फौजो और लडाकू जहाजो की तादाद बढाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनो के सम्बन्ध में बडी सरगरमी से होड शुरू हुई। दूसरे मुल्को से मुकाबिला करने के लिए, जुदा-जुदा मुल्को में, एक दूसरे से मित्रतायें होने लगीं, और अख़ीर में योरप में एक दूसरे के विरोधी दो तरह के मित्र राष्ट्र बन गये—एक का मुखिया था फ्रास, जिसके साथ इग्लैंड भी गुप्त रूप से हो गया था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। योरप एक फौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धो, व्यापार और शस्त्रास्त्रो में ज्यादा-से-ज्यादा भयकर प्रतिद्वन्द्विता लगातार जोर पकड़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे सकुचित राष्ट्रवादिता की भावना जमाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह किया जासके और उसमें अपने दूसरे पडोसी देशवासियो के ख़िलाफ नफरत पैदा की जासके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता योरप के सिर पर हावी होने लगी। आमद-रफ्त के साधनो की तरक्की जुदा-जुदा मुल्को को एक-दूसरे के ज्यादा से ज्यादा नजदीक ले आई थी और लोग भी ज्यादा तादाद में एक मुल्क से दूसरे मुल्क में जाने आने लगे थे। ऐसी हालत में इस तरह की अन्धी राष्ट्रीयता का बढना ताज्जुब की बात मालूम होती है। ख़याल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पडोसियों को ज्यादा ज्यादा पहचानते जायगे, उनकी ग़लतफहमियां कम होती जायेंगी और तग ख़यालों की जगह उनका दृष्टि-कोण व्यापक होता जायगा। किसी हद तक ऐसा हुआ भी, लेकिन इस नये औद्योगिक पूंजीवाद के मातहत समाज का समूचा ढाचा ही ऐसा था कि राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति में आपस में द्वेष शुरू होगया।

पूर्व में भी राष्ट्र-वादिता बढी। यहां इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियो का मुक़ाबिला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। पहले-पहल पूर्वी देशों की सामन्त सस्थाओ ने विदेशी शासन का मुक़ाविला किया, क्योंकि उन्हें अपनी सत्ता के छिन जाने का अन्देशा था। वे नाकामयाब हुईं, जो कि लाजमी ही था। अब एक तरह की धार्मिक भाव में रगी हुई राष्ट्रवादिता का उदय हुआ। धीरे-धीरे धर्म का यह रग-ग़ायब हो गया और पश्चिमी ढग की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान में विदेशी हुकूमत को टाला गया, और एक प्रचण्ड अर्द्ध-सामन्तीय राष्ट्रीयता को उत्तेजन दिया गया।

एशिया ने बहुत पुराने जमाने से ही यूरोपियन हमलो का मुक़ाबिला शुरू कर दिया था, लेकिन उसे जब यूरोपियन फौजो के पास के नये हथियारो की ताकत और उपयोगिता का पता चला, तो वह मुक़ाबिला बेमन का होगया। विज्ञान और मशीनो की तरक्क़ी ने इन यूरोपियन फौजो को पूर्व की उस समय की किसी भी शक्ति से कहीं ज्यादा ताक़तवर बना दिया। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल बिना ताकत के महसूस करने लगे और बडी निराशा के साथ उन्होने योरप के सामने अपना सिर झुका दिया। कुछ लोगो का कहना है कि पूर्व अध्यात्मवादी है और पश्चिम भौतिकतावादी। इस प्रकार का कथन निरा एकदम भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में, जिस समय योरप आक्रमणकारी के रूप में आया उस समय पूर्व और पश्चिम का वास्तविक अन्तर था पूर्व का मध्यकालीन दक़ियानूसीपन और पश्चिम की औद्योगिक और यान्त्रिक यानी मशीन की प्रगति। हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में योरप की न केवल सैनिक कुशलता से ही, बल्कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके परिणाम-स्वरूप वे अपने आपको फौजी और औद्योगिक मामलो में नीचा महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई और साथ ही विदेशी आक्रमण का विरोध करने और विदेशियो को निकाल बाहर करने की इच्छा भी बलवती हुई। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ऐसी घटी जिसका एशिया के दिमाग़ पर बड़ा अच्छा असर पड़ा। यह घटना थी ज़ार के रूस का जापान द्वारा हराया जाना। छोटे से जापान ने योरप की एक सबसे बडी और सबसे जबर्दस्त ताकत को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगो को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए यह आश्चर्यजनक घटना बेहद खुशी देनेवाली थी। जापान को अब विदेशी हमलों के ख़िलाफ लड़ने वाले सारे एशिया के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाने लगा, और उस समय के लिए सारे एशिया में लोकप्रिय बनगया। दरअसल जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि नहीं था; वह तो योरप की किसी भी दूसरी शक्ति की तरह सिर्फ अपने ही स्वार्थ के लिए लडा था। फिर भी मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस वक़्त जापान की जीत की ख़बर आती थी, तो उससे मुझमें कितना जोश भर जाता था। उस वक्त मैं तुम्हारी-सी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे योरप का साम्राज्यवाद ज्यादा-ज्यादा आक्रमणकारी होता गया, उसी तरह पूर्व में इसका विरोध और मुक़ाबिला करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रो से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोलियन राष्ट्रो तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जन्म लिया। शुरू में फूंक-फूंककर, हलके-हलके कदम

बढाये और फिर अपनी मागो में ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये। हिन्दुस्तान ने राष्ट्रीय महासभा—नेशनल काग्रेस—की शुरूआत और उसके प्रारम्भिक वर्ष देखे है। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी के हमारा बयान को अभी पूरा होने में बहुत देर है। लेकिन यह ख़त काफी लम्बा होगया है और इसलिए अब इसे समाप्त करना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हे उन्नीसवीं सदी की कुछ ख़ास बातो का और वडी-वडी मशीनो का आविष्कार होने के वाद पश्चिमी योरप के सिर पर सवार औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई वहुत सी वातो का हाल वताया था। इन सव में पश्चिमी योरप आगे क्यों होगया, इसका एक कारण था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बडी-वडी मशीनो के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा निहायत जरूरी था।

जैसा कि हम देख चुके है, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को जन्म दिया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज नहीं थी, यह पहले भी मौजूद थी लेकिन अब ज्यादा घनी और सकुचित होती गई। इसने एक ही साथ लोगो को एक सूत्र में बांधा भी और जुदा-जुदा भी किया, जो लोग एक ही राष्ट्रीय दायरे में रहते थे वे आपस में एक-दूसरे के ज्यादा-ज्यादा नजदीक आगये, लेकिन साथ ही उन लोगो से और भी ज्यादा दूर और अलग होगये, जो दूसरे राष्ट्रीय दायरे में रहते थे। एक तरफ हरेक मुल्क में देशभक्ति की वृद्धि हुई, तो दूसरी तरफ उसके साथ ही विदेशियो के प्रति दुर्भाव और अविश्वास भी फैला। योरप में वहां के उद्योग-धन्धो में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरो की तरह घूर रहे थे। इग्लैण्ड को लूट का माल सब से ज्याद मिल गया था, इसलिए वह स्वभावत· ही उससे चिपटे रहना चाहता था। लेकिन दूसरे मुल्को, ख़ासकर जर्मनी, के ख़याल में इग्लैण्ड को हर जगह जरूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए कशमकश बढी और अख़ीर में खुले युद्ध में तब्दील होगई। इसके सिवा और कोई दूसरा रास्ता ही न था। औद्योगिक पूंजीवाद का सारा सगठन और उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद दुनिया को सघर्ष और लडाई-झगडो की तरफ ही ले जाते है। जन्म से ही उनमें

ऐसी परस्पर-विरोधी बाते मिली हुई है, जिनका आपस में कभी मेल हो नहीं सकता क्योंकि उनका आधार है लड़ाई, होड़ और आर्थिक शोषण। इस तरह पूर्व में खुद साम्राज्यवाद की उपज राष्ट्रीयता ही उसकी कट्टर शत्रु बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातो के बावजूद भी पूजीवादी सभ्यता ने बहुत-से लाभदायक पाठ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योकि बडी-बडी मशीनो और व्यापक उद्योगो के चालू होने के पहले सगठन की बहुत ज्यादा जरूरत रहती है। इसने बडे-वडे कारबारो में सहयोग का पाठ सिखाया। इसने कार्य-सचालन की कुशलता और समय की पाबन्दी करना सिखाया। जबतक ये गुण न हो, तबतक बडे कारखाने या फैक्टरियाँ अथवा रेले चलाना मुमकिन नहीं है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ये गुण पश्चिम के अपने खास गुण है और पूर्व में ये नहीं पाये जाते। लेकिन इस बात में और भी बहुत-सी दूसरी बातो की तरह पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नहीं है। उद्योगवाद की वजह से इन गुणो का विकास हुआ है, और क्योकि पश्चिम उद्योगवादी है, इसलिए उसे ये गुण प्राप्त है, जबकि पूर्व अब भी ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग प्रधान नहीं, इसलिए इनसे महरूम है।

औद्योगिक पूंजीवाद ने एक और महान सेवा की। इसने दुनिया को यह सिखाया कि किस तरह बडी-बडी मशीनो, कोयले और भाप की मिली हुई ताक़त की की मदद से धन पैदा किया जा सकता है। इससे यह पुरानी आशंका भी मिट गई कि दुनिया में उसकी आवश्यकता की पूर्ति के साधन काफी नहीं है और इस कारण बहुत बडी तादाद में लोगों को ग़रीब बना रहना पडेगा। विज्ञान और मशीन की मदद से दुनिया के प्राणियो के लिए काफी खाना और कपड़ा और जीवन के लिए आवश्यक हरेक दूसरी चीज तैयार की जा सकती है। इस तरह चीजें पैदा करने की समस्या कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो, हल हो गई, और बस यहीं आकर ठहर गई। सम्पत्ति का उपार्जन तो बिलाशक कसरत से होने लगा, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब होगये। पूर्वी और अफरीकन देशों में यूरोपीय सत्ता एकदम नगी और बडी बेहयाई से आर्थिक शोषण कर रही थी। बिचारे वहाँ के अभागे निवासियो की फिक्र करनेवाला कोई न था। लेकिन इतने पर भी पश्चिमी योरप में भी ग़रीबी बनी ही रही और ज्यादा-ज्यादा प्रत्यक्ष और व्यापक होती गई। कुछ समय के लिए तो बाकी दुनिया के शोषण से पश्चिमी योरप में खूब दौलत आई। इस सम्पत्ति का अधिकाश उच्चवर्ग के धनिक लोगो के पास रहा, हा, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर निम्न-ग़रीब वर्गों के पास भी पहुँच गया, और उनके रहन-सहन का ढंग कुछ ऊंचा होगया। वहाँ की आबादी भी बहुत ज्यादा बढ़ गई।

लेकिन सम्पत्ति की वृद्धि और रहन-सहन के ढग की उन्नति हुई ज्यादातर एशिया, अफरीका और बिना उद्योग-धन्धो वाले देशो के रहनेवालो के रक्त-शोषण के बल पर ही। इस आर्थिक शोषण और सम्पत्ति के प्रवाह ने कुछ अर्से के लिए पूजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातो को ढक दिया। इस तरह अमीर और ग़रीब के बीच का अन्तर बना ही रहा, इतना ही नहीं, यह अन्तर और ज्यादा बढता गया। ये दोनो दो भिन्न जातियाँ, जुदा राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान अग्रेज राजनीतिज्ञ और उपन्यासकार बेञ्जामिन डिसरैली ने इनका वर्णन इस तरह किया है—"ये दो जातियाँ, जिनके बीच कोई सम्पर्क नहीं है, कोई पारस्परिक सहानुभूति नहीं है, जो एक-दूसरे की आदतो, विचारो और भावनाओ से ऐसी अपरिचित है, मानो वे जुदा-जुदा दायरो में रहती हो अथवा जुदा-जुदा गृहो या नक्षत्रो के रहनेवाले हो, जो दूसरे तरह के पोषण से बनी हैं, जिनका पालन दूसरे तरह के भोजन से हुआ है, जिन पर जुदा-जुदा रिवाजो का असर पड़ता है, और जिनका शासन भी एक ही क़ानून से नहीं होता · · · · हा, ऐसी है ये दो जातियाँ—अमीर और ग़रीब !"

उद्योग-धन्धो की नई अवस्था बडी-बडी फैक्टरियो में बडी तादाद में कारीगरो को लाई, और इस तरह एक नई फैक्टरी के मजदूरो की श्रेणी का जन्म हुआ। ये लोग किसानो और खेत पर काम करनेवाले मजदूरो से कई तरह से जुदी तरह के थे। किसान को बहुत कुछ मौसम और वर्षा पर निर्भर रहना पडता है। ये बातें उसके वश में नहीं है, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणो की वजह से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणो को भुला देता है, एक नीरस और मायूस जीवन बिताने लगता है, और अपने आपको एक ऐसे बेरहम भाग्य के भरोसे पर छोड़ देता है, जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन फैक्टरी में काम करनेवाला मजदूर मशीन पर, इन्सान की बनाई हुई चीज पर, काम करता है; बिना किसी मौसम या बारिश की परवाह किये वह माल तैयार करता है; वह सम्पत्ति का उपार्जन करता है, लेकिन वह देखता है कि वह ज्यादातर दूसरो के पास चली जाती है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। वह कुछ हदतक अर्थशास्त्र के चालू नियमो को भी देखता-समझता है, इसलिए दैवी कारणो का ख़याल नहीं करता और किसान की तरह अन्ध या मिथ्या विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओ को दोष नहीं देता, वह दोषी ठहराता है समाज या सामाजिक सगठन को, और ख़ासकर फैक्टरी के पूजीपति मालिक को, जो उसकी मेहनत के मुनाफे का इतना बडा भाग हजम कर जाता है। उसे वर्ग-चेतना या श्रेणी-ज्ञान हो जाता है, उसे कई तरह के वर्ग दिखाई

देने लगे है, और वह देखता है कि उच्च वर्ग उसके वर्ग का एक तरह से शिकार कर रहा है। इसका नतीजा होता है असन्तोष और विद्रोह । असन्तोष की शुरूआत अस्पष्ट और धीमी होती है; प्रारम्भिक विद्रोह अन्धे, विचार-हीन और कमजोर होते है और सरकार उन्हे तुरन्त ही कुचल देती है, क्योकि वह भी तो सर्वथा फैक्टरियो और कारखानो को चलानेवाले मध्यमवर्ग के हितो की ही नुमाइन्दा है। लेकिन पेट की आग को ज्यादा दिनों तक दाबकर रक्खा नहीं जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मजदूर को अपने अन्य साथियो के साथ की एकता के रूप में शक्ति का एक नया स्रोत दिखाई देने लगता है। इसलिए मजदूरो की रक्षा और उनके अधिकारो के लिए ट्रेड यूनियन या 'मजदूर संघ' आदि सस्थायें जन्म लेती है। शुरू में ये संस्थायें गुप्त रहती है, क्योकि सरकार मजदूरो को आपस में संगठित भी नहीं होने देना चाहती । यह बात ज्यादा-ज्यादा साफ होती जाती है कि सरकार निश्चित रूप से वर्ग विशेष की सरकार है, और इस तरह से उसकी हिफाजत करने पर तुली रही है। कानून भी वर्ग-विशेष के कानून होते है। धीरे-धीरे मजदूर ताकत हासिल करते जाते है और उनकी संस्थायें—ट्रेड यूनियनें—ताक़तवर बनती जाती है। जुदा-जुदा क़िस्म के मजदूर देखते है कि जबर्दस्त शोषक वर्ग के ख़िलाफ़ उनके हित असल में एक ही है। इसलिए जुदी-जुदी ट्रेड-यूनियनें आपस मे सहयोग कर लेती है और एक देश के फैक्टरी-मजदूरो का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला कदम है जुदे-जुदे मजदूरो का आपस में मिल जाना, क्योकि वे भी यह महसूस करते है कि उनके भी हित एक ही है और एक-समान ही शत्रु है। इस तरह 'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ' की आवाज उठती है, और मजदूरो के अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कायम होते है। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ल इख़्तियार करता है। इस तरह जहाँ कहीं भी औद्योगिक पूजीवाद सिर उठाता है, वहीं मजदूर पूंजीवाद का मुकाबिला करने लगता है।

मै बडी तेजी से आगे बढ़ गया हूँ और अब पीछे लौटना चाहिए। लेकिन यह उन्नीसवीं सदी की दुनिया, अक्सर एक-दूसरे की विरोधी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियो का गिरोह है कि उन सब को नजर में रखना बहुत मुश्किल है। मै सोचता हूँ कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और अमीरी और ग़रीबी की इस अजीब मिलावट का आखिर तुम क्या करोगी? लेकिन जीवन खुद एक अजीब मेल है। जिस रूप में है, उसी में हमें इसे लेना होता है और तब इसे समझना होता है, और तब इसे सुधारना होता है।

इस बेमेल बातों के घालमेल ने योरप और अमेरिका के बहुत से लोगो को सोच

में डाल दिया। नेपोलियन के पतन के बाद, सदी की शुरूआत में, किसी भी यूरोपियन देश में आज़ादी नाममात्र को ही रह गई थी। कुछ देशो में तो बादशाहो का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशो में अमीर-उमरावो और धनिक वर्ग के एक छोटे-से गिरोह के हाथ में हुकूमत थी जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ। उदार भावनावो को हर जगह कुचला जा रहा था लेकिन इतने पर भी अमेरिका और फ्रास की राज्यक्रान्तियो ने लोगो को प्रजातन्त्र और राजनैतिक स्वतन्त्रता के विचारो का ज्ञान करा दिया था, और उदार विचार के लोग उनकी सराहना करते थे। अवश्य ही, प्रजातन्त्र ही राज्य और जनता की सब तरह की तकलीफो और बुराइयो का एकमात्र इलाज समझा जाने लगा। प्रजातन्त्र का आदर्श यह था कि किसी के कोई विशेषाधिकार न होने चाहिएँ, राज्य हरेक व्यक्ति को राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से समान हैसियत का समझकर एकसा बर्ताव करे। अवश्य ही लोग कई बातों में एक-दूसरे से बहुत भिन्नता रखते है, कुछ लोग दूसरो की बनिस्बत ज्यादा मज़बूत होते है, कुछ ज्यादा बुद्धिमान और कुछ ज्यादा नि स्वार्थ होते है। लेकिन प्रजातन्त्र के पक्षपातियों का कहना था कि उनमें चाहे और कुछ भी अन्तर हो, मनुष्यो का राजनैतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए, और इसे वह प्रत्येक व्यक्ति--हरेक शख़्स को मताधिकार देकर क़ायम करना चाहते थे। ऊँचे विचारो के विचारको और उदार मतवादी लोग प्रजातन्त्र के गुणो में बहुत ज्यादा विश्वास करते थे, और इसलिए उसे स्थापित करने के लिए वे सिर तोड़ कोशिश भी कर रहे थे। अनुदार और प्रतिगामी लोगो ने उनका विरोध किया, फलत हर जगह जबर्दस्त संघर्ष शुरू हो गया। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। मताधिकार बढ़ानें, अर्थात् पार्लमेण्ट के सदस्यो के चुनने का अधिकार कुछ अधिक लोगो को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध छिड़ने ही वाला था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहों पर प्रजातन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के ख़ातमे तक पश्चिमी योरप और अमेरिका में अधिकांश लोगो को कम-से-कम मताधिकार तो मिल ही गया। प्रजातन्त्र उन्नीसवीं सदी का एक महान आदर्श रहा है, यहाँतक कि इस सदी को प्रजातन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अख़ीर में प्रजातन्त्र की विजय हुई, लेकिन जब यह अधिकार मिला तो दूसरी तरफ लोगो का इसपर से विश्वास उठने लगा। ग़रीबी और मुसीबतो और पूँजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातो अथवा बुराइयो का ख़ातमा करने में उन्होंने इसे असफल होते पाया। उन्होंने सोचा कि भूख से पीडित मनुष्य को मताधिकार मिलने से क्या फायदा हुआ, और उसे मिली हुई आज़ादी का क्या महत्त्व, अगर उसका मत या सेवायें एक समय के भोजन के मूल्य पर ख़रीदी जासके?

इसलिए प्रजातन्त्र बदनाम हो गया, या यो कहना ठीक होगा कि राजनैतिक प्रजातन्त्र का पक्ष कमज़ोर होगया। लेकिन यह बात उन्नीसवी सदी के दायरे से बाहर की है।

प्रजातन्त्र का सम्बन्ध आज़ादी के राजनैतिक स्वरूप के साथ था। एकतन्त्र अथवा दूसरे निरंकुश शासन के ख़िलाफ यह एक प्रतिक्रिया मात्र थी। उस समय की औद्योगिक समस्याओ का और गरीबी अथवा वर्ग-सघर्ष को रोकने का इसने कोई ख़ास हल नहीं निकाला। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हित की दृष्टि से अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज उन्नत हो जायगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपनी मरज़ी के मुताबिक़ काम करने की खयाली आज़ादी दी। यह एक तरह से लेसे-फेयर (Laissez-Faire) का सिद्धान्त है, जिसके बारे में, मेरा ख़याल है कि अपने किसी पहले पत्र में, मैं तुम्हे लिख चुका हूँ। लेकिन ज़ाती आज़ादी का सिद्धान्त असफल रहा, क्योकि जिस आदमी को उजरत पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आज़ाद रहना नामुमकिन बात है।

औद्योगिक पूंजीवाद में जो बडी भारी दिक्क़त सामने आई, वह यह थी कि जो लोग काम करते और इस तरह जाति या समाज की सेवा करते थे, उन्हे बहुत कम मजदूरी मिलती थी, उन की गाढी मेहनत का फायदा मिलता था उन दूसरे लोगो को जो बिलकुल काम नहीं करते थे। इस तरह से परिश्रम से लाभ का या मेहनत से मेहनताने का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था। इसका नतीजा एक तरफ तो हुआ मेहनत करने वालो का पतन और ग़रीबी और दूसरी तरफ एक ऐसे वर्ग का निर्माण, जो उद्योग-धन्धे में किसी तरह का काम किये, या उसकी सम्पत्ति की वृद्धि में किसी तरह भी हाथ बढ़ाये बिना ही, उसपर निर्भर करता, या यो कहो कि उसके टुकडो पर पनपता था। इनमें पहले को किसान समझलो, जो खेत पर काम करता है, और दूसरे को ज़मींदार, जो खुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फायदा उठाता है। परिश्रम के फल का यह बटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था, और इसलिए ख़ास बात यह हुई कि मजदूरो ने, हमेशा कुचले हुए किसानो के स्वभाव के ख़िलाफ, यह महसूस किया कि ऐसा होना अन्यायपूर्ण है, और इसलिए उन्होंने उसका विरोध किया, और जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, उनका यह विरोध ज्यादा-से ज्यादा अप्रिय रूप धारण करता गया। पश्चिम के सभी औद्योगिक देशो में ये भेदभाव साफ तौर पर नज़र आने लगे और विचारशील और उत्साही लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचार-धारा पैदा हुई, जिसे साम्यवाद कहा जाता है, और जो पूँजीवाद की ही उपज और साथ ही उसकी शत्रु है, और जो शायद उसको जड़ से उखाड़ करके ही रहेगी। इंग्लैण्ड में तो इसने मुनासिब से ज्यादा

नरम रूप धारण किया, लेकिन फ्रास और जर्मनी में यह ज्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे उसके विस्तार के मुकाबिले में आवादी कम होने की वजह से तरक्की की काफी गुंजाइश थी और इसलिए पूजीवाद की कृपा से पश्चिमी योरप में अन्याय और क्लेश जिस हद तक वढ गये थे, उतने इस देश में एक अर्से तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक शख्स पैदा हुआ जो वाद में साम्य-वाद का पैग़म्बर और उसके उस रूप का जनक सिद्ध हुआ जो कम्यूनिज्म या साम्य-वाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह कोई अस्पष्ट विचारो वाला फ़िलाफर अथवा तात्विक सिद्धान्तो की चर्चा करने वाला अध्यापक या प्रोफेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक फिलासफर था और उसकी योजना थी विधान के नियमों के राजनैतिक और आर्थिक समस्याओ को सावित करके दुनिया की मुसीवतो को दूर करने का उपाय खोज निकालना। उसका कहना था—"अव तक दर्शनशास्त्र का काम दुनिया को समझना मात्र रहा है, अव समाजवादी दर्शन का लक्ष्य होना चाहिए उसका—ससार का परिवर्त्तन।" एञ्जेलस नाम के एक दूसरे शख्स से मिलकर उसने 'कम्यूनिस्टिक मेनिफेस्टो'—'साम्यवादी घोषणापत्र'—प्रकाशित किया, जिसमें उसके सिद्धान्तो की रूप-रेखा दी गई थी। वाद में उसने जर्मन भाषा में 'पूंजी' (Das Kapital) नाम का एक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढग से विश्व-इतिहस की आलोचना करते हुए यह बताया कि समाज किस दशा में क़दम बढा रहा है और क्योकर इस पद्धति का जल्दी-से-जल्दी ख़ातमा किया जासकता है। यहाँ मैं मार्क्स के सिद्धान्त समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन मैं तुम्हें यह जरूर याद कराना चाहता हूँ कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का समाजवाद की उन्नति पर वडा ज़वरदस्त असर हुआ और आज भी यह समाजवादी रूस का धर्म-ग्रंथ हो रहा है।

दूसरी मशहूर किताव, जो इस सदी के बीच के क़रीव इग्लैंड में प्रकाशित हुई, थी डर्विन की 'प्राणियो की उत्पत्ति' (Origin of Species)। डार्विन प्रकृति-वादी था, यानी वह प्रकृति और खास वनस्पतियों और जीव-जन्तुओ के निरी-क्षण और अध्ययन में लगा रहता था। वहुत-से उदाहरणो की मदद से उसने यह वतलाया कि किस तरह वनस्पति और जीव-जन्तु प्रकृति में विकसित हुए, प्राकृतिक चुनाव की पद्धति से किस तरह जन्तुओ का एक वर्ग दूसरे में परिणत होगया और किस तरह सामान्य रूप धीरे-धीरे ज्यादा सयुक्त अथवा पेचीदा हो गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क दुनिया के जीव-जन्तु और मनुष्य की सृष्टि के वारे में प्रचलित कुछ धार्मिक सिद्धान्तो के एकदम खिलाफ था। इसलिए इस समय वैज्ञानिको और इन

धार्मिक सिद्धातों के पक्षपातियो के बीच एक बड़ा बहस-मुबाहिसा उठ खड़ा हुआ। तथ्यो के सम्बन्ध में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना जीवन के साधारण दृष्टिकोण के सम्बन्ध में था। संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण में भय जादू-टोना और मिथ्या विश्वास भरे हुए थे। तर्क अथवा दलील को आगे नहीं बढ़ने दिया जाता था, और लोगो को जो कुछ बताया जाता था, उसीमें विश्वास करने को कहा जाता था। उन्हे यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं था कि ऐसा क्यो होता है। बहुत से विषय पवित्रता और धार्मिकता के गुप्त ढक्कन में ढके रहते थे और उन्हे खोलने या छूने का किसी को अधिकार नहीं था। विज्ञान की पद्धति और स्पिरिट इससे बहुत जुदी थी। उसे तो हरेक चीज को खोज निकालने की जिज्ञासा रहती थी, वह अन्दाज के सहारे किसी बात को मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की खयाली पवित्रता ही उसे डरा सकती थी। वह हरेक चीज की तह तक गोता लगाता था, मिथ्या विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ ऐसी ही बातो में भरोसा करता था जो अनुभव अथवा तर्क से सिद्ध की जा सकती हो।

इस जड़ अथवा पथराई हुई धार्मिक भावना को विज्ञान की स्पिरिट ने लड़ाई में जीत लिया। ज्यादातर लोग जो इन विषयो पर, अठारहवीं सदी में, बहुत पहले से ही विचार करते रहते थे, अब तर्कवादी हो गये। तुम्हे याद होगा कि बडी क्राति से पहले फ्रांस में बहनेवाली दार्शनिक विचार-धारा का मैंने तुमसे जिक्र किया था। लेकिन अब समाज के अन्दर परिवर्त्तन और भी गहरी जड़ जमाता गया। औसत दर्जे के शिक्षित मनुष्य पर भी अब विज्ञान की तरक्की का असर होने लगा। सम्भवत. न तो उसने इस विषय पर ही बहुत गहराई से विचार किया होगा, न विज्ञान के विषय में ही वह कुछ बहुत ज्यादा जानता था। लेकिन फिर भी वह अपने सामने होनेवाले आविष्कारो और खोजो की लीला से प्रभावित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन और ऐसी ही बहुत-सी दूसरी चीजें एक-दूसरे के बाद आईं, और ये सब वैज्ञानिक शोध की ही उपज थीं। विज्ञान की विजय के रूप में उनका स्वागत हुआ। विज्ञान का उद्योग केवल मनुष्य की ज्ञानवृद्धि करने में ही नहीं हुआ बल्कि प्रकृति पर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने में भी उसका उपयोग होने लगा। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि विज्ञान की विजय हुई और मनुष्य जाति ने इस सर्वशक्तिमान नये देवता के सामने भक्तिपूर्वक सिर झुका दिया। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक बहुत सन्तुष्ट, अपने विषयो में नि शक और अपनी धारणाओ में बडे पक्के हो गये। आधी सदी हुई, तब से विज्ञान ने बडी जबर्दस्त तरक्क़ी करली है, लेकिन आज के वैज्ञानिक का दृष्टिकोण, उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक के उस संतोष

और नि शकता के दृष्टिकोण से बहुत जुदा है । आज एक सच्चा वैज्ञानिक महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर विशाल और असीम है और हालांकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह अपने पूर्वगामियो की अपेक्षा कही ज्यादा नम्र और सकोचशील है ।

उन्नीसवीं सदी की दूसरी विशेषता थी योरप में सार्वजनिक शिक्षा की जबरदस्त तरक्क़ी का होना । शासक वर्ग के बहुत-से लोगो ने इसका बडे जोरो से विरोध किया । उनका कहना था कि इससे जन-साधारण असन्तुष्ट, अराजक, अशिष्ट और ईसाई-धर्म से रहित या अधर्मी बन जायेंगे । इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म अज्ञान या जहालत में और धनिक और सत्ताधारियो की स्वेच्छा-पूर्वक आज्ञा-पालन या फरमाबरदारी करने में है । लेकिन इस विरोध के करते हुए भी प्राइमरी अर्थात् प्रारम्भिक स्कूल क़ायम हुए और सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हुआ । उन्नीसवीं सदी की दूसरी बहुत-सी विशेषताओ की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक परिणाम था । क्योकि बडे-बडे कारख़ानो और मशीनो के लिए औद्योगिक कुशलता की जरूरत थी और यह केवल शिक्षा से ही आ सकती थी । इस युग के समाज को सब तरह के होशियार कारीगर और मजदूरो की बडी सख़्त जरूरत थी; उसकी यह जरूरत सार्वजनिक शिक्षा से पूरी हुई ।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस लम्बे-चौडे फैलाव ने पढे-लिखे समुदाय की एक बहुत बडी श्रेणी पैदा करदी । इनको शिक्षित कहना तो मुश्किल था, लेकिन वे पढ़-लिख सकते थे और इस तरह अख़बार पढने की आदत चल पडी । सस्ते अख़बार निकले और आश्चर्य-भरी तादाद में उनका प्रचार हुआ । लोगों के दिमाग़ो पर इसका बडा जबर्दस्त असर पडने लगा । अक्सर ये लोगो को ग़लत रास्ते पर ले जाते और उनके जोश को पडौसी मुल्क के ख़िलाफ उभाडते रहते थे और इस तरह युद्ध छिडवा देते थे । लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' या 'अख़बार' एक प्रभावशाली शक्ति हो गई ।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, उसका ज्यादातर हिस्सा योरप पर और ख़ासकर पश्चिमी योरप पर लागू होता है । किसी हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी वह घटित होता है । दुनिया के बाक़ी हिस्से, यानी जापान को छोड़कर तमाम एशिया और अफरीका यूरोपीय नीति के शिकार बनें हुए उसके मूक एजेण्ट मात्र थे । जैसा कि मै कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी योरप की सदी थी । सारा दृश्य योरपमय दिखाई देता था, योरप दुनिया के रगमञ्च का केन्द्र बना हुआ था । पुराने जमाने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे युग हो चुके है, जबकि योरप पर एशिया का प्रभुत्व था । ऐसें भी युग थे, जब मिस्र, इराक़, हिन्दुस्तान, चीन, यूनान अथवा रोम या अरब सभ्यता

और उन्नति के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु पुरानी सभ्यतायें अपने आप खतम होगई और पथरा गई। परिवर्त्तन और उन्नति के जीवनदायक तत्त्वो ने उन्हे छोड़ दिया और जीवन-शक्ति अब दूसरे मुल्को में वह निकली। अब योरप की बारी थी; और योरप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो सका, क्योकि आमद-रफ़्त के साधनो की तरक्क़ी ने दुनिया के हरेक हिस्से को सहूलियत और तेजी से पहुँच के नजदीक ला दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपियन सभ्यता को विकसित होते हुए देखा। इसे मध्यम-वर्गीय सभ्यता कहा जाता है, क्योकि औद्योगिक पूजीवाद से पैदा हुई मध्यमश्रेणी का ही इस पर प्रभुत्त्व था। मैं तुम्हे इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर विरोधी और नुकसानदेह बातें बतला चुका हूँ। हम हिन्दुस्तान और एशिया के निवासियो ने खास-तौर पर इन बुराइयो को देखा और उनसे बहुत ज्यादा नुक़सान उठाया है। लेकिन कोई भी देश या जाति महानता को प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक कि उसमें महानता का थोड़ा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी योरप में वह माद्दा था। योरप की प्रतिष्ठा उसकी सैनिक शक्ति पर इतनी निर्भर नहीं थी, जितनी उन गुणो पर, जिन्होने कि उसे महान बनाया। यहाँ सब जगह जीवन और चैतन्य और निर्माण शक्ति बहुतायत से साफ दिखाई दे रही थी। बडे-बडे कवि और लेखक, दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता, संगीतज्ञ और शिल्पी और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि इस समय पश्चिमी योरप में एक मामूली आदमी का भाग्य पहले किसी भी समय की अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा था। राजधानियो के खास शहर—लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क, ज्यादा से ज्यादा बडे होते गये, उनकी इमारतें ज्यादा-ज्यादा आलीशान होती गई, ऐशोआराम बढ़ते गये और विज्ञान ने मनुष्य की मिहनत और घिस-घिस को कम करने और जीवन के सुख और आनन्द में वृद्धि करने वाले हजारो उपाय ढूढ निकाले। खुशहाल अथवा समृद्ध लोगो के जीवन में मधुरता और शिष्टता अथवा मिठास और तहजीब आ गई और उनमें एक तरह का सन्तोष, आत्म-विश्वास और सौजन्य पैदा होगया। यह एक सभ्यता की बिलकुल मीठी दुपहरी-सी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्सो में योरप खुशनुमा और खुशहाल बन गया था, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर सस्कृति और सभ्यता कायम रहेगी और सफलता पर सफलता प्राप्त करती जायगी, लेकिन अगर तुम इसकी सतह के नीचे झाककर देखोगी, तो तुम्हे एक अजीब गोलमाल और बहुत-से नजारे दिखाई देंगे। क्योकि, असल में यह समृद्ध सस्कृति योरप के ज्यादातर उच्च वर्गों के लिए ही बनी थी और बहुत से देशो और अनेक जातियो के शोषण

पर यह टिकी हुई थी। तुम्हे इसमें वे एक-दूसरे से विरोधी बाते, जिनका ज़िक्र मैंने तुमसे किया था और राष्ट्रीय घृणा और साम्राज्यवाद की भयानक और क्रूर शकले दिखाई देंगी। तब तुम्हारा इस उन्नीसवी सदी की सभ्यता के स्थायित्व या सौन्दर्य अथवा मोहकता में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफी सुन्दर था लेकिन इसके दिल में एक नासूर हुआ था; इसके स्वास्थ्य और प्रगति की बातें तो बहुत लम्बी-चौडी होती थीं, लेकिन इस मध्यमवर्गीय सभ्यता के जीवन-तत्त्वो को पतन का कीडा अन्दर-ही-अन्दर कुरेदे जा रहा था।

सन् १९१४ ई० में महानाश आ ही गया। सवा चार वर्ष की लडाई के बाद योरप उसमें से बच जरूर निकला, लेकिन ऐसे भयकर घावो के साथ जो अभी तक भरे या अच्छे नहीं हुए हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में मैं तुम्हे फिर बताऊँगा।

अगर तुम सब्र रक्खो तो हरेक बात ख़तम हो जायगी। और इसलिए प्यारी इन्दु, नेपोलियन के पतन से महायुद्ध तक के सौ बरसो का यह विस्तृत अवलोकन पूरा होगया है, और उसकी आखरी लाइन लिखी जा रही है। तुम्हे यह जानकर सन्तोष करना चाहिए कि यह वर्णन ज्यादा लम्बा नहीं हुआ। मुझे इसके लिए अपने आप पर भी बहुत क़ाबू रखना पडा है।

: १०९ :

हिन्दुस्तान में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमनें उन्नीसवीं सदी का काफी लम्बा हिस्सा देख लिया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सो का और बारीकी से निरीक्षण करें। शुरू में हम हिन्दुस्तान को लेते हैं।

कुछ अर्से पहले मैंने तुम्हे बताया था कि अँग्रेजो ने हिन्दुस्तान में किस तरह अपने प्रतिद्वन्द्वियो पर विजय पाई। नेपोलियन की लडाइयो के दिनो में फ्रांस वाले यहाँ से जड से उखाड फेंके गये थे। दक्षिण के मराठो, मैसूर के टीपू सुल्तान और पजाब के सिक्खों ने अँग्रेजो को कुछ अर्से के लिए आगे बढ़ने से रोक तो रक्खा लेकिन वे ज्यादा अर्से तक उनका मुक़ाबिला नहीं कर सके। अँग्रेज साफ तौर पर सब से ज्यादा मजबूत और सब से ज्यादा मुस्तैद ताक़त थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका सगठन बढ़िया था, और इन सबसे ज्यादा पीठ पर मदद के लिए उनके पास समुद्री ताक़त थी। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी

उन्हे जड से नहीं उखाडा जा सकता था, क्योकि समुद्री रास्तो पर उनका अधिकार होने के कारण वे नई मदद मंगा सकते थे। लेकिन स्थानीय अर्थात् देशी ताक़तो के लिए हार का मतलब होता था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज सिर्फ ज्यादा मुस्तैद लडाके और अच्छी व्यवस्था शक्ति रखने वाले ही न थे, बल्कि अपने स्थानीय यानी हिन्दुस्तानी प्रतिद्वन्द्वियो से कही ज्यादा चालाक भी थे, और उनके आपसी विरोधो या झगडो से बराबर फायदा उठाते रहते थे। इस तरह ब्रिटिश शक्ति लाज़िमी तौर से पैर फैलाती गई और सब प्रतिद्वन्द्वी, एक-एक करके, और अक्सर उसी दूसरे की मदद से जिसकी बारी उसके बाद ही आने वाली थी, पछाड दिये गये। यह एक ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान के ये सामन्त सरदार उस समय कैसे नादान और अदूरदर्शी थे। बाहरी दुश्मन के खिलाफ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होने कभी ख़याल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथो लड़ता था और हार जाता था, जोकि निश्चित ही था।

जैसे-जैसे अंग्रेजी सत्ता की ताकत बढती गई, वह ज्यादा-ज्यादा अत्याचारी औ खूंख्वार होती गई। वह बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही, लडाई छेड़ने लगी। ऐसी बहुत-सी लड़ाइयां हुई। उन सब का वर्णन देकर मैं तुम्हे उकताना नहीं चाहता : लडाइयां कोई दिलचस्प विषय नहीं है, और जरूरत से कहीं ज्यादा महत्त्व इनको इतिहास में दिया गया है। लेकिन मेरा चित्र अधूरा ही रह जायगा, अगर मै उनके विषय में थोड़ा-बहुत भी न कहूँ।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेजो के बीच हुए दो युद्धो का हाल मैं तुम्हे पहले बता चुका हूँ। इनमें हैदरअली बहुत दूर तक कामयाब रहा। उसका लडका टीपू सुलतान अंग्रेजो का कट्टर दुश्मन था। उसका ख़ातमा करने के लिए दो और लड़ाइयां, एक सन् १७९० से १७९२ तक और दुसरी १७९९ में हुई। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो।

अब अंग्रेजो की सत्ता को ललकारने वाले अकेले मराठे रह गये। पश्चिम में पेशवा, इधर ग्वालियर के सिन्धिया और इन्दौर के होल्कर तथा कुछ और सरदार उनका मुक़ाबिला कर रहे थे। लेकिन ग्वालियर के महादजी सिन्धिया, और पेशवा के मंत्री नाना फड़नवीस इन दो राजनीतिज्ञो की मृत्यु के बाद, जो क्रमश १७९४ और १८०० में हुई, मराठो की ताकत टुकडे-टुकडे होगई। फिर भी मराठो ने बहुत-सी टक्करे लीं, और १८१९ की उनकी आख़िरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेजो को और कई बार हराया। मराठे सरदार अलग-अलग करके हराये गये; हरेक एक-दूसरे

को मदद न पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेज़ो की मातहती कबूल करके अधीन या रक्षित शासक बन गये। बडोदा के राजा ने तो इससे भी पहले विदेशी सत्ता के साथ समझौता कर लिया था।

मराठो का बयान खतम करने से पहले मै एक नाम का और जिक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य भारत मे काफी प्रसिद्धि पा चुका है। यह नाम है अहल्याबाई का, जो सन् १७६५ से १७९५ तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की शासिका थीं। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह एक तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के शासन मे उसे भारी कामयाबी मिली। और हाँ, उसने कभी परदा नहीं किया। मराठों ने कभी परदे को माना भी नहीं। वह खुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार मे बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे से गाँव से ऊँचा उठाकर एक समृद्ध शहर बना दिया। उसने लड़ाइयो को टलाया, शान्ति कायम रक्खी, और अपने राज्य को मालदार और खुशहाल बनाया, और वह सब किया उस जमाने मे जबकि हिन्दुस्तान का ज्यादातर हिस्सा बग़ावत की सी हालत मे था इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत मे एक सन्त या साध्वी की तरह मानी और पूजी जाती हो।

मराठो की आखिरी लड़ाई से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ तक, अंग्रेज़ो का नैपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाडी इलाके में उन्हें बडी दिक्कतें उठानी पड़ीं, लेकिन आखिर मे उनकी जीत हुई और देहरादून का यह जिला, जहाँ पर जेल मे बैठा हुआ मै यह पत्र लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल अंग्रेजी हुकूमत में आगये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में ख़त लिखते हुए मैने तुम्हे बताया था कि किस अजीब तरीक़े से चीनी फौज तिब्बत को पार करके हिमालय तक चली आई और गुरखो को उन्हींके घर नेपाल में हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल-युद्ध से सिर्फ बाइस बरस पहले की है। तब से नैपाल ने बाक़ायदा चीन की मातहती कबूल करली। मुझे मालूम नहीं कि वह अब भी वैसा मानता है या नहीं। यह भी एक अजीब, बहुत ही पिछडा हुआ, बाक़ी दुनिया से बहुत कुछ अलग कटा हुआ और फिर भी खुशनुमा तरीके से बसा हुआ और कुदरती दौलत से भरा-पूरा देश है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहत या रक्षित राज्य नहीं है। यह स्वतन्त्र राज्य कहलाता है, लेकिन अंग्रेज इस बात की सावधानी रखते है कि इसकी स्वतन्त्रता सीमा के अन्दर ही रहे। वहाँ के बहादुर और जगी लोग—गुरखे—हिन्दुस्तान की अंग्रेजी फौज में भरती किये जाते है और हिन्दुस्तानियो को कुचलने और दबाये रखने के लिए काम में लाये जाते है।

पूर्व में बरमा ठेठ आसाम तक फैल गया था। इसलिए लगातार बढते रहने वाले अग्रेजो से उसकी मुठभेड़ होना लाजिमी ही था। बरमा से तीन लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें हरबार अंग्रेज उसका कोई-न-कोई इलाका अपने राज्य में मिलाते गये। सन् १८२४-२६ में हुई पहली लडाई का नतीजा हुआ आसाम का अग्रेजो की अधीनता में आना। १८५२ की दूसरी लड़ाई में दक्षिणी बरमा क़ब्जे में किया गया। उत्तरी बरमा मण्डाले की नजदीकी अपनी राजधानी आवा समेत समुद्र से बिलकुल अलग कर दिया गया और दूर और खुश्की में अग्रेजो की दया पर छोड़ दिया गया। १८८५ में, जबकि बरमा से तीसरी लड़ाई हुई, इसका भी ख़ातमा होगया और सारे देश पर अग्रेजो ने अपना कब्ज़ा कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन सिद्धान्त रूप में बरमा चीन का रक्षित राज्य था और बराबर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। यह देखकर ताज्जुब होता है कि बरमा को साम्राज्य में शामिल करते समय अग्रेज चीन को भेजे जाने वाले इस ख़िराज को जारी रखने के लिए रजामन्द होगये। इससे यह जाहिर होता है कि १८८५ में भी चीनी ताक़त का क़ाफी रोब उनपर गालिब था, हलांकि बेचारा चीन अपनी ही अन्दरूनी मुसीबतों में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने रक्षित राज्य बरमा पर हमला होते समय उसकी कुछ भी मदद न कर सका। अँग्रेजो ने १८८५ के बाद एक बार तो चीन को यह ख़िराज दिया; फिर बन्द कर दिया।

बरमा की लडाइयाँ हमें १८८५ तक ले आई है। मै इन सबका वर्णन एक साथ करना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ और इसी सदी के कुछ शुरू के हिस्से में जाना होगा। पजाब में रणजीतसिह के मातहत एक शक्ति-शाली सिख राज्य क़ायम हो गया था। सदी की ठीक शुरुआत में रणजीतसिह अमृत-सर का हाकिम हुआ, और १८२७ के करीब तमाम पजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के फौरन ही बाद सिख रियासते कमजोर हो गईं और टूटने लगीं। सिख लोग "मुसीबत में आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिल जाने के बाद गिर जाता है" वाली पुरानी कहावत को चरितार्थ करते है। जबकि सिख शिकारी द्वारा पीछा किये जाने वाले अल्पसख्यक दल के रूप में थे, तब पिछले मुग़ल बादशाहो के लिए उनको दबाना नामुमकिन हो रहा था। लेकिन राजनैतिक सफलता के मिलते ही उनकी सफलता की असली बुनियाद कम-जोर पडती गई। सिख और अग्रेजो के बीच दो लड़ाइयाँ हुईं, पहली १८४५-४६ में, और दूसरी १८४८-४९ में। दूसरी लड़ाई में चिलियांवाला में अंग्रेजो की जबर्दस्त हार हुई। लेकिन अख़ीर में अग्रेज पूरीतौर से विजयी हुए और पजाब अग्रेजी हुकूमत में

शामिल कर लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि अंग्रेजों ने काश्मीर को गुलाबसिंह नामक जम्मू के एक राजा को पिचहत्तर लाख रुपये में बेच दिया। गुलाबसिंह के लिए यह खासा सौदा था! इस सौदे में बिचारे कश्मीरियो की तो कुछ पूछ थी ही नहीं। कश्मीर अब अंग्रेजों की एक रक्षित रियासत है। वहाके वर्त्तमान महाराजा इसी गुलाबसिंह के खानदान के है।

पजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफग़ानिस्तान था, और अफग़ानिस्तान के नजदीक ही दूसरी ओर को था रूस। मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेजो का दिल दहला दिया। उन्हे डर था कि रूस कहीं हिन्दुस्तान पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब सारी उन्नीसवीं सदी भर 'रूसी खतरे' की चर्चा रही। १८३९ के क़रीब हिन्दुस्तान के अंग्रेजो ने अफग़ानिस्तान की ओर से उत्तेजना का रत्तीभर भी कारण मिले बिना ही, उस पर हमला कर दिया। उस जमाने में अफग़ानिस्तान का सरहद्दी इलाक़ा ब्रिटिश हिन्दुस्तान से दूर था, और पजाब की स्वतन्त्र सिख रियासत बीच में पडती थी। लेकिन इसकी कुछ परवाह न कर, सिखो को अपना मित्र बनाकर अंग्रेज क़ाबुल पर जा चढे। लेकिन अफग़ानो ने भी मार्के का बदला लिया। अफग़ान बहुतेरी बातो में चाहे कितने ही पिछडे हुए हों, लेकिन अपनी आजादी से उन्हे प्रेम है, और उसकी रक्षा के लिए वे अख़ीर दम तक लड़ने को तैयार रहते है। और इसीलिए अफग़ानिस्तान किसी भी आक्रमणकारी विदेशी सेना के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालाकि अंग्रेजो ने क़ाबुल और उस देश—अफ़ग़ानिस्तान—के कई हिस्सो पर क़ब्जा कर लिया था, लेकिन फिर भी एकाएक चारों तरफ विद्रोह भडक उठे, अंग्रेज वापस खदेड दिये गये और सारी-की-सारी अंग्रेजी फौज तहस-नहस हो गई। बाद में इसका बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश हमला हुआ। अंग्रेजो ने क़ाबुल पर कब्जा करके, शहर के प्रसिद्ध और सुरक्षित बाजार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेजी सिपाहियो ने शहर के कई हिस्सो में लूटमार कर के आग लगा दी। लेकिन अब यह साफ जाहिर हो गया कि अंग्रेजो के लिए निरन्तर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्जा बनाये रखना सहज काम नहीं है। इसलिए वे वहा से रिटायर या अलग हो गए।

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में अफग़ानिस्तान के अमीर या शासक के रूस से दोस्ती करने के कारण अंग्रेज फिर घबराए। बहुत हद तक इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेजो ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने ही में अफग़ानो ने ब्रिटिश राजदूत और उसके दल को क़त्ल कर डाला और एक अंग्रेजी फौज को हरा दिया। अंग्रेजों ने इसका

थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गय । इसके बहुत वर्षों बाद तक अफगानिस्तान की अजीब स्थिति थी । अंग्रेज़ उसके अमीर को किसी दूसरी विदेशी ताकत के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बडी तादाद में रुपया भी देते थे । तेरह वर्ष हुए, १९१९ में, अफ़ग़ानो से तीसरी लड़ाई हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह आज़ाद हो गया । लेकिन जिस ज़माने की हम इम समय चर्चा कर रहे है, यह बात उसकी हद के बाहर की है ।

और भी छोटी-छोटी लड़ाइयां हुई । इनमें से एक, ख़ासतौर पर बेहयाई की लडाई, १८४३ में सिन्ध पर लादी गई । वहा के ब्रिटिश एजेण्टो ने सिन्धियो को ख़ूब सताया और झगडा मोल लेने के लिए उकसाया और बाद में उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया । लगे हाथो इस कारगुज़ारी के बदले में अंग्रेज़ी अफसरो को ऊपरी मुनाफे के तौर पर इनाम में रुपया भी बाटा गया । एजेण्ट सर चार्ल्स नेपियर के हिस्से की रकम थी करीब सात लाख रुपये । ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस युग के हिन्दुस्तान पर सिद्धान्तहीन और साहसी अंग्रेज़ो की लार टपकती थी ।

१८५६ में अवध भी हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया । इस समय अवध के शासन की दशा बहुत भयकर थी । कुछ समय पहले तक यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने वाले लोगो के हाथो में था । मूलत दिल्ली का मुग़ल बादशाह अवध के अपने गवर्नर की तरह नवाब-वज़ीर की नियुक्ति करता था । लेकिन मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वतन्त्र हो गया । पर उसकी स्वतन्त्रता ज्यादा दिन नहीं रही । पिछले नवाब-वज़ीर बिलकुल नाक़ाबिल और बदचलन थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे । उनमें तो कोई असली ताक़त बची नहीं थी, और अंग्रेज़ो को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी न थी । इस तरह अवध बरबाद हुआ, और, लाज़मीतौर पर, अख़ीर में, अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया ।

युद्धो और राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में मै काफी ही नहीं, शायद काफी से भी ज्यादा कह चुका हूँ । लेकिन ये सब उस चलते हुए महान चक्र के ऊपरी सकेतमात्र थे, जोकि आगे भी लाज़मी तौर पर चलता रहने वाला था । अंग्रेज़ जिस समय हिन्दुस्तान में आए, यहाँ का पुराना आर्थिक सगठन टूट चुका था । सामन्त-प्रथा टूटने-फूटने लगी थी । यदि उस समय विदेशी लोग—अंग्रेज़ न भी आते, तो भी सामन्त-प्रथा इस देश में ज्यादा वक़्त टिकने वाली न थी । योरप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई

ऐसी व्यवस्था इसका स्थान ले लेती, जिसमें नवीन उत्पादक वर्गों के हाथो में ज्यादा सत्ता होती। लेकिन इस परिवर्तन के होने से पहले ही, जबकि दरार पडी थी, अग्रेज आ पहुँचे और बिना किसी खास दिक्कत के दरारों के बीच घुस पडे। हिन्दुस्तान में जिन राजाओ से वे लडे और उन्हें हराया, वे बीते और अस्त होते हुए जमाने की चीजें थीं। उनके सामने कोई वास्तविक भविष्य नहीं था। इस तरह इन हालतो में, अग्रेजो का सफल होना लाजिमी ही था। उन्होने हिन्दुस्तान में सामन्त-वर्ग का तेजी से खातमा कर दिया, लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, उन्होंने ऊपरी तौर से इसे बनाये रखने या सहारा देने की कोशिश की और इस तरह हिन्दुस्तान को नये दौर की तरफ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अग्रेज हिन्दुस्तान में एक ऐसे ऐतिहासिक दौर के लाने का कारण बन गये, जिसने कि सामन्त राजाओ द्वारा शासित हिन्दुस्तान को नये ढग के औद्योगिक पूंजीवादी राज्य में बदल दिया। खुद अग्रेजो ने इस बात को नहीं समझाया, और नि सन्देह वे सब अनेक राजा लोग भी जो इनसे लडे थे, इस विषय में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पडा हुआ कोई भी समाज या वर्ग समय के इशारो को शायद ही पहचानता हो, शायद ही कभी यह समझता हो कि उसका अपना काम और मक़सद पूरा हो चुका है, और इसलिए सर्वशक्तिमान घटनाचक्र द्वारा बेइज्जती से खदेडे जाने के पहले ही उसे वहाँ से हट जाना चाहिए। वह इतिहास की शिक्षा को शायद ही कभी समझता है, और शायद ही कभी इस बात को महसूस करता है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दों में, 'इतिहास की रद्दी की टोकरी' में छोडती हुई आगे धावा बोलती जा रही है। इसी तरह हिन्दुस्तानी सामन्त वर्ग ने इन सब बातो को नहीं पहचाना और व्यर्थ ही अग्रेजो के खिलाफ लडते रहे। इसी तरह आज अग्रेज लोग हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशों में यह महसूस करते है कि उनके दिन बीत चुके है, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके है, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य को बेरहमी के साथ इतिहास की रद्दी की टोकरी में धकेलती हुई आगे बढती जा रही है।

लेकिन हिन्दुस्तान में फैले हुए सामन्त-वर्ग ने उस वक्त, जबकि अग्रेज हिन्दुस्तान में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर आजादी प्राप्त करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने का अन्तिम प्रयत्न किया। यह था १८५७ का बलवा या ग़दर। देश भर में अग्रेजों के खिलाफ बडा असन्तोष और रोष था। कुछ दूसरे छुटपुट कामो के सिवा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की खास नीति थी हर तरह रुपया बटोरना। उसकी इस नीति और इसके साथ ही उसके अनेक अफसरो की मूर्खता और लालच ने मिल-फर चारो तरफ घोर तबाही मचा दी। यहाँ तक कि अग्रेजों की हिन्दुस्तानी फौज

पर भी इसका असर पड़ा और उसमें कई छोटी-मोटी बगावतें हुईं। कई सामन्त सरदार और उनके वंशज स्वभावत. ही अपने इस नये मालिक के कट्टर ख़िलाफ़ थे। इसलिए गुप्तरूप से एक जबरदस्त विद्रोह संगठित किया गया। यह सगठन ख़ासतौर से सयुक्त प्रांत और मध्य भारत के चारो ओर फैल गया था, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान के अंग्रेज हिन्दुस्तानियो के कार्यो और विचारो की ओर से इतने अन्धे रहते हैं कि उस समय तक सरकार को संगठन का संकेत या इशारा तक नहीं मिला। जाहिरा तौर पर कई जगहो पर एक ही साथ ग़दर छिड़ने की एक तारीख़ मुकर्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की हिन्दुस्तानी फौज की कुछ टुकड़ियो ने जल्दी ही बहुत आगे बढ़कर १० मई १८५७ को ग़दर शुरू कर दिया। इस समय से पहले ही होने वाले विस्फोट ने विद्रोह के नेताओ के कार्यक्रम को अस्तव्यस्त कर दिया क्योंकि इसने सरकार को चौकन्ना और होशियार कर दिया। विद्रोह संयुक्त प्रान्त और दिल्ली में हर जगह और मध्यभारत और बरार के भी कुछ हिस्सो में फैल गया। यह सिर्फ फौजी बलवा ही नही था, बल्कि इन प्रदेशो में अंग्रेजों के ख़िलाफ एक व्यापक सार्वजनिक विद्रोह था। महान् मुगल सम्राटो के अन्तिम वंशज कवि और कमजोर बूढे बहादुर शाह को कुछ लोगो ने सम्राट् घोषित कर दिया। यह विद्रोह बढ़कर घृणित विदेशी शत्रु के ख़िलाफ भारतीय स्वाधीनता के युद्ध में परिणत हो गया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामाजिक ढग की थी, जिसके मुखिया वही एकतन्त्री सम्राट् होते थे। साधारण जनता के लिए इसमें कोई आजादी न थी। लेकिन चूँकि वह अंग्रेजो के आगमन को ही अपनी तबाही और ग़रीबी का कारण समझती थी, और कई जगह पर बडे-बडे जमींदारो का प्रभाव होने के कारण वह बहुत बडी तादाद में शामिल हो गई। धार्मिक द्वेष ने भी उसे भड़कने का मौका दिया। इस युद्ध में हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो, ने पूरा भाग लिया।

कई महीनो तक उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेज़ी राज्य कच्चे धागे के सहारे लटकता रहा। विद्रोह की किस्मत का फैसला ख़ुद हिन्दुस्तानियो ने ही कर डाला। सिक्खो और गोरखो ने अंग्रेजो को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम और उत्तर में सिन्धिया और दूसरी कई रियासते भी उनकी मदद पर हो गई। इन सब त्रुटियों के सिवा ख़ुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह एक गई गुज़री बात,—सामन्त वर्ग,—के लिए लड़ा जा रहा था, इसके कोई अच्छे नेता भी न थे, संगठन इसका ख़राब था, और हर वक्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियो ने अंग्रेजो को बेरहमी से कत्ल करके भी अपने काम पर धब्बा लगा लिया। इस पाशविक बर्त्ताव ने स्वभावत· ही हिन्दुस्तान के अंग्रेजो को कमर कसने के लिए जोश दिलाया,

उन्होने उसी पाशविक ढग से, वल्कि उससे सैंकडो-हजारो गुना ज्यादा बदला चुकाया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वशज नानासाहब ने रक्षा का वादा करने के बावजूद दग़ा करके अग्रेज़ मर्द, औरत और बच्चो के क़त्ल का हुक्म दे दिया। ख़ास तौर पर इस घटना से अग्रेज़ और भी उत्तेजित होगये। इस वीभत्स दुर्घटना की याद दिलाने के लिए कानपुर में एक स्मारक कूप बना हुआ है।

कई दूर-दूर की की जगहो पर अग्रेजो को जनता की भीडो ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्त्ताव किया गया, लेकिन ज्यादातर ख़राब। जबर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे ख़ूब लडे और बडी वहादुरी से लडे। अग्रेज़ो के साहस और सहन शक्ति का एक उदाहरण लखनऊ का घेरा है जिसके साथ आउटरम और हेवलाक के नाम जुडे हुए है। १८५७ में दिल्ली के घेरे ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक अग्रेज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होने हर जगह आतक फैला दिया। बडी बेरहमी के साथ बहुत बडी तादाद में लोग गोली से उडा दिये गये, बहुत से लोग तोप के मुँह के आगे रखकर टुकडे-टुकडे कर दिये गये और हजारो की तादाद में लोग सडक के किनारे पर के दरख़्तो पर फाँसी लटकाकर मार दिये गये। कहा जाता है कि नील नामक एक अग्रेज़ जनरल इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते के तमाम आदमियो को फाँसी लटकाता हुआ चला गया, यहाँ तक कि सड़क पर का एक भी दरख़्त ऐसा न बचा जो फासी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे और ख़ुशहाल गाँवो को लूट-मार कर उजाड़ दिया, और मिट्टी में मिला दिया। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और शायद ही मैं तुम से इस सारे कटु सत्य के कहने की हिम्मत कर सकूँ। अगर नाना साहब का बर्ताव वहशियाना और धोखेबाज़ी का था, तो कितने ही अग्रेज़ अफसर भी वहशीपन में उससे सैंकडो गुना कहीं आगे बढ़ गये थे। अगर बाग़ी सिपाहियों के गिरोह अपने सिर पर कोई अफसर या नेता न होने की हालत में निर्दय और वहशियाना बरताव के दोषी ठहरते है, तो तो शिक्षाप्राप्त—ट्रेण्ड—अग्रेज़ सिपाही अपने अफसरो की रहनुमाई या नेतृत्व में बेरहमी और वहशीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मैं दोनो की तुलना नहीं करना चाहता। दोनों ही तरफ की बातें अफसोसनाक है, लेकिन हमारे पक्षपात-भरे इतिहासो में हिन्दुस्तानियों के विश्वासघात और बेरहमी का तो ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ की चर्चा मुश्किल से ही की गई है। यह भी याद रखने की बात है कि एक सगठित सरकार भी एक भीड के लोगों की तरह ही बर्त्ताव करने लगे तो उसकी बेरहमी के सामने, किसी एक भीड़ की बेरहमी कुछ भी नहीं है। अगर अब भी तुम अपने प्रान्त

के गावो में घूमो, तो बहुत से गावो में तुम्हे ऐसे लोग मिलेगे जिन्हे, विद्रोह को दबाते समय हुई हैवानियत और ज्यादतियो की खौफनाक याद अब भी साफ-साफ बनी हुई है।

इस विद्रोह और इसके दमन की भीषणताओ के बीच, काले परदे पर एक उज्ज्वल नाम चमक रहा है। यह नाम है एक बीस वर्ष की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का सा बाना पहनकर अंग्रेजो के खिलाफ अपनी प्रजा का नेतृत्व करने के लिए मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी काबलियत और उसके निडर साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती है। यहाँ तक कि जिस अंग्रेज जनरल नें उसका मुकाबिला किया था, उसनें भी उसे बाग़ी नेताओ में "सबसे योग्य और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई युद्ध में काम आई।

१८५७–५८ का विद्रोह हिन्दुस्तानी सामन्त राजाओ की आखिरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातो का खातमा कर दिया। महान् मुग़लवंश को इसने समाप्ति करदी, क्योंकि उसके आखिरी बादशाह बहादुरशाह के दोनो लड़को और एक पोते को हडसन नाम के एक अंग्रेज अफसर ने दिल्ली ले जाते समय, बिना किसी वजह या उत्तेजना के गोली से उड़ा दिया। इस तरह, बदनामी के साथ, तैमूर, बाबर और अकबर का वंश समाप्त हुआ।

विद्रोह ने हिन्दुस्तान में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को खतम कर दिया। सारे शासन सूत्र ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिये और अंग्रेज गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में प्रकट हुआ। उन्नीस वर्ष बाद १८७७ में इंग्लैण्ड की रानी ने, बिजैण्टियन साम्राज्य और कैसरो के पुराने खिताब का हिन्दुस्तानी रूप 'कैसरे-हिन्द' का खिताब अपने लिए इख्तियार किया। मुगल खानदान का अब कहीं पता न था। लेकिन निरकुशता की स्पिरिट या रूह ही नहीं बल्कि रूप भी कायम रहा, और एक दूसरा 'मुग़ल-ए-आजम' इंग्लिस्तान में जम बैठा।

: ११० :

हिन्दुस्तानी कारीगरों की तबाही

१ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तानी युद्धो का वर्णन भी हम खतम कर चुके। मुझे इस से खुशी है। अब हम इस समय की और दूसरी महत्त्वपूर्ण घटनाओ पर विचार कर सकते है। हां, यह याद रखना कि इग्लैण्ड को फायदा पहुँचनेवाली ये लड़ाइयाँ

हिन्दुस्तान के ही खर्चे पर लडी गई थीं। अँग्रेजो ने हिन्दुस्तानियो पर हासिल की गई अपनी जीतों का खर्चा उन्हींसे निकालने की तरकीब को बडी कामयाबी से सीख लिया था। अपने पडौसी बरमा और अफगानिस्तान के लोगो पर अँग्रेजो को जो फ़तह हासिल हुई उसकी कीमत भी हिन्दुस्तानियो ने ही अपने जानोमाल से चुकाई। इन लडाइयों ने किसी हद तक हिन्दुस्तान को और ग़रीब बना डाला, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है सम्पत्ति का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके है, युद्ध का मतलब है जीतनेवाले को इनाम के रूप में धन का मिलना। इस और ऐसे ही दूसरे कारणो से हुई ग़रीबी के बावजूद भी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के पास सोने और चाँदी का बहाव जारी ही रहा, जिससे कि उसके हिस्सेदारो को भारी मुनाफे मिलते रहे।

मेरा ख़याल है कि मैने पहले तुम्हे बतलाया था कि हिन्दुस्तान में अँग्रेजी सत्ता की शुरूआत का जमाना क़िस्मत के आजमाने वाले उन व्यापारियो का जमाना था, जिन्होने यहाँ तिजारत और लूटमार की अधाधुन्ध मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कारिन्दे हिन्दुस्तान की बेशुमार दौलत ले गये। इसके बदले में हिन्दुस्तान को असली-तौर पर रत्ती भर भी फ़ायदा न हुआ। मामूली तिजारत में एक-दूसरे में आपस में कुछ-न-कुछ देन-लेन होता है। लेकिन अठारहवीं सदी के या पिछले हिस्से में, प्लासी की लडाई के बाद से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ की तिजारत में सारी दौलत एक ही रास्ते—इग्लैण्ड—को, जाने लगी। इस तरह हिन्दुस्तान की पुरानी सम्पत्ति का अधिकाश छिन गया, और इसने जाकर परिवर्त्तन के गाढे समय में इग्लैण्ड की औद्योगिक उन्नति में मदद की। हिन्दुस्तान में तिजारत और नगी लूट पर टिका हुआ अग्रेज़ी हुकूमत का यह पहला हिस्सा, मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी की समाप्ति के साथ, ख़तम हुआ।

अग्रेजी राज्य का दूसरा हिस्सा सारी उन्नीसवीं सदी ले लेता है, जिसमें कि हिन्दुस्तान, इग्लैण्ड के कारख़ानो को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक जबरदस्त जरिया और विलायत में तैयार हुए माल की खपत के लिए एक जबरदस्त बाजार बन गया। यह सब हिन्दुस्तान की तरक्क़ी और आर्थिक उन्नति का ख़ून करके किया गया था। इस सदी के पहले आधे हिस्से में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम की एक व्यापारिक कम्पनी हिन्दुस्तान पर राज करती थी, जो कि असल में जारी की गई थी सिर्फ रुपया पैदा करने के लिए। लेकिन बाद में अग्रेज़ी पार्लमेण्ट हिन्दुस्तानी मामलो पर ज्यादा-ज्यादा ध्यान देने लगी। आखिकार, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है १८५७-५८ के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के शासन को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे उसकी बुनियादी नीति में कोई ख़ास

फ़र्क नहीं पड़ा, क्योकि सरकार उसी वर्ग की नुमाइन्दा थी जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सञ्चालित करता था।

हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितो के बीच आपस की मुठभेड़ साफ़ ज़ाहिर थी। क्योकि सारी ताक़त इग्लैण्ड के हाथ में थी इसलिए इस मुठभेड का फ़ैसला हमेशा इग्लैण्ड के ही पक्ष में होता था। इग्लैण्ड के उद्योगवादी बनने से पहले ही एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ने हिन्दुस्तान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के नुकसानदेह नतीजो की ओर इशारा किया था। यह प्रसिद्ध पुरुष था एडम स्मिथ, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वेल्थ आफ् नेशन्स'— यानी 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' नामक अपनी एक मशहूर किताब में, जोकि सन् १७७६ में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है —

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ व्यापारियो की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे खराब सरकार है। · शासनकर्त्ता होने की हैसियत में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमे होना चाहिए कि उसके हिन्दुस्तानी राज्य में ले जाया जानेवाला विलायती माल वहाँ जहाँतक मुमकिन हो सस्ते-से-सस्ता और वसाँ से लाया हुआ माल यहाँ महँगा-से-महँगा बिके। लेकिन व्यापारी होने की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात मेंहै। शासक होने की हैसियत में तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिएँ जो उसके शासित देश के है। लेकिन व्यापारियो की हैसियत से उसके हित उस देश के हितो के बिलकुल खिलाफ होगे।"

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में आये, यहाँ का सामन्त-वर्ग नष्ट होता जा रहा था। मुगल साम्राज्य के पतन ने हिन्दुस्तान के कई हिस्सो में राजनैतिक अशान्ति और आराजकता पैदा कर दी। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री श्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है--"अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान एक बड़ा भारी उद्योग-प्रधान और साथ ही कृषि-प्रधान देश था, और हिन्दुस्तानी करघो पर बना हुआ माल एशिया और योरप के बाजारो को भेजा जाता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार के सिलसिले में मैंने तुम्हे पुराने ज़माने में विदेशी बाज़ारो पर हिन्दुस्तान का कब्ज़ा होने का हाल बतलाया था। मिस्र में चार-चार हज़ार वर्ष पुरानी ममियाँ—मसाला लगाकर सुखाई हुई लाशें—बढ़िया हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटी जाती थीं। हिन्दुस्तानी दस्तकारो की कारीगरी पूर्व और पश्चिम सब जगह मशहूर थी, देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहाँ के दस्तकार अपने हाथ के हुनर को—दस्तकारी की कला को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो हिन्दुस्तान में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँ पर विदेशी माल बेचने के

लिए नही, बल्कि यहाँ का बना हुआ बढिया और बारीक या मुलायम कपडा खरीद कर योरप में भारी मुनाफे पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अग्रेज व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहाँ पर तैयार हुए पक्के माल से आकर्षित होकर यहाँ आये थे। यहाँ पर राज्य प्राप्त करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी हिन्दुस्तान का बना सूती, ऊनी, रेशमी और जरी का माल बेचकर भारी मुनाफे का व्यापार चला रही थी। खासकर कपडे के उद्योग में अर्थात् सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला ऊँचे दरजे को पहुँच गई थी। श्री रमेशचन्द्र दत्त के शब्दो में--"बुनाई लोगो का राष्ट्रीय उद्योग या धन्धा था और कताई लाखो स्त्रियो का शगल या पेशा था।" इग्लैण्ड और योरप के दूसरे हिस्सो को, और चीन, जापान, वरमा, अरब, फ्रास और अफरीका के कई हिस्सो को हिन्दुस्तानी कपडा जाता था।

क्लाइव ने बगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ के समय का, इस प्रकार वर्णन किया है— "यह नगर लन्दन के समान विस्तृत घना बसा हुआ और धनी है। फर्क इतना ही है कि यहाँ के लोग लन्दन वालो से कहीं ज्यादा ऐश्वर्य के स्वामी है।" यही वह प्लासी-युद्ध का प्रसिद्ध वर्ष था, जब कि अग्रेजों ने बगाल में पूरी तरह से अपनी सत्ता जमाली। राजनैतिक पतन के इस क्षण में भी बगाल सम्पत्तिशाली और कई उद्योग-धन्धो से भरा पूरा था और दुनिया के जुदे-जुदे मुल्को को अपना बढिया और बारीक बुना माल भेजता रहता था। ढाका-शहर अपनी बढिया और नफीस मलमल के लिए खास तौर पर मशहूर था और बहुत भरी तादाद में यह बाहर भेजी जाती थी।

इस तरह इस वक्त हिन्दुस्तान निरी कृषि-प्रधान और ग्राम्य अवस्था से बहुत आगे बढ गया था। नि सन्देह मूलत यह देश कृषि-प्रधान था, अब भी है और आगे बहुत अर्से तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ ग्रामीण और कृषि-जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन भी तरक्की पा चुका था। इन नगरो के दस्तकार और कारीगर एक जगह इकट्ठे हुए और सामूहिक रूप से माल तैयार करने की पद्धति जारी हुई, अर्थात् उस समय यहाँ ऐसी छोटी-छोटी कई फैक्टरियाँ या कारखाने खुले हुए थे जिनमें सौ या सौ से अधिक कारीगर काम करते थे। अवश्य ही इन कारखानो की तुलना बाद में आनेवाली मशीन युग की बडी-बडी फैक्टरियो से नही की जा सकती। लेकिन उद्योगवाद के शुरू होने से पहले पश्चिमी योरप में और खासकर निदरलैण्ड में इस तरह की बहुत-सी छोटी फैक्टरियाँ थीं।

हिन्दुस्तान इस समय परिवर्तन या इनकिलाब की हालत में था। यह एक

माल तैयार करनेवाला मुल्क था और इन शहरो में एक मध्यम वर्ग पैदा हो रहा था। इन कारखानो के मालिक पूंजीपति लोग थे, जो कारीगरो को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। अवश्य ही समय आने पर ये लोग भी योरप की तरह सामन्त वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेने के लिए क़ाफी ताकतवर हो जाते। लेकिन ठीक इसी समय अँग्रेज़ बीच में आकूदे और इसका हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धो पर घातक परिणाम हुआ।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन दिया क्योकि इनसे उसे धन की प्राप्ति होती थी। विदेशो में हिन्दुस्तानी माल की बिक्री से उसके देश इग्लैंड में सोना-चाँदी आता था। लेकिन इग्लैंड के कारखानेदार इस प्रतियोगिता को पसन्द नहीं करते थे इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंनें अपनी सरकार को इंग्लैंड में आनेवाले हिन्दुस्तानी माल पर चुगी लगाने को ललचाया कुछ हिन्दुस्तानी चीज़ो का इग्लैंड में आना बिलकुल बन्द कर दिया गया और मेरा यकीन है कि हिन्दुस्तान के बने हुए कुछ कपडो का सार्वजनिक रूप से पहनना एक जुर्म तक क़रार दे दिया गया था। वे लोग अपने बहिष्कार को क़ानून की मदद से अमल में ला सकते थे। और यहाँ हिन्दुस्तान में इस समय ब्रिटिश माल के बहिष्कार की सिर्फ चर्चा ही किसी को जेल में रख देने के लिए काफी हो रही है। हिन्दुस्तानी माल के बहिष्कार की इग्लैंड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी बहुत नुक़सान की बात न थी, क्योकि हिन्दुस्तान के लिए उसके अलावा और भी बहुत से बाज़ार खुले हुए थे। उस समय सयोग से ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के ज़रिये इग्लैंड का हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्से पर कब्ज़ा था, इसलिए उसनें अब जानबूझ कर हिन्दुस्तानी उद्योगों का गला घोटकर ब्रिटिश उद्योग को आगे बढाने की नीति इख्तियार की। लेकिन अब अँग्रेज़ी माल बिना किसी चुगी के हिन्दुस्तान में आने लगा। यहाँ के दस्तकार और कारीगरो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानो में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी-चुगियाँ, जो कि माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर हिन्दुस्तान की अन्दरूनी तिजारत को भी बेकार बना दिया गया।

हिन्दुस्तान का कपडे का उद्योग इतना बढा-चढ़ा था कि इंग्लैण्ड का तरक्क़ी पर पहुँचा हुआ मशीन का कारबार भी उसका मुक़ाबिला न कर सका और उसकी रक्षा करने के लिए हिन्दुस्तानी माल पर अस्सी फीसदी के क़रीब चुगी लगानी पडी। शुरू उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ रेशमी और सूती माल विलायत के बाज़ारो में, वहाँ के बने माल से बहुत सस्ते दामो, में बिका करता था। लेकिन यह हालत

ज्यादा दिन टिक नहीं सकती थी, जब कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करनेंवाली ताक़त इंग्लैंड, हिन्दुस्तानी उद्योग को कुचल डालने पर तुली हुई हो। किसी भी हालत में हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग, यानी हाथ के चरखे और करघे से बना हुआ माल, उन्नतिशील मशीन के उद्योग से मुक़ाबिला कर नहीं सकता था। मशीन का उद्योग भारी तादाद में माल तैयार करने का बडा कारगर तरीक़ा है, और इसलिए वह घर में—हाथ के करघे पर—बने हुए माल से कहीं ज्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इग्लैंड ने जबरदस्ती हिन्दुस्तानी उद्योगों का ख़ातमा करनें में जल्दी की, और उसे अपने आपको बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने का मौक़ा तक नहीं दिया।

इस तरह हिन्दुस्तान, जो कि सैकडो वर्ष तक 'पूर्वी दुनिया का लकाशायर' बना हुआ था, और जो अठारहवीं सदी में योरप को बडे पैमानें पर सूती माल देता रहता था, अब उत्पादक यानी माल तैयार करने वाले देश की अपनी हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का ग्राहक मात्र रह गया जैसा कि साधारण तौर से होना चाहिए था। बाहर से हिन्दुस्तान में मशीनें नहीं लाई गई, बल्कि लाया गया उनसे तैयार किया गया माल। हिन्दुस्तान से दूसरे विदेशो को माल लेजाने और बदले में सोना और चाँदी लाने का जो प्रवाह चल रहा था, उसका रुख़ उलटा होगया। अब विदेशी माल हिन्दुस्तान में आनें लगा और यहाँ का सोना-चाँदी बाहर जाने लगा।

इस घातक हमले से सबसे पहले विनाश हुआ हिन्दुस्तान के कपडे के उद्योग का और जैसे-जैसे इग्लैंड में मशीनो की तरक्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे हिन्दुस्तान के दूसरे उद्योग भी कपडे के उद्योग की तरह बरबाद होते गये। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उस देश के उद्योगो की रक्षा करे और उन्हे तरजीह दे। मगर हिफाज़त और तरजीह देना तो दूर रहा, ईस्ट इडिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगो के रास्ते में आनेवाले हरेक हिन्दुस्तानी उद्योग को कसकर ठोकर लगाई। हिन्दुस्तान में जहाज़ बनाने का काम चौपट होगया, धातु के कारीगर—लुहार आदि—अपना कारोबार न चला सके और कांच और काग़ज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे चल बसा।

शुरू में विदेशी माल वन्दरगाहोवाले शहरों और उन्हींके आस-पास के अन्दरूनी हिस्सो में पहुँचा। जैसे-जैसे सडकें और रेलें बनती गई, विदेशी माल देश में अन्दर-अन्दर घुसता गया, यहाँ तक कि इसने गांवो से भी कारीगरो को निकाल बाहर किया—वहाँ भी उनके धन्धो को चौपट कर दिया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इग्लैंड हिन्दुस्तान के और भी नज़दीक होगया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहाँ अब और भी सस्ता होगया। इस तरह विदेशी मशीनो का

माल ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगा, और दूर-दूर के गाँवो तक में पहुँचने लगा। पूरी उन्नीसवीं सदी भर यह सिलसिला जारी रहा, और दरअसल किसी हद तक, अभीतक भी चल रहा है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम जरूर हुई, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल, खासकर कपडे, की इस फैलती और पसरती प्रगति ने हिन्दुस्तान के हाथ के धन्धो का खून कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा खतरनाक एक और बात थी। उन लाखो कारीगरो का क्या हुआ जो बेकार बनाकर बाहर किये गये? उन बहुसख्यक जुलाहो और दूसरे कारीगरो का क्या हाल, जो बेरोजगार होगये थे? इंग्लैड में भी जब बडी-बडी फैक्टरियाँ खुलीं तो दस्तकार बेकार होगये थे। उनको सख्त मुसीबतों का सामना करना पड़ा। लेकिन उनको नई फैक्टरियो में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लिया। हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहाँ काम करने के लिए कोई फ़ैक्टरियाँ न थीं। अंग्रेज नही चाहते थे कि हिन्दुस्तान एक आधुनिक औद्योगिक मुल्क बन जाय और इसलिए फैक्टरियो या कारखानो को प्रोत्साहन नहीं देते थे। इसलिए बेचारे गरीब, बेघरबार, बेरोजगार और भूखो मरते कारीगरो को जमीन की यानी खेती की शरण लेनी पडी। किन्तु जमीन ने भी उनका स्वागत नहीं किया; पहले से ही काफी आदमी उस पर—खेती का काम कर रहे थे, और इसलिए अब जमीन मिलना मुमकिन नहीं था। कुछ तबाह कारीगरो ने तो किसी तरह किसानी का काम प्राप्त कर लिया, लेकिन ज्यादातर को तो रोजगार की तलाश में बिना जमीन के मजदूर बन जाना पड़ा। और बहुत अधिक तादाद में तो लोग भूख से तडप-तड़प कर मर ही गये होगे। १८३४ में हिन्दुस्तान के अंग्रेज गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की बतलाते है कि—"व्यापार के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरा उदाहरण मिले। सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहो की हड्डियो से हिन्दुस्तान के मैदानो पर सफेदी छा रही है—वे हड्डियो से भरे पडे है।"

इन बुनकरो, जुलाहो और कारीगरो में से ज्यादातर कस्बो और शहरो में रहते थे। अब चूंकि उनका रोजगार जाता रहा, इसलिए उन्हे फिर जमीन और गाँवो की तरफ लौटना पड़ा। इससे शहरो की आबादी कम, और गाँवो की ज्यादा होगई। दूसरे शब्दो में हिन्दुस्तान शहरी कम और देहाती ज्यादा होगया—शहरो की तादाद कम और देहातो की तादाद बढ़ गई। शहरो के गांवो में तब्दील होने का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी भर जारी रहा, और अभी भी वह बन्द नहीं हुआ है। इस जमाने में हिन्दुस्तान के बारे में यह एक बडी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया

में मशीनो के कारबार और उद्योगवाद का असर यह हुआ कि लोग-बाग गाँवो से खिच-खिचकर शहरो में आगये। लेकिन हिन्दुस्तान में इससे उलटी प्रवृत्ति हुई। शहर और कस्बे छोटे होते गये और आखिर को खत्म होगये, और ज्यादा-ज्यादा आदमी रोजगार मिलना बहुत दिक्कततलब देखकर काश्तकारी पर आलटके।

खास उद्योगो के साथ-साथ उनके बहुत से मददगार धन्धे भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रगाई और छपाई कम-कम होती गई, हाथ की कताई बन्द हो गई और लाखों घरो से चरखा उठ गया। इस तरह किसानो के घरवाले सूत कातकर जमीन से होने वाली आमदनी को बढाने में जो मदद करते थे वह सिलसिला मारा गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि किसान ऊपरी आमदनी से हाथ धो बैठे। मशीन के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी योरप में भी हुआ था। लेकिन वहाँ का परिवर्त्तन स्वाभाविक था, और वहाँ यदि एक प्रथा का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई प्रथा का जन्म भी हो गया। लेकिन हिन्दुस्तान को परिवर्त्तन का जबर्दस्त धक्का लगा। घरेलू शिल्प उद्योगों की पुरानी प्रथा की हत्या कर डाली गई थी और नई प्रथा का जन्म होना नहीं था, क्योंकि ब्रिटिश उद्योगो के हित की दृष्टि से अंग्रेज अधिकारी ऐसा होने नहीं देना चाहते थे।

हम देख चुके है कि जिस समय अंग्रेजो नें यहाँ ताकत हासिल की, हिन्दुस्तान एक मालामाल और खुशहाल उत्पादक देश था। दूसरी मञ्जिल कुदरती तौर से तो यही होनी चाहिए थी कि देश को औद्योगिक बनाया जाता और बडी-बडी मशीनें जारी की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान आगे बढ़ने के बजाय बिलकुल पिछड़ गया। वह अब उत्पादक तक न रहा, और पहले किसी भी वक्त से ज्यादा अब कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोजगार कारीगरो और दूसरे पेशेवरों की इतनी बडी सख्या को सहारा देने का भार बेचारी अकेली काश्तकारी के सिर आ पड़ा। जमीन पर भयानक बोझा पड गया, और यह बराबर बढता ही गया। हिन्दुस्तान की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद और यही आधार है। हमारी बहुत सी मुसीबते इसी नीति का नतीजा है। और जब तक यह बुनियादी सवाल हल नहीं हो जाता, हिन्दुस्तानी किसानों और गावों के रहनेवालो की ग़रीबी और मुसीबतो का अन्त नहीं हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगो के पास खेतो के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और जमीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतो और अपने क़ब्जे की जमीनो को छोटे-छोटे टुकडो में बांट डाला। उसके सिवा गुजारे के लिए और अधिक जमीन थी ही नहीं। इस तरह जमीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान के पल्ले

पड़ा, इस कदर छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुजर हो सकना भी मुश्किल था। सुकाल या फसल के अच्छी से अच्छी होने के दिनो में भी गरीबी और नीम-फाकाकशी का उन्हे हमेशा सामना करना पडता था। और ज्यादातर तो सुकाल या अच्छी फसल के बस सपने भर ही रहते थे। मौसम, आसमान और बरसाती हवाओ की दया पर ही इन लोगो को निर्भर रहना पडता था। अकाल पड़ते, रोग फैलते और लाखो का संहार कर अपने साथ ले जाते। ये लोग गांव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते। इस तरह दिन-पर-दिन इनका कर्ज ज्यादा-ज्यादा बढता गया। उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना नष्ट हो गई और जिन्दगी बरदाश्त न हो सकनेवाला एक बोझ बन गई। ऐसी हालत हुई हिन्दुस्तान की आबादी के बहुत बडे हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में और अंग्रेजो की हुकूमत में।

: १११ :

हिन्दुस्तान के गांव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हें अपने पिछले खत में हिन्दुस्तान के प्रति अग्रेजो की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धो की मौत और दस्तकारो या कारीगरो का खेती और गांवो की ओर खदेडा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, हिन्दुस्तान की सबसे बडी समस्या है जमीन पर इतने ज्यादा लोगों का बोझा होना, जिनके पास खेती के सिवा और कोई धन्धा नहीं है। ज्यादातर यही वजह है कि हिन्दुस्तान गरीब है। अगर ये लोग जमीन से हटाकर रुपया पैदा करने के दूसरे पेशों में लगा दिये जा सके होते, तो वे न सिर्फ देश की सम्पत्ति में वृद्धि ही करते, बल्कि जमीन का बोझ भी कम हो जाता और काश्तकारी भी चमक जाती।

अक्सर यह कहा जाता है कि जमीन पर यह जरूरत से ज्यादा बोझ हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ती की वजह से है, न कि अग्रेजो की नीति के कारण। लेकिन यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि हिन्दुस्तान की आबादी पिछले सौ वर्षो में बढ गई है, लेकिन और भी तो बहुत से मुल्को की आबादी बढी है। अवश्य ही योरप में और खासकर इग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी में इस बढ़ती का औसत बहुत ज्यादा रहा है। किसी देश या सारे ससार की आबादी की बढ़ती, और उसके गुजारे और जरूरत के वक्त इस बढ़ती को रोकने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इससे दूसरे विषयों में गड़बड़

पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं जरूर साफ कर देना चहता हूँ कि हिन्दुस्तान में जमीन पर दवाव या वोझ पडने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशों का अभाव होना है, न कि आवादी की वढ़ती होना । हिन्दुस्तान की मौजूदा आबादी के लिए शायद अच्छी तरह या आसानी से गुन्जाइश हो सकती है और वह फूल-फल भी सकती है, वशर्तेकि दूसरे पेशे और धन्धे खुले हुए हो। हो सकता है कि बाद में हमें आवादी की बढती के सवाल का सामना करना पडे ।

आओ, अव हम हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जाच करें। पहले हम गावो में चलेगे ।

मैंनें अक्सर तुम्हे हिन्दुस्तान की ग्राम-पचायतो के वारे में लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलो, परिवर्त्तन या इन्किलाब के वीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को क़ायम रक्खा। अभी क़रीव सौ वर्ष पहले, १८३० में, हिन्दुस्तान के अग्रेज गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ ने इन ग्राम-पचायतो का इस तरह वर्णन किया था—

> "ग्राम-पचायते छोटे-छोटे प्रजातत्र हैं, अपनी ज़रूरत की करीव-करीव हरेक चीज उनमे मौजूद है, और वाहरी सम्वन्धो से हर तरह स्वतत्र हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज नही ठहर पाती, उनकी हस्ती कायम रहती है। ग्राम पचायतो का यह सघ, जिसमें हरेक पचायत खुद एक अलग छोटी-सी रियासत के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने और वहुत हद तक उनकी आज़ादी और खुदमुख्तारी का उपयोग कराने में भारी सहायक होता है।"

वह वर्णन इस प्राचीन ग्रामीण प्रथा या गाम-पचायत के लिए बडा अच्छा सर्टीफिकेट है। गाँव की हालत का यह एक विलकुल काव्यमय चित्र है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आजादी और ख़ुदमुख़्तारी, जो गाँवो को हासिल थी, एक अच्छी चीज थी, और इसके सिवा उसमें और भी कई अच्छी ख़ासियतें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रथा के दोषो को भी नहीं भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से अलग कटे हुए, अपने ही आप में सीमित ग्रामीण जीवन बिताना किसी भी बात की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता था। बडी-से बडी इकाइयो के साथ सहयोग करने में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज्यादा कोई व्यक्ति या गिरोह अपने आप को दूसरो से अलग और अपने ही में सीमित या महदूद रखता है, उतना ही अधिक उसके अभिमानी, ख़ुदगर्ज और तगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरो के निवासियों के मुक़ाबिले में गाव के रहनेवाले अक्सर तगदिल और मिथ्या-विश्वासी होते हैं इसलिए ग्राम-सस्थायें अपनी अच्छाइयो को रखते हुए भी उन्नति के केन्द्र नहीं हो सकती थीं। बल्कि वे ज्यादातर पुराने ज़माने की ओर पिछडी हुई थी।

दस्तकारी और उद्योग-धन्धे तो नगरो में ही फूलते-फलते थे। हाँ, जुलाहे जरूर बहुत बडी तादाद में गावो में फैले हुए थे।

गाँवो की जातियाँ एक दूसरे से विशेष सम्बन्ध रखे विना ही क्यो इस तरह की तनहाई की जिन्दगी बिताती थीं, इसकी असली वजह आमद-रफ्त के साधनों का न होना था। गावो को एक दूसरे से मिलानेवाली सडकें बहुत ही कम थीं। दरअसल अच्छी सड़को के इस अभाव ने ही केन्द्रीय सरकार के लिए गावो के मामलो में ज्यादा दख़ल देना कठिन बना रक्खा था। अच्छी ख़ासी बडी नदियो के किनारे या आस-पास के कस्बो और गावो में तो नावो के जरिये जाने-आने का सम्बन्ध हो सकता था। लेकिन ऐसी बडी नदिया भी तो बहुत नहीं थीं जो इसतरह का साधन बन सकतीं। आमद-रफ्त के आसान तरीक़ो की इस कमी ने अन्दरूनी तिजारत में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षो तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मक़सद सिर्फ रुपया कमाना और हिस्सेदारो में मुनाफा बाँटना ही था। सड़को के बनाने में वह बहुत कम रुपया खर्च करती थी और तालीम, सफाई और अस्पताल वग़ैरा पर तो कुछ भी खर्च नहीं करती थी लेकिन बाद में जब अंग्रेजो ने कच्चा माल खरीदनें और अंग्रेजी मशीनो का बना माल बेचनें पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, तब सड़कों वग़ैरा के बारे में उनकी नीति दूसरी ही होगई। बढते हुए विदेशी व्यापार का मक़सद पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान के समुद्रतट पर नये शहर क़ायम हुए। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मदरास और बाद में कराची, विदेशो को भेजने के लिए रूई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और विदेशी मशीनो के बने, खासकर इग्लैण्ड से आये हुए, माल को हिन्दु-स्तान में फैलाने और बेचने के लिए लेते थे। ये शहर योरप में बढ़ते हुए बडे-बडे औद्योगिक शहरो, जैसे लिवरपूल, मैन्चैस्टर, बर्मिघम और शेफील्ड वग़ैरा, से बहुत कुछ जुदी किस्म के थे। यूरोपियन शहर माल तैयार करने के बडे-बडे कारख़ानो के उत्पादक केन्द्र और इन कारखानो में बने माल को बाहर भेजने के बन्दरगाह थे। इधर हिन्दुस्तान के ये नये शहर कुछ भी माल तैयार नहीं करते थे। वे तो महज़ विलायती तिजारत के गोदाम और विदेशी शासन के चिन्ह मात्र थे।

मैं तुम्हें अभी बता आया हूँ कि अंग्रेजो की नीति के कारण हिन्दुस्तान ज्यादा-ज्यादा देहाती होता जा रहा था और लोग शहर छोड़-छोड़कर गाँवो और खेती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद भी इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले समुद्र के किनारे ये नये शहर उठ खडे हुए। गाँवो को नहीं बल्कि छोटे शहरो और क़स्बों को मिटाकर ये शहर पैदा हुए थे। लोगो के शहर और क़स्बे छोड़कर गाँवो में जा

बसने और गांवो की तादाद बढते जाने का यह आम सिलसिला बराबर जारी रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विलायती सामान को इधर से उधर बांटने में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरो का देश के अन्दरूनी हिस्सों से सम्बन्ध जोडा जाना लाजिमी था। राजधानियो और प्रान्तो के शासन-केन्द्रो के रूप में भी कुछ दूसरे शहर बन गये। इस तरह आमद-रफ्त के अच्छे साधन जरूरी हो गये। अब सडके बनाई गई, और बाद में रेलें भी। पहली रेल १८५३ में बम्बई में बनी।

भारतीय उद्योग-धन्धो के नाश से पैदा हुई और बदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल बनने में गांवो के पुराने लोगो को बडी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सडके और रेलें ज्यादा तादाद में बनीं और सारे देश में फैल गई, तब आखिरकार गांवो की पुरानी प्रथा भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर खतम हो गई। गांवो के छोटे-छोटे प्रजातन्त्र, अब जब कि दुनिया खुद उनके यहां पहुंचकर उनके दरवाजे खटखटाने लगी, तो वे अपने को उसके सम्पर्क से अलग न रख सके। एक गांव की चीजो की कीमतो का असर फौरन ही दूसरे गांवो की चीजो पर पडने लगा, क्योकि अब एक गांव से दूसरे को आसानी से चीजें भेजी जा सकने लगीं। अवश्य ही जैसे-जैसे दुनिया से आमद-रफ्त के सम्बन्ध बढते गये, वैसे ही सयुक्त राज्य अमेरिका अथवा कनाडा के गेहुओ की क़ीमत का असर हिन्दुस्तान के गेहूं की कीमत पर भी पड़ने लगा। इस तरह घटनाचक्र में पडकर हिन्दुस्तानी ग्रामीण प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के चक्कर में खिच आना पडा। गांवो का पुराना आर्थिक क्रम टुकडे-टुकडे हो गया, और किसानों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उनपर एक नया क्रम जबरदस्ती लाद दिया गया। अब यह किसान वर्ग अपने गांवों के बाजार के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए खाना और कपड़ा तैयार करने लगा। वह अब सारी दुनिया के लिए पैदा करने और उसके अनुसार क़ीमतों के भंवर में पड गया और ज्यादा-ज्यादा नीचे डूबता गया। पहले ज़माने में भी हिन्दुस्तान में फसल बिगड़ जाने पर अकाल पड़ते थे, और गुजारे का और कोई सहारा नहीं रहता था और कोई ऐसे मौजू साधन भी नही थे कि देश के एक भाग से दूसरे भागो को खाद्य-सामग्री—अनाज वग़ैरा—पहुंचाई जा सकती। वे अकाल खाद्य-सामग्री के अकाल थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब खाने को तो इफरात से मिल सकता था, लेकिन फिर भी लोग भूखों मर रहे थे। अगर उस जगह जहां अकाल हो और खाने-पीने की चीजें न भी मिलती हो, तो रेल और ऐसी ही और दूसरी तेज सवारी के जरिये दूसरी जगहो मे चीजें पहुंचाई जा सकती थीं। दूसरे खाद्य-सामग्री तो मौजूद थी, लेकिन उसे ख़रीदने के लिए पास में

पैसा नहीं था। और इस तरह इस समय अकाल पैसे का था, भोजन की चीजो का नहीं। इससे भी ज्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा पिछले तीन वर्षो में हमने देखा है, कभी-कभी फसल का बहुत अच्छा और ज्यादा होना ही किसानो की तबाही का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्रामीण प्रथा खतम होगई, और पचायतो की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज्यादा रज जाहिर करने की जरूरत नहीं है, क्योकि यह प्रथा अपनी उम्र से ज्यादा जिन्दा रह चुकी थी और आजकल की परिस्थितियो के उपयुक्त नही थी। लेकिन यहाँ भी वही बात हुई, यह प्रथा या संस्था टूट तो गई, लेकिन इसकी जगह लेने को नई परिस्थितियों के अनुकूल किसी नई संस्था या सगठन का जन्म नहीं हुआ। पुर्निर्माण और पुनर्संगठन का यह काम हमें अब भी करना होगा। करने को तो बहुत कुछ पड़ा है, लेकिन एक बार हम जकडे रखने वाली विदेशी राज्य की जजीरों से निकल तो आयें!

अभी तक हमने ज़मीन और किसानो पर होनेवाले ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष परिणामो पर विचार किया है। ये अप्रत्यक्ष परिणाम ही काफी भयकर थे! आओ, अब हम ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति यानी उस नीति पर विचार करें जिसका किसान और जमीन या काश्तकारी से सम्बन्ध रखने वाले सभी दूसरे लोगो पर प्रत्यक्ष रूप से असर पड़ा। मुझे भय है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानो से भरा पडा है, और इसलिए हमें एक बार यह समझने की कोशिश तो करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफें है और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते है, और उनको खुशहाल बना सकते है।

हम लोग जमींदारो, ताल्लुकेदारो और उनके असामियो के बारे में सुना करते है। असामी भी कई तरह के होते है और असामियो के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियो में तुम्हे नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर से इस वक्त जमींदार लोग बीच के आदमी है, अर्थात् उनकी हस्ती सरकार और काश्तकारो के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हे जमीन के इस्तेमाल के बदले लगान या एक तरह का कर या टैक्स देता है, क्योकि जमीन जमींदार की मिलकियत समझी जाती है। जमींदार इस लगान में से एक हिस्सा मालगुजारी के तौर पर अपनी जमीन के कर या महसूल का सरकार को अदा करता है। इस तरह जमीन की पैदावार तीन हिस्सों में बंट जाती है; एक हिस्सा जमींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है और तीसरा जो बचता है, काश्तकार के

पल्ले पड़ता है। यह ख़याल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दसियों तरह की दूसरी कोशिशो का नतीजा है कि जमीन से कुछ पैदा होता है। जाहिर ही है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। सरकार को सारे समाज की प्रतिनिधि होने की हैसियत से हरेक व्यक्ति के लाभ के लिए बहुत से जरूरी फर्ज अदा करने होते हैं। सारे बच्चो को तालीम देनी होती है, अच्छी सडकें और आमद-रफ्त के दूसरे साधन बनाने होते हैं, अस्पताल और सफाई के दूसरे सीगे रखने पड़ते हैं, बाग़-बगीचे और अजायबघर और कई तरह की और न मालूम क्या-क्या चीजें बनवानी होती हैं। इसके लिए उसे रुपयो की जरूरत होती है और इसलिए यह मुनासिब ही है कि जमीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ सरकार को देता है, वह तो असल में सडक, तालीम, सफाई वग़ैरा सरकारी सेवाओ के रूप में वापस आजाता है या आजाना चाहिए। आजकल हिन्दुस्तान की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। लेकिन ठीक तरह से सगठित और स्वतत्र देश में जनता ही सरकार होती है।

इस तरह जमीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा सरकार का। तीसरा हिस्सा, जैसाकि हम देख चुके हैं जमींदार को मिलता है। इसको पाने या हक़दार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या दरअसल कुछ नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुँचाये ही वह पैदावार का एक बडा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है। इस तरह वह गाडी का पांचवां पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ गैरजरूरी ही बल्कि एक रुकावट और जमीन पर एक बेकार बोझ भी है। और लाजिमी तौरपर जिस शख्स को यह अनावश्यक बोझ उठाने की तकलीफ बर्दाश्त करनी पडती है, वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पडता है। यही वजह है कि बहुत से लोगों का ख़याल है कि जमींदार या ताल्लुकेदार बिलकुल ग़ैरजरूरी दरमियानी आदमी है, और जमींदारी प्रथा एक ख़राब प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिससे कि दरमियानी आदमी ग़ायब हो जायें। इस समय यह जमींदारी प्रथा हिन्दुस्तान में, खासकर तीन प्रान्तो—बगाल बिहार और सयुक्तप्रान्त में जारी है।

दूसरे प्रान्तों में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर बालबाला सरकार को अदा करते है, कोई दरमियानी आदमी वहां नहीं है। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी

किसान (Peasant Proprietor) कहलाते है, कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हें जमींदार कहा जाता है, लेकिन सयुक्त प्रान्त, बगाल और बिहार के बडे-बडे ज़मींदारो से ये जुदा होते है ।

इतने लम्बे-चौडे विवरण के बाद अब मै तुम्हे बताना चाहता हूँ कि बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त में फूलती-फलती यह ज़मींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनो इतना सुनते रहते है, हिन्दुस्तान में एक बिलकुल नई चीज़ है । यह अग्रेज़ों की ईजाद है । उनके पहले इसकी कोई हस्ती, कोई वजूद न था ।

पुराने ज़माने में इस तरह के कोई ज़मींदार, ताल्लुकेदार या दरमियानी आदमी नहीं होते थे । काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा बालाबाला सरकार को देते रहते थे । कभी-कभी गाँव की पचायत गांव के किसानो की तरफ़ से यह काम कर देती थी । अकबर के ज़माने में उसके मशहूर अर्थ-सचिव राजा टोडरमल ने बडी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी । सरकार काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेती थी, और किसान चाहता तो वह नकदी में भी दे सकता था । आमतौर पर लगान भारी नहीं थे, और वे बहुत धीरे-धीरे सिलसिले से बढ़ाये गये थे, इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया । केन्द्रीय शासन कमज़ोर होगया और लगान या करो की वसूली ठीक-ठीक होना बन्द हो गई । तब वसूली का एक नया तरीक़ा ईजाद हुआ । लगान की वसूली के लिए तनख़्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर कलक्टर नियुक्त किये गये, वे जो वसूल हुई रकम में से अपने मेहनताने के तौर पर दसवाँ हिस्सा रख सकते थे । इन्हे मालगुज़ार, या कभी-कभी ज़मींदार या ताल्लुकेदार कहा जाता था, लेकिन यह ख़याल रहे कि इन शब्दो का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है ।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी बद से बदतर होती गई । हालत यहाँतक गिरी कि जुदे-जुदे क्षेत्रो या हलकों के मालगुज़ारपने के काम का आम नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को वह मिलने लगा । इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे यह काम मिलता उसको बदनसीब किसान से जितना चाहे उतना रुपया वसूल करने की छुट्टी रहती थी, और अपनी इस आज़ादी का वह भरपूर उपयोग करता था । धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इनका हटाया जाना सम्भव न रहा ।

दरहक़ीक़त शुरू-शुरू में बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली कानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ से काम करने वाले मालगुज़ार की थी । १७६५ में कम्पनी को दिये गये 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था । इस तरह कम्पनी

दिल्ली के मुगल बादशाह की दीवान बन गई । लेकिन थी यह सब बनावट । १७५७ की प्लासी की लडाई के बाद अग्रेज बगाल के सर्वेसर्वा-से बन गये थे, बेचारे मुग़ल सम्राट के पास नाममात्र को या कहीं भी कोई ताक़त नहीं रही ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफसर बेहद लालची थे । जैसाकि मै तुम्हे बता चुका हूँ, इन लोगो ने बगाल का ख़जाना ख़ाली कर डाला था, और जहां कहीं भी मौक़ा लगता पैसे पर जबर्दस्त पजा मारने में न चूकते थे । उन्होने बगाल और बिहार को चूस डालने और ज्यादा-से-ज्यादा लगान उगाहने की कोशिश की। उन्होने छोटे मालगुजारो की सृष्टि की और उनसे लगान की मांग बेइन्तहा वढा दी । जमीन का लगान थोडे ही दिनो में दुगुना कर दिया गया । कोई वक्त पर लगान अदा न करता तो फौरन बेदख़ल कर दिया जाता था । मालगुजार अपनी तरफ से यह बेरहमी और सितमगिरी काश्तकार पर ढाते, उन पर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। प्लासी की लडाई के बारह वर्ष और दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति और साथ ही बारिश के न होने से बगाल और बिहार में ऐसा भयकर अकाल पड़ा, कि उसमें कुल आबादी का एक तिहाई हिस्सा नेस्त-नाबूद हो गया । १७६९–७० के इस अकाल की चर्चा मै अपने पिछले एक ख़त में तुमसे कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोडी । इस बारे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफसरो की असाधारण मुस्तैदी का जिक्र खास तौर पर किया जाना चाहिए । चाहे लाखों-करोडों की तादाद में मर्द-औरत और बच्चे मौत के घाट उतर रहे हो तो उतरते रहे, वे तो मुर्दों की लाशो तक से रुपया खींचने की जुर्रत रखते थे, ताकि इग्लैण्ड के मालदारों को भारी-से-भारी मुनाफे बांटे जासके ।

इस तरह अगले बीस या इससे भी ज्यादा वर्षों तक यही हिसाब चलता रहा । अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया चूसती रही और इस तरह बगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया गया । बडे-बडे मालगुजार तक भिखारी हो गये, सिर्फ इसी बात से इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बेचारे मुसीबत के मारे किसानो की क्या हालत हुई होगी । हालत इतनी ख़राब होगई थी कि ख़ुद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चेतना पडा, और स्थिति को सम्भालने की कोशिश करनी पडी । उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो ख़ुद इग्लैण्ड का एक बड़ा जमींदार था, हिन्दुस्तान में अग्रेजी ढग पर जमींदार क़ायम करना चाहता था । पिछले कुछ अर्से से मालगुजार भी जमींदार की सी ही शकल इख़्तियार किये हुए थे।

कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हे ही जमींदार मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली मर्त्तबा हिन्दुस्तान को यह दरमियानी आदमी मिला, और बेचारे काश्तकार महज असामी रह गये। अँग्रेजो ने इन जमींदारो से अपना सीधा ताल्लुक रक्खा और उन्हे अपने असामियो के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। जमींदार के लालची पंजे से बेचारे किसान की रक्षा का कोई साधन न था।

बंगाल और बिहार के जमींदारो के साथ १७९३ में कार्नवालिस ने जो यह फैसला किया था, उसे 'दायमी बन्दोबस्त' कहते हैं। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक जमींदार द्वारा सरकार को दिये जाने वाले जमीन के लगान की रक़म मुकर्रर किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त मुस्तकिल कर दिया गया। उसमें कोई तब्दीली नहीं हो सकती थी। बाद में जब उत्तर-पश्चिम मे अवध और आगरा तक अँग्रेजी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। पर जमींदारो के साथ बंगाल की तरह मुस्तकिल बन्दोबस्त न करके, अस्थायी बन्दोबस्त किया गया। यह स्थायी या ग़ैर-मुस्तकिल बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवे साल, दुहराया जाता था और जमीन के लगान की रकम फिर नये सिरे से मुकर्रर की जाती थी। अमूमन हर बन्दोबस्त में यह रकम बढती ही जाती थी।

दक्षिण में मदरास और उसके आसपास जमींदारी प्रथा जायज नहीं थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा काश्तकारो से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, अपने कभी न पूरे होने वाले लालच की वजह से कम्पनी के अफसरो ने लगान की रकमें बेहद ऊँची करदीं और पूरी बेरहमी से वह वसूल की गई। अदम-अदायगी की सजा होती थी फौरन ही बेदख़ली, लेकिन बेचारा किसान और कहाँ जाता? जमीन पर जरूरत से ज्यादा बोझा होने की वजह से हर जगह उसकी हेठी रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी हमेशा जैसी भी चाहो वैसी शर्तो पर उसे मंजूर करने को तैयार रहते थे। जब अर्से से मुसीबत के मारे किसान और ज्यादा बरदाश्त न कर सकते तो अक्सर लडाई-झगडे और आराजी पर दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच के करीब बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अँग्रेज लोग नील की तिजारत की ग़रज से जमींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असामियो पर नील की खेती के बारे में बडी सख़्त-सख़्त शर्तें लादीं। उन्हे अपने खेतो के कुछ नियत हिस्से में नील की काश्त करने और उसे फिर अँग्रेजी जमींदारो या 'प्लाण्टर्स', जैसा कि उन्हे कहा जाता था, के हाथ एक बँधी दर पर बेचने के लिए

मजबूर किया गया। यह प्रथा 'प्लाण्टेशन' प्रथा कहलाती है। काश्तकारो या असामियो पर जो शर्तें लादी गई थीं, इतनी सख्त थीं कि उनके लिए उनका पूरा करना बहुत मुश्किल था। इधर प्लाण्टर लोगो की मदद के लिए अग्रेज सरकार आ पहुँची और बेचारे किसानो से शर्तों के मुताबिक जवर्दस्ती नील की खेती के लिए खास कानून बना डाले। इन क़ानूनो और इनकी सजाओ के जरिये नील की खेती करने वाले काश्तकार कुछ बातो में इन प्लाण्टरो के गुलाम और चाकर हो गये। नील के कारखानो के कारिन्दे उनको सताते और डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार से सरक्षण पाकर ये अंग्रेज या हिन्दुस्तानी कारिन्दे अपने आपको बिलकुल महफूज समझने लगे थे। अक्सर, जब नील की कीमत गिरजाती, तब किसानो के लिए चावल या ऐसी ही कोई दूसरी चीजें बोने में ज्यादा फायदा रहता, लेकिन उन्हें ऐसा करने नहीं दिया जाता था। किसानों के लिए सख्त मुसीबत और तबाही थी। आखिरकार इन जुल्मो से तग आकर सांप ने फन उठा ही तो लिया। प्लाण्टर्स के खिलाफ़ किसानो ने बलवा कर दिया और एक कारखाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गये।

इस खत में मैंने कुछ खुलासे के साथ उन्नीसवीं सदी के किसानों की हालत का एक चित्र तुम्हें बताने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह हिन्दुस्तानी किसान की क़िस्मत लगातार बद से बदतर होती गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हरेक शख्स ने उसे लूटा, लगान वसूल करने वाला, जमींदार, बनिया, प्लाण्टर और उसका कारिन्दा और सबसे बड़ा बनिया खुद अग्रेज सरकार—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फत, चाहे सीधा—सबके सब उसे चूसते गये। इस सारे शोषण की जड में थी अग्रेजों की वह नीति जो वे हिन्दुस्तान में जान-बूझकर चला रहे थे। घरेलू उद्योग-धंधे, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिये गये और बेरोजगार दस्तकार गांवो में खदेड दिये गये। नतीजा यह हुआ कि जमीन पर जरूरत से ज्यादा दबाव पड़ गया, जमींदारी जारी हुई, नील की खती की प्रथा चलाई गई; जमीन पर भारी टैक्स लगाये गये, जिनका नतीजा हुआ बेहद लगान और उनकी बेरहम वसूली; किसानो को सूदखोर बनियो के आगे ढकेल दिया गया, जिनके फौलादी पजे से उनका कभी छुटकारा हो नहीं सकता था, वक्त पर लगान या मालगुजारी अदा न कर सकने की बेबसी पर बेशुमार बेदखलियाँ की गईं, और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही, महसूल इकट्ठा करनेवाले और जमींदार और कारखाने के कारिन्दो की लगातार ज्यादतियों ने ऐसा आतंक जमाया कि इसने—किसानो के हृदय और आत्मा जो कुछ

उनमें थी सबको कुचल दिया। और इस सबका लाज़िमी नतीजा ख़ौफनाक तबाही के सिवा और क्या हो सकता था ?

भयकर अकाल हुए, जिन्होंने लाखो की आबादी को तबाह कर दिया। और अजीब बात तो यह कि जब कि अनाज की कमी थी और लोग उसके बिना भूखो मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज अमीर सौदागरो के मुनाफे के लिए लाद-लादकर ग़ैर मुल्को को भेजे जा रहे थे। लेकिन असल तबाही रसद की कमी की नहीं थी, क्योंकि रसद— अनाज वगैरा— तो रेल के ज़रिये मुल्क के दूसरे हिस्सो से भी आ सकती थी, बल्कि खरीदने के साधन —पैसे की कमी की थी। १८६१ ई० में उत्तर हिन्दुस्तान में, ख़ासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि जिस हिस्से में अकाल फैला हुआ था, वहाँ की ८½ फीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह वर्ष बाद, १८७६ में, दो वर्ष तक एक और भयानक अकाल उत्तरी, मध्य और दक्षिणी हिन्दुस्तान में पडा। सयुक्त प्रान्त की फिर सबसे भारी तबाही हुई, साथ ही मध्यभारत और पजाब के कुछ हिस्सो में भी वैसी ही तबाही हुई। करीब एक करोड आदमी मौत के मुँह में गये। बीस वर्ष बाद, १८९६ में, क़रीब-करीब इन्हीं अभागे सूबो में हिन्दुस्तान के इतिहास में बिलकुल अपरिचित एक और दूसरा बडा भयकर अकाल पडा। अकाल के इस भयकर आगमन ने उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान को एक दम नीचे बिठा दिया और बुरी तरह कुचल दिया। १९०० में एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे से पैरेग्राफ में मैंनें तुम्हे चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार जबरदस्त क़हत या अकालो का हाल बताया है। इस दर्दनाक क़िस्से में जो ख़ौफनाक मुसीबते और भीषणतायें भरी हुई है, उनका न तो मै बयान कर सकता हूँ, न तुम गुमान ही कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मै यह चाहता भी नहीं कि तुम उन मुसीबतों और भीषणताओ को अनुभव करो, क्योंकि उनका ख़याल होते ही गुस्सा और कटुता पैदा होगी और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी सी उम्र में तुम में कटुता पैदा हो।

तुमने उस बहादुर अग्रेज़ महिला फ्लोरेंस नाइटिंगल का नाम सुना है, जिसने पहले पहल युद्ध मे घायलो की सेवा-शुश्रूषा का ऐसा सुव्यवस्थित सगठन किया था। बहुत पहले ही १८७८ में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज्यादा दर्दनाक नजारा है।" उसने "अपने क़ानूनो के नतीजो" की चर्चा करते हुए लिखा है कि इन्होंनें "दुनिया के सबसे ज्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत सी ऐसी जगहो पर, जहाँ पर अकाल नाम की

कोई चीज़ होती ही नहीं थी, लोगों को चकनाचूर करदेने वाली और लगातार आधे पेट भूखो रहकर मरने की हालत पैदा करदी।"

सचमुच, ऐसे बहुत कम नजारे होगे जो धँसी हुई आँखो और चमकती और निराश नजरो वाले हमारें किसानो से ज्यादा दर्दनाक हो। हमारे किसानो को इतने वर्षों से कितना बोझ उठाना पड रहा है। और हमें यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि हम जो थोडे बहुत खुशहाल हो पाये हैं, उनके इस बोझ का एक हिस्सा बढाकर ही हुए हैं। विदेशी और देशी, हम सभी लोग इस अर्से से मुसीबत के मारे किसान को चूसते रहे है और इसकी पीठ पर सवारी गाठे बैठे हैं। ऐसी हालत में उसकी पीठ टूट जाय तो क्या आश्चर्य?

लेकिन, बहुत अर्से की बात है, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छा युग आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज उसके कानो में सुनाई दी; एक छोटा आदमी आया, जिसने सीधा उसकी आँखो में घुसकर देखा, उसके मुरझाये हुए दिल की तहतक पहुँचकर एक जमाने की उसकी पीडा को अनुभव किया। इसकी नजर म जादू था, स्पर्श में आग थी, आवाज में हमदर्दी और हृदय में करुणा, छलकता हुआ प्रेम और मृत्युपर्यन्त विश्वास था। और जब किसानो, मजदूरो और उन सबनें, जो पैरो तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज को सुना, तो उनके मुर्दा दिल जिन्दा हो उठे, सनसनी से भर गये, उनमें एक विचित्र आशा का उदय हुआ और हर्ष के मारे वे चिल्ला उठे—"महात्मा गाधी की जय" और अपनी मुसीबतो और अत्याचारो की घाटी से बाहर निकलने के लिए तुल खडे हुए। लेकिन जो चक्की इतने दिनो से इन्हें पीस रही थी, उन्हें आसानी से बाहर जानें देने वाली नहीं थी। वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए नये हथियार, नये क़ानून, और आर्डिनेन्स निकले और जकडने के लिए नई जजीरें तैयार हुई। और आगे?—यह बताना मेरे क़िस्से या इतिहास का भाग नहीं है। यह अभी आगे आने वाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, हम सब कुछ अपने आप जान जायेंगे उसमें किसी को सन्देह ही क्या है?

: ११२ :

अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर कैसे शासन किया ?

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान पर मैं अभी तुम्हें तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। अब तक जितने भी पत्र मैंने तुमको लिखे हैं, उनमें पिछला पत्र शायद सब से बड़ा था। लम्बे अर्से की तीव्र वेदना की यह एक दास्तान है, और अगर मैं इसे बहुत ही मुख़्तसर या संक्षिप्त करता तो मुझे डर था कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्किल हो जाता। किसी दूसरे देश या काम की बनिस्बत हिन्दुस्तान के इतिहास के हिस्से पर शायद मैं ज्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह कुछ अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दुस्तानी होने के कारण मेरी इसमें ज्यादा दिल-चस्पी है, और इसके बारे में ज्यादा जानकारी होने की वजह से, अच्छी तरह खुलकर लिख भी सकता हूँ। ऐतिहासिक दिल-चस्पी के सिवा इस ज़माने की और भी बहुत-सी बातें हमारे लिए कहीं ज्यादा दिल-चस्पी का विषय हैं। आज के हिन्दुस्तान की जो हालत है वह उन्नीसवीं सदी की उस जद्दोजहद का नतीजा है। इस समय हिन्दुस्तान जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो उन कारणो को भी हमें जरूर समझना होगा, जिन्होने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी और होशियारी के साथ उसकी सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना और कौन-सा रास्ता इख़्तियार करना चाहिए।

हिन्दुस्तान के इतिहास के इस काल का विवरण अभी मैंने समाप्त नहीं किया है। अभी तो मुझे इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना है। इन पत्रो में मैं इसके एक या अधिक पहलुओ को लूंगा और उसके सम्बन्ध में कुछ बताने की कोशिश करूगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसके समझने में आसानी हो। अलबत्ता यह तुम देखोगी कि जिन प्रगतियो और परिवर्त्तनो या हलचलो और तब्दीलियो का जिक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रो में करूँगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ घटित हुई हैं, एक का दूसरी पर असर पड़ा है और इन्हींके बीच उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का जन्म हुआ है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजो के इन कारनामो और काली करतूतो का हाल पढकर कई जगह तो तुम उनके अत्याचार और उससे पैदा हुई व्यापक तबाही पर गुस्से से भर जाओगी। लेकिन इस सब के होने में ग़लती किसकी थी? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी, बेवकूफी या जहालत का नतीजा नहीं था? कमजोरी और जहालत

हमेशा जुल्म या अत्याचार के बुलानेवाले हुआ करते है। अगर अंग्रेज हमारी आपसी नाइत्तफाकी या फूट से फायदा उठा सकते है, तो यह हमारी ही गलती है कि हम आपस में झगड़ते है। जुदा-जुदा दलो की खुदगर्जी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते और हमें कमजोर बना सकते है, तो उन्हे ऐसा कर सकने का मौका देना ही खुद इस बात की निशानी है कि अग्रेज हमसे ऊँचे है। इसलिए, अगर तुम नाराज होओ तो अपनी इस कमजोरी, जहालत और आपसी लड़ाई पर नाराज होना, क्योकि यही हमारी मुसीबतो का कारण है।

हम लोग इन्हे अग्रेजो के अत्याचार कहते है। लेकिन असल में य अत्याचार है किसके? कौन इनसे फायदा उठाता है? सारी अग्रेज जाति नहीं, क्योकि खुद उस जाति में लाखो बदनसीब और अत्याचार से पीड़ित लोग है। और निस्सन्देह हिन्दुस्तानियो के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे है, जिन्हे हिन्दुस्तान के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न कुछ लाभ हुआ है। तब हम भेद कहाँ करें? दरअसल यह प्रश्न व्यक्तियो का नहीं सिस्टम या प्रणाली का है। हम एक विशाल मशीन के नीचे दबे रहे है, जिसने हिन्दुस्तान के लाखो-करोडो को चूसा और कुचल डाला है। वह मशीन है औद्योगिक पूजीवाद से उत्पन्न नया साम्राज्यवाद। इस शोषण का लाभ ज्यादातर इग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इग्लैण्ड में उसका फायदा कुछ खास वर्गों को ही पहुँचता है। इसी तरह इस शोषण का कुछ हिस्सा हिन्दुस्तान में भी बच रहता है, और कुछ वर्गों को उससे थोडा-बहुत फायदा पहुँच जाता है। इसलिए हमारा कुछ व्यक्तियो से या सारी अग्रेज जाति से नाराज होना बेवकूफी है। अगर कोई प्रणाली गलत है और हमें नुकसान पहुँचाती है, तो उसे ही बदलना होगा। इस बात से कोई खास फर्क नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है। अक्सर नेक और भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली की रट में पड़कर लाचार हो जाते है। दुनिया भर में तुम्हारी इच्छा सबसे बढकर और नेक होने पर भी, तुम बालू और पत्थर को किसी अच्छे खाने में बदल नहीं सकतीं—उनसे अच्छा खाना बना नहीं सकती, चाहे तुम उन्हें कितना ही पकाओ। मेरे खयाल से यही बात साम्राज्यवाद और पूजीवाद की है। इनमें सुधार हो नहीं सकता, इनका एकमात्र असली सुधार है इनका जड से खातमा कर देना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते है। तुम्हें किसी बात को ज्यो का त्यो मान लेने की जरूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने आप अपनी राय क़ायम कर सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत है कि जो कुछ खराब है वह प्रणाली हुकूमत की तर्ज है, और इसलिए व्यक्तियो से नाराज होना बेकार है। अगर हम कोई तब्दीली चाहते है, तो हमें इस प्रणाली पर

हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ नुकसानदेह नतीजे हम हिन्दुस्तान में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत से दूसरे देशो का विचार करते हैं, तो वहाँ भी हम वही प्रणाली और पूजीवाद—साम्राज्यवाद की उसी मशीन को काम करते हुए, और दूसरे लोगो का शोषण करते हुए देखते है।

हम अब अपने किस्से पर वापस लौटते हैं। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज् हिन्दुस्तान में आये, यहाँ के घरेलू उद्योग कितने आगे बढे हुए थे। उत्पादन के तरीको की स्वाभाविक प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी हस्तक्षेप न होता, तो बहुत मुमकिन था कि कभी-न-कभी हिन्दुस्तान में भी यान्त्रिक यानी मशीनो का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस मुल्क में मौजूद था, और जैसा कि हम इग्लैण्ड में देख चुके है नये उद्योगवाद की स्थापना में इनसे बहुत कुछ मदद मिलती थी और दरअसल एक तरह उसी से इग्लैण्ड में वह काम हुआ। अन्त में वही हिन्दुस्तान में भी हुआ होता। राजनैतिक अवस्था में गडबडी होने के कारण मुमकिन है कि इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेजो ने दस्तन्दाजी कर दी। ये लोग ऐसे देश और जाति के प्रतिनिधि थे, जो अपने यहाँ परिवर्त्तन कर बडी-बडी मशीन और कल-कारखाने कायम कर चुके थे। इससे यह कल्पना की जा सकती थी कि ये लोग हिन्दुस्तान में भी इसी तरह का परिवर्त्तन किया जाना पसन्द करेगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगो के जरिये इस तरह का परिवर्तन हो सकने की सम्भावना हो उसे प्रोत्साहित भी करेगे। लेकिन उन्होने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि इससे बिलकुल उलटा जो हो सकता था वही किया। हिन्दुस्तान को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उन्होने उसके उद्योगो को नष्ट कर डाला और मशीनो के उद्योग को हर तरह से निरुत्साहित किया।

इस तरह हम हिन्दुस्तान में एक अजीब हालत पाते है। हम देखते हैं कि इस वक्त योरप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ मेल कर रहे हैं; मौत के मुँह में जाते हुए सामन्त वर्ग को जिन्दा रहनें में सहायता दे रहे हैं, जमींदार वर्ग खड़ा कर रहे है, और सैकडो रक्षित या अधीन हिन्दुस्तानी राजाओ को उनके अर्द्ध-सामन्ती राज्यों में सहारा दे रहे हैं। दरअसल वे सामन्त-प्रथा को हिन्दुस्तान में मजबूत बना रहे है। यही अंग्रेज योरप में मध्यमवर्ग की उस क्रांति के अगुआ थे, जिसने उनकी पार्लमेण्ट को ताक़तवर बनाया था; यही औद्योगिक क्रान्ति के भी अगुआ थे, जिसके परिणाम-स्वरूप ससार में औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म हुआ। इन बातो में अगुआ होने के कारण ही वे अपने प्रतिद्वन्दियो से कहीं आगे बढ़ गये और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान में इस तरह का व्यवहार क्यो किया, यह समझना कुछ मुश्किल नहीं है। पूंजीवाद की सारी बुनियाद ही गला-घोटनेवाली प्रतिद्वन्द्विता और शोषण पर है, और इससे आगे बढी हुई अवस्था का नाम ही साम्राज्यवाद है। इसलिए अपने हाथ में ताकत होने के कारण अंग्रेजो ने अपने वास्तविक प्रतिद्वन्द्वियो की हत्या कर डाली, और दूसरे प्रतिद्वन्द्वियो की प्रगति को जान बूझकर रोक दिया। वे शायद इसलिए जनता के साथ मेला न वढा सके, क्योकि हिन्दुस्तान में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही शोषण करना—लोगो को चूसना—था। शोषक और शोषितो—लुटेरो और लुटने वालो—के हित कभी एक हो नहीं सकते। इसलिए उन्होने—अंग्रेजो ने—हिन्दुस्तान में अभी तक मौजूद सामन्तशाही के वारिसो की आड ली। अंग्रेज जिस समय यहां आये, इन लोगों में असली ताक़त बहुत कम बची हुई थी, लेकिन अंग्रेजो ने इन्हे सहारा दिया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हे दिया जाने लगा। लेकिन ऐसी सस्था या वर्ग को, जो अपनी जरूरत से ज्यादा जिन्दा रह चुकी हो, इस तरह का सहारा कुछ ही अरसे के लिए राहत पहुंचा सकता है, लेकिन सहारे के हटते ही या तो उनका पतन निश्चित है, या फिर उन्हे अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लेना होगा। अंग्रेजो की कृपा पर निर्भर इस तरह की क़रीब सात सौ छोटी-बडी रियासते है। इन बडी रियासतों में से कुछ, जैसे हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बडौदा, ग्वालियर वग़ैरा, को तुम जानती हो। लेकिन यह बडी अजीब बात है कि इन रियासतो के ज्यादातर देशी नरेश प्राचीन सामन्त राजवशों के वशज नहीं है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि अधिकांश बडे जमीदारों की कोई बहुत प्राचीन परम्परा या इतिहास नहीं है। हां, उदयपुर के महाराणा, जो सूर्यवशी राजपूतो के सबसे बडे माने जाते है, जरूर एक ऐसे राजा है जो अपने वंश का घुधले ऐतिहासिक काल से पहले तक का परिचय दे सकते है। जापान का राजा मिकाडो ही शायद एक ऐसा जीवित व्यक्ति है, जो इस विषय में उनका मुकाबिला कर सकता है।

अग्रेजी हुकूमत ने धार्मिक या मजहबी कट्टरता को भी मदद दी। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अग्रेजो का दावा है कि उन्होने ईसाई धर्म को उन्नत बनाया है, फिर भी उनके आगमन ने हिन्दुस्तान में हिन्दुत्व और इस्लाम को और भी कट्टर बना दिया। किसी हद तक प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी, क्योकि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के धर्म और सस्कृति कठोर और कट्टर रूप धारण कर लेते है। इस तरह मुसलमानो के हमलो के बाद हिन्दू धर्म में कट्टरपन आगया, और जात-पात का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू और इस्लाम दोनो ही धर्मों में इस ढग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन यह जो कुछ हुआ उसके

अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनो धर्मों के कट्टरपन को बढाने में जानबूझकर और अनजान में, दोनो तरह, सहायता दी। अंग्रेजो को धर्म या उसके परिवर्तन में कोई दिलचस्पी थी ही नहीं। वे तो रुपया पैदा करने को घर से बाहर निकले थे। वे तो मजहबी मामलो में किसी तरह की दस्तन्दाजी करने से डरते थे, कि कहीं लोग गुस्से में आकर उनके खिलाफ बगावत न कर बैठें। इसलिए हस्तक्षेप का सन्देह तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ गये कि देश के धर्म की या यो कहो कि धर्म के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे। ज्यादातर इसका नतीजा यह हुआ कि धर्म की ऊपरी शकल तो बनी रही, लेकिन अन्दर कुछ न बचा।

कट्टर लोगो की नाराजगी के इस डर से सुधारो के बारे में सरकार सुधारको के खिलाफ कट्टर लोगो का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुक गया। कोई विदेशी सरकार देश में शायद ही कोई सामाजिक सुधार कर सकती है; क्योकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू धर्म और हिन्दू शास्त्र कई बातो में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियो में इसकी प्रगति बहुत धीमी रही। स्वय हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज है, और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्की करते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का परिस्थितियो के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर गायब होगया और उसकी जगह बडे-से-बडे कट्टरपथियो की सलाह से बनाए गये कठोर शास्त्रीय नियमो ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब बिलकुल ही रुक गई। मुसलमानो ने नई परिस्थितियो का और भी ज्यादा विरोध किया और अपने तंग दायरे में ही चक्कर काटते रहे।

सती प्रथा को, जिसमें कि हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जिन्दा ही जल जाती थी, मिटाने का अंग्रेज अपने को बहुत अधिक श्रेय देते हैं। जरूर ही कुछ हद तक वे इसके अधिकारी हैं, लेकिन सच बात तो यह है कि सरकार ने खुद नहीं, बल्कि राजा राममोहन राय के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी सुधारको को इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए कई वर्ष होगये, तब जाकर कही उसने यह क़दम बढाया था। इससे पहले दूसरे शासकों ने भी, और खासकर मराठो ने इसको, रोक दिया था। गोआ में वहाँ के पोर्चुगीज शासक अलबुक़र्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अँग्रेजो ने जो इस प्रथा को उठाया वह हिन्दुस्तानियो के आन्दोलन और ईसाई पादरियो की कोशिशो का ही नतीजा था। जहाँ तक मैं खयाल करता हूँ कि धार्मिक महत्त्व का यही एक सुधार है जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेजो ने देश के सब पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ मेल

कर लिया। अपने कारखानों को कच्चा माल पहुँचाने की नीयत से उन्होंने हिन्दुस्तान को बिलकुल कृषि-प्रधान देश बना दिया। हिन्दुस्तान में कारखाने तरक्क़ी न पा सकें इसलिए मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी! दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को खूब प्रोत्साहित किया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगवाद की उन्नति में सरपट दौड़ लगाई। लेकिन हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने उसे दबाये रक्खा। मशीनों पर की इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० तक हटाई नहीं गई थी, हिन्दुस्तान में कारखाना खोलने का खर्च, यहाँ पर मजदूरी कहीं अधिक सस्ती होने पर भी, इंगलैण्ड से चौगुना पड़ता था। अड़गे या बाधा डालने की इस नीति से प्रगति में चाहे देर भले ही होजाय, लेकिन घटनाओं के लाज़िमी बहाव को रोका नहीं जा सकता। करीब उन्नीसवीं सदी के बीच में हिन्दुस्तान में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूंजी से जूट यानी सन का उद्योग शुरू हुआ। रेलवे के निकलने से उद्योग की वृद्धि में सहायता मिली। १८८० में बम्बई और अहमदाबाद में रूई की मिलें खुलीं, जिनमें ज्यादातर हिन्दुस्तानी पूंजी लगी थी। इसके बाद खानों का नम्बर आया। उद्योग-धन्धों का धीरे-धीरे होनेवाला यह कारबार रुई के कारबार के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूंजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था बिना किसी सरकारी सहायता के। सरकार उदासीनता या खुली नीति (Laissez Faire) की बातें करती थी और कहती थी कि घटनाओं का प्रवाह जैसा है होता रहे, लोग प्राइवेट तौर पर जो कुछ कर रहे हैं, उसमें दखल न दिया जाय। जिस समय अठारहवीं और शुरू की उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी व्यापार ब्रिटिश व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ था, उस समय तो सरकार ने इंग्लैंड में हिन्दुस्तानी व्यापार में दस्तन्दाज़ी करके, उस पर भारी चुंगी लगाकर, उसका रास्ता बंद करके, उसे कुचल दिया। लेकिन इस तरह अपने उद्योग को आगे बढ़ा देने के बाद, यहाँ अब वह लैसे फेयर की नीति बघारने लगी। लेकिन असली बात तो यह है कि वह बिलकुल उदासीन भी भी नहीं। असल में उसने कई हिन्दुस्तानी उद्योगों, खासकर बम्बई की मिलों और अहमदाबाद के बढ़ते हुए रुई के उद्योग को निरुत्साहित किया। इन हिन्दुस्तानी मिलों में तैयार हुए माल पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जो 'एक्साइज़ ड्यूटी' कहाती है। उसका मकसद था लंकाशायर के कपड़े को हिन्दुस्तानी कपड़े से मुक़ाबिला करने में मदद पहुँचाना। करीब-करीब सभी देशों में अपने उद्योगों की रक्षा या आमदनी बढ़ाने की गरज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाई जाती है। लेकिन हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने एक निहायत ग़ैर-मामूली और अजीब बात की। उन्होंने खुद हिन्दुस्तानी माल पर चुंगी लगा दी! इसके खिलाफ़ जबर्दस्त आन्दोलन

होने पर भी, रुई पर यह चुगी अभी पिछले वर्षों तक बनी ही रही।

इस तरह सरकार की अडगा-नीति के रहते हुए भी हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धे की उन्नति होती गई। हिन्दुस्तान के धनिक वर्ग औद्योगिक तरक्की की ज्यादा-ज्यादा पुकार मचाते रहे। तब जाकर कहीं, जहाँतक मेरा ख़याल है १९०५ में, सरकार ने 'तिजारत और व्यवसाय विभाग' को कायम किया। लेकिन इसने भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक ऐसा कोई ख़ास काम किया नही। उद्योग-धन्धो की स्थिति के इस तरह उन्नत होने के कारण शहरो के कारख़ानो में काम करनेवाले औद्योगिक मजदूरो की भी एक श्रेणी बन गई। ज़मीन पर पड़ने वाले बोझ या दबाव, जिसकी कि मै तुमसे चर्चा कर चुका हूँ, और देहती इलाके की अकाल-ग्रस्त अवस्था, इन दोनो ने मिलकर गाँववालो को इन फ़ैक्टरियो में और बगाल और आसाम के नील के खेतो पर काम करने के लिए ढकेल दिया। इस दबाव के कारण बहुत से लोगो को दूसरे देशो में चले जाने के लिए लाचार होना पडा, क्योकि वहाँ उन्हे अधिक मजदूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर लोग दक्षिण-अफरीका, फिजी, मॉरिशश और लंका को गये। लेकिन इस परिवर्तन से मजदूरो का कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशो में इन प्रवासी भारतीयो के साथ बिलकुल गुलामो का-सा वर्ताव किया गया। आसाम के चाय के बगीचो के मजदूरो की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। इस दुर्दशा से उकताकर बाद को उन्होंने चाय के बग़ीचे छोड़कर फिर अपने गाँवो को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवो में भी उन्हे किसीने नहीं अपनाया, क्योकि गाँवो में अब कोई ज़मीन बाकी ही नहीं रही थी।

फैक्टरी या कारख़ानो के मजदूरो को जल्दी ही मालूम हो गया कि किसी कदर ज्यादा मिलनेवाली मजदूरी से कोई ख़ास फायदा नहीं पहुँचता। शहर में हरेक चीज की कीमत ऊँची होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा ख़रचीला पडता था। रहने की जो जगह उन्हे मिलती थी, वह निहायत गन्दी, सीली, अंधेरी और तंदुरुस्ती को बिगाड़ने वाली तंग कोठड़ियाँ होती थीं। उनके काम करते समय की हालत भी रद्दी ही होती थी। गांवो में उन्हे अक्सर भूखो मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताजी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन यहाँ उनके लिए न तो ताजी हवा थी, न काफी धूप। उनकी मजदूरी इतनी नहीं होती थी जो ऊँचे दर्जे का रहन-सहन इख़्तियार किया जा सके। औरतो और बच्चो तक को बहुत-ज्यादा घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चेवाली मातायें अपने बच्चो को अफीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न डालें। औद्योगिक मजदूरों को जिन ज़लील हालतो में रहकर फैक्टरियो में काम करना पड़ता था, वे इसी तरह की

थीं। वे निश्चय ही बहुत दुखी थे, और उनमें असतोष बढ रहा था। कभी-कभी बहुत ही मायूस होजाने पर वे हडताल कर देते और काम छोड बैठते थे। लेकिन वे बहुत ही निर्बल और कमजोर थे, इसलिए उनके पूजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हे कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कडुवे अनुभवो के बाद उन्होने सम्मिलत प्रयत्न का महत्त्व समझा। तब उन्होने मजदूर-सघ बनाये।

यह न समझना कि यह वणन पिछली हालतो का है। मजदूरो की हालत में इधर कुछ सुधार जरूर हुआ है, इन ग़रीबो के नाम मात्र के बचाव के लिए कुछ क़ानून भी बनाये गये है, लेकिन आज भी उनकी वही जलील हालत बनी हुई है, और अगर तुम कानपुर, बम्बई और कुछ दूसरी जगहो पर, जहां कि कारखाने है, जरा जाकर देखोगी तो इन मजदूरो के घर देख कर तुम्हारे दिल दहल उठेंगे।

अपने इस और दूसरे पिछले पत्रो में मैंने तुम्हें हिन्दुस्तान में अंग्रेज और उनकी हुकूमत का हाल लिखा है। यह शासन किस तरह का था और कैसे चलता था? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासक बनी, लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। १८५७ के गदर के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सीधे अपने हाथ में हुकूमत लेली, और उसके बाद इग्लैण्ड का बादशाह, या चूंकि उस समय वहां मल्का राज करती थी इसलिए वह महारानी 'कैसरे-हिंद' के रूप में प्रकट हुई। हिन्दुस्तान में सबके ऊपर गवर्नर जनरल था, जो वाइसराय अर्थात् बादशाह का प्रतिनिधि भी कहलाता था, और उसके नीचे अफसरो के दल के दल थे। हिन्दुस्तान, जैसा कि बहुत कुछ अब भी है, बडे-बडे प्रातो और रजवाडो में या देसी रियासतो में बाट दिया गया था। देशी नरेशो की रियासते मानी तो जाती थीं अर्द्ध-स्वतन्त्र, लेकिन हक़ीक़त में वे पूरी तरह से अंग्रेजों की मातहत थीं। हरेक बडी रियासत में एक अंग्रेज अफसर रहता था जो रेजिडेण्ट कहलाता था और आमतौर पर शासन-प्रबन्ध पर अपना अधिकार रखता था। अन्दरूनी सुधारों में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना खराब या दक़ियानूसी ढग का है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ इस बात में थी कि रियासत में अंग्रेजी सत्ता को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा मजबूत बनायें।

हिन्दुस्तान का करीब एक तिहाई हिस्सा इन रियासतो में बंटा हुआ था। बाकी का दो-तिहाई हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश हिन्दुस्तान कहलाता है। ब्रिटिश हिन्दुस्तान के बडे-बडे अफसर अग्रेज होते थे, उन्नीसवीं सदी के अखीर में कुछ हिन्दुस्तानियों को

इक्के-दुक्के ओहदे मिल गये। लेकिन फिर भी तमाम ताक़त और इख्तियार अँग्रेजो के ही हाथ में रहे, और अभी भी है। फौजी अधिकारियो को छोडकर बाक़ी के ये सब ऊँचे अफसर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह हिन्दुस्तान का सारा शासन इसी विभाग—इण्डियन सिविल सर्विस के अधीन था। इस तरह एक-दूसरे द्वारा नियुक्त की हुई और प्रजा के प्रति ग़ैर-जिम्मेदार अफसरो से बनी सरकार नौकरशाही (Bureaucracy) कहलाती है।

इस आई० सी० एस०—इण्डियन सिविल सर्विस—के बारे में हम बहुत कुछ सुनते रहते है। ये लोग भी एक अजीव दुनिया के जीव रहे है। कुछ बातो में वे बडे कुशल और होशियार थे। वे शासन-व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मजबूत बनाते थे, और उसी सिलसिले में खुद भी उससे खूब फायदा उठा लेते थे। ब्रिटिश शासन को ठोस बनाने और टैक्स वसूल करने वाले सब महकमे बडी खूबी और होशियारी के साथ सगठित किये गये थे। दूसरे महकमो को नजर-अन्दाज कर दिया गया था—उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। जनता द्वारा नियुक्त न होने और उसके प्रति जिम्मेदार न होने के कारण आई० सी० एस० वाले जनता के हितो से सबसे ज्यादा सम्बन्ध रखने वाले इन महकमो पर बहुत कम ध्यान देते थे। जैसा कि ऐसी हालतो में होना स्वाभाविक ही था, ये लोग ढीठ, अभिमानी या घमण्डी हो गये और लोकमत को तुच्छ दृष्टि से देखनें लगे। सकुचित और सीमित दृष्टिकोण के साथ ये लोग अपने आपको दुनिया के सबसे ज्यादा अकलमन्द आदमी समझने लगे। उनके लिए हिन्दुस्तान के हित का असली अर्थ था अपने ही विभाग का हित करना। उन्होंने एक तरह की एक-दूसरे की तारीफ़ करने वाली संस्था बनाली और हमेशा एक-दूसरे की तारीफ की जाने लगी। बेशुमार इख्तियार और निरकुश सत्ता में, जैसा होना स्वाभाविक ही था, ये इण्डियन सिविल सर्विस वाले पूरी तरह हिन्दुस्तान के मालिक बन गये। ब्रिटिश पार्लण्मेट इतनी दूर थी कि इनके कामो में दखल दे नहीं सकती थी, और अगर किसी मौक़े पर दखल देती भी तो देने का कोई कारण नहीं पाती थी, क्योंकि ये लोग उसके और ब्रिटिश उद्योग के हितो को बराबर साधते रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हित या स्वार्थों का प्रश्न था, उसके प्रति उन्हें किसी खास हद तक प्रभावित करने या झुकाने का कोई रास्ता न था। वे इतने असहिष्णु या तुनक-मिजाज हो गये थे कि अपनी मामूली से मामूली आलोचना को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

पिछले वर्ष हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ उथल-पुथल हो चुकी है, लेकिन आई० सी० एस० शुरु में जैसी थी, अब भी बिलकुल वैसी की वैसी बनी हुई है। प्रसिद्ध

भारतीय नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने आई० सी० एस० नौकरशाही की खासियतो का इस तरह वर्णन किया है —

"लोकमत का वे घोर तिरस्कार करते है, ढीठ और अभिमानी होते है, अपनी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता का दम्भ करते रहते है, जनता की चिर सचित भावनाओ को बेदर्दी से ठुकराते रहते है, उसकी न्याय-बुद्धि की नकली अपीलें करते है, सुशासन की अपेक्षा अपने विभाग या महकमे के स्वार्थों को हमेशा ऊचा स्थान देते है।"

कभी-कभी तो उनकी ये खासियते और 'मो समान दूसर कोउ नाहीं' वाली अकड बडी मजेदार मालूम होती है। इनकी दिखावटी शान या श्रेष्ठता और सर्वज्ञता की शेखी हमें गिलबर्ट और सलवियन[१] के नाटको के पात्रो की याद दिला देती है। गिलबर्ट के 'मिकाडो' नामक नाटक का पात्र पूहबाह रग-मच पर तो बडा सुहावना मालूम होता है। लेकिन उसे असली जीवन में और नजदीक से देखने पर शायद वह इतना सुहावना न जंचे। अपने मुह मियां मिट्ठू बनने की आदत और अपनी कारगुजारी पर आत्म-सन्तोष प्रकट करने का ढग दूसरे लोगो के लिए कुछ बहुत खुशगवार नहीं होता, लेकिन इसको दरगुजर किया जा सकता है। ऊँचे अधिकारियो की एक और आदत—एक-दूसरे का पुतला या और कोई स्मारक-चिह्न स्थापित करने या कुछ इमारतो, बाग-बगीचो और सडको के नाम अपनें नामो पर रखवा कर अपनी यादगार को स्थायी बनाने की कोशिशो को भी हम बरदाश्त कर सकते हैं। बात यह है कि ये पुतले आमतौर पर भद्दे होने पर भी इनको नजरअन्दाज किया जा सकता है। लेकिन इनकी स्वार्थपूर्ण नीति को सहन नहीं किया जा सकता था, क्योकि उसका बदनसीब नतीजा होता है अपनी जनता की तबाही।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और योग्य आदमी भी होते थे। लेकिन वे उस नीति के प्रवाह के रुख को बदल नहीं सकते थे, जो कि हिन्दुस्तान को अपने साथ बहाए लिये जा रही थी। कुछ भी हो आई० सी० एस० वाले इग्लैण्ड के औद्योगिक और आर्थिक स्वार्थों की पूर्त्ति करनेवाले एजेण्ट ही तो थे, जिनका खास प्रयोजन था हिन्दुस्तान का शोषण करना।

जिन-जिन विषयों में इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के स्वार्थों या हितो का सम्बन्ध था, उनमें तो हिन्दुस्तान की यह नौकरशाही सरकार कार्यदक्ष और होशियार हो गई। लेकिन शिक्षा, सफाई, अस्पताल और किसी भी राष्ट्र का भला

१. डब्लू एस गिलबर्ट उन्नीसवी सदी का एक प्रसिद्ध नाटककार हो गया है। इसने सर आर्थर सलवियन के साथ मिलकर 'मिकाडो', 'राजकुमारी ईडा,' 'पेशन्स' वगैरा बहुत से गीति-नाट्य तैयार किये थे।

करने वाली और उन्नत बनानेवाली ऐसी ही और दूसरी प्रगतियो को भुला दिया गया था। कई वर्षो तक इन बातों का ख़याल तक नहीं था। पुरानी ग्रामीण पाठशालायें ख़तम हो गई। तब कही धीरे-धीरे और बडी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरूआत भी उन्होने अपनी खुद की गरज़ से ही की थी। ऊँचे ओहदे तो अंग्रेजो से भर गये थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदो और क्लर्को की जगहो को वे भर नही सकते थे। क्लर्कों की ज़रूरत थी, सो क्लर्कों की इस ज़रूरत को पूरी करने के ही लिए शुरू में अंग्रेजो ने ये स्कूल और कालेज खोले। तभी से, हिन्दुस्तान में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही रहा है, और इस शिक्षा से तैयार हुए ज्यादातर लोग है भी सिर्फ क्लर्क बनने के ही क़ाबिल। लेकिन क्लर्कों की तादद जल्द ही सरकारो और दूसरे दफ्तरो की जरूरत से ज्यादा बढने लगी। बहुतो को नौकरी नहीं मिली, और इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारो का एक नया वर्ग बन गया। आज ऐसे ग्रेजुएटो और दूसरे शिक्षितो का एक बडा समुदाय मिलेगा, जिन्होने यूनीवर्सिटियो में इतनी उम्र गुज़ारने के बाद भी कोई तिजारत या दस्तकारी नहीं सीखी। इनमें से लोग ज्यादातर कोई भी चीज़ बना या पैदा नहीं कर सकते। वे सिर्फ क्लर्क या सरकारी दफ्तरो में छोटे अहलकार या वकील ही हो सकते है।

इस नई अंग्रेजी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ा और इसलिए शुरू में ज्यादातर क्लर्कों की भरती इन्हीं बगालियो में से हुई। १८३७ में तीन युनिवर्सिटियाँ—कलकत्ता, बम्बई और मदरास में खुलीं। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुसलमानो ने इस नई शिक्षा के प्रति अपनी दिलचस्पी नही बतलाई। इस तरह क्लर्की और सरकारी नौकरियो की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायत का एक कारण हो गया।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब सरकार ने तालीम की शुरूआत की तो लड़कियो को इस समय भी बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जो शिक्षा दी जा रही थी वह क्लर्क तैयार करने की थी, और पुरुष क्लर्कों की ही जरूरत थी, और उस समय की पिछडी हुई सामाजिक रूढियो के कारण, पुरुष ही मिल भी सकते थे। इसलिए लड़कियो की तालीम के सवाल को बिलकुल छोड दिया गया, और बहुत वर्षो के बाद जाकर कहीं उनके लिए शुरूआत की गई।

जब मै हिन्दुस्तान के बारे में कुछ लिखने बैठता हूँ तो मेरी कलम आगे ही आगे ही बढ़ती जाती मालूम होती है। लेकिन इस युग के सम्बन्ध में मैं एक पत्र और लिखूंगा और तुम्हें बताऊँगा कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की वृद्धि किस तरह हुई।

: ११३ :

हिन्दुस्तान का पुनर्जागरण

७ दिसम्बर, १९३२

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत का पाया किस तरह मजबूत हुआ, और किस नीति को इख्तियार करके उसने हमें गरीब और तबाह कर दिया, यह मैं तुम्हे बतला चुका हूँ। देश में शान्ति जरूर हुई और व्यवस्थित शासन भी कायम हुआ, और मुग़ल साम्राज्य के पतन से पैदा हुई गड़बडी के बाद ये दोनो ही बातें अच्छी थीं। चोर-डाकुओ के सगठित दलो का दमन कर दिया गया। लेकिन खेतो और कारख़ानो में काम करनें वाले किसान और मजदूरो के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई ख़ास मूल्य न था, क्योंकि वे अब नई हुकूमत की भारी चक्की के नीचे कुचले जा रहे थे। लेकिन मै तुम्हें एक बार फिर याद दिलाऊँगा कि किसी देश या जाति पर—इग्लैण्ड या इग्लैण्ड के रहनेंवालो (अग्रेजो) पर, नाराज होना ठीक नहीं है, क्योंकि वे भी हमारी तरह परिस्थितियो के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन प्राय बडा निर्दय और कठोर है। इस पर उत्तेजित होना या लोगो पर खाली दोष लगाना एकदम बेवकूफी है, और उससे कोई मदद नहीं मिलती। बुद्धिमानी और समझदारी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणो को समझने, उन्हें दूर करने की, कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा करने में नाकामयाब रहते हैं और घटना-क्रम की दौड में पिछड जाते है, तो लाजिमी तौर पर उसका बुरा नतीजा भुगतना पडेगा। हिन्दुस्तान इसी तरह पिछड़ा है। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज लकीर का फकीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और निर्जीव होकर सडने लगी। ऐसी हालत में हिन्दुस्तान को मुसीबतें झेलनी पडीं तो उसमें अचरज की बात नहीं है। अग्रेज तो इन मुसीबतों के साधन-मात्र बन गये। अगर वे यहाँ न आये होते, तो शायद कोई दूसरी जाति आती और इसी तरह का बरताव करती। इसलिए हमें अग्रेजो को दोष देने की जरूरत नहीं। लेकिन इसके साथ ही अग्रेजो का बडी सजीदगी और शान के साथ यह कहना भी हद्द दरजे की बेहूदगी है कि वे हिन्दुस्तान के ट्रस्टी है, और उन्होंने उसपर बे-शुमार नियामतें बरसाई है। अन्धे आत्म-सन्तोष के साथ किसी तरह की दलील नहीं की जा सकती। उसे तो फिजूल की बकवास ही कहा जा सकता है।

लेकिन अग्रेजो ने हिन्दुस्तान को एक बड़ा फायदा पहुँचाया। उनके नये और स्फूर्तिवाले जीवन के साथ की टक्कर ने हिन्दुस्तान को हिला दिया और उसमें राज-

नैतिक संगठन और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर दी । हमारे इस प्राचीन देश और जाति का कायाकल्प करने या उसमें फिर नव-यौवन पैदा करने के लिए शायद ऐसी ठोकर की—हालाँकि वह तकलीफदेह या कष्टप्रद जरूर थी—-जरूरत थी । क्लर्क तैयार करने के लिए दी जाने वाली अग्रेजी तालीम ने हिन्दुस्तानियो को सामयिक पश्चिमी विचारो के सम्पर्क में भी ला दिया । इससे अब अग्रेजी पढ़े-लिखो का एक नया वर्ग बनने लगा । ये लोग यद्यपि सख्या में कम और सर्वसाधारण जनता से अलग से थे, लेकिन फिर भी नवीन राष्ट्रीय आन्दोलनो में आगे बढ़ने पर तुले हुए थे । ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के बडे भक्त और अग्रेजो के स्वाधीनता-सम्बन्धी विचारों के बडे प्रशसक थे । उन दिनो इंग्लैण्ड में कुछ लोग स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के विषय में बडी-बडी बातें करते थे । लेकिन ये सब बातें गोल-मोल होती थीं, और यहाँ हिन्दुस्तान में इंग्लैण्ड अपने फायदे के लिए निरकुंश शासन चलारहा था । लेकिन बडे विश्वास के साथ यह आशा दिलाई जा रही थी कि ठीक समय आ जाने पर इग्लैण्ड हिन्दुस्तान को आजादी देदेगा ।

हिन्दुस्तान के पश्चिमी विचारो के ससर्ग में आने का कुछ असर हिन्दू धर्म पर भी पड़ा । जन-साधारण पर तो कुछ प्रभाव नहीं हुआ, बल्कि जैसा कि मै पहले तुम्हे बता चुका हूँ, सरकार की नीति नें कट्टरपथियो को ही वास्तविक सहायता पहुँचाई, लेकिन सरकारी मुलाजिमो और पेशेवर लोगो की जो नई मध्यम श्रेणी बन रही थी, उसपर असर पड़ा । उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही बगाल में हिन्दूधर्म को पश्चिमी ढग पर सुधारने की कोशिश की गई । जरूर ही पुराने जमाने में भी हिन्दूधर्म में कई सुधारक हो चुके है, जिनमें से कुछ का जिक्र मै तुमसे इन पत्रो में कर चुका हूँ । लेकिन इस नई कोशिश पर निश्चित रूप से ईसाइयत और पश्चिमी विचारो का असर था । इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान् पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय, जिनकी चर्चा हम अभी सती-प्रथा उठाने के सम्बन्ध में कर आये है । उन्हे सस्कृत, अरबी और कई दूसरी भाषाओ का अच्छा ज्ञान था, और जुदे-जुदे धर्मों का भी उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था । वे पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के हामी थे । उन्होंने जो समाज स्थापित किया वह 'ब्राह्म-समाज' कहलाता था । जहाँ तक सख्या का सबध है, वह एक छोटी सी ही जमात थी और अब भी वैसी ही है, और बगाल के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो तक ही महदूद थी । लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका जबर्दस्त असर पडा । ठाकुर—-रवीन्द्रनाथ—-परिवार ने इसे ग्रहण कर लिया, और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से मशहूर, कविवर रवीन्द्रनाथ के (जहाँ तक मेरा ख़याल है) पिता,

बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ थे। इसके दूसरे प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। पजाब में इसकी शुरूआत हुई और स्वामी दयानन्द इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होने 'आर्य समाज' नाम की एक दूसरी सस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दू धर्म में पीछे से पैदा हुई रूढियो का खण्डन किया और जात-पात के साथ युद्ध छेडा। इस समाज की पुकार थी, "वेदो की शरण में आओ।" हालांकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारो से प्रभावित एक सुधारक आन्दोलन था, लेकिन मूलत यह एक आक्रमणकारी या खण्डनात्मक जोशीली प्रवृत्ति थी। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि, आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओ के अनेक समुदायो में सबसे ज्यादा इस्लाम के नजदीक पहुँचता था, उसका—इस्लाम का—प्रतिद्वद्वी और विरोधी वन गया। यह अपने ही बचाव में लगे हुए और स्थिर हिन्दू धर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म में बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का कुछ रग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। दरअसल इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। इस राष्ट्रीयता के हिन्दूपन का ही यह नतीजा था कि वह भारतीय राष्ट्रीयता न वन सकी।

ब्राह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था, खासकर पजाब में तो बहुत ही ज्यादा। लेकिन यह ज्यादातर मध्य श्रेणी या औसत दर्जे के लोगों तक ही सीमित था। समाज ने शिक्षा-प्रचार का काम बहुत काफी किया है, और लडके और लडकियो दोनों ही के लिए इसने स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी के एक और प्रसिद्ध धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहस हुए। लेकिन इस पत्र में मैंने जिन महापुरुषो का जिक्र किया है, उन सबसे वह जुदा थे। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होने सेवा पर जोर दिया, और अनेक 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागो में दुर्वल और दरिद्र नारायण की सेवा का यह काम आज भी कर रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए है। उन्होने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह आन्दोलन किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या अन्य किसी का भी विरोधी नहीं था, न आर्यसमाज की तरह यह राष्ट्रीयता सकुचित ही थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू ही था और इसका आधार हिन्दूधर्म और हिन्दू सस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात है कि हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता

की आरम्भिक लहरो का रूप धार्मिक और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान स्वभावत' ही कोई भाग नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेजी तालीम से अपने को अलग रखने के कारण नये विचारों का उनपर कम असर हुआ, और उनमें तालीम हासिल करनें का उत्साह बहुत ही कम था। कई दसियो साल बाद उन्होनें अपने तग दायरो से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओ की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने भी, इस्लामी रवायतो और तहज़ीब के मुताबिक इस्लामी शकल इख्तियार की, उन्हे डर था कि बहुमत में होने के कारण हिन्दू कहीं इन्हे नष्ट न करदें। लेकिन मुसलमानो की यह तहरीक बहुत देर के बाद—सदी के अख़ीर के क़रीब, प्रकट हुई।

हिन्दू और मुस्लिम धर्म के इन सुधार और प्रगतिवादी आन्दोलनो की एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें पुराने धार्मिक विचारो और रिवाजों को, जहाँ तक हो सका पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारो के अनुकूल बनानें की कोशिश की गई थी। न तो वे इन पुरानें विचारो और रिवाजो की उपयुक्तता के सम्बन्ध में चैलेञ्ज करने या निर्भयता के साथ इन्हे कसौटी पर कसनें को तैयार थे, न वे नई दुनिया के वैज्ञानिक आविष्कारो और अपने चारो तरफ फैले हुए राजनैतिक और सामाजिक विचारो को ही न नजरअन्दाज कर सकते थे। इसलिए उन्होने यह साबित करने की कोशिश करके कि सारे नये ख़यालात और प्रगतियो का उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में पता चल सकता है, इन पुराने और नये दोनो तरह के विचारो में एकता करने की कोशिश की। इस कोशिश का नाकामयाब होना लाज़िमी ही था। उसने लोगो को सीधी तौर से विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया की शकल बदल देनेवाली नई ताकतो और नये विचारो को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओ और पुरानी रवायतों के बोझ के नीचे दबे जा रहे थे, आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हमेशा लुक-छिपकर पीछे की तरफ ताकते थे। अगर कोई अपना सिर हमेशा पीछे को मोडे रहे और उसी तरफ देखता रहे, तो उसका आगे बढना आसान नहीं है। इस तरह तो वह ठोकर खायगा और अपनी गर्दन में दर्द बढ़ा बैठेगा!

शहरो में धीरे-धीरे अंग्रेजी पढ़े-लिखो की जमात बढ़ गई, और उसी समय वकालत, डाक्टरी वग़ैरा पेशेवालो और साहूकारो और व्यापारियो की एक नई मध्यम श्रेणी या बीच की जमात पैदा हो गई। अवश्य ही पुराने ज़माने में भी एक मध्यम श्रेणी थी, लेकिन वह ज्यादातर अंग्रेजो की प्रारम्भिक नीति द्वारा कुचल दी गई थी। यह नई मध्यम श्रेणी अंग्रेजी शासन का प्रत्यक्ष परिणाम था, असल में यह

ब्रिटिश शासन की ही टुकडखोर थी। जनता की लूट में से इन लोग को भी थोडा-सा हिस्सा मिल जाता था, ब्रिटिश शासक वर्ग के तकल्लुफ से भरे लजीज और तर खानें की रकाबियों से लदी मेजो पर से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकडे वे भी पा जाते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेजी शासन प्रबन्ध में सहायता देनेवाले छोटे-मोटे अहलकार, अफसर, अदालतो की क़ानूनी कार्रवाइयो में मदद पहुँचाने और मुकद्मेबाजी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर, और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के दलाल साहूकार, जो अपने मुनाफे या कमीशन के लिए ब्रिटिश माल बेचते थे।

इस नई मध्यम श्रेणी में ज्यादातर हिन्दू थे। इसका कारण था मुसलमानों की बनिस्बत इनकी आर्थिक या माली हालत कुछ बेहतर होना, और अंग्रेजी शिक्षा का प्राप्त करना, जोकि सरकारी नौकरियां पाने और वकालत आदि पेशे के लिए पासपोर्ट की तरह थी। मुसलमान आमतौर पर ग़रीब थे। अंग्रेजो द्वारा यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये जाने पर, जो जुलाहे तबाह हो गये थे, उनमें ज्यादातर मुसलमान ही थे। बंगाल में, जहाँ कि मुस्लिम आबादी हिन्दुस्तान के दूसरे किसी भी सूबे से ज्यादा है, वे लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। जमींदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गांव का बनिया या महाजन भी हिन्दू ही होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गांववालो के हाथ सामान बेचने के लिए दुकान रखता था। इस तरह जमींदार और महाजन दोनो ही काश्तकार की पीठ पर सवारी गाँठ कर उसे चूसने में समर्थ थे और अपनी इस स्थिति का वे पूरा फायदा उठाते थे। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना अच्छा होगा, क्योकि हिन्दू-मुस्लिम तनाजे की जड यही है।

इसी तरह उच्चवर्ण वाले हिन्दू, खासकर दक्षिण में, दलित कही जाने वाली जातियो को, जो ज्यादातर खेतो पर काम करती थीं, चूस रहे थे। पिछले दिनो से और खासकर बापू के उपवास के बाद से दलित वर्ग की यह समस्या बहुत जोरो से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारो तरफ से हमले हो रहे हैं और सैकडो मन्दिर और दूसरे स्थान अछूतो के लिए खुले कर दिये गये हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जब तक यह दूर नहीं होता, तब तक दलित जातियां दलित ही रहेगी। अछूत लोग बेगारी बना रक्खे गये, जिन्हे जमीन रखने की इजाजत नहीं थी। और भी कई बातो में वे अयोग्य क़रार दिये गये थे। हालाँकि सारा हिन्दुस्तान और जनसमूह ज्यादा-से-ज्यादा ग़रीब होता गया, फिर भी नई मध्यम श्रेणी के मुट्ठी भर लोग किसी क़दर खुशहाल हो गये, क्योंकि देश के आर्थिक शोषण में इनका भी हाथ था। वकील-बैरिस्टर वग़ैरा क़ानूनपेशा और

डाक्टर वगैरा दूसरे पेशेवर लोगो और साहूकारो ने कुछ धन इकट्ठा कर लिया। इस धन को वे कारबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। बहुतो ने ग़रीबी के शिकार ज़मीदारो से जमीन ख़रीद ली और ख़ुद उसके मालिक या ज़मींदार बन गये। दूसरे लोग अंग्रेज़ी उद्योगो की आश्चर्य-जनक सफलता देखकर हिन्दुस्तान में भी वैसे कारख़ानो में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह हिन्दुस्तानी पूजी इन बडी मशीनो के कारख़ानो में लगी और एक नया हिन्दुस्तानी औद्योगिक पूजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीब पचास साल पहले, सन् १८८० के बाद।

जैसे-जैसे ये मध्यवर्ग के अमीर लोग बढते गये, उसी तरह उनकी भूख या हविस भी बढती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने, ज्यादा-ज्यादा रुपया पैदा करने, सरकारी नौकरियो में ज्यादा जगह पाने और कारख़ाने खोलने के लिए अधिक सहूलियते हासिल करने की होती गई। उन्होने हर जगह अँग्रेज़ो को अपने रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर अँग्रेज़ो ने अपना एकाधिकार जमा रक्खा था। तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होने आन्दोलन शुरू किया, और यही इस नई राष्ट्रीयता की बुनियाद थी। १८५७ के ग़दर और उसके बेरहम दमन के बाद जनता इतनी कुचल दी गई थी कि कोई भी तहरीक या उग्र आन्दोलन हो सकना कठिन था। फिर से थोड़ा बहुत चेतने में उन्हे कई वर्ष लग गये।

पर शीघ्र ही देश के वातावरण में राष्ट्रीय विचार भर गये, और बंगाल इसमें अगुवा हो रहा था। १८७२ में बकिमचन्द्र चटर्जी नामक एक बगाली सज्जन ने 'आनन्द मठ' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक में ऐसे ही राष्ट्रीय विचार भरे हुए थे और उसने इनको और भी ज्यादा फैला दिया। बंगाली में यह नये ढग की किताब थी; साहित्य पर इसका बडा असर हुआ, साथ ही बगाल में राष्ट्रीयता की बढ़ती में भी इसका बडा हाथ रहा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्दे-मातरम्' इसी पुस्तक से लिया गया है। यहाँ पर मै इस बात की भी चर्चा करदू कि 'आनन्द मठ' से कोई बारह वर्ष पहले एक बगाली कविता निकली थी, जिसने बडी सनसनी पैदा कर दी थी। इसका नाम था 'नील दर्पण'। इसमें नील की खेती में प्लाण्टेशन-पद्धति से, जिसका कि हाल कुछ मै तुम्हे बता चुका हूँ, बंगाल के किसानो की होने वाली तबाही का बड़ा ही दर्द-नाक वर्णन किया गया था।

इसी दरमियान हिन्दुस्तानी पूजीपतियो की ताक़त भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-पैर फैलाने के लिए और ज्यादा जगह माँग रहे थे। आख़िरकार १८८५ में नई

मध्यम श्रेणी के इन सब वर्गों ने मिलकर अपना पक्ष समर्थन करने के लिए एक सस्था बनाने का निश्चय किया। इस तरह १८८५ में हमारी राष्ट्रीय महासभा—इण्डियन नेशनल काग्रेस—की नींव पडी। जैसा कि तुम और हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है, यह सस्था पिछले वर्षों में एक बहुत बडी और ताकतवर सस्था बन गई है। इसने जनसाधारण का पक्ष लिया, और कुछ हद तक उनकी सरक्षक बन गई। इसने हिन्दुस्तान में अग्रेजी हुकूमत की बुनियाद को ही चुनौती दी, और उसके ख़िलाफ सार्वजनिक आन्दोलन चलाये। इसने स्वतन्त्रता का झडा ऊँचा उठाया और आज़ादी के लिए यह मर्दानगी के साथ लडी। आज भी उसका यह युद्ध जारी है। लेकिन यह सब कुछ इधर का पिछला इतिहास है। यह जब पहले पहल कायम हुई, एक बहुत ही नरम और फूँक-फूँककर क़दम रखने वाली, अग्रेजो के प्रति अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करनेवाली, और छोटे-छोटे सुधारो के लिए बडी नम्र भाषा में माँग पेश करनेवाली सस्था थी। उस समय यह धनिक मध्यमवर्ग की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम श्रेणी तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। आम रिआया, किसान और मजदूरो को तो इससे कुछ लेना-देना था ही नहीं। यह ख़ासकर अग्रेजी पढ़े-लिखों की सस्था थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली जबान अग्रेजी में होती थी। इसकी मांगें ज़मींदारो, हिन्दुस्तानी पूजीपतियो, नौकरियो की तलाश में रहनेवाले शिक्षित बेकारों की माँगें होती थीं। रिआया की जरूरतो या उसे तबाह करनेवाली ग़रीबी पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। इसने नौकरियो के 'भारतीयकरण', अर्थात् सरकारी नौकरियो में अग्रेजों की बनिस्बत हिन्दुस्तानियो को ज्यादा-से-ज्यादा जगहें दी जाने, की माँग की। इसने यह न देखा कि हिन्दुस्तान की जो कुछ खराबी है, उस मशीन में है जो जनता का शोषण करती है, और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पडता कि वह किसके अधिकार में है, हिन्दुस्तानियो के या विदेशियो के। काग्रेस की दूसरी शिकायत थी फौज और सिविल सर्विस के अग्रेजी अफसरो के जबरदस्त खर्चे की और हिन्दुस्तान के सोने-चादी को इग्लैण्ड 'बहाये जाने' की।

यह ख़याल न करना कि शुरू में काग्रेस कितनी नरम थी, यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूँ अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा यह मतलब नहीं है, क्योकि मेरा विश्वास है कि उन दिनो की काग्रेस और उसके नेताओ ने बहुत बडा काम किया है। हिन्दुस्तान की राजनीति के कठोर तथ्यो और वाक़यात ने इस सस्था को धीरे-धीरे और बिलकुल बेदिली से ज्यादा-ज्यादा उग्र नीति ग्रहण करने के लिए मजबूर किया है लेकिन अपने शुरू के जमाने में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नही सकती थी। उन दिनो अगर इसके

संस्थापक लोग आगे बढ़ना भी चाहते, तो उनके लिए बडे साहस की जरूरत थी। जब रिआया हमारे साथ हो और हमारी आज़ादी की चाह के लिए हमारी तारीफ़ करती हो, उस समय हमारे लिए बडी बहादुरी के साथ आजादी की बाते करना बडा आसान है। लेकिन किसी बडे काम में अगुवा बनना बडा मुश्किल है।

पहली काग्रेस १८८५ में बम्बई में हुई। बगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले सभापति थे। उस शुरू ज़माने के और दूसरे ख़ास नाम है सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, और फिरोजशाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर एक सबसे ऊँचा नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो भारत के वृद्ध पितामह कहलाते थे और जिन्होंने सबसे पहले हिन्दुस्तान के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। तुम्हें इस नाम से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए, क्योंकि उनके बडे लड़के हमारे प्रिय मित्र और साथी है; जब कभी हम बम्बई जाते है उन्हींके मकान पर ठहरते है। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योकि पुरानी कांग्रेस के अगुवाओ में से जीवित व्यक्ति एक मात्र वही बचे है और उन्हे तुम अच्छी तरह जानती हो। वह है पण्डित मदनमोहन मालवीय। पचास वर्ष से भी ज्यादा अर्से से वह हिन्दुस्तान के हित में जूझ रहे है, और बुढापे और चिन्ताओ से चूर-चूर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के लिए परिश्रम किये जा रहे है।

इस तरह कांग्रेस सालोसाल आगे बढ़ती गई, और ताक़त बढ़ाती गई। शुरू जमाने की हिन्दू राष्ट्रवादिता की तरह इसका दृष्टिकोण सकुचित नहीं था। फिर भी ख़ासकर यह हिन्दुओं की ही थी। कुछ ख़ास-ख़ास मुसलमान इसमें शामिल हुए, और इसके सभापति तक बने, लेकिन समुदाय रूप से मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता थे सर सैयद अहमद खां। उन्होंने देखा कि तालीम, ख़ास-कर मौजूदा तालीम, की कमी की वजह से ही मुसलमानो का ज्यादातर नुक़सान हो रहा है, और वे इतने पिछडे हुए है। इसलिए उन्होने यह निश्चय किया कि राज-नीति में घुसने से पहले मुसलमानो को इस तालीम के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताकत इसी पर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होने मुसलमानो को कांग्रेस से अलग रहनें की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक सुन्दर कालेज क़ायम किया जो आगे यूनीवर्सिटी में तब्दील हो गया है। ज्यादा-तर मुसलमानो ने सर सैयद की राय मानकर अपने को कांग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी थोडी तादाद तो हमेशा इसके के साथ रही। यह याद रहे कि जब मै बहुमत या अल्पमत की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब उच्च मध्यम वर्ग के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू-मुसलमानो के अल्प या बहुमत से होता है। दोनो, हिन्दू और मुसलमान

जन-साधारण का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनो इनमें से बहुत कम ने इसका नाम सुना होगा। निम्न मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

कांग्रेस बढी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आजादी की चाह बढी। सिर्फ अंग्रेजी पढे-लिखो तक महदूद होने के कारण कांग्रेस की पुकार या पहुँच स्वभावत ही परिमित थी। किसी हद तक इसने जुदे-जुदे प्रान्तों को एक-दूसरे के नजदीक लाने और एक समान दृष्टिकोण बनाने में मदद दी। लेकिन इसकी पैठ जनता तक गहरी न होने के कारण इसके पास ताकत कुछ न थी। किसी दूसरे पत्र में मैंने तुम से एक घटना जिक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हल-चल मचा दी थी। यह १९०४–५ में छोटे-से जापान की भीमकाय रूस पर हुई विजय थी। एशिया के दूसरे देशो के साथ-साथ हिन्दुस्तान अर्थात यहां के अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग इससे बहुत प्रभावित हुए और उनका आत्मविश्वास बढ गया। अगर योरप के एक सबसे अधिक शक्तिशाली देश के खिलाफ जापान सफलता पा सकता है तो हिन्दुस्तान क्यो नहीं पा सकता ? बहुत अर्से से हिन्दुस्तानी लोग अपने को अंग्रेजो के मुक़ाबिले में तुच्छ से मानते आ रहे थे। अंग्रेजो के लम्बे अर्से के शासन और १८५७ के ग़दर के निर्दय दमन ने उन्हे डरपोक बना दिया था। साथ ही हथियार न रखने का कानून बनाकर उन्हे हथियार रखने से रोक दिया गया था। हिन्दुस्तान में होनेवाली हरेक बात उन्हे इस बात की याद दिलाती थी कि वह एक गुलाम कौम है, एक तुच्छ जाति है। जो शिक्षा उन्हे दी जाती थी, वह तक उनमें इसी तरह की तुच्छता के विचार भरती थी। बिगाडे हुए और झूठे इतिहास द्वारा उन्हें बताया जाता था कि हिन्दुस्तान में हमेशा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान हमेशा एक-दूसरे का गला काटते हैं और आखिरकार अंग्रेजो ने ही उनकी सहायता के लिए आकर इस देश का इस बदबख्त हालत से पीछा छुडाया, और इस पर सुख और शान्ति की वर्षा की। सचाई और इतिहास की कोई परवाह न कर अंग्रेज यह समझाते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया दरअसल एक पिछडा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे हमेशा अंग्रेजो के ही शासन में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय एशियावालो के लिए एक बडी स्फूर्तिदायक बात हुई। हिन्दुस्तान में हममें से ज्यादातर में अपने को तुच्छ समझने की जो भावना फैली हुई थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बंगाल और महा-राष्ट्र में, बडी व्यापकता के साथ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड़ से हिला दिया और देशभर में सनसनी मचा दी। सरकार ने बंगाल

के बडे प्रान्त को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सो में बांट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बगाल था। बंगाल के उन्नत राष्ट्रवादी मध्यम वर्ग ने इसका विरोध किया। उसे डर था कि अग्रेज बगाल के इस तरह टुकडे करके उसे कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बगाल में मुसलमानो का बहुमत था, इसलिए इस बटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बगाल भर में एक जबर-दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पडा। बहुत से छोटे ज़मींदार और पूंजीपति इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' की पुकार मची और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बहिष्कार की घोषणा हुई, जिससे हिन्दुस्तानी उद्योग और पूंजी में नि सन्देह सहायता पहुँची। कुछ हद तक आम जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया था, और हिन्दूधर्म से भी इसको कुछ प्रेरणा मिली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा के विचार भी पैदा हुए और हिन्दुस्तान की राजनीति में पहली वार 'बम' का पदार्पण हुआ। बंगाल में आन्दोलन के एक ज्वलन्त नेता अरविन्द घोष थे। वे अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ़ासीसी भारत के पाण्डेचरी नाम के शहर में आश्रम बनाकर आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी उत्तेजना फैली हुई थी, और हिन्दुत्व के रग रँगी हुई उग्र राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बाल गंगाधर तिलक नाम के एक महान नेता हुए जो हिन्दुस्तान भर में लोकमान्य के नाम से मशहूर हैं। तिलक एक महान् विद्वान थे; वह पूर्वी और पश्चिमी दोनो सिद्धान्तों के एक समान जानकार थे, बडे भारी राजनीतिज्ञ थे, और सबसे बडी बात यह कि वे एक महान् सार्वजनिक नेता थे। कांग्रेस के नेताओ की पहुँच अभी केवल अग्रेज़ी पढे-लिखे लोगो तक ही हो सकती थी, आम जनता उन्हे बहुत कम जानती थी। लेकिन तिलक नव-भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए हैं, जो जनता तक पहुँचे और उससे ताकत हासिल की। उनके ज़बर्दस्त व्यक्तित्त्व के कारण जनता में शक्ति और न जीती जा सकने वाली हिम्मत के नवीन भावो का उदय हुआ और इसके साथ बगाल की राष्ट्रीयता और बलिदान की नवीन भावना ने मिलकर भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल दिया।

सन् १९०६–७ और ८ के इन सनसनीपूर्ण दिनो में काग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना के जागरण के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र को आगे बढ़ाने के बजाय, पीछे धकेल रहे थे। उन्हें एक शान्त प्रकार की राजनीति में रहने की आदत हो गई थी, जिसमें जनता दख़ल नहीं देती थी। बंगाल का धधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था, न महाराष्ट्र का नवीन दुर्दमनीय उत्साह ही, उन्हें अच्छा

लगता था, जिसके कि मूर्त्तिमान स्वरूप लोकमान्य तिलक थे। 'स्वदेशी' आन्दोलन की तो उन्होने प्रशसा की, लेकिन ब्रिटिश माल के वहिष्कार से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ वगाली नेताओ के नेतृत्व में गरम दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओ का नरम दल। नरम दल के सबसे प्रमुख नेता एक नवयुवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, जो वडे भारी विद्वान थे और जिन्होने अपना सारा जीवन सेवा में लगा दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी दलो को लेकर तिलक और इनमें आपस में एक-दूसरे से मुक़ाबिला होता रहता था। इसका लाजमी नतीजा यह हुआ कि १९०७ में फूट पैदा हुई और कांग्रेस दो हिस्सो में बँट गई। नरम दलवालो का काग्रेस पर अधिकार वना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गये। नरम दलवाले जीत तो गये लेकिन उनकी लोकप्रियता उठ गई, क्योकि जनता में तिलक का दल वहुत प्रिय था। कांग्रेस कमजोर होगई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम मात्र को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? वढती हुई भारतीय राष्ट्रीता का इसने किस तरह जवाब दिया? सरकार के पास किसी ऐसी दलील या माँग का, जिसे वह पसन्द नहीं करती, जवाव देने का सिर्फ एक ही तरीक़ा है—लाठी का प्रयोग। इसलिए सरकार दमन पर उतर आई, लोगो को जेलो में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानून बनाकर अख़बारो को दबाया गया, और हरेक ऐसे व्यक्ति के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफिया पुलिस और जासूसो के दल के दल छोड दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के लोग हिन्दुस्तान के ख़ास-ख़ास राजनैतिक नेताओं के साथ लगे रहते हैं। वगाल के बहुत से नेताओ को क़ैद की सजा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हे छ वर्ष की क़ैद की सजा दी गई थी, और जिन्होने अपनी क़ैद के दिनो में माण्डले जेल में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'गीतारहस्य', लिखा था। लाला लाजपतराय भी वर्मा निर्वासित कर दिये गये।

लेकिन दमन वगाल को कुचलने में कामयाब नहीं हुआ। इसलिए जल्दी ही शासन-सुधार का और एक क़दम उठाया गया, जिससे कम-से-कम कुछ लोगो को तो शान्त किया जा सके। उस समय की नीति, जोकि वाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रीय दलो में फूट डालने की थी। नरम दलवालों का 'गुट्ट' बनाना या उन्हे 'रिझाना' और गरम दल को कुचल देना। १९०८ में मार्ले-मिन्टो सुधारो के नाम से प्रसिद्ध इन नये सुधारो की घोषणा की गई। इनसे नरम दलवालो को रिझाने में वह सफल हो गई। वे इन सुधारो को पाकर खुश हो गये। गरम दल के नेताओ के जेल में होने के कारण दल की व्यवस्था में ख़राबियाँ पैदा हो गईं और इस तरह राष्ट्रीय

प्रगति कमज़ोर पड़ गई। लेकिन बंगाल में बग-विच्छेद के ख़िलाफ आन्दोलन जारी रहा, और कामयाबी हसिल होने पर ही ख़तम हुआ। १९११ में ब्रिटिश सरकार ने बग-विच्छेद को वापस ले लिया। इस विजय ने बगालियो में नया जोश पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन ख़तम हो चुका था, और हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से फिर ठडा पड़ गया।

१९११ में यह भी घोषणा की गई कि दिल्ली हिन्दुस्तान की नई राजधानी होगी—वही दिल्ली जो पहले भी बहुत-से साम्राज्यो की राजधानी रह चुकी थी और साथ ही कई साम्राज्यो की कबरस्तान थी।

१९१४ में जिस समय योरप में महायुद्ध शुरू हुआ और नेपोलियन के बाद का सौ वर्ष का जमाना खतम हुआ, हिन्दुस्तान की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का हिन्दुस्तान पर भी जबर्दस्त असर हुआ, लेकिन उसके बारे में मै बाद में कुछ कहूँगा।

आख़िरकार उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का हाल मैंने समाप्त कर ही दिया। मेरा क़िस्सा तुमको अब से अठारह वर्ष के भीतर ले आया है। अब हम हिन्दुस्तान को छोड़कर अगले पत्र में चीन को चलेंगे और एक-दूसरे तरह के साम्राज्यवादी शोषण पर विचार करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हे काफी विस्तार के साथ हिन्दुस्तान पर औद्योगिक और यान्त्रिक क्रान्ति का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान में किस तरह काम किया। हिन्दुस्तानी होनें के कारण, मै उसका तरफदार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि उसके बारे में विचार करते वक्त उसकी तरफदारी करने से मै अपने को रोक नहीं सकता। फिर भी मैंनें यही कोशिश की है, और मै चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालों पर निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय, किसी एक पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, लेकिन मित्रता और ऐतिहासिक सचाई के लिए उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। कितनी ही घटनाओ के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक़ हो, तो सचाई को तोड़-मरोड़ देती है। इसलिए भारतीय इतिहास पर विचार करते

समय हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा, ताकि कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम मुसीबतों का इलज़ाम अंग्रेज़ो के सिर मढ़ने लगें। कुछ भी हो, जैसा-कि किसी ने कहा है, जैसी प्रजा होती है, वैसा ही उसे राजा भी मिलता है।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश उद्योगवादियो और पूंजीपतियो ने हिन्दुस्तान को किस तरह चूसा यह देख चुकने के बाद, अब हम एशिया के एक दूसरे बडे देश, हिन्दुस्तान के प्राचीन समय के मित्र और राष्ट्रो में सबसे पुराने राष्ट्र चीन की तरफ चलते हैं। यहाँ हम पश्चिमवालो को एक दूसरे ही तरह का शोषण करते पायेंगे। हिन्दुस्तान की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश अथवा अधीन-राज्य नहीं बना। लग-भग उन्नीसवीं सदी के बीच तक वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बाधे रखने के लिए काफी ताक़तवर था, इसलिए उसने कुछ विदेशी हमला करनेवालो का मुकाबिला करके भी इस अवस्था से अपने को बचाये रक्खा। जैसाकि हम पहले देख आये है, हिन्दुस्तान इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के ख़ातमे के साथ ही तहस-नहस हो चुका था। चीन उन्नीसवीं सदी में कमज़ोर तो होगया, फिर भी वह अख़ीर तक सगठित बना रहा, और विदेशी ताक़ते आपस में एक दूसरे के ईर्षा-द्वेष के कारण चीन की कमज़ोरी से बहुत ज्यादा फायदा न उठा सकीं।

चीन पर लिखे गये आख़िरी पत्र में मैंने तुम्हे बताया था कि अंग्रेज़ों ने चीन के साथ अपना व्यापार बढाने के लिए क्या-क्या कोशिशें कीं। इग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तीसरे के पत्र के उत्तर में मचू सम्राट शियन-लुग ने जो शानदार और अधि-कारपूर्ण ख़त लिखा था, उसका एक लम्बा उद्धरण मैंने तुम्हें दिया था। यह १७९२ की बात है। यह वर्ष तुम्हे योरप के उस समय के तूफानी दिनो की याद दिलावेगा—यह फ्रान्सीसी क्रान्ति का युग था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस सारे जमाने भर इग्लैण्ड को दम मारने को भी फुरसत न थी, वह जी तोड़कर नेपोलियन से लड रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होनें और इग्लैंड को शान्ति के साथ दम लेने की फुरसत मिलने तक चीन में अपना व्यापार बढाने का सवाल उठाने का इग्लैण्ड के पास कोई मौका ही न था। इसके फौरन ही बाद १८१६ में एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत चीन को भेजा गया। लेकिन मुलाकात की किसी रस्म के अदा करने में कुछ दिक्कत आपड़ने की वजह से चीनी सम्राट ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाकात करना नामजूर कर दिया, और उसे वापस चले जानें का हुक्म दिया। इस रस्म का नाम 'कोतो' था, जो एक तरह से ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम या क़दमबोसी करने के समान था। शायद तुमने 'को-तो-इन' शब्द सुना होगा। इसलिए कुछ हो न सका। इसी दरमियान एक नई तिजारत, अफीम की, तेज़ी से

बढ़ रही थी। इस तिजारत को नई कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही हिन्दुस्तान से चीन ले जाई जा चुकी थी। पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीजें भेजी थीं। इनमें अफीम बेशक एक बुरी चीज़ थी। लेकिन यह तिजारत एक हदतक सीमित थी। उन्नीसवीं सदी में यूरोपियनो के, खासकर ब्रिटिश व्यापार का एकाधिकार हासिल कर लेने वाली ईस्ट इडिया कम्पनी के कारण, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फत चीन में भी तम्बाकू की तरह अफीम पीनें का रिवाज पहुचा, और उससे भी बदतर रूप में, क्योंकि यहां बिना तम्बाकू के ख़ाली अफीम ही पी जाती थी। चीनी सरकार इस आदत को छुडाना चाहती थी, क्योंकि लोगो पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और इसकी तिजारत देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रही थी।

सन् १८०० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने मुल्क में किसी भी काम के लिए अफीम का आना रोक दिया। लेकिन इस तिजारत से विदेशियों को बडा फायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफीम लाते रहे, और इनको नजरअन्दाज कर जाने के लिए चीनी अफसरो को रिश्वत देदी जाती। इस पर चीन-सरकार नें यह नियम बना दिया कि कोई भी सरकारी अफसर विदेशी व्यापारियो से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मञ्चू भाषा सिखाने के लिए भी सख़्त सजायें मुक़र्रर की गईं। लेकिन इन सबका कोई ख़ास नतीजा नहीं हुआ। अफीम की तिजारत चलती ही रही और रिश्वत और बेईमानी का बाज़ार गर्म हो गया। १८३४ के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार छीन कर तमाम अंग्रेजो के लिए व्यापार खोल दिया, तब तो हालत और भी बदतर हो गई।

लुका-छिपाकर चोरी से अफीम का लाया जाना अचानक बहुत ही बढ़ गया, तब आख़िरकार चीन-सरकार ने इसके दमन के लिए सख़्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक भला और ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफीम की रोक के लिए लिन-सी-हो स्पेशल कमिश्नर नियुक्त हुआ और उसने फौरन ही तेज़ी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई शुरू करदी। वह दक्षिण के केण्टन नगर पहुँचा, जो इस ग़ैर-कानूनी तिजारत का मुख्य केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियो को हुक्म दिया कि जितनी भी अफीम उनके पास मौजूद है वह सब उसके पास जमा करा दी जाय। शुरू में उन्होंने इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। इसपर लिन ने इसके लिए उन्हे मजबूर किया। उसने उन्हे

उनकी फैक्टरियो में वन्द कर दिया, उनके चीनी कार्यकर्त्ता और नौकरो से उनका काम छुडवा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस साहस और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियो को घुटने टेक देने पडे, और अफीम की बीस हज़ार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर देनी पडीं। अफीम के इस भारी ढेर को, जो साफ ज़ाहिर है कि चोरी से देश के अन्दर भेजने के लिए इकट्ठा किया गया था, नष्ट करवा दिया दिया। उसने विदेशी व्यापारियो से यह भी कह दिया कि जबतक बाहर से आने वाले जहाज़ का कप्तान अफीम न लाने का वचन न देदेगा, तबतक कोई जहाज़ केण्टन में घुसने न पायगा। यदि कोई इस वचन को तोडेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन एक खरा आदमी था। उसनें सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नही सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कठोर होगे।

नतीजे ये हुए—ब्रिटेन के साथ युद्ध छिडा, चीन की हार हुई, अपमानजनक सन्धि करनी पडी, और वही अफीम जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी ज़बर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूसी गई। अफीम चीन के लिए अच्छी चीज है या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ख़ास मतलब न था। असली बात यह थी कि अफीम की इस चोरी-छिपी तिजारत से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना बर्दाश्त करने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज व्यापारियो की थी। इसलिए राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के नाम पर अंग्रेज़ो ने १८४० में चीन से लडाई छेड दी। इस युद्ध को 'अफीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योकि यह चीन पर अफीम लादने के लिए लडा और जीता गया था।

कैण्टन और दूसरी जगहो की नाकेबन्दी कर देनेवाले ब्रिटिश जहाज़ी बेडे के ख़िलाफ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पडी और १८४२ में नानकिंग की सन्धि हुई, जिसके मुताबिक़ पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार, जिसका उस समय मतलब था ख़ासकर अफीम की तिजारत, के लिए खोल देने पडे। ये पाँच बन्दरगाह थे केण्टन, शघाई, अमॉय, निंगपो, और फ्यूचू। इन्हे 'सन्धि-बन्दरगाह' कहा जाता था। कैण्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया, और जो अफीम नष्ट करदी गई थी उसके हरजाने के तौर पर और चीन से जो लडाई ज़बर्दस्ती लडी गई थी, उसके ख़र्चे के रूप में उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह अफीम के मामले में ब्रिटेन ने विजय प्राप्त की। चीन के सम्राट ने

इंग्लैण्ड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया से, चीन पर जबर्दस्ती लादी गई अफीम की तिजारत के भयकर परिणामो का बहुत नम्रता के साथ उल्लेख करते हुए, व्यक्तिगत अपील की। लेकिन महारानी की तरफ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट के पुरखे शियन-लुग ने इग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल ही दूसरे ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियो के साथ चीन की मुसीबतो की यह शुरूआत थी। उसकी एकान्तता खातमे पर थी। उसे विदेशी तिजारत मंजूर करनी पडी, और साथ ही मंजूर करने पडे ईसाई मिशनरी—पादरी या प्रचारक। इन ईसाई प्रचारको ने साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में चीन में बडा जबर्दस्त काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबते आई उनका कुछ-न-कुछ कारण ये मिशनरी लोग ही थे। इनका बर्त्ताव निहायत गुस्ताखाना और भडकानेवाला था; लेकिन चीनी अदालतो में उनपर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे के मुताबिक योरप के विदेशियो पर चीनी कानून और चीन का इन्साफ लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हींकी अदालतो में मुकदमा चल सकता था। यह 'अन्य-देशिकता' का अधिकार कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका वहाँ अब भी बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियो ने जिन चीनियो को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'अन्य देशिकता' के विशेषाधिकार की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह से इसके हकदार न थे, लेकिन इस बात की कुछ परवा न की गई, क्योकि एक जबर्दस्त मिशनरी, एक ताकतवर साम्राज्यवादी राष्ट्र का प्रतिनिधि—ब्रिटेन—उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के खिलाफ भड़का दिया जाता, और जब इन गाँववालो को हद से ज्यादा चिढाया जाता, तो और दूसरे लोग बलवा कर मिशनरी पर टूट पडते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते। तब उसकी पीठ पर रहनेवाली साम्राज्यवादी ताकत आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियो के लिए चीन में मिशनरियों की हत्याओ से बढकर फायदेमन्द दूसरी घटनायें शायद ही हुई हो। क्योकि हरेक ऐसी हत्या को वे विशेषाधिकार माँगने और जबर्दस्ती रिआयते ऐंठ लेने का कारण बना लेते थे।

चीन के एक सबसे भयकर और खूनी विद्रोह को खडा करनेवाला एक नया ईसाई बनाया हुआ चीनी ही था। यह नैंपिग के बलवे के नाम से मशहूर है, जो १८५० के करीब एक नीम-पागल आदमी हूंग-सिन-च्वान ने शुरू किया था। इस मजहबी दीवाने को असाधारण सफलता मिली और वह 'बुतपरस्तो यानी मूर्ति-पूजको को मारो' का अपना जंगी नारा लगाता हुआ चारों तरफ बढ़ता गया और बडी भारी

तादाद में लोग मारे गये । इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और क़रीब बारह साल या इसीके लगभग समय में अन्दाज़न दो करोड आदमी इसके कारण मौत के घाट उतरे । अवश्य ही बलवे और उसके साथ ही होनेवाले हत्याकण्ड के लिए ईसाई मिशनरियो या विदेशी ताकतो को जिम्मेदार ठहराना उचित नहीं है । शुरू-शुरू में तो मिशनरी लोग इसकी सफलता की कामना करते मालूम भी हुए, लेकिन बाद में उन्होंने हुग का प्रतिवाद किया । लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके जिम्मेदार मिशनरी ही है । उसके इस विश्वास से हम समझ सकते है कि ईसाई मिशनरियो की करतूतो से उस समय चीनी लोग कितने नाराज थे, और बाद में भी रहे । उनके लिए मिशनरी कोई धर्म और सद्-भावना का सदेश-वाहक नहीं था बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट होता था, जैसा कि किसी अंग्रेज लेखक ने कहा भी है—"चीन वालो के दिमाग़ में यह घटना-क्रम अकित हो रहा था—पहले मिशनरियो का आना, फिर जगी जहाजो की पहुँच और उसके बाद जमीन हडपने की शुरुआत ।" यह याद रखना चाहिए कि चीन पर जब-जब आफते आईं अक्सर ईसाई मिशनरियो के दर्शन जरूर हुए हैं—उनमें उनका हाथ ज़रूर रहा है ।

यह एक असाधारण बात हुई कि एक मजहबी दीवाने का खडा किया हुआ यह विद्रोह पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बडी कामयाबी हासिल कर सका । इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी । मेरा ख़याल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हे लिखा था, उसमें मैंने तुम्हे वहाँ के टैक्सो के बोझ, बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियो और बढ़ते हुए सार्वजनिक असन्तोष का हाल बताया था । मचू सरकार के ख़िलाफ हर जगह गुप्त सस्थायें खडी हो रही थीं और वातावरण में विद्रोह समाया हुआ था । अफीम और दूसरी चीजो के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज्यादा बिगाड दिया था । जरूर ही चीन में पहले भी विदेशी व्यापार चलता था । लेकिन इस समय हालत दूसरी थी । पश्चिम के बडे-बडे कल-कारखाने बडी तेजी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब वहाँ खप नहीं सकता था । इसलिए उन्हे बाहर के बाज़ार तलाश करने की जरूरत हुई । उनकी यह जरूरत ही हिन्दुस्तान और चीन के बाजारो की तलाश करने की ख़ास वजह थी । इस विदेशी माल, और ख़ासकर अफीम, ने पुरानी व्यापारिक व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया । हिन्दुस्तान की तरह चीन के बाज़ारों में भी चीजो पर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतो का असर पडने लगा । इन बातो ने लोगो के असन्तोष और मुसीबतो को और भी बढ़ा दिया और तेपिंग के विद्रोह को ताक़तवर बना दिया ।

यूरोपीय शक्तियो की बढती हुई गुस्ताखी और दस्तंदाजी की यह बुनियाद थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपियन लोगो की मॉगो का विरोध करने में चीन का ज्यादा बस न चल सका। इन यूरोपियन शक्तियो और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने चीन से विशेषाधिकार और मुल्क के हिस्से ऐंठने के लिए उसकी इस बदइतिज़ामी और कठिनाइयो से पूरा-पूरा फायदा उठाया। चीन का भी वही हिन्दुस्तान वाला ही हाल होता, और वह भी किसी एक या अधिक यूरोपियन शक्ति या जापान का मातहत राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन ताक़तो में आपसी प्रतिद्वन्द्विता और एक-दूसरे के प्रति ईर्षा-द्वेष न होता।

उन्नीसवीं सदी में चीन में उत्पन्न हुई आर्थिक अव्यवस्था, तेपिंग के बलवे, मिशनरियो की करतूतो और विदेशी हमलो की इस आम बुनियाद को बताने में मैं अपने असली किस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओ के विवरण को समझदारी के साथ समझने के लिए उसके बारे में कुछ-न-कुछ जानना ज़रूरी है; क्योकि इतिहास की घटनायें किसी चमत्कार या जादू की तरह एकाएक नहीं हुआ करतीं। जुदे-जुदे कारणो के मिलकर उभाडने पर ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक्सर ज़ाहिरा तौर पर देखने में नहीं आते, वे घटनाओ की तह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मचू शासक, जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर अवश्य ही चकित रह गये होगे। उन्होने शायद यह नहीं देखा, कि उनके पतन की ख़ास वजह उनके ही भूतकाल में समाई हुई थी; उन्होने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की आर्थिक व्यवस्था पर होनेवाले उसके भयानक परिणामो को अनुभव नहीं किया। 'वहशी' विदेशियो के दख़ल पर उन्होने सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की। तत्कालीन सम्राट् ने विदेशियो के इस दख़ल का जिक्र करते हुए एक मज़ेदार पुराने चीनी मुहाविरे का प्रयोग किया था। उसने कहा कि मैं किसी अजनबी आदमी को अपने बिस्तर के पास ख़र्राटा न लेने दूंगा! हालाकि प्राचीन ग्रन्थो के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय शान्ति, विश्वास और अपूर्व धैर्य की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियों को रोकने या पीछे हटाने में वह समर्थ नहीं था।

नानकिंग की सन्धि ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह हो नहीं सकता था कि सारे बडे-बडे रसगुल्ले अकेला ब्रिटेन ही हज़म कर जाय। फ़्रास और सयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसके दिल में विदेशियो के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'वहशियो' की मौजूदगी का ही उसे सख़्त रंज और गुस्सा था। इधर विदेशियो का

सन्तुष्ट होना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के रक्त-शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुवा बना।

विदेशियो के लिए यह बडा अच्छा मौका था, क्योकि चीन तेंपिग के बलवे को दबाने में लगा होने के कारण इनका मुक़ाबिला कर नहीं सकता था। इसलिए अब अंग्रेज लड़ाई का कोई बहाना ढूढने लगे। १८५६ में कैण्टन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज के मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। जहाज के मालिक चीनी थे, और विदेशियो से किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं आता था। लेकिन हागकाग-सरकार के परवाने के मुताबिक उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफाक़ की बात यह कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़तम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी नदी के किनारे पर के मेमने और भेड़िये के किस्से की तरह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको लडाई का बहाना बना लिया।

इग्लैण्ड से चीन को फौजें भेजी गई। ठीक इन्हीं दिनो हिन्दुस्तान में ग़दर शुरू होगया, और इसलिए इन सब फौजो को यहाँ भेज देना पडा। ग़दर के दबाये जाने तक चीन-युद्ध को इन्तजार करना पडा। १८५८ में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी दरमियान फ़्रास ने भी इस लडाई में शरीक होने का एक बहाना ढूढ निकाला, क्योकि चीन में किसी जगह कोई फ्रासीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज और फ्रासीसी जो तेंपिग के बलवे को दबाने में मशग़ूल थे, चीनियों पर टूट पडे। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार ने रूस और अमेरिका को भी इस लडाई में शामिल होने को बहुत ललचाया, लेकिन वे रजामन्द न हुए। मगर उनकी इस लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे। असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारो शक्तियो ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रिआयते ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खोल दिये गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी ख़तम नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अक खेला जाना बाक़ी है, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुखान्त है। जब सन्धियाँ की जाती है, तो यह एक रिवाज-सा है कि उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारो को उन्हे पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन सन्धियो को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया, पर बाकी तीनो—ब्रिटेन, फ़्रास, और अमेरिका—समुद्री रास्ते से आए और अपने जहाजो को पीको नदी के जरिये पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनो इस शहर को तेंपिग के बलवाइयो से बडा ख़तरा होने की वजह से नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन-सरकार ने ब्रिटिश,

फ़्रांस और अमेरिका के राजदूतो से नदी के रास्ते न आकर जरा उत्तर की तरफ़ के ज़मीन के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमेरिका तो इसपर रज़ामन्द होगया; लेकिन ब्रिटिश और फ़्रेञ्च राजदूतो ने ऐसा नहीं किया। किलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने जबर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियो ने उनपर गोलियाँ दाग दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हे वापस लौटने को मजबूर किया।

ज़िद्दी और निहायत मग़रूर सरकारें, जो अपने सफर का रास्ता बदलने तक की चीन-सरकार की प्रार्थना सुनने को तैयार न थीं, अपने मुँह पर लगे हुए इस तमाचे को कैसे बरदाश्त कर सकती थी? फौरन ही बदला लेने के लिए और अधिक फौजें बुला भेजी गईं। १८६० में पेकिंग के प्राचीन नगर पर उन्होने धावा बोल दिया, और तबाही, बरबादी, लूट और नगर की एक सबसे अधिक अद्भुत और निराली इमारत को जलाने के रूप में उन्होने अपना बदला लिया। यह इमारत राजा का गरमी का महल यून-मिंग-यून था, जो शीयन-लुंग के शासन-काल में बनकर पूरा हुआ था। चीन के सबसे बढ़िया साहित्य और कला के अनमोल रत्नों से यह भरा हुआ था। पीतल और कांसे की निहायत ख़ूबसूरत मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के अद्भुत और बढ़िया बर्तन, हस्तलिखित दुर्लभ पुस्तके और चित्र, और हर तरह की विचित्रता और हुनर के काम, जिनके लिए चीन हज़ारो वर्ष से मशहूर था, वे सब इसमें रक्खे हुए थे। अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी जाहिल और हूश सिपाहियो ने इन बहुमूल्य वस्तुओ को लूटा और कई दिनो तक जलती रहनेवाली भयकर होलियो में झोंककर ख़ाक कर दिया! ऐसी हालत में हज़ारों वर्षों की सभ्यता वाले चीनी लोग अगर इस वर्बरता पर अपने हृदय में व्यथा अनुभव करे और लुटेरो को जाहिल, हूश और जंगली समझें तो इस में क्या आश्चर्य है। ये ऐसे जाहिल और जगली थे कि मारने या हत्या करने और बरबाद करने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। इससे हूण, मगोल और पुराने ज़माने के वहशी या जगली लुटेरो की उन्हे फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'वहशियो' को इस बात की क्या परवा कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते है? अपने जगी जहाज़ो और नये ढंग के युद्धास्त्रो के बीच वे अपने को महफ़ूज़ समझते थे, और अगर सैकडो वर्षों में जमा की गई बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तुयें नष्ट हो गईं, उनका अब कोई वजूद न रहा, तो उन्हें इससे क्या मतलब? चीन की कला और संस्कृति की उन्हे परवाह ही क्या? उनके शब्दो में तो—

"कुछ भी हो, हम निश्चल हैं, हम भारी तोपों वाले हैं,
चीनी बहुत हुए तो क्या, वे बिन हथियारो वाले है।"[1]

: ११५ :

मुसीबत का मारा चीन

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हे बताया था कि किस तरह १८६० में अंग्रेज और फ्रासीसियो ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस किया। कहा जाता है कि चीनियो ने सुलह के झण्डे की अवहेलना की, इसलिए उसकी सजा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फौजें इस तरह के अपराध की अपराधी रही हो, लेकिन अंग्रेज और फ्रासीसियो ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ में आ ही नहीं सकता। कुछ नादान सिपाहियो का यह काम नहीं था, बल्कि जिम्मेदार अफसरो ने ही यह सब कुछ करवाया था। ऐसी बाते क्यो होती है? अंग्रेज और फ्रासीसी सभ्य-सुसस्कृत और शाइस्ता कौमें है, और मौजूदा सभ्यता की कई तरह से रहनुमा है। और फिर भी ये लोग जो व्यक्तिगत जीवन में बडे भले, योग्य और विचारवान होते है, सार्वजनिक व्यवहार और दूसरे देशों के साथ के सघर्ष या लडाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते है। इनके एक-दूसरे के साथ के व्यक्तिगत व्यवहार और दूसरे राष्ट्रो के साथ के वर्त्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चो, लडके और लडकियो को स्वार्थी या खुदगर्ज न बनने, दूसरो का ख़याल रखने और शिष्टता या तमीज के साथ व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का उद्देश हमें यह सबक सिखाना होता है, और एक हद तक हम यह सीखते भी है। इसके बाद युद्ध आते है, और हम अपना पुराना सबक भूल जाते है और हमारे अन्दर छिपा हुआ हैवान बाहर निकलकर अपनी शकल दिखाता है। इस तरह भले आदमी जानवरो की तरह बर्ताव करने लगते है।

दो सजातीय राष्ट्र—जैसे जर्मनी और फ्रास एक-दूसरे से लड़ते है, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब एक दूसरे से जुदा जातिवालों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफरीका वालों के साथ यूरोपियनो का मुकाबला होता है, तब हालत और भी

१ मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

"Whatever happens,
We have got
The maxim gun,
And they have got !"

[पिछले पृष्ठ का फुटनोट]

बदतर हो जाती है। क्योंकि हरेक जाति एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती है, इसलिए एक जाति दूसरी जाति के बारे में बहुत कम जानकारी रखती है। और जहां अज्ञान है, वहां भाई-चारे के भाव कैसे पैदा हो सकता है ? जातिगत घृणा और कटुता बढी हुई होती है, और जब दो जुदा-जुदा जातियो में लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ राजनैतिक युद्ध ही नहीं रह जाता बल्कि उससे कहीं बदतर एक जातिगत युद्ध बन जाता है। इससे किसी हदतक यह समझ में आजाता है कि १८५७ के भारतीय विद्रोह में जो भयानकतायें हुई और एशिया और अफरीका में प्रधान यूरोपियन ताकतो ने जो बेरहमी और वहशीपन किया, उनका क्या कारण था।

यह सब कुछ निहायत अफसोसनाक और बेहूदगी मालूम होती है। लेकिन जहाँ भी एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर, एक जाति दूसरी जाति पर और एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हकूमत जमाता है, वहां इस तरह के असन्तोष, झगडे और विद्रोह, और शोषित या चूसे जानेवाले राष्ट्र, जाति या वर्ग का अपने शोषणकर्त्ता से अपना पीछा छुड़ाने के प्रयत्न होते रहना लाजमी है। आज के हमारे समाज की जड़-बुनियाद यही एक का दूसरे को चूसना है। इसीको पूंजीवाद कहते है और इसीसे साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई है।

उन्नीसवीं सदी के बडे बडे कल-कारखानो और औद्योगिक उन्नति ने पश्चिमी यूरोपियन राष्ट्रों और सयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और ताकतवर बना दिया था। वे यह समझने लगे कि दुनिया के मालिक हमी है, और दूसरी जातियाँ इससे कहीं नीची है और इसलिए उन्हें हमारे लिए अपना रास्ता साफ कर देना चाहिए। प्रकृति या कुदरत की ताकतों पर कुछ अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण वे दूसरों के प्रति गुस्ताख और मग़रूर हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को कुदरत पर ही नहीं, बल्कि खुद अपने पर भी काबू करना चाहिए। इस तरह हम देखते है कि इस उन्नीसवीं सदी की कई बातो में दूसरों से आगे बढ़ी हुई उन्नतिशील जातियाँ अक्सर ऐसे बर्त्ताव कर बैठतीं थीं, जिनसे कि असभ्य जंगली तक को शर्म आ सकती थी। इससे तुम को यूरोपियन शक्तियो का एशिया और अफ़रीकावालो के साथ न सिर्फ पिछले जमाने का बल्कि आज का भी बर्त्ताव समझने में शायद मदद मिल सकेगी।

यह खयाल न कर बैठना कि मैं अपने से या दूसरी जातियो से यूरोपियन जातियो की यह तुलना अपने को बढ़ाकर बताने की ग़रज से कर रहा हूँ। हर्गिज़ नहीं। हम सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; इतना ही नहीं, हमारे कुछ धब्बे तो दूसरो से कहीं ज्यादा खराब है, वरना हम जितने ज्यादा तह तक नीचे गिर गये है उतने न गिरते। इस पत्र को लिखते समय भी मेरे दिमाग़ में जो सवाल घूम रहा है, वह है बापू के

उपवास का, जो वह हमारे दलितवर्ग, या जैसा कि उन्हें अब कहा जाता है हरिजनो, के लिए मंदिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए करनेवाले है। उनके मदिर में जाने या न जाने में मेरी कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं है। लेकिन उनको ज़बरदस्ती बाहर रखने का अर्थ उनपर अपनेसे नीचे और नापाक होने की मुहर लगा देना है, और इस तरह यह प्रश्न एक कसौटी बन गया है। जबतक हम लोग इस बात का आख़री फ़ैसला नही कर देते कि हमारे आपस में ऐसा कोई दलित या शोषितवर्ग नहीं रहना चाहिए, तबतक दूसरो के हमारे साथ ऐसा वर्ताव करने पर हमें उनकी शिकायत करने का कोई अधिकार नही है।

अब हम चीन को वापस लौटें। ग्रीष्म-महल को नेस्त-नाबूद करके अग्रेज़ और फ़्रासीसी अपनी ताक़त का प्रदर्शन कर चुके थे। इसके बाद उन्होने चीन को पुरानी सन्धियो को पक्की करने के लिए मजबूर करके उससे नई-नई रिआयतें ऐंठ लीं। इन सन्धियो के मुताबिक चीन-सरकार को शघाई में विदेशी अफसरो की मातहती में अपना एक कस्टम विभाग खोलना पडा। इसका नाम रक्खा गया 'शाही समुद्री कस्टम विभाग।'

इस बीच तेपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताकतो को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ में चीनी गवर्नर ली-हुग-चाग ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इग्लैण्ड और फ़्रास चीन पर इस तरह आतक जमाकर उससे विशेषाधिकार और रिआयतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने शान्तिपूर्ण उपायो से ही एक मार्के की सफलता प्राप्त करली। कुछ ही वर्ष पहले कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार जमाने के लिए लालायित रूस ने योरप में टर्की पर हमला किया था। इग्लैण्ड और फ़्रास दोनो ही रूस की बढ़ती हुई ताक़त से भयभीत थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ के क्रीमियन युद्ध में रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस नें पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसमें उसे बडी कामयाबी हासिल हुई। शान्त उपायो से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लाडीवोस्टक शहर और बन्दरगाह सहित समुद्र से लगा हुआ उत्तर-पूर्व का प्रान्त रूस के सुपुर्द कर दे। रूस की इस सफलता का श्रेय एक नौजवान रूसी अफसर मुरावीफ़ को है। इसतरह तीन सालतक के युद्ध और मूर्खतापूर्ण विनाश के बाद भी इग्लैण्ड और फ़्रास जितना फायदा न उठा सके, उससे कहीं ज्यादा रूस ने दोस्ताना तरीक़ो से ही हासिल कर लिया।

१८६० में हालत इस तरह की थी। अठारहवीं सदी के अन्त तक क़रीब-क़रीब

आधे एशिया तक फैला हुआ मंचू वंश का महान् चीनी साम्राज्य अब दीन हो गया था। सुदूर योरप की पश्चिमी ताक़तों ने उसे पराजित और अपमानित किया। दूसरे उसके अपने ही घरेलू विद्रोह ने साम्राज्य को करीब-करीब उलट दिया और इन सब बातों ने चीन को जड़ से हिला दिया। यह जाहिर ही है कि चारों तरफ हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई परिस्थितियों का मुकाबिला करने और विदेशी खतरे से बचाव करने के लिए देश का पुनर्संगठन करना ज़रूरी था। इसलिए १८६० के वर्ष को जबकि चीन ने अपने आपको विदेशियों के आक्रमण का मुकाबिला करने के लिए तैयार किया, नवयुग का आरम्भ समझना चाहिए। चीन का पड़ौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह उसके लिए उदाहरण बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कहीं ज्यादा कामयाबी मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी ताकतों को पीछे रोके तो रहा।

सन्धि वाले राष्ट्रों के पास चीन के एक दिली दोस्त बर्लिनगेम नामक अमेरिकन की मातहती में एक चीनी मिशन में भेजा गया। कुछ हद तक चीन के लिए बेहतर शर्तें हासिल करने में वह कामयाब हुआ। १८६८ चीन अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और यह एक दिलचस्प बात है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्तराज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रिआयत के तौर पर अपने यहाँ के मजदूरों का अमेरिका ले जाया जाना मंज़ूर कर लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी पश्चिमी प्रशांत रियासतों, ख़ासकर केलिफोर्निया, को बढ़ाने में लगा हुआ था और मजदूरों की बहुत कमी थी। इसलिए चीनी मजदूरों को समुद्र पार ले गया। लेकिन आगे चलकर यह भी एक नई मुसीबत का कारण बन गया। अमेरिकन लोग सस्ते चीनी मजदूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनों सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकन सरकार ने चीनी मजदूरों का अपने यहाँ आकर आबाद होना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक व्यवहार पर चीनी जनता ने सख़्त नाराजी जाहिर की और उन्होंने अमेरिकन माल का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा क़िस्सा है, और हमें बीसवीं सदी तक पहुँचा देता है। हमें उसमें जाने की जरूरत नहीं।

तेपिंग का बलवा अभी मुश्किल से दबाया ही गया था, कि इतने ही में मंच-शासकों के खिलाफ़ एक दूसरा बलवा उठ खड़ा हुआ। यह ख़ास चीन में नहीं, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की ज्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ में यहाँ के मुस्लिम कबीलों ने याकूबबेग के नेतृत्व में बलवा करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। इस स्थानीय बलवे में दो बातें दिलचस्पी की हैं। रूस ने चीन की कुछ जमीन हड़प करके इस बलवे से कुछ

फायदा उठाने की कोशिश की। दरअसल यूरोपियन ताक़तो की यह एक बडी अच्छी सधी-सधाई चाल थी, कि जब कभी चीन मुसीवतो में होता, वे फायदा उठाने की कोशिश करते। लेकिन, यह देखकर सवको वडा ताज्जुब हुआ कि इस वार चीन रूस की बात पर रज़ामन्द नहीं हुआ, और आख़िरकार रूस को हडप की हुई ज़मीन वापस करनी पडी। इसका कारण था चीनी सेनापति सो संग-तग का मध्य एशिया में याकूव वेग के ख़िलाफ एक जवरदस्त धावा। इस सेनापति ने वडी शान्ति और इतमीनान के साथ युद्ध का सचालन किया। वाग़ियो तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल विताता हुआ, फौज को लिये हुए धीरे-धीरे आगे वढता रहा। दो वार तो उसने अपनी फौज को इतने दिनो तक एक स्यान पर ठहराये रक्खा कि उसने अपने इस्तेमाल के लिए अनाज वोकर फसल भी काटली। फौज के रसद का सवाल हमेशा एक मुश्किल सवाल रहता है, और गोवी के रेगिस्तान को पार करते समय तो यह और भी भयकर हो जाता है। इसलिए सेनापति सो-सग ने इस सवाल को इस अजीव तरीके से हल कर लिया। इसके वाद उसने याकूव वेग को हरा दिया और वलवे का ख़ातमा कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफान और यारकन्द में उसकी लडाइया फौजी दृष्टि से वडी आश्चर्यजनक हुई।

मध्य एशिया में रूस के साथ सन्तोषजनक फैसला हो जाने के वाद चीनी सरकार को जल्दी ही लम्बे-चौडे लेकिन वेतरतीब राज्य के दूसरे हिस्से में मुसीवत का सामना करना पडा। यह क़िस्सा चीन की मातहत अनाम रियासत का है। फ्रास का इसपर बहुत दिनो से दाँव था। और इसलिए चीन और फ्रास के आपस में लडाई छिड़ गई, लेकिन इस बार फिर यह ताज्जुब की बात हुई कि चीन ने ख़ासा मुक़ाबिला किया और फ्रास से ज़रा भी नहीं दवा। १८८५ में उससे भी एक सन्तोषजनक सन्धि हो गई।

चीन की इस नई शक्ति के चिन्हो से साम्राज्यवादी ताक़तो पर काफी असर पडा। ऐसा मलूम होने लगा कि अपनी १८६० और इससे पहले की कमज़ोरी से वह अब उभर रहा था। सुधारो की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि उसने अब करवट वदल ली है। यही वजह है कि १८८६ में इग्लैड ने वरमा को अपने साम्राज्य में मिलते समय हर दसवे साल चीन को भेजे जानेवाले नियमित ख़िराज को देते रहने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की किस्मत का पासा पलटना अभी कहाँ बदा था। अभी उसकी क़िस्मत में वहुत वेइज्ज़ती, मुसीवतें और ठोकरें बदी थीं। उसके अन्दर जो ख़रावी थी वह सिर्फ उसकी फौज या समुद्री बेडे की कमज़ोरी ही नहीं थी, वल्कि उससे भी गहरी कोई और ख़रावी थी। उसका सारा सामाजिक और आर्थिक ढाचा टुकडे-टुकडे

हुआ जा रहा था। जैसाकि मैं तुमसे कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी के शुरू में जिस वक्त मचू शासको के खिलाफ गुप्त संस्थायें बन रहीं थीं, चीन की हालत बहुत खराब थी। विदेशी व्यापार और उद्योगवादी देशो के सघर्ष के प्रभाव से हालत और ज्यादा खराब हो गई। १८६० के बाद चीन में जो ताक़त दिखाई दी, उसकी जड में असलियत बहुत कम थी। कुछ उत्साही अफसरो, खासकर ली हुग-चाग ने इधर-उधर कुछ स्थायी सुधार किये लेकिन वे न तो समस्या की जड तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षो में चीन में जो ऊपरी ताक़त दिखाई दी, उसकी खास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक मजबूत शासक के हाथ में थी। वह मजबूत शासक भी एक जबरदस्त औरत चीन की बडी राजमाता जू-सी। अपने पुत्र, चीन के उत्तराधिकारी सम्राट की नाबालिग़ी के कारण जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथो में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ २६ वर्ष की थी। ४७ वर्ष तक उसने बडी मुस्तैदी के साथ चीन का शासन किया। उसने चुन-चुन कर काबिल अफसर नियुक्त किये, उनपर भी किसी हदतक अपनी मुस्तैदी की छाप लगा दी। इन अफसरो और उसकी इस मुस्तैदी का ही यह असर था कि चीन कई वर्षों से जैसी शक्ति का परिचय नहीं दे सका था, वह इन वर्षो में दिखा सका।

लेकिन इसी अर्से में सकडे समुद्र के दूसरे किनारे पर जापान आश्चर्यजनक उन्नति करता हुआ अपना सारा रूप ही बदल रहा था। आओ अब हम जापान को चले।

: ११६ :

जापान की अद्भुत उन्नति

२७, दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे बहुत दिन होगये है। पाच महीने हुए, मैंने तुम्हें बताया था कि सत्रहवीं सदी में कैसी विचित्र रीति से इस देश ने अपने आपको चारो तरफ से बन्द कर रखा था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्ष से ऊपर तक जापानी लोग दुनिया से अलग-अलग रहे। इन २०० वर्षों में योरप, एशिया अमेरिका और अफरीका तक में बडी-बडी तब्दीलियाँ हुईं। इस जमाने में जो सनसनीदार घटनायें हुईं उनमें से कुछ का हाल मैं बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्तवासी जापानी जाति को इन घटनाओ की कोई खबर न मिली। जापान के पुराने सामन्ती वातावरण को भग करनेवाला कोई झोका बाहरी दुनिया से न आया।

ऐसा मालूम होता था मानों समय और इनकिलाब की गर्दिश रुक गई हो और सत्रहवीं सदी कैद करके ठहरादी गई हो। हालांकि काल का पहिया घूम रहा था लेकिन जापान की तस्वीर में कोई फर्क नहीं हुआ। सामन्ती जापान में जमींदारी श्रेणियां मजबूत बनी हुई थीं। सम्राट के हाथ में ताकत न थी। एक मशहूर खानदान का मुखिया शोगन असली शासक होता था। हिन्दुस्तान के क्षत्रियों की तरह वहां भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति होती थी। सामन्त सरदारों और समूराई लोगो के हाथ में असली ताकत थी। अक्सर जुदे-जुदे सरदार और परिवार आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानो और दूसरे ग़रीबो को चूसने और तंग करने के वक्त ये सरदार एक होजाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बी घरेलू लड़ाइयो के बाद, जिनसे देश ऊब उठा था, यह शान्ति बडी भली लगी। कई झगड़ालू दाइम्यो सरदारों का दमन किया गया। घरेलू युद्ध से जो नुकसान हुए थे, वे धीरे-धीरे पूरे हो चले। लोगो का ध्यान अब ज्यादातर साहित्य, कला, धर्म और उद्योग की ओर खिचने लगा। ईसाई-धर्म का दमन किया गया, बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार हुआ और बाद में शिण्टो मत चमका जो अपने ढग की जापान की पितरो की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचरण में चीनी ऋषि कन्फ्यूशियस आदर्श माना जाने लगा। राज-दरबार और ऊंचे घराने में कला की खूब तरक्की हुई। कई बातो में मध्यकालीन योरप की तसवीर सामने आगई।

परन्तु परिवर्त्तन से बचे रहना सहल काम नहीं। गोकि बाहरी मेल-मिलाप को रोक दिया गया था, लेकिन खुद जापान के अन्दर परिवर्त्तन हो रहा था; हां, रफ्तार धीमी जरूर थी। अगर बाहरी दुनिया के साथ ताल्लुकात बने रहते तो जरूर ये तब्दीलिया जरा तेजी से होतीं। दूसरे देशो की तरह यहां भी सामन्ती प्रथा आर्थिक विनाश की मजिल पर पहुंच गई। असन्तोष बढ़ गया और राजशासन के प्रधान होने के कारण 'शोगन' इन चोटो का शिकार होने लगा। शिण्टो सम्प्रदाय की उन्नति के कारण अब जनता के दिल में सम्राट के प्रति श्रद्धा बढने लगी क्योकि उसको सूर्य वश का माना जाता था। इसतरह चारो ओर फैले हुए असन्तोष से राष्ट्रीयता का खयाल पैदा हुआ। और यही खयाल, जिसकी नींव पैसे वालो का नाश करके रखी गई थी, परिवर्त्तन को लाने का कारण हुआ। इसी खयाल के कारण जापान के ताल्लुकात बाकी दुनिया के साथ आगे चलकर खुल गये।

जापान से ताल्लुकात कायम करने के लिए विदेशी शक्तियो ने बहुतेरी कोशिश की, लेकिन वे नाकामयाब रहीं। उन्नीसवीं सदी के बीच में जापान के मामलो में

संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग खास तौर से दिलचस्पी लेने लगे। वे पश्चिम में केलिफोर्निया तक आ बसे थे, और सैनफ्रासिस्को एक खास बन्दरगाह होता जा रहा था। इधर चीन से तिजारत भी नई-नई खुली थी, इसका भी भारी लालच था किन्तु प्रशान्त महासागर को पार करने में लम्बे सफर का झंझट था इसलिए अमेरिकावाले किसी जापानी बन्दरगाह पर जाकर चीनी माल की रसद लेने की तजवीज में थे। बार-बार जो अमेरिकावालों नें जापान से मेल-मुलाकात बनाये रखने की कोशिशें कीं, उनका यही कारण था।

१८५३ ई० में एक अमेरिकन जहाजी बेड़ा, अमेरिकन राष्ट्रपति का खत लेकर आया। जापानवालो ने सबसे पहले इन्ही भाप से चलनेवाले जहाजो को देखा। साल भर बाद शोगन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राजी हो गये। जब अग्रेजो, रूसियों और डचो नें यह सुना तो उन्होने भी आकर इसी तरह सन्धियाँ कीं। इस तरह २१३ वर्ष के बाद फिर जापान बाहरी दुनिया के लिए खुल गया।

लेकिन मुसीबत सामने आ रही थी। विदेशी ताकतो के आगे शोगन ने अपने आपको सम्राट् जाहिर किया था। अब वह लोगो की नजरो से गिर गया और उसके और उसकी विदेशी सन्धियो के खिलाफ बड़ा जबर्दस्त आन्दोलन उठा। कुछ विदेशी मारे भी गये। उसका नतीजा यह हुआ कि विदेशियो ने समुद्री हमला कर दिया। परिस्थिति ज्यादा खराब हो गई; आखिरकार १८६७ ई० में शोगन को इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस तरह तोकुगावा शोगनों की हुकूमत का खातमा हुआ जो तुम्हे याद हो या न हो, १६०३ ई० में ईयेयासू से शुरू हुई थी। यही नहीं, शोगन का सारा रवैया ही जो ७०० बरसो से चला आ रहा था, खतम होगया।

नये सम्राट ने अब अपनी असली हालत को समझा। मुत्शीहितो के नाम से सिंहासन पर बैठनेवाला यह सम्राट सिर्फ १४ वर्ष का लड़का था। १८६७ ई० से १९१२ तक यानी ४५ बरस उसने राज्य किया। यह समय 'मेईजी' यानी प्रकाश-युग कहलाता है। इसी सम्राट के शासनकाल में जापान ने इतनी तेजी से तरक्की की और पश्चिमी देशो की नकल करके कई बातों में उनकी बराबरी में आगया। यह जबरदस्त तब्दीली जो एक ही पुश्त में हो गई ग़ौर करने के क़ाबिल है; और इसका सानी इतिहास में नहीं मिल सकता है। जापान एक महान औद्योगिक देश बन गया। और वक़्त से पहले ही पश्चिमी जातियो के नमूने की साम्राज्यवादी जाति बन बैठा। उन्नति के तमाम बाहरी चिन्ह उसके पास मौजूद थे। उद्योग-धन्धो में वह अपने उस्ताद विदेशियो से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेजी से बढ़ गई। उसके जहाज दुनिया के चारो तरफ घूमने लगे। वह एक ताकतवर राष्ट्र बन गया

जिसकी राय अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में इज्ज़त के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बरदस्त परिवर्तन जनता के दिलो में गहरा न घुस सका। साथ ही परिवर्तनो को सिर्फ ऊपरी कहना भी ग़लत होगा क्योकि ये महज़ सतह से ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासको के ख़यालात वही सामन्तशाही के बने रहे, वे इस सामन्ती गिलाफ के भीतर उग्र सुधारो का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक तो वे अपनी कोशिशो में कामयाब हुए-से मालूम होते थे। फिर भी फिलहाल यह कहा जा सकता है कि वे यह अजीब खिचडी पकाने में कामयाब न हो सके और आज दिन जापान महानाश के मुँह में पडा हुआ है। सामन्ती गिलाफ किसी क़दर जाता रहा है। जो-कुछ बचा है, वह भी ज्यादा दिनो तक न चलेगा।

जापान की इन बडी तब्दीलियो के लिए जो लोग ज़िम्मेदार थे वे ऊँचे घराने के दूरदेश लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' के नाम से मशहूर थे। जब जापान में विदेशियो के ख़िलाफ होनेवाले देशो पर चढ़ कर विदेशी सैनिक जहाज़ो ने बम बरसाये तो जापानियो को अपनी कमज़ोरी मालूम पडी और उन्होनें अपनी बेइज्ज़ती महसूस की। अपनी क़िस्मत कोसनें और सिर पीटने के बजाय उन्होने इस हार और बेइज्ज़ती से सबक़ सीखने का इरादा किया। 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सुधार का एक प्रोग्राम बनाया और उसी पर डटे रहने की ठानली।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट की राजधानी क्योतो से बदल कर ज़ेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो या टोकियो रक्खा गया। एक नये शासन-विधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दोनो सभाओ की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था, ऊपर वाली के सदस्य नामज़द होते थे। तालीम, कानून, कारख़ाने, यानी क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारख़ाने बने, नये तर्ज़ पर फौज और सेना तैयार की गई। ग़ैर मुल्कों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गये और जापानी विद्यार्थियो को योरप और अमेरिका भेजा गया—पिछले दिनो के हिन्दुस्तानियो की तरह बैरिस्टर वग़ैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और उद्योग-धन्धो में विशेषज्ञ बनने के लिए।

ये सब तब्दीलियाँ 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सम्राट के नाम पर कीं, जो नई पार्लमेंट और तमाम बातो के बावजूद भी जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री शासक बना रहा। इसी दरमियान, जैसे-जैसे इन सुधारो की तरक्क़ी होती जाती थी, सम्राट-पूजा का पथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गठजोडा था कि एक तरफ तो कारख़ाने, मौजूदा कारबार और पार्लमेंटरी हुकूमत की सूरत, और दूसरी तरफ सम्राट-देवता की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, चाहे थोडी देर के ही

लिए हो, क्योकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनो साथ-साथ क़दम बढाती रहीं, और आज दिन भी जुदा नहीं हुई है। सम्राट के लिए श्रद्धा की इस भावना से 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञो' ने दो तरह से फायदा उठाया। उन्होने सुधारों को उन कट्टर-पथी और सामन्त लोगो पर थोपा जो वैसे तो सुधारो का विरोध करते लेकिन सम्राट के नाम की धाक के आगे उनको सिर झुकाना पड़ा। दूसरी तरफ इन राजनीतिज्ञो ने उन उग्र प्रगतिवादियो को रोक रक्खा, जो तेजी से आगे बढकर सब तरह की सामन्तशाही का खातमा करना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले आधे हिस्से में चीन और जापान का अन्तर ग़ौर करने के काबिल है। जापान तेजी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसाकि हम देख चुके है और आगे भी देखेंगे, बहुत ही गैर-मामूली दिक्कतो में उलझता गया। ऐसा हुआ क्यो ? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और रक़बे, ने इन्क़िलाब होने में दिक्कत पैदा की। हिन्दुस्तान भी इसी भारी आबादी और रक़बे का शिकार है, जो जाहिरा तौर से ताक़त के सोते मालूम होते है। हाथी को चलाना ही मुश्किल है, लेकिन एक दफा हाथी चल पडे फिर तो वह छोटे जानवरो की बनिस्बत कहीं ज्यादा ताक़त और रफ्तार से चलेगा। चीन का शासन कुछ बहुत केन्द्रित नहीं था, यानी, देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक आजादी मिली हुई थी। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सो में दस्तदाजी करके जापान की तरह इन्क़िलाब करना सहल काम न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान सभ्यता हजारो बरसो में बनी थी और देश से ऐसी बधी हुई थी कि सहज ही दूर नहीं फेंकी जा सकती थी। हम हिन्दुस्तान और चीन का एक बार फिर इस बात में मुकाबिला कर सकते है। दूसरी तरफ जापान चीन की सभ्यता ग्रहण किये हुए था, इसलिए वह ज्यादा आसानी से उसकी जगह पश्चिमी सभ्यता को अपना सका। चीन की दिक्क़तो का एक और कारण यह भी था कि यूरोपियन ताकतें बराबर दखल देती रहती थीं। चीन एक विशाल महादेश था। जापान के द्वीपो की तरह वह अपने आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा को रूस छूता था, दक्षिण-पश्चिम में इग्लैण्ड और दक्षिण में फ़्रान्स बढा चला आरहा था। ये यूरोपियन ताकतें चीन से जबर्दस्त रिआयतें निचोड सकने में कामयाब होगई थीं और अपने व्यापारी स्वार्थो को बढा रही थीं। इन स्वार्थों के कारण उनको दस्तन्दाजी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जापान आगे बढ़ गया और चीन नई हालतो के मुताबिक़ अपने को ढाल लेने की कोशिश में बेकार ही हाथ-पैर पीटता रहा। फिर भी इसमें एक अजीब

बात ध्यान देने लायक है। जापान ने पश्चिम की मशीन और उद्योगों को इख्तियार करके आधुनिक फौज और समुद्री-सेना वाले उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया। लेकिन योरप के नये खयालात को उसने इतनी मुस्तैदी से मजूर न किया। ये विचार सामाजिक और व्यक्तिगत आजादी, जीवन और समाज पर विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण डालने के बारे में थे। अन्दर, दिल से जापान वाले सामन्ती और एकतन्त्र-वादी बने रहे, वे उस विचित्र सम्राट-पूजा से बधे रहे, जिसे ससार के बाक़ी हिस्सो ने कबका ही छोड दिया था। भावुकता और आत्म-त्याग से भरा हुआ जापानियो का देश-प्रेम इस सम्राट-भक्ति से बहुत ज्यादा जकडा हुआ था। राष्ट्रीयता और सम्राट-पूजा के पथ साथ-साथ चलते रहे। इसके बरखिलाफ चीन ने मशीनों और उद्योगवाद को झटपट मजूर न किया। हाँ, आधुनिक चीन ने किसी क़दर पश्चिमी विचारो और वैज्ञानिक दृष्टिकोणो का स्वागत किया। ये विचार उन लोगो के अपने विचारो से ज्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते है कि पश्चिमी सभ्यता की स्पिरिट में चीन ज्यादा घुस सका। जापान चीन से आगे इसलिए बढ गया कि उसने स्पिरिट की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का ऊपरी बाना धारण किया था। और चूंकि जापान इस बाने में ताक़तवर दिखाई देता था, तमाम योरप ने उसकी तारीफ की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमजोर था, तोपें वगैरा उसके पास काफी थी नहीं, इसलिए योरपवालों ने उसको बेइज्जत किया, वे उसकी छाती पर सवार हुए, उन्होने उसको धर्म के लेक्चर दिये, उसको चूसा और उसके विचारो और शिक्षाओ की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ औद्योगिक मामलो ही, बल्कि साम्राज्यवादी हमलो में भी योरप के क़दमो पर चला। वह यूरोपियन ताक़तो का न केवल वफादार चेला था, बल्कि उससे कुछ ज्यादा था। उसने इस बारे में उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दोनों को चालू रखने की कोशिश में वह आर्थिक समतोल न बनाये रख सका। करों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज सुनाई देने लगी। देश के अन्दर कलह रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—लोगो का ध्यान विदेशो पर साम्राज्वादी हमलो और युद्धो के जरिये उधर लगा दिया। उसके नये उद्योगवाद ने उसे कच्चे माल और बिक्री के बाजारो के लिए दूसरे देशो पर नजर डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इग्लैंड और बाद में पश्चिमी योरप की दूसरी शक्तियो को बाहर निकालने और फतह पाने के लिए मजबूर किया था। उत्पत्ति बढ़ गई और आबादी भी तेजी के साथ बढ़ी।

ज्यादा खाने की चीजो और कच्चे माल की ज्यादा जरूरत होने लगी। ये सब उसे मिले कहां से ? उसके सबसे ग़रीबी पडौसी थे चीन और कोरिया। चीन में तिजारत के मौके जरूर थे, पर वह ख़ुद ही बड़ा घना आबाद मुल्क था। अलबत्ता, मचूरिया में जो चीनी साम्राज्य के उत्तर पूर्वीय प्रान्तो का गिरोह था, व्यापारिक उन्नति और उपनिवेश कायम करने के लिए काफी जगह थी। इसलिए भूखे जापान की नजर कोरिया और मंचूरिया पर पडी।

इधर पश्चिमी ताकतें चीन से सब तरह के विशेषाधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि जमीन हड़प करने की कोशिश में भी थीं। इस पर जापान ने दिलचस्पी के साथ ग़ौर किया। उसको यह बात बिलकुल पसन्द न थी। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायें तो उसकी हिफाजत पर जरूर ख़तरा आता, कमसे कम महाद्वीप पर उनकी तरक्की को तो धक्का लगता ही। इसके अलावा, वह लूट में भी अपनी ही पौ बारह रखना चाहता था।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाजे खोले अभी २० वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन के प्रति आक्रमणकारी ढग इख़्तियार कर लिया। कुछ मछुओ के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा हुआ। इन मछुओ का जहाज नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस जापान को चीन से हरजाना माँगने का मौका मिल गया। पहले तो चीन ने यह नामजूर किया, इस पर उसे लडाई की धमकी दी गई। चूंकि वह अनाम में फ़्रांस के साथ युद्ध में मशग़ूल था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम अपनी विजय को और भी फैलाने के लिए मौका ताकने लगा। कोरिया पर भी जापान की नजर ललचा रही थी, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान नें उस पर हमला बोल दिया और उसे कुछ रुपया देने और जापानी व्यापार के लिए, कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया। जापान अपनें आपको यूरोपियन ताकतो का योग्य शागिर्द साबित कर रहा था !

कोरिया बहुत अरसे से चीन की एक मातहत रियासत थी। उसको चीन से मदद मिलने की उम्मीद थी, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं बहुत ज्यादा हावी न हो जाय इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिल-हाल तो जापान के आगे झुक जाय। साथ ही जापान की भी बढ़ती को रोकने के लिए यूरोपियन ताकतो से सन्धि कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० में खुल गया लेकिन जापान इतने से ही सतुष्ट न हुआ। चीन की कठिनाइयो का फायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल उठाया और

कोरिया के ऊपर मुश्तरक़ा क़ब्ज़ा या नियत्रण रखने के लिए चीन को राजी कर लिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनो का मातहत बन गया। यह हालत तो हरेक के लिए ही बहुत असन्तोषजनक हो गई। झगडे की सूरत लाजिमी थी। जापान झगडा करना चाहता था। आख़िरकार उसने १८९४ ई० में चीन पर युद्ध बोल ही दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान का युद्ध जापान के लिए तो एक निश्चिन्तता का मामला था। उसकी फौज और समुद्री सेना बिलकुल अप-टु-डेट यानी सब तरह के आधुनिक सामान से सज्जित और तालीमयाफ्ता थी। चीन की पुरानी तर्ज की और अयोग्य थी। जापान की हर तरह फ़तह हुई और चीन के ऊपर एक सुलह लादी गई, जिसके मुताबिक़ जापान भी चीन से सन्धि करने वाली दूसरी विदेशी शक्तियो की क़तार में आगया। कोरिया को आजाद ऐलान कर दिया गया, पर यह आजादी जापानी नियत्रण के लिए सिर्फ एक परदा थी। मचूरिया, लाओतुंग प्रायद्वीप, पोर्ट-आर्थर, फारमूसा और कई दूसरे टापू जापान की नजर करने के लिए बेचारा चीन मजबूर किया गया।

छोटे-से जापान ने चीन को ऐसी जबर्दस्त हार ी कि दुनिया अचम्भे में आगई। सुदूरपूर्व में एक ताक़तवर देश के इस उत्थान को देख कर पश्चिमी ताक़तें एकदम खुश न हुई। चीन-जापान के युद्ध के सिलसिले में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियो ने जापान को आगाह कर दिया था कि यदि चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह को जापान ने अपने में मिलाया तो हमारी मजूरी न मिलेगी। इस सूचना के मिल जाने पर भी जापान ने महत्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन वह उसे अपने पास रख न सका। रूस, जर्मनी और फ्रान्स इन तीनो बडी ताक़तो ने जोर दिया कि यह प्रायद्वीप वापिस दे दिया जाय और जापान को यह करना पडा; गो मन में उसे बहुत बुरा लगा और वह नाराज भी हुआ। इस वक्त तो वह इन तीनो का मुक़ाबिला करने के लिए काफी मजबूत न था।

लेकिन जापान ने इस बेइज्जती को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही। इसीने उसको एक और भी भारी युद्ध के लिए तैयार किया। नौ वर्ष बाद यह युद्ध रूस के साथ हुआ।

इधर जापान ने, चीन के ऊपर विजय पाकर अपनी स्थिति सुदूरपूर्व में सबसे ज्यादा ताक़तवर बनाली। चीन अपनी सारी कमजोरी के साथ दुनिया के सामने आया और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुरदे या मरते

हुए आदमी के ऊपर टूटने वाले गिद्धो की तरह वे उसपर टूट पडीं और जितना कुछ भी नोच-खसोट सकीं, उसे लेकर भागने की कोशिश करने लगीं। फ्रास, रूस, जर्मनी और इग्लैण्ड सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहो और विशेषाधिकारो के लिए छीना-झपटी करने लगे। रिआयतो और छूटो के लिए एक बहुत ही गदा और बेजा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी नई-नई रिआयतें और छूटें झपटने के लिए बहाना बननें लगीं। चूंकि दो मिशनरियो को किसीने मार डाला इसलिए पूर्व के शातुग प्रायद्वीप में कियाचू स्थान को जर्मनी ने जबरदस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस स्थान पर कब्जा किया इसलिए दूसरी शक्तियां भी लूट में हिस्सा पाने की जिद करने लगीं। जिस पोर्ट आर्थर से तीन वर्ष पहले जापान को हटाया गया था वही रूस ने ले लिया। पोर्ट आर्थर पर रूस के कब्जे का जवाब देने के लिए इंग्लैंड ने वी-हाई-वी पर दखल कर लिया। फ्रास नें भी अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ मुल्क हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाकर उत्तरी-मंचूरिया में रेल निकालनें की इजाजत भी लेली।

यह बेशर्मी से भरी छीना-झपटी बड़ी ग़ैरमामूली थी। चीन को इस तरह रिआयते देते जाना बिलकुल अच्छा न लग रहा था। हरेक मौक़े पर जहाजी ताकत के प्रदर्शन और बमो की धमकी दिखा-दिखाकर उसे मागो पर मजूरी देनें के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिनदहाडे की लूट? डाकेजनी? पर साम्राज्यवाद का यही तरीका है। कभी-कभी खुफिया तौर से काम होता है; कभी-कभी दूसरो की भलाई करने के फरेबी बहानो और धर्म के परदे में साम्राज्यवाद की बदकारियां ढकी जाती है। लेकिन १८९८ में चीन के साथ जो कुछ किया गया उसमें न बहाना था, न परदा। तमाम बेहूदगियों को साथ में लिये हुए साम्राज्यवाद अपनी नंगी शक्ल खड़ा हुआ था।

: ११७ :

जापान रूस को हरा देता है

२९ दिसम्बर, १९३२

मै तुमको सुदूरपूर्व के बारे में लिखता रहा हूं और आज भी यही किस्सा जारी रक्खूंगा। तुम्हे ताज्जुब हो सकता है कि मै भूतकाल के इन लड़ाई-झगडो का बोझा तुम्हारे दिमाग़ पर क्यों लाद रहा हूं। ये कोई मजेदार बातें नहीं है और गई-गुजरी भी होचुकी है। लेकिन सुदूरपूर्व में आज दिन जो-कुछ होरहा है उसमें अधिकाश

की जड़ें इन्हीं झगडो में मिलती है। इसलिए आजकल समस्याओ के समझने के लिए इन विषयो का कुछ ज्ञान जरूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बडी समस्याओ में से एक है। इस समय भी जबकि मैं यह ख़त लिख रहा हू, मचूरिया में जापानी विजय के बारे में जोरो से सघर्ष चल रहा है। यह झगड़ा किसी भी क्षण भड़ककर आफत खडी कर दे सकता है।

अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें बताया था कि १८९८ ई० में चीन से विशेषाधिकार ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे विदेशी शक्तियो के फौजी जहाजो की ताक़त थी। इन शक्तियो ने अच्छे-अच्छे बन्दरगाहो पर क़ब्जा कर लिया और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए प्रान्तों में भी खानें खोदने, रेले बनाने वग़ैरा के सब प्रकार के हक़ हासिल कर लिये। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के दायरे' (Sphere of Influence) की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यवादी सरकारो के लिए किसी देश को बाट खाने का यह एक मुलायम तरीक़ा है। अधिकार और नियत्रण भी कई दर्जों के हुआ करते है। देश को अपने शासन में मिला लेना पूर्णाधिकार है, सरक्षकता उससे कुछ उतरा हुआ अधिकार है, 'प्रभाव का दायरा' उससे भी जरा हलकी बात है। लेकिन इन सब का इशारा एक ही तरफ है। एक दरजा के बाद दूसरा दरजा आता है। दरअसल, जैसा कि हमें समझाने का शायद आगे मौक़ा मिले, राज्य-विस्तार या किसी देश को अपने राज्य में मिला लेना बहुत-कुछ झझट से भरा हुआ पुराना तरीक़ा है, जो अपने साथ कई राष्ट्रीय झगडो को लाया करता है। किसी देश पर आर्थिक नियत्रण क़ायम करलेना और बाकी मामलो की झझट में न पडना कहीं ज्यादा सहल बात है।

इस तरह पश्चिमी शक्तियां चीन का जो बटवारा कर रही थी, वह सबकी नजरो में चढ रहा था। जापान बहुत चौंका हुआ था। चीन पर फतह हासिल करके उसको जो फायदे हुए थे, वे सब अब पश्चिमी शक्तियो के हाथो में जाते हुए दीखने लगे। वह खिसियाना-सा होकर चीन के इस बॅटवारे को देख रहा था। सब से ज्यादा गुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे पोर्टआर्थर न लेने दिया और खुद हडप कर गया।

हाँ, एक ताक़त ऐसी थी जिसने चीन से रिआयतें झपटने की इस नोच-खसोट की जुगतों में भाग नहीं लिया था। यह ताक़त थी—सयुक्त राष्ट्र अमेरिका। यहाँ वालो के अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वे दूसरी शक्तियो की बनिस्बत कुछ ज्यादा धर्मात्मा थे, बल्कि बात यह थी कि वे अपने ही विशाल देश की तरक्क़ी करने में मशगूल थे। जैसे-जैसे अमेरिकावाले पश्चिम में प्रशात महासागर की ओर बढ़ते

जारहे थे, नई-नई जमीन उन्हे मिलती जारही थी। उसीकी तरक्क़ी उस वक़्त जरूरी थी। इसलिए उनकी तमाम शक्ति और रुपया इसीमें खप रहा था। दरअसल, मतलव के लिए यूरोपियन लोगो ने भी वहुत काफी पूजी अमेरिका में लगा रखी थी। उन्नीसवीं सदी के अख़ीर में पूजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नजर दौड़ाने लगे। चीन भी उनकी नजर में आया जिसे धीरे-धीरे अपने शासन में मिला लेने की ग़रज़ से यूरोपियन ताकते 'प्रभाव के दायरो' का बंटवारा करने पर उतारू हो रही थीं। इस वात को अमेरिका ने बिलकुल पसन्द न किया। अमेरिका तो बंटवारे में छुटा हो जा रहा था सो अमेरिका ने चीन में 'मुक्तद्वार' (Open door) नीति पास कर डाली। इसका मतलब यह था कि सभी देशो को चीन में व्यापार के लिए एक-सी सुविधायें दी जायें। दूसरी शक्तियाँ भी इस पर राजी हो गईं।

विदेशी शक्तियो की इस लगातार वाढ और दबाव से चीन की सरकार बिलकुल सहम गई। उसे विश्वास होगया कि सगठन और सुधार किये विना गति नहीं है। इसकी कोशिश भी की गई पर विदेशी शक्तियां बराबर नई-नई रिआयतो की माँगें करती रहती थीं, इसलिए चीन की सरकार को संगठन करने के मौके ही न मिलते थे। कुछ वर्षों से राजमाता जू सी ने वैराग्य-सा लेलिया था। लोग अपनी आजादी के लिए उसकी तरफ देखने लगे। सम्राट को इस वक़्त कुछ षड्यन्त्र का वहम हो गया, इस लिए वह राजमाता को कैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढी औरत ने उसको हटाकर सारे अधिकार खुद लेकर खूब बदला लिया। जापान की तरह उसने कोई उग्र सुधार तो न किये लेकिन सेना को आधुनिक ढग पर शिक्षित और सगठित करनें की उसने पूरी कोशिश की। हिफ़ाजत के लिए फौज की स्थानीय टुकडियाँ बनाने में उसने अच्छा उत्साह दिलाया। सेना की ये स्थानीय टुकडियाँ अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता की सेना' कहती थीं। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' अर्थात् 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाती थीं। बन्दरगाहों में रहने वाले कुछ यूरोपियनों ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूंसेवाज'। ऐसे सुन्दर शब्दो का कैसा भद्दा अनुवाद हुआ।

इन 'घूंसेबाजो' का भी ख़ूब नाम हुआ। इस अजीव नाम का कारण जबतक मुझे मालूम न हुआ। मुझे इस नाम से अक्सर ताज्जुब हुआ करता था। विदेशियो ने चीन की और चीनियो की जो बेशुमार बेइज्ज़तियां की थीं, और जो वे उस देश पर चढ़े बैठे थे, उसीका जवाब देनें के लिए ये 'घूंसेबाज' देशभक्त तैयार थे। इसमें ताज्जुब ही क्या कि उन्हे इन विदेशी लोगों से बिलकुल प्रेम न था जो उनको बदमाशी के पुतले मालूम पड़ते थे। ख़ासकर ईसाई धर्म-प्रचारक तो उन्हे बहुत ही बुरे लगते थे, क्योकि सब

मिलाकर उनका बर्त्ताव बडा नालायकी का रहता आया था। ये 'घूंसेबाज' चीनी ईसाइयो को देशद्रोही या क़ौमी गद्दार मानते थे। नये रवैये के खिलाफ चीन के प्राचीन स्वरूप की रक्षा में जान लडा देना उनका उद्देश था। यूरोपियनो और इन कट्टर देशभक्त और विदेशियों और मिशनरियो के शत्रुओ के बीच झगड़ा होना लाजमी था। कुछ झपटें हुईं, एक अग्रेज मिशनरी मारा गया, कई यूरोपियन और बहुत-से चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतारे गये। विदेशी सरकार ने इस देशप्रेमी 'घूसेबाज' आन्दोलन का दमन किये जाने की मांग पेश की। जो लोग खून और क़त्ल के मुजरिम थे, उनको चीन की सरकार ने सजा दी लेकिन अपने पैदा किये हुए इस आन्दोलन को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी दरमियान घूसेबाज आन्दोलन तेजी से सब तरफ फैल गया। विदेशी राजदूतो ने घबराकर जगी जहाजो से अपनी फौजें बुलालीं। इसे देख, चीनियो को और भी खयाल हो गया कि विदेशियो ने हमला शुरू कर दिया है। बस, ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग का विदेशी दूतावास घेर लिया गया।

'बाक्सर' या घूंसेबाज आन्दोलन की हमदर्दी में ज्यादातर चीन विदेशियों के खिलाफ हथियार लेकर उठ खडा हुआ। लेकिन प्रान्तो के कुछ वाइसरायों ने किसी की तरफदारी न की। इस तरह विदेशी ताकतो की मदद की। राजमाता की हमदर्दी बिला शुबहा घूंसेबाजो के साथ थी, लेकिन वह खुल्लमखुल्ला उनमें शामिल न हुई। विदेशी लोग यह साबित करना चाहते थे कि घूंसेबाज महज लुटेरे है। दर असल १९०० ई० की यह बगावत विदेशियो के चगुल से चीन को आजाद करने की देश-भक्ति से भरी हुई एक कोशिश थी। राबर्ट हार्ट चीन में एक बडा अंग्रेज अफसर था। वह उस समय समुद्री चुंगी (Customs) के महकमे का इन्सपेक्टर जेनरल था और दूतावास के घेरे के वक्त मौजूद था। उसका कहना है कि चीनियो के गुस्से को भड़काने का इलजाम विदेशियो, खासकर मिशनरियो पर लगेगा। उसके शब्दो में यह बगावत "असल में देशभक्ति से पूर्ण थी, इसका बहुत-कुछ उद्देश बिलकुल न्यायोचित था, इसपर कोई सवाल नहीं उठ सकता। इस बात पर जितना भी जोर दिया जाय, थोडा है।"

चीन के यो अचानक उलट पडने से योरप की ताकतें बहुत चिढ़ीं। यह ठीक ही हुआ जो उन्होने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियो के बचाने के लिए चटपट फौजें भेजीं। दूतावास का उद्धार करने के लिए एक जर्मन सिपहसालार की मातहती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज पहुँची। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फौजो को हिदायत की कि चीन में जगली हूणो की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक्त अंग्रेज लोग सब जर्मनो को हूण कहने लगे थे।

कैसर की हिदायत का न सिर्फ उसीकी फौज ने वल्कि तमाम मित्र-राष्ट्रो की फौजो ने पालन किया। पेकिंग को जाते समय रास्ते में जनता के साथ इन लोगो का बर्ताव ऐसा था कि बहुतो ने तो इनके हाथो पडने की बनिस्बत खुदकुशी कर लेना ज्यादा बेहतर समझा। उन दिनो चीनी औरते अपने पैरो को छोटा-छोटा बनाये रखती थीं, इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थी। इससे बहुतेरी स्त्रियो ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्रराष्ट्रो की फौजो का 'मार्च' हुआ और मौत, आत्महत्या और जलते हुए गाँवो का ताँता उनके पीछे-पीछे चला।

इन फौजो के साथ जाने वाला एक अँग्रेज् लडाई का सम्वाददाता कहता है—

> "ऐसी भी वाते है जिन्हे मै नही लिख सकता और जो इंग्लैण्ड में नही छपेगी, जो यह वता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जगलीपन के ऊपर पीतल की पालिश मात्र है। किसी भी युद्ध के बारे मे असली सच्ची बाते लिखी नही जाती। इस युद्ध के वारे मे भी यही होगा।"

मित्रराष्ट्रो की फौजो ने पेकिंग पहुचकर दूतावास को घेरे से छुडाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो 'पिजारो[१] के बाद लूट-पाट का सबसे जबर्दस्त धावा' कहा जा सकता है। पेकिंग की कला के खजाने उन जगली असभ्यो के हाथो में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य का ज्ञान तक न था। यह लिखते हुए अफसोस होता है कि मिशनरियो ने इस लूट में खास हिस्सा लिया। विदेशियो के झुड के झुंड घरो के ऊपर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे है। एक घर की कीमती चीजें बेचकर वे दूसरे बडे मकान की तरफ बढ जाते।

इन शक्तियो की अपनी ही आपसी लाग-डाँट और किसी कदर सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के रुख के कारण चीन का बटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको बेइज्जती का हलाहल पीना पडा। इस तरह की बेइज्जती उसके ऊपर लादी गई कि एक मुस्तकिल विदेशी फौज पेकिंग में रहने और रेलवे की हिफाजत करने के लिए तैनात की गई। बहुत-से किले नेस्तनाबूद कर दिये गये, विदेशियों की विरोधी ऐसी किसी सस्था में शामिल होनेपर मौत की सजा दी जाने लगी, व्यापार-सम्बन्धी नई-नई रिआयतें ऐंठ ली गई और हरजाने के तौरपर एक भारी रक़म चूसी गई; और सबसे भयानक चोट यह कि बॉक्सर या घूसेबाज आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओ को 'बाग़ी' करार देकर चीनी सरकार को उन्हें मौत की सजा देनी पडी। यह था

१. पिजारो—(१४७१–१५४१) एक स्पेनी सैयाह था, जिसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता। वहाँ उसका जीवन हद से ज्यादा वेरहमी के कामो में बीता। आखिर में अपने ही एक सिपाही के हाथ उसकी मौत हुई।

'पेकिंग का आदर्श मसविदा' (Peking Protocol) जिसपर १९०१ ई० में दस्तखत हुए।

खास चीन में, विशेषत. पेकिंग के आसपास, जब ये घटनायें घट रही थीं, उसी समय रूसी सरकार ने इस गडबडी से फायदा उठाकर साइबेरिया के पार मचूरिया में बहुत-सी फौजें भेज दीं। चीन लाचार था, विरोध प्रकट करने के अलावा और कर ही क्या सकता? लेकिन इधर दूसरी ताक़तो को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बडे हिस्से को हडप जाना पसन्द न आया। घटनाओ के नये चक्कर से जापान को सबसे ज्यादा फिक्र और परेशानी हुई। बस, इन सब राष्ट्रो ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने भी बडे धर्मभाव के साथ मुँह बनाकर दु ख और अचम्भा जाहिर किया कि हम-जैसे इज्जतदारो की मंशा पर कोई इसतरह शुबह क्यो करता है? मित्रराष्ट्रो को हम विश्वास दिलाते हैं कि चीन के राज्याधिकारो में दख़ल देने का हमारा कोई इरादा नहीं है, मचूरिया में जो रूस की रेलवे है उसपर शान्ति होते ही हम अपनी फौजें हटा लेगे। बस हरेक को तसल्ली होगई, और इसमें क्या सन्देह कि मित्रराष्ट्रो ने एक दूसरे को इस जबर्दस्त स्वार्थ-त्याग और धर्मभाव के लिए बधाइयाँ भी दी होगी। लेकिन, फिर भी, रूसी फौजें मचूरिया में ही रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मञ्चूरिया में और कोरिया तक इसतरह रूस के बढ आने पर जापानियो को बडा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन गम्भीरता के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तमाम ताकतो ने मिलकर १८९५ ई० में चीन की लड़ाई के बाद जापान को पोर्ट आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। उनको इग्लैण्ड ऐसी ताकत मिली जो रूस के बढने से डरती थी और उसे रोकना चाहती थी। १९०२ ई० में एग्लो-जापानी मित्रता हुई जिसका उद्देश यह था कि राष्ट्रो का कोई गुट सुदूरपूर्व में जापान या इग्लैण्ड में से किसी राष्ट्र को न दबा सके। जापान अपने आपको अब महफूज समझने लगा; उसने रूस की तरफ और भी ज्यादा धमकी का रुख इख्तियार कर लिया। उसने माँग पेश की कि रूसी फौजें मञ्चूरिया से हटा ली जायें। लेकिन उस वक्त के बेवकूफ जार की सरकार ने जापान को हिकारत की नजर से देखा। उसे यह यकीन ही न हुआ कि जापान रूस से लडने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनो मुल्कों में लड़ाई छिड गई। जापान इसके लिए बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार-कार्य और सम्राट-पूजा के पथ से उकसाये हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ रूस बिलकुल

तैयार न था। उसकी एकतन्त्री सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ सालतक लड़ाई चलती रही और तमाम एशिया, योरप और अमेरिका ने जमीन और दरिया के ऊपर जापान की विजयो को देखा। अपने आदमियो के अद्भुत बलिदान और जबरदस्त हत्याकाण्ड के बाद जापानियो के हाथ पोर्ट आर्थर लगा। योरप मे रूस ने जगी जहाजो का एक बड़ा बेड़ा समुद्र के ज़रिये सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हजारो मील के सफर से थका थकाया यह भारी भरकम बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ पर, जापान और कोरिया के बीच के सँकरे समुद्री रास्ते में इसको और इसके अध्यक्ष को जापानियो ने डुबा दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा का सारा जहाजी बेडा नष्ट होगया।

रूस की—ज़ार के रूस की—एक के बाद दूसरी हार से बुरी गत हो रही थी। फिर भी, रूस के पास बहुत ताक़त जमा थी। क्या इसी देश ने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन इसी वक्त, असली रूस यानी रूस की जनता बोल उठी थी।

इन खतो के सिलसिले में मै हमेशा रूस, इग्लैंड, फ्रास, चीन, जापान वगैरा का जिक्र किया करता हूँ, मानो इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। मेरी यह आदत बुरी है, जो किताबो और अखबारो से मुझ में आगई है। मेरा मतलब उस समय की रूसी सरकार, अगेजी सरकार वगैरा से है। ये सरकारे किसी छोटे से गिरोह के अलावा किसी की भी प्रतिनिधि न हो, या किसी एक वर्ग की हो, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार, पार्लमेंट पर अपना अधिकार रखनेवाले ज़मींदारो और ऊँची मध्यमश्रेणी के आसूदा लोगो की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज न थी। आज-कल हिन्दुस्तान में कभी-कभी सुनते है कि हिन्दुस्तान ने राष्ट्रसघ या गोलमेज परिषद् या ऐसे ही दूसरे जलसो में अपना प्रतिनिधि भेजा है। इस बात का कोई मतलब नहीं होता। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक हिन्दु-स्तान के असली प्रतिनिधि नहीं हो सकते जबतक कि हिन्दुस्तान की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत सरकार नामजद करती है। नाम के वे चाहे जो कुछ हो, असल में होते है ब्रिटिश सरकार के ही प्रतिनिधि। रूस में, रूस-जापान युद्ध के वक़्त, एकतन्त्री शासन था। सारे रूस का एकतन्त्री मालिक था ज़ार, और यह मालिक बहुत ही बेवकूफ था। मजदूरों और किसानों को फौज के ज़रिये दबाकर रखा जाता था। मध्यमवर्ग तक की शासन-प्रबन्ध में कोई आवाज न थी। इस जुल्म के ख़िलाफ बहुतेरे रूसी नौजवानो ने सिर उठाया, हथियार लिया, और आज़ादी की

लड़ाई में अपनी कुरबानी देदी। बहुतेरी लड़कियो ने भी वही रास्ता इख़्तियार किया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि रूस यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था तो मेरा मतलब सिर्फ़ ज़ार की सरकार से होता हैं, और कुछ नहीं।

जापान की लड़ाई और उसकी तबाही रूस की आम जनता पर और भी मुसीबत लाई। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारख़ानो के मज़दूर हड़ताल कर बठते। २२ जनवरी १९०५ के दिन हज़ारो शान्त किसान और मज़दूर एक पादरी के नेतृत्व में, जुलूस बनाकर सरदी के महल में ज़ार के पास पहुँचे कि अपने कष्टो से छुटकारा पाने की प्रार्थना करे। उनकी बात सुनने के बजाय ज़ार ने उन पर गोली चलवादी। ख़ौफ़नाक कत्लेआम मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ़ ख़ून से लाल हो गई। रविवार का दिन था। उसी वक्त से उस दिन को 'ख़ूनी रविवार' कहा जाने लगा। देश में गहरी सनसनी फैल गई। मज़दूरो ने हड़ताल बोलदी और एक छोटी-सी क्रान्ति हो गई जो बाद में असफल हुई। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बडी बेदर्दी के साथ दबा दिया। कई कारणो से हमारे लिए यह बडी दिलचस्पी से भरी और ग़ौर करने के काबिल क्रान्ति है। १२ वर्ष बाद रूस की शकल को बदल डालने वाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया, और १९०५ ई० की इसी असफल क्रान्ति में क्रान्तिकारियो ने सोवियट नामक एक नये सगठन की योजना की, जो बाद में इतना मशहूर हो गया।

जैसाकि अक्सर मेरा ढग है, मैं तुम्हे चीन व जापान और रूस-जापान युद्ध का हाल बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मंचूरिया की इस लड़ाई के वक्त रूसी तसवीर की पृष्ठ भूमि को समझाने के लिए ये चन्द बातें बतानी ज़रूरी थीं। इसी असफल क्रान्ति और जनता की बिगडी हुई तबीयत के कारण ज़ार को जापान से सुलह करने को मजबूर होना पडा।

सितम्बर १९०५ ई० की पोर्टमाउथ की संधि से रूस-जापान के युद्ध का ख़ातमा हुआ। पोर्टमाउथ सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनो फरीको को बुलाकर सन्धि पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से आख़िरकार जापान को पोर्टआर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पडे थे। रूसियो ने जो रेलवे मंचूरिया में बनाई थी, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो साख़ोलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा जापान को मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर के अप1े तमाम दावों को छोड़ दिया।

इस तरह जापान जीत गया और महान शक्तियो के जादू के घेरे में उसने प्रवेश किया। एशिया के इस मुल्क—जापान की विजय का असर तमाम एशियाई देशो पर पड़ा। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जब मै लडका था तो मुझे भी इस विजय पर बड़ा जोश आया करता था। ऐसा ही जोश एशिया भर के लड़के, लड़कियो और बडो को आया करता था। योरप की एक बडी ताकत हार गई इसलिए यह ख़याल पैदा हुआ कि एशिया योरप को अब भी हरा सकता है, जैसा कि पुराने ज़माने में कई दफे हरा चुका है। पूर्वी देशो में राष्ट्रीयता तेज़ी से फैल गई, और 'एशिया एशिया-वालो के लिए' की पुकार सुनाई देने लगी। लेकिन यह राष्ट्रीयता पुरानी बातो की तरफ, पुराने रिवाजो और विश्वासो की तरफ लौट चलना ही न थी। जापान की विजय इसलिए हुई थी कि उसनें योरप के नये औद्योगिक तरीको को इख़्तियार किया था। ये पश्चिमी कहलानेवाले तरीके और ख़यालात पूर्वी देशो में ज्याद-ज्यादा लोक-प्रिय होते गये।

: ११८ :

चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके है कि रूस पर जापान की विजय से एशिया की जातियाँ कैसे फूल गईं। लेकिन इसका फिलहाल तो यह नतीजा हुआ कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लेनेवाली साम्राज्यवादी ताकतो के छोटे-से गिरोह में एक और ताक़त शामिल हो गई, जिसकी पहली चोट कोरिया को लगी। जापान के उदय का मतलब हुआ कोरिया का अस्त। जब से जापान के दरवाज़े दुनिया के लिए खुले, वह कोरिया और किसी कदर मचूरिया को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह इस घोषणा को तो बराबर दुहराता रहता था कि "हमारी पूरी श्रद्धा है कि चीन अखण्ड रहे और कोरिया आज़ाद बना रहे।" साम्राज्यवादी ताकतो का यह तरीका ही होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती है; गले भी काटती जाती हैं और यह भी कहती जाती है कि प्राण बडी पवित्र चीज़ है। सो जापान ने भी यही ज़ाहिर किया कि कोरिया में हम दख़ल न देंगे और साथ ही उसपर कब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी पालिसी से भी चिपटा रहा। चीन और रूस दोनो से उसके जो युद्ध हुए थे उनका केन्द्र भी कोरिया और मंचूरिया के आसपास ही था। एक-एक क़दम जापान बढ़ता जा रहा था और

अब चीन की कमजोरी और रूस की हार हो जाने पर उसका रास्ता साफ हो गया।

अपनी साम्राज्यवादी नीति के मुताबिक़ काम करने में जापान कभी किसी हिचकिचाहट या सोच विचार की इल्लत में न पडा। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया, किसी परदे के नीचे अपनी कारगुजारी को छिपाने तक की परवाह उसने नहीं की। चीन की लडाई शुरू होने से पहले ही, १८९४ में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में घुसकर जापानियो ने वहां की रानी को पकड कर क़ैद कर लिया क्योंकि उसे उनका हुक्म वजाना मजूर न था। १९०५ ई० में रूस की लड़ाई के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के राजा को अपने देश की आजादी की खातमा करने और जापान की सत्ता को मानने के लिए मजबूर किया। लेकिन यही काफी न था। पांच बरस के अन्दर ही, यह अभागा राजा तख्त से हटा दिया गया और कोरिया जापान साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हजार वर्ष के पुराने इतिहास के बाद कोरिया के आजाद राज्य की हस्ती मिट गई। जिस राजा को इस तरह हटाया गया था वह उस खानदान का था जो ५०० वर्ष पहले मगोलो को अपने यहां से खदेड चुका था। लेकिन कोरिया अपने बडे भाई चीन की तरह जड होगया था और उसका बहाव रुककर सड गया था, जिसकी उसे यह सजा भुगतनी पडी।

कोरिया को फिर उसका वह पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी प्रात काल की शान्ति का देश। जापानियो ने नये जमाने के मुताबिक़ कुछ सुधार भी किये पर उन्होने कोरिया के लोगो की आत्मा को वेदर्दी के साथ कुचल दिया। बहुत वर्षों तक आजादी के लिए कोशिशें होती रहीं। कई बलवे भी हुए। सब से महत्वपूर्ण बलवा १९१९ में हुआ। कोरिया के लोग, खासकर युवक और युवतियां, अपने जबरदस्त दुश्मनो से लडती रही। एक बार की बात है कि आजादी के लिए लड़नेवाली एक कोरियन सस्था ने आजादी की बाकायदा घोषणा करके जापानियो को ललकारा और फौरन ही पुलिस को टेलीफोन करके अपनी कार्रवाई की इत्तिला उसे दे दी। इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जीते-जागते अपने आपको क़ुर्बान कर दिया। यह शान्त और चौकस तरीका जो उन्होने इख़्तियार किया था बापू के बताये उपायो की गूंज-सा मालूम देता है। जापानियो ने कोरियन लोगो का किस तरह दमन किया, इतिहास का यह अध्याय बहुत ही दु ख से भरा और काला है। तुम्हे यह जानने में दिलचस्पी होगी कि नौजवान कोरियन लडकियो ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, आजादी की इस लडाई में खास हिस्सा बँटाया।

अब जरा चीन की तरफ लौटें। बॉक्सर यानी घूंसेबाज आन्दोलन के दमन और

१९०१ ई० के पेकिंग के सन्धिपत्र के बाद हमने उसको एकाएक ही छोड़ दिया था। चीन की पूरी-पूरी बेइज्ज़ती हो चुकी थी। फिर दुबारा वहाँ सुधार की चर्चा चलने लगी। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ तो सुधार करना चाहिए। रूस-जापान की लड़ाई के वक़्त चीन चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन की ही जमीन मंचूरिया में हो रही थी। जापान की फतेह ने चीन के सुधारकों को मजबूत कर दिया। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के लिए बहुत-से विद्यार्थी योरप, अमेरिका और जापान भेजे गये। अफसरों की नियुक्ति के लिए जो किताबी इम्तिहानों का पुराना तरीक़ा था, वह उठा दिया गया। यह अजीब क़ायदा, जो चीन की एक ख़ासियत था, ठेठ 'हन्' ख़ानदान के ज़माने से यानी दो हज़ार वर्ष से चला आरहा था। इसकी उपयोगिता तो कभी की ख़तम हो चुकी थी। अब तो यह चीन को आगे बढ़ने से ही रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह इतनी सदियों तक चलनेवाला क़ायदा अद्भुत था। इससे मालूम होता था कि चीनियों का जिंदगी के बारे में क्या दृष्टिकोण है। उनके लिए जिन्दगी न सामन्ती थी, न पुरोहिती या महन्ती, जैसा कि एशिया और योरप के ज्यादातर देशों में था। उनके लिए जिन्दगी विवेक का सहारा लिये हुए थी। चीनी हमेशा से ही मजहबी आदमी रहे हैं, और उन्होंने अपने सदाचार और नीति के नियमों का ऐसी कट्टरता के साथ पालन किया है कि दूसरी किसी धर्मात्मा जाति ने नहीं किया। उन्होंने ऐसे समाज की स्थापना करने की कोशिश की जो बुद्धि पर खड़ा हो। लेकिन चूंकि उन्होंने इसको अपने पुराने साहित्य की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया, इससे तरक्की और जरूरी तब्दीलियाँ रुक गईं, जड़ता आ गई और सड़ान होने लगी। हिन्दुस्तान के हम लोग चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सबक ले सकते हैं। क्योंकि अभीतक हम लोग जात-पात, मजहबी कट्टरता, पोपलीला और सामन्तशाही ख़यालात के चंगुल में पड़े हुए हैं। चीन के महान् ऋषि कन्फ्यूशियस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने के काबिल है। वह इस तरह है—"जो लोग दैवी ताक़तों पर क़ाबू रखने का ढोंग करते हों, उनके साथ कोई सम्बन्ध न रक्खो। अगर तुमने अपने देश में दैववाद के प्रपञ्च को क़दम रखने दिया, तो नतीजा यह होगा कि देश बिलकुल तबाह हो जायगा।" बदक़िस्मती से हमारे देश में सिर पर चोटी रखने या जटा बढ़ा लेने, लम्बी दाढ़ी रखने, माथे पर टेढ़े-मेढ़े निशान बनाने या गेरुआ वस्त्र पहनने वाले बहुत-से लोग अपने आपको दैवी शक्ति का कारकुन बताकर आम जनता को लूट रहे हैं।

लेकिन पुराने समय के अपने सारे बुद्धिवाद और संस्कृति वाला चीन वर्तमान

काल के ऊपर कब्जा न रख सका। मुसीबत की घडी में उसको अपनी सस्थाओं से कोई मदद न मिली। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से लोगो में स्फूर्त्ति भर दी और उनको ग़ैर-मुल्कों में जाकर मेहनत के साथ प्रकाश या ज्ञान की तलाश करने के लिए मजबूर किया। उन्होने बूढी राजमाता को भी दहला दिया, जो कि अब जनता को शासन-विधान और स्वराज्य देदेने की बातें करने लगी और जिसने विदेशों में वहांके शासन-विधानो का अध्ययन करने के लिए कमीशन भी भेजे।

यो बूढी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन चीन की जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ रही थी। १८९४ ई० में ही, चीन के एक निवासी डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार सभा' कायम की थी। चीन पर विदेशी ताकतों ने जो बेईमानी की और एकतरफा सन्धियां, जिन्हे चीनी लोग 'असमान सन्धि' कहा करते है, लादी थीं, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस सभा में शामिल होगये। इस सभा की तरक्की होती गई और देश के नवयुवक इसकी तरफ खिचते गये। १९११ ई० में इसका नाम बदलकर 'काउ-मिन-तांग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया। अब यह दल चीन की क्रान्ति को सगठित करने का केन्द्र और ख़ास जरिया बन गया। इस आन्दोलन के नेता डा० सनयात सेन सयुक्त राष्ट्र अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह प्रजातन्त्र, न कि इग्लैण्ड का वैधानिक एकतन्त्र, चाहते थे, और जापान की सम्राट-पूजा तो हर्गिज उनका उद्देश नहीं था। चीनी लोगों पर सम्राट का जादू कभी नहीं चला, फिर उनका तत्कालीन राजवश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवश मचू था। जनता में मचू-विरोधी भाव भी खूब फैले हुए थे। जनता के इसी जोश के कारण बूढ़ी राजमाता को भी आगे बढना पडा था। लेकिन यह बुजुर्ग औरत नये शासन-विधान का ऐलान करने के थोडे ही दिन वाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि यह राजमाता और इसका भतीजा, जिसे इसने तख़्त से हटाया था, दोनो नवम्बर १९०८ ई० में २४ घटे के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुंहा बच्चा नाम के लिए सम्राट हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की आवाज बुलन्द होने लगी। सम्राट और मचूवश के खिलाफ जनता में जोश फैल गया और क्रान्तिकारी जोर पकड़ गये। इस वक्त एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मजबूत आदमी था जो इनका मुक़ाबिला कर सकता था। यह आदमी लोमडी की तरह चालाक था। चीन की एकमात्र होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। युआन को नाराज करके निकाल देने में मचू हाकिमो ने वडी वेवकूफी की। इस तरह उस आदमी को भी खो दिया जो उन्हें थोडी देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर

१९११ ई० में यांगसी की घाटी में क्रान्ति शुरू हो गई और जल्द ही मध्य और दक्षिणी चीन के बडे हिस्से में बग़ावत फैल गई। १९१२ ई० की पहली जनवरी के दिन इन प्रान्तो ने प्रजातन्त्र की घोषणा करदी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डॉ० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि जहाँ अपने फायदे का मौका मिले, हाथ मारूँ। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र बालक सम्राट की तरफ से राज्य कर रहा था) युआन को निकालकर फिर दुबारा उसे बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। जिस वक्त युआन को हटाया था, यह ज़ाहिर किया गया था कि उसकी टाँग में तकलीफ है। सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मजे में है और यह बहाना सिर्फ एक तकल्लुफ की बात है। लेकिन युआन ने भी बदला निकाल लिया। दो साल बाद १९११ ई० में जब सरकार के खिलाफ ग़दर शुरू हुआ, रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। युआन ही अब सरकारी खेल का सूत्रधार था। जबतक उसकी शर्तें मजूर न हो जायँ, रीजेन्ट के पास जाने का उसका इरादा नहीं था। उसने रीजेन्ट को जवाब भिजवा दिया कि "इस वक्त तो टाँग की तकलीफ की वजह से सफर करने के काबिल नहीं हूँ। मजबूर हूँ, घर छोड़ कर बाहर न जा सकूँगा।" एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर हो गईं तो उसकी टाँग भी खूब तेजी के साथ चंगी हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो गई थी कि क्रान्ति का रोकना मुश्किल था। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनो में से किसी भी एक पक्ष की तरफ होकर फैसला करने को तैयार न हुआ। आख़िर उसने मचुओ को तख़्त छोडने की सलाह दी। मुकाबिले में प्रजातन्त्र की शक्ति और अपने सेनापति ने भी साथ छोड़ दिया, ऐसी हालत में मचू हाकिम और क्या करते ? १२ फरवरी १९१२ ई० को राज्यत्याग का घोषणापत्र निकाल दिया गया। इस प्रकार करीब २५० वर्ष के ज़ोरदार शासन के बाद चीन के रगमच से मचू खानदान का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के मुताबिक "वे शेर की-सी दहाड़ मचाते हुए आये, और सांप की दुम की तरह ग़ायब हो गये।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये प्रजातन्त्र की राजधानी नानकिंग में, जहां पहले मिंग बादशाह का मक़बरा बना हुआ था, एक अजीब उत्सव मनाया गया। प्रजातन्त्र के प्रधान सनयात सेन ने अपने मन्त्रिमडल के साथ मक़बरे पर जाकर पुराने तरीके से प्रसाद चढ़ाया। इस मौक़े पर जो व्याख्यान दिया उसमें उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया को प्रजातन्त्र शासन के लिए दीक्षित कर रहे है। जो लोग कोशिश करते हैं

उन्हे जल्दी या देर से कभी-न-कभी कामयावी मिलती ही है। नेकी का आखिर में जरूर इनाम मिलता है। फिर यह झुंझलाहट क्यो कि आजादी इतनी देर से आई ?"

लगातार बहुत-से वर्षों तक, अपने देश में रहकर और विदेश में दोनो जगह, सनयात सेन चीन की आजादी के लिए जान लड़ाते रहे, और आखिरकार कामयाबी आती दिखाई दी। लेकिन आजादी है एक बेवफा दोस्त। कामयावी को हासिल करने से पहले उसकी पूरी कीमत चुकानी पडती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर खिजलाती है, मुश्किले पैदा करके हमारा इम्तिहान लेती है, तव कहीं जाकर आती है। चीन और डॉ० सेन का काम अभी खतम नहीं हुआ था। बहुत वर्षों तक इस नये प्रजातत्र को अपनी जान के लिए लडना पडा और आज दिन भी, गो २१ वर्ष गुजर गये है, चीन की किस्मत शशोपञ्ज में लटकी हुई है।

मंचुओ ने तख़्त छोड़ दिया, लेकिन प्रजातन्त्र के रास्ते में अभीतक युआन डटा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी प्रजातन्त्री और दक्षिणी चीन में उसका दौरदौरा था। घरेलू युद्ध को रोकने और शान्ति की ख़ातिर डॉ० सेन अपने आप मैदान से हट गये, राष्ट्रपति के पद से इस्तीफा देकर उन्होने युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन प्रजातन्त्रवादी नहीं था। उसकी ख्वाहिश ताक़त हासिल करके खुद चमकने की थी। जिस प्रजातन्त्र ने उसको अपना प्रधान चुनकर इज्ज़त वख़्शी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी ताकतों से रुपया उधार लिया। पार्लमेण्ट को वरख़ास्त कर दिया, काउ-मिन-तांग को तोड दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग फूट गये, डॉ० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक विरोधी हुकूमत क़ायम हुई। जो कुछ डॉ० सेन कर सकते थे, उन्होने इस फूट से बचने के लिए किया, पर आख़िर में वही फूट आ धमकी। जिस वक्त महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें हो रही थीं। युआन ने वादशाह बनने की कोशिश की, लेकिन वह नाकामयाव रहा और थोडे ही दिनो बाद मर गया।

: ११९ :

बृहत्तर भारत और ईस्टइंडीज़

३१ दिसम्बर, १९३२

फिलहाल सुदूरपूर्व का जिक्र हम खतम करते हैं। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ हाल हम देख चुके है, और अव पश्चिम की तरफ योरप, अमेरिका और अफरीका को चलने का वक़्त आया है। पर मैं चाहता हूँ कि इस लम्बे सफ़र

से पहले तुम जरा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झांकी देख लो, ताकि हमें इसका पूरा-पूरा ज्ञान होजाय। इन देशो पर ग़ौर किये भी बहुत वक़्त हो चुका है। मैंने इनका जिक्र किसी-किसी पिछले ख़त में जरा सरसरी और उड़ती हुई तौर पर किया था; और मेरा वर्णन शायद बिलकुल सही भी न था। उस वक़्त मैंने इनके नाम मलेशिया, इण्डोनेशिया, ईस्टइण्डीज और विशाल या बृहत्तर भारत बताये थे। इसमें तो सन्देह है कि ये नाम तमाम हिस्से के लिए इस्तैमाल किये जा सकते है; लेकिन जब हम-तुम एक-दूसरे की बाते समझ ले, तो नामो से क्या लेना देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो जरा नक़्शे को तो देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बरमा, स्याम और आजकल का फ़ासीसी हिन्दी-चीन शामिल है। बरमा और स्याम के बीच एक लम्बी जबान-सी निकली हुई है जो अन्तिम छोर की तरफ मोटी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। इसका नाम है मलय या मलाया प्रायद्वीप। मलाया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बडे टापू फैले हुए है, इनकी अजीब-सी शक्ल है और देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलानेवाले किसी बडे भारी पुल के खण्डहर है। इन्हीं टापुओ का नाम ईस्टइण्डीज है। इनके उत्तर में फिलीपाइन के टापू है। किसी ताजा नक्शे से तुम्हे मालूम हो जायगा कि बरमा और मलाया अंग्रेजो के कब्जे में है, हिन्दी-चीन फ़ास का है और इनके बीच में स्याम एक आज़ाद देश है। डचो के कब्जे में ईस्टइण्डीज यानी सुमात्रा, जावा और बोर्नियो, सेलिबीज और मलक्का के ज्यादातर हिस्से है। ये टापू मसालो के लिए मशहूर है और इन्होने योरप के नाविको को हजारो मील तूफानी समुद्र को पार करके यहाँ आने के लिए आकर्षित किया है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिकन सरकार के अधीन है।

पूर्वी समुद्र के इन देशों की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हे याद होगा कि दो हजार वर्ष के करीब हुए भारत-माता के सपूतो ने इन देशो में जाकर बस्तियाँ बसाई थीं, कई सदियो तक इनमें बडे-बडे साम्राज्य पनपे, ख़ूबसूरत शहर और हैरत में डालनेवाली इमारतें बनीं, व्यापार और उद्योगो की तरक्की हुई और हिन्दुस्तानी एवं चीनी सभ्यता और संस्कृति का मेल हुआ।

इन देशो का बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले ख़त में बताया था कि किस तरह पूर्व में पोर्चुगीज साम्राज्य का पतन होने पर ब्रिटिश और डच ईस्टइडिया कम्पनियो का उदय हुआ। फिलीपाइन में स्पेनियो का ही राज्य बना रहा।

अंग्रेजो और डचो ने पोर्चुगीजों को हराकर खदेड़ देने के लिए एका कर लिया। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन जीतनेवालों में मुहब्बत जरा भी न थी। वे

अक्सर आपस में लडा करते थे। १६२३ ई० में एक दफा अम्बोयना (मलक्का) के डच-गवर्नर ने, डच-सरकार के ख़िलाफ साजिश करने का इलज़ाम लगाकर, ईस्ट-इडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियो को गिरफ्तार करके मरवा डाला। इस कत्लेआम का नाम 'अम्बोयना का हत्याकाण्ड' है।

एक बात की मै तुम्हे याद दिलाना चाहता हूँ। अपने शुरू के खत में मैने इसका हाल बताया था। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, योरप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहां सामान बडे पैमाने पर तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बडी-बडी मशीनो के दिन अभी दूर थे। योरप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार करके बाहर भेजा करता था। एशिया का जो सामान योरप को भेजा जाता, उसकी क़ीमत किसी क़दर योरप के माल से और किसी क़दर स्पेनिश अमेरिका के आने वाले ख़जाने से दी जाती थी। एशिया और योरप की तिजारत बडे मुनाफे की थी। बहुत अरसे तक इसपर पोर्चुगीज़ो का क़ब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल होगये। इस तिजारत में हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्टइडिया कम्पनी बनीं। लेकिन पोर्चुगीज़ इस तिजारत को अपने ही लिए महफूज़ समझते थे, और किसी दूसरे को हिस्सा बँटाते नहीं देख सकते थे। फिलीपाइन में स्पेनियो के साथ तो उनका निभाव ठीक-ठीक होता रहा, क्योकि स्पेनियो का ध्यान तिजारत की बनिस्बत मजहब की तरफ ज्यादा था। लेकिन नई कम्पनियो की तरफ से अंग्रेज और डच सैयाह और ले-भग्गू आये। उनमें धर्म-कर्म कुछ न था। इसलिए बहुत जल्दी ही झपट शुरू हो गई।

पूर्व में राज्य करते हुए पोर्चुगीज़ो को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये थे। वे लोगो के प्यारे न बन सके और चारो तरफ असन्तोष फैला हुआ था। इग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनो तिजारती कम्पनियो ने इस असन्तोष से फायदा उठा लिया और लोगो को पोर्चुगीज़ो से छुटकारा पाने में मदद दी। लेकिन पोर्चुगीज़ो ने जैसे ही जगह ख़ाली की, फौरन ही इन्होने क़दम रक्खा। हिन्दुस्तान और इडीज़ के हाक़िम होने की हैसियत से ये यहाके लोगों से भारी महसूलों और दूसरी सूरतो से ख़ूब रुपया उगाह लेते थे। इस तरह योरप पर ज्यादा बोझ पडे बिना ही इनकी विदेशी तिजारत चलती रहती थी। पूर्वी देशो की चीजों की क़ीमत अदा करने में जिस बडी दिक्क़त का योरप को पहले तजुर्बा हो चुका था वह इस तरह कम हो गई। बात यहाँतक बढ़ गई कि, जैसा कि हम देख चुके है, इग्लैण्ड ने मनाई के कानून बनाकर और भारी चुंगी लगाकर हिन्दुस्तानी माल का आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत रही।

अंग्रेजो के हट जाने के कारण, ईस्टइंडीज का डच-ब्रिटिश झगडा ज्यादा न चला। अंग्रेजो को हिन्दुस्तान के मामले से ही फुर्सत न थी। इस तरह फिलीपाइन के अलावा, जिसपर स्पेनवालो का क़ब्जा रहा, बाक़ी का कुल ईस्टइंडीज प्रदेश डच ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ आ गया। स्पेनियो को तिजारत की जरा भी परवा न थी, और न वे आगे मुल्क फतह करने की ही कोशिश कर रहे थे, इसलिए इस मैदान में डचो का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा।

अपनी हमनाम हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्टइंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने और झटपट अमीर बन जाने के लिए आ डटी। डेढ-सौ वर्ष तक इस कम्पनी का इन टापुओ पर राज रहा। रिआया की बेहतरी की तरफ इन डचो ने जरा भी ध्यान न दिया। उसकी छाती पर सवार होकर हर तरह के जुल्म करके उन्होंने जितना भी मुमकिन हो सका रुपया चूसा। जब नजर और तोहफे के जरिये रुपया पैदा करना इतना आसान हो गया तो तिजारत पीछे जा पडी और धीरे-धीरे खतम हो गई। यह कम्पनी बिलकुल नालायक थी। जो डच इसमे नौकरी करने के लिए आते वे भी उसी तरह के तकदीर आजमाने वाले आवारा होते थे जैसे हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। जैसे-तैसे दौलतमन्द बनना उनका खास मतलब था। हिन्दुस्तान में मुल्क की आमदनी के साधन कहीं ज्यादा थे और ज्यादा हद तक बदइन्तिजामी छिपाई जा सकती थी। हिन्दुस्तान में कुछ क़ाबिल हाकिम भी हुए, जिन्होंने ऊपरी इन्तजाम को तो ठीक कर लिया, गो कि नीचे पर्दे में लोग बुरी तरह कुचले जाते रहे। खैर, तुम्हे याद होगा कि १८५७ ई० के ग़दर ने ब्रिटिश ईस्टइंडिया कम्पनी का खातमा कर दिया।

डच ईस्टइंडिया कम्पनी की हालत बदतर होती गई। आखिरकार १७९८ ई० में निदरलैण्ड की सरकार ने पूर्वी द्वीपो की हुकूमत खुद सम्हाल ली। थोडे ही दिनो पीछे योरप में नेपोलियन की लडाइयों के कारण, अंग्रेजो ने इन टापुओं पर कब्जा कर लिया; क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का एक हिस्सा था। पांच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही सूबे समझे जाते रहे। इस अरसे में उन्होने अच्छे-अच्छे सुधार भी किये। नेपोलियन का पतन होने पर ईस्टइंडीज हालैण्ड को वापस दे दिये गये। जिन पांच बरसों में जावा का ताल्लुक हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनो टामस स्टैम्फर्ड रैफल्स नामी एक अंग्रेज जावा का लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ-ल्स की रिपोर्ट थी कि डच उपनिवेश के इन्तजाम का इतिहास "धोखेबाजी, रिश्वत, खून और कमीनेपन के मिश्रण की एक असाधारण कहानी है।" डच अफसरो की और-और हरकतें तो थी हीं, उनमें एक यह भी आदत थी कि जावा में गुलामो के तौर से

काम लेने के लिए वे सेलीबीज से आदमी चुरा लाते थे। इस चोरी के साथ-साथ लूट और हत्या भी चलती थी।

निदरलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी वाली हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातो में तो लोगो पर और भी ज्यादा जुल्म होने लगे। तुम्हे शायद याद होगा कि मैंने बगाल की उस नील की खेती के बारे में कुछ बताया था, जिसके कारण काश्तकारो पर बडी मुसीबतें आई। इसी तरह की एक प्रथा बल्कि इससे भी खराब जावा वगैरा में चलाई गई। कम्पनी के जमाने में लोगो को माल देना पडता था। यह प्रथा 'कल्चर सिस्टम' कहलाती थी। इसके मुताबिक हर साल कुछ अरसे के लिए, जो काम-काजी वक्त का अन्दाज से एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा होगा, किसानो से जबर्दस्ती काम कराया जाता था। असल में ज्यादातर तो किसान का पूरा वक्त ही ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारो की मारफत काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ से बिना सूद पर पेशगी रुपया मिल जाता था। ये ठेके-दार आधो-आध बेगार लेकर मजदूरो को चूसा करते थे। कहा तो यो जाता कि जमीन की पैदावार बँधे हुए अनुपात से सरकार ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँटती है। लेकिन काश्तकारो का हिस्सा शायद सबसे थोडा था, गो बिलकुल ठीक मुझे मालूम नहीं कि कितना होता था। सरकार ने यह भी क़ानून बना रक्खा था कि योरप में खपने वाली कुछ चीजें जमीन के कुछ हिस्सो में जरूर बोई जायें। ये चीजे चाय, कॉफी, नील वगैरा होती थीं। जैसी कि बगाल में नील की खेती की हालत थी, यहाँ भी इन चीजो को जरूर ही बोना पडता था, चाहे दूसरी चीजें बोने में ज्यादा मुनाफा ही क्यों न होता हो।

डच सरकार ने खूब मुनाफा उठाया, ठेकेदार खूब फूले-फले और किसान भूख से मरने और मुसीबत की जिन्दगी बसर करने लगे। लेकिन मुनाफे का लालच हमेशा बढता ही रहा, और सरकार अपनी 'कल्चर सिस्टम' यानी सस्कृति-प्रथा से मुल्क को ज्यादा-ज्यादा चूसती गई। उन्नीसवीं सदी के बीच में एक भयानक अकाल पडा, जिस-में बडी तादाद में लोग मौत के शिकार हुए। उस वक्त कहीं जाकर बेचारे मुसीबत के मारे किसानों के लिए कुछ करना जरूरी समझा गया। धीरे-धीरे हालत सुधरती गई, लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक फिर भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में डचो ने शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे सुधार किये। एक नया मध्यमवर्ग क़ायम हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आजादी की मांग करने लगा। हिन्दुस्तान की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर क़दम बढ़ाया गया और ऐसी कौंसिलें क़ायम की गईं जिनके पास असली ताक़त कुछ भी न थी।

क़रीब पाँच वर्ष हुए, डच ईस्टइडीज़ में क्राति हुई, जिसको बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओ में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है वह किसी तरह की बेरहमी या जुल्म से मर नहीं सकती।

डच ईस्टइडीज़ आजकल 'निदरलैण्ड का हिन्दुस्तान' कहलाता है। हर पद्रहवें दिन योरप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज़ हालैण्ड से जावा के बवरिया शहर को जाया करता है। ये डच जहाज़ इलाहाबाद के ऊपर होकर ही जाते है।

भारत के पूर्व के टापुओ की कहानी मोटे तौर से मैंने ख़त्म करदी है और अब मै तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे में चन्द बातें और करनी है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सो में बटा रहा और ये दोनो आपस में लड़ते-झगडते रहे। किसी वक़्त कोई ताक़तवर राजा होगया तो उसने दोनो को मिला भी लिया और पडोस के स्याम देश को जीतने की हिम्मत भी कर डाली। उन्नीसवीं सदी में अँग्रेज़ों के साथ झपटें शुरू हो गईं। अपनी ताक़त को बहुत ज्यादा समझकर बरमा के बादशाह ने आसाम के ऊपर चढाई करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। हिन्दुस्तान के अग्रेज़ो के साथ बरमा की पहली लड़ाई १८२४ ई० मे हुई और आसाम अग्रेज़ो को मिल गया। अग्रेज़ो को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार और फौज दोनो कमज़ोर है और वे अब तमाम मुल्क को जीतने की इच्छा करने लगे। फिज़ूल के बहाने ढूँढ़कर दूसरे और तीसरे युद्ध लडे गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तब से बरमा की किस्मत हिन्दुस्तान के साथ जुड़ गई है। अब हमारा उठना या गिरना साथ-साथ ही होगा।

अभी हाल में ब्रिटिश सरकार ने बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की कोशिश की, लेकिन बरमियो नें भी तय कर लिया कि हम जुदा होना नहीं चाहते। पता नहीं भविष्य क्या-क्या रग खिलायगा?[1] बरमा और हिन्दुस्तान एक ही राजनैतिक वर्ग में रहे या न रहें, यह ख़ासतौर से तो बरमी लोगो के फ़ैसले पर है। वे चाहे जो कुछ तय करे और चाहे जो हो, बरमा और हिन्दुस्तान आपस में दोस्त होकर ही रहेगे। हमें एक दूसरे को पहचानना पडेगा, गोकि हमारी मुलाकात विदेशी हुकूमत की मुसीबतो में हुई है। चाहे जो हो, भले दिन आयें या बुरे, हम एक-दूसरे का हाथ पकडे रहेंगे।

बरमा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेज़ फैल गये। सिंगापुर का टापू उनको उन्नीसवीं सदी में ही मिल गया था, जो अपनी बढ़िया स्थिति के कारण बहुत

१ अब बरमा हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया है।

जल्द एक व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाजो के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर जो मलक्का का पुराना बन्दरगाह था वह पिछड़ गया। सिंगापुर से अंग्रेज उत्तर की तरफ फैलने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुतसी रियासते थीं, जो ज्यादातर स्याम के मातहत थीं। इस सदी के अख़ीर तक ये तमाम रियासते अंग्रेजो की सरक्षकता में आगई और 'मलाया राज्यसघ' (Federated Malay States) के नाम के एक सघ में शामिल हो गईं। इनमें से कुछ रियासतो पर स्याम का जो कुछ अधिकार था वह उसने मजबूर होकर इग्लैण्ड को दे दिया।

इस तरह स्याम यूरोपियन ताकतो से घिर गया। पश्चिम और दक्षिण, बरमा और मलाया में, इग्लैण्ड का दौर-दौरा हो गया। पूर्व की तरफ फ्रास चढा आ-रहा था और अनाम को भी हड़पे चला जाता था। अनाम ने चीन की छत्रछाया को मान रक्खा था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही मुसीबतो में फँसा हुआ था। तुम्हे याद होगा कि मैने किसी हाल के एक पत्र में तुम्हे बताया था कि फ़ास वालों ने अनाम पर हमला किया, इससे फ्रांस और चीन के बीच लडाई छिड गई। फ्रांस की जरा रोक-थाम तो हुई, लेकिन बहुत ही थोडी देर के लिए। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में अनाम और कम्बोडिया को शामिल करके फ्रास ने फ़ासीसी इण्डोचीन नाम का एक बडा उपनिवेश बना दिया। कम्बोडिया, जहाँ पुराने जमाने में शानदार अगकोर का साम्राज्य पनप चुका था, स्याम देश की एक मातहत रियासत थी। फ्रास ने स्याम को लडाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना शासन जमा लिया। नोट करने की बात यह है कि इन मुल्कों में, शुरू-शुरू में, फ़ास वालों की जो साजिशें हुईं वे फ्रासीसी मिशनरियो के मारफत की गई थीं। किसी कारण से एक मिशनरी को मौत की सजा दी गई, इसीका हरजाना वसूल करने के लिए पहला फ्रासीसी हमला १८५७ ई० में हुआ। इस फौज ने दक्षिण में सैगन के बन्दरगाह पर क़ब्जा कर लिया और यहींसे फ्रासीसियो का अधिकार उत्तर की तरफ फैला।

मुझे अन्देशा है कि एशिया के इन देशो के ऊपर साम्राज्यवादी चढाइयो के दर्दभरे किस्से कहने में बातो को कई बार दोहराना पडा है। हरेक जगह क़रीब-करीब एक-सी ही चाले चली गईं, और हर जगह कामयाबी मिली। एक के बाद दूसरे मुल्क का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपियन ताक़त का उसे मातहत बनाकर उसका हाल ख़तम किया है। इस तरह बदक़िस्मती का शिकार होने से सिर्फ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम देश।

स्याम देश को बचे रहने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ उसका कारण शायद यही

था कि इसके दोनो बाजुओ पर बरमा के अंग्रेज और इंडोचीन के फ़्रासीसी ये दो प्रतिद्वन्द्वी यूरोपियन लोग मौजूद थे। यह उनके बीच फँसा हुआ था। इसके सौभाग्य का एक यह भी कारण था कि इसका शासन-प्रबध सन्तोषजनक था, और दूसरे देशो की तरह यहां भीतरी झगडे नही थे। लेकिन अच्छी हुकूमत ही यह कोई गारण्टी नहीं है कि विदेशियो के हमले न होगे। बात यह थी कि इग्लैंड को बरमा और हिन्दुस्तान से फ़ुर्सत न थी और फ्रास को इण्डोचीन से। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनो में जिस वक्त ये दोनो ताकते स्याम की सरहद पर पहुँचीं, तब राज्य-विस्तार का जमाना ही गुजर चुका था। मुकाबिला करने की भावना एशिया में जाग चुकी थी और उपनिवेशो और मातहत देशो में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गये थे। कम्बोड़िया के मामले पर स्याम और फ्रास में झपट होने का अन्देशा था। पर फ्रास के झगडे से बचने के ख़याल से स्याम दब गया। पश्चिम की ओर बरमा के ब्रिटिश राज्य से स्याम की रक्षा एक मज़बूत पर्वत-श्रेणी के कारण हो रही थी।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि पूर्वकाल में कम-से-कम दो बार बरमा के राजाओ ने स्याम पर हमला कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। आख़िरी हमले के वक्त, जो १७६७ में ई० हुआ, स्याम की राजधानी अयुध्या या अयोध्या (ज़रा हिन्दुस्तानी नाम पर ग़ौर करो) को तहस-नहस कर डाला गया। थोडे ही दिन बाद जनता में आन्दोलन हुआ। बरमी लोग निकाल बाहर किये गये और १७८२ ई० में एक नया वश गद्दी पर बैठा, जिसका पहला राजा 'राम प्रथम' हुआ। आज दिन डेढ़सौ बरस के बाद भी इसी वश का स्याम में राज्य है और शायद सभी राजाओ का नाम 'राम' होता है। इस नये वश के जमाने में स्याम को सुशासन मिला। साथ ही बडी बुद्धिमानी से विदेशी ताक़तो मे भी दोस्ताना ताल्लुक बनाये रखने की कोशिश की गई। तिजारत के लिए बन्दरगाह खोल दिये गये और व्यापारी सन्धियाँ की गईं, और शासन-सम्बन्धी सुधार भी किये गये। बैंकाक को नई राजधानी बनाया गया। अभीतक यही राजधानी है। लेकिन ये सब सुधार साम्राज्यवादी भेडियो को दूर न रख सके। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार कर स्याम की भूमि दबा ली। फ्रास ने कम्बोडिया और स्याम के दूसरे भूखण्डो पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १९१६ ई० में स्याम की बाबत इग्लैण्ड और फ़्रास में कुश्ती होनेवाली थी, लेकिन, जैसा कि साम्राज्यवादियो ने क़ायदा बाँध रक्खा है, उन दोनो ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम का जितना हिस्सा बचा हुआ है उसे अखण्ड रहने दो। मगर साथ ही उन्होंने इस बचे हुए हिस्से को तीन 'प्रभाव-क्षेत्रों' में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ्रास के दायरे में आया, पश्चिमी अग्रेजो के दायरे में, और बीच का हिस्सा किसीकी तरफ

नहीं रहा, वहाँ दोनों को ही अपनी-अपनी चोचें मारने का मौक़ा था। इस तरह बडी सजीदगी के साथ-स्याम को अखड रहने देने की गारण्टी कर चुकने पर कुछ ही वर्षों के बाद फ्रास ने कुछ ज़मीन पूर्व की तरफ दबा ली। इसका जवाब देने के लिए इग्लैण्ड को भी दक्षिण की भूमि पर दख़ल करना पडा।

इतना सब कुछ होते रहने पर भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपियनो के चगुल से बच गया। एशिया के इस हिस्से में बचे रहनेवाला यही एक देश है। योरप के हमलो का तूफान अब रुक गया है। योरप को अब एशिया में ज्यादा देश हडपने का मौक़ा नहीं है। वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है जब योरप की ताक़तो को बिस्तर-बोरिया बाँधकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

अभी हालतक स्याम में स्वेच्छाचारी राजा का शासन था। गोकि बहुतसे सुधार हो चुके थे, तो भी सामन्तशाही बनी हुई थी। कुछ महीने हुए, वहाँ एक रक्तहीन शान्त राज्यक्रान्ति हुई और, मालूम होता है, ऊपरी मध्यमवर्ग के लोग अब सामने आगये हैं। किसी हदतक पार्लमेण्ट भी क़ायम हो गई है। राम प्रथम के वश के राजा ने इस परिवर्तन को मजूर करके अक्लमन्दी का काम किया है। इसीसे वह अपनी जगह बना हुआ भी है। इस वक्त स्याम में वैधानिक एकतन्त्र शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन—पर ग़ौर करना रह गया है। उसका हाल मैं इसी ख़त में लिखना चाहता था। पर वक्त भी ज्यादा हो गया, मैं थक गया हूँ, और यह ख़त भी काफी लम्बा होगया है। १९३२ ई० के इस साल में मैं तुम्हे यह सबसे आख़िरी ख़त लिख रहा हूँ। पुराना साल ख़तम होता है। आज इसकी आख़िरी कडी है। तीन घण्टो के बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद के रूप में रह जायगा।

: १२० :

नया साल

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूरज की एक और परिक्रमा ख़तम कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नहीं रुकती, महाशून्य में लगातार दौड रही है। इसे परवा नहीं कि मेरी सतह पर रेंगनेवाले आपस में झगडते हुए उन बेतादाद पिस्सू सरीखे मर्द-औरतो का क्या हो रहा है जो बेवकूफी और घमंड के साथ अपनेआपको ससार का सार और ब्रह्माण्ड की धुरी समझे बैठे हैं। पृथ्वी

को हमारा लिहाज़ नहीं, लेकिन हम अपना लिहाज़ न करे, यह कठिन है। आज नये साल के दिन कई लोग ज़िन्दगी के सफर में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बाते याद कर रहे हैं, और फिर आगे की तरफ देखकर उम्मीद बाँध रहे है। इसी तरह गुजरी हुई बाते मेरे भी दिमाग़ में आ रही है। जेल में मुझे आज एक के बाद एक करके यह तीसरा नया साल शुरू हो रहा है। हाँ, कुछ महीनो के लिए मै बाहर ज़रूर रह आया हूँ। और पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों में मैने पाँच नये साल के पहले दिन जेल में बिताये है। पता नहीं, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल में देखने को मिलेगे।

जेल की बोली में, मै अब 'पुराना' पड़ गया हूँ। कई दफे यहाँ आ चुका हूँ। जेल की ज़िन्दगी की अब मुझे मश्क हो गई है। जेल से बाहर होता हूँ तब काम-काज, चहल-पहल, सभायें, लेक्चरबाज़ी और इधर-उधर दौड़-भाग रहती है। यहाँ जेल में जीवन उससे कितना विपरीत है! यहाँ की बात बिल्कुल ही जुदा है, हर तरफ शान्ति है, बहुत कम गति है। मै देर तक कुर्सी पर बैठा रहता हूँ; और घटों तक चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और हफ्ते और महीने गुजर रहे है। एक-दूसरे में ऐसे घुसे जा रहे है कि छाँटना भी मुश्किल है। गुज़रा हुआ वक्त एक मिटी हुई तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक्ल साफ नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ्तारी का दिन याद आजाता है। बीच के अरसे में कोई ऐसी बात ही नहीं जिसकी दिमाग़ पर छाप पडी हो। जेल की ज़िन्दगी क्या है, मानो कोई पौधा एक जगह से उखाडकर दूसरी जगह लगाया जा रहा हो। न कोई टीका-टिप्पणी, न कोई बहस-मुबाहिसा; बस बिल्कुल खामोश, हिलना भी नहीं। कभी बाहरी दुनिया की चहल-पहल जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली-सी लगती है, वे बहुत दूर और असत्य-सी लगती है, मानो कहीं दूर पर भूतो का नाच हो रहा हो। सो इस तरह अपना मिज़ाज भी दो तरह का हो जाता है, कामकाजी और निष्क्रिय या बेकार। ज़िंदगी दो किस्म की हो जाती है, व्यक्तित्व दो हो जाते है, जैसा कि डा० जेकिल और मि० हाइड[1] की ज़िन्दगी थी। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का वह किस्सा तो तुमने पढा होगा?

१ डा० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान प्रोफेसर थे। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उनके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डाक्टर साहब को अच्छी दवा हाथ लगी। वे चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेते। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड गई और वह बिना दवा के प्रयोग ही डा० जेकिल के शरीर मे घुस आता। आखिरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डा० जेकिल ने आत्महत्या करली।

ज्यो-ज्यो वक्त गुजरता है हर वात की आदत पड ही जाती है। जेल के 'रुटीन' (दैनिक कार्यक्रम) और एक-रसता की भी आदत हो जाती है। शरीर को आराम से फायदा होता है, और दिमाग के लिए शान्ति अच्छी चीज है, इससे सोचने का मौका मिलता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि इन खतो को लिखने से मुझे क्या फायदा हुआ। इनके पढने में तुम्हारी तबियत न लगती होगी, ये बहुत लम्बे-लम्बे और उकतानेवाले-से है। लेकिन इनसे मेरे जेल के जीवन का खाली मन भर सका है। इनसे मुझे एक धन्धा मिल गया। इस तरह इन्होंने मेरे दिल को बडी प्रसन्नता दी है। दो साल होते है, नये साल के ही दिन मैने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था। दुबारा जेल आने पर फिर लिखना जारी कर दिया। कभी-कभी रोजाना भी लिखा है। जब लिखने की धुन सवार हुई, कागज कलम लेकर बैठ जाता। बस दूसरी दुनिया में पहुँच जाता। साथ में, प्यारी बेटी, तुम भी होतीं। जेल और जेल के काम भूल जाते। इस तरह ये खत मुझे जेल से मुक्ति दिलानेवाले बनकर प्रकट हुए है।

आज जो खत लिख रहा हूँ उसका नम्बर १०० (से ऊपर ?) है। इस तरह नम्बर डालना मैने नौ ही महीने पहले बरेली में शुरू किया था। ताज्जुब है कि इतना सारा लिख डाला। जब चिट्ठियो का यह पहाड तुम्हे एकसाथ मिलेगा तो तुम भी क्या कहोगी ? पर अगर इस तरह मुझे जेल से छुटकारा मिलता हो तो तुम इसमें बुरा क्यो मानोगी। प्यारी बेटी, हमें मिले सात महीने से ज्यादा हो चुके है। कितना वक्त गुजर गया !

इन खतो में जो कहानी कही गई है, वह कुछ ज्यादा तबियत खुश करनेवाली नहीं है। इतिहास आनन्द-दायक नहीं होता। अपनी तरक्की की शेखी बघारनेवाला इनसान आखिरकार है एक बहुत ही नागवार और खुदगर्ज जानवर। फिर भी उसकी खुदगर्जी, खूंखारी, और हैवानियत के काले कारनामो के भीतर तरक्की की भी कुछ चमक दीख जाय तो दीख जाय। मै जरा आशावादी आदमी हूँ और सब मामलो के बारे में अच्छी उम्मीदें रक्खा करता हूँ। लेकिन ऐसा न हो कि आशावाद के कारण हम अपनी बुराइयो की तरफ से आँखें मूंद लें। कहीं गलत रास्तो को पकडकर झूठे आशावाद के खतरे में न पड जायें ! दुनिया का जैसा हाल हो रहा है उससे आशावाद के लिए ज्यादा गुञ्जायश नहीं दीखती। यहा आदर्शवादी आदमी की तो मुश्किल हो

यह कहानी स्टीवेन्सन ने भारी बीमारी के अरसे मे रची थी। इनसान किस तरह विपरीत प्रकृतियो का शिकार होता रहता है, इसका इस कहानी में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

है। जो अपने विश्वासो को आँख मीचकर न मान ले, उसकी भी गुजर नहीं। हर तरह के सवाल यहां उठा करते है, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते है, जिनका आसानी से हल नही मिलता। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवकूफी क्यो है ? इसी सवाल ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को दो हजार वर्ष पहले इतना परेशान किया था। कहानी में आता है कि 'बुद्ध' पद को पहुँचने और प्रकाश हासिल करने से पहले, उन्होंने इसी सवाल को कई दफे अपने ही दिल से पूछा था। कहते है, उनका प्रश्न यह था :—

"How can it be that Brahma,
Would make a world and keep it miserable
Since if all powerful, he leaves it so,
He is not good, and if not powerful,
He is not God ?"

अर्थात्—

कैसे सभव ब्रह्म स्वय जग एक बनाये,
और उसे यो रक्खे दु खो से लपटाये ?
सर्वशक्तिमय है यदि तो वह भला नही है,
सर्वशक्तिमय नही अगर तो ईश नही है।

हमारे ही देश में आजादी की लडाई चल रही है; पर हमारे बहुतसे भाई उधर जरा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगडो में लगे हुए है; वे जनता की भलाई के ख़याल छोडकर अपने ही पथ या मजहबी फिरके या वर्ग के लिहाज से बातें किया करते है। और कुछ लोग स्वतन्त्रता के दर्शनो से मुंह मोडकर :—

"अब दोस्त बनाकर जुल्मी को,
दम साध रहे हैं शान्त पडे।
दल बाँध रहे है ये पाकरके,
जूठे टुकडे औ चिथडे।"

कानून और इन्तजाम के नाम पर हर तरफ जुल्म का दौर चल रहा है। जो सिर झुकाने से इन्कार करें उनको कुचल डालने की कोशिशें हो रही है। गजब तो यह है कि जो चीज कमजोरो और पीडितों का पनाह है वही जालिम के हाथो का हथियार हो रही है! इस ख़त में कई उद्धरण आ चुके है, बस एक और दूंगा। यह मुझे मौजूदा हालत के लिए सबसे मौजूं लगता है। यह १८ वीं सदी के फ्रांसीसी विचारक मान्तेस्क्यू की किताब से लिया गया है, जिसका जिक्र मैंने शुरू के किसी ख़त में किया भी था —

"जिस तख्ते के सहारे डूबते हुए मुसीबतजदा डूबने से बच गये हो, उसीके

ज़रिये अगर उन्हे डुबा दिया जाय तो, इसपर कानून और इन्साफ का चाहे जितना रग चढाया जाय, इससे वढकर निर्दय अत्याचार नही हो सकता।"

यह ख़त दर्द से इतना भर गया है कि नये दिन के लायक़ नहीं रहा, यानी बेमौज़ूं हो गया है। पर मैं तो दु खी नहीं, और दु खी हम हो भी क्यो ? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक बडे काम के लिए लड़ रहे है। हमें एक बडा मुखिया मिला हुआ है—एक प्यारा दोस्त, एक भरोसे का रहनुमा, जिसके दर्शन से हमें ताक़त मिलती है, जिसकी थपकी हमें हिम्मत दिलाती है। हमें इत्मीनान है कि कामयाबी हमारा इन्तज़ार कर रही है, और कभी-न-कभी हमें ज़रूर मिलेगी। अगर ये दिक़्क़तें न होतीं, जिन्हें तोड़ना हमारा काम है, अगर ये लडाइयां न आतीं, जिन्हें जीतना हमारा कर्त्तव्य है, तो जिन्दगी बेमज़ा और बेरग हो जाती। आज बापू की भूख-हडताल के मुलतवी होने की ख़बर पाकर मेरा जी हलका होगया है। हमारे दिलों से एक भारी बोझा उठ गया है।

प्यारी बेटी, तुम जिन्दगी की दहलीज़ पर हो। तुमको दु.ख और नाउम्मीदी से क्या काम ? तुम तो जिन्दगी और जो कुछ उसमें आ पडे उसका मुक़ाबिला मुस्कराते हुए और शान्त चेहरे के साथ करना। रास्ते में जो मुश्किलें आवें उनका स्वागत करना, ताकि उनपर सवार हो सको। अलविदा ! अच्छा प्यारी बेटी, उम्मीद है, जल्द ही फिर मिलेंगे।

: १२१ :

फिलीपाइन और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

साल के नये दिन पर कुछ इधर-उधर का जिक्र करके अब हम अपने किस्से पर लौटते हैं। अब फिलीपाइन टापुओ का बयान करना मुनासिब है ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से का हाल पूरा होजाय। इन टापुओ की तरफ ध्यान देने की क्या जरूरत है ? एशिया में और भी बहुतसे टापू है, जिनका जिक्र भी मैं इन खतो के सिलसिले में नहीं कर रहा हूँ। हम यह मालूम करना चाहते है कि किस तरह एशिया में नये साम्राज्यवाद ने क़दम वढ़ाया और पुरानी सभ्यताओ पर इसने क्या-क्या चोटें कीं। इस बात पर ग़ौर करने के लिए हिन्दुस्तान का साम्राज्य एक नमूना है। चीन एक दूसरे ही और जुदा किस्म के, पर वहुत ही महत्वपूर्ण, औद्योगिक साम्राज्यवाद का किस्सा कहता है। ईस्ट-इण्डीज, इण्डोचीन वग़ैरा से भी हमें वहुत-कुछ सबक़ मिल

सकता है। इसी तरह फिलीपाइन के हाल से भी हमें दिलचस्पी होगी। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ जाती है कि हम एक नई ताकत यानी सयुक्तराष्ट्र अमेरिका को यहां मैदान में आते देखते है।

हम देख चुके है कि चीन के मामले में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने दूसरी शक्तियों की तरह आक्रमणकारी या जोर-जबर्दस्ती की नीति इख्तियार नहीं की थी। किसी-किसी मौक़े पर उसने दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियो के ख़िलाफ चीन की मदद भी की थी। इसका कारण यह नहीं समझना चाहिए कि उसे साम्राज्यवाद से नफरत थी, या चीन से कोई ख़ास मुहब्बत थी। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी कारण थे जिन्होनें अमेरिका को योरप के मुल्को से जुदा कर रक्खा था। योरप के ये मुल्क छोटे-से महादेश के अन्दर आपस में ऐसे सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पैर रखनें की भी जगह न थी। हमेशा यहाँ लडाई-झगडे होते और आफतें आती रहती थीं। उद्योगवाद के साथ-साथ आबादी भी तेजी से बढ़ी। अब वे ज्यादा-ज्यादा माल तैयार करने लगे, जिसकी खपत के लिए उनका अपना-अपना देश काफी न था, बढ़ती हुई आबादी के लिए ख़ूराक की जरूरत हुई, कारख़ानो के लिए कच्चे माल की, और तैयार सामान के लिए बाज़ारों की। इन ज़रूरतों को पूरा करनें की आर्थिक आवश्य-कता के कारण इन देशो को दूर-दूर जाकर साम्राज्य के लिए आपस में लड़ाइयां लड़नी पडीं।

ये बातें संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। यह मुल्क योरप के बराबर ही लम्बा-चौडा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफी गुंजाइश थी। इन लोगों को अपने ही विशाल देश में तरक्क़ी करने के काफी मौक़े थे। जैसे-जैसे रेले बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ फैलते गये, यहाँतक कि पैसिफिक (प्रशान्त) सागर के किनारे तक आ लगे।

अपने देश में होनेवाले इन कामो में अमेरिका वाले काफी मशगूल थे, इसलिए उपनिवेश बसाने की उन्हे फ़ुर्सत न थी। एक दफा तो (जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ) उन्हे कैलीफोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से मजदूरो की माँग करनी पडी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसी-की वजह से दोनो मुल्कों में काफी कटुता पैदा हो गई। अपने मुल्क में इस तरह मशगूल रहने के कारण अमेरिका वाले साम्राज्य हासिल करने की उस दौड़ में शामिल न हुए जिसमें योरप वाले पडे हुए थे। चीन के मामलो में भी उन्होने तभी दख़ल दिया जब मजबूरी ही आपडी, यानी जब उनको यह अन्देशा होने लगा कि दूसरी ताक़ते चीन देश को आपस में बाँट डालेगी।

हाँ, फिलीपाइन के टापू सीधे अमेरिका के कब्जे में आगये। इनसे हमें अमेरिका के साम्राज्यवाद का हाल मालूम हो सकता है और वह हमारे लिए दिलचस्प होगा। यह ख़याल न करना कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओ तक ही महदूद है। ऊपरी तौर से बस उसका इतना ही साम्राज्य है। पर दूसरी ताकतो के तजुरबे और दिक्कतो से फायदा उठाकर उसने साम्राज्यवाद के पुराने तरीक़े में खूब सुधार कर लिया है। अमेरिकन लोग किसी मुल्क के मिलाने की इल्लत में नहीं पडते, जैसे अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान को अपने राज्य में मिला रक्खा है। उनको तो अपने माली मुनाफे से मतलब है, इसलिए दूसरे मुल्क की दौलत पर कब्जा जमाने की तरकीबें निकालते रहते हैं। दौलत पर कब्जा करने के बाद, मुल्क की जनता पर और फिर मुल्क पर ही कब्जा करना सहज हो जाता है। सो बिना किसी इल्लत या झगडे के ये लोग मुल्को पर कब्जा करके दौलत में हिस्सा बांट लेते हैं। इस चालाकी के उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नकशे से इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल की किताब या एटलस में देखो तो मुल्क आजाद मालूम होगा। पर अगर परदे को हटाकर देखो तो मालूम होगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चगुल में है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहा के साहूकारो और बडे-बडे व्यवसायियो के चगुल में है। अमेरिका के कब्जे में जो साम्राज्य है वह इसी तरह का अदृश्य यानी आँखो की ओट में रहनेवाला साम्राज्य है। यह साम्राज्य चाहे नजरो से ओझल हो, पर है जोरदार। अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान और जहां भी इनका राजनैतिक कब्जा है उन सभी मुल्को में इसी तरह के साम्राज्य को अपने लिए महफूज बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस ख़तरे से हमें होशियार हो जाना चाहिए।

ख़ैर, इस अदृश्य आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की अभी जरूरत नहीं है, क्योंकि उसका फिलीपाइन का साम्राज्य तो आँखों के सामने ही मौजूद है।

फिलीपाइन में हमारे दिलचस्पी लेने का एक और छोटा-सा और भावुकतापूर्ण कारण भी है। इस वक्त चाहे फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकन हो, पर वहांकी पुरानी सभ्यता की बुनियाद हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दुस्तानी सभ्यता सुमात्रा और जावा होती हुई वहां पहुँची थी। सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक यानी जिन्दगी के हर पहलू पर इसका असर हुआ था। हमारे साहित्य के किस्से और पौराणिक कथायें इन देशो में पहुँचीं। इनकी जबान में बहुतसे संस्कृत के शब्द हैं। इनकी कला, हुनर और क़ानूनों पर हिन्दुस्तान का असर पडा है। यहांतक कि पोशाक और जेवरों पर भी हिन्दुस्तान के निशान जाहिर हैं। तीनसौ साल से ज्यादा स्पेनियो की

हुकूमत रही। उन्होने हिन्दुस्तानी तहज़ीब के इन प्रमाणो को मिटाने की पूरी-पूरी कोशिशें कीं। इसीसे इस वक्त इतने कम निशान मिलते हैं।

स्पेनियो ने इन टापुओ पर १५६५ ई० में ही क़ब्ज़ा कर लिया था। इस तरह एशिया के इन्हीं देशो में योरपवालो ने सबसे पहले क़दम रक्खे। इनका शासन पोर्चुगीज, डच या ब्रिटिश उपनिवेशो से बिल्कुल ही जुदा होता था। व्यापार को कोई बढावा नहीं दिया जाता था। सरकारें मज़हबी बुनियाद पर बनाई जाती थीं और अधिकारी अक्सर मिशनरी पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियो का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश न की जाती थी। बदइन्तज़ामी, जुल्म, भारी महसूलो और मिशनरी कोशिशो के सबब से लोगो को मजबूरन ईसाई मज़हब इख़्तियार करना पड़ा। इस हालत में बलवो का होना लाज़िमी था। तिजारत की गरज़ से बहुत-से चीनी लोग भी यहाँ आ बसे थे। ईसाई बननें से इन्कार करने पर उनको सरेआम क़त्ल कर दिया गया। अग्रेज और डच सौदागरों को यहां आने की इजाजत नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियो के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन कैथलिक स्पेनियो की नज़रो में काफिर थे।

हालत ख़राब होती गई, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी हुआ। इन टापुओ के बिखरे हुए हिस्सो में एका होगया, और उन्नीसवीं सदी में कौमियत के ख़यालात जागने लगे। इसी सदी के मध्य में विदेशी व्यापारियों के लिए इस मुल्क के दरवाज़े खोल दिये गये, तालीम और दूसरे महकमो में कुछ सुधार भी हुए और तिजारत की भी तरक्क़ी हुई। फिलीपाइन के लोगों में भी एक मध्यमवर्ग बन गया। स्पेनियो और फिलिपाइनो के बीच विवाह होनें के कारण ज्यादातर फिलिपाइनों में स्पेनी ख़ून था। स्पेन को मातृभूमि माना जानें लगा और स्पेनी ख़यालात का प्रचार होने लगा। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, लोग क्रान्तिकारी होते गये। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई ख़याल न था। स्वराज्य की माँग थी और लोग चाहते थे कि स्पेन की कमज़ोर और बेकार पार्लमेण्ट कोर्टे में कुछ प्रतिनिधित्व मिल जाय। ग़ौर करो कि किस तरह हर मुल्क में क़ौमी आन्दोलन नरमी के साथ शुरू हुए, रुके नहीं, ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये, और आख़िरकार आज़ादी और बिलकुल अलग होजाने की माँग करनें लगे। अगर आज़ादी की माँग को दवा दो, तो बाद में सूद-दर-सूद के साथ अदा करनी होगी। इसी तरह फिलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी, राष्ट्रीय सगठन कायम किये गये और गुप्त सभायें भी ख़ूब फैल गईं। 'नौजवान फिलीपाइनो दल' ने, जिसके नेता डा० जोस रिज़ल थे, बड़ा काम किया।

सरकारो को जो तरीक़ा, यानी आतकवाद का, मालूम है, उसीमे स्पेनी सरकार ने भी आन्दोलन को कुचलना चाहा। रिजल और वहुत-से दूसरे नेताओ को १८९६ ई० में मौत की सजा दे दी गई।

प्याला भर गया था। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ ख़ुली वग़ावत मच गई और फिलीपाइनो ने आज़ादी का घोषणा-पत्र निकाल दिया। सालभर तक लड़ाई चलती रही। स्पेनी लोग वलवे को न कुचल सके। इसके वाद काफी सुधारो के वादे पर लड़ाई थमी। लेकिन स्पेन ने १८९८ ई० तक कुछ न किया और दुवारा वग़ावत हो गई।

इसी दरम्यान किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगडा हो गया और दोनो देशो के वीच लडाई छिड़ गई। अप्रैल १८९८ ई० में अमेरिका के एक जहाज़ी वेडे ने फिलीपाइन पर हमला किया। वाग़ी फिलीपाइनी नेताओ को उम्मीद थी कि अमेरिका हमारी आज़ादी में मदद करेगा। इसलिए उन्होंने लड़ाई में अमेरिका की मदद की। आज़ादी की घोषणा करके उन्होने एक प्रजातन्त्री सरकार कायम करली। सितम्वर १८९८ ई० में फिलीपाइनो काग्रेस हुई और नवम्बर के अख़ीर तक नया शासन-विधान वना लिया गया। इधर तो काग्रेस में नये विधान पर वहस हो रही थी, उधर सयुक्तराष्ट्र से स्पेन पिट रहा था। स्पेन कमज़ोर था, इसलिए साल के अख़ीर तक उसे हार मानकर सुलहनामे पर दस्तख़त करने पडे। सुलह की शर्तों के मुताबिक स्पेन ने अमेरिका के हाथो फिलीपाइन सौंप दिया। यह फैयाज़ी बताने में उसे लगता ही क्या था, क्योकि फिलीपाइनी वाग़ियों ने स्पेनी सरकार का ख़ात्मा तो पहले ही कर दिया था।

अव सयुक्तराष्ट्र अमेरिका की सरकार ने इन टापुओ पर कब्ज़ा करने के लिए क़दम वढाया। फिलीपाइनो नें उसका विरोध किया। उन्होने यह भी कहा कि तुम्हारे हाथ में सौंपने का स्पेन को कोई हक न था, क्योकि जिस वक़्त सुलह हुई उस वक़्त स्पेन के पास रक्खा ही क्या था? लेकिन यह एतराज़ वेकार रहा। इधर तो लोग अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए आपस में मुबारिकवादियाँ दे रहे थे, उधर स्पेन से भी कहीं ज्यादा ताक़तवर एक नया दुश्मन मुक़ाविले पर आधमका। साढे तीन वर्ष तक ये वहादुरी के साथ लड़ते रहे—शुरू के कुछ महीनो तक तो सगठित सरकार की शक्ल में और इसके वाद छापे की लड़ाई के रूप में।

आख़िरकार उपद्रव का दमन करके अमेरिकनों की हुकूमत कायम हुई। वहुत-से सुधार किये गये, ख़ासकर शिक्षा में। लेकिन आज़ादी की माँग जारी रही। १९१६ ई० में सयुक्तराष्ट्र की काग्रेस ने 'जोन्सविल' नाम का एक विल पास करके

फिलीपाइनो की चुनी हुई धारासभा को कुछ अधिकार दिया। लेकिन अमेरिकन गवर्नर-जनरल को दखल देने का अधिकार रहा और अक्सर वह इस अधिकार को काम में भी लाता रहा। सयुक्तराष्ट्र के ख़िलाफ़ तो फिलीपाइन में बलवे नहीं हुए, पर लोगो को अपनी मौजूदा किस्मत से सन्तोष नहीं है। उनका आन्दोलन और आजादी की माँग जारी है। अक्सर ठेठ साम्राज्यवादी तरीके से अमेरिकन लोग उन्हें विश्वास दिलाते रहते हैं कि हम तो तुम्हारे ही फायदे के लिए यहाँ आये हैं और जैसे ही तुम अपने काम-काज अपने आप सम्हलने के लायक हुए कि हम यहाँसे चल देंगे। १९१६ ई० के जोन्सबिल में भी कहा गया था कि "अमेरिका वालो की हमेशा यही ख्वाहिश रही है कि फिलीपाइन में व्यवस्थित शासन कायम होते ही अपनी सत्ता उठाली जाय और वहाँकी आजादी को स्वीकार कर लिया जाय।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद हैं जो फिलीपाइन की आजादी के सख्त ख़िलाफ हैं।

यह हाल लिखते वक्त ही अखबारो में ख़बर आ रही है कि संयुक्तराष्ट्र की काग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फिलीपाइन को दस साल में आजादी देदी जायगी। हाँ, कुछ बन्दिशें जरूर लगाई गई हैं। मुझे मालूम नहीं कि ये बन्दिशें या संरक्षण क्या है, पर इस लफ्ज 'बन्दिश' या सरक्षण पर मुझे सदेह है। इस लफ़्ज़ में सीधे-सादे परदे के अन्दर हर तरह की बदमाशी के प्रपंच छिपे हुए होते हैं। हिन्दुस्तान के बारे में भी अक्सर इसकी पुकार मचाई जाती है। इसलिए हम जानते हैं कि इसके असली मानी क्या है।

फिलीपाइन में सयुक्तराष्ट्र के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं। उन्हींकी रक्षा की उसे फिक्र है। ख़ासकर रबर की खेती की तरफ़ उसकी नजर है, क्योकि यही एक ऐसी जरूरी चीज है जो उसके यहाँ पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओ पर कब्जा रखने का असली मतलब है जापान का डर। जापान फिलीपाइन के बिल्कुल नजदीक है और जापान की बढ़ती हुई आबादी में भी उफान आ रहा है। अमेरिका और जापान की सरकारो में कोई मुहब्बत भी नहीं है। इसलिए फिलीपाइन के भविष्य का सवाल पेसिफिक (प्रशान्त) सागर की ताक़तो और उनके आपसी ताल्लुक़ात का सवाल है। ख़ैर, हमें उन मामलो में जाने की यहाँ जरूरत नहीं।

: १२२ :

तीन महादेशों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन जो ख्वाहिशें मैंने जाहिर की थीं, उनमें से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाड़े पहले पिछला खत लिखते वक्त मुझे उसका गुमान भी न था। इतनी लम्बी इन्तजार के बाद आखिर तुमसे मुलाक़ात हुई। तुम्हें एक मर्त्तबा फिर देखा। तुम्हें और दूसरे लोगों को देखकर जो खुशी और सनसनी कई रोज तक मेरे दिल में भरी रही, उसने मेरे रोजाना के काम में गड़बड़ डाल दी और मामूली बातों में भी मुझे लापर्वाह-सा कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि कोई त्योहार आगया हो। हमारी मुलाक़ात को चार ही रोज तो हुए हैं, पर कितना वक्त गुजर गया मालूम होता है! मैं तो आयन्दा की भी सोचने लगा हूँ। पता नहीं अब कब और कहाँ मिलना हो।

खैर, जेल का कोई कानून मुझे खयाली पुलाव पकाने से नहीं रोक सकता। मैं इन खतों का सिलसिला जारी रक्खूँगा।

कुछ अरसे से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल बताता रहा हूँ। पहले तो मैंने इस सदी पर सरसरी नजर डाली। मोटे तौर से नेपोलियन के पतन के बाद के १०० वर्षों का मैंने हाल बयान किया है। उसके बाद हमने कई मुल्कों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। हिन्दुस्तान, चीन, जापान और सबके बाद वृहत्तर भारत और ईस्ट-इंडीज की हमने खूब सैर की। इस तरह इस सैर में हम एशिया के एक हिस्से को देख सके हैं। अभी बाक़ी दुनिया बची हुई है। किस्सा बहुत लम्बा है। इसको साफ-साफ नजर में रखना आसान नहीं है। मुझे एक-एक करके अलग-अलग देशों और महादेशों का हाल कहना है। जुदा-जुदा मुल्कों का हाल कहने में मुझे बार-बार उसी युग की तरफ लौटना होता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाजिमी है। फिर भी याद रक्खो कि उन्नीसवीं सदी की ये घटनायें समकालिक थीं यानी बहुत करके एक ही वक्त में हुईं। उन्होंने एक-दूसरे पर असर डाला और एक-दूसरे पर उनकी प्रतिक्रिया भी होती रही। इसलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने से धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और शक्तियों के महत्व का ठीक अंदाज मिल सकता है, जिन्होंने गुजरे हुए जमाने का निर्माण किया और उसे वर्त्तमान का रूप दिया। ये खत इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है। फिर इस मजमून की किताबों की भी कमी नहीं है। मैंने तो सिर्फ तुम्हारी तबियत को इस तरफ लगाने की कोशिश-भर की है।

मैंने दुनिया के इतिहास के कुछ ही पहलू दिखाये हैं, और तुम्हें आदिम जमाने से आजतक की इनसानी कारगुजारियों के सूत्र के साथ-साथ ले चलने की ही मेरी ख्वाहिश रही है। पता नहीं कि मैं कहाँतक कामयाब हो सका हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा सिर्फ एक गडबड़झाला ही हो, जो सही फैसला करने में तुम्हें मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

योरप उन्नीसवीं सदी की सचालक-शक्ति यानी चलानेवाली ताकत था। वहाँ राष्ट्रीयता का जोर था, और अक्सर उद्योगवाद दुनिया के दूर-दूर कोनों तक पहुँच-कर साम्राज्यवाद की शक्ल ले रहा था। इस सदी का जो मुख्तसर बयान हमने शुरू में किया था, उसमें हम यह देख चुके हैं। हमने हिन्दुस्तान और पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद के प्रभाव को जरा विस्तार से देखा है। अब योरप की तरफ चलने से पहले मैं तुमको जरा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूँ। बहुत देर से इस हिस्से को मैं छोड़ता आरहा हूँ, जिसका खास कारण यह है कि मुझे इसका बाद का इतिहास मालूम नहीं है।

पूर्वी एशिया और हिन्दुस्तान से पश्चिमी एशिया बिलकुल ही जुदा है। बहुत जमाना हुआ, मध्य-एशिया और पूर्व से कुछ जातियाँ और कबीले आकर यहाँ बस गये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसाई-काल से पहले ठेठ एशियामाइनर तक बौद्ध धर्म फैला हुआ था, लेकिन वह वहा जड़ जमा सका हो ऐसा नहीं लगता। इन पिछली सदियों में पश्चिमी एशिया की नजर एशिया या पूर्व की बनिस्बत योरप पर ज्यादा लगी रही। इस तरह यह हिस्सा योरप की तरफ एशिया का झरोखा हो रहा था। एशिया के मुख्तलिफ हिस्सों में इस्लाम के फैलने से भी इनके पश्चिमी ख़्यालात में कुछ फर्क न आया।

हिन्दुस्तान, चीन और दूसरे पडौसी मुल्कों ने योरप को इन नजरों से कभी नहीं देखा था। वे एशियाई ख़्यालात में ही लिपटे रहे। हिन्दुस्तान और चीन के बीच बड़ा फ़र्क खून, खयालात और सभ्यता का है। चीन कभी मजहब का गुलाम नहीं रहा, न कभी वहाँ पुजारियों-पुरोहितों का ही सिक्का चला। हिन्दुस्तान को हमेशा अपने धर्म का फख्र रहा है। उसके समाज पर हमेशा पण्डे-पुजारी और पुरोहित लदे रहे हैं, हालांकिबुद्ध ने उसे इस बोझे से छुड़ाने की हरचन्द कोशिश भी की। हिन्दुस्तान और चीन में और भी कई फर्क थे। फिर भी तारीफ यह कि हिन्दुस्तान और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच खूब एका बना रहा। इस एके को जोड़ने-वाले डोरे बौद्ध धर्म-ग्रन्थ हैं, जिन्होंने इन जातियों को आपस में बाँधकर साहित्य-संगीत-कला की बहुत-सी समानतायें ला मौजूद कीं।

इस्लाम से हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ पश्चिमीएशियापन आगया। यह एक जुदा संस्कृति थी, जीवन का अलग ही दृष्टिकोण था। लेकिन हिन्दुस्तान में पश्चिमी एशियापन बाला-बाला या अपनी असली शक्ल में नही आया, जैसा कि अगर अरब वाले फतह करते तो होता। यहां यह दौर बहुत दिन बाद और वह भी मध्यएशिया की जातियो की मार्फत आया, जो उसकी सर्वोत्तम प्रतिनिधि न थीं। खैर, इस्लाम ने हिन्दुस्तान को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया। इस तरह यह देश दो बडी सभ्यताओ के संगम की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुँचा और बडी तादाद में लोगो ने इसे मजूर कर लिया। पर इसने चीन की पुरानी सभ्यता को चुनौती कभी न दी। हिन्दुस्तान में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अरसे तक शासन करनेवाले वर्ग का मजहब था। इस तरह हिन्दुस्तान वह मुल्क होगया जहां दो सभ्यतायें एक-दूसरे के मुक़ाबिले में खडी हुईं। मै तुमको उन तमाम कोशिशो का हाल लिख ही चुका हूँ जो इस मुश्किल सवाल को हल करने के लिए की गईं। ज्यादातर इन कोशिशो में कामयाबी मिली। पर अंग्रेजो की फतह की शक्ल में एक नया खतरा, एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनो पुरानी सभ्यताओ ने अपना पुराना उद्देश्य खो दिया है। राष्ट्रीयता और बडी मशीनो के उद्योगवाद ने दुनिया को बदल दिया है। नई आर्थिक परिस्थितियो में ठीक बैठ सके, तभी पुरानी संस्कृतियो की गुजर है। उनका ऊपरी खोल बच रहा है, असली मानी या तात्पर्य जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बडी-बडी तब्दीलियां हो रही हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में है। हिन्दुस्तान में हम खुद देख रहे हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया का हाल लिखे इतने दिन हो गये कि अब किस्से के तार को पकड़ना मुशकिल-सा हो रहा है। तुम्हे याद होगा कि मैंने बगदाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था, कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक़ तुर्क थे, उस्मानी नहीं) मुक़ाबिले में यह साम्राज्य गिरा और अन्त में चंगेजखां के मंगोलो ने इसे बिल्कुल बरबाद कर दिया। मंगोलों ने ख्वार्जम के साम्राज्य का भी खात्मा कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें फारस भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और थोडी-सी फौजी नामवरी और क़त्लेआम के जमाने के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ एक नया साम्राज्य उदय हो रहा था, जो कि तैमूर की हार के बावजूद फैलता जारहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने फारस के पश्चिम में एशिया, मिस्र और दक्षिण-पूर्वी योरप के खासे हिस्से पर क़ब्जा जमा लिया था। कई पुश्तो तक इनसे योरप को डर लगता रहा

और वहाँके धार्मिक और अन्धविश्वासी लोगो को, जिन्होने मध्ययुग से बाहर झाँकना शुरू ही किया था, ये तुर्क गुनहगारो को सजा देने के लिए "खुदा के कहर" मालूम दिये।

उस्मानी शासन के मातहत पश्चिमी एशिया इतिहास से गायब-सा हो गया है। दुनिया की मुख्य जीवन-धारा से यह कटकर एक सडी खत्ती की तरह हो गया। कई सदियो तक, नि सन्देह हजारो वर्षो तक, यह योरप और एशिया के बीच राज-मार्ग बना हुआ था और एक महादेश से दूसरे को माल ले जानेवाले बेशुमार काफलों ने इस हिस्से के शहरो और रेगिस्तानो को पार किया था। पर तुर्कों ने तिजारत को बढावा न दिया। अगर वे देना भी चाहते तो एक नई घटना के सामने लाचार थे। यह घटना थी योरप और एशिया के बीच समुद्री रास्ते की तरक्की। समुद्र अब नया राज-मार्ग बन गया और जहाजो ने रेगिस्तान के ऊँटो की जगह ले ली। इस तब्दीली के कारण दुनिया में पश्चिमी एशिया का बहुत-कुछ महत्व घट गया। वह अब एकान्त की जिन्दगी बिताने लगा। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में स्वेज की नहर के खुल जाने से समुद्री रास्ता और भी महत्वपूर्ण होगया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनो को एक-दूसरे के ज्यादा क़रीब लानेवाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवीं सदी में हमारे देखते-ही-देखते एक और महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल के रास्तो की पुरानी लागडाँट में अब जमीन का रास्ता फिर जीत रहा है और समुद्री रास्ते की जगह ले रहा है। मोटरो के निकल जाने से वडा फर्क़ पड़ गया है, जिसमें हवाई जहाजो ने भी खूब मदद की है। तिजारत के पुराने रास्ते, जो इतने दिनो से खाली पडे थे, अब फिर आमदरफ्त से भर रहे है। हाँ, फुर्सत-पसन्द ऊँटो की जगह, अब रेगिस्तान में मोटरों की दौड़ है और सिर पर हवाई जहाजों की उड़ान हो रही है।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महादेशो—एशिया, अफरीका और योरप—को मिला दिया था। पर उन्नीसवीं सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमजोर पड गया था, और इसी सदी के लोगो ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। इसका नाम कहाँ तो 'खुदा का कहर' था, कहाँ अब 'योरप का मरीज' हो गया। १९१४–१८ के महायुद्ध ने इसका ख़ातमा ही कर दिया। और इसकी ख़ाक से नवीन तुर्की तैयार हुआ है स्वावलम्बी, बलवान और उन्नतिशील। इसके अलावा और भी कई रियासते बनी है।

मैंने ऊपर पश्चिमी एशिया को 'योरप की तरफ एशिया का झरोखा' कहा है।

यह भूमध्यसागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, योरप और अफरीका को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने जमाने में तो यह जोड़नेवाली कडी बहुत मजबूत थी। भूमध्यसागर के किनारे के देशो में बहुत-सी बातें एक-सी थीं। इसीके आसपास योरप की सभ्यता शुरू हुई थी। पुराने यूनान देश ने इन्हीं तीनो महादेशो के किनारे के टापुओ की कतार में उपनिवेश बसाये थे। रोमन साम्राज्य इसीके इर्द-गिर्द फैला था। इसी इलाके में ईसाइयत का बचपन गुजरा है, अरब लोग भी अपनी तहजीब को सिसली के पूर्वी किनारे से शुरू करके पश्चिम में ठेठ स्पेन तक लेगये हैं और वहां ७०० वर्ष तक बने रहे हैं।

अब हमें मालूम होगया कि भूमध्यसागर के तटवाले एशिया के देशो का दक्षिणी योरप और उत्तरी अफरीका से कैसा गहरा सम्बन्ध है। पश्चिमी एशिया पुराने जमाने में एशिया और दूसरे दोनों महादेशो के बीच जबरदस्त कडी की तरह था। हां, इस तरह की कड़ियो की अगर तलाश की जाय तो तमाम दुनिया में मिल जायेंगी। पर सकुचित राष्ट्रीयता के कारण हम संसार की एकता और देशो के सामान्य हितो की जगह अलग-अलग देशो का ज्यादा खयाल करने लगे है।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक नज़र

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो किताबें पढ़ी है, जिससे मुझे बडी खुशी हुई है। मैं चाहता हूँ कि इन किताबो में तुम्हे भी शरीक करलूं। ये दोनो एक फ्रांसीसी और पेरिस के 'म्यूज़ी गाइमे' के सचालक रेने ग्राउज्जे की लिखी हुई है। क्या तुमने कभी इस पूर्वी और खासकर बौद्धकला के खुशनुमा अजायबघर की सैर की है। मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहां गई थीं। श्री ग्राउज्जे ने चार जिल्दो में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता का सिंहावलोकन लिखा है और हिन्दुस्तान, मध्यपूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और फारस), चीन और जापान की सभ्यताओ का बयान एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला में दिलचस्पी होने के कारण उन्होंने इस किताब को विभिन्न कलाओ के विकास के दृष्टिकोण से लिखा है और सुन्दर तस्वीरे भी बडी तादाद में दी है। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहो के लडाई-झगडो और साजिशो के हाल पढ़ने से, कहीं बेहतर और दिलचस्प है।

मैंने श्री ग्राउज्जे की सिर्फ दो जिल्दें पढ़ी है, जिनमें हिन्दुस्तान और मध्यपूर्व का

हाल है। इनसे मुझे बडी खुशी हुई है। खूबसूरत इमारतो और बढिया मूर्त्तियो की तस्वीरें और खुदाई व पच्चीकारी के नमूनें मुझे देहरादून-जेल से निकालकर दूर-दूर के मुल्को और पुराने गुजरे हुए जमाने में लेगये है।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हे उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान में सिन्ध की घाटी के मोहेनजोदारो और हरप्पा का हाल लिखा था, जो ५०००, वर्ष पुरानी सभ्यता के खण्डहर है। उस पुरानें जमाने में जब मोहेनजोदारो फूलता-फलता था और वहाँ लोगो की चहल-पहल, खेल-तमाशे हुआ करते थे, तब सभ्यता के और भी बहुत-से केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोडी है। एशिया और मिस्र के भिन्न-भिन्न हिस्सो में जो थोडे-बहुत खण्डहर मिले है, उनतक ही यह महदूद है। अगर जगह-जगह गहरी और दूरतक खुदाई का काम हो तो ऐसे और भी खण्डहर मिल सकते है। लेकिन अब हम जानते है कि मिस्र में नील की घाटी, कैल्डिया (मैसोपोटामिया) जहाँ एलम की रियासत की राजधानी सूसा थी, पूर्वी फारस के पर्सीपोलिस, मध्य-एशिया के तुर्किस्तान में और चीन की ह्वाग-हो या पीली नदी के किनारों पर उन दिनो एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता फैली हुई थी।

यह वही जमाना था जब कि ताँबा इस्तेमाल में आने लगा था और चिकने पत्थर का वक्त खत्म हो रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के तमाम देश इसी अवस्था से गुज़र रहे थे। ताज्जुब तो यह है कि ऐसे सबूत मिल रहे है कि एक ही सभ्यता एशियाभर में फैली हुई थी, जिनसे ज़ाहिर होता है कि सभ्यता के ये विभिन्न केन्द्र पृथक् या विच्छिन्न नहीं थे बलिक एक-दूसरे से जुडे हुए थे। खेती फूलती-फलती थी, मवेशी पाले जाते थे और कुछ तिजारत भी होती थी। लिखने का हुनर भी निकल गया था। लेकिन चित्र-लिपि अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी है। बहुत दूर-दूर जगहों में एक तरह के औज़ार पाये गये है और कला की चीज़ो में भी विचित्र समानता है। विचित्र और नक्क़ाशी किये हुए मिट्टी के बर्त्तन व हर तरह के काम और नमूनो के खूबसूरत गुलदान हमारे ध्यान को खींच लेते है। ये मिट्टी के बर्तन इतने ज्यादा पाये जाते है कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक्क़ाशीदार मिट्टी के बर्त्तनों की सभ्यता' पड गया है। उस ज़माने में सोने-चांदी के ज़ेवर, सेलखडी और सगमरमर के बर्त्तन और रुई के कपडे तक बनते थे। मिस्र से सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की सभ्यता के हरेक केन्द्र में कोई-न-कोई खास बात ज़रूर होती थी और हर जगह की सभ्यता स्वतत्ररूप से खडी हुई थी, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक ही तरह की और मिलती-जुलती सभ्यता का तार पाया जाता था।

इस बात को गुजरे, मोटे तौर से, ५,००० वर्ष हो गये है। लेकिन यह साफ जाहिर है कि ऐसी सभ्यता किसी पहली सभ्यता की ही उन्नत शक्ल रही होगी, और इसके बनने में हजारो वर्ष लगे होगे। नील की घाटी और कैल्डिया में इसका पता और भी २,००० वर्ष पहले से लग सकता है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने है।

ईसा से ३,००० वर्ष पहले के इस मोहेनजोदारो-काल की, आरम्भिक ताम्रयुग की, दूर तक फैली हुई आम सभ्यता से एशिया की चारो बडी सभ्यतायें निकलीं, फैलीं और अलग-अलग ढग पर उन्नत हुईं। ये चारो मिस्री, इराकी, हिन्दुस्तानी और चीनी सभ्यतायें थीं। इसी पिछले काल में मिस्र के महान् पिरामिड और गीजा का महान् स्फिक्स बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-युग आया, जब ईसा से २,००० वर्ष पहले और उसके बाद भी थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियां बनीं और दीवारो पर खुदाई हुई। कला के पुनरुत्थान यानी नये दौर का यह बड़ा जबरदस्त जमाना था। इसी काल के आसपास लक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतांखामन एक थीबन बादशाह या फेरो था, जिसका नाम तो हरेक आदमी को मालूम है पर उसके बारे में जानकारी कुछ नही है।

कैल्डिया में सगठित ताकतवर राज्य दो जगहो पर, यानी सुमेर और अक्कद में, बने। कैल्डिया का उर शहर मोहेनजोदारो के ही समय में कला के आला दर्जे के नमूने तैयार कर रहा था। क़रीब ७०० साल तक सिरताज बने रहने के बाद उर गिरा दिया गया। अब बैबीलन के लोगो ने, जो सेमेटिक (यानी अरबों या यहूदियो के समान) खून के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत क़ायम की। इस नये साम्राज्य का केन्द्र अब बैबीलन का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस जमाने में भी साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और महाकाव्य बनें और गाये गये। अन्दाज किया जाता है कि इन महाकाव्यों में दुनिया के बनने और क़यामत के तूफान के क़िस्से थे, जिनके ऊपर बाइबिल के शुरू के अध्याय लिखे गये है।

बैबीलन का भी पतन हुआ और उसके कईसौ वर्ष बाद (१,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और निनेवा को राजधानी बनाकर उन्होने एक नया साम्राज्य क़ायम किया। ये बडे असाधारण लोग थे—बेहद जालिम और वहशी। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतकवाद पर खडी थी। तमाम मध्य-पूर्व (Middle East) के ऊपर इन्होने खून और तबाही के जोर से साम्राज्य बना रक्खा था। ये लोग उस जमाने के साम्राज्यवादी थे। लेकिन खूंख़ार जानवरो के समान ये लोग कई बातो में बडे सभ्य भी थे। निनेवा में एक बडा पुस्त-

कालय संगठित किया गया था, जिसमें हर क़िस्म के ज्ञान की किताबें थीं। पर यह बतादूं कि यह पुस्तकालय कागज़ी किताबो का नही था। उस जमाने की किताबें पत्थर की सिलो पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हजारो शिला-लेख इस वक्त लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में मौजूद है। कई तो बहुत ही खौफनाक हैं। उनमें बादशाह ने बहुत विस्तार के साथ बयान किया है कि दुश्मनो पर कैसे-कैसे जुल्म किये गये और उनसे कैसा मज़ा मिला।

हिन्दुस्तान में मोहेनजोदारो-काल के बाद आर्य लोग आये। अबतक उनके शुरू के दिनो का कोई खण्डहर या मूर्ति नहीं मिली है। हां, उनकी सबसे बडी यादगार उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—है, जिनसे हिन्दुस्तान के मैदान में आनेवाले इन ख़ुशदिल सूरमाओ की तबीयत और दिमाग़ का पता चलता है। ये ग्रन्थ प्रकृति की ज़बरदस्त कविता से भरे हुए है। उनके देवता प्रकृति के देवता हैं। यह स्वाभाविक ही था कि जब कला की तरक्की हुई तो प्रकृति के प्रेम ने उसमें महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। भोपाल के पास सांची के फाटक अबतक पाये जानेवाले सबसे पुराने खण्डहरो में से है। उनका समय आरम्भिक बौद्ध-युग है। इन फाटको के ऊपर जो फूल-पत्ते और जानवरो की शक्लें खुदी हुई है उनसे हमें इनके बनानेवाले कारीगरो के प्रकृति-प्रेम और परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया। यह तो तुम्हे याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक फैल गया था। फिर कुशनवश का सरहदी साम्राज्य प्रकट हुआ। उसपर भी यूनानियों का प्रभाव था। बुद्ध मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपनेआपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन ख़राबियो से समाज का पिण्ड छुडाना था, जो पोपलीला के कारण घुस आई थीं। वह पतितो और दीन-दुखियों के उद्धार की कोशिश करनेवाले एक सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ अथवा इसीपत्तन में उनका जो प्रथम उपदेश हुआ उसमें उन्होंने कहा था कि "मैं अज्ञानियो को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ। जबतक कोई मनुष्य प्राणियो के हित के लिए जान न लडा दे, परित्यक्तो को सान्त्वना यानी तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नहीं हो सकता। मेरा सिद्धान्त करुणा का सिद्धान्त है। इसी कारण दुनिया में जो लोग ख़ुशहाल है, वे मेरे सिद्धान्त को मुश्किल समझते हैं। निर्वाण का रास्ता सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए उस (ब्राह्मण) ने मोक्ष का द्वार बन्द कर रक्खा है। बास के झोपडे को कुचल डालनेवाले हाथी के समान तुम भी अपने विकारो को

नष्ट कर दो। पापो से रक्षा का एकमात्र उपाय 'आर्यसत्य' है।" इस प्रकार बुद्ध ने जीवन के सत्य मार्ग और सदाचरण—अष्टागिक मार्ग[१]—का उपदेश दिया। लेकिन गुरु के उपदेशो के भीतरी अर्थों को न समझनेवाले मूर्ख चेलो का जैसा क़ायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियो ने उनके बनाये आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमो को तो ख़ूब पाला पर उनका भीतरी अर्थ नहीं समझा। उनके उपदेशो पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्त्ति उन्होने नहीं बनाई।

इसके बाद ग्रीस और दूसरे यूनानी देशो के विचार यहाँ भी आने लगे। इन देशो में देवताओ की सुन्दर-सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाकर पूजी जाती थीं। हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश में यूनान का यह असर सबसे ज्यादा था। वहाँ 'शिशु-बुद्ध' की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। उनके अपने छोटे और ख़ूबसूरत देवता कामदेव (Cupid) या बाद के शिशु ईसा की भाँति, वह इटालियन भाषा का Sacrobambino यानी 'पवित्र शिशु' था। इसतरह बौद्ध-धर्म में मूर्त्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्त्ति दिखाई देने लगी।

ईरान अथवा फारस का भी प्रभाव भारतीय कला पर पडा। बुद्ध के किस्सों और हिन्दुओ की पौराणिक कथाओ से कलाकारो को ख़ूब मसाला मिल गया। पत्थर में खुदी हुई अथवा रगो से चित्रित इन कथाओ को तुम आन्ध्र देश में अमरावती में, बम्बई के पास एलिफेण्टा की गुफाओ में, और एलोरा और अजन्ता में देख सकती हो। ये स्थान भी अजीब सैर की जगहे है, मै चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान का हरेक लडका और लडकी इन जगहो में से कम-से-कम कुछ को तो जरूर देखे।

हिन्दुस्तान की पौराणिक कथायें समुद्र को पार करके विशाल या वृहत्तर भारत में भी जा पहुँची। जावा के बोरोबुदुर स्थान पर सारी-की-सारी जातक बुद्धकथा पत्थर में खुदी हुई चित्रमाला के रूप में मिलती है। अगकोरवात के खण्डहरो में बहुत-सी ऐसी मूर्त्तियाँ मौजूद है, जिनको देखकर हमें आठसौ वर्ष पहले के जमाने का स्मरण हो आता है जबकि पूर्वी एशिया में यह नगर 'ऐश्वर्यशाली या शानदार अगकोर' के नाम से मशहूर था। इन मूर्त्तियो की बनावट नाजुक है और ये जीती-जागती-सी मालूम होती है। उनपर एक भुलावे में डालनेवाली अजीब मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अगकोर की मुस्कराहट' के नाम से मशहूर है। कितनी ही सदियाँ बीत चुकी है और वहाकी जातियों का अब वह पुराना ख़ून भी बदल गया है, लेकिन वह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और पुरानापन या रसहीनता नहीं आई है।

१ "आर्यसत्य" और "अष्टागिक मार्ग" बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त है। 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

कला अपने काल के जीवन और सभ्यता का सच्चा दर्पण है। जब भारतीय सभ्यता जीवन से भरी-पूरी थी, तब यहां सौन्दर्य की वस्तुओ का निर्माण हुआ, कला लहलहाई और उसकी गूंज दूर-दूर के देशो में भी पहुंची। लेकिन तुम्हे मालूम है, सडान और पतन शुरू होगये; देश जैसे-जैसे खण्ड-खण्ड होता गया, कला भी गिरती गई। उसकी स्फूर्ति और प्राणशक्ति नष्ट होगई और जरूरत से कहीं ज्यादा-से ज्यादा बारीकियां और सजावट उनपर लाद दी गई—यहांतक कि ये ज्यादतियां बेहूदा मालूम होने लगीं। मुसलमानो के आगमन ने इन्हे हिला दिया और नये असर ने अनावश्यक सजावट से भारतीय कला को आज़ाद किया। ज़मीन पुराने भारतीय आदर्श की ही रही, पर उसको अरब और फारस का सादा और नया सुदर्शन वस्त्र पहना दिया गया। पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान से हज़ारो कला-पडित मध्य-एशिया में गये थे। अब पश्चिम-एशिया से शिल्पकार और चित्रकार भारत में आये। फारस और मध्य-एशिया में कला का महान् पुनरुत्थान हो चुका था; कुस्तुनतुनिया में महान् शिल्पकारो के हाथो बडी-बडी आलीशान इमारते बन रही थीं। इसी ज़माने में इटली में भी 'रिनैसां' शुरू होगया था। वहां भी झुण्ड-के-झुण्ड कलाकारो ने सुन्दर भवनो और मूर्त्तियो का निर्माण आरम्भ कर दिया था।

सीनन उस जमाने का मशहूर तुर्की शिल्पकार था। बाबर ने उसीके प्यारे शागिर्द यूसुफ को बुलवाया था। ईरान के महान् चित्रकार का नाम बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपने दरबार मे चित्रकार बनाया। शिल्प और चित्रकला दोनो में ही फारसी प्रभाव की प्रधानता नज़र आने लगी। मुगल हिन्दुस्तान की इस भारतीय मुस्लिम कला (Indo-Moslem Art) पर बनी हुई कुछ इमारतो का ज़िक्र मैंने किसी पिछले ख़त में किया है। कितनी ही को तुमने देखा भी होगा। इस भारतीय-ईरानी कला की सबसे बडी विजय ताजमहल है। बहुतसे बडे-बडे कलाकारों की मदद से यह बना। कहते है कि प्रधान शिल्पी उस्ताद ईसा कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय शिल्पी थे। खयाल किया जाता है कि कुछ यूरोपियन कलाकारो, खासकर एक इटालियन, ने अन्दर की सजावट का काम किया। इतने सारे भिन्न-भिन्न महान् कलाकारों के होने पर भी, इस इमारत में कोई बदरंग या विरोधी बात नहीं है। ये तमाम प्रभाव मिलकर एक आश्चर्यजनक सामञ्जस्य पैदा कर रहे है। ताजमहल में हज़ारो ही आदमियो ने काम किया है। लेकिन दो प्रभावो की प्रधानता है यानी फारसी और हिन्दुस्तानी। इसीलिए श्री ग्राउज़े ने कहा है कि "भारत के शरीर में ईरान की आतमा ने अवतार लिया है।"

: १२४ :

ईरान की पुरानी परम्पराओं की दृढ़ता

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब फारस की तरफ चले। इसी देश के बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और उसको ताजमहल के रूप में उचित शरीर मिला। फारसी कला की परम्परा भी ध्यान देने के काबिल है। यह परम्परा ठेठ असीरियनों के जमाने से, यानी २,००० वर्ष से भी अधिक समय तक, डटी रही है। राज्य और राज्य-वश बदले है, धर्म में तब्दीलियाँ हुई है, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है, और स्वदेशी भी, इस्लाम ने भी आकर खूब इन्कलाब किया है, लेकिन यह परम्परा बनी रही है। हाँ, सदियो के अन्दर इसमें परिवर्तन और विकास भी हुआ है। परम्परा के इस प्रकार बने रहने के कारण फारसी कलाका फारस की जमीन और दृश्यो के साथ सम्बन्ध होना बताया जाता है।

इस खत के शुरू में मैने निनेवा के असीरियन साम्राज्य का नाम लिया है। इस साम्राज्य में फारस भी शामिल था। ईसा से पाँच-छ सौ बरस पहले ईरानी लोगो ने, जो कि आर्य होते थे, निनेवा पर क़ब्ज़ा करके असीरियन साम्राज्य का खात्मा कर दिया। फिर इन फारसी आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक एक विशाल साम्राज्य क़ायम किया। पुरानी दुनिया पर वे हावी थे। यूनानी इतिहास में उनके बादशाहो के लिए 'शहशाह आजम' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन बडे शहशाहो में से कुछ के नाम साइरस (सीरा), डेरियस (दारा) और जेरक्सीज है। तुम्हे याद होगा कि दारा और जेरक्सीज ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह खानदान एकेमेनीद खानदान कहलाता था। इसका राज्य २२० वर्ष तक रहा और अखीर में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका खात्मा कर दिया।

असीरिया और बैबीलोन कालो के बाद फारसवालो के आने से जनता को बडी राहत मिली होगी। ये स्वामी बडे सभ्य और सहिष्णु थे। भिन्न-भिन्न धर्मों और सभ्यताओ को इन्होने पनपने दिया। इनके विशाल साम्राज्य का इन्तजाम बहुत बढिया था। आमदरफ्त की सहूलियत के लिए उम्दा सडकों का तमाम देश पर जाल-सा बिछा हुआ था। इन फारसी आर्यों का हिन्दुस्तान में आनेवाले भारतीय आर्यों से निकट का सम्बन्ध था। इनका धर्म, जोरोस्टर अथवा जरथुस्त का धर्म, आरम्भिक वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। ऐसा लगता है कि दोनो की जन्मभूमि आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही रही होगी, चाहे वह कहीं भी हो।

एकेमेनीद बादशाह इमारते बनवाने के बडे शौकीन थे। अपनी राजधानी पर्सी पोलिस में उन्होने मन्दिर तो नहीं पर विशाल महल बनवाये थे, जिनमें खम्भो पर खडे हुए बडे-बडे हाल होते थे। इन जबरदस्त इमारतो का थोड़ा-बहुत ख़याल अबतक बचे हुए खण्डहरो से किया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि एकेमेनीदी कला का सम्बन्ध अशोक वग़ैरा मौर्यों की कला के साथ रहा होगा और उसपर उसका प्रभाव भी पडा होगा।

सिकन्दर ने दारा महान् को हराकर एकेमेनीद ख़ानदान का ख़ातमा कर दिया। उनके बाद सिकन्दर के पुराने सिपहसालार सेल्यूकस और उसके वारिसो के मातहत कुछ दिनो तक यूनानियो का राज रहा। बहुत जमाने तक यूनानी प्रभाववाली अर्द्ध-विदेशी हुकूमत भी रही। इसी काल के बादशाह हिन्दुस्तान की सीमा पर बैठे हुए कुशान लोग थे, जिनका साम्राज्य दक्षिण में बनारस तक और उत्तर में मध्यएशिया तक फैल रहा था। उनपर यूनानियो का असर था। हिन्दुस्तान के पश्चिम का तमाम एशिया सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्ष से भी ज्यादा जमाने तक, यूनानियो के असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला-सम्बन्धी था। इसने फारस के धर्म में दखल न दिया और वहाँ जरथुस्त्र धर्म ही चलता रहा।

तीसरी सदी में फारस में एक राष्ट्रीय जागृति हुई और एक नया ख़ानदान तख़्त पर बैठा। इस ख़ानदान का नाम सासानीद या सासानी था। ये लोग उग्र राष्ट्रवादी थे और पुराने एकेमेनीदो के वशज होने का दावा करते थे। जैसा अक्सर उग्र राष्ट्रवाद का कायदा होता है, यह वश भी बहुत तगदिल और मुतास्सिब था। इसका कारण यह था कि यह पश्चिम में कुस्तुन्तुनिया वाले बिजॅण्टियन और रोम के साम्राज्यो और पूर्व में चढे चले आनेवाले तुर्की कबीलो के बीच में फॅसा हुआ था। फिर भी यह ख़ानदान ४०० वर्ष से ज्यादा यानी बिलकुल इस्लाम के आने तक चलता ही रहा। सासानियो के राज्य में जरथुस्त्रो के पुजारी लोगो की बहुत चलती थी। शासन को चलानेवाले यही लोग थे। किसी भी तरह के विरोध को बर्दाश्त करने के लिए वे बिल्कुल तैयार न थे। कहा जाता है कि इसी जमानें में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आख़िरी सस्करण भी तैयार हुआ।

इस काल में हिन्दुस्तान में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह कुशान और बौद्ध ज़माने के बाद होनेवाली राष्ट्रीय पुनर्जागृति का काल था। साहित्य और कला का पुनरोदय हुआ। कालीदास सरीखे कितने ही बडे-बडे लेखक इसी समय हुए। इस बात की बहुत-सी निशानियाँ है कि फ़ारस की सासानी-कला का संसर्ग भारत की

गुप्त-कला के साथ हुआ था। आज दिन सासानी ज़माने की बहुत ही थोडी चित्र-कारियां या मूर्त्तियां बची है। जो मिली हैं, वे जीवन और गति से परिपूर्ण हैं। उनमें चित्रित जानवर अजन्ता की खुदी हुई तस्वीरो से मिलते है। मालूम होता है कि सासानी कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज्यकाल के आख़िरी ज़माने में सासानी लोग कमज़ोर पड़ गये और फारस का रग-ढग बिगड गया। बिजैण्टियन साम्राज्य के साथ बहुत अरसे तक लडाई-झगडे होते रहे, यहांतक कि दोनो ही बिल्कुल थक गये। अब अपने नये मजहब के जोश से भरी हुई अरबी फौजो के लिए फारस को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के मध्य में, पैग़म्बर मुहम्मद की मृत्यु के १० ही वर्षों के अन्दर, फारस ख़लीफा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफरीका की तरफ बढती गईं, वे अपने साथ न सिर्फ एक नया मजहब ही बल्कि एक नई और बढती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, मेसोपोटामिया, मिस्र सब अरबी सभ्यता में डूब गये। अरबी ज़बान उनकी ज़बान होगई। यहांतक कि उनके ख़ून में भी अरबी बीज आगये। बग़दाद, काहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के ख़ास केन्द्र हो गये। इस नई सभ्यता के प्रभाव में बहुत-सी अच्छी-अच्छी इमारतें भी बनीं। आजतक भी ये देश अरबी देश बने हुए है। गो एक-दूसरे से इतने जुदा हैं, फिर भी इत्तहाद यानी एकता के ख़्वाब देख रहे है।

इसी तरह अरबो ने फारस को भी जीता, पर मिस्र या सीरिया के समान वे इस देश को हजम न कर सके, यहां के लोगो को मिला न सके। पुराने आर्य ख़ून की ईरानी जाति सेमेटिक अरबो से बहुत जुदा थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए जाति जुदा रही और ज़बान की भी तरक्की होती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने जरथुस्त्र धर्म की जगह लेली। आख़िर जरथुस्त्र मजहब को हिन्दुस्तान में आकर शरण लेनी पडी। लेकिन फारसवालो ने इस्लाम को भी अपने ही रग में मजूर किया। भेद पड जाने से इस्लाम में दो फिरक़े हो गये—शिया और सुन्नी। फारस मुख्यत· एक शिया मुल्क हो गया और अभीतक है। बाकी इस्लामी दुनिया सुन्नी बनी रही।

हालाकि अरबी दुनिया फारस को हजम न कर सकी, तो भी अरबी सभ्यता का उसपर ज़बरदस्त असर पडा। वहां भी, हिन्दुस्तान की तरह, इस्लाम ने कला-कारीगरी को एक नई ज़िन्दगी दी। फारसी कसौटी का भी अरब की सभ्यता और कला पर ऐसा ही असर पडा। सीधे-सादे रेगिस्तानी जीव अरबो के घरो में फारस के ऐशोइशरत घुस आये और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार भी दूसरे शाही दरबारो

की तरह सजावटवाला और शानदार हो गया। बग़दाद का शाहाना शहर दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में खलीफाओ ने अपने वास्ते एक बडी भारी मस्जिद और महल बनवाये जिनके खडहर अभीतक मौजूद है। मस्जिद में बडे-बडे कमरे और फव्वारेदार आँगन थे। महल समकोण चतुर्भुज की शक्ल में था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर यानी १,१०० गज से भी ज्यादा थी।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य बिगडकर छोटी-छोटी कई रियासतो में बिखर गया। फारस आज़ाद हो गया। पूर्व की तरफ तुर्की कबीलो ने बहुत-सी रियासतें खडी करलीं और अख़ीर में ख़ुद फारस पर क़ब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम-मात्र के ख़लीफा पर भी हावी होगये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गजनवी का उदय हुआ, जिसने हिन्दुस्तान पर हमला किया, खलीफा को दहला दिया और कुछ दिनों के लिए एक साम्राज्य भी क़ायम कर लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की कबीले ने खत्म कर दिया। बहुत अरसे तक ये सेलजूक लोग ईसाई जिहादियो से लड़ते रहे और इन्हे कामयाबी भी मिली। इनका साम्राज्य डेढसौ वर्ष चला। बारहवीं सदी के अख़ीर में एक नये तुर्की कबीले ने सेलजूको को फारस से निकाल बाहर किया और ख़ारजम या खीवा की सल्तनत क़ायम करली। लेकिन इसकी ज़िन्दगी भी थोडी ही रही। ख़ारजम के शाही एलची की बदतमीज़ी से बौखलाया हुआ चगेजखाँ अपने मगोलो को लेकर चढ़ आया, और मुल्क और रिआया को तहस-नहस कर गया।

इस छोटे-से पैराग्राफ में मैंने तुम्हे कई तब्दीलियो और कई सल्तनतो का हाल बता दिया है। तुम भी ख़ूब चकरा गई होगी। मैंने इन ख़ान्दानो और क़ौमो की गर्दिश का जिक्र तुम्हारे दिमाग़ को थकाने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह दिखाने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद फारस की ज़िन्दगी और कला-कारीगरी बरक़रार रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की कबीले आये और बुख़ारा से इराक तक फैली हुई मिली-जुली फारसी-अरबी सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। एशियामाइनर को तो उन्होने अपने वतन तुर्किस्तान के मानिन्द ही बना लिया। मगर फारस के इर्द-गिर्द पुरानी सभ्यता का ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे मजूर करना पड़ा और ख़ुद को उसके मुताबिक ढालना पड़ा। हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की ख़ानदानो के जमाने में फारस के साहित्य और कला की तरक्की हुई। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हे फारसी शायर फिरदौसी का हाल कह चुका हूँ, जो सुल्तान महमूद गजनवी के ज़माने में हुआ था। महमूद के अनुरोध से उसने फारस का

राष्ट्रीय महाकाव्य शाहनामा लिखा। इस किताब के वर्णन इस्लामी जमाने से पहले के हैं और इसका नायक रुस्तम है। इससे जाहिर होता है कि राष्ट्रीय और परम्परागत भूतकाल के साथ फारस के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट सम्बन्ध हो गया था। फारसी चित्रकला और छोटे चित्रो के ज्यादातर मजमून शाहनामे की कहानियो से लिये गये हैं।

जिस जमाने में फिरदौसी हुआ, सन् का नम्बर सैकडे से हजार में बदला, यानी फिरदौसी ९३२ ई० में पैदा हुआ और १०२१ ई० में मरा। उसके बाद ही उमर ख़य्याम का नाम आता है, जो फारसी और अंग्रेजी दोनो में एक-सा मशहूर है। यह फारस में नैशापुर का रहनेवाला एक नजूमी-शायर यानी ज्योतिषी कवि था। उमर ख़य्याम के बाद शीराज का शेख सादी हुआ। यह फारस के सबसे बडे कवियो में से एक था। इसीकी गुलिस्तां और बोस्ता को हिन्दुस्तान के मकतबो में लडके पीढ़ियो से रटते आरहे हैं।

मैने सिर्फ कुछ मशहूर नाम दे दिये है। लम्बी फेहरिस्त गिनाने की मेरी मशा नहीं है, लेकिन मै यह समझाना चाहता हूँ कि फारस से लेकर मध्यएशिया के ट्रांस-एक्जियाना यानी अक्षु नदी के पार तक फारसी कला और सस्कृति का दीपक इन तमाम सदियोभर बराबर जलता रहा। अक्षु-पार (ट्रासएक्जियाना) के बडे शहर बलख़ और बुख़ारा साहित्य और कला के केन्द्र होगये और इस विषय में फारस के शहरो के रक़ीब बन गये। बुख़ारा में ही दसवीं सदी के अख़ीर में मशहूर अरबी दार्शनिक इब्नसिना हुआ था। २०० वर्ष बाद बलख़ में जलालुद्दीन रूमी नाम का एक और कवि हुआ। यह बडा भारी रहस्यवादी हुआ है और इसीने नाचनेवाले दरवेशो का पथ चलाया था।

इस तरह लडाई-झगडों और राजनैतिक परिवर्त्तनो के बावजूद अरबी-फारसी कला और सस्कृति जिन्दा बनी रही और शिल्पकला, चित्रकला और साहित्य के श्रेष्ठ नमूने पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी में (१२२० ई० के क़रीब) चगेजख़ाँ सफाई करता हुआ आ पहुँचा और खारजम और ईरान को बरबाद कर गया। कुछ साल बाद हलाकूखा बगदाद का ख़ात्मा कर गया, और सदियों से श्रेष्ठ सस्कृति के जो नमूने जमा थे वे सब नष्ट हो गये। किसी पिछले ख़त में मैने बताया था कि किस तरह मगोलो ने मध्य-एशिया को बियाबान में तब्दील कर दिया, किस तरह वहाके आलीशान शहर खाली हो गये और किस तरह वहाँ जीवित मनुष्यो का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया की इस तबाही का ज़ख़्म फिर कभी पूरी तौर से न भर पाया।

ताज्जुब तो यही है कि जितना भी भरा, वह कैसे भरा! तुम्हे याद होगा कि चगेजखां के मरने के वाद उसका विशाल साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया था। फारस और आसपास का जितना हिस्सा इस साम्राज्य में था, वह हलाकूखा ने लेलिया। वरवादी और तबाही का पूरा खेल खत्म करके हलाकू एक शान्त और सहनशील हाकिम वन गया और इलखान राजवश का बानी हुआ। ये इलखान कुछ अरसे तक तो मंगोलो का पुराना आकाश-धर्म ही मानते रहे, वाद में मुसलमान वन गये। इस्लाम को इख्तियार करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मजहबो के प्रति पूरी तरह उदार थे। उनके भाईबन्द यानी चीन का खान-आजम और उसके खानदानवाले वौद्ध-धर्म को मानते थे। इनके साथ इलखानो के ताल्लुकात बिल्कुल हेल-मेल के थे। यहांतक कि उनकी दुलहिने भी ठेठ चीन से भेजी जाती थीं।

फारस और चीन के मगोलो की इन दोनो शाखाओ के वीच इस तरह के ससर्ग का कला पर काफी असर पडा। चीनी असर फारस में आ पहुँचा और वहांकी चित्रकला में अरवी, फारसी और चीनी प्रभावो का एक अजीव मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम मुसीबतो के बावजूद, फारसी विशेषताओ की ही विजय हुई। चौदहवीं सदी के मध्य में फारस ने एक और वडा कवि पैदा किया। यह था हाफिज, जो आजतक हिन्दुस्तान में भी माना जाता है।

मगोल इलखानो का खानदान ज्यादा दिन न चला। उनके रहे-सहे निशानो को अक्षु-पार (ट्रासएविजयाना) के समरकन्द के तैमूर ने नेस्तनावूद कर दिया। यह खूंखार वहशी भी, जिसका हाल मै तुम्हे लिख चुका हूँ, कला-कौशल का जवरदस्त हामी था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। दिल्ली, शीराज, वगदाद और दमिश्क के वडे शहरो को उजाडने और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में इसका कला-प्रेम रहा होगा। समरकन्द की सवसे हैरतअंगेज और आलीशान इमारत तैमूर का मकवरा 'गोरेअमीर' है। यह मकवरा है भी इसके माकूल ही। इसकी आला बनावट में तैमूर के रौव, ताकत और खूंखारी की कुछ झलक दिखाई पड़ती है।

तैमूर ने जो बडे-वडे देश जीते थे, वे उसके मरने के वाद ढहकर गिर गये, लेकिन किसी क़दर छोटी-सी एक रियासत, जिसमें ट्रासएविजयाना (अक्षुपार का देश) और फारस भी शामिल थे, उसके वारिसो को मिली। पूरे एक सौ वरस तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगो का, जिन्हे 'तैमूरिया' कहते थे, मध्य ईरान, बुखारा और हिरात पर रहा। अजीव वात यह है कि एक जालिम पिता की औलाद ये लोग अपनी उदारता, मनुष्यता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। इन तैमूरी

का बेटा शाहरुख़ इनमें सबसे बड़ा हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक महान् पुस्तकालय कायम किया, जहाँ साहित्य-प्रेमियों के झुण्ड बराबर आते रहे।

कला और साहित्य की तरक्की के लिए सौ वर्षों का यह तैमूरी काल इतना महत्वपूर्ण है कि इसको 'तैमूरी पुनरुत्थान का काल' कहते हैं। फ़ारसी साहित्य की खूब तरक़्क़ी हुई और बहुत-सी सुन्दर तस्वीरें बनाई गईं। सबसे नामी चित्रकार बैज़ाद चित्रकारी की एक नई कलम का नेता हुआ है। यह भी एक दिलचस्प बात हुई कि फारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य भी तैमूरी साहित्य-सेवियों की मण्डली में तरक्की करता गया। ज़रा याद करलो कि इटली के 'रिनैसाँ' का भी यही ज़माना था।

तैमूरी लोग तुर्क थे और उन्होंने ज्यादातर फारस की सभ्यता को मंजूर कर लिया था। ईरान ने, जिसपर तुर्क और मंगोल कब्ज़ा कर चुके थे, अपने विजेताओं पर अपनी ही सभ्यता की छाप बैठा दी थी। उस वक्त फारसवाले सियासी आज़ादी यानी राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। धीरे-धीरे तैमूरी लोग पूर्व की ओर ज्यादा-ज्यादा ढकेल दिये गये, यहाँतक कि वे अक्षु-पार यानी ट्रान्स-एक्ज़ियाना के गिर्द एक छोटी-सी रियासत के अन्दर रह गये। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की फतह हुई और तैमूरी लोग फ़ारस से निकाल बाहर किये गये। सफावी नाम का एक कौमी खानदान फारस के तख़्त पर बैठा। इसी खानदान के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने शेरशाह के डर से हिन्दुस्तान छोड़कर भागे हुए हुमायूं को पनाह दी थी।

सफावी-युग १५०२ से १७२२ ई० तक यानी दो सौ बरस रहा। इसको फारसी कला का 'सुनहरा ज़माना' कहते हैं। राजधानी इस्फ़हान आलीशान इमारतों से भर गई और कला (ख़ासकर चित्रकारी) का केन्द्र बन गई। शाह अब्बास जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज्य किया, इस वंश का मशहूर बादशाह हुआ है और फारस का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसको एक तरफ से उजबेगों ने और दूसरी तरफ से उस्मानी तुर्कों ने आ घेरा, पर उसने दोनों को मार भगाया, मज़बूत सल्तनत कायम की, पश्चिम की और दूर-दूर की दूसरी रियासतों से ताल्लुकात बढ़ाये और अपनी राजधानी को ख़ूबसूरत बनाने के लिए हरचन्द कोशिशें कीं। शाह अब्बास ने इस्फहान में जिस तरह शहर के निर्माण की योजना बनाई थी उसे श्रेष्ठ, पवित्रता और पसन्द का ऊँचा नमूना कहा गया है। जो इमारतें बनाई गईं वे न सिर्फ खुद ही सुन्दर और श्रेष्ठ थीं, बल्कि उनके समाँ में कुछ ऐसा जादू था कि असर दोबाला हो जाता था। उस ज़माने में फारस की सैर करनेवाले यूरोपियन यात्रियों ने इसका बड़ा सुन्दर बयान लिखा है।

फारसी कला के इस सुनहरे युग में शिल्पविद्या, साहित्य, चित्रकारी (दीवारी और काग़ज़ी दोनो तरह की), ख़ूबसूरत कालीन, चमकदार मिट्टी के बर्तन और संगमर्मर के जड़ाऊ काम यानी प्रत्येक कला की ख़ूब उन्नति हुई। दीवारो पर खुदी और काग़ज़ो पर बनी कुछ छोटी तसवीरो में आश्चर्यजनक लुनाई है। कला राष्ट्रीय सीमा को नहीं जानती और न जानना ही चाहिए। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो की इस फारसी कला को परिपूर्ण बनाने में कई प्रभावो का हाथ रहा होगा। कहते है, इटली का असर भी दिखाई देता है। पर इन सबके पीछे ईरानी कला की पुरानी परम्परा है, जो २,००० वर्षों से चली आ रही थी। ईरानी सभ्यता का दायरा सिर्फ फारस तक ही महदूद न था। वह एक बडे क्षेत्र में फैली, जिसके पश्चिम में तुर्की और पूर्व में हिन्दुस्तान थे। हिन्दुस्तान के मुगल दरबार में फारसी भाषा साहित्य और संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और पश्चिमी एशिया में इसको वही इज्जत हासिल थी, जो योरप में फ्रांसीसी ज़बान को थी। फारसी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल में अपनी अमर निशानी छोड गई है। इसी तरह इस कला ने कुस्तुनतुनिया तक उस्मानी शिल्प पर असर डाला। वहाँ फारस के इस असर को ज़ाहिर करनेवाली बहुत-सी इमारते बनीं।

फारस के सफावी बहुत-कुछ हिन्दुस्तान के महान् मुगल बादशाहो के समकालिक थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द के तैमूरी रईसो में से था। जैसे-जैसे फारसियो की ताक़त बढती गई, वे तैमूरियो को हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार (ट्रांसएक्ज़ियाना) और अफ़ग़ानिस्तान के सिर्फ कुछ हिस्से ही तैमूरी शाह-ज़ादो के हाथ में रह गये। इन फुटकर शाहज़ादो से बाबर को १२ वर्ष की उम्र से ही लडना पड़ा था और उसे कामयाबी हासिल हुई। पहले उसने काबुल पर कब्ज़ा किया, फिर हिन्दुस्तान में आया। उस ज़माने की श्रेष्ठ तैमूरी सभ्यता का अनुमान बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके 'तुज़ुक' (सस्मरणो) से मैंने कुछ फिकरे पिछले ख़त में तुम्हे दिये थे। सबसे बडा सफावी शाह अब्बास अकबर और जहाँगीर का समकालिक था। इन दोनों मुल्को में बराबर बडा गहरा ताल्लुक़ रहा होगा, और अफ़ग़ानिस्तान मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था इसलिए बहुत अरसे तक दोनो की सरहद एक ही रही होगी।

: १२५ :

ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता

२१ जनवरी, १९३३

तुम्हे मुझसे शिकायत करने का हक है। इतिहास की मुख्तलिफ दहलीजो में कभी आगे और कभी पीछे दौडकर मैने तुम्हे काफी उत्तेजना दी है। बहुतेरे अलग-अलग रास्तो से उन्नीसवीं सदी तक पहुँचकर मैं तुम्हे अचानक कई हजार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से हिन्दुस्तान, चीन और ईरान के आस-पास चक्कर दिलाता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुझलाहट और परेशानी जरूर बढी होगी। मुझे ऐसा लगता है कि शायद तुम अपनी नाराजगी जाहिर कर रही हो। इसका मेरे पास कोई अच्छा जवाब भी नहीं है। परन्तु बात यह है कि श्री रेने ग्राउजे की किताबो को पढकर मेरे दिमाग में कई विचार-धारायें एकाएक चक्कर काटने लगीं। उनमें से कुछ तुम्हे बताये बिना मुझसे रहा न गया। मुझे यह भी लगा कि इन खतो में मैने ईरान की उपेक्षा की और मुझे इस कमी की थोडी-सी पूर्त्ति करने की ख्वाहिश हुई। हम ईरान पर विचार तो कर ही रहे है। फिर उसके इतिहास को वर्तमान समय तक क्यो न ले आवे ?

मैने तुम्हे ईरान की परम्पराओ, उसकी ऊँचे दर्जे की सस्कृति और कला के सुनहरे जमाने की और इसी तरह की दूसरी बाते बताई है। उन जुमलो पर फिर से विचार करके देखने से मालूम होता है कि हमारी जबान जरा रगीन और गलत हो गई। इससे कोई यहाँतक सोच सकता है कि सचमुच ईरान के लोगो के लिए सुनहरा जमाना आगया था, उनके दु ख दूर हो गये थे और वे स्वर्ग के सुख भोगने लगे थे। लेकिन, दरअसल ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। उन दिनों सस्कृति और कला पर मुट्ठीभर लोगो का कब्जा था और बहुत हद तक आज भी है। गरीबो और मामूली आदमियो का उनसे कोई वास्ता नहीं था। शुरू से ही आम लोगो की जिन्दगी सदा खाने-पीने और दूसरी जरूरियात के लिए झगड़ने में बीती है। इनकी और हैवानो की जिन्दगी में थोडा ही फर्क रहा है। उन्हे और किसी बात के लिए वक्त या फुर्सत ही नहीं मिली। दिन-रात यही झझट उनकी जान के लिए काफी थी। ऐसी हालत में वे तहजीब या हुनर की क्या तो फिक्र करते और क्या क़द्र ? ईरान, चीन, हिन्दुस्तान, इटली और योरप के दूसरे देशों में कला की तरक्की हुई, मगर उससे या तो राजा-रईसो का मनोरजन होता था या अमीर और निठल्ले लोगों का दिल-बहलाव। हाँ, कला के मजहबी रूप-रग का असर आम लोगो की जिन्दगी पर कुछ-कुछ जरूर पड़ा।

परन्तु किसी राजा के कला-प्रेमी होने का यह मतलब नहीं था कि उसकी हुकूमत भी अच्छी थी। जिन राजाओ को कला और साहित्य के रक्षक होने का फख्र था, वे अक्सर नालायक और जालिम शासक होते थे। उस जमाने में ईरान में ही क्या, करीब-करीब सभी देशो में सारी समाज-व्यवस्था ही एक तरह से सामन्तशाही पर कायम थी। जोरदार राजा अपने सामन्तो की छोटी-मोटी लूट-खसोट बन्द करके लोकप्रिय हो जाते थे। किसी वक्त शासन कुछ अच्छा होता था और किसी वक्त बिल्कुल खराब।

जिस वक्त भारत में मुगल राज्य आखिरी सांस ले रहा था, ठीक उसी वक्त, यानी सन् १७२५ ई० के आसपास, सफावी खान्दान का खात्मा हुआ। औरो की तरह इस खानदान का खेल भी खत्म हो चुका था। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में भारी तब्दीलियां हो रही थीं और पुरानी व्यवस्था उलट चुकी थी, टैक्स के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत करदी और जनता में असन्तोष फैल गया। अफगान लोग सफवियों के मातहत थे। उन्होने बगावत करदी। वे न सिर्फ अपने मुल्क में ही कामयाब हुए, बल्कि इसफहान पर कब्जा करके उन्होने शाह को भी गद्दी से उतार दिया। इस तरह सफवियो का अन्त हुआ। परन्तु थोडे दिनो बाद ही नादिरशाह नामक ईरानी सरदार ने अफगानो को निकाल बाहर किया और फिर खुद ही राजा बन बैठा। इसी नादिरशाह ने कमजोर मुगलो के आखिरी दिनो में हिन्दुस्तान पर हमला किया था; इसीने दिल्ली वालो को मौत के घाट उतारा था और यही शाहजहां का तख्त-ताऊस और दूसरी बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवीं सदी का ईरानी इतिहास घरेलू लड़ाइयो और बदलते हुए शासन और कुशासन की एक दर्दनाक कहानी है। यूं तो इन राजाओ की बेल-की-बेल ही खराब थी, मगर इनमें से एक तो अपनी बेरहमी के कारण इतना बदनाम हो गया था कि उसे 'खून का प्यासा राक्षस' कहा जाता था। मालूम होता है वह सचमुच ऐसा ही था।

उन्नीसवीं सदी के साथ आफते भी नई आई। योरप के बढते हुए साम्राज्यवाद का दुनिया पर हमला होने लगा। ईरान के साथ भी उसकी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड रहा था और दक्षिण में ईरान की खाडी की ओर से अंग्रेज बढे चले आ रहे थे। ईरान हिन्दुस्तान से दूर न था। दोनो की सरहदें मिलती जा रही थीं और आज तो सचमुच दोनो की सरहद मिली हुई हैं। हिन्दुस्तान के खुश्की रास्तो से तो ईरान सीधा पड़ता ही था, उसके समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेजो की सारी नीति यह थी कि किसी तरह उनका हिन्दुस्तानी साम्राज्य

और उसके सारे रास्ते महफूज़ रहे । वे यह बात किसी हालत में बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका भारी दुश्मन रूस उनका रास्ता रोककर हिन्दुस्तान पर घात लगाये बैठा रहे । इस कारण अंग्रेज़ और रूसी दोनो के ईरान पर दांत रहे और दोनो ने मिलकर उस ग़रीब को भरपेट सताया । वहांके शाह बिल्कुल नालायक़ और बेवकूफ थे । वे कभी उनसे बेमौके भिड़ बैठते या अपनी ही रिआया से लडते रहते, और इस तरह सदा रूस और ब्रिटेन के हाथो में खेलते रहते । अगर इन दोनो में लाग-डांट न होती तो ईरान भी मिस्र की तरह कभी का या तो रूस के कब्ज़े में चला गया होता या इग्लैण्ड के हाथ में । इनमें कोई भी या तो उसे अपने राज्य में मिला लेता या उसे अपना मातहत-राज्य बना लेता । उन्नीसवीं सदी के बीच में ईरान और रूस में लडाई हुई तो रूस को जितनी ज़रूरत थी, उतना मिल गया । ईरान को इग्लैण्ड से भी लडना पडा । इसमें इग्लैण्ड के जी में आया उतना उसने छीन लिया ।

बीसवीं सदी के शुरू में एक और कारण से भी ईरान प्रलोभन की चीज़ बन गया । वहां मिट्टी का तेल या पैट्रोल मिल गया । मोटर के विस्तार के समय से ही तेल की क़ीमत ख़ास तौर पर बढ़ गई थी । बूढे शाह को राज़ी करके ६० वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के क्षेत्रो से तेल निकालने का डर्सी नामक अंग्रेज़ को बहुत रिआयती शर्तों पर सन् १९०१ में ठेका दिलाया गया । कुछ साल बाद इस काम के लिए एंग्लोपर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई, तबसे यही कम्पनी वहां काम कर रही है । इसनें तेल के व्यवसाय से ख़ूब मुनाफ़ा कमाया है । मुनाफे का थोडा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारों की जेब में ही जाता है । बडे-से-बडे हिस्सेदारों में से एक ब्रिटिश सरकार है । ईरान की वर्तमान सरकार बडी राष्ट्रवादी है । उसे इस बात पर बडा एतराज़ है कि विदेशी ईरान से नाजायज़ फायदा उठायें । उसने अभी दो-तीन महीने पहले, १९०१ में, डर्सी के साथ किया हुआ साठ वर्षवाला वह इक़रारनामा रद कर लिया है जिसके मुताबिक़ एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी । उसका कहना था कि वे शर्तें ईरान के लिए अन्यायपूर्ण थीं और बूढ़े शाह को इस तरह देश की दौलत अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर लुटा देने का कोई हक़ न था । ब्रिटिश सरकार इसपर बडी झल्लाई । उसने ईरान की सरकार को धमकियां देकर दबाना चाहा । लेकिन वह भूल गई कि वक्त बदल गया है और अब एशिया वालो पर रौब गांठना उतना आसान नहीं है । यह झगडा फैसले के लिए राष्ट्र-सघ के पास गया है ।

मगर मै तो आगे की बातें करने लग गया। जब साम्राज्यवाद ईरान के लिए ख़तरा बनने लगा और शाह का दिन-दिन अस्त होता चला गया तो राष्ट्रीयता की अपनेआप बढती होने लगी। एक राष्ट्रीय दल कायम हुआ। इस दल ने विदेशी दस्तन्दाज़ी की मुख़ालफत की और शाह की निरकुशता पर भी उतने ही जोर से एतराज़ किया। उन्होने लोकसत्तात्मक (जम्हूरी) विधान और आजकल के सुधारो की मॉग की। देश में कुशासन था। टैक्सो की भरमार थी। रूसी और अग्रेज बराबर दख़ल दे रहे थे। दक़ियानूसी शाह को इन विदेशी सरकारो से ज्यादा चैन मालूम होता था। उसकी रिआया आज़ादी मॉंग रही थी। वह उसे बुरी लगती थी। लोकसत्तात्मक विधान की यह माँग ख़ास तौरपर नये मध्यमवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। सन् १९०४ ई० में जापान की ज़ारशाही रूस पर फतह हुई। इसका ईरानी राष्ट्रवादियो पर असर हुआ और उन्हे उत्तेजना मिली। इसके दो कारण थे। एक तो यह एक यूरोपियन कौम पर एशियाई देश की फतह थी। दूसरे ज़ारशाही रूस ईरान के लिए एक तकलीफदेह और ज़ोर-ज़बरदस्ती करनेवाला पडौसी था। १९०५ ई० में रूसी क्रान्ति हुई तो नाकामयाब और उसे दबा भी दिया गया बुरी तरह से, लेकिन उससे ईरानी राष्ट्रवादियो की हिम्मत और कुछ कर गुज़रने का हौसला बढ गया। शाह पर इतने ज़ोर का दवाव पड़ा कि अनिच्छा होते हुए भी उसे १९०६ में लोकसत्तात्मक विधान जारी करना पड़ा। 'मजलिस' नाम से राष्ट्र-परिषद् स्थापित हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति कामयाव हुई।

परन्तु मुसीबत तो आगे आनेवाली थी। शाह अपनेआपको मिटाना नहीं चाहता था और रूसियो और अग्रेज़ो को लोकसत्तात्मक ईरान से प्रेम न था। वह ताकतवर बनकर उन्हे तंग कर सकता था। शाह में और मजलिस में झगड़ा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर गोलाबारी करदी। मगर फौज और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियो के साथ थी। शाह को रूसी फौज की सहायता से जान बचाकर भागना पड़ा। असल में शाह की तो अपनी रिआया के सामने कुछ नहीं चल सकती थी, लेकिन असली ख़तरा विदेशी सरकारो की तरफ से था। रूस और इंग्लैण्ड किसी-न-किसी बहाने से अपनी प्रजा की हिफाज़त का सवाल खड़ा करके अपनी फौज लाकर रख देते थे। ईरानियो को दबाने के लिए रूसियो के खूख़ार कज्ज़ाक़ सिपाही और इग्लैण्ड के हिन्दुस्तानी सिपाही मौजूद थे, हालाकि बेचारे ईरानियो से हम हिन्दुस्तानियो का कोई झगड़ा नहीं था।

ईरान बडी मुसीबतों में था। उसके पास दौलत नहीं थी और लोगो की हालत ख़राब थी। मजलिस ने सुधार की ख़ूब कोशिश की, लेकिन उसकी ज्यादातर कोशिशें

रूसी और ब्रिटिश मुख़ालफ़त की वजह से नाकामयाब होती रहीं। आख़िरकार ईरानियो ने अमेरिका से मदद माँगी और एक काबिल अमेरिकन पूँजीपति को अपनी आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिए नियुक्त किया। इसका नाम मार्गन शुस्टर था। इसने ख़ूब मेहनत की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश मुख़ालफत की ठोस दीवारो से टक्कर लेनी पडती थी। आखिरकार ग्लानि और निराशा के कारण वह ईरान छोड़कर घर चला गया। बाद में शुस्टर ने एक किताब लिखी और उसमें यह बात लिखी कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ईरान की किस तरह जान निकाल रहे हैं। इस किताब का नाम ही खास मतलब रखता और एक कहानी कहता है। वह नाम The Strangling of Persia यानी 'ईरान की फाँसी' है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राष्ट्र की स्वतन्त्र हस्ती मिटने ही वाली है। इस दिशा में रूस और इग्लैण्ड पहला कदम उठा चुके थे। उन्होने इसको अपने-अपने 'प्रभाव-क्षेत्रो' में बाँट लिया था। महत्वपूर्ण केन्द्रो पर उनकी फौजो का कब्ज़ा था। ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल के ख़ज़ाने से लाभ उठा रही थी। ईरान की हालत पूरी तरह ख़राब थी। अगर कोई विदेशी ताकत सीधा अधिकार कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योकि उसकी जिम्मेदारी होती। ख़ैर, उसके बाद ही सन् १९१४ में महायुद्ध छिड गया।

इस लडाई में ईरान ने दोनो तरफ़ से अलग रहने का ऐलान किया, मगर कमज़ोरो के ऐलानो का ताकतवरों पर क्या असर होता है? ईरान के अलग रहने की किसीने भी परवा न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझे, विदेशी फौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रहीं। ईरान के चारो तरफ़ लडनेवाले देश थे। एक तरफ़ इग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की जर्मनी का साथी था। इराक और अरबस्तान उस वक्त तुर्की के राज्य में थे। १९१८ में महायुद्ध खत्म हुआ। इग्लैण्ड, फ्रास और उनके दोस्तो की जीत हुई। उस वक्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फौज का कब्ज़ा था। इग्लैण्ड ईरान पर सरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो एक तरह से उसपर कब्ज़ा करना ही था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और हिन्दुस्तान तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य क़ायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये ख़्वाब पूरे नहीं हुए। ब्रिटेन की बदकिस्मती से रूस में जारशाही का खातमा हो गया था और उसकी जगह सोवियट प्रणाली कायम हो चुकी थी। ब्रिटेन की दूसरी बदकिस्मती यह हुई कि तुर्की में भी उसकी स्कीम कामयाब न हुई और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रो की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओ से ईरानी देशभक्तो को मदद मिली और, नाम को सही, ईरान की आजादी बची रह गई। १९२१ में एक ईरानी सिपाही रिजाखाँ एकाएक सामने आया। उसने फौज पर कब्जा कर लिया और फिर प्रधानमत्री बन गया। १९२५ में शाह गद्दी से उतार दिया गया और राष्ट्र-परिषद् की राय से रिजाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने रिजाशाह पहलवी का नाम और लक़ब इख़्तियार किया।

रिज़ाशाह शान्त और जाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक उपायो से गद्दी पर पहुँचा है। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरकुश शासक होने का दुस्साहस नही करता है। मगर यह स्पष्ट है कि वह एक जोरदार आदमी है और ईरानी सरकार में उसकी चलती है। वह एक काबिल आदमी दिखाई देता है और सब हालात से वह लोकप्रिय भी मालूम होता है। पिछले कुछ वर्षों में ईरान में बडी-बडी तब्दीलियाँ हुई है और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है जिनसे देश नये साँचे में ढल जाय। क़ौम को फिर से उठाने के ख़याल ज़ोर पकड़ चुके है। इससे देश में नई जान आ गई है और जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थो का ताल्लुक़ आता है वहाँ यह कौमियत आक्रमणकारी रूप इख़्तियार कर रही है। इस राष्ट्रीयता और बढते हुए स्वावलम्बन के कारण ही ईरानी तेल के सम्बन्ध में झगडा खड़ा हुआ है।

यह बडी दिलचस्प बात है कि यह कौमी बेदारी ईरान की ठेठ दो हजार वर्ष पहले की परम्परा के अनुकूल ढग से हो रही है। उसकी नजर इस्लाम से पहले के पुराने ईरानी गौरव पर लगी है और उसीसे प्रेरणा भी मिल रही है। रिज़ाशाह नें अपने वश के लिए जो 'पहलवी' नाम रक्खा है वह भी उस पुराने जमाने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान है, मगर जहाँतक उनके देश का सवाल है वहाँतक ज्यादा बडी ताक़त कौमियत की है। एशियाभर में यही हो रहा है। योरप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहा कई लोग राष्ट्रीयता को पुराना धर्म समझने लगे है और वे ऐसे नये धर्मों और विश्वासो की तलाश में है जो मौजूदा हालत के ज्यादा अनुकूल हो।

: १२६ :

क्रान्तियाँ और ख़ासकर १८४८ की योरप की क्रान्ति

२८ जनवरी, १९३३

ईदुल-फित्र

अब हमें फिर योरप पहुँचकर वहाकी उन्नीसवीं सदी की पेचीदा परिस्थिति और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नजर और डालनी चाहिए। दो महीने पहले लिखे हुए कुछ ख़तो में हम पहले भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ ख़ास-ख़ास बातें भी बताई थीं। उस वक्त मैंने जिन 'वादो' का जिक्र किया था उन सबके याद रखने की तुमसे उम्मीद नहीं की जा सकती। फिर-से कहूँ तो उनमें से कुछ ये थे उद्योगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्र-वाद और अन्तर्राष्ट्रीयता। मैंने तुम्हें लोकसत्ता और विज्ञान का हाल भी सुनाया था और आमदरफ्त के तरीको की कायापलट, आम लोगो की तालीम और उसके अंजाम और आधुनिक अख़बारो का जिक्र किया था। उस वक्त की यूरोपियन सभ्यता इन और ऐसी ही दूसरी कितनी ही चीजो से बनी थी। यह अमीरो की सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के औद्योगिक साधनों पर नये मध्यमवर्ग का अधिकार था। पूंजीवादी योरप की इस संस्कृति को कामयाबी पर कामयाबी मिलती चली गई। यह एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ती गई और सदी का ख़ात्मा होते होते इसने अपनी ताक़त का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था। इतने ही में मुसीबत आगई।

एशिया में भी हम जरा तफसील से इस सभ्यता को अमली सूरत में देख चुके हैं। अपने बढते हुए उद्योगवाद की प्रेरणा से योरप ने दूर-दूर देशो में अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हें हड़पने, उनपर क़ब्ज़ा जमाने और आमतौर पर अपने फायदे के लिए उनमें दख़ल देने की कोशिश की। यहां योरप से मेरा मतलब ख़ास तौर पर पश्चिमी योरप से है। वहीं उद्योगवाद का जोर था। इन सब पश्चिमी देशो का एक जमाने तक इंग्लैण्ड एकमात्र नेता रहा। वह औरों से बहुत आगे था और इस अगु-आपन से उसने फायदा भी ख़ूब उठाया।

इंग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशो में ये जो बडी तब्दीलियां हो रही थीं, वे सदी के शुरू में राजाओ और बादशाहों को दिखाई न पडीं। जो नई ताक़तें पैदा हो रही थीं उनके महत्व को उन्होंने नहीं समझा। दूसरे जिन लोगो ने समझा वे भी बहुत थोडे थे। नेपोलियन का ख़ात्मा हो जानें के बाद योरप के इन राजाओ को सिर्फ

अपने बचाव और अपने गिरोह को सदा के लिए महफूज रखने की फिक्र रही । वे दुनिया को मनमानी हुकूमत के लिए महफूज कर लेना चाहते थे । फ्रास की राज्य-क्रान्ति और नेपोलियन के जबर्दस्त खौफ का असर अभी उनके दिलो में बाक़ी था और वे कोई नई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे । यह तो मैं तुम्हे किसी पिछले खत में बता चुका हूँ कि इन लोगो ने आपस में सुलह कर ली थी । वे चाहते थे कि राजाओ का मनमानी करने का 'दैवी अधिकार' महफूज रहे और जनता सिर न उठा सके । इस काम के लिए, जैसा पहले भी अक्सर हुआ है, निरकुश शासन (मनमानी हुकूमत) और मजहब दोनो मिल बैठे । इन सुलहो में अगुआ था रूस का जार सिकन्दर । उसके देश में उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नहीं पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछडी हुई थी । बडे-बडे शहर बहुत कम थे, तिजारत की बहुत थोडी तरक्की हुई थी और दस्तकारियाँ भा ऊँचे दर्जे की न थी । मनमानी हुकूमत का दौरदौरा था । दूसरे यूरोपियन मुल्को की हालत और ही थी । ज्यो-ज्यों पश्चिम की तरफ बढते त्यो-त्यो मध्यमवर्ग ज्यादा-ज्यादा दिखाई देता था । जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, इग्लैण्ड में मनमानी हुकूमत नहीं थी । राजा पर पार्लमेण्ट दबाव रखती थी, मगर खुद पार्लमेण्ट मुट्ठीभर धनवानो के काबू में थी । रूस के स्वेच्छाचारी बादशाहो और इग्लैण्ड के इस दौलतमद शासकवर्ग में बड़ा फर्क था । पर दोनो में एक बात यकसाँ थी । दोनों आम जनता और क्रान्ति से डरते थे ।

इस तरह योरपभर में प्रतिक्रिया का बोलबाला था और जिस किसी चीज में उदारता या सुधारकपन की जरा भी झलक दिखाई देती थी वही बुरी तरह दबा दी जाती थी । सन् १९१५ की वियेना-कांग्रेस के फैसले के मुताबिक इटली और पूर्वी योरप की जातियाँ विदेशी हुकूमत के जुए में जोत दी गई थीं । उन्हें जोर-जबर्दस्ती से दबाये रखना पडता था । लेकिन इस तरह की बाते बहुत दिन तक नहीं चल सकतीं । आगे-पीछे झगड़ा होता ही है । यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को पकडे रखने की कोशिश करना । योरप में भी उबाल आरहा था और बार-बार उसकी गरमी फूट पडती थी । मैं तुम्हे किसी पिछले खत में १८३० की बग़ावतो का जिक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस वक्त योरप में कई तब्दीलियाँ हुईं और खास तौर पर फ़ास में तो बूर्बन राजघराने का खातमा ही होगया । इन बग़ावतो से राजा, सम्राट और उनके वजीर लोग और भी घबराये और उन्होने जनता को दबाने में और भी ज्यादा जोर लगा दिया ।

मुख्तलिफ मुल्को में लड़ाइयो और क्रान्तियों से जो बडी तब्दीलियाँ हुई है, इन खतो के दौरान में उनका भी अक्सर ज़िक्र आया है । पुराने जमाने की लड़ाइयाँ

कभी तो मजहबी होती थीं और कभी राजघरानो की। यानी मुख्तलिफ शाही खानदान अपनी बढती और अख्तियार के लिए आपस में लडते थे। अक्सर एक कौम दूसरी कौम पर सियासी हमले करती थी। इन सबकी जड में आमतौर पर कोई न-कोई आर्थिक कारण भी होता था। इस तरह मध्य-एशियाई जातियो ने योरप और एशिया पर जितने हमले किये उनमें से ज्यादातर हमलो की वजह भूख से तग आकर पश्चिम की तरफ मुँह करना था। माली तरक्की से भी जातियो या कौमो को ताकत मिलती है और वे दूसरो की बनिस्बत नफे में रहती है। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि योरप में और दूसरे मुकामो पर भी जिन्हें मजहबी लडाई कहा जाता था, उनकी जड में भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम जमाना हाल की तरफ आते है वैसे-वैसे हम देखते है कि मजहबी और खान्दानी लडाइयाँ बन्द होती जाती है। अलबत्ता सब तरह की लडाइयाँ बन्द नहीं होतीं। बदकिस्मती से उनका जहर तो और बढता जाता है। मगर इनके कारण साफ तौर पर राजनैतिक और आर्थिक है। राजनैतिक कारणो का ताल्लुक खासकर कौमियत से है। यह सघर्ष या तो एक राष्ट्र यानी कौम के दूसरे राष्ट्र को दबाने से होता है या दो बढती हुई और जबर्दस्त कौमियतो की टक्कर से। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणो से यानी, उदाहरण के लिए, उस वक्त होती है जब मौजूदा उद्योगवादी देश कच्चे माल और बाजारो की माँग करते है। इस तरह हम देखते है, लडाई में आर्थिक कारणो का महत्त्व बढता जा रहा है और आज तो दरअसल वे ही सबसे प्रबल कारण है।

क्रान्तियो में भी इसी तरह की तब्दीलियाँ हुई है। शुरू-शुरू में जो क्रान्तियाँ हुईं वे आमतौर पर राजमहलो में हुईं। राजवशियो में आपस में साजिशें और लडाइयाँ होतीं और वे एक-दूसरे को क़त्ल कर डालते थे। या कोई रिआया भडक उठती और जालिम शासक का काम तमाम कर डालती। या कोई मनचला सिपाही फौज की मदद से राजगद्दी पर क़ब्जा जमा बैठता। इन दरबारी क्रान्तियो में से कई सिर्फ ऊपर-ऊपर होकर रह जातीं। आम लोगो पर न तो इनका कोई खास असर पडता और न वे इनकी बहुत परवा करते। राजा बदल जाता, मगर तरीका वही बना रहता और लोगो की जिन्दगी वैसे ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, खराब राजा बहुत जुल्म करके असह्य बन सकता था और अच्छे राजा को लोग ज्यादा वक्त तक बर्दाश्त कर सकते थे। मगर राजा अच्छा हो या बुरा, कोरी सियासी तब्दीली से आमतौर पर जनता की सामाजिक और माली हालत में फर्क नहीं पडता। शासकवर्ग हुकूमत करते रहते है और दूसरे वर्ग जिस नीची हालत में पहले थे वहीं बने रहते है। कोई सामाजिक क्रान्ति नहीं होती।

राष्ट्रीय क्रान्तियो के जरिये ज्यादा बडी तब्दीलियाँ होती है। जब किसी कौम पर दूसरी क़ौम की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ में सारी सत्ता रहती है। इससे कई तरह के नुकसान होते है। फायदा या तो गुलाम मुल्क पर हुकूमत करने पर गैरमुल्क को होता है, या किसी ख़ास विदेशी गिरोह को। गुलाम मुल्क के स्वाभिमान को तो जबर्दस्त ठेस पहुँचती ही है, साथ ही विदेशी शासकवर्ग गुलाम मुल्क के ऊँचे दर्जे के लोगो को ताकत और हुकूमत के उन ओहदो से दूर रखता है जो उन्हे दूसरी हालत में मिल सकते थे। राष्ट्रीय क्रान्ति के कामयाब होने से कम-से-कम इतना तो होता ही है कि विदेशियो का हाथ नहीं रहता और देश के प्रभावशाली लोग तुरन्त उनकी जगह ले लेते है। इस तरह स्वदेशी उच्चवर्ग को तो यह बडा फायदा होता है कि विदेशी उच्चवर्ग निकल जाता है और देशभर को यह फायदा होता है कि शासन-कार्य दूसरे देश की भलाई के ख़याल से होना बन्द हो जाता है। हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का बहुत हित नहीं होता।

सामाजिक क्रान्ति इन दूसरी क्रान्तियो से, जिनमें सिर्फ ऊपर-ऊपर ही तब्दीली होती है, बिल्कुल मुख़्तलिफ चीज है। सामाजिक क्रान्ति में भी राजनैतिक क्रान्ति तो शामिल है ही। साथ-साथ और भी बहुत-सी बातें हो जाती है, क्योकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है। इंग्लैण्ड की राज्य-क्रान्ति सिर्फ राजनैतिक क्रान्ति ही न थी; क्योकि उससे पार्लमेण्ट की ताकत सबके ऊपर होगई। यह क्रान्ति एक हद तक सामाजिक भी थी; क्योंकि इससे सत्ताधारियो के साथ दौलतमन्द बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का रिश्ता कायम होगया। इस तरह इस ऊँचे मध्यमवर्ग का दर्जा बढ़ गया और नीचे दर्जे के नागरिक और आम लोग आम तौर पर जहाँ थे वहीं रहे। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और भी ज्यादा सामाजिक थी। जैसा हम देख चुके है, उसने समाज का सारा ढाँचा ही बदल दिया और कुछ वक्त के लिए आम लोग ऊँचे दर्जे पर पहुँच गये। आख़िरकार यहाँ भी बुर्जुआ या मध्यमवर्ग की ही जीत हुई। ग़रीबो से क्रान्ति करवा लेने का काम तो निकल ही चुका था। उन्हे फिर पेंदे में बैठा दिया गया। हाँ, ख़ास हक और रिआयतो वाले चोटी के उमराव सदा के लिए जाते रहे। यह स्पष्ट है कि ऐसी सामाजिक क्रान्तियो के अंजाम सिर्फ सियासी इन्कलाब से कहीं ज्यादा गहरे और मुकम्मल होते है और उनका सामाजिक हालत से गहरा ताल्लुक होता है। किसी मनचले आदमी या गिरोह का यह काम नहीं है कि वह सामाजिक क्रान्ति कर डाले, जबतक कि सामाजिक परिस्थिति ही आम जनता को क्रान्ति के लिए तैयार न करदे। तैयार होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि लोगो से पहले तैयार होने को

कहा जाय और वे जान-बूझकर तैयारी करें। बल्कि मेरा मतलब यह है कि सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऐसी हो जाय जिसमें जिन्दगी बोझ बन जाय और बिना इस तरह की तब्दीली के उन्हें न राहत मिलने की सूरत दिखाई दे और न किसी तरह मामला ठीक-ठाक होने की। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर बेशुमार इनसानों की जिन्दगी उनके लिए बोझ ही बनी हुई है। ताज्जुब यह है कि उन्होंने इसे अबतक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी उन्होंने बगावत कर डाली है; खास तौर पर किसान लोग भड़क उठे हैं और गुस्से में अन्धे और पागल होकर जो उनके हाथ पड़ गया उसीको तहस-नहस कर दिया है। लेकिन इन लोगों को अपने अन्दर सामाजिक ढांचा बदल देने की इच्छा होने का पता भी न था। मगर इस अज्ञान के होते हुए भी पुराने ज़माने में रोम में, योरप में, हिन्दुस्तान में और चीन में बार-बार मौजूदा सामाजिक अवस्था में उथल-पुथल मची है और उससे कितने ही साम्राज्यों का खात्मा होगया है।

पुराने ज़माने में सामाजिक और माली तब्दीलियां धीरे-धीरे होती थीं और लम्बे अरसे तक पैदावार के और उसके बँटवारे और ढुलाई के तरीक़े क़रीब-क़रीब वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगों को परिवर्तन की क्रिया दिखाई नहीं देती थी और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। मज़हब ने इस व्यवस्था और उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाज और विश्वासों को दैविक प्रकाश दे दिया था और लोगों को इसपर इतना पक्का विश्वास जम गया था कि जब हालात इस व्यवस्था के बिल्कुल खिलाफ़ होगये तब भी वे इसे बदल देने का हर्गिज़ खयाल नहीं करते थे। सामाजिक क्रान्ति होने और उसके कारण ढुलाई के तरीक़ों में भारी तब्दीली होने के साथ-साथ सामाजिक तब्दीलियां भी ज्यादा जल्दी-जल्दी होने लगीं। नये वर्ग सामने आये और मालदार होगये। कारीगरों और खेती के मज़दूरों से बिल्कुल जुदी तरह का मज़दूरों का वर्ग पैदा होगया। इन सब बातों के लिए नई आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक तब्दीलियों की ज़रूरत हुई। पश्चिमी योरप की अजीब और नामुवाफ़िक हालत थी। समझदार समाज जब कभी तब्दीली की ज़रूरत होती है तब ज़रूरी तब्दीलियां कर लेता है और इस तरह बदलते हुए हालात का पूरा फ़ायदा उठा लेता है। मगर समाज अक्लमन्द कहां होते हैं और मिलकर कहां विचार करते हैं? व्यक्ति अपने ही फ़ायदे की फ़िक्र करते हैं। एकसे स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते हैं। अगर कोई वर्ग समाज के सिर पर बैठा है तो वह वहीं बैठा रहना और नीचेवालों को चूसकर फ़ायदा उठाते रहना चाहता है। अक्लमन्दी और दूरदेशी बतलाती है कि आख़ीर में अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि

जिस समाज के हम अंग हैं उस सारे का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी मनुष्य या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है उससे चिपटा रहना चाहता है। इसका सबसे अच्छा तरीका दूसरे वर्गों और लोगों को यह यकीन दिलाते रहना है कि समाज के मौजूदा ढांचे से अच्छा और कोई ढांचा और तरीका नहीं हो सकता। लोगों के दिलो पर यकीन जमाने के लिए मजहब को बीच में घुसेड़ दिया जाता है। तालीम भी यही पाठ पढ़ाने लगती है। बात अचरज की है, मगर होता यहाँतक है कि आखिर सभी लोगो का विश्वास पक्का हो जाता है और कोई भी इस व्यवस्था को बदलने का विचार नहीं करता। पेंदे में पडे हुए लोग भी सचमुच यह समझ बैठते है कि उनके लिए वहीं पडे रहना, ठोकरे खाना, बँधे रहना और भूखों मरना ठीक है, भले ही दूसरे लोग ऐश-आराम में रहें।

इस तरह लोग कल्पना कर लेते हैं कि यह समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज्यादातर आदमियों को इसमें दुःख भोगना पड़ता है तो उसमें किसीका क़सूर नही है। कसूर उनका अपना, किस्मत का या भाग्य का है, या उनके पुराने गुनाहो की सजा है। समाज हमेशा पुराने विचार का होता है, उसे तब्दीलियाँ नापसन्द होती हैं। एकबार जिस लकीर पर लग जाता है उसीपर चलते रहने में उसे मजा आता है और उसे पक्का विश्वास होजाता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने की ख्वाहिश से उसे लकीर छोड़कर चलने को कहते है उन्हींको समाज ज्यादा सजा देता है।

परन्तु सामाजिक और आर्थिक हालात उन लोगों की मर्जी का इन्तजार नहीं करते जो समाज के बारे में कुछ नहीं सोचते या उससे सन्तुष्ट रहते है। हालात आगे बढ़ते हैं, भले ही लोगो के ख़यालात जहाँ-के-तहाँ रहें। इन दक़ियानूसी विचारो और असली स्थिति के बीच का फासला बढ़ता रहता है और यदि इस खाई को पाट-कर दोनों को मिलाने का कुछ भी उपाय नहीं किया जाता है तो व्यवस्था चकनाचूर होकर प्रलय उपस्थित होता है। सच्ची सामाजिक क्रान्तियाँ इसी तरह होती है। अगर हालात ऐसे है तो क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि पुराने ख़यालात की खींचतान के कारण उसमें देर लग जाय। अगर हालात ऐसे नहीं हैं तो कुछ व्यक्तियो से, भले ही वे कितना ही जोर लगावे, क्रान्ति नहीं हो सकती। जब क्रान्ति हो ही जाती है तो फिर असली हालत के बारे में लोगो की आँखो पर पड़ा हुआ पर्दा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते है। एक लकीर के बाहर निकले नहीं कि वे सरपट दौड़ते है। यही कारण है कि क्रान्ति के जमाने में लोग बडी तेजी से आगे बढते है। इस तरह क्रान्ति पुरानेपन और पीछे रहने का

लाज़िमी नतीजा है। अगर समाज सदा लकीर छोडकर चले और कभी इस वेवकूफी और भूल में न फँसे कि अटल समाज-व्यवस्था जैसी भी कोई चीज होती है, वल्कि हमेशा वदलते हुए हालात के साथ-साथ चले, तो सामाजिक क्रान्ति होगी ही नहीं। फिर तो लगातार तरक्की होती चली जायगी।

ऐसा पहले तो इरादा नहीं था, मगर मैं क्रातियो के वारे में ज़रा तफसील से लिख गया हूँ। यह मजमून मेरे लिए दिलचस्प है, क्योंकि आज दुनियाभर में वेमेल बातें हो रही है और वहुत-से मुक़ामो पर समाज-व्यवस्था टूटती दिखाई दे रही है। पिछली सामाजिक क्रान्तियो के ऐसे ही पूर्व-चिन्ह रहे है और इस कारण सहज ही यक़ीन होने लगता है कि हम भी दुनिया में होनेवाली वडी तव्दीलियो के दरवाज़े पर खडे है। और सव ग़ुलाम देशो की तरह हिन्दुस्तान में भी क़ौमियत की और विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाने की ज़वरदस्त ख़्वाहिश पैदा गई है। मगर कौमियत का यह रवैया ज्यादातर खुशहाल लोगो में ही पाया जाता है। किसान-मज़दूर और दूसरे लोगो को, जो हमेशा जरूरियात से तग रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन थोथे साधनो से इतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी अपने खाली पेट भरने की। यह स्वाभाविक भी है। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य वेसूद है, अगर उससे उन्हे ज्यादा खाने को न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए हिन्दुस्तान में भी आज सवाल सिर्फ सियासी नहीं है, सामाजिक ज्यादा है।

क्रान्तियो के वारे में मेरा यह विषयान्तर लम्वा होगया। इसका कारण यह है कि मै उन्नीसवी सदी की जिन वग़ावतो और दूसरे झगडो का विचार कर रहा था उनकी तादाद वडी थी। इन वग़ावतो में से वहुत-सी और ख़ासकर उस सदी के पहले आधे हिस्से में होनेवाली विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ कौमी वग़ावतें थीं। इसके साथ-साथ उद्योगवादी मुल्को में सामाजिक विद्रोह के ख़यालात नये मजदूरवर्ग में उसके पूजीवादी मालिकों के साथ कशमकश भी पैदा करने लगे। लोग सामाजिक क्रान्ति के लिए समझ-बूझकर विचार और कार्य करने लगे।

१८४८ ई० का वर्ष योरप में क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है। इस वर्ष कितने ही देशो में बलवे हुए। उसमें कुछ कामयाव हुए और ज्यादातर नाकामयाव रहे। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हगरी की वग़ावतो का कारण उनकी दवाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड-निवासी प्रशिया के और बोहेमिया और उत्तर-इटली वाले आस्ट्रिया के ख़िलाफ खडे हुए थे। उन सबको कुचल दिया गया। इन वग़ावतो में आस्ट्रिया के ख़िलाफ हगरी की वग़ावत सबसे वडी थी। इसका नेता लोजोस कोसूथ था। यह हंगरी के इतिहास में मशहूर देशभक्त और आज़ादी के लिए लड़नेवाला

होगया है। दो वर्ष तक लोहा लेते रहने पर भी यह विद्रोह दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी जो चाहता था वह बहुत-कुछ उसे मिल गया। मगर इस बार उसका लड़ाई का तरीक़ा दूसरा था, और नेता भी डीक नाम का एक दूसरा महान् व्यक्ति था। यह मजे की बात है कि डीक ने सत्याग्रही उपाय इख़्तियार किये थे। सन् १८६७ में हंगरी और आस्ट्रिया क़रीब-क़रीब बराबरी के दर्जे पर मिल गये, दोनो का एक ही राज्य बना और हैस्पबर्ग खानदान का सम्राट फ़्रासिस जोजफ 'दुहरा शासन' करने लगा। आधी सदी के बाद डीक के इन्हीं सत्याग्रही तरीको की नकल आयर्लैण्ड वालो ने अंग्रेज़ो के ख़िलाफ की। जब बापू नें १९२० ई० में असहयोग आरम्भ किया तो कुछ लोगो को डीक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनो तरीक़ो में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

१८४८ ई० में जर्मनी में भी बग़ावतें हुईं, मगर वे बहुत गहरी नहीं थीं। वे दबा दी गईं और कुछ सुधारो का वादा कर दिया गया। फ़्रास में बडी तब्दीली हुई। जबसे १८३० ई० में बूर्बन खानदान के राजाओ को निकाल दिया गया था तभीसे लुई फिलिप हुकूमत कर रहा था। वह आधा वैध और आधा निरकुश शासक था। १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब चुके थे और उसे गद्दी छोड़नी पडी। फिर प्रजातत्र क़ायम हुआ। यह दूसरा प्रजातत्र कहलाया, क्योकि पहला तो महान् क्राति के मौके पर क़ायम हुआ था। इस गड़बड़ से फायदा उठाकर नेपोलियन का लुई बोनापार्ट नाम का एक भतीजा पैरिस में आया। उसने अपनेको आज़ादी का बड़ा हामी बताकर प्रजातत्र का अध्यक्ष चुनवा लिया। यह ताक़त हासिल करने का सिर्फ एक वहाना था। जव उसकी ताक़त मजबूत हो गई तो उसने फौज पर भी क़ाबू कर लिया। और १८५१ में एकाएक बडी राजनैतिक चालबाजी की। उसने अपने सिपाहियो की मदद से पेरिस को भयभीत कर दिया, बहुत लोगो को गोली से उड़ा दिया और असेम्वली को दवा दिया। अगले साल वह सम्राट् वन बैठा और अपना नाम तीसरा नेपोलियन रख लिया, क्योकि महान् नेपोलियन का बेटा दूसरा नेपोलियन समझा जाता, उसने राज्य न किया तो क्या हुआ ? चार वर्ष से कुछ ज्यादा समय की मुख्तसर और वेशोहरत जिन्दगी बिताने के बाद दूसरे प्रजातत्र का यह खात्मा हुआ ! इस तीसरे नेपोलियन का ज्यादा हाल तुम्हे आगे चलकर वताऊँगा।

इंग्लैण्ड में सन् १८४८ ई० में विद्रोह तो नहीं हुआ, मगर झगडे और उपद्रव ख़ूब रहे। इग्लैण्ड का यह ढग है कि जब सचमुच झगडा बढने लगता है तो वह उसके सामने झुककर अपनेको बचा लेता है। उसका विधान लचकीला होने के कारण वह भी इसमें मददगार होता है। लम्बे अभ्यास के कारण, जब और कोई रास्ता न दिखाई

दे तो, अंग्रेज कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीके से अंग्रेजो को उन बडी और नागहानी तब्दीलियो का सामना नहीं करना पड़ा है जो ज्यादा सख्त शासन-विधान और ज़िद्दी रिआया के कारण दूसरे देशो में हुई है। १८३२ ई० में इंग्लैण्ड-भर में एक सुधार-कानून को लेकर बडा भारी आन्दोलन हुआ। इस क़ानून के जरिये थोडे और लोगो को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का हक़ दिया गया था। आजकल के माप से देखें तो यह क़ानून बहुत नरम और निर्दोष था। थोडे मध्यम वर्ग के लोगो को वोट देने का हक़ और मिला था। मजदूर और ज्यादातर दूसरे प्रजाजनो को उस समय भी राय देने का हक नहीं दिया गया। मगर उन दिनों पार्लमेण्ट थोडे-से दौलतमन्दो के हाथों में थी। उन्हे अपने ख़ास हुकूक और नागरिक इलाके छिन जाने का डर था। इन इलाको से वे पार्लमेण्ट की आम सभा में आसानी से चुन लिये जाते थे। इस कारण इन लोगो ने अपना जोर लगाकर सुधार-कानून की मुख़ालफ़त की। वे कहते थे कि अगर यह क़ानून पास होगया तो इंग्लैण्ड रसातल को चला जायगा और ससार में प्रलय हो जायगा। इग्लैण्ड में गृह-युद्ध छिड़ने ही वाला था कि इस कानून के पक्ष में सार्वजनिक आन्दोलन का जोर देखकर विरोधी दल घबरा गया और कानून पास होगया। कहना न होगा कि इस कानून के पास हो जाने पर भी दुनिया क़ायम रही और पहले की तरह पार्लमेण्ट में धनवानो का ही बोलबाला जारी रहा। सिर्फ मध्यमवर्ग के हाथ में थोडी ताकत और आगई।

१८४८ के आसपास इंग्लैण्ड में एक और बडी हलचल हुई। यह अधिकार-आन्दोलन (Chartist Agitation) के नाम से मशहूर हुई, क्योकि इसमें कई तरह के सुधारो की माँग का सार्वजनिक अधिकार-पत्र एक बडे अर्जनामे की शक्ल में पार्लमेण्ट में पेश करने की तजवीज़ थी। इससे शासकवर्ग बहुत डर गये और आन्दोलन दबा दिया गया। कारख़ानो के मजदूरो को बहुत तकलीफ और असंतोष था। इसी समय मजदूरो के बारे में कुछ कानून बनने लगे और उनसे मजदूरो की हालत ज़रा सुधरी। इंग्लैंड अपने बढ़ते हुए व्यापार से खूब धन कमा रहा था। वह 'संसार का पुतलीघर' बन रहा था। यह मुनाफा ज्यादातर तो कारखानो के मालिको को मिलता था, पर मजदूरो तक भी उसका थोड़ा-सा हिस्सा पहुँच जाता था। इन सब कारणो से १८४८ ई० में क्रान्ति होने से बच गई। मगर उस वक्त वह नजदीक अवश्य आ गई थी।

अभी मैंने १८४८ ई० का हाल पूरा नहीं किया है। उस साल रोम में क्या हुआ, यह बताना बाकी है। इसे दूसरे खत के लिए रखना पडेगा।

: १२७ :

इटली संयुक्त और स्वतंत्र राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३

वसन्त-पचमी

अपने १८४८ ई०के बयान में मैंने इटली को अख़ीर में रख लिया था। उस वर्ष की उत्तेजनापूर्ण घटनाओ में सबसे ज्यादा आकर्षक रोम की बहादुराना लड़ाई थी।

नेपोलियन के ज़माने से पहले इटली छोटी-छोटी रियासतो और राजाओ का समह था। थोडे अरसे के लिए नेपोलियन ने उन्हे मिलाकर एक किया था। नेपोलियन के बाद उसकी फिर वही या उससे भी कुछ बुरी हालत होगई। विजयी मित्र-राष्ट्रो ने १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बडे लिहाज से काम लेकर इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके इर्द-गिर्द का बडा-सा इलाका लेलिया। आस्ट्रिया के कई राजाओ को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गये। पोप रोम में लौट आया और उसके आसपास के रजवाडे उसे वापस मिल गये। ये 'पोप के राज्य' (Papal States) कहलाते थे। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनो सिसलियों का एक राज्य एक बूर्बन राजा के मातहत बना दिया गया। फ़्रास की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीडमॉण्ट और सार्डीनिया का एक राजा हुआ। पीडमॉण्ट को छोड़कर बाकी इन सब छोटे-छोटे राजाओ ने बडी मनमानी हुकूमत की। रिआया पर इनका जुल्म इतना बढ़ गया कि नेपोलियन से पहले इन्होने या और किसीने इतना जुल्म नहीं किया था, लेकिन नेपोलियन के आने से इटली जाग गया और वहाके नौजवान आजाद और सयुक्त इटली के सपने देखने लगे। राजाओ के बावजूद, या शायद उसके कारण, कई छोटे-मोटे बलवे हुए और गुप्त समितियो का जाल बिछ गया।

थोडे दिनो बाद एक जोशीला नौजवान सामने आया और उसे आजादी की लड़ाई का नेता मान लिया गया। यह इटली की क़ौमियत का पैग़म्बर ग्वीसेप मैजिनी था। १८३१ ई० में उसने 'नौजवान इटली' (Giovane Italia) नाम की सस्था कायम की। इटली का प्रजातत्र इसका ध्येय रक्खा गया। उसने इसके लिए कई वर्ष तक काम किया। उसे निर्वासित यानी जलावतन भी रहना पड़ा और अकसर अपनी जान जोखिम में डालनी पडी। राष्ट्रीय साहित्य में उसकी किताबें ऊँचे दर्जे की मानी जाने लगीं। १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली में जगह-जगह बलवे की आग भड़क रही थी, मैजिनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया।

पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियो की समिति के मातहत प्रजा-तन्त्र-राज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास से लेकर 'त्रियमवीर' नाम दिया गया। इनमें एक मैज़िनी था। इस नये प्रजातत्र पर चारो तरफ से हमले हुए। आस्ट्रिया वाले, नेपोलियन के भक्त और यहाँतक कि फ्रेंच लोग भी पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए इसपर टूट पडे। रोम के प्रजातत्र की तरफ से लडनेवालो का सरदार गैरीबाल्डी था। उसने आस्ट्रियावालो को रोक रक्खा, नेपोलियन के भक्तो को हरा दिया और फ्रास वालों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब स्वयसेवको की मदद से किया गया और प्रजातन्त्र की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवकों ने अपनी जान दी। पर आख़िर-कार इस बहादुराना लड़ाई के बाद रोम का प्रजातत्र फ्रास वालो से हार गया, और उन लोगो ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह लड़ाई की पहली किस्त ख़त्म हुई। मैज़िनी और गैरीबाल्डी अगली लडाई की तैयारी और प्रचार का काम मुख्तलिफ तरीक़ो से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छिपकर लडाई करने या छापा मारने की ज़बरदस्त क़ाबलियत थी। दोनो को इटली की आज़ादी और एकता की बडी लगन थी। इस मौक़े पर इस बडे खेल में एक तीसरा खिलाडी और प्रकट हुआ। यह पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमत्री कावूर था। उसका असली मक़सद विक्टर इम्मैनुएल को इटली का राजा बनाना था। चूकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओ को दबानें और हटाने की ज़रूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्डी के कामो का फायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रास वालो से साज़िश की और उन्हे अपने दुश्मन आस्ट्रिया वालो के साथ लडाई में फँसा दिया। उस वक्त फ्रास का राजा तीसरा नेपोलियन था। यह १८५९ ई० की बात है। फ्रास वालों के हाथो आस्ट्रिया वालो की हार का गैरीबाल्डी ने फायदा उठाया और नैपल्स और सिसली के राजा पर अपनी तरफ से एक असाधारण हमला बोल दिया। गैरीबाल्डी की इस मशहूर फौज में लालकुर्तीवाले एक हज़ार आदमी थे। न उन्होंने तालीम पाई थी और न उनके पास ठीक तरह के हथियार और सामान ही थे। उनके मुकाबिले में सुरक्षित और सुस-ज्जित फौजें थीं। इन एक हजार लालकुर्तीवालो के दुश्मनो की तादाद भी उनसे कहीं ज्यादा थी। लेकिन उनकी हिम्मत और जनता की हमदर्दी के कारण उन्हे फतह पर फतह मिलती गई। गैरीबाल्डी की शोहरत चारो तरफ होगई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके पास पहुँचते ही फौजें गायब हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्डी

का काम मुश्किल था और कितनी ही बार उसे और उसके स्वयसेवको को हार और प्रलय के दर्शन होने लगते थे। किन्तु हार की घड़ियो में भी किस्मत उसपर महरबान होजाती। जान झोककर किये जानेवाले हिम्मत के कामो में अक्सर ऐसा ही होता है और हार भी जीत में बदल जाती है।

गैरीबाल्डी और उसके हजार साथी सिसली के किनारे उतरे। वहाँसे वे धीरे-धीरे इटली तक पहुँच गये। दक्षिण इटली के गाँवो में कूच करते-करते वह स्वयसेवको की माँग करता जाता। उसके इनाम भी अजीब होते थे। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! इस वक्त बुज़दिल ही घर में घुसा रह सकता है। मैं तुम्हे वचन देता हूँ कि मेरे साथ तुम्हे थकान, तकलीफें और लड़ाइयाँ मिलेगी; परन्तु हम या तो जीतेगे या जान दे देंगे।" दुनिया कामयाबी की क़द्र करती है। गैरीबाल्डी की शुरू की कामयाबी ने इटली के लोगो के कौमियत के ख़याल को वह जोश दिया कि स्वयसेवको का ताँता बँध गया और वे गैरीबाल्डी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ बढ़े। उस गीत का मतलब यह है —

> कबरे उघड गई है और मुर्दे उठ-उठकर दूर-दूर से चले आ रहे है,
> हमारे शहीदो की प्रेतात्मायें युद्ध के लिए जीवित होकर तलवारे हाथो में
> लिये हुए और ख्याति के बिल्ले लगाये हुए तैयार हो रही है,
> और मुर्दा दिलो में भी इटली के नाम का जादू चमक रहा है।
> आओ, उनमे मिल जाओ! देश के युवको, आओ, उनका साथ दो!
> आओ, अपना झण्डा फहरा दो और जग के बाजे बजा दो!
> ठडे फौलाद का-सा इरादा और आग-जैसा गरम दिल लेकर आजाओ।
> इटली की आकाक्षाओ की ज्वाला जलाकर लेते आओ!
> ऐ विदेशी, इटली से निकल जा, हमारे घर से निकल जा।"

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने मिलते-जुलते होते है!

कावूर ने गैरीबाल्डी की कामयाबियो से फ़ायदा उठाया। नतीजा यह हुआ कि १८६१ ई० में पीडमॉण्ट का विक्टर इम्मैन्युएल इटली का राजा होगया। रोम पर उस वक्त भी फ्रास की फौजो का कब्ज़ा था। वेनिस आस्ट्रिया वालो के हाथ में था। इस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाकी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आख़िर इटली एक सयुक्तराष्ट्र होगया। लेकिन मैजिनी को इससे ख़ुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र प्रजातत्र के आदर्श के लिए मेहनत की थी और अब इटली सिर्फ पीडमॉण्ट के विक्टर इम्मैन्युएल का राज्य बन गया। यह सत्य है कि नया राज्य वैध राज्य था और विक्टर इम्मैन्युएल के राजा बनते ही टूरिन में इटली की पार्लमेण्ट की फौरन बैठक हुई।

इस तरह इटली राष्ट्र फिर से विदेशी राज्य से आजाद होगया। यह तीन आदमियो की करामात थी। मैजिनी, गैरीबाल्डी और कावूर। इन तीनो में से शायद एक भी न होता तो इस आजादी को आने में देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इसपर एक कविता लिखी थी, जिसका मतलब यो है:--

हमने इटली की प्रसव-पीडा देखी है। हमने वह वक्त देखा है जब इटली उठकर खडा हुआ कि उसे फिर जमीन पर गिरा दिया गया है। आज वह गेहूँ के हरे-भरे खेत की तरह दिखाई देता है। जहाँ एक दिन हल चलते, वहाँ विपुलता और सौंदर्य का ठाठ है। यह देखकर हमें उन लोगो की याद आ रही है जिन्होंने इटली के शरीर में प्राण फूंके थे। वे तीन आदमी कावूर, मैजिनी और गैरीबाल्डी थे। एक इटली का दिमाग था, दूसरा उसकी आत्मा, और तीसरा उसकी तलवार। इन तीनो का एक ही तेजस्वी ध्येय था। इन तीनो ने नाशकारी फूट से उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हे इटली की आजादी की लड़ाई की मोटी-मोटी बातें और मुख्तसर कहानी सुनादी है। यह छोटा-सा बयान तुम्हे इतिहास के दूसरे मुर्दा हिस्सो की तरह लगेगा। मगर मै तुम्हे बताता हूँ कि तुम इस कहानी को सजीव कैसे बना सकती हो और अपने दिल को इस लडाई की खुशी और दर्द से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले, जब मै स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही अनुभव हुआ था। मैंने यह कहानी जी० एम० ट्रेवेलियन की तीन किताबो में पढी थी। वे थीं 'गैरीबाल्डी और रोमन प्रजातन्त्र के लिए युद्ध' (Garibaldi and the Fight for the Roman Republic), 'गैरीबाल्डी और उसके हजार सिपाही' (Garibaldi and the thousand) और 'गैरीबाल्डी और इटली का निर्माण' (Garibaldi and the making of Italy)।

इटली की आजादी की लडाई के दिनो में अंग्रेज जनता की हमदर्दी गैरीबाल्डी और उसके लालकुर्तीवाले स्वयसेवकों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज कवियों ने इस लडाई पर जोशीली कवितायें लिखी थीं। यह ताज्जुब की बात है कि जहाँ अंग्रेजो का स्वार्थ आडे नहीं आता वहाँ वे अकसर आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रो के साथ कितनी हमदर्दी दिखाते है! यूनान आजादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन और दूसरे लोगो को भेज देते है। इटली के प्रोत्साहन के लिए उनकी सारी सभ्दावनायें पहुँच जाती है। मगर अपने पडोसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और हिन्दुस्तान वगैरा देशो में अंग्रेजी दूत बडी-से-बडी तोपें और सर्वनाश की सामग्री ले जाते है। उस वक्त इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरिडिथ और एलीजाबेथ बैरेट

ब्रोरिंग ने बडी सुन्दर कवितायें लिखी थीं। मेरीडिथ ने तो इस मजमून पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ। यह रोम के सामने का पडाव (The Halt before Rome) के नाम से मशहूर है। यह उस वक्त लिखी गई थी जबकि इटली की लड़ाई जारी थी और उसमें कई रुकावटें पेश आ रही थीं और उसके कई देशद्रोही विदेशी प्रभुओ का काम कर रहे थे। स्विनबर्न की कविता का आशय यह है:—

तुम्हारे मालिक तुम्हे दान दे सकते है, मगर स्वतन्त्रता-देवी के पास देने को दान कहाँ है ?

उसके पास देने को न आश्रय है, न स्थान। वह तो भूखो मरती, खून बहाती, जागरण करती हुई अपनी सेनाओ को तेजी से आगे बढाती है। वे सेनाये प्राण देकर आजादी का बीज बोती है, ताकि उसकी खाक से राष्ट्र की फिर रचना हो सके और उसकी आत्मा प्रकाश से फिर तारे की तरह चमक उठे।

: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले खत में हम योरप के एक बडे राष्ट्र का बनना देख चुके हैं। अब हमें मौजूदा समय के दूसरे बडे राष्ट्र जर्मनी की रचना देखनी है।

एक जबान और दूसरे कई समान लक्षण होते हुए भी जर्मन राष्ट्र बहुत-सी छोटी-बडी रियासतो में बँटा हुआ था। कई सदियों तक हैप्सबर्ग खानदान के मातहत आस्ट्रिया जर्मनी का सबसे ताक़तवर राज्य था। बाद में प्रशिया आगे आया और इन दोनो ताक़तो में नेतृत्व के लिए बडी लाग-डाँट रही। नेपोलियन ने इन दोनो को नीचा दिखाया। उसने जर्मनी को इतना ज्यादा झँझोड़ा कि वहाँ राष्ट्रीयता प्रबल हो गई और वही उसकी आख़िरी हार में मददगार हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनो में नेपोलियन ने अनजान में और बिना चाहे राष्ट्रीय भावना और आजादी के विचारों को उत्तेजन दिया। नेपोलियन के जमाने के जर्मन राष्ट्रवादियो में एक खास आदमी फिश्टे था, वह दार्शनिक भी था और गहरा देशभक्त भी। उसने अपने देश वालो को जगाने का बहुत काम किया था।

नेपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी के छोटे-छोटे रजवाडे बने रहे। उनका सघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं; मगर वे बेकार गईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनो के राजा और राज्य संघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच

में सभी उदार विचारों का खूब दमन हुआ और १८३० और १८४८ ई० में बग़ावतें हुईं। मगर वे दबोच दी गईं। जनता का मुंह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार भी किये गये।

इग्लैंड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सो में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थीं। इससे वहांकी स्थिति औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी दार्शनिको और वैज्ञानिको और सिपाहियों के लिए भी (!) मशहूर था। वहां कारखाने खडे होगये और कारख़ाने के मज़दूरो का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस मौक़े पर, यानी उन्नीसवीं सदी के बीच में, प्रशिया में एक आदमी उठा, जिसका आगे चलकर बहुत दिनो तक न सिर्फ जर्मनी पर बल्कि सारे योरप पर सिक्का रहा। यह आदमी प्रशिया का एक ज़मींदार था और उसका नाम ओटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लडाई के साल यानी १८१५ ई० में पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारो में कई वर्ष राजदूत का काम किया था। १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधानमत्री बना और प्रधानमत्री बनते ही उसने हाथ-पांव फैलाने शुरू किये। प्रधानमत्री बनने के एक हफ्ते के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस जमाने के बडे सवाल तक़रीरों और बहुमत के प्रस्तावो से हल नहीं होगे। उन्हे तलवार और खून तय करेंगे।"

तलवार और ख़ून ! ये मशहूर होगये। ये शब्द सचमुच उसकी नीति को ज़ाहिर करते थे। उस नीति को उसने दूरदेशी और मज़बूती के साथ निभाया। उसे लोकसत्ता से नफरत थी और वह पार्लमेण्टो और प्रजा-परिषदो के साथ हिकारत का बर्ताव करता था। वह पुराने ज़माने की चीज़ मालूम होता था, मगर उसकी क़ाबलियत और पक्का इरादा ऐसा था कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। वर्तमान जर्मनी का निर्माण उसीने किया और उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के इतिहास को उसने अपने ही सांचे में ढाला। दार्शनिको और वैज्ञानिको का जर्मनी तो पीछे रह गया और ख़ून और तलवार वाला नया जर्मनी अपनी फौजी क़ाबलियत के ज़ोर से योरप पर हावी होने लगा। उस वक्त के जर्मनी के एक बडे आदमी ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को बड़ा बना रहा है और जर्मनों को छोटा।" जर्मनी को योरप और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में बडा राष्ट्र बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग खुश होते थे और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के बढने से उन्हें जो सन्तोष होता था उसके कारण वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सह लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ जब बागडोर आई तब उसके दिमाग़ में साफ-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी।

वह दृढता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे खूब कामयाबी मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया का योरप में प्रभुत्व कायम करना चाहता था। उस वक़्त तीसरे नेपोलियन के मातहत फ़्रास योरप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बडा जोडीदार था। पुराने ढग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और मुसद्दीपन के एक सबक की शक्ल में यह देखकर बडी दिलचस्पी होती थी कि बिस्मार्क दूसरे राज्यो को किस तरह खेल खिलाता था और उन्हे बारी-बारी से एक-एक करके कैसे टरकाता था। सबसे पहली बात, जिसके करने का उसने बीड़ा उठाया, जर्मनी के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर डालने की थी। प्रशिया और आस्ट्रिया की लाग-डाँट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का आख़िरी फैसला प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के पतन के बाद प्रशिया की तरक्की होनी थी और बाद में फ्रांस की बारी आनी थी। (यह याद रखना कि जब मै प्रशिया, आस्ट्रिया और फ़्रास की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहांकी सरकारो से है। ये सरकारें थोडी या बहुत मात्रा में निरंकुश थीं और वहांकी पार्लमेण्टो के हाथ में बहुत कम ताकत थी।)

इस तरह बिस्मार्क ने चुपचाप अपनी फौजी मशीन को पूरे तौर पर दुरुस्त कर लिया। इसी बीच में तीसरे नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर हमला कर उसे हरा दिया। इस हार के कारण गैरीबाल्डी की दक्षिण इटली की लड़ाई शुरू हुई और अख़ीर में इटली को आज़ादी हासिल हुई। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योकि इनसे आस्ट्रिया की ताकत घट गई। रूसी पोलैण्ड में क़ौमी बग़ावत हुई तो बिस्मार्क ने सचमुच आगे होकर ज़ार को जरूरत होने पर पोलैण्ड वालो को गोली से उड़ा देने तक में मदद देने का प्रस्ताव पास किया। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर योरप की किसी आनेवाली पेचीदगी में ज़ार की हमदर्दी हासिल करने का उद्देश्य इससे ख़ूब अच्छी तरह पूरा हुआ। फिर बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से मिलकर डेनमार्क को हराया और फिर जल्द ही उसने आस्ट्रिया की तरफ मुँह किया। हा, उसने बडी होशियारी से फ़्रास और इटली की मदद हासिल करली थी। १८६६ ई० में थोडेसे वक्त में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब जर्मन नेतृत्व का सवाल तय होगया और यह बात हो गई कि प्रशिया की प्रभुता रहेगी तो बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ अच्छा सलूक करके बडी अक्लमन्दी दिखाई। इससे आस्ट्रिया के दिल में कटुता नहीं रही। अब प्रशिया के नेतृत्व में उत्तर-जर्मनी का संघ बनने का रास्ता साफ होगया (आस्ट्रिया उसमें नहीं था)। बिस्मार्क सघ का प्रधान बना। आजकल हमारे कुछ

राजनीति-विशारद और क़ानूनदाँ महीनो और वर्षों तक सघो और विधानो के बारे में चर्चा और दलीले किया करते है। उनके लिए दिलचस्पी की बात होगी कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मनी के सघ का नया विधान पाँच घण्टे में लिखवा दिया था। यही विधान, इधर-उधर की तब्दीलियो के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का विधान बना रहा। जब १९१८ ई० में योरप का महायुद्ध बन्द हुआ और जर्मनी में प्रजातंत्र क़ायम हुआ तब कहीं दूसरा विधान बना।

बिस्मार्क का पहला बडा उद्देश्य पूरा हो चुका था और प्रशिया अब जर्मनी में सबसे ताक़तवर था। दूसरा काम फ्रास को नीचा दिखाकर योरप पर हावी होना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और शोरगुल मचाये बिना की। दूसरे यूरोपीय राष्ट्र यह समझते रहे कि सिर्फ जर्मन एकता की कोशिश की जा रही है। उन्हें कुछ भी शुबहा नहीं हुआ। हारे हुए आस्ट्रिया के साथ भी इतना अच्छा सलूक किया गया कि उसकी दुर्भावना प्राय. दूर हो गई। इग्लैण्ड फ्रास का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी ठहरा। वह तीसरे नेपोलियन की महत्त्वाकाक्षा से भरी योजनाओ को बडे शुबहे की नजर से देखता था। इस कारण फ़्रास के साथ किसी भी लडाई में इग्लैण्ड की हमदर्दी हासिल करना बिस्मार्क के लिए मुश्किल नहीं था। जब वह लडाई के लिए बिलकुल तैयार होगया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि दरअसल १८७० ई० में तीसरे नेपोलियन ने प्रशिया के ख़िलाफ लडाई का ऐलान किया। योरप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार हमलावर फ्रास की बेक़सूर शिकार हुई। पेरिस के लोग 'बर्लिन को ! बर्लिन को !' चिल्लाने लगे और तीसरे नेपोलियन ने यक़ीन के साथ समझ लिया कि वह सचमुच अपनी विजयी फौज का सरदार बनकर जल्द बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क की सधी हुई फौजी ताकत फ्रास की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पडी और उसके आगे फ्रांस की फौज सिकुडकर बेजान होगई। कुछ हफ्तो में सेदान के मुक़ाम पर खुद सम्राट तीसरा नेपोलियन और उसकी फौज जर्मनो के हाथो क़ैद हुए।

इस तरह नेपोलियन ख़ानदान का दूसरा फ्रासीसी साम्राज्य ख़तम हुआ और उसके बाद फौरन पेरिस में प्रजातंत्र शासन क़ायम हो गया। नेपोलियन के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि वह अपनी दमन-नीति की वजह से अपनी रिआया की मुहब्बत बिलकुल खो चुका था। उसने विदेशी लडाइयों में जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की। मुसीबतज़दा राजाओ और सरकारो का यही प्यारा तरीका है। नेपोलियन तो कामयाब नहीं हुआ। हाँ, लडाई ने उसकी महत्वाकाक्षा का अवश्य सदा के लिए ख़ात्मा कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा (National Defence) की सरकार बनी। उसने प्रशिया के साथ सुलह का प्रस्ताव किया, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि पेरिस वालो के पास कोई फौज न होते हुए भी उन्हें लडाई जारी रखने का फैसला करने को मजबूर होना पड़ा। जर्मन फौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारो तरफ घेरा डाले पडी रहीं। आखीर में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये प्रजातंत्र ने हार मानकर बिस्मार्क की शर्तें मजूर करलीं। लडाई के हर्जाने की भारी रकम देना क़बूल किया गया। जिस बात से फ्रास को ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसेस लॉरेन के जो प्रदेश दोसौ से भी ज्यादा साल तक फ्रास के हिस्से रह चुके थे, उन्हे भी जर्मनी के हवाले कर देना पडा।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। १८७० ई० के सितम्बर में तो तीसरे नेपोलियन का फ्रासीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और १८७१ ई० की जनवरी में वर्साई के सोलहवे लुई के आलीशान दीवानख़ाने में सयुक्त जर्मनी का ऐलान हुआ और प्रशिया का राजा क़ैसर के नाम से सम्राट बना। सारे जर्मनी के राजाओ और नुमाइन्दो ने वहाँ जमा होकर अपने नये सम्राट क़ैसर की मातहती मंजूर की। अब प्रशिया का हायनजालर्न ख़ानदान एक शाही ख़ानदान बन गया था।

जहाँ वर्साई में ख़ुशी और जलसा मनाया जा रहा था वहाँ पास ही पेरिस में कष्ट, शोक और बुरी तरह ज़लील होने का ग़म छाया हुआ था। जनता मुसीबत-पर-मुसीबत आने से हक्की-बक्की हो रही थी और कोई कायमी या सुव्यवस्थित शासन नहीं था। राष्ट्रपरिषद में राजावादी बडी तादाद में चुनकर आगये थे और ये लोग किसी राजा को फिर से ला बिठाने की साज़िश कर रहे थे। उन्होंने राष्ट्र-रक्षक दल (National Guard) के हथियार छीनकर अपने रास्ते की बाधा दूर करने की कोशिश की, क्योकि यह दल प्रजातंत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकसत्तावादी और क्रान्तिकारी लोगो को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर पीछे लौटना और दमन का शिकार बनना है। इसलिए १८७१ ई० के मार्च में बग़ावत हुई और पेरिस के पचायती राज्य (Commune) का ऐलान किया गया। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ्रास की बडी राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। अस्पष्ट ही सही, इसमें उन समाजवादी ख़यालात का पुट भी था जो उस वक्त पैदा हो चुके थे। एक मानी में यह रूस की सोवियट प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर पेरिस का १८७१ वाला पंचायती राज्य थोडे ही दिन रहा। राजावादियों

और दौलतमन्दो ने आम जनता की इस बगावत से डरकर पेरिस के उस हिस्से के इर्द-गिर्द घेरा डाल दिया जो पचायत के क़ब्ज़े में था। पास ही वर्साई में और दूसरी जगहो पर जर्मन फौज यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ्रासीसी सिपाही जर्मनो की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटते थे वे अपने पुराने अफसरों में शरीक होकर पचायत के खिलाफ लडते थे। उन्होने पचायत वालो पर धावा बोल दिया और १८७१ ई० में मई के अखीर में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सडको पर तीस हजार स्त्री-पुरुषो को गोली से उड़ा दिया। पचायत-पक्ष के बहुत लोग पकड लिये गये और बाद में उनकी बैठे-बिठाये हत्या कर दी गई। इस तरह पेरिस का पचायती राज्य भी खतम हुआ। इससे योरप में बडी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण इतना ही नहीं था कि पचायत का दमन खून-खराबी के साथ कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस वक्त की प्रचलित प्रणाली के खिलाफ पहली समाजवादी बग़ावत थी। ग़रीबों ने अमीरो के खिलाफ बग़ावत तो पहले भी कितनी ही बार की थी, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे ग़रीब थे उसे बदलने का उन्होने विचार नहीं किया था। यह पचायत लोकतत्री भी थी और आर्थिक भी। इस कारण योरप के समाजवादी खयालात की तरक्क़ी में इसका खास महत्व है। फ्रास में पचायत के जबरदस्ती दबा दिये जाने से समाजवादी खयाल दिलो में ही रह गये, और वे फिर धीरे-धीरे बाहर आये।

पचायत तो दबा दी गई, पर फ्रास बादशाहत की नई आजमाइशो से बच गया। थोडे समय में ही वह प्रजातत्रवाद पर स्थिर हो गया और १८७५ ई० की जनवरी में वहां एक नये विधान के मातहत तीसरे प्रजातत्र का ऐलान हुआ। यह प्रजातत्र उस समय से किसी तरह चला आ रहा है और अब भी है। फ्रास में अब भी थोडे-से ऐसे लोग है जो राजाओ को चाहते है, मगर उनकी तादाद बहुत कम है और ऐसा मालूम होता है कि फ्रास की किस्मत निश्चित रूप से प्रजातत्रवाद के साथ बँध गई है। फ्रास का प्रजातंत्र अमीरों का प्रजातंत्र है और उसमें सम्पन्न मध्यम वर्ग का जोर है।

फ्रास १८७०-७१ ई० की जर्मन लड़ाई की चोटो से बहाल हुआ और उसने हर्जाने की भारी रकम भी चुका दी, लेकिन उसे जिस तरह नीचा दिखाया गया था उसपर वहांके लोगो के दिल ग़ुस्से से जल रहे थे। वे स्वाभिमानी लोग है और बहुत दिन तक याद रखते है। वे बदले के खयाल से आगबबूला हो गये। अलसेस और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हें खास तौर पर रज था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके साथ अच्छा सलूक करके अक्लमदी की थी, लेकिन फ्रास के साथ सख्त बर्ताव करके न उसने उदारता से काम लिया, न अक्लमदी से। एक स्वाभिमानी दुश्मन को नीचा दिखाने की कीमत उसे यह चुकानी पडी कि दो राष्ट्रो में खौफनाक और स्थायी

दुश्मनी कायम होगई। मैदान की लड़ाई खत्म हो गई थी, मगर युद्ध अभी बन्द नहीं हुआ था कि मशहूर समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी करदी कि अलसेस के लेलेने से दोनो मुल्को में जानी दुश्मनी होजायगी और लडाई थोडे दिन बन्द रहेगी, मगर स्थायी सुलह कायम न होगी। और कई मामलो की तरह इस मामले में भी मार्क्स की बात सच्ची निकली।

पेरिस के प्लेस दि ला कंकोर्ड नामक खूबसूरत भवन में फ्रांस के बडे-बडे शहरो की कई भव्य मूर्तियां हैं। इनमें एक अलसेस लॉरेन के खास शहर स्ट्रासवर्ग की भी है। मुझे याद है कि महायुद्ध से पहले अक्सर उस मूर्ति के पास होकर निकलते समय मैंने उसे सदा फूलो से ढकी हुई देखा। यह इस बात की निशानी थी कि फ्रांस उसके छिन जाने का ग़म मना रहा है। यह फ्रांस के लोगो को सदा याद दिलाती रहती थी कि उन्हे 'बदला' लेना है। १९१८ ई० में जर्मनी के हार जाने के बाद अलसेस लॉरेन फिर फ्रांस के हाथ में आगया और अब पेरिस में स्ट्रासबर्ग की मूर्ति पर फूल नहीं डाले जाते।

जर्मनी में अब बिस्मार्क साम्राज्य के प्रधान की हैसियत से सर्वेसर्वा था। 'खून और तलवार' की नीति कायम हो चुकी थी, जर्मनी ने इस नीति को इख्तियार कर लिया था और उदार विचारो की कोई पूछ नहीं थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि ताकत सम्राट के हाथ में रहे, क्योंकि उसे लोकसत्ता में विश्वास नहीं था। जैसे-जैसे जर्मनी का उद्योग बढता जाता था और मजदूर-वर्ग जोर पकडता जाता रहा था वैसे-वैसे उसकी तरफ से बडी-बडी मांगें पेश की जा रही थीं और नई-नई उलझनें पैदा हो रही थीं। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरो की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता रहा। उसने सामाजिक उन्नति के कानून बनाकर मजदूरों को रिश्वत दी और इस तरह अपनें पक्ष में करने या कम-से-कम उनकी तेजी को कम करने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मजदूरो को पेंशन, बीमे और दवा-दारू की रिआयते देने और उनकी हालत सुधारने के कानून सबसे पहले जारी किये, हालाकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मजदूर आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ कामयाबी तो मिली, फिर भी मजदूरों का संगठन बढता गया। उनके नेता काबिल थे। उनमें फर्डीनैण्ड लैसले बडा जहीन आदमी था और उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा वक्ता कहा जाता है। वह द्वन्द्व-युद्ध में बिलकुल छोटी उम्र में ही मर गया। दूसरा नेता विल्हम लीबनेट (Wilhelm Libknecht) बहादुर, पुराना सूरमा और बाग़ी था। वह गोली से मरता-मरता बचा था। उसने अच्छी उम्र पाई। उसके

पुत्र कार्ल ने अबतक आजादी की लडाई जारी रक्खी थी, १९१८ में जर्मन प्रजातन्त्र की स्थापना के समय वह क़त्ल कर दिया गया। पर कार्ल मार्क्स के बारे में तो मुझे तुम्हे दूसरे पत्र में लिखना है। हा, मार्क्स की ज्यादातर जिन्दगी जर्मनी से बाहर जलावतनी की हालत में बीती थी।

मजदूरो का संगठन बढा और १८७५ ई० में उन्होंने समाजवादी लोकसत्तात्मक दल बनाया। बिस्मार्क से समाजवाद की यह बढ़ती बर्दाश्त नहीं हो सकी। किसीने सम्राट की जान लेने की कोशिश की। बिस्मार्क को समाजवादियो पर टूट पड़ने का यह अच्छा बहाना मिल गया। १८७८ ई० में समाजवाद-विरोधी क़ानून बनाकर हर तरह के समाजवादी कार्यों का दमन शुरू कर दिया गया। जहांतक समाजवादियो का ताल्लुक था, उनके लिए एक तरह का फौजी क़ानून जारी होगया और हजारो को देश-निकाले या क़ैद की सजायें देदी गई। निर्वासितो में से बहुत लोग अमेरिका चले गये और वहां जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बने। समाजवादी लोकसत्तात्मक दल को चोट तो जोर की पहुंची, मगर वह जिन्दा बच रहा और आगे चलकर फिर जोर पकड गया। बिस्मार्क का आतकवाद उसे मार न सका, कामयाबी और भी नुक़सानदेह साबित हुई! इस दल की ताकत बढ़ती गई और इसका सगठन बहुत बडा हो गया। इसकी बडी भारी सम्पत्ति बन गई और हजारो वैतनिक कार्यकर्त्ता होगये। जब किसी व्यक्ति या सगठन के पास धन हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नहीं रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल का भी यही हाल हुआ। मगर इसका हाल फिर कहूंगा।

बिस्मार्क की राजनैतिक चालाकी ने अख़ीर तक उसका साथ नहीं छोडा और वह अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में खासतौर पर हिस्सा लेता रहा। यह राजनीति उस समय भी थी और अब भी उसी तरह साजिश, धोखाधडी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाल है जो छिपकर बिछाया जाता है। अगर यह सब खुले तौरपर हो तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकता। इसका नतीजा अक्सर जबर्दस्त जग होता है। फिर भी ताज्जुब है कि लोग इन खुफिया और खौफनाक खेलो को कैसे बर्दाश्त करते हैं! बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर तीन राष्ट्रों का एक मित्रदल (Triple Alliance) बनाया, क्योंकि अब उसे फ़्रास वालों के बदला लेने का खौफ होने लगा था। इस तरह दोनों तरफ हथियार जमा करने, साजिश रचने और एक-दूसरे पर आंखें निकालने का काम जारी रहा।

१८८८ ई० में एक युवक सम्राट विल्हम द्वितीय के नाम से जर्मनी का क़ैसर हुआ। वह अपनेको बहुत जोरदार आदमी समझता था और जल्द ही बिस्मार्क से

लड़ पड़ा। उस जबरदस्त प्रधानमत्री को बुढ़ापे में बर्ख़ास्त करके घर बिठा दिया गया। यह उसे बहुत बुरा लगा। उसके आँसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिंस' यानी 'राजकुमार' का ख़िताब दिया गया, मगर राजाओ के बारे में उसका भ्रम दूर होगया और वह ग्लानि के मारे अपनी जागीर में एकान्तवास में चला गया। उसने एक दोस्त से कहा—'मैंने जब काम सम्हाला था उस वक्त मेरा दिल राजावादी भावनाओं से भरा था और उसमें राजाओ का बड़ा आदर था। लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम होगया कि इन भावनाओ का ख़ज़ाना खाली होता जा रहा है। मैंने तीन राजा नगी सूरत में देख लिये और तीनो ही दृश्य सुहावने नहीं लगे!"

यह बदमिज़ाज बूढा कई वर्ष और जिया और १८९८ ई० में ८३ वर्ष की उम्र में मरा। कैसर के हाथो बर्ख़ास्त होजाने और मौत के बाद भी उसकी परछाई जर्मनी पर बनी रही और उसके वारिसो में उसकी भावना क़ायम रही। मगर उसके बाद के आदमी उससे छोटे आदमी थे। आज जर्मनी में प्रजातन्त्र राज्य है, फिर भी वहाँ बिस्मार्क की पुरानी भावना दिखाई देती है।

: १२६ :

कुछ प्रसिद्ध लेखक

१ फरवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे ख़याल आया कि मैंने उन्नीसवीं सदी के शुरू के जर्मनी के सबसे बड़े आदमी का कुछ भी हाल तुम्हें नहीं बताया है। यह आदमी गेटे था। यह एक मशहूर लेखक था। कुछ ही महीने पहले इसकी मौत को सौ वर्ष पूरे हुए थे; उस वक्त सारे जर्मनी में इसकी मौत का दिन मनाया गया था। मुझे यह खयाल भी आया कि तुम्हें उस वक्त के सभी मशहूर यूरोपियन लेखको का थोड़ा-थोड़ा हाल क्यो न बता दूं। मगर मेरे लिए यह ख़तरनाक विषय है—ख़तरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान प्रकट होगा। सिर्फ मशहूर नामो की फेहरिस्त देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज्यादा कहना मुश्किल पडेगा। अंग्रेज़ी साहित्य का ही मेरा ज्ञान थोड़ा-सा है, फिर दूसरे यूरोपियन साहित्यो के बारे में तो मेरी जानकारी थोडे-से अनुवादो तक ही महदूद है। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर कुछ लिखने का विचार तो मेरे दिल में बैठ चुका था और उससे किसी तरह पिण्ड छूट नहीं सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मैं कम-से-कम यह दिशा दिखाभर दूं, भले ही इस दिलकश दुनिया में बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न

दे सकूँ। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना पता चलता है, जन-समूह के ऊपरी कार्यों से उतना नहीं चलता। कला और साहित्य हमें शान्त और गभीर विचार के मैदान में पहुँचा देते हैं, जहाँ समय-विशेष के राग-द्वेष की गुजर ही नहीं होती। मगर आज शायद ही कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक (पैग़म्बर) समझा जाता है और उनकी इज्जत भी बहुत कम होती है। अगर उनकी कुछ इज्जत होती भी है तो वह आम तौर पर उनके मरने के बाद होती है।

तो मैं तुम्हे सिर्फ थोड़े-से नाम बताऊँगा। इनमें से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मैं उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूँगा। यह सिर्फ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रखना, योरप के कई देशो के साहित्यो में उन्नीसवीं सदी की बढिया रचनाओ के ख़ज़ाने भरे हुए है।

असल में तो गेटे अठारहवीं सदी का आदमी था, क्योंकि उसका जन्म १७४९ ई० में हुआ था, मगर उसने ८३ वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इस कारण उसने अगली सदी के तिहाई भाग को भी देखा था। वह यूरोपियन इतिहास के एक बडे ही तूफानी ज़माने में होकर गुज़रा था और उसने अपने देश को नेपोलियन की फौजो से पामाल होते हुए अपनी आँखो देखा था। उसे अपनी ज़िन्दगी में भी बहुत सदमे पहुँचे थे, लेकिन धीरे-धीरे उसने ज़िन्दगी की मुश्किलात पर अन्दरूनी फतह और इतनी अनासक्ति (अलहदगी) और सजीदगी पाली थी कि उसे शान्ति मिल गई। नेपोलियन उससे पहलेपहल उस वक्त मिला जब उसकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाजे में खडा था तो उसकी शक्ल-सूरत में कुछ ऐसी निश्चिन्तता और गौरव दिखाई दिया कि नेपोलियन के मुँह से निकल पड़ा . "आदमी तो यह है!" उसने कई चीजो में हाथ डाला, और जो-कुछ किया उसीमें चमक उठा। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार और कई मुख्तलिफ इल्मो में दिलचस्पी रखने-वाला वैज्ञानिक था। इन सबके ऊपर, वह एक छोटे-से जर्मन राजकुमार के दरबार में मत्री था। हमारे लिए उसकी सबसे ज्यादा शोहरत लेखक के रूप में है और उसकी सबसे मशहूर किताब 'फाउस्ट' है। उसकी ज़िन्दगी में ही उसको ख़ूब शोहरत होगई थी और साहित्य के क्षेत्र में वह अपने देशवासियो की नज़रो में देवता की तरह माना जाने लगा था।

गेटे के वक्त में शिलर नाम का एक और जर्मन लेखक था। वह उम्र में उससे कुछ छोटा था, मगर वह भी एक बहुत बड़ा कवि था। उससे कहीं छोटा हीनरिश था। वह भी जर्मन भाषा का महान् और उत्कृष्ट कवि था। उसने बहुत ही सुन्दर

गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हीन—ये तीनो पुराने यूनान की ऊँची सस्कृति में डूबे हुए थे।

जर्मनी बहुत जमाने से दार्शनिको यानी फिलासफरो का देश करके मशहूर रहा है और मै भी तुम्हे एक-दो के नाम बता सकता हूँ, गो कि तुम्हें उनमें ज्यादा दिलचस्पी न होगी। जिन लोगो को इस विषय की लगन हो उन्हींको उनके ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ, क्योकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इन दार्शनिकों से आनद और उपदेश मिलता है, क्योकि उन्होने विचार का दीपक जलता हुआ रक्खा था और उनके जरिये विचारो के विकास का सिलसिला समझ में आ सकता है। अठारहवीं सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक जिन्दा रहा। उस वक्त उसकी उम्र ८० वर्ष की थी। इस दिशा में दूसरा बडा नाम हेगल का है। वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारो का बहुत असर पडा था। यह तो दार्शनिको की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालो में कवियो का झुण्ड-का-झुण्ड, खास तौर पर इंग्लैण्ड में, पैदा हुआ। रूस का सबसे मशहूर राष्ट्रीय कवि पुश्किन उसी वक्त हुआ। वह द्वन्द्वयुद्ध में जवानी में ही मारा गया। फ्रांस में भी कई कवि हुए, लेकिन मै सिर्फ दो के ही नामो का जिक्र करूँगा। एक तो विक्टर ह्यूगो था। उसका जन्म १८०२ ई० में हुआ था। उसने भी गेटे की तरह ८३ वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह वह भी अपने देश में साहित्य-क्षेत्र में देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ दोनो ही रूप में उसकी जिन्दगी बदलती रही। शुरू में वह पक्का राजवादी रहा और निरकुश शासन-प्रणाली में उसका विश्वास-सा जम गया था। धीरे-धीरे बदलता-बदलता १८४८ ई० में वह प्रजातन्त्रवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन दूसरे अल्पजीवी प्रजातन्त्र का अध्यक्ष हुआ, तो विक्टर ह्यूगो को प्रजातन्त्रवादी ख़यालात के कारण जलावतन कर दिया। १८७१ ई० में विक्टर ह्यूगो ने पेरिस के पंचायती राज्य की तरफदारी की। एकदम पुराने विचारो से सरकता-सरकता वह धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से उग्र समाजवाद तक पहुँच गया। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ अनुदार और प्रतिगामी बनते है। लेकिन ह्यूगो ने उलटी ही बात की।

मगर हमारा वास्ता तो यहाँ विक्टर ह्यूगो से लेखक के रूप में है। वह कवि, उपन्यास-लेखक और नाटचकार था। और तुम्हे उसका नाम जरूर अच्छी तरह मालूम होगा, क्योकि उसके एक उपन्यास 'ला मिजरेवल' ('अभागा')को, मैने सुना है, सिनेमा-फिल्म भी बन गई है।

दूसरा नाम, जिसका मैं तुमसे जिक्र करूँगा, आँरे द बालज़ेक का है। वह विक्टर-ह्यूगो का समकालीन था, मगर उसमें उससे बड़ा फ़र्क था। यह ग़ज़ब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बहुत-से उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियों का एक-दूसरे से ताल्लुक है। वे ही पात्र अक्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों में अपने समय की सारी फ्रांसीसी ज़िन्दगी की तस्वीर दिखा देना था और उसने सारी ग्रन्थमाला का नाम (La Comedie Humaine) यानी 'मानवता का प्रहसन' रक्खा। यह कल्पना तो बड़े हौसले की थी और उसने मेहनत भी ख़ूब ज़बरदस्त और लम्बी की, मगर उसने जो ज़बरदस्त काम उठाया था उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालों में इंग्लैण्ड में तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियों के नाम खास तौर पर सामने आते हैं। वे सब समकालीन थे और तीनों एक-एक करके तीन साल के अन्तर से मर गये। ये तीनों कीट्स, शेली और बायरन थे। कीट्स को ग़रीबी से ख़ूब लड़ना पड़ा और उसका दिल तोड़ने में भी कसर नहीं रक्खी गई और जब १८२१ ई० में २६ वर्ष की उम्र में रोम में उसकी मृत्यु हुई तो उसकी बहुत कम लोगों को ख़बर हुई। फिर भी उसने कुछ कवितायें तो बहुत ही सुन्दर लिखी थीं। कीट्स मध्यमवर्ग का आदमी था, और दिल्लगी तो यह है कि अगर उसके रास्ते में भी धनाभाव या ग़रीबी की रुकावट हुई तो ग़रीबों के लिए कवि और लेखक बनना और भी कितना कठिन होना चाहिए। दरअसल केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी साहित्य के वर्तमान अध्यापक ने इस बारे में कुछ बातें बहुत ठीक कही हैं। वह कहते हैं :—

> "यह निश्चित है कि हमारे साम्राज्य के किसी दोष के कारण इन दिनों ही नहीं, पिछले दो सौ वर्ष में भी निर्धन कवि को इतना भी मौका नहीं मिला है जितना एक कुत्ते को मिल जाता है। मेरी बात पर विश्वास करो, क्योंकि मैंने दस वर्ष का बड़ा भाग कोई तीनसौ बीस प्राइमरी पाठशालाओं के मुआयने में लगाया है। हम लोकसत्ता की बकवास भले ही करें, मगर असल में इंग्लैण्ड में एक ग़रीब बालक को एथेन्स के गुलाम के लड़के से ज्यादा उम्मीद इस बात की नहीं हो सकती कि जिस दिमाग़ी आज़ादी में महान् ग्रंथों का जन्म होता है उसमें वह भी कभी पहुँच जायगा।"

मैंने यह उद्धरण इसलिए दिया है कि कहीं तुम यह न भूल जायें कि कविता और सुन्दर लेखन तथा संस्कृति पर आम तौर से सम्पन्नवर्ग का ही एकाधिकार होता है। ग़रीब के झोंपड़े में काव्य और संस्कृति की कहाँ गुंजायश? ये चीज़ें कहीं भूखे पेटवालों के लिए होती हैं? इस तरह हमारी आजकल की सभ्यता धनिक-मानस का

प्रतिबिम्ब (परछाईं) बन जाती है। जब समाज-व्यवस्था बदल जाती है और वह मजूरों के हाथ में आ जाती है तब संस्कृति की सूरत भी बहुत बदल सकती है, क्योंकि उस वक्त उन्हे सस्कृति का शौक़ करने का मौक़ा और अवकाश मिल जाता है। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियट रूप में हो रहा है और दुनिया उसे दिल-चस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात साफ हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियो से हिन्दुस्तान में संस्कृति की जो बडी दरिद्रता दिखाई दे रही है उसका कारण हमारी निहायत ग़रीबी है। जिन लोगो के पास खाने को भी नहीं है उनसे संस्कृति की बातें करना उनकी तौहीन करना है। ग़रीबी की यह मार उन थोडे-से वर्गों पर पड़ती है जो क़िस्मत से औरो के मुक़ाबिले में सम्पन्न है और इस तरह बदक़िस्मती से हिन्दुस्तान के इन वर्गों में भी सभ्यता की आज बहुत ज्यादा कमी है। विदेशी राज्य और सामाजिक गिरावट से कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती है! मगर इस चारो तरफ फैली ग़रीबी और असभ्यता में भी हिन्दुस्तान गाँधी और रवीन्द्रनाथ-ठाकुर जैसी विभूतियाँ और संस्कृति के शानदार नमूने पैदा कर सकता है।

मै अपने विषय से दूर चला गया।

शेली बडा प्रेम करने लायक़ इनसान था। जवानी के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर जगह और हर बात में आजादी का हिमायती था। 'नास्तिकता की जरूरत' (The Necessity of Atheism) के ऊपर मजमून लिखने के कारण उसे आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियो के योग्य समझा जाता है, उसने भी कीट्स की तरह अपनी छोटी-सी जिन्दगी कल्पना और उड़ान में ही बिता दी और दुनियावी मुश्किलात की कुछ भी परवा न की। कीट्स के मरने के एक साल बाद वह भी इटली के समुद्रतट के पास डूबकर मर गया। उसकी मशहूर कवितायें तुम्हें मै क्या बताऊं? तुम खुद उन्हें आसानी से ढूँढ निकालोगी। लेकिन उसकी छोटी कविताओ में से एक तुम्हारी नजर करूँगा। यह उसकी उत्तम रचनाओ में से हरगिज नहीं है, लेकिन इससे यह जाहिर होता है कि हमारी मौजूदा सभ्यता में ग़रीब मजदूर की कैसी बुरी हालत होती है। उसका क़रीब-करीब वही बुरा हाल है जो पुराने जमाने में ग़ुलामो का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा होगये। मगर यह आज की परिस्थिति पर वैसी ही लागू होती है। यह अराजकता का बुर्क़ा (The Mask of Anarchy) के नाम से मशहूर है।

"स्वतन्त्रता क्या है? तुम यह तो भलीभाँति बता सकते हो कि ग़ुलामी

कैसी चीज है, क्योकि उसके और तुम्हारे नाम की आवाज़ एक-सी निकलती है ।

इसका मतलव यह है कि तुम इस तरह और इतनी-सी मज़दूरी लेकर काम करते रहो जिससे तुम्हारे प्राण शरीर मे टिके रहे और ज़ालिमो का काम करने के लिए कालकोठरी में पडे रहे, उनकी रक्षा और पुष्टि के लिए तुम करघे, हल, तलवार और फावडे का काम देते रहो और इच्छा या अनिच्छा-पूर्वक तुम उनके सामने झुके रहो ।

इस गुलामी का यह भी अर्थ है कि तुम्हारे वच्चे कमजोर रहे और उनकी मातायें सूखकर कांटा हो जायें और जाडे की ठडी हवा चले तो वे ठड की मारी ठिठुरती रहे । जिस समय मे वोल रहा हूँ, उस समय वे मर रही हे ।

तुम्हे उस खूराक के लिए तरसते रहना है जो अमीर अपने भोग-विलास मे उन्मत्त होकर अपने मोटे-ताज़े कुत्तो को अजीर्ण होने पर भी डाल देते है ।

तुम्हे तो आत्मा से भी दास वन जाना है, ताकि तुम्हे अपने इरादो पर कोई प्रवल अधिकार न हो और तुम्हे वैसा ही वनना पडे जैसा कि दूसरे चाहते है ।

और अन्त में जव तुम दुर्वल और व्यर्थ पुकार करो तो ज़ालिमो के आदमी तुमपर और तुम्हारी स्त्रियो पर हमला करके ओस की तरह घास पर खून ही खून विछा दें ।"

बायरन ने भी स्वतत्रता की तारीफ में उम्दा कवितायें लिखी हे । मगर यह स्वतत्रता राष्ट्रीय है, शेली की कविता की तरह आर्थिक नहीं है । जैसा मं तुम्हे बता चुका हूँ, वह शेली के दो वर्ष बाद तुर्की के खिलाफ यूनान की कौमी आज़ादी की लडाई में मारा गया । मुझे इनसान की हैसियत से वायरन से नफरत है, मगर मुझे उसके साथ इसलिए हमदर्दी है कि वह मेरे हैरो के स्कूल और केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पढ़ा था । कीट्स और शेली को यह बात नसीव नहीं हुई थी, मगर बाय-रन की जवानी में ही शोहरत होगई थी । लन्दन के समाज ने उसे सिर पर भी विठाया और फिर नीचे भी पटक दिया ।

इसी जमाने के आसपास दो और मशहूर कवि होगये । वे दोनो इस युवा त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये । वर्ड्सवर्थ ने १७७० से १८५० तक अस्सी साल की उम्र पाई । उसकी महान् अग्रेजी कवियो में गिनती है । उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका अधिकाश काव्य निसर्ग-काव्य है । मुझे भय है कि मे उसके भक्तो में नहीं हूँ । दूसरा कवि कालरिज था । उसकी कुछ कवितायें बहुत अच्छी है ।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन मशहूर उपन्यासकार भी होगये । वॉल्टर स्कॉट इनमें सबसे वडा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए । मे समझता हूँ तुमने इनमें से कुछ पढ़े हे । मं जब लड़का-सा था तव, ऐसा याद पड़ता है कि, ये

उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचि भी बदलती है और अगर मै आज उन्हे पढने बैठूँ तो अवश्य ऊब जाऊँगा। थैकरे और डिकेन्स दूसरे दो उपन्यासकार थे। मेरे ख़याल से ये दोनो स्कॉट से कहीं ऊँचे दर्जे के है। मुझे उम्मीद है तुम्हारी इन दोनो से दोस्ती होगी। थैकरे का जन्म १८११ में कलकत्ते में हुआ था और उसने पाँच-छ वर्ष वहीं विताये थे। उसकी कुछ पुस्तको में भारतीय नवावो का हूबहू बयान दिया गया है। ये वे अँग्रेज़ थे जो खूब दौलत जमा करके मोटे और लाल होजाते थे और फिर सुख भोगने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखको के बारे में बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बडे विषय के लिए यह बहुत थोडा है। कोई जानकार आदमी लिखता तो वह इस विषय पर बहुत सुन्दर लिख सकता था। वह तुम्हे उस ज़माने के सगीत और कला की भी अवश्य ही बहुत-सी बाते बता सकता था। इसमें जानने और कहने की ज़रूरत है, मगर यह मेरे बस की बात नहीं है। मेरे लिए तो हवा में न उड़कर ज़मीन पर चलने में ही खैर है।

मै इस ख़त को गेटे के 'फाउस्ट' नाम के ग्रन्थ में से एक कविता देकर पूरा कर देता हूँ। अलबत्ता यह जर्मन भाषा का अनुवाद है —

Alas, alas!
    Thou hast smitten the world,
    Thou hast laid it low,
Shattered, o'er thrown,
    Into nothingness hurld
    Crushed by a demi-god's blow!

We bear them away,
    The shards of the world,
We sing well a-day
    Over the loveliness gone,
    Over the beauty slain
Build it again,
    Great child of the Earth,
Build it again
    With a finer worth,
In thine own bosom build it on high!
    Take up thy life once more.
Run the race again!
    High and clear
Let a lovelier strain
    Ring out than ever before![1]

१ इसका हिन्दी भावार्थ अगले पृष्ठ पर देखिए :—

: १३० :

डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फरवरी, १९३३

कवियो से अब वैज्ञानिको के पास चले। मुझे भय है कि आज कवियो को निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन वैज्ञानिक तो आज के जादूगर ठहरे। उनका असर भी है और आदर भी। उन्नीसवीं सदी से पहले यह बात नहीं थी। शुरू की सदियो में वैज्ञानिक की जान योरप में सदा जोखिम में रहती थी और कभी-कभी उसे जिन्दा जला दिया जाता था। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि रोम के पादरियो ने जावर्दानो ब्रूनो को किस तरह जीते जी जला दिया था। सत्रहवीं सदी में थोडे ही वर्ष बाद गैलीलियो भी फांसी के क़रीब-करीब पहुँच गया था, क्योकि उसने यह कहा था कि ज़मीन सूरज के चारो तरफ घूमती है। वह धर्म के ख़िलाफ चलने के क़सूर में जला दिये जाने से इसलिए बच गया कि उसने धर्मगुरुओ से माफी माँग ली और अपनी पहले की बात वापस लेली। इस तरह योरप में सगठित मज़हब की विज्ञान के साथ कशमकश होती थी और नये ख़यालात को दबाने की कोशिश होती थी।

अफसोस! अफसोस!
तूने दुनिया को पीडित कर दिया है,
तूने उसे धूल मे गिरा दिया है,
तूने उसे अर्द्धदैवी आघातो से तोड दिया है,
और उसे जर्जर करके शून्य मे फेक दिया है।
हम उन्हे बर्दाश्त करके अन्यथा कर रहे है—
हम जो ससार के पुष्पपात्र (गमले) के छिद्र की ककडिया है।
जो मृदुलता नष्ट हो गई है, और
जिस सौन्दर्य का वध हो चुका है,
उसे हम गाते है।
ओ पृथ्वी के महान् पुत्र!
पुन इसका निर्माण करो।
इस वार सदुपयोग के लिए इसका निर्माण करो
अपने हृदय के अन्दर, ऊँचाई पर, उपका निर्माण करो।
एक वार फिर अपना जीवन धारण करके, और
उच्चता एव स्पष्टता के साथ मानव जाति को चलाओ।
आज अधिक सुन्दर स्वर का गुजन होने दो,
ऐसा, जैसा कभी सुनाई नही पडा है।

क्या योरप में और क्या और कही, सगठित मजहब के कई तरह के गढ़े-गढ़ाये कायदे होते हैं, जिन्हे उसके अनुयायियो को चू-चरा किये बिना मान लेना चाहिए, ऐसा समझा जाता है। विज्ञान का दृष्टिकोण जुदा ही है। वह किसी बात को यूँही नहीं मान लेता और न उसके कोई कट्टर सिद्धान्त होते है—कम-से-कम नहीं होने चाहिएँ। वह खुला दिमाग़ रखने की प्रवृत्ति को बढ़ाता है और बार-बार प्रयोग करके सत्य तक पहुँचना चाहता है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण साफ़ तौर पर जुदा है और इसलिए इन दोनो में अकसर कशमकश हो जाती थी तो कोई ताज्जुब की बात नहीं थी।

मेरा ख़याल है कि हर युग में अलग-अलग जातियो ने अलग-अलग तरह के प्रयोग किये है। कहा जाता है कि प्राचीन भारत में रसायनशास्त्र और जर्राही में काफी प्रगति हुई थी और यह बहुत-से प्रयोगो के बाद ही हो सका होगा। प्राचीन यूनानियो ने भी थोडे-बहुत प्रयोग किये थे। चीन वालों के बारे में तो कल ही मैंने अजीब हाल पढा है। उसमें २,५०० वर्ष पहले के चीनी लेखकों के उद्धरण देकर यह दिखाया गया है कि उन्हे विकासवाद का सिद्धान्त मालूम था, वे शरीर में खून का दौरा होने की बात जानते थे और चीनी जर्राह बेहोशी की दवा सुघाते थे। मगर हमें उस जमाने का इतना हाल मालूम नहीं है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सके। अगर पुरानी सभ्यता वालो ने ये तरीक़े खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हे क्यो भूल गये ? और उन्होने आगे और तरक्क़ी क्यो नहीं की ? या यह बात थी कि वे इस प्रकार की प्रगति को काफी महत्व नहीं देते थे ? सवाल तो बहुत-से और दिलचस्प उठते है, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नहीं है।

अरबो को भी प्रयोग करने का बहुत शौक़ था और मध्ययुग में योरप उनके पीछे-पीछे चलता था। मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढग पर नहीं होते थे। उन्हे हमेशा पारस पत्थर की तलाश रहती थी, जिससे मामूली धातुओं का सोना बन जाने का आम विश्वास था। लोग पेचीदा कीमियागिरी (रासायनिक) के प्रयोग में अपनी जिन्दगी बिता देते थे कि किसी तरह धातुओ को सोने में तब्दील कर देने का गुर हाथ लगे। इसे कीमिया कहते थे। उन्होंने 'अमृत' की खोज भी बडी मेहनत के साथ की। यह अमर होने की दवा थी। क़िस्से-कहानियो के बाहर और कहीं इसका उल्लेख नहीं पाया जाता कि किसीको इस अमृत या पारस पत्थर की प्राप्ति में सफलता मिली हो। यह सब असल में एक प्रकार से जादू-टोने का सहारा लेने की-सी बात थी और वह भी इस उम्मीद में कि धन, सत्ता और दीर्घ जीवन मिल सके। इससे विज्ञान की भावना का कोई वास्ता नहीं था। विज्ञान को जादू-टोने आदि से क्या सरोकार ?

हाँ, योरप में सचमुच वैज्ञानिक तरीक़ो का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास में जिन बडे-से-बडे आदमियो का नाम लिया जाता है उनमें आइज़क न्यूटन नामका अग्रेज भी एक था। यह १६४२ से १७२७ ई० तक जिन्दा रहा। न्यूटन ने पृथ्वी का आकर्षण-तत्त्व (कूवते कशिश) समझाया, यानी यह बताया कि चीजें गिरती क्यो है ? इसकी मदद से, और जो दूसरे तत्व मालूम हो चुके थे उनकी मदद से, न्यूटन ने सूर्य और दूसरे ग्रहो (सय्यारो) की चाल का भेद भी समझाया। छोटी-बडी सभी चीजो का उसके सिद्धान्तो से मेल वैठता हुआ दिखाई देने लगा और न्यूटन की वडी इज्जत हुई।

धर्म-सस्था की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके फैलाने वालो को जिन्दा जला देना मुमकिन नहीं था। अनेक वैज्ञानिकों ने बडे धीरज और परिश्रम से प्रयोग का काम जारी रक्खा और सच्ची और नई-नई वातें मालूम करके उन्हे जमा किया। ख़ासतौर पर इग्लैण्ड और फ्रास में, और आगे चलकर जर्मनी और अमेरिका में, यह काम अच्छा हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक जानकारी की मात्रा बढती गई। तुम्हे याद होगा कि अठारहवीं सदी में ही योरप के शिक्षितवर्ग में बुद्धिवाद (Rationalism) का प्रचार हुआ था। इसी सदी में रूसो, वॉल्टेयर और कई दूसरे काबिल फ्रासीसी हुए थे, जिन्होने तरह-तरह की किताबें लिखकर लोगो के दिमाग़ में उथल-पुथल मचादी। इसी सदी के गर्भ में फ्रास की महान् राज्य-क्राति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण का वैज्ञानिक दृष्टिविन्दु से मेल वैठ गया और दोनो में एक बात समान थी। वह यह कि दोनो धर्म-सस्था के कट्टर दृष्टिकोण के विरोधी थे।

मैं और बातो के साथ तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी विज्ञान की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति, कलो-सम्बधी कायापलट और ढुलाई के तरीक़ो में जो जबर्दस्त तब्दीलियाँ हुई थीं उन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानो के उत्पत्ति के साधन वदल गये थे, भाफ से चलनेवाली रेलगाडियो और जहाजो ने एकाएक दुनिया को छोटा बना दिया था और बिजली का तार तो और भी बडे ताज्जुब की चीज था। इग्लैण्ड की दूर-दराज सल्तनत के कोने-कोने से उसके यहाँ दौलत का दरिया बहने लगा। इससे पुराने खयालात को भारी धक्का लगना स्वाभाविक था और मजहब का असर अपनेआप कम होगया। खेती छोड-छोडकर लोग कारख़ानो में काम करने लगे और जमीन जोतने-बोने की देहाती जिन्दगी के ख़िलाफ कारख़ानो की जिन्दगी ने लोगो को मजबूर किया कि वे मजहबी मसलो की बनिस्बत आर्थिक मामलो पर ज्यादा ग़ौर करे।

उन्नीसवीं सदी के बीच में, यानी १८५९ ई० में, इंग्लैंड में एक किताब छपी, जिससे कट्टरता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कशमकश खूब बढ़ गई। यह किताब चार्ल्स डार्विन की 'प्राणी-समूहों की उत्पत्ति' (Origin of Species) थी। डार्विन की गिनती बहुत बड़े वैज्ञानिकों में नहीं है। उसने जो कुछ लिखा उसमें कोई बहुत नई बात नहीं है। डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-विद्या-विशारदों और पदार्थविज्ञानियों ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री जमा कर रक्खी थी। फिर भी डार्विन का ग्रंथ युग-प्रवर्तक था। इसका गहरा असर पड़ा और किसी दूसरी वैज्ञानिक पुस्तक की बनिस्बत इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने में ज्यादा मदद मिली। इससे लोगों के दिमाग में एक तरह का जलजला आगया और डार्विन मशहूर होगया।

पदार्थ-विद्या का अध्ययन करते हुए डार्विन दक्षिण अमेरिका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर खूब भटका था और सामग्री और प्रमाण भी उसने बड़ी तादाद में इकट्ठे कर लिये थे। उनका इस्तेमाल करके उसने यह दिखाया कि हरेक पशु-जाति एक दूसरे में कुदरती तौर पर मिलकर किस तरह परिवर्तन और विकास कर चुकी है। उस समय तक बहुत लोगों का यह खयाल था कि इनसान और दूसरे सब तरह के प्राणियों को ईश्वर ने अलग-अलग बनाया है। और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे हैं और उनमें कोई तब्दीली नहीं हुई है। कहने का मतलब यह है कि एक प्राणी-समूह दूसरा नहीं बन सकता। डार्विन ने ढेर-की-ढेर सच्ची मिसालें देकर साबित कर दिया कि ये समूह आपस में अवश्य बदलते हैं और विकास का यही साधारण ढंग है। ये तब्दीलियाँ कुदरती तौर पर एक-दूसरे से मिल जाने की प्रवृत्ति से होती हैं। अगर किसी छोटे-से परिवर्त्तन से किसी समूह को कुछ भी लाभ हो गया या दूसरों के मुक़ाबिले में जीवित रहने से मदद मिल गई तो वह परिवर्त्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योंकि यह जाहिर है कि इस बदले हुए समूह के प्राणी ज्यादा जियेंगे। कुछ समय बाद इस बदले हुए समूह की अधिकता हो जायगी और वह दूसरे समूह का सफाया कर देगा। इस तरीके से एक के बाद दूसरे परिवर्तन होते चले जायेंगे और थोड़े समय बाद लगभग नया समूह बन जायगा। समय पाकर क़ुदरती तौर से मिलने के नियम के अनुसार अपेक्षाकृत बलवान समूह जीवित रहते जायेंगे और कमजोरों का नाश होता जायगा और इस क्रिया के कारण बहुत-से नये-नये समूह पैदा होते रहेंगे। यह नियम पौधों, जानवरों और आदमियों तक पर लागू होगा। इस उसूल के मुताबिक मुमकिन है जो तरह-तरह के वनस्पति और प्राणी-समूह आज दिखाई दे रहे हैं उन सबका कोई एक ही पुरखा रहा हो।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन की दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंश' (The Descent

of Man) के नाम से प्रकाशित हुई। उसमें उसने यही उसूल इनसान पर लागू करके दिखाया। विकास और प्राकृतिक चुनाव का यह विचार अब ज्यादातर लोगो ने मान लिया है, हालाँकि ठीक उसी तरह तो नहीं माना है जिस तरह डार्विन और उसके अनुयायियो ने पेश किया है। असल में तो चुनाव के इस उसूल का इस्तेमाल करना लोगो के लिए बिलकुल मामूली बात है। इन्हीं बनावटी उपायो से जानवरो की नस्ल का सुधार किया जाता है। आजकल के बहुत से बढिया-से-बढिया जानवर और पौधे बनावटी उपायो से पैदा की हुई नई जातिया ही तो है। अगर इनसान थोडे-से वक्त में इस तरह की तब्दीलियां और नई-नई जातियां पैदा कर सकता है तो लाखो और करोडो वर्ष के दरमियान क़ुदरत क्या-क्या नहीं कर सकी होगी ? लन्दन के दक्षिण केनसिंगटन के सग्रहालय जैसे किसी अजायबघर को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी लगातार अपनेको प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे है।

हमें चूकि ऐसे विचारो की आदत-सी पड गई है, इसलिए हमें कोई प्रमाण देने की जरूरत दिखाई नहीं देती। लेकिन ७० वर्ष पहले ये विचार इतने स्वय-सिद्ध नहीं थे। उस वक्त ज्यादातर लोगो का यही विश्वास था कि बाइबिल में लिखे मुताबिक दुनिया की उत्पत्ति को ईसामसीह से पहले पूरे चार हजार चार वर्ष हुए थे और हरेक पेड और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अत में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि बाढ़ आई थी और नूह की नाव में सारे जानवरो के जोडे इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी जाति का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के सिद्धान्त से मेल नहीं खातीं। डार्विन और भूगर्भ-विद्या-विशारद लोग जब पृथ्वी की उम्र का ज़िक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय लाखो वर्ष की बात करते थे। इस तरह लोगो के दिमाग़ में एक ज़बरदस्त उथल-पुथल मची हुई थी और बहुतसे भले आदमियो को यह नहीं जान पडता था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हें एक बात मानने को कहती थी और उनकी बुद्धि दूसरी। जब इनसान कुछ उसूलों में अन्ध-विश्वास रखने लग जाते है और उन विश्वासो को धक्का लगता है तो वे अपनेआपको दु खी और असहाय समझ बैठते है और खडे होने को उन्हें कहीं पक्की धरती दिखाई नहीं देती। मगर जिस धक्के से हमें सत्य का ज्ञान हो, वह अच्छा ही है। हम हिन्दुस्तानियों को भी ऐसे धक्के की जरूरत है।

यों इग्लैण्ड और योरप के दूसरे देशों में विज्ञान और धर्म के बीच बडी हुज्जत और कशमकश हुई। इसका नतीजा क्या होता, इसमें तो शुबहा ही नहीं हो सकता था। उद्योग और मशीन की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था। इस कारण

विज्ञान तो निकम्मी चीज समझकर फेंका नहीं जा सकता था। विज्ञान की बराबर जीत होती चली गई। प्राणियो के एक-दूसरे में अपने-आप मिल जाने और दूसरो के मुकाबिले में योग्यतम जीवो के बच रहने की बाते आम लोगो की जबान पर हो गई, भले ही वे पूरी तरह यह न समझते हो कि जो लफ्ज वे इस्तेमाल कर रहे है उनका क्या अर्थ है। डार्विन ने अपनी 'मनुष्य के वंश' (Descent of Man) नाम की किताब में यह बताया था कि शायद इनसान और कुछ बन्दर जातियो का पूर्वज एक ही हुआ होगा। यह बात विकास-क्रिया की बीच की अलग-अलग मंजिले दिखाकर कई मिसालो से साबित नहीं की जा सकी। इसीसे बन्दर की शकल के आदमियो को 'खोई हुई कडी' कहकर आम लोगो में मजाक़ चल पडा। और ताज्जुब की बात तो यह हुई कि शासकवर्ग ने भी डार्विन के उसूल को तोड़-मरोडकर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास होगया कि इस उसूल से उनके बडप्पन या उच्चता का एक प्रमाण और मिल गया। यह साबित हो गया कि जिन्दगी की लड़ाई में वे सबसे काबिल थे, इसीलिए बच रहे और इस तरह 'प्राकृतिक चुनाव' से वे ऊपर आगये और शासकवर्ग बन गये। एक वर्ग के दूसरे वर्ग पर और एक जाति के दूसरी जाति पर प्रभुता रखने के पक्ष में यह एक दलील बन गई। साम्राज्यवाद और गोरी जातियो के सबसे ऊँचे होने के अधिकार की यह आखिरी दलील होगई। और पश्चिम के बहुत लोग सोचने लगे कि वे दूसरो पर जितनी धौंस रक्खेंगे और जितने बेरहम और ताक़तवर बनकर रहेगे उतनी ही मनुष्य के रूप में उनकी क़ीमत और इज्जत बढेगी। यह कोई सुहावना तत्त्वज्ञान नहीं है, मगर इससे एशिया और अफरीका में पश्चिम की साम्राज्यवादी कौमो ने जैसे शर्मनाक काम किये है उनका अर्थ कुछ-कुछ समझ में आजाता है। डार्विन के उसूल का साम्राज्यवादियो ने जो मतलब किया है उसके मुताबिक तो चगेजखाँ को उसके जमाने की संस्कृति का बढिया-से-बढिया नमूना मानना होगा, क्योकि उसने एशिया और योरप को क़ब्जे में करके उनका खासा हिस्सा बर्बाद कर दिया था, अथवा यूँ कहो कि अटिला के हूण अनुयायी अपने जमाने के आदर्श लोग थे। आज भी पश्चिम के कुछ लोग इन मुक़ाबिलों को मानकर उनपर अमल करने को तैयार है।

आगे चलकर दूसरे वैज्ञानिको ने डार्विन के उसूलो की टीका की है, लेकिन उसके सामान्य विचार आज भी मानें जाते है। उसके उसूलो को आम तौर पर मान लेने का एक नतीजा यह हुआ कि लोगों का प्रगति के विचार में विश्वास होगया। इस विचार का यह अर्थ था कि सारा संसार या मनुष्य और समाज पूर्णता की ओर तेज़ी से बढ़ रहे है और दिन-दिन सुधरते जा रहे है। प्रगति की यह कल्पना डार्विन

के सिद्धान्त का ही नतीजा था। वैज्ञानिक आविष्कार के सारे प्रवाह और औद्योगिक क्रान्ति के जरिये और उसके बाद होनेवाली तब्दीलियों ने लोगो को इसके लिए मन-ही-मन तैयार कर दिया था। डार्विन के उसूल से इस मामले पर सबका ध्यान खिच गया और लोग ऐसी कल्पना करने लगे कि मानवीय पूर्णता का ध्येय कुछ भी हो, मगर वे विजय-पर-विजय हासिल करते हुए ऊँचा सिर करके उसकी तरफ तेजी से बढ रहे है। यह मजे की बात है कि तरक्की की यह कल्पना नई थी। गुजरे हुए जमाने में योरप, एशिया या पुरानी किसी सभ्यता में भी ऐसी कोई कल्पना नहीं हो, यह नहीं दीखता। योरप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति के वक्त तक लोग भूतकाल को यो ही आदर्श काल समझते थे। बाद के युगो से प्राचीन यूनान और रोम का जमाना अधिक बढिया, उन्नत और सभ्य माना जाता था। जाति दिन-दिन बिगडती और नष्ट होती जा रही थी, ऐसा लोगो ने समझ लिया, या, कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान में भी बहुत-कुछ यही खयाल है कि पुराने जमाने में 'राम-राज' था और फिर बिगडते-बिगडते आज की हालत होगई है। भारतीय पुराण भी भूगर्भ-विद्या की भाति समय की गिनती लाखो वर्ष के युगो से करते है। परन्तु वे हमेशा सत-युग के महान् काल से शुरू करके वर्तमान बुरे जमाने कलियुग में समाप्त करते है।

तो हमने देख लिया कि इनसानी तरक्की का ख़याल बिलकुल नया ख़याल है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है उससे हमें इस खयाल में यक़ीन होता है। लेकिन हमारा इल्म अभी बहुत महदूद है और मुमकिन है हमारा ज्ञान बढने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इस 'प्रगति' की बाबत जितना उत्साह था उतना तो आज भी नहीं रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बरबाद करें तब तो ऐसी प्रगति में कोई-न-कोई खराबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के योग्यतमय प्राणी के बच रहने के उसूल का मतलब यही नहीं है कि अच्छे-से-अच्छे जीव जिन्दगी की कशमकश में कामयाब होते है। ये सब तो पण्डितो के अनुमान की बातें है। हमारे ध्यान में रखने की बात सिर्फ यह है कि ससार के स्थिर रहने, उसमें कोई तब्दीली न होने या समाज के बिगडते जाने का जो पुराना और व्यापक विचार था उसे उन्नीसवीं सदी में आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह खयाल फैल गया कि समाज में तेजी की हरकत होती है और वह बराबर बदलता रहता है। समाज बराबर प्रगति कर रहा है, यह ख़याल भी फैल गया।

बेशक इस जमाने में समाज में तब्दीली भी इतनी होगई है कि पहचान नही सकते।

जब मैं तुम्हे प्राणी-समूहो की पैदाइश का डार्विन का उसूल बता रहा हूँ तो तुम्हे यह जानकर भी खुशी होगी कि इस बारे में एक चीनी ने १,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम सोन-ले था और उसने ईसा के छ सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आसपास, लिखा था—"सब जीवो की उत्पत्ति एक ही जाति से हुई है। इस अकेली जाति में बहुत-से धीरे-धीरे और लगातार परिवर्तन हुए और फिर अलग-अलग प्रकार के सारे जीव पैदा हुए। इन जीवो में तुरत भिन्नता नहीं हुई थी, बल्कि इसके खिलाफ उनमें पीढी-दर-पीढी धीरे-धीरे परिवर्तन होकर भेद हुए थे।" यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है और ताज्जुब की बात है कि इस पुराने चीनी जीव-शास्त्री नें ऐसा नतीजा निकाल लिया था जिसकी फिर से खोज करने में ससार को ढाई हजार साल लगे।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई, वैसे-वैसे तब्दीलियो की रफ्तार भी खूब तेज होती गई। विज्ञान नें एक-से-एक हैरतअगेज बात की और मुख्तलिफ खोजो और ईजादों का कभी खतम न होनेवाला सिलसिला देखकर लोगो की आँखो में चकाचौंध होगई। इनमें से तार, टेलिफोन, मोटर और आखिर हवाई जहाज जैसी कितनी ही ईजादो से लोगो की जिन्दगी में बडी तब्दीली होगई है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सो को नापने की हिम्मत की। विज्ञान से मनुष्यो की एक ही तरह की मेहनत में कमी होगई और जिन्दगी में लाखो को थोडा-बहुत आराम मिलने लग गया। विज्ञान के कारण दुनिया की, खासकर औद्योगिक देशों की, आबादी खूब बढ़ गई। साथ ही, विज्ञान से सम्पूर्ण नाश के साधनो का भी विकास हुआ। मगर इसमें विज्ञान का दोष नही था। इसका काम प्रकृति पर मनुष्य की प्रभुता बढाते जाना था। वह काम यह करता रहा। मगर आदमी कुदरत पर काबू पाकर अपनेपर काबू रखना भूल गया। इसलिए वह अकसर भूल करता और विज्ञान की देन को बरबाद करता रहा। लेकिन विज्ञान विजयी होकर बराबर तेजी से आगे बढता गया और उसने डेढसौ साल के भीतर दुनिया की पहले के हजारो वर्ष से भी ज्यादा कायापलट कर दी। सचमुच विज्ञान ने दुनिया की जिन्दगी की हर दिशा और हर हिस्सो में क्रान्ति करदी है।

अब भी विज्ञान की कूच जारी है और इसकी रफ्तार दिन-दिन तेज दिखाई देती है। इसे कोई चैन नहीं है। एक रेलवे बनती है, मगर जबतक उसके चालू होने का वक्त आता है तबतक वह पुरानी भी पड जाती है। एक मशीन खरीद कर खडी करते है कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा काम

देनेवाली दूसरी मशीनें बनने लगती है। इस तरह यह पागलों की-सी दौड चल रही है। अब हमारे जमाने में तो भाफ की जगह बिजली लेती जारही है और इस तरह उतनी ही बडी क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ़ सदी पहले औद्योगिक क्रान्ति हुई थी।

विज्ञान के बेशुमार राजमार्ग और गली-कूचे होगये है और उनमें बेशुमार वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बराबर काम कर रहे है। आज इनमें सबसे बडे का नाम एल्बर्ट आइस्टीन है। इस महापुरुष ने कुछ हदतक न्यूटन के मशहूर उसूल में भी सशोधन कर डाला है।

हाल ही में विज्ञान में इतनी जबरदस्त तरक्की हुई है और वैज्ञानिक उसूलो में इतनी जबरदस्त तब्दीलियां और सुधार हुए है कि खुद वैज्ञानिक भी हैरतजदा होगये। अपनी बात के पक्की होने का उनका सारा पुराना आत्म-विश्वास और घमण्ड जाता रहा। अब वे अपने नतीजो के बारे में और भविष्य-वाणी करने में हिचकते है।

मगर यह बात बीसवीं सदी और हमारे अपने वक्त में पैदा हुई है। उन्नीसवीं सदी में पूरा-पूरा आत्म-विश्वास था। और विज्ञान अपनी असख्य विजयो के गर्व में लोगो के सिर पर जा बैठा था और उन्होंने इसे देवता समझकर इसके सामने सिर झुका दिया था।

: १३१ :

लोकतंत्र की प्रगति

१० फरवरी, १९३३

पिछले खत में मैंने तुम्हे उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हम इस सदी के दूसरे पहलू—लोकसत्तात्मक विचारों के विकास—को देखें।

तुम्हें याद होगा कि मै तुम्हें अठारहवीं सदी के फ्रास के खयालात की कशमकश का हाल बता रहा था। उस वक्त के सबसे बडे विचारक और लेखक वाल्टेयर और दूसरे फ्रांसीसी महापुरुषो ने धर्म और समाज के कितनें ही पुरानें खयालात को चुनौती दी थी और साहस के साथ नये उसूलों को साबित किया था। उस वक्त इस तरह राजनैतिक विचार करने का काम ज्यादातर फ्रास में महदूद था। जर्मनी में तत्त्वेत्ता थे, मगर उनकी दिलचस्पी तत्त्वज्ञान के गहरे सवालो में ज्यादा थी। इग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहा था और ज्यादातर लोगों को परिस्थिति से मजबूर हुए बिना सोचनें का शौक़ नहीं था। हां, अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में इग्लैण्ड में एक

मार्क्स की किताब जरूर छपी। यह एडम स्मिथ की 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) नाम की किताब थी। यह खालिस राजनैतिक किताब नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र की किताब थी। उस वक्त और सब विषयो की तरह इस विषय के साथ भी धर्म और नीति मिले हुए थे और इससे बडी गडबड मची हुई थी। एडम स्मिथ ने इस विषय का खुलासा वैज्ञानिक ढग से किया। उसने सारी नैतिक पेचीदगियो की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र पर असर डालनेवाले कुदरती कायदो को खोजने की कोशिश की। शायद तुम जानती होगी कि अर्थशास्त्र इस बात का विवेचन करता है कि समूचे मानव-समाज या किसी देश के आमद-खर्च का इन्तजाम कैसे किया जाता है, वे क्या पैदा और क्या खर्च करते है और उनके आपस में और दूसरे मुल्को और कौमो के साथ क्या ताल्लुक़ात होते हैं। एडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी पेचीदा बाते कुछ निश्चित कुदरती क़ायदो के मुताबिक होती है। अपनी किताब में उसने इन्हीं कायदो के बारे में लिखा है। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योगधधो की तरक्की के लिए पूरी तरह आजादी होनी चाहिए, जिससे इन नियमो में दस्तदाजी न हो। 'जैसा हो वैसा होने देने' का उसूल यहींसे चला। इसका कुछ जिक्र मै तुमसे पहले ही कर चुका हूँ। उस वक्त फ्रास में जो नये लोकसत्तात्मक ख़याल पैदा हो रहे थे उनसे एडम स्मिथ की किताब का कोई वास्ता न था। परन्तु उसने इनसानो और कौमो से ताल्लुक़ रखनेवाली एक बडी महत्वपूर्ण पहेली को वैज्ञानिक ढग से निरूपण करने की कोशिश जरूर की। इससे जाहिर होता है कि लोग हर चीज को पुरानी मजहबी दृष्टि से देखना छोडकर एक नई दिशा में जा रहे थे। एडम स्मिथ को अर्थशास्त्र का पिता समझा जाता है और उन्नीसवीं सदी के कितनी ही अग्रेज अर्थशास्त्रियो को उससे प्रेरणा मिली।

नया अर्थशास्त्र थोडे-से अच्छे पढ़े-लिखे आदमियो और प्रोफेसरो तक महदूद रहा। लेकिन इस बीच में नये लोकसत्तात्मक ख़याल फैल रहे थे और उन्हे अमेरिका और फ्रास की राज्य-क्रान्तियो से बडी भारी मदद और शोहरत हासिल हुई। अमेरिका की आजादी के ऐलान और फ्रास के अधिकारो की घोषणा के दिलचस्प लफ्जो और जुमलो से लोगो के दिलो पर गहरा असर पडता था। जो करोडो आदमी कुचले हुए पडे थे और जिनको चूसा जा रहा था उनके दिल इस दिव्यवाणी से फडक उठे और उन्हे उसमें अपने उद्धार का सदेश मिला। दोनो ऐलानो में आजादी, बराबरी और सबके सुखी रहने के हक़ का जिक्र था। इन कीमती हक़ो के जोरदार ऐलान से ही लोगो को ये हक़ नहीं मिल गये। आज इन घोषणाओ के डेढसौ वर्ष बाद भी बहुत कम लोगों के लिए कहा जा सकता है कि वे ये अधिकार भोग रहे हैं।

लेकिन इन उसूलो का ऐलान भी एक गैर-मामूली और जीवन देनेवाली बात थी। ऐसी बात पहले कभी नहीं हुई थी।

योरप में, और दूसरे देशो में भी, ईसाई और दूसरे मजहबो के मुताबिक पुरानी कल्पना यह थी कि पाप और दु:ख सभी इनसानो की क़िस्मत में लाज़िमी तौर से लिखा है। ऐसा मालूम होता था कि मजहब ने दुनिया में ग़रीबी और मुसीबत को सदा के लिए बरकरार कर दिया है और इज्जत की जगह पर रख दिया है। धर्म ने जिन पुरस्कारो और अच्छी बातो का वादा किया वे सब किसी दूसरी दुनिया में मिलने वाले थे। इस जन्म में तो हमें क़िस्मत के भरोसे जो हो उसीको बर्दाश्त कर लेनें का और कोई मौलिक तब्दीली न चाहने का ही उपदेश दिया गया। दान-पुण्य यानी गरीबो को टुकडे डाल देने की वृत्ति को बढाया गया, मगर गरीबी या ग़रीबी को पैदा करनेवाले तरीक़े को मिटाने की कोई कल्पना नहीं थी। बराबरी और आजादी के ख़याल ही धर्मसस्था और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के ख़िलाफ थे।

लोकसत्ता का यह तो कहना नहीं था कि सब इनसान दरअसल बराबर है। वह ऐसा कह भी नहीं सकती थी, क्योंकि इनसान-इनसान में फर्क साफ दिखाई देता है। शारीरिक असमानता के कारण ही कुछ इनसान दूसरो से ताक़तवर होते है। मानसिक भेद का सबूत यह मिलता है कि कुछ इनसान दूसरो से काबिल यानी अक्लमन्द होते हैं। नैतिक अन्तर चन्द आदमियो को खुदगर्ज और दूसरो को खुदगर्ज़ी से दूर रखता है। यह बिलकुल मुमकिन है कि इनमें से बहुतसे भेद अलग-अलग तरह से परवरिश और तालीम होने की वजह से हो या तालीम न मिलने से होते हो। दो बराबर काबलियतवाले लडको या लडकियो में से एक को अच्छी तालीम देदो और दूसरे को बिलकुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनो में जबर्दस्त फ़र्क़ हो जायगा। या एक को तदुरुस्ती बढाने वाला खाना दो और दूसरे को ख़राब और नाकाफी खूराक खिलाओ तो पहले का ठीक-ठीक विकास हो जायगा और दूसरा कमजोर, रोगी और अविकसित रहेगा। इस तरह परवरिश, वातावरण और तालीम से भारी अन्तर हो जाता है और मुमकिन है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधायें मिलें तो असमानता आज से कहीं कम हो जाय। यह असल में बिलकुल मुमकिन है। लेकिन जहांतक लोकसत्ता का ताल्लुक है, वह मानती है कि असल में इनसान असमान होते है, और फिर भी वह कहती है कि सबकी बराबर की सामाजिक और राजनैतिक कीमत समझकर वर्ताव करना चाहिए। यदि इस लोकसत्तात्मक सिद्धान्त यानी जम्हूरी उसूल को पूरी तरह मान ले तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजो पर पहुँच जाते है। यहां हमें इनकी चर्चा करने की जरूरत नहीं, लेकिन इस उसूल का एक

साफ़ नतीजा यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के चुनाव में हर शख्स को राय देने का हक होना चाहिए। राय देने का हक राजनैतिक ताक़त की निशानी है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को राय देने का हक है तो उसे राजनैतिक ताकत में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। सारी १९वीं सदी में लोकसत्ता की एक खास मांग यह थी कि राय देने का हक ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को दिया जाय। जब हरेक बालिग औरत-मर्द को राय देने का हक मिल जाता है तो उसे बालिग-मताधिकार कहते है। बहुत जमाने तक औरतो को राय देने का हक नहीं मिला था और बहुत अरसा नहीं हुआ जब खास तौर पर ब्रिटेन में स्त्रियो ने इस बारे में भारी आन्दोलन किया था। ज्यादा-तर सभ्य देशो में आजकल स्त्री और पुरुष दोनो को बालिग-मताधिकार हासिल है।

मगर दिल्लगी क्या हुई कि जब ज्यादातर लोगो को राय देने का हक मिल गया, तब उन्हे मालूम हुआ कि इमसे हालत में कोई बडा फर्क नही पडा। राय देने का हक़ मिल जाने पर भी हुकूमत में उन्हे या तो कुछ भी अधिकार नही मिला या बहुत थोडा मिला। भूखे को मताधिकार किस काम का ? सच्ची ताकत उन लोगो के हाथ में रही जो उसकी भूख से फायदा उठाकर उससे काम ले या अपने फायदे की कोई और बात उससे करा सकते थे। इस तरह राय देने के हक़ से जिस राजनैतिक ताकत के मिलने का खयाल था वह बिना असलियत की एक परछाई साबित हुई। उससे माली ताकत नहीं मिली और शुरू के लोकसत्तावादियो ने मताधिकार से बराबरी कायम करने के जो बढ-बढकर सपने देखे थे वे झूठे साबित हुए।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनों में यानी अठारह-वी सदी के अखीर और उन्नीसवीं के शुरू में लोकसत्तावादियो में बडा जोश था कि लोकसत्ता सबको आज़ाद और समान नागरिक बना देगी और हुकूमत सबके सुख का उपाय करेगी। अठारहवीं सदी के राजाओ और सरकारो ने जिस मनमानी से काम लिया था और अपनी निरकुश सत्ता का जैसा बुरा इस्तेमाल किया था उसके खिलाफ बडी प्रतिक्रिया हुई, इससे लोगो को अपनी घोषणाओ में मनुष्यो के अधिकारो का भी ऐलान करना पडा। शायद अमेरिका और फ्रास की घोषणाओ में मनुष्यों के अधिकारो का इस तरह जिक्र करके दूसरी तरफ कुछ भूल की गई। आपस में गुथे हुए समाज में मनुष्यो को अलग करके उन्हे पूरी आज़ादी दे सकना आसान काम नही है। ऐसे मनुष्यो और समाज के हित आपस में टक्कर खा सकते हैं और खाते है। खैर, कुछ भी हो, लोकसत्ता व्यक्तियो को काफी आज़ादी देने की तरफदार है।

इग्लैण्ड अठारहवीं सदी में तो राजनैतिक ख़यालात में पिछडा हुआ था, लेकिन अमेरिका और फ़्रांस की राज्यक्रान्तियो से उसका हिल उठना स्वाभाविक था। उस-

पर पहला असर तो इस भय का हुआ कि कहीं नये लोकसत्तात्मक विचारो से देश में सामाजिक क्रान्ति तो नहीं होजायगी । शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और दक़ियानूसी होगये । फिर भी पढ़े-लिखे लोगों में नये ख़याल फैलते गये । इस समय टामस पेन नामक एक मज़ेदार अग्रेज़ हुआ । आज़ादी की लड़ाई के वक्त वह अमेरिका में था और उसने अमेरिकावासियों की मदद की थी । अमेरिकन लोगों का ख़याल पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में बदल देने के लिए वह भी कुछ ज़िम्मेदार मालूम होता है । इग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समर्थन में 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man') नाम की एक किताब लिखी । यह क्रान्ति उस वक्त शुरू हुई ही थी । इस किताब में उसने एकतत्री शासन-पद्धति पर हमला और लोकसत्ता की हिमायत की थी । इस कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी क़रार देदिया और उसे भागकर फ्रास चले जाना पडा । पेरिस में वह बहुत जल्द राष्ट्रपरिषद् का सदस्य बन गया, मगर १७९३ ई० में जैकोबिन सम्प्रदाय वालो ने उसे कैद कर दिया, क्योंकि उसने राजा सोलहवे लुई को फाँसी देने की मुख़ालफत की थी । पेरिस के जेलखाने में उसने 'तर्क-युग' (The Age of Reason) नाम की दूसरी किताब लिखी । इसमें उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की । रोब्सपियर के मरने के बाद पेरिस-जेल से वह छोड दिया गया । इधर पेन अग्रेज़ी अदालतो की पहुँच के बाहर था, इसलिए इस किताब को छापने के जुर्म में उसके अग्रेज प्रकाशक को क़ैद की सजा देदी गई । ऐसी किताब समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्यो-कि ग़रीबो को अपनी जगह पर रखने के लिए धर्म ज़रूरी माना जाता था । पेन की किताब के कई प्रकाशक जेल भेजे गये । इनमें औरते भी थीं । यह दिलचस्प बात हुई कि कवि शेली ने जज को इस सज़ा के विरोध में एक पत्र लिखा था ।

उन्नीसवीं सदी के सारे पहले आधे हिस्से में जो लोकसत्तात्मक विचार फैले, योरप में उनको पैदा करनेवाली फ़्रास की राज्य-क्रान्ति थी । असल में हालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे, फिर भी क्राति के विचार वे ही रहे । ये लोकसत्तात्मक विचार राजाओ और निरंकुश शासन-प्रणाली के ख़िलाफ बौद्धिक प्रतिक्रिया थे । इन विचारो की जड़ उद्योगवाद के पहले की स्थिति में थी । लेकिन भाफ और बडी-बडी मशीनो का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था । फिर भी ताज्जुब की बात यह थी कि शुरू उन्नीसवीं सदी के उग्र सुधारक और लोकसत्तावादी इन तब्दीलियों की परवा न करके क्रान्ति और इनसान के हक़ो के ऐलान की दिलचस्प ज़बान में ही बात करते रहे । शायद उनके लिए ये तब्दीलियाँ निरी भौतिक थीं और उनका लोक-सत्ता की आध्यात्मिक, नैतिक और राजनैतिक ऊँची मांगो पर कोई असर नहीं पडा ।

मगर दुनियावी चीजो का कुछ अजीब हाल है कि उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह बडी दिल्लगी की बात है कि लोगों के लिए पुराने ख़यालात छोड़कर नये इख़्तियार करना कितना ग़ैरमामूली तौर पर मुश्किल काम है। वे अपनी आँखें और दिमाग़ बन्द करके देखने से ही इनकार कर देते है और पुरानी बातो से नुक़सान होता हो तो भी उनसे चिपटे रहते है और उनके लिए लड़ते है। वे और सब-कुछ कर लेते है, लेकिन नये ख़यालात को मंजूर नहीं करते और हालत के मुताबिक़ नहीं बन जाते। कट्टरता की ताकत बडी जबरदस्त होती है। उग्र सुधारक भले ही अपनेको बहुत आगे बढे हुए समझें, मगर वे भी अकसर पुराने और गलत साबित हो चुके विचारो को पकडे रहते है और बदलते हुए हालात की तरफ आँखें बन्द कर लेते है। कोई ताज्जुब नहीं कि प्रगति की चाल धीमी होती है और अकसर असली हालात और लोगो के ख़यालात में बड़ा फ़र्क पड जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा होजाती है।

इस तरह कई युगो तक लोकसत्ता का काम सिर्फ फ्रास की राज्य-क्रान्ति के विचारो और परम्पराओ को जारी रखना ही रहा। नई हालतो में अनुकूल न बन सकने के कारण लोकसत्ता कमजोर पड गई। यह उन्नीसवीं सदी के अख़ीर की बात है, आगे चलकर बीसवीं सदी में तो बहुत लोगो ने लोकसत्ता के ख़यालात ही छोड़ दिये। हिन्दुस्तान में आज भी हमारे बहुत-से आगे बढ़े हुए राजनीतिज्ञ फ्रास की राज्यक्रान्ति और मनुष्य के अधिकारो की ही बात करते है। उस वक्त से अबतक क्या-क्या हो चुका है, इसका उनके लिए कोई महत्त्व नहीं।

शुरू के लोकसत्तावादियो का बुद्धिवादी बन जाना स्वाभाविक था। रीति-रिवाजो और कट्टरता में जकडे हुए धर्म के साथ उनकी विचार और वाणी की आज़ादी की माँग का समझौता होना मुश्किल था। इस तरह लोकसत्ता और विज्ञान ने मिलकर मजहबी कट्टरता का असर कम किया। लोग, यह समझकर कि बाइबिल मामूली किताब है और शंका किये बिना मान लेने जैसी चीज नहीं है, उसकी जाँच करने का साहस करने लगे। बाइबिल की इस आलोचना को वे 'ऊँचे दर्जे की आलोचना' कहते थे। इन आलोचको ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल को अलग-अलग जमानो में अलग-अलग आदमियो ने लिखा है। उनकी यह भी राय हुई कि ईसा का कोई धर्म चलाने का इरादा नहीं था। इस आलोचना से कई पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकसत्तात्मक विचारो के कारण पुरानी धर्म की जडें कमजोर होती गईं, वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह किसी-न-किसी चीज़ को बिठाने की कोशिशें भी हुईं। ऐसी ही एक कोशिश आगस्टे कॉम्टे नाम के फ़्रासीसी दार्शनिक

नें की थी। वह १७९८ से १८५७ ई० के बीच में हुआ था। कॉम्टे को ऐसा लगता था कि पुराने कट्टर धर्म का समय चला गया, मगर समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म' का प्रस्ताव किया और उसका नाम 'वास्तविकतावाद' (Positivism) रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रक्खे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी, जो कुछ था वह विज्ञान के अनुसार था। उन्नीसवीं सदी के और सब प्रचलित विचारो की तरह इस खयाल के पीछे भी मनुष्य-जाति की तरक्की का ख़याल था। कॉम्टे का चलाया हुआ धर्म मुट्ठी-भर पढे-लिखो के विश्वास की ही चीज रहा, मगर योरप के विचारो पर उसका खूब असर पडा। उसने, व्यवहार में, समाजशास्त्र के अध्ययन की शुरुआत की। यह शास्त्र मानवीय समाज और सस्कृति से ताल्लुक रखता है।

अग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३) कॉम्टे का समकालीन था, मगर वह उसके बाद भी बहुत वर्ष जिया। मिल पर कॉम्टे की शिक्षा का भी असर था और समाजवादी विचारो का भी। एडम स्मिथ की शिक्षाओ के कारण अग्रेज अर्थशास्त्रियों की एक विचार-धारा बन गई थी। मिल ने उसे नई दिशा में लेजाने की कोशिश की और आर्थिक विचारो में थोडे समाजवादी उसूलो का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा शोहरत 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद का उसूल नया था। वह इग्लैण्ड में चल तो पडा था कुछ समय पहले ही, मगर उसे महत्व मिला जॉन स्टुअर्ट मिल के कारण। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका ख़ास तत्वज्ञान उपयोग था। उपयोगितावादियो का ख़ास उसूल यह था कि ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा सुख मिले। भलाई-बुराई की यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढानेवाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दु ख पहुँचाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का सगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने की दृष्टि से होना चाहिए। यह दृष्टिकोण और सबके बराबर अधिकार का पहलेवाला लोकसत्तात्मक उसूल एक चीज नहीं थे। ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने के लिए कुछ लोगो को कुर्बान करने या दु ख देने की जरूरत भी हो सकती है। मैं तुम्हे सिर्फ यह फर्क बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नहीं। इस तरह लोकसत्ता का मतलब ज्यादातर लोगो का अधिकार होगया।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की आजादी के लोकसत्तात्मक विचार का जोरदार हिमायती था। उसने 'स्वतंत्रता पर' (On Liberty) नाम की एक छोटी-सी किताब

लिखी। वह मशहूर हो गई। मैं तुम्हारे लिए इस किताब में से बोलने और विचार की आज़ादी पर एक उद्धरण देता हूँ :—

"किसी राय को ज़ाहिर होने से रोक देने में खास बुराई यह है कि उसमे मानव जाति वचित रह जाती है। मौजूदा पीढी ही नही, आनेवाली पीढियाँ भी, उस राय को माननेवाले ही नही, उनसे भी ज्यादा उसे न माननेवाले उससे वचित रहते हैं। अगर वह राय ठीक हुई तो असत्य के बदले में सत्य को जान लेने का मौका चला जाता है। वह गलत है, तो वे उतना ही बडा लाभ यह खो देते है कि असत्य के साथ टक्कर खाकर सत्य की जो ज्यादा जानदार छाप पडती और उसकी अधिक स्पष्ट कल्पना होती वह नही हो पाती। हम ज़ोर देकर कभी नही कह सकते कि जिस राय को हम दबा देने की कोशिश कर रहे है वह झूठी राय ही है। हमे ऐसा विश्वास हो तो भी उस राय का दबा देना बुराई ही है।"

ऐसे दृष्टिकोण का मजहबी कट्टरता या निरकुशता से मेल नहीं बैठ सकता था। यह तो दार्शनिक का या सत्य की खोज का रवैया था।

मैंने तुम्हे उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी योरप के थोडे-से बडे-बडे विचारको के नाम इसलिए बता दिये है कि तुम्हे विचारो के विकास की दिशा और खयालात की दुनिया की खास-खास मजिलों का इल्म होजाय। मगर इन लोगो का और आम तौर पर शुरू के लोकसत्तावादियों का असर थोडा या बहुत पढे-लिखे वर्ग पर ही हो पाया था। वह असर छन-छनाकर पढे-लिखो के ज़रिये और लोगो तक भी थोड़ा-सा पहुँचा। हाँ, इस लोकसत्तात्मक विचार-धारा का सीधा असर आम लोगो पर भले ही बहुत थोडा हुआ, लेकिन अप्रत्यक्ष नतीजा खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ मामलो में तो सीधा असर भी बहुत पडा।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई वैसे-वैसे मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद-जैसे दूसरे आन्दोलन और विचार भी तरक्की करने लगे। कुछ लोग समाजवाद को लोकसत्ता का स्थान लेनेवाली अलग चीज समझने लगे और कुछ उसीका एक जरूरी हिस्सा। हम देख चुके है कि लोकसत्तावादियो के दिमाग में आज़ादी, बराबरी और और सबके समान सुख के हक के विचार भरे हुए थे। मगर जल्दी ही उनकी आँखें खुल गईं कि सुख को एक मौलिक अधिकार मान लेने से ही वह चला नहीं आता है। और बातो को छोडदें तो भी, एक खास हद तक, शारीरिक सुख जरूर मिलना चाहिए। जो भूखा मर रहा है वह सुखी नहीं हो सकता। इससे यह खयाल पैदा हुआ कि सुख इस बात पर मुनहसर है कि धन का बँटवारा लोगो में ठीक तरह से हो। इससे हम समाजवाद में चले जाते है, पर उसका हाल तो अगले खत में ही बताया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में जहां-जहां गुलाम क़ौमें आजादी के लिए लड रही थीं वहां-वहां लोकसत्ता और राष्ट्रीयता का मेल होगया था। इस तरह के लोकसत्तात्मक देश-प्रेम का एक नमूना इटली का मैजिनी था। आगे चलकर उसी सदी में राष्ट्रीयता का यह लोकसत्तात्मक रूप धीरे-धीरे जाता रहा और वह ज्यादा-से-ज्यादा आक्रमणकारी और अधिकारवादी बनता गया। राज्य एक ऐसा देवता बनगया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाजिमी होगया।

नये उद्योगो के नेता अंग्रेज सौदागर थे। उन्हे ऊँचे-ऊँचे लोकसत्तात्मक उसूलो और आजादी के सार्वजनिक अधिकार के साथ बहुत दिलचस्पी नहीं थी। मगर उन्होंने देख लिया कि लोगो की ज्यादा आजादी तिजारत के लिए अच्छी चीज है। इससे मजदूरो का रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होगया, उनमें थोडी-सी आजादी मिल जाने का भ्रम फैल गया और वे काम में ज्यादा होशियार होगये। औद्योगिक कामयाबी के लिए भी सार्वजनिक शिक्षा जरूरी थी। सौदागरो और कारखानो के मालिको को इन सब बातो का इस्तेमाल मालूम हुआ तो वे बडे परोपकारी बनकर जनता पर इन कृपाओं की वर्षा करने को राजी होगये। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप में एक खास तरह की शिक्षा का तेजी से प्रचार हुआ।

||| पहला खण्ड समाप्त |||

सस्ता साहित्य मण्डल के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य १)
३—तामिलवेद ॥)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् भारत में व्यसन और व्यभिचार ॥=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ (जब्त · अप्राप्य) ॥)
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) ३)
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो) १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥=)
९—यूरोप का इतिहास २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ॥=)
१३—चीन की आवाज (अप्राप्य) ।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ॥=)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ॥।
२२—अंधेरे में उजाला ॥)
२३—स्वामीजी का बलिदान (अप्राप्य) ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी (जब्त : अप्राप्य) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफ़ाई ।=)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह (अप्राप्य) ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—जिन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १॥)
४४—जब अंग्रेज आये (जब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास १) १॥)
४६—किसानों का बिगुल (जब्त) =)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता-बोध (श्लोक-सहित) ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध -)॥
४९—स्वर्ग-विहान (जब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)

५१—भाई के पत्र १॥) २)
५२—स्वगत ।=)
५३—युग-धर्म (जब्त अप्राप्य) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
५५—विदेशी कपडे का मुकाबिला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य) ॥=)
५८—इग्लैण्ड मे महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—सघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६—एशिया की क्रान्ति (जब्त) १॥।)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)
६८—स्वतत्रता की ओर— १॥)
६९—आगे बढो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥=)
७१—काग्रेस का इतिहास २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी (ज० नेहरू) ४)
७४—विश्व-इतिहास की झलक ,, ८)
७५—हमारे किसानो का सवाल ।)
७६—सन्तवाणी (छपरही है) ॥।)
७७—जबसे अंग्रेज आये ,, ॥)
७८—गीता-मन्थन ,, १॥)
७९—गांधीवाद समाजवाद ,, १)
८०—नया शासन विधान और मन्त्रियो के अधिकार ,, १)
८१—हत्या या शाति ? ,, ॥।)

सस्ता साहित्य मण्डल, नया बाजार, दिल्ली